महाकविशूद्रकप्रणीतं

मृच्छकटिकम्

रमानाम्न्या संस्कृतटीकया राष्ट्रभाषानुवादेन
भावसंवलितया विस्तृतभूमिकया च

समलङ्कृतम्

समलङ्कर्ता—
डा० रमाशङ्कर त्रिपाठी
व्याकरणाचार्यः एम० ए०; पी-एच० डी०,
संस्कृत-पालि-विभागः
काशी हिन्दूविश्वविद्यालयः
वाराणसी–५

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली वाराणसी पटना

प्रकाशक :—
मोतीलाल बनारसीदास
चौक, वाराणसी।

प्रथम संस्करण १९६९
मूल्य १३.५०

मुद्रक :—
मोहनलाल
केशव मुद्रणालय
पाण्डेपुर पिसनहरिया,
वाराणसी।

प्राक्कथन

'मृच्छकटिक' का यह नवीन संस्करण सरस्वती के सेवकों की सेवा में प्रस्तुत होने जा रहा है। 'छात्रों को अधिक से अधिक सहायता पहुँचाई जा सके' इस बात को ध्यान में रखते हुए यह संस्करण तैयार किया गया है। कोई भी व्यक्ति इस संस्करण के माध्यम से, विना किसी की सहायता लिये हुए भी, महाकवि शूद्रक के भावों तक अनायास पहुँच सकता है। अध्यापकों, आलोचकों तथा नयी और पुरानी विचारधाराओं के विद्वानों के लिये भी इस संस्करण का उतना ही महत्त्व हो जितना कि छात्रों के लिये — एतदर्थ भी प्रयत्न और सावधानी की गई है। प्रारम्भ में विस्तृत भूमिका के साथ इस संस्करण को अन्वय, शब्दार्थ, अर्थ, संस्कृत टीका तथा टिप्पणी आदि से सजाने का भरपूर प्रयास किया गया है। उद्देश्य में कहाँ तक सफलता मिली है, इसका मूल्यांकन करना मेरा काम नहीं है। संक्षेप में यह प्रयास किया गया है कि यह संस्करण काव्य के अर्थ और भाव को स्वच्छ दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित कर पाठकों की नम्र अपेक्षित सेवा कर सके।

इस प्रकार के महान् कार्य के लिये भला मुझ में शक्ति कहाँ ! इसे तो उन्हीं गुरुजनों का कृपाप्रसाद ही समझना चाहिए जिनकी करुण स्नेह की छाया में पलकर मैंने संस्कृत-वाङ्मय का अध्ययन, अनुशीलन तथा आस्वादन किया है, लिखने की कुछ कला सीखी है। इस प्रकार के गुरुजनों में अनेक विद्याविरुदविभूषित डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, अध्यक्ष, संस्कृत तथा पालि विभाग, का० हि० वि० वि०, वाराणसी, और पं० हरिवंश जी चतुर्वेदी का विशिष्ट स्थान है।

परमश्रद्धेय डा० भट्टाचार्य जी ने इस संस्करण को तैयार करने में जो प्रेरणा, बौद्धिक तथा आर्थिक सहायता दी है उसके लिए मैं उनका आजीवन आभारी रहूँगा। यदि उनकी प्रेरणा और अनुकम्पा न मिली होती तो निश्चय ही यह संस्करण अस्तित्व में न आ सकता। उनके प्रति आभार प्रकाशन करना मेरी शक्ति के बाहर है। उनकी सुयोग्य सहधर्मिणी, माँ सुधामयी भट्टाचार्या ने मुझे जो मानसिक शान्ति तथा पुत्राधिक स्नेह प्रदान किया है उसे मैं कभी नहीं विस्मृत कर सकता। उनके प्रति भी कृतज्ञताज्ञापन मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

'मृच्छकटिक' के इस संस्करण को वर्तमान रूप देने में संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी के कतिपय उपलब्ध संस्करणों से सहायता प्राप्त हुई है। निर्णय सागर के पाठ को निर्णायक माना गया है। किन्तु फिर भी आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र संशोधन किया ही गया है। संस्कृत की पूर्ववर्तिनी टीकाओं में पृथ्वीधर तथा श्रीमज्जीवानन्द विद्यासागर की टीकाएँ अधिक सहायक सिद्ध हुई हैं। हिन्दी की टीकाओं में डा० श्री निवास शास्त्री की टीका पर्याप्त प्रेरणाप्रद तथा सहायक रही है। इसके अतिरिक्त 'मृच्छकटिक' की विविध भूमिकाओं से भी सहायता ली गयी है। इन सभी ग्रन्थों के विद्वान् लेखकों का मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

इस संस्करण को तैयार करते समय सुश्री शान्तित्रिपाठी ने मेरे साथ अत्यन्त कष्टों को झेलते हुए जो तपस्या की है तदर्थ उन्हे धन्यवाद देना ही उचित समझता हूँ।

मोतीलाल बनारसीदास की वाराणसी शाखा के व्यवस्थापक श्री सुन्दरलाल जैन भी सहयोगात्मक कृत्यों के लिये धन्यवादार्ह हैं।

—रमाशङ्कर त्रिपाठी

प्रस्तावना

संस्कृत साहित्य की परम्परा अति प्राचीन है। अतीत में आज की भाँति समय एवं स्थान आदि के उल्लेख करने की परिपाटी न होने से अनेक ग्रन्थरत्नों के विषय में विविध प्रकार की भ्रान्तियाँ साहित्य-जगत् में फैली हुई हैं। यही कारण है कि बहुत से लोकप्रिय ग्रन्थों के कर्ता का भी अभीतक विश्वासपूर्ण निश्चय नहीं किया जा सका है। इस प्रकार के ग्रन्थों में मृच्छकटिक भी एक है। न इसके कर्ता का सही पता है और न समय का ही।

१—मृच्छकटिक का कर्ता—

'मृच्छकटिक' किस कवि की प्रतिभा का परिणाम है इस विषय में समालोचक एकमत नहीं हैं। यद्यपि 'मृच्छकटिक' की प्रस्तावना में राजा 'शूद्रक' को इस नाटक का कर्ता बतलाया गया है, तथापि बहुत से विद्वान् इस पर विश्वास नहीं करते हैं।

विश्वास न करने का कारण—

प्रस्तावना में कहा गया है कि राजा शूद्रक जाति के 'द्विज' थे। वे संग्राम के प्रेमी एक राजा थे अतः विद्वानों ने यहाँ 'द्विज' का अर्थ 'क्षत्रिय' किया है। वहीं पर आगे इनके विषय में बतलाया गया है कि ये देखने में बड़े मनोहर थे। इनकी विद्वत्ता बहुमुखी थी। ये ऋग्वेद, सामवेद, गणित, वेश्याओं की कला अथवा अग्निवेशकृत चौंसठ कला अथवा नाट्यकला तथा हस्तिशिक्षा के ज्ञाता थे। शङ्करजी की कृपा से इन्हें परम तत्त्व का ज्ञान हुआ था। ये अच्छे कवि थे। ये बड़े बलशाली थे। बड़े-बड़े हाथियों से बाहुयुद्ध करना इनकी अपनी विशेषता थी। ये प्रमाद रहित और तपोनिष्ठ थे। इन्होंने अश्वमेध यज्ञ भी किया था। अन्त में पुत्र को राज्य देकर, एक सौ वर्ष और दश दिन की लम्बी आयु बिता कर इन्होंने अग्नि में प्रवेश किया था।

प्रस्तावना की उपर्युक्त बातों के वर्णन के प्रसङ्ग में 'शूद्रक' के साथ कई बार 'किल' का प्रयोग किया गया है[१]। 'किल' का सर्वमान्य प्रयोग अति प्राचीन काल से समाज में

१—एतत्कविः किल—

...............द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव ॥ ३ ॥

..........क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव ॥ ४ ॥

............चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः ॥ ५ ॥

प्रचलित बात (ऐतिह्य) को सूचित करने के लिये किया जाता है। 'सम्भावना' और 'अरुचि' तथा 'अनुनय' को भी यह सूचित करता है;—

"वार्ता सम्भाव्ययोः किल" अमरकोष ॥
"किल शब्दस्तु वार्तायां सम्भाव्यानुनयार्थयोः" विश्वकोष ॥
"वार्तायामरुचौ किल" त्रिकाण्डकोष ॥

प्राचीन बात को सूचित करने के लिये जब भी 'किल' का प्रयोग किया जाता है तब इसके साथ लिट् लकार की क्रिया का प्रयोग होता है; जैसे —

"बभूव योगी किल कार्तवीर्यः" रघुवंश; ६।३८ ॥
"जघान कंसं किल वासुदेवः" महाभारत, ३ ॥

इसके अतिरिक्त 'किल' के साथ ही साथ, 'मृच्छकटिक' की प्रस्तावना मे 'शूद्रक' के साथ 'भू' तथा कृ' धातुओं के 'लिट्' लकार का प्रयोग हुआ। 'लिट्' लकार सर्वदा प्राचीन काल को सूचित करता है। उदाहरण के लिये 'रघुवंश' एवं 'महाभारत' के ऊपर लिखे गये पद्यांश देखे जा सकते हैं।

इन दोनों बातों के अतिरिक्त 'शूद्रक' को मृच्छकटिक का कर्ता न मानने में प्रस्तावना का वह स्थल सर्वाधिक प्रधान कारण है, जिस में कहा गया है कि 'शूद्रक' ने दस दिन के सहित सौ वर्ष की आयु पाकर' (अर्थात् बिताकर) 'अग्नि में प्रवेश किया;'—

'लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं' शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः ॥ ४ ॥

यहाँ प्रश्न उठता है कि कवि को अपनी आयु की निश्चित अवधि कैसे मालूम हो सकती है? वह यह कैसे जान सकता है कि उसकी मृत्यु कैसे और कब होगी?

इस प्रकार 'अति प्राचीन बात का सूचक 'किल' शब्द', और 'भू' धातु का, परोक्ष भूतका बोधक, लिट् लकार का प्रयोग ओर 'अग्नि में प्रवेश; ये कुछ ऐसी बातें हैं जिन्हे देखकर, इस नाटक के कर्ता के विषय में शङ्का होनी स्वाभाविक है। पारखी के लिये एक भी सन्दिग्ध बात शङ्का का कारण बनती है तो फिर जहाँ तीन-तीन बातें सन्देह को भड़काने वाली हों वहाँ के लिये क्या कहना?

२—मृच्छकटिक के कर्ता के विषय में विविध मान्यताएँ—

ऊपर निर्देश की गई बातों को देखकर 'शूद्रक' को मृच्छकटिक का कर्ता न मानते हुए अनेक विद्वानों ने इस पर विविध विचार धाराएँ अभिव्यक्त की हैं और अपने पक्ष में युक्ति-प्रतियुक्तियाँ भी दी हैं। इनको यहाँ उद्धृत कर, इनको यथार्थता की परख करते हुए तथ्य की ओर अग्रसर होने का प्रयास किया जाएगा।

प्रो० कोनो के अनुसार आभीर वंश के राजा शिवदत्त का ही दूसरा नाम शूद्रक था। डा० फ्लीट के अनुसार इसी शिवदत्त ने अथवा इसके पुत्र ईश्वरसेन ने आन्ध्रवंश के अन्तिम राजा का नाश किया था। अतः शिवदत्त का समय २४८ ई० के आसपास है। किन्तु इस मत के मान लेने पर सबसे पहला प्रश्न यही उठता है कि यदि 'शिवदत्त' 'मृच्छकटिक' का कर्ता है तो उसका नाम इस नाटक से न जुड़कर शूद्रकका नाम क्यों जुड़ा? यदि इसका उत्तर यह दिया जाय कि 'आभीर होने के कारण शिवदत्त शूद्र था और लोक में उसकी इसी रूप में प्रसिद्धि थी, अतः शूद्रक नाम ही 'इस नाटक के साथ जुड़ा' तो यह एक भ्रामक कल्पना होगी। प्रस्तावना में ही शूद्रक को 'द्विज' (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य में से अन्यतम) कहा गया है —'द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव प्रथितः शूद्रक इत्यगाधसत्त्वः।' 'द्विज' होने के नाते ही वह अश्वमेधयज्ञ, वेदाध्ययन और तपस्या का अधिकारी बना होगा। अन्यथा भारतीय परम्परा उसे इन कार्यों को करने की सम्मति कभी भी न देती। यदि यह कहा जाय कि प्रस्तावना के श्लोक दूसरे के बनाये हुए प्रक्षिप्त हैं तो भी यही बात कही जा सकती है। वर्ण तथा आश्रम प्रधान भारत में भला किसका इतना साहस था कि वह एक शूद्र को द्विज के रूप में वर्णित करता ?। आभीर राजा शिवदत्त को शूद्रक मानने की कल्पना को बल देने के लिये 'मृच्छकटिक' के गोपालदारक आर्यक मे आभीर राजा शिवदत्त को देखना भी असंगत है। यदि शिवदत्त मृच्छकटिक का कर्ता होता और अपने आपको गोपालदारक आर्यक के रूप में व्यञ्जित करना चाहता तो वह अवश्य ही उसे वीरोचित और विद्वत्तापूर्ण गुणों से अलंकृत कर कुछ दूसरे ही रूप मे चित्रित करता। किन्तु मृच्छकटिक में जैसा कुछ हुआ है उससे पाठकों को स्वाभाविक श्रद्धा उसकी ओर आकृष्ट नहीं होती। उसके कार्यों का श्रेय उसके मित्र शर्विलक आदि को ही देना समीचीन प्रतीत होता है। अतः इन कल्पनाओं के आधार पर तथ्य खोजने की कल्पना मृगमरीचिका के पीछे अनुधावनमात्र है।

श्री पिशेल महोदय 'मृच्छकटिक' का रचयिता दण्डीको मानते हैं। उनका कथन है कि दण्डी के तीन प्रबन्ध माने गये हैं —"त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः"; राजशेखर। उनमें से दो हैं—'दशकुमारचरित' और 'काव्यादर्श'। तीसरा अज्ञात है। वह तीसरा है 'मृच्छकटिक'। मृच्छकटिक' दण्डी की रचना है। अपने मत के समर्थन के लिए डा० पिशेल ने मुख्यतः निम्न युक्तियाँ दी हैं—

(क)—दण्डी के काव्यादर्श [२।२२६] में 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' यह पद्य प्राप्त होता है। तथा यही पद्य 'मृच्छकटिक' [१।३४] में भी है। इससे यह प्रतीत होता है कि दोनों रचनाएँ एक ही कवि की हैं।

(ख)—दशकुमारचरित और मृच्छकटिक में वर्णित सामाजिक दशा में पर्याप्त एकरूपता है। इससे ज्ञात होता है कि दोनों एक ही कवि की रचनाएं हैं।

डा० पिशेल की ये कल्पनाएँ भी ठीक नहीं प्रतीत होतीं। 'लिम्पतीव' इत्यादि श्लोक मूलरूप में भासकृत चारुदत्त नाटक का है। मृच्छकटिक और काव्यादर्श दोनों में ही वहीं से लिया गया है। ऐसी अवस्था में यह कैसे कहा जा सकता है कि मृच्छकटिक दण्डी की कृति है। दूसरी युक्ति के बारे में यह कहा जा सकता है कि – जिन-जिन ग्रन्थों की सामाजिक दशा मिलती-जुलती है, क्या वे एक ही कवि की कृतियाँ हैं? सम्भवतः कोई भी गम्भीर विवेचक इसका स्वीकारात्मक उत्तर न देगा। इसके अतिरिक्त 'अवन्तिसुन्दरीकथा' नामक कृति के प्राप्त होने पर विद्वानों ने यह मान लिया है कि यही दण्डी की तीसरी रचना है।

जिस समय डा० पिशेल ने 'मृच्छकटिक' को दण्डी की कृति होने की कल्पना की होगी उस समय उनके सामने सम्भवतः यह प्रश्न न उठा होगा कि 'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित' में अपना नाम 'दण्डी' देकर कवि ने 'मृच्छकटिक' में 'शूद्रक' नाम क्यों दिया? अथवा 'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित' में भी 'शूद्रक' नाम ही क्यों नहीं जोड़ा? तीन ग्रन्थों में सर्वथा भिन्न दो नाम देने की बाल-चपलता लेखक ने क्यों की? यदि इन प्रश्नों पर उन्होंने ध्यान दिया होता तो निश्चय ही वे ऐसा मत व्यक्त करने का साहस न करते। इस तरह जरा भी गहराई में उतर कर जब इस मत को देखने का प्रयास किया जाता है तो इसकी निस्सारता स्पष्ट परिलक्षित हो उठती है।

डा० सिलवॉलेवी का मत है कि 'मृच्छकटिक' शूद्रक की रचना नहीं है। यह किसी दूसरे कवि की कृति है। अपने इस मत के समर्थन में उनका कहना है कि जिस कवि ने 'मृच्छकटिक' का निर्माण कर उसे 'शूद्रक' के नाम पर प्रचलित किया उसका आशय यह था कि नाटक पुराना माना जाने के कारण अधिक प्रभावशाली सिद्ध होगा। अतः 'मृच्छकटिक' के सही रचयिता ने इसका निर्माण कर इसे 'शूद्रक' के नाम पर चला दिया।

डा० सिलवालेवी की यह कल्पना किसी भी विचारक के मन में एक क्षण के लिए भी नहीं ठहरती। अपनी कृति पर पुरानेपन का पुट देने के लिये अभी तक किसी भी कवि ने ऐसा नहीं किया है। ऐसा करने से कवि को न तो यश मिलता है, और न धन की ही प्राप्ति होती है, जो काव्य-निर्माण की प्रेरणा में प्रमुख कारण हैं। स्वयं परिश्रम कर दूसरे को यश देने की यह अनूठी कल्पना अभी तक व्यवहार में देखने को नहीं मिली है। इसके अतिरिक्त किसी भी काव्य की नवीनता या प्राचीनता के कारण

उसके सही मूल्य में अन्तर नहीं देखा जाता। क्या कोई यह कह सकता है कि 'भास' के नाटकों की अपेक्षा महाकवि 'कालिदास' के नाटक कम प्रभावशाली हैं। यदि काव्य सुन्दर है तो चाहे वह नया हो या पुराना लोगों का मन आकृष्ट करेगा ही।

डा० कीथ भी शूद्रक को 'मृच्छकटिक' का रचयिता नहीं मानते। उनका कहना है कि शूद्रक एक काल्पनिक व्यक्ति है[1]—'शूद्रक' यह नाम भी अजीब सा है। सामान्यतः राजाओं का ऐसा नाम नहीं होता। इससे भी यही बात समर्थित होती है कि शूद्रक एक काल्पनिक व्यक्ति है। 'मृच्छकटिक' भास के अनन्तर लिखा गया नाटक है। किसी कवि ने भास के 'दरिद्रचारुदत्त' के साथ आर्यक के विद्रोह की कथा मिला-जुलाकर 'मृच्छकटिक' का रूप खड़ा कर दिया। उसने अपना नाम गुप्त रखकर इसे शूद्रक के नाम पर प्रचलित कर दिया। डा० कीथ ने अपने मत के समर्थन के लिये कोई युक्ति नहीं दी है।

शूद्रक को काल्पनिक व्यक्ति मानने की डा० कीथ की कल्पना ग्राह्य नहीं हो सकती। संस्कृत साहित्य में शूद्रक का बहुधा उल्लेख किया गया है। राजशेखर के अनुसार शामिल और सोमिल ने 'शूद्रक-कथा' नामक ग्रन्थ लिखा था। इसके अतिरिक्त बाणभट्ट की 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' दण्डी की 'अवन्तिसुन्दरीकथा' और 'दशकुमार-चरित' सोमदेव के 'कथासरित्सागर' और कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' में शूद्रक के विषय में लिखा गया है। ऐसी दशा में शूद्रक को एकाएक काल्पनिक पुरुष मान बैठना समीचीन नहीं प्रतीत होता।

डा० कीथ के मत के उत्तरार्द्ध की समीक्षा श्रद्धेय कान्तानाथ शास्त्री तैलङ्ग के विचार के विवेचन के अवसर पर की जायगी।

डा० देवस्थली यह मानते हैं कि शूद्रक के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। अतीत के किसी राजा से शूद्रक की अभिन्नता नहीं सिद्ध की जा सकती। जब तक विपरीत प्रबल प्रमाण नहीं मिल जाते तब तक हम शूद्रक को काल्पनिक व्यक्ति नहीं मानते। वे हमारी ही तरह इस संसार के व्यक्ति थे और मृच्छकटिक उन्हीं की रचना है। उन्होंने अपने पक्ष के समर्थन के लिये प्रमाण नहीं दिया है यद्यपि वे प्रस्तावना के पद्यों को प्रक्षिप्त मानने के लिये तैयार दिखलाई पड़ते हैं। किन्तु उनमें कही हुई बातों पर अविश्वास करने का उन्हें कोई कारण नहीं दिखलाई पड़ता। उनका मत पूर्णतया परम्परा पर ही अवलम्बित है।

---

1. The sanskrit drama.

पं० चन्द्रबली जी पांडे शूद्रक को आन्ध्रवंशीय वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि मानते हैं। उनका कहना है कि 'अवन्तिसुन्दरीकथासार' में इन्द्राणिगुप्त का दूसरा नाम शूद्रक कहा गया है। वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि ही इन्द्राणिगुप्त है। इसलिये पुलुमावि ही शूद्रक है। यही शूद्रक अर्थात् पुलुमावि ही 'मृच्छकटिक' का कर्ता है। शूद्रक पुलुमावि का उपनाम है। इन्द्राणिगुप्त ही पुलुमावि है इस बात को सिद्ध करने के लिये उनका तर्क है—'यदि शब्द के अर्थ को समझें और दण्डी के 'इन्द्राणिगुप्त' को 'पुलुमावि' मान लें तो इसमे दोष क्या ? 'इन्द्र' का 'पुलुमावि' नहीं तो 'पुलोमारि' होना तो प्रसिद्ध है, फिर इसमें दूर की कोई उड़ान नहो। 'हाँ, दुराव की पकड़ अवश्य है।'

श्री पांडे जी के तर्क के विषय में यही कहना पर्याप्त होगा कि यदि शब्दार्द्धसाम्य या शब्दसाम्य के आधार पर कल्पना की उड़ाने भरी जाँय तो बहुत से ऐसे तथ्य सामने आ सकते हैं जिन्हें इतिहास कभी भी मान्यता नहीं दे सकता। अतः इस मत को दूर की कौड़ी लाने के प्रयास के अतिरिक्त क्या कहा जाय ?

कुछ विचारकों ने भास को 'मृच्छकटिक' का कर्ता माना है। इनका मत है कि जाति से शूद्र होने के कारण ही भास 'शूद्रक' नाम से प्रसिद्ध हुआ। भास ने 'चारुदत्त' को ही 'मृच्छकटिक' के रूप में परिवर्द्धित किया है। किन्तु यह मत तो एकदम उपहासास्पद है। यहाँ भी यही प्रश्न उठता है कि भास ने केवल 'मृच्छकटिक' मे ही शूद्रक नाम क्यों दिया ?। इसके अतिरिक्त प्रस्तावना में स्पष्ट रूप से शूद्रक को 'द्विज' और 'राजा' कहा गया है। शूद्र भास न तो द्विज हो सकते थे और न राजा ही। अतः यह मत एकदम भ्रान्त एवं पूर्णतया अस्वीकरणीय है।

श्रद्धेय कान्तानाथ शास्त्री तैलङ्ग डा० कीथ के मत के दूसरे अंश से सहमत हैं। डा० कीथ ने अपने मत को पुष्टि के लिये कोई तर्क नहीं दिया है। श्री तैलङ्ग जी ने उनके मत को प्रमाण से पुष्ट करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। श्री तैलङ्ग जी का मत इस प्रकार है —

"हमारे विचार से भी शूद्रक 'मृच्छकटिक' के कर्ता नहीं हैं। इसके कर्ता कोई दूसरे ही कवि हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी कवि ने भास का 'दरिद्रचारुदत्त' देखा। उन्हें वह अपूर्ण प्रतीत हुआ। उन पर उसे पूर्ण करने की धुन सवार हुई। उन्होंने आवश्यकता और अपनी रुचि के अनुसार 'दरिद्रचारुदत्त' में परिवर्तन किये। उसकी कथा के साथ अपनी कल्पना से रची हुई अथवा गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' से ली हुई गोपालदारक आर्यक के विद्रोह की कथा वट दी। इस प्रकार 'मृच्छकटिक' तैयार हुआ। कवि ने अपना नाम जान बूझकर छिपाया। प्रस्तावना में 'शूद्रक' के साथ 'किल' का

प्रयोग यही सूचित करता है।" अपने मत के समर्थन में श्री तैलङ्ग ने कहा है कि— (१) प्रस्तावना में शूद्रक का नाम देने से पहले ही कवि ने 'एतत्कविः किल' ऐसा लिखा है। इसके बाद पुनः पाँचवें और सातवें पद्य में भी 'शूद्रक' के साथ 'किल' आया है —

'क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव ॥' ५ ॥

'चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः ॥' ७ ॥

'किल' अव्यय है। "इस अव्यय का प्रयोग प्रायः 'ऐतिह्य' 'अलीकता' या 'सम्भावना' सूचन करने के लिये किया जाता है। यह अधिकतर अनिश्चय व्यक्त करता है।" (२) प्रस्तावना के चौथे श्लोक में शूद्रक की मृत्यु का वर्णन (शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः) होने से भी यह नाटक दूसरे कवि की कृति है। (३) "बभूव' और 'चकार' का लिट् लकार भी परोक्ष भूत का बोधक होने के कारण 'ऐतिह्य' आदि अर्थों का ही समर्थन करता है।" (४) यदि यह माना जाय कि प्रस्तावना के ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं तो प्रश्न उठता है कि शूद्रक ने बिना नामोल्लेख के ही अपना नाटक क्यों चला दिया था ? जिसने इन श्लोकों का प्रक्षेप किया उसने सन्देह करनेवाली परोक्ष भूत की क्रिया आदि ही क्यो रखी ? अतः यह नाटक शूद्रक का नहीं अपितु किसी अन्य कवि का है। उस कवि ने अपना नाटक शूद्रक के नाम से चला दिया इसके दो कारण हो सकते हैं— (१) उसने सोचा होगा कि इसमें आधा भाग भास कवि का है। यदि मैं इसे अपने नाम से चलाऊँगा तो लोग मुझे चोर कहेंगे। (२) इस नाटक का घटनाचक्र तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों तथा मान्यताओं के विपरीत जान पड़ता है। चारुदत्त और शर्विलक जैसे ब्राह्मणों का वेश्याओं के साथ विवाह, ब्राह्मणों का चोर होना, चन्दनक और वीरक जैसे शूद्रों का राज्य के उच्च पदों पर स्थित होना इत्यादि घटनाएँ क्रान्तिकारी विचारों की सूचक हैं। अतः यदि वह कवि अपने नाम से इस नाटक को प्रचलित करता तो समाज और राजा अवश्य ही उसकी दुर्गति कर देते। इसी कारण से उसने एक प्राचीन राजा के नाम से अपनी रचना को प्रसिद्ध किया होगा।"

श्री तैलङ्ग जी के मत को स्वीकार कर लेने पर यह मानना पड़ता है कि शूद्रक का 'मृच्छकटिक' से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह तो किसी अज्ञात लेखक की कृपा है कि स्वयं परिश्रम करके उसने शूद्रक का नाम 'मृच्छकटिक' के साथ चला दिया किन्तु यह बात कुछ जमती नहीं है। यहाँ पहला प्रश्न तो यही होता है कि यदि 'मृच्छकटिक' के लेखक को जिस किसी भी कारण से ग्रन्थ के साथ अपना नाम नहीं देना था तो उसकी प्रवृत्ति ही इस परिश्रम की ओर क्यों हुई ? काव्य-जगत् में इस प्रकार के पूर्ण निःस्वार्थ दान का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि वह क्रान्तिकारी

था। समाज में फैली भ्रष्ट दशा को जनता के समक्ष उपस्थित कर उसके परिष्कार का कान्तासंमित उपदेश देना ही उसका केवल लक्ष्य था तो भी बात नहीं बैठती। क्रान्तिकारी कवि को भला दण्ड का भय कैसा ? कम से कम समाज का अधिक जाग्रत समाज, चाहे उसकी संख्या भले ही कम रही हो, लेखक का साथ तो अवश्य ही देता। ऐसी स्थिति में क्रान्तिकारी कवि को खुले रूप में सामने आने से कोई कारण रोक नहीं सकता था। 'मृच्छकटिक' के किसी क्रान्तिकारी पात्र में भी दण्ड का यह अनुचित भय नहीं दिखलाई पड़ता। तो फिर सृष्टि में अप्राप्य बात को स्रष्टा में कैसे मान लिया जाय ? इस के अतिरिक्त अन्यकारणों से भी 'शूद्रक' नाम चुनने का कारण उसे 'भास' का नाम चुनने में भी उपलब्ध हो सकता था तो फिर उसने भास का ही नाम क्यों नहीं दिया ? ऐसा करने में उसे या 'शूद्रक' को कविचोर तो न बनाना पड़ता।

इसके अतिरिक्त 'किल' और लिट् लकार की क्रियाओं—'चकार' तथा 'बभूव'—एवं 'लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः' के उद्धरण की बात अवश्य अधिक गम्भीर रूप से विचारणीय है। शूद्रक को 'मृच्छकटिक' का कर्ता मानने में ये ही प्रबल बाधक हैं। किन्तु प्रस्तावना की बातों को यदि मनोवैज्ञानिक ढंग से देखा जाय तो इनका भी समाधान हो जाता है। जहाँ पर कालिदास आदि महाकवि नाटक की प्रस्तावना में केवल अपना नामोल्लेख करते हुए उसकी (नाटक की) प्रशंसा करते हैं, वहीं पर 'मृच्छकटिक' का कर्ता अपनी विशद प्रशंसा के साथ नाटक के वर्ण्यविषय का अपेक्षाकृत विस्तृत संकेत देता है। 'शूद्रक' के लिए दिये गये प्रत्येक विशेषण उसकी एक-एक ऐसी विशेषताओं को बतलाते हैं जो सभी व्यक्तियों में नहीं पाई जातीं। वह लौकिक एवं आध्यात्मिक—उभयविध-ज्ञान में पारङ्गत है। उसका दावा है कि उसने तत्त्वज्ञान प्राप्तकर लिया है—'व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य।' उसने अश्वमेध यज्ञ किया है। वह वेदज्ञों का अग्रेसर और तपोधन है। वह सर्वदा अपने आप को असामान्य व्यक्ति के रूप में चित्रित करता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह स्वयं को सब से आगे दिखलाना चाहता है। वेदों में निर्देश की गई "शरदः शतम्" की प्रशंसनीय आयु से कम आयु की कल्पना वह अपने लिये नहीं कर सकता। सौ मन्त्रों के जप के लिये ली गई माला की एक सौ आठ मनियों की भाँति दस दिन की वेदाधिक आयुकल्पना उसकी मनस्विता की पराकाष्ठा सूचित करती है। आयु की अवधि की यह उदात्त कल्पना उसके दीर्घायु की सूचना के लिये की गई है। इसे अहंभाव, लोकातिशायी भावना, का परिणाम ही मानना चाहिए।

अब रही 'अग्नि प्रविष्टः' की समस्या। इसे भी लोकातिशायिनी भावना की प्रेरणा का ही कार्य समझना चाहिये। तत्त्वज्ञानी एवं तपोधन शूद्रक अपने लिए सामान्य रूप से मृत्यु की कल्पना नहीं कर सकता।

भारतीय परम्परा ने प्राण-त्याग के जिन तरीकों को बतलाया है उनमें प्राणायाम, योगाग्नि तथा अग्नि-प्रवेश की विधियाँ सर्वाधिक प्रशस्त मानी गई हैं। ये कुछ असामान्य विधियाँ हैं जिनका आश्रयण साधारण व्यक्ति के लिए असम्भव-सा है।

भारत के अतीत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि तपस्या के विविध प्रकारों में पञ्चाग्नि-तपस्या सर्वाधिक कठिन मानी जाती थी। यह तपस्या की पराकाष्ठा थी। ब्रह्म तक पहुँचने की अन्तिम सीढ़ी थी। कुछ ही गिने-चुने तपस्वी जन इस विधि का आश्रयण कर पाते थे। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की प्रखर किरणों के नीचे चारों ओर आग जला कर बैठे हुए तपस्यारत योगी 'पञ्चतपा' और 'पञ्चातप' कहे जाते थे। संस्कृत-वाङ्मय में इस प्रकार के उदाहरण पर्याप्त मिलते हैं[१]। इस प्रकार के तपस्वी अग्नियों के मध्य तपस्या करते हुए उन्हीं में अपना शरीर जला डालते थे। अब यदि इस पर कोई कहे कि 'प्रविष्टः' का अर्थ है 'चलकर प्रवेश करना' (शूद्रक धधकती हुई आग मे प्रवेश करने की बात कहते हैं। अतः पञ्चाग्नि के मध्य उनके शरीर-त्याग की बात सगत नहीं बैठती) तो ठीक है। तपोधन शूद्रक ने अवश्य ही जलती हुई आग में प्रवेश करने की बात को ध्यान में रख कर ही अपने अग्नि-प्रवेश की बात कही है। इस देश के गौरवमय अतीत में इस प्रकार के भी उदाहरण मिलते हैं कि तपस्वी लोग आग में भी अपने शरीर की आहुति देते थे—

अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः।
चिराय सन्तर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत्। रघु० १३।४५॥

"शरणागतों की रक्षा करने वाले अग्निहोत्री शरभङ्ग ऋषि का यह तपोवन है जिन्होंने बहुत दिनों तक अग्नि को समिधा से तृप्त करके अन्त में मन्त्र से पवित्र अपना शरीर भी उसमें हवन कर दिया था।"

अपने को तपोधन मानने वाले मनस्वी व्यक्तियों के अतिरिक्त प्रशस्त वंश के राजा लोग भी अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में ऊपर निर्देश की गई सर्वाधिक प्रशस्त विधियों में से ही किसी एक का आश्रय लेते थे—"वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥"

१—हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटन्तपसप्तसप्तिः।
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः॥ रघु० १३।४ ॥
निकामतप्ता विविधेन वह्निना नभश्चरेणेन्धनसंभृतेन सा॥ कुमार० ५।२३॥
और भी—मनु० ६।२३; शिशु० २।५१ भी॥

"रघुवंशी राजा लोग बुढ़ापे में मुनियों के समान जंगलों में रह कर तपस्या करते थे और अन्त में योग द्वारा शरीर छोड़ते थे ॥" रघु० १।८ ॥

आत्मप्रदर्शन (स्वाभिमान) की मनोवैज्ञानिक भावना से प्रेरित 'मृच्छकटिक' के रचयिता कवि शूद्रक ने, नहीं-नहीं तपोधन शूद्रक ने, अपने आप को वेदों में निर्धारित आयु की 'शरदः शतम्' की सीमा से भी कुछ अधिक आयु वाले और अग्नि में प्रवेश करके शरीर त्यागने वाले के रूप में चित्रित किया है। अपनी आयु की उदात्ततम सीमा तथा मृत्यु की प्रशस्ततम विधि के निर्देश के लिए यह आवश्यक था कि वे अपने आपको परोक्षभूत की क्रिया 'चकार' तथा 'बभूव' एवं 'ऐतिह्य' सूचक 'किल' के साथ उल्लिखित करते। मृत्यु की सीमा तथा उसकी विधि के लिए न तो वर्तमान काल की क्रिया ठीक हो सकती थी और न भविष्यत्काल की ही। सामान्य भूत भी इसके लिये नहीं ठीक था। अतः अपनी आत्मप्रदर्शन (स्वाभिमान) की भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए कवि ने परोक्षभूत की क्रियाओं तथा 'किल' को देना आवश्यक समझा। मनुष्यों की सहजात भावनाओं का अध्ययन करते हुए यदि हम इस प्रकार विचार करते हैं तो यह निश्चित हो जाता है कि न तो प्रस्तावना के श्लोक ही प्रक्षिप्त हैं और न 'मृच्छकटिक' ही किसी अन्य कवि की कृति है। उपलब्ध 'मृच्छकटिक' का पूर्णांश तपोधन, मनस्वी, नृप, शूद्रक की अमर रचना है।

ऊपर प्रतिपादित सिद्धान्त की प्रामाणिकता दण्डी की 'अवन्तिसुन्दरीकथा' के उस श्लोक से भी समर्थित होती है जिसमें कहा गया है कि "शूद्रक ने अपनी स्वच्छ तलवार से जगत् को कई बार जीत कर अपने चरित से गर्भित वाणी (काव्यकृति) के द्वारा उसे व्यवस्थित किया अथवा व्याप्त किया"—

शूद्रकेणासकृज्जित्वा स्वेच्छया खड्गधारया।
जगद्भूयोभ्यवष्टब्धं वाचा स्वचरितार्थया ॥

इस श्लोक से स्पष्टतया यह प्रकट होता है कि शूद्रक एक वीर योद्धा था। 'वाचा स्वचरितार्थया' इस कथन से यह भी ज्ञात होता है कि दण्डी के समय में यह सामान्य धारणा थी कि शूद्रक की रचना में आत्मकथा का कुछ प्रतिबिम्ब है। फलतः विद्वानों का कहना है कि 'मृच्छकटिक' नाटक में शूद्रक के जीवन की कतिपय घटनाओं का संकेत मिलता है। नाटक का चारुदत्त शूद्रक के मित्र बन्धुदत्त का रूपान्तर है और आर्यक के रूप में शूद्रक ने अपना ही वर्णन किया है। यद्यपि इन संकेतों की प्रामाणिकता में सन्देह है तथापि उपर्युक्त श्लोक से यह अवश्य सिद्ध होता है कि वीर योद्धा शूद्रक एक कवि था जिसकी रचनाओं में उसके जीवन की झलक मिलती है। 'अवन्तिसुन्दरीकथा'

से ही यह भी ज्ञात होता है कि वह उज्जयिनो का राजा था। ब्राह्मण था। प्रस्तावना से भी ये ही बातें ज्ञात होती हैं। प्रस्तावना के 'द्विजमुख्यतमः' का अर्थ है—द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों) में श्रेष्ठतम अर्थात् ब्राह्मण। अधिकतर टीकाकारों ने इसका अर्थ 'क्षत्रियश्रेष्ठ' या 'क्षत्रिय' किया है। यह अर्थ भी असङ्गत नहीं किया जा सकता। जो भी हो शूद्रक एक द्विज थे। अब चाहे वे ब्राह्मण रहे हों या क्षत्रिय इससे कोई विशेष अर्थ नहीं। वे वोराग्रणी, ज्ञानोपासक, तपस्वी तथा सुन्दर व्यक्तित्व वाले व्यक्ति थे। वे कवि थे। 'मृच्छकटिक' निःसन्देह उन्हीं की रचना है। भारतीय परम्परा भी इसी मत को स्वीकार करती है[1]।

यदि उपर्युक्त मत को मानने में किसी को कल्पनागौरव मालूम होता हो—दूर की कौड़ी लाने का प्रयत्न दिखलाई पड़ता हो तो जब तक विपरीत प्रबल प्रमाण न मिले तब तक उसे यही मानना चाहिए कि 'मृच्छकटिक' कवि शूद्रक की ही रचना है। इसके लिए प्रस्तावना ही प्रमाण है। यदि प्रस्तावना को शूद्रक के द्वारा लिखी गई न भी माना जाए तब भी इसमें कोई शंका नहीं कि यह प्रस्तावना भी बहुत प्राचीन है—'मृच्छकटिक' के काल के आस-पास की ही है। प्रस्तावना को 'मृच्छकटिक' में जोड़ने के काल में यह प्रसिद्धि थी कि शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' लिखा है। प्रस्तावना की सारी बातें शूद्रक के विषय में सत्य हैं। शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' में अपना नाम क्यों नहीं दिया था? इसका उत्तर यही है कि भास के 'चारुदत्त' को ही सजा-सँवार कर कुछ बृहत् रूप देने के कारण शूद्रक ने स्वयं अपना नाम 'मृच्छकटिक' के कर्ता के रूप में देना उचित नहीं समझा था, क्योंकि नाटक की सामग्री बहुलांश में भास की थी। यह कवि की सत्यनिष्ठा थी।

२—मृच्छकटिक के कर्ता का जीवन-परिचय—

संस्कृत के अन्य कवियों की भाँति 'मृच्छकटिक' के कर्ता शूद्रक ने भी अपने विषय में इस प्रकार की सामग्री नहीं दी है जिससे उनके जीवन के सम्बन्ध में पूरी और अभ्रान्त जानकारी की जा सके। पुराण और साहित्य भी इस प्रकार की जानकारी के लिये पर्याप्त नहीं हैं। अतः किसी भी कवि के जीवन की बातों को जानने के लिये एक-मात्र उसकी कृति ही आलम्बन रह जाती है।

क—मृच्छकटिक की प्रस्तावना से प्राप्त जानकारी—

संस्कृत के प्रायः सभी नाटककारों ने नाटक की प्रस्तावना में पूर्ववर्ती कवियों का

१—'शूद्रकादिरचितप्रबन्धेषु' (वामनकृत काव्यालंकार, अधि० ३ अ० २-४)। दण्डी की 'अवन्तिसुन्दरीकथा' भी द्रष्टव्य॥

उल्लेख करते हुए अपने वंश तथा विद्वत्ता आदि का निर्देश किया है। शूद्रक ने अपने पूर्ववर्ती किसी कवि का उल्लेख तो नहीं किया है तथापि अपना कुछ परिचय अवश्य दिया है। प्रस्तावना में कहा गया है कि शूद्रक कवि द्विज था। टीकाकारों ने द्विज का अर्थ 'क्षत्रिय' किया है। वह सुन्दर और सुडौल था। उसकी चाल हाथी की चाल जैसी मतवाली थी। वह अत्यधिक शक्तिशाली था। वेद के ज्ञाताओं में वह श्रेष्ठ था। शिव की कृपा से उसे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हुई थी। वह समरव्यसनी और तपस्वी था। शत्रुओं के बड़े-बड़े हाथियों से मल्लयुद्ध करने की उसे रुचि थी। वह पूर्णतया निरोग और स्वस्थ व्यक्ति था। यही कारण है कि उसने अपनी आयु की लम्बी अवधि बतलाई है। वह अपने जीवन की समाप्ति अग्नि में प्रवेश करके करना चाहता था[1]। इसके अतिरिक्त प्रस्तावना में कवि के देश, काल आदि बातों का कुछ भी निर्देश नहीं है।

ख –शूद्रक का निवास-स्थान—

शूद्रक दक्षिण देश के निवासी मालूम पड़ते हैं। "मृच्छकटिक का कर्ता कौन ?" इस पर विभिन्न मत व्यक्त करने वाले आलोचक भी शूद्रक को दक्षिण देश का निवासी बतलाते हैं। 'मृच्छकटिक' के दूसरे अंक में 'खुण्डमोटक' शब्द का प्रयोग किया गया है। कर्णपूरक वसन्तसेना से कहता है—'शृणोत्वार्या। यः स आर्यायाः खुण्डमोटको नाम दुष्टहस्ती' इत्यादि। यह शब्द दक्षिण में ही प्रचलित है। दशम अंक में 'सह्य-वासिनी' देवी का स्मरण किया गया है। चारुदत्त को मारते समय हाथ से खड्ग गिर जाने पर चाण्डाल कहता है—'भगवति सह्यवासिनि ! प्रसीद प्रसीद' इत्यादि। भवभूति जैसे दाक्षिणात्य कवियों ने ही दुर्गा देवी का 'सह्यवासिनी' नाम से वर्णन किया है। उत्तर के कवियों ने उनका 'विन्ध्यवासिनी' के नाम से उल्लेख किया है। छठवें अंक में वीरक और चन्दनक के झगड़े के अवसर पर 'दाक्षिणात्य' और 'कर्णाटकलह' शब्दों का प्रयोग किया गया है। चन्दनक कहता है –'वयं दाक्षिणात्या अव्यक्तभाषिणः' इत्यादि। वहीं पर वह दक्षिण की कई भाषाओं के नाम भी लेता है। आगे वह कहता है--'तत् कोऽत्रोपायः ? (विचिन्त्य) कर्णाटककलहप्रयोगं करोमि' इत्यादि। प्रथम अंक में पैसे के अर्थ में नाणक शब्द का प्रयोग किया गया है। शकार कहता है—'एषा नाणकमोषिका' इत्यादि। ये सारी बातें शूद्रक का दाक्षिणात्य होना सूचित करती हैं।

---

१ – देखिये अंक १–३, ४, ५।

इन बातों को ध्यान में रखकर श्री तैलंग जी ने 'मृच्छकटिक' के कर्ता को महाराष्ट्र का निवासी बतलाया है। परन्तु 'मृच्छकटिक' की कथाभूमि के चुनाव को देखते हुए यह विश्वास होता है कि शूद्रक उज्जयिनी का निवासी था। उज्जयिनी में दक्षिण के लोग भी राज्य के पदों पर प्रतिष्ठित रहा करते थे। चन्दनक ऐसा ही एक पदाधिकारी था। दण्डी के कथन से भी शूद्रक की राजधानी उज्जयिनी ही प्रकट होती है।

ग-शूद्रक की मान्यताएँ--

'मृच्छकटिक' के अध्ययन से यह बात स्पष्ट मालूम पड़ती है कि शूद्रक वैदिक धर्म का अनुयायी था। उसने ऋग्वेद और सामवेद का ज्ञान प्राप्त किया था। उसने बड़े धूमधाम से अश्वमेध यज्ञ भी किया था। 'अग्निं प्रविष्टः' यह सूचित करता है कि वह नियमित रूप से अग्निहोत्र भी किया करता था। वह बड़ा तपस्वी (तपोधनः) और शिव का परम आराधक था। 'शम्भोः समाधिः वः पातु', नीलकण्ठस्य कण्ठः' तथा 'जयति वृषभकेतुः' (१०-४६) इत्यादि से उसकी शिव में अचल निष्ठा प्रतीत होती है। देवी देवताओं की पूजा में भी उसका अटल विश्वास था। यही कारण है कि उसने चारुदत्त के मुख से देवपूजा का महत्त्व प्रकट कराया है —

तपसा मनसा वाग्भिः पूजिता बलिकर्मभिः।
तुष्यन्ति शमिनां नित्यं देवताः किं विचारितैः॥ १।१६॥

वर्णाश्रम धर्म में भी उसकी निष्ठा थी। भरतवाक्य के श्लोक में ब्राह्मणों के सदाचारी और राजाओं के धर्मनिष्ठ होने की कामना की गयी है—

.................सततमभिमता ब्राह्मणाः सन्तु सन्तः
श्रीमन्तः पान्तु पृथिवीं प्रशमितरिपवो धर्मनिष्ठाश्च भूपाः॥१०।६१॥

"कांश्चित्तुच्छयति ०" (१०।६०) इत्यादि उक्तियों से उसके भाग्यवादी होने की सूचना मिलती है। इसी प्रकार शूद्रक की अन्य मान्यताओं की भी झलक चारुदत्त आदि के कथनों में प्राप्त होती है।

(घ)—शूद्रक की विद्वत्ता—

'मृच्छकटिक' नाटक की प्रस्तावना के अतिरिक्त अन्य विवरणों से भी ज्ञात होता है कि शूद्रक महान् विद्वान् था। उसकी प्रतिभा चतुर्मुखी थी। वह विविध विषयों का पारङ्गत पण्डित था। वेद, गणित, कला और हस्तिशिक्षा का वह विशेषज्ञ था। अपने आपको 'ककुदो वेदविदाम्' (१।५) कहने में उसे संकोच नहीं मालूम पड़ता। षष्ठ अङ्क में

चन्दनक तथा नवम अङ्क में अधिकरणिक की उक्तियों से शूद्रक के ज्योतिष विद्या के पर्याप्त ज्ञान का भी सङ्केत मिलता है[१]।

धर्म-शास्त्रों का भी उसे अच्छा ज्ञान था। नवम अंक के १० से लेकर १३ संख्या तक के श्लोक यह बतलाते हैं कि शूद्रक शकुन-विज्ञान का अच्छा वेत्ता था। द्यूतकला और चौर्यकला का तो वह मान्य आचार्य प्रतीत होता है। समाज के विविध वर्गों तथा व्यापारों के सूक्ष्म विश्लेषणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह लोक-विद्या में अत्यन्त निपुण था। वह एकमात्र राजमहल का राजा न होकर सामान्य जनता का राजा था। राज्यकार्य में संलग्न नीचे से ऊपर तक के कर्मचारियों एवं अधिकारियों की सारी त्रुटियाँ उसे विदित थीं। न्यायी राजा होने के नाते उसे यह भी भली-भांति ज्ञात था कि एक न्यायाधीश को कैसा होना चाहिये[२]।

शूद्रक का साहित्यिक ज्ञान भी पर्याप्त गम्भीर था। 'मृच्छकटिक' उसकी विद्वत्ता का साक्षी उच्चकोटि का प्रकरण है। यह प्रकरण अपने कर्ता के संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के प्रौढ ज्ञान का परिचायक है। जितनी प्राकृत भाषाओं का प्रयोग 'मृच्छकटिक' में मिलता है, उतनी भाषाओं का प्रयोग अन्य नाटकों में नहीं मिलता। शूद्रक ने विविध छन्दों और अलंकारों का सुन्दर प्रयोग किया है। नाटकीय रचना-विधान की दृष्टि से भी 'मृच्छकटिक' प्रकरण विशेष महत्त्व रखता है। यही कारण है कि लक्षण-ग्रन्थों में अन्य नाटकों के उदाहरणों के साथ-साथ मृच्छकटिक के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। वामन ने मृच्छकटिक से उदाहरण देते हुए शूद्रक को उन कवियों में प्रधान स्थान दिया है जो श्लेष गुण की योजना करने में सिद्ध-हस्त होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'मृच्छकटिक' का रचयिता विविध विषयों का ज्ञाता था।

ङ—शूद्रक की रचनाएँ—

अभी तक शूद्रक की केवल एक रचना 'मृच्छकटिक' ही उपलब्ध है। दण्डी तथा वामन आदि के उल्लेखों से प्रतीत होता है कि शूद्रक की अन्य भी कोई रचना रही होगी, किन्तु आज वह उपलब्ध नहीं है। अभी कुछ समय पहले दक्षिण भारत में 'पद्म

१—कस्याष्टमो दिनकरः कस्य चतुर्थश्च वर्तते चन्द्रः।
षष्ठश्च भार्गवग्रहो भूमिसुतः पञ्चमः कस्य ?॥
भण कस्य जन्मषष्ठो जीवो नवमस्तथैव सूरसुतः।९।९,१०
अङ्गारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः।
ग्रहोऽयमपरः पार्श्वे धूमकेतुरिवोत्थितः॥९।३३॥

२—देखिये—९।३, ४ और ५।

प्राभृतक' नामक एक 'भाण' प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक महोदय का कहना है कि यह शूद्रक की ही रचना है। किन्तु अभी इसके याथार्थ्य के विषय में कुछ कहना कठिन है।

३—मृच्छकटिक का काल—

'मृच्छकटिक' के समय-निर्धारण में आलोचक एकमत नहीं है। 'मृच्छकटिक' के काल के विषय में व्यक्त किये गये विद्वानों के मतों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी के अनुसार यह माना जाता है कि 'मृच्छकटिक' ई० पू० की रचना है। दूसरी श्रेणी इसे ई० अ० ५०० के आस पास की रचना मानती है। यहाँ दोनों तरह के मतों के विश्लेषण का प्रयास किया जा रहा है।

(१) यह प्रकरण ऐसे समय की ओर संकेत करता है जब बौद्ध धर्म अपने प्रचार के पूरे यौवन पर था। बौद्ध भिक्षु अपने धर्म का पूरी सावधानी से पालन करते थे। जनता उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखती थी। चारों ओर मन्दिरों की भाँति बौद्धविहारों का भी निर्माण हो रहा था। ई० संवत् के आरम्भ काल में बौद्ध धर्म ह्रासोन्मुख हो चला था। अतः यह मानना चाहिये कि 'मृच्छकटिक' की रचना ई० संवत् के प्रारम्भिक काल के पूर्व ही हो चुकी थी। (२) नवें अंक में अधिकरणिक के द्वारा कहे गये "अंगारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः।" (९।३३) श्लोक में मंगल को बृहस्पति का शत्रु बतलाया गया है। यह सिद्धान्त वराहमिहिर के पहले चलता था। वराहमिहिर ने बृहस्पति को मंगल का मित्र माना है। अतः 'मृच्छकटिक' वराहमिहिर के पहले का है। विद्वानों ने वराहमिहिर का काल ई० अ० छठी शताब्दी माना है। अतः 'मृच्छकटिक' ई० अ० छठी शताब्दी के पहले का प्रकरण है। (३) वैशिकी कला (१-४) का उल्लेख तथा किसी वेश्या के नायिका होने की कल्पना वात्स्यायन के 'कामसूत्र' की रचना के समकालीन है। 'कामसूत्र' का समय ई० पू० १०० से पीछे नहीं हो सकता। अतः 'मृच्छकटिक' का भी समय इसी के आस पास होना चाहिये। (४) बाद में प्रचलित नाट्यकला के अनेक नियमों से 'मृच्छकटिक' का कर्ता परिचित नहीं है। उसे इस बात का भली-भाँति ज्ञान नहीं है कि किसी पात्र के विशेष प्राकृत भाषा बोलने का नियम क्या है? वह रसों की प्रधानता तथा अप्रधानता सम्बन्धी मान्यताओं से भी पूर्ण परिचित नहीं हैं। 'मृच्छकटिक' की भाषा भास के नाटकों जैसी सरलता और सादगी से युक्त है। कालिदास के ग्रन्थों की परिष्कृत भाषा तथा भवभूति के नाटकों की कलात्मक भाषा का इसमें अभाव है। ये सारी बातें इस बात का प्रमाण हैं कि 'मृच्छकटिक' संस्कृत नाटक के प्रारम्भिक काल की रचना है। (५) 'मृच्छकटिक' की प्राकृत भाषाएँ

व्याकरण के नियमों से पूर्णतया मेल नहीं रखती। वे प्राकृत भाषा के विकास की प्रारम्भिक अवस्था को सूचित करती हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि शूद्रक कालिदास से प्राचीन हैं। (६) शकार तथा विट जैसे पात्रों की योजना कालिदासोत्तर नाटकों में नहीं देखी जाती। अतः यह सिद्ध होता है कि 'मृच्छकटिक' कालिदास के पूर्व की रचना है।

इसके अतिरिक्त बाहरी प्रमाण भी ऊपर कही गई बात का समर्थन करते हैं। राजशेखर के अनुसार रामिल और सौमिल कवियों ने शूद्रककथा नाम का ग्रन्थ लिखा था—

तौ शूद्रककथाकारौ रम्यौ रामिलसौमिलौ।
काव्यं ययोर्द्वयोरासीदर्धनारीनरोपमम्॥

यह 'सौमिल' वही प्रतीत होता है जिसे कालिदास ने 'सौमिल्लक' नाम से स्मरण किया है—'प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य।' (मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना)। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि सौमिल कालिदास से पूर्ववर्ती है और शूद्रक सौमिल से भी प्राचीन। भारतीय परम्परा कालिदास का समय ई० पू० प्रथम शताब्दी मानती है। अतः शूद्रक का समय इससे भी पूर्व होना चाहिये।

इस श्रेणी के मत की समालोचना में डा० कीथ का मत उद्धृत कर देना ही पर्याप्त होगा। उनका कथन है कि भाषा और रचनाविधान की सादगी के आधार पर भी 'मृच्छकटिक' की प्राचीनता सिद्ध नहीं की जा सकती। इसका कारण यह है कि इसके लेखक ने भास की शैली तथा भाषा का पूर्णतया अनुसरण किया है। शकार और विट जैसे पात्र निश्चय ही प्राचीन रङ्गमञ्च के पात्र हैं। किन्तु ये भी भास का अनुकरण करके ही कल्पित किये गये हैं। इससे इस नाटक की प्राचीनता सिद्ध नहीं की जा सकती। बौद्ध भिक्षुओं का वर्णन भी भास से ही लिया गया है। 'मृच्छकटिक' की प्राकृत भाषाओं से भी इसकी प्राचीनता प्रमाणित नहीं होती। इन प्राकृतों पर भास का स्पष्ट प्रभाव है। साथ ही मृच्छकटिक की प्राकृतों के परिशीलन से तो उल्टे यही मालूम पड़ता है कि ये भाषाएँ काफी अर्वाचीन हैं। मृच्छकटिक में प्रयुक्त 'ढक्की' नामक प्राकृत को विद्वानों ने अपभ्रंश का ही एक रूप माना है।

अब रही कालिदास द्वारा उद्धृत सोमिल (सौमिल्ल) के 'शूद्रककथा' लिखने की बात। इसके बल पर भी शूद्रक को कालिदास से प्राचीन नहीं सिद्ध किया जा सकता। संस्कृतवाङ्मय में कई स्थानों पर शूद्रक का नामोल्लेख एवं वर्णन मिलता है। तत्तत्स्थलों को देखने से यह नहीं प्रतीत होता कि सर्वत्र एक ही शूद्रक का वर्णन किया जा रहा है।

ऐसी अवस्था में यह कहना कठिन है कि सोमिल ने 'मृच्छकटिक' के कर्ता शूद्रक को ही अपनी कथा का आश्रय बनाया है अथवा किसी अन्य शूद्रक को। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि राजशेखर ने जिन दो व्यक्तियों—रामिल और सोमिल को शूद्रककथा के कर्ता के रूप में उल्लिखित किया है उनमें रामिल की प्रधानता मालूम पड़ती है। वे ही इस सन्दर्भ में प्रथमस्थानीय प्रतीत होते हैं। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कालिदास ने रामिल (जो कि प्रधान हैं) का नाम निर्देश न कर सोमिल (जो कि अप्रधान हैं) का ही नामोल्लेख क्यों किया ? क्या इससे इस बात का संकेत नहीं मिलता कि कालिदास के सोमिल (सौमिल्ल) रामिल-सोमिल में आये हुए सोमिल से भिन्न हैं। ऐसी अवस्था में इस प्रमाण के आधार पर यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है कि शूद्रक ई० संवत् से पहले के कवि हैं।

अब हम दूसरी श्रेणी के मत की समीक्षा करते हैं। विद्वान् मानने लगे हैं कि भास का 'दरिद्रचारुदत्त' 'मृच्छकटिक' की अपेक्षा प्राचीन है। 'मृच्छकटिक' की रचना भास के 'दरिद्रचारुदत्त' के आधार पर हुई है। यह मान लेने पर भासका काल 'मृच्छकटिक' की ऊपरी सीमा सिद्ध होता है। भास का काल कालिदास के समय पर आश्रित है। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' की भूमिका में भास का उल्लेख किया है। किन्तु कालिदास का ही काल अभी निश्चित नहीं हुआ है। इनके विषय में निश्चित रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ये ई० पू० १०० से लेकर ई० अ० ६०० के बीच किसी समय हुए थे। इस लम्बी अवधि में कुछ विद्वान् इन्हें ई० पू० १०० में और कुछ विद्वान् ई० अ० ४०० में मानते हैं। जो विद्वान् इन्हें ई० पू० १०० में मानते हैं उनके अनुसार भास का काल ई० पू० २०० के आस-पास होना चाहिये। जो विद्वान् कालिदास को ई० अ० ४०० में मानते हैं उनके अनुसार भास का समय ई० अ० ३०० के करीब होगा। भास के काल की भाँति मनुस्मृति का भी काल ई० पू० २०० या ई० अ० ३०० माना गया है। कुछ लोग ई० पू० २०० में मनुस्मृति की रचना बतलाते हैं तो कुछ लोग ई० अ० ३०० में। जो भी हो दोनों प्रमाणों से 'मृच्छकटिक' की पूर्व सीमा ई० पू० २०० या ई० अ० ३०० निर्धारित होती है।

पूर्व सीमा का विचार कर लेने के बाद अब नीचे की सीमा पर आइये। डा० कीथ का कथन है कि यह सन्देहास्पद है कि 'मृच्छकटिक' कालिदास से प्राचीन है या अर्वाचीन[1] जैकोबी का विचार है कि 'मृच्छकटिक' कालिदास से अर्वाचीन है[2]। आलोचक

1 – The Sanskrit Drama पृ० १२८।

2—The Sanskrit Drama पृ० १३१, टिप्पणी १॥

विद्वानों का यह कहना है कि कालिदास पर 'मृच्छकटिक' का कुछ भी प्रभाव नहीं दिखलाई पड़ता। इसलिये कालिदास को 'मृच्छकटिक' की अपर सीमा नहीं माना जा सकता। फिर इसकी अपर सीमा क्या है? वामन ने अपनी 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' में 'मृच्छकटिक' का उल्लेख किया है। उन्होंने इसके कई पद्यों को भी उद्धृत किया है। वामन का काल ई० अ० ८०० माना जाता है। यह 'मृच्छकटिक' के काल की निश्चित निम्नतम सीमा है। कुछ विद्वानों ने इसे बढ़ाने का भी प्रयास किया है। पं० बलदेव उपाध्याय का कथन है कि दण्डी ने काव्यादर्श मे 'मृच्छकटिक' के 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' (१।३४) इस पद्य को उद्धृत किया है। दण्डी का काल विद्वानों ने ई० अ० ७०० माना है। डा० देवस्थली कहते हैं कि 'पञ्चतन्त्र' में 'मृच्छकटिक' के दो श्लोक तथा एक पंक्ति मिलती है। उन्होंने 'पञ्चतन्त्र' का काल ई० अ० ५००माना है। किन्तु कुछ विद्वानों का कहना है कि 'पञ्चतन्त्र' का काल अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। अतः दण्डी (७०० ई० अ०) को ही 'मृच्छकटिक' की अपर सीमा मानना ठीक मालूम पड़ता है। इस तरह कालिदास के काल का अवलम्बन करते हुए 'मृच्छकटिक' का काल ई० पू० १८० या ई० अ० ३०० से लेकर ई० अ० ७०० तक होता है।

'मृच्छकटिक' में जिन विप्लवकारी दशाओं का वर्णन है उसे देखते हुए इसे गुप्तयुग के पश्चात् तथा हर्षवर्धन के पूर्व की रचना मानना अधिक न्यायसंगत प्रतीत होता है। भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि गुप्त राजाओं के पश्चात् तथा हर्षवर्धन के पूर्व तक इस देश में कोई सार्वभौम राजा उत्पन्न नहीं हुआ था। उस काल में भारत की सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक दशा अस्त व्यस्त थी। राजा लोग चरित्रभ्रष्ट हो गए थे। प्रजा में राजा के विरुद्ध कोई न कोई षड्यन्त्र चला करता था। 'मृच्छकटिक' में ऐसे ही समाज का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। इस बात को सामने रखते हुए 'मृच्छकटिक' और उसके कर्ता शूद्रक का काल पाँचवीं, छठी शताब्दी मानना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

४—'मृच्छकटिक' की कथा का मूल—

कुछ विद्वानों ने 'मृच्छकटिक' की कथा के आधार के रूप में 'अभिज्ञानशाकुन्तल', 'मुद्राराक्षस', दण्डी के 'दशकुमारचरित' और सोमदेव के 'कथासरित्सागर' को मान्यता देने का प्रयास किया है। किन्तु संस्कृत साहित्य की विशाल राशि में इस प्रकार के गौण साम्य का मिलना कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखता। मनुष्यों की अनन्त राशि में कुछ लोगों के अङ्गों की मिलती-जुलती सी बनावट देखकर एक के वंश का प्रभाव दूसरे के वंश पर मानना क्या हास्यकारक नहीं है? परस्पर कुछ साधारण समानता तो

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देखी जा सकती है। अतः इस तरह के साम्य के आधार पर 'मृच्छकटिक' में उक्त ग्रन्थों में से किसी एक का भी प्रभाव नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है कि सप्तम शतक का 'दशकुमारचरित' तथा एकादश शतक में होने वाले सोमदेव का 'कथासरित्सागर' 'मृच्छकटिक का उपजीव्य (कथा का आधार) हो ही नहीं सकता। 'मुद्राराक्षस' को भी विद्वानों ने 'मृच्छकटिक' की अपेक्षा अर्वाचीन माना है। ऐसी अवस्था में यह कैसे कहा जा सकता है कि 'मृच्छकटिक' पर इन ग्रन्थों का प्रभाव है।

'मृच्छकटिक की कथावस्तु के दो भाग हैं (१) चारुदत्त और वसन्तसेना के प्रणय की कथा (२) राज्यविप्लव तथा आर्यक को राज्यप्राप्ति की कथा। भास के नाटकों की उपलब्धि के अनन्तर यह प्रायः निश्चित हो चुका है कि शूद्रक ने अपने 'मृच्छकटिक' की कथावस्तु का आधार भास के 'दरिद्रचारुदत्त' को बनाया है। दरिद्रचारुदत्त' और 'मृच्छकटिक' के कथांश में बहुत अधिक समानता है। दोनों के बहुलांश में शब्दतः और अर्थतः समानता है। 'दरिद्रचारुदत्त' में चार अङ्क हैं। संक्षेप में इसके कथानक का स्वरूप इस प्रकार है

'दरिद्रचारुदत्त' के चारों अङ्कों की कथा 'मृच्छकटिक' के प्रारम्भिक चार अङ्कों से प्रायः मिलती है। इसमें चारुदत्त, विदूषक, शकार, विट, संवाहक, चेट ('मृच्छकटिक' का कर्णपूरक, जो कि एक चेट ही है) और सज्जलक (मृच्छकटिक' का शर्विलक) ये पुरुष पात्र है। वसन्तसेना, ब्राह्मणी (धूता), रदनिका (चारुदत्त की चेटी) और मदनिका (वसन्तसेना की चेटी) ये स्त्रीपात्र हैं। नाटक की समाप्ति पर वसन्तसेना मदनिका को सज्जलक के साथ विदा करती है तथा स्वयं चारुदत्त के प्रति अभिसरण की तैयारी करती है।

'दरिद्रचारुदत्त' के श्लोक, कथोपकथन तथा उक्तियाँ बिना किसी परिवर्तन के मृच्छकटिक में दिखलाई पड़ती हैं। दोनों की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मृच्छकटिक' के कर्ता ने 'दरिद्रचारुदत्त' की कथा को आकर्षक एवं झिलमिल भाषा-परिधान, चित्ताकर्षक अलङ्कारयोजना तथा नवीन गति प्रदान कर उसे वसन्तसेना जैसी सुन्दरी एवं नवीन बनाने का सफल प्रयास किया है भास की कथाशैली कुलाङ्गना की भाँति सरल तथा संकुचित है। 'मृच्छकटिक' की कथाशैली वेश्या वसन्तसेना की ही भाँति विस्तारयुक्त और अलङ्कृत है। मालूम पड़ता है भास से शूद्रक के समय तक—एक लम्बी अवधि तक —जन-संपर्क में आते रहने के कारण ही भास की कथा ने सादगी और संकोच का परित्याग कर अलङ्करण और विस्तार को स्वीकार कर लिया है। यही कारण है कि

अधिकांश विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि 'मृच्छकटिक' 'दरिद्रचारुदत्त' का परिवर्धित तथा परिष्कृत रूपान्तर है। इस की मुख्य कथा का मूल आधार 'दरिद्रचारुदत्त' नाटक है। शूद्रक ने 'दरिद्रचारुदत्त' की कथा में 'बृहत्कथा' से ली गयी राज्य-विप्लव की कथा को अपनी कल्पनाओं का पुट देकर जोड़ दिया है। ऐसा करते समय शूद्रक ने मूल कथा मे भी यत्र-तत्र परिवर्तन किया है। भाषा को अधिक मांजा और सवारा है। शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' की शैली को 'दरिद्रचारुदत्त' की अपेक्षा अधिक सजाया और परिष्कृत किया है। दोनों को तुलनात्मक ढंग से देखने में यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है—

दरिद्रचारुदत्त	मृच्छकटिक
१—शृणोमि गन्धं श्रवणाभ्याम्। अन्धकारपूरिताभ्यां नासापुटाभ्यां सुष्ठु न पश्यामि।	शृणोमि माल्यगन्धम् अन्धकारपूरितया पुनर्नासिकया न सुव्यक्तं पश्यामि भूषण-शब्दम्।
२—स्वरान्तरेण दक्षा हि व्याहर्तुं तन्न मुच्यताम्।	वञ्चनापण्डितत्वेन स्वरनैपुण्यमाश्रिता।
३—तव च मम च दारुणः क्षोभो भवति।	मरणान्तिकं वैरं भविष्यति।
४—उत्कण्ठतस्य हृदयानुगता सखीव।	उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या।
५—शतसहस्रमूल्या।	चतुःसमुद्रसारभूता।
६—कोऽप्युपचारोऽपि नैतया भणितः।	अहो! गणिकायाः लोभोऽदक्षिणता च यतो न कथाऽपि कृताऽन्या। अनेकधा स्नेहानुसारं भणित्वा किमप्येवमेव गृहीता रत्नावली। एतावत्या ऋद्ध्या न तयाऽहं भणितः—आर्य मैत्रेय विश्रम्यताम्। मल्लकेन पानीयमपि पीत्वा गम्यतामिति।

इसी तरह और भी बहुत से उदाहरण दोनों मे देखे जा सकते हैं। इन्हे ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि शूद्रक को भाषा और शैली पर पूर्ण अधिकार है। छोटी और सीधी बात को भी इस प्रकार तराश कर पेश करते हैं कि पाठक मुग्ध हो जाता है। शूद्रक किसी बात को विस्तृत करके कहने में भी सिद्धहस्त हैं। ये विशेषताएँ 'दरिद्रचारुदत्त' में सर्वथा नहीं हैं। भास की साधारण भाषाशैली शूद्रक के पास आकर रसीली नवोढा का रूप धारण कर लेती है। पाठक उसकी गति को ही देखते रह जाता है। भास के एक साधारण से काव्य-घर को शूद्रक ने कविताकला की सुन्दर नक्काशी से सजाकर भव्यभवन का रूप प्रदान कर दिया है। उसमें चित्त को चुरानेवाली चमक ले

आ दी है, प्राण का सञ्चार कर दिया है, भावों को भव्य बना दिया है। शूद्रक की यत्र-तत्र नवीन उद्भावनाओं ने कथा में चार चाँद लगा दिए हैं।

मृच्छकटिक नामकरण के कारण—

साहित्यदर्पण के अनुसार नाटक का नाम गर्भित अर्थ को प्रकट करने वाला होना चाहिये—'नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशकम्' (साहित्यदर्पण का छठा परिच्छेद)। 'प्रकरण' का नाम नायक-नायिका के नाम पर आधारित होना चाहिए—'नायिकानायकाख्यानात् संज्ञा प्रकरणादिषु' (साहित्यदर्पण का छठा परिच्छेद)। 'मृच्छकटिक' एक प्रकरण है। इसका नाम नायक-नायिका के नाम पर आधारित होना चाहिए। इस प्रकार 'मालतीमाधव' आदि की भाँति इसका भी नाम 'वसन्तसेनाचारुदत्तम्' होना चाहिए था। किन्तु ऐसा न होकर इसका नाम षष्ठ अंक की एक अति सामान्य घटना पर अवलम्बित है। घटना का प्रारूप इस प्रकार है—

चारुदत्त की सेविका रदनिका रोहसेन को खेलने के लिये मिट्टी की गाड़ी देती है। वह उसे लेने से इन्कार करता है। वह वैसी ही सोने की गाड़ी लेना चाहता है, जैसी कि अभी-अभी पड़ोसी के घर में देख आया है। सोने की गाड़ी न मिलने पर वह रोता और छँलाता है। इसी समय उसे गोद में लिये हुए रदनिका वसन्तसेना के पास आती है। रोने का कारण मालूम होने पर वसन्तसेना सोने की गाड़ी बनवाने के लिये अपना सभी स्वर्णाभूषण उतार कर रोहसेन को दे देती है। इस घटना में आयी मिट्टी की गाड़ी पर ही इस प्रकरण का नाम 'मृच्छकटिक' (मृद् = मिट्टी शकटिका = छोटी गाड़ी) पड़ा है।

नाम के विषय में साहित्यदर्पण में दिया गया नाटक का लक्षण विचार करने पर 'मृच्छकटिक' पर किसी न किसी प्रकार घट भी सकता है; किन्तु प्रकरण का लक्षण तो एकदम इस पर लागू नहीं होता। 'मृच्छकटिक' एक प्रकरण है।[१]

किन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि साहित्यदर्पण आदि लक्षण ग्रन्थों के विधान भास, शूद्रक और कालिदास आदि के नाटकों के आधार पर ही हुए हैं। अतः 'मृच्छकटिक' पर पूर्णतया उनको लागू होने की आशा कैसे की जा सकती है? इसलिये इन महाकवियों के ग्रन्थों पर आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं सामान्य नियम के आधार पर ही विचार करना समीचीन प्रतीत होता है।

१—देखिए साहित्यदर्पण ६।३४१।

किसी भी नाटक आदि का नाम ऐसा होता है जो उसमें छिपे किसी विशेष अभिप्राय को अभिव्यक्त करता है। यही बात ऊपर लिखे गये नाटक के नामनिर्देश के प्रसंग में भी कही गयी है। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि ऊपर लिखी घटना में मिट्टी की और सोने की दोनों गाड़ियों का उल्लेख है। उसमें मिट्टी की गाड़ी की अपेक्षा सोने की गाड़ी पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया गया है। ऐसी स्थिति में इस नाटक का नाम मिट्टी की गाड़ी पर 'मृच्छकटिकम्' ही क्यों रखा गया ? इसका नाम 'सुवर्णशकटिकम्' क्यों नहीं रखा गया ? 'मृच्छकटिकम्' यह नाम किस गूढ़ अभिप्राय को इङ्गित करता है ?

विचार करने पर इस प्रश्न का उत्तर यह प्रतीत होता है कि कवि ने इस प्रकरण में चारुदत्त की अतिशय दानशीलता एवं उदारता का वर्णन किया है। उज्जयिनी का अति सम्पन्न चारुदत्त अपनी दानशीलता के कारण इतना दरिद्र बन गया है कि उसका एकमात्र प्राण-प्रिय पुत्र अब मिट्टी की गाड़ी से फुसलाया जाता है। वह सोने की गाड़ी के लिये आग्रह करता है। कभी ऐसी-ऐसी सोने की गाड़ियाँ चारुदत्त के लिये तृणवत् थीं। उनके परिजन भी असामान्य आनन्द का अनुभव करते थे। किन्तु दान देते-देते आज चारुदत्त की ऐसी दशा हो गयी है कि उसका पुत्र सोने के एक खिलौने के लिये तरस रहा है। उसे मिट्टी की गाड़ी खेलने के लिये दी जा रही है। इसी भाव को सूचित करने के लिए इस प्रकरण का नाम 'मृच्छकटिकम्' रखा गया है। चारुदत्त की दरिद्रता से मिश्रित दानशीलता को सूचित करने वाले और भी दूसरे प्रकरण 'मृच्छकटिक' में देखे जा सकते हैं। दूसरे अंक में कर्णपूरक वसन्तसेना से कहता है—'आर्ये ! उसके बाद एक व्यक्ति ने आभूषण पहनने के सूने स्थानों को टटोलकर, ऊपर देखकर, लम्बी साँस लेकर, यह दुपट्टा मेरे ऊपर फेंक दिया'—'तत आर्ये ! एकेन शून्यानि आभरणस्थानानि परामृश्य, उद्ध्र्व प्रेक्ष्य, दीर्घं निश्वस्य, अयं प्रावारकः ममोपरि उत्क्षिप्तः।' (पृ०)।

किसी अति समृद्ध व्यक्ति की अति दानशीलता के कारण होने वाली दरिद्रता को सूचित करने के लिये उसके यहाँ व्यवहार में मिट्टी की वस्तुओं का उपयोग दिखलाना यहाँ की प्राचीन परम्परा रही है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये 'रघुवंश' में कालिदास ने रघु के द्वारा कौत्स का सत्कार मिट्टी के बर्तनों से ही करवाया है[1]।

इसके अतिरिक्त 'मृच्छकटिकम्' यह नाम 'सुवर्णशकटिकम्' या वसन्तसेनाचारुदत्तम्'

१— स मृन्मये वीतहिरण्मयत्वात् पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः। इत्यर्घ्यपात्रानुमितव्ययस्य………। ५।१२ ॥

की अपेक्षा एक विशिष्ट कौतूहल भी उत्पन्न करता है। कुछ असामान्य प्रतीत होने वाले इस नाम से ही लोगों का ध्यान इसके रहस्य को जानने के लिये आकृष्ट हो जाता है।

कुछ विद्वानों ने इस प्रश्न का अन्य समाधान भी दिया है--जैसे (१) इस नाम के द्वारा कवि जीवन के लिये शिक्षा देना चाहता है। रोहसेन अपनी मिट्टी की गाड़ी से सन्तुष्ट नहीं है। वह पड़ोसी के पुत्र की सोने की गाड़ी चाहता है। किन्तु अपनी परिस्थिति से असन्तोष और दूसरों की उन्नत अवस्था से ईर्ष्या करना दोष है। ऐसे दोषों के कारण मनुष्यों को विपत्ति का सामना करना पड़ता है। इसी तरह चारुदत्त भी धूता से सन्तुष्ट न हो वसन्तसेना की ओर आकृष्ट होता है; उसका जीवन कष्टमय बन जाता है। अतः 'मृच्छकटिक' असन्तोष का प्रतीक है। (२) इस शब्द से प्रवहण-विपर्यय की घटना भी सूचित होती है जो कि इस प्रकरण की अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। अतः इस प्रकरण का नाम 'मृच्छकटिक' रखा गया। इसी प्रकार अन्य कई कल्पनाएँ भी इस प्रश्न के समाधान के लिये की गई हैं जो विद्वानों के मस्तिष्क की एकमात्र उर्वरता ही सूचित करती हैं।

जो कुछ भी हो यह सत्य है कि 'सुवर्णशकटिकम्' तथा 'वसन्तसेनाचारुदत्तम्' की अपेक्षा 'मृच्छकटिकम्' यह नाम शब्द और अर्थ दोनों ही दृष्टि से आकर्षक, औत्सुक्यवर्धक और सुनने में रमणीय लगता है। अतः कवि ने इस प्रकरण का 'मृच्छकटिकम्' यह नाम रखकर अच्छा ही किया है।

मृच्छकटिक नाटक है अथवा प्रकरण

भारतीय आचार्यों ने काव्य को दो प्रमुख भेदों में बाँटा है – श्रव्य और दृश्य। दृश्य काव्य दो प्रकार के होते हैं—रूपक और उपरूपक। रूपक के दस भेद माने गये हैं (१) नाटक (२) प्रकरण (३) भाण (४) व्यायोग (५) समवकार (६) डिम (७) ईहामृग (८) वीथी (९) अङ्क और (१०) प्रहसन। उपरूपक के नाटिका आदि अट्ठारह भेद माने गये हैं।[१]

१—नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश॥
नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम्।
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा।
संलापकं श्रीगदितं शिल्पकञ्च विलासिका।
दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेति च॥
अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः।
विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम्॥ (साहित्यदर्पण ६।४–५)

नाटक का वृत्तान्त लोकप्रसिद्ध होना चाहिए। इसका नायक प्रसिद्ध वंश का राजा अथवा दिव्यपुरुष होना चाहिए। नायक के लिए यह भी आवश्यक है कि वह धीरोदात्त हो। इसका प्रधान रस श्रृङ्गार अथवा वीर होता है। अन्य रस-श्रृङ्गार अथवा वीर रस के सहायक होते हैं। कुछ लोगों के अनुसार करुण अथवा शान्त भी नाटक के प्रधान रस हो सकते हैं। नाटक में पाँच सन्धियाँ और पाँच से लेकर दश अङ्क होते हैं।

प्रकरण का वृत्तान्त लौकिक तथा कवि-कल्पित होता है। इसका मुख्य रस श्रृङ्गार होता है। इसका नायक ब्राह्मण, मन्त्री अथवा वणिक् में से कोई एक होता है। वह धीरप्रशान्त तथा विपरीत परिस्थितियों में भी धर्म, अर्थ और कामपरायण होता है। प्रकरण की नायिका कुलस्त्री या वेश्या होती है। कहीं-कहीं दोनों ही नायिका के रूप में चित्रित होती हैं। इन नायिकाओं की त्रिविधता से प्रकरण के भी तीन भेद हो जाते हैं। प्रकरण के तीनों भेदों में तीसरा भेद कुलजा तथा वेश्या दोनों प्रकार की नायिकाओं से युक्त होता है। यह धूर्त, जुआरी, विट तथा चेट आदि से भरा होता है। शेष बातें नाटक के ही समान होती हैं—

भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्।
श्रृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्॥
सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः।
नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित्॥
तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः।
कितवद्यूतकारादिविटचेटकसङ्कुलः॥

(साहित्यदर्पण, ६।२४१–४३)।

'मृच्छकटिक' का कथानक लोकाश्रित तथा कविकल्पित है। इसका प्रधान रस श्रृङ्गार है। करुण (अङ्क १०), हास्य (शकार तथा विदूषक के कथनों में) तथा बीभत्स (अङ्क ८) इत्यादि श्रृङ्गार के पोषक के रूप में आये हैं। नायक चारुदत्त ब्राह्मण है। यह दरिद्रता की हालत में भी धर्म, अर्थ तथा काम की सिद्धि में लगा हुआ देखा जाता है। इस में कुलस्त्री धूता तथा वेश्या वसन्तसेना दो नायिकाएँ हैं। दो नायिकाओं के कारण यह तीसरे प्रकार का प्रकरण है। इसमें धूर्त, जुआरी, विट और चेट की भी योजना की गयी है। दशरूपक 'मृच्छकटिक' को संकीर्ण प्रकरण मानता है—'संकीर्णं धूर्तसंकुलम्।'

ऊपर किये गये विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मृच्छकटिक' एक प्रकरण है। इसमें प्रकरण के प्रायः सभी लक्षण पाये जाते हैं। नाटक के कई लक्षण न मिलने के

कारण इसे नाटक नहीं कहा जा सकता। साहित्यदर्पणकार तथा दशरूपककार ने भी इसे प्रकरण ही माना है।

'मृच्छकटिक' के मुख्य पात्रों का चरित्र-चित्रण

चारुदत्त—

चारुदत्त इस प्रकरण का नायक है। साहित्यदर्पण के अनुसार किसी प्रकरण का नायक धीरप्रशान्त, कोई विप्र अथवा राजा का मन्त्री अथवा वणिक् होता है। नायक सर्वदा धर्म, काम तथा धन को सिद्ध करने में तत्पर दिखलाई पड़ता है। इन कार्यों को करने में उसे सर्वदा विघ्नों का भी सामना करना पड़ता है।[१] नायक के ये सारे लक्षण चारुदत्त में पाये जाते हैं। वह विप्र है। उसकी प्रवृत्ति सर्वदा धर्म, कामादि की ओर है। उसके जीवन का सारा क्रिया-कलाप विघ्नों से भरपूर है। वह एक धीरप्रशान्त नायक है। त्यागी, वीर, कुलीन, सुन्दर, रूप तथा यौवन से सम्पन्न, कार्यों को करने में निपुण, जनसमुदाय को आकृष्ट करने वाला, तेज, चतुरता और शील आदि से युक्त द्विज आदि धीरप्रशान्त कहे गये हैं।[२]

चारुदत्त उज्जयिनी नगरी का एक ब्राह्मण युवक है। प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है— 'अवन्तिपुर्यां द्विजसार्थवाहः' इत्यादि (पृ० १०)। यहाँ 'द्विज' शब्द का अर्थ ब्राह्मण किया जाता है। दशम अङ्क में अपने पुत्र को दाय के रूप में यज्ञोपवीत देते हुए चारुदत्त कहता है—'अमौक्तिकमसौवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम्' इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि वह जन्मना ब्राह्मण है। वह कर्मणा ब्राह्मण नहीं है। वह कर्म से वैश्य है। वह सार्थवाह अर्थात् व्यापारियों के काफिले का नेता है। यही कारण है कि द्वितीय अङ्क में जब चेटी वसन्तसेना से पूछती है कि 'क्या तुम किसी ब्राह्मण युवक को

१—·········· नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्।
सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः ॥ ६।२४१ ॥

२—त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान् नेता ॥ ३।३६ ॥
सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात् ॥ ३।४१ ॥

टिप्पणी—नायक के चार भेद होते हैं—(१) धीरोदात्त, (२) धीरोद्धत, (३) धीरललित और (४) धीरप्रशान्त। इनके विवरण के लिए देखिये साहित्यदर्पण का तीसरा परिच्छेद।

चाहती हो' तो वह उत्तर देती है — पूजनीयो मे ब्राह्मणजन.' अर्थात् नहीं। फिर भी वह ब्राह्मण युवक चारुदत्त से प्रेम करती है। इससे यही निष्कर्ष निकाला जाता है कि वह किसी ऐसे पुरुष को नही चाहती है जो जन्म तथा कर्म दोनों प्रकार से ब्राह्मण हो। चारुदत्त जन्म से ब्राह्मण और कर्म से वैश्य है।

चारुदत्त के पूर्वज प्रसिद्ध व्यापारी थे। उन लोगों ने विशाल धनराशि अर्जित की थी। चारुदत्त का विशाल घर उसके पूर्वजों की समृद्धि का स्मारक है।[१] फलतः चारुदत्त अपने यौवन के प्रभात में महती सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनता है। किन्तु विधाता ने उसे धन के ही साथ हृदय को भी विशालता दी है। उसका हृदय बड़ा ही उदार तथा कोमल है। यह एक ऐसा गुण है जो धनिकों में बहुत कम पाया जाता है या नहीं पाया जाता। किन्तु चारुदत्त इसका अपवाद है। उसकी उदारता चरमसीमा पर पहुँची हुई है। उसने अपनी सारी सम्पत्ति निर्धनों को दे डाली है। मित्रों और परिचितों तथा याचकों की विपत्ति में सहायता करना उसकी आदत है। धन के कारण उसने कभी किसी का अपमान नहीं किया है। चारुदत्त की दानशीलता की ओर निर्देश करते हुए विट शकार से कहता है—

> सोऽस्मद्विधानां प्रणयैः कृशीकृतो
> न तेन कश्चिद्विभवैर्विमानितः।
> निदाघकालेष्विव सोदको ह्रदो
> नृणां स तृष्णामपनीय शुष्कवान् ॥ १।४६ ॥

चारुदत्त की उदारता और दयालुता को दरिद्रता भी नहीं कम कर सकी है। उसे दुःख है कि चोर रात भर परिश्रम करने के बाद निराश लौट गया होगा—'संधिच्छेदनखिन्न एव सुचिरं पश्चान्निराशो गतः ॥' (अंक ३, श्लोक० २३)। उसका नाम सार्थक है—चारु दत्तं दानं येन असौ चारुदत्तः। यदि संक्षेप में कहा जाय तो कह सकते हैं कि चारुदत्त का धन परोपकार के लिए है। दान के लिये है। उसके धन की पहली गति है—'दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।' भर्तृहरि।

चारुदत्त की दयालुता भी उत्कृष्ट कोटि की है। उसके हृदय में प्राणिमात्र के लिये दया का सागर सर्वदा हिलोरें लिया करता है। अपने सेवकों के प्रति भी उसकी अनुकम्पा प्रशंसनीय है। चेट के द्वारा अपने स्वामी चारुदत्त के प्रति अभिव्यक्त की गई यह भावना कितनी मार्मिक है—'सुजनः खलु भृत्यानुकम्पकः स्वामी निर्धनकोऽपि शोभते।'

१—दृष्ट्वा प्राङ्महतीं निवासरचनामस्माकमाशान्वितः ॥ ३।२३ ॥

(३।२)। अपने समान ही सेवकों का भी सुख-दुःख जानना चारुदत्त की विशेषता है। वह अपनी सेवा के लिये सोई हुई रदनिका को भी नहीं जगाना चाहता—'अलं सुप्तजनं प्रबोधयितुम्।' (तृ० अ०)। पशुपक्षियों के प्रति भी वह दयालु है। बैठे हुए कबूतरों को उड़ाना भी उसे सह्य नहीं है—'वयस्य! उपविश। किमनेन? तिष्ठतु दयितासहितस्तपस्वी पारावतः।' (पृ० ३३१)।

शरण में आये हुए की रक्षा करने के लिये चारुदत्त प्रसिद्ध है। अपने प्राणों को संकट में डालकर भी दूसरों की रक्षा करना उसका प्रधान गुण है। आर्यक से वह गर्व पूर्वक कहता है—'अपि प्राणानहं जह्यां न तु त्वां शरणागतम्।' (७।६) प्रकृत्या क्रोधी[1] राजा पालक कहाँ? और कहाँ दरिद्र चारुदत्त। किन्तु धन्य है चारुदत्त की शरणागतवत्सलता जो मृत्यु को भी तृण समझती है। शकार ने चारुदत्त के बसे हुए संसार को जला डालने में कोई न्यूनता नहीं रखी है। कुछ ही घंटों पूर्व उसने न्यायालय में चारुदत्त को कठोर से भी कठोर वचन कहा है। यदि शकार की चलती तो वह चारुदत्त को पुत्रसहित शूली पर टंगवा देता। वह चाण्डालों से कहता है—'अरे! ननु भणामि सपुत्रकं चारुदत्तं व्यापादयतेति।' (द० अ०) किन्तु कुछ ही क्षणों के अनन्तर जब शकार चारुदत्त की शरण में जाकर कहता है—'भो अशरणशरण! परित्रायस्व।' (द० अ०); उस समय चारुदत्त उसके अपराधों को भुलाकर कह उठता है—'अहह, अभयं शरणागतस्य।' (द० अ०)। शरणागतवत्सलता के ऐसे भव्य उदाहरण भारतीय संस्कृति के क्षेत्र के बाहर बहुत कम देखने को मिलेंगे।

निर्धन होने पर भी चारुदत्त को अपने चरित्र की रक्षा की बड़ी चिन्ता है।[2] वह सत्यनिष्ठ है। वह दूसरों को धोखा देने की बात कभी नहीं सोचता है। उसे भिक्षावृत्ति भी स्वीकार्य है किन्तु असत्य और कपट से वह कोसों दूर रहना चाहता है।

अहमिदानीमनृतमभिधास्ये?

भैक्ष्येणाप्यर्जयिष्यामि पुनर्न्यासप्रतिक्रियाम्।
अनृतं नाभिधास्यामि चारित्रभ्रंशकारणम्॥ ३।२६॥

१— कदा नु खलु त्वां कुपितेन राज्ञा पालकेन नववधूकेशहस्तमिव सुगन्धं छेद्यमानं प्रेक्षिष्ये।' (पृ० २२)।

२—यदि तावत्कृतान्तेन प्रणयोऽर्थेषु मे कृतः।
किमिदानीं नृशंसेन चारित्रमपि दूषितम्॥ ३।२५॥

यदि वह कभी असत्यभाषण भी करता है तो उसमें परार्थ, परोपकार आदि ही कारण हैं। वसन्तसेना के चुराये गये आभूषणों की यदि सत्य सूचना उसे दी जाती तो वह उनके बदले में रत्नावली को कभी भी न लेती। ऐसी अवस्था में चारुदत्त को अपने ऊपर वसन्तसेना का आभार मानना पड़ता। अतः वह झूठे ही विदूषक के द्वारा वसन्तसेना को कहला देता है कि उन जेवरों को अपना समझ कर मैं उन्हें जुए में हार गया। उनके बदले में यह रत्नावली लो। यद्यपि यह असत्य है। परन्तु यह दूसरों को हानि पहुँचाने वाला झूठ नहीं है। वस्तुतः वह असत्य गर्हित माना जाता है जिससे दूसरों को कुछ हानि पहुँचे। यह अपनी कीर्ति अपने चरित्र आदिको बचाने के लिए कहा गया झूठ है। वह समझता है कि यदि वह चोरी की बात कह देगा तो वसन्तसेना दण्ड के रूप में रत्नावली न लेगी। इसके अतिरिक्त दुनियां उसका विश्वास न करेगी। लोग कहेंगे कि दरिद्र चारुदत्त ने आभूषणों को हड़प लिया है। चोरी का बहाना अपकीर्ति से एक मात्र बचने के लिए किया गया है। प्राणदण्ड दिये जाने पर भी उसे अपने प्राणों का मोह नहीं है। केवल उसे एकमात्र यही चिन्ता हैं कि लोग कहेंगे कि चारुदत्त ने स्त्री की हत्या कर दी है।'–'न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः।' (द० अ० श्लो० २७। पूरे नाटक में चारुदत्त अपने चरित्र की रक्षा के लिये तथा असत्य न बोलने के लिये सचेष्ट दिखलाई पड़ता है। हां एक जगह उसका व्यवहार अवश्य खटकता है। न्यायाधीशों के यह पूछने पर कि 'क्या तुम्हारी वसन्तसेना से मित्रता है?' तो उसने टालमटोल का उत्तर दिया है।

गणिका से प्रेम करने पर भी चारुदत्त में चारित्रिक दृढ़ता है। वह अपनी पत्नी धूता से प्रेम करता है और उसे पवित्र मानता हुआ उसका आदर करता है। वसन्तसेना के आभूषणों को भी घर के भीतर प्रवेश के योग्य नहीं समझता है—'अलं चतुःशालमिमं प्रवेश्य' इत्यादि—(३।७)। परनारी को वह चौथ के चन्द्रमा की भांति नहीं देखना चाहता है –'न युक्तं परकलत्रदर्शनम्।' (पृ० १०७)। अन्यस्त्री से अपने वस्त्रों का स्पर्श भी उसे अभीप्सित नहीं है—'अविज्ञातावसक्तेन दूषिता मम वाससा।' (पृ० १०६)। उसे अपनी पतिव्रता स्त्री पर पूरा पूरा गर्व है।

चारुदत्त कला का प्रेमी है। वह रेभिल के संगीत की ताल-लय तथा मूर्च्छना इत्यादि का विश्लेषण करते हुए प्रशंसा करता है। उसका कला-प्रेम इतनी ऊँची कोटि का है कि वह शर्विलक की लगायी गयी सेंध को भी देखकर उसकी कलात्मकता की प्रशंसा करने लगता है—'अहो, दर्शनीयोऽयं संधिः' इत्यादि (तृ० अ०)।

वह धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति है। 'मृच्छकटिक' के पहले ही अंक में, जब कि वह प्रवेश करता है, देवताओं की पूजा में संलग्न दिखलाई पड़ता है। वह समाधि (प्राणा-

याम) का भी अभ्यासी है—'तिष्ठ तावत्; अहं समाधिं निर्वर्तयामि ।' (पृ० ४१)। तप, मन, वाणी और कर्म से वह सर्वथा देवताओं का भक्त है। उसका विचार है कि भलीभांति अर्चना करने पर देवता लोग अवश्य ही प्रसन्न होते हैं। इस विषय में वह किसी भी प्रकार के तर्क-वितर्क को नहीं सुनना चाहता है। वह एक गृहस्थ की विधियों को श्रद्धा के साथ सम्पन्न करना अपना प्रथम कर्त्तव्य मानता है। उसका कथन है कि— 'वयस्य, मा मैवम्। गृहस्थस्य नित्योऽयं विधिः।

तपसा मनसा वाग्भिः पूजिताः बलिकर्मभिः।
तुष्यन्ति शमिनां नित्यं देवताः किं विचारितैः ॥ (पृ० ४०) ॥

उसे धर्म के ऊपर विश्वास है[1]। कर्म के ऊपर विश्वास है। कर्म के फल पर उसकी श्रद्धा है। वस्तुतः वह पुराने जमाने के धार्मिकों का प्रतिनिधि है। धर्म-विषयक उसकी श्रद्धा सराहनीय है।

प्रकरण के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक वह भाग्यवादी दिखलायी पड़ता है। विधि के विधान पर उसकी अद्भुत आस्था है। उसके विचार से भाग्य के विना संसार का एक भी कार्य सम्भव नहीं है। विदूषक से वह कहता है—'भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति।' (पृ० ३४)। इसी प्रकार उसने आर्यक से भी कहा है—'स्वैर्भाग्यैः परिरक्षितोऽसि' (७।७)। उसका विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति के उत्थान और पतन में एकमात्र विधि (भाग्य) ही कारण है। प्रकरण के अन्त में वह शर्विलक से कहता है—'कांश्चित्तुच्छयति प्रपूरयति। इत्यादि—(१०।६०)। भाग्यवादी होने के साथ ही साथ वह शकुनों का भी विश्वासी है। उसका विचार है कि शकुन अच्छे या बुरे भविष्य की सूचना देते हैं—(९।१०-१३)।

चारुदत्त, गुणों के साथ ही, आकार से भी सुन्दर है। उसकी आकृति भव्य और दर्शनीय है। द्वितीय अंक में वसन्तसेना को चारुदत्त का परिचय देते हुये संवाहक कहता है–'यस्तादृशः प्रियदर्शनः' इत्यादि (पृ० १५७)। सप्तम अंक में आर्यक भी उसके बाह्य व्यक्तित्व की सराहना करता है—'न केवलं श्रुतिरमणीयः दृष्टिरमणीयोऽपि' (पृ० ४४६)। उसकी नासिका ऊँची और उभरी हुई है; अपांग तक फैले हुए उसके बड़े-बड़े नेत्र हैं। वस्तुतः उसकी आकृति इतनी सुन्दर है कि लोग उसे देखते ही उसके द्वारा किये गये भव्य कार्यों की ही एकमात्र आशा करते हैं। नवम अंक में चारुदत्त को देखते ही अधिकरणिक कहता है— अयमसौ चारुदत्तः। य एषः,

घोणोन्नतं मुखमपांगविशालनेत्रम्' इत्यादि (९।१६)।

१—'प्रभवति यदि धर्मो दूषितस्यापि मेऽद्य,' इत्यादि। १०।३४ ॥

वसन्तसेना की मां भी चारुदत्त के सौन्दर्य को देखकर एकाएक कह उठती है—'अयं स चारुदत्तः। सुनिक्षिप्तं खलु दारिकया यौवनम्।' (पृ० ५७८)।

चारुदत्त के गुणों का वर्णन यदि संक्षेप में कहा जाय तो कह सकते है कि—'वह दीनों का कल्पवृक्ष, सज्जनों का अपना कुटुम्बी, शिक्षितों का आदर्श, सुन्दर चरितों की कसौटी और सदाचाररूपी मर्यादा का सागर है। वह लोगों का सत्कार करने वाला है। उसने कभी किसी का अपमान नहीं किया है। वह पुरुषों के गुणों का खजाना, सरल तथा उदार है—'दीनानां कल्पवृक्षः' इत्यादि (१।४८)। वह देखने मे सुन्दर है, प्रियवादी है, किसी को कुछ देकर उसका प्रचार नही करता है, अपने प्रति किये गये अपकार को भुला देता है। कहां तक कहा जाय अति उदारता के कारण वह अपने आप को भी दूसरों का सा समझता है—'यस्तादृशः प्रियदर्शनः प्रियवादी दत्त्वा न कीर्तयति' इत्यादि (पृ० १५७)।

वसन्तसेना—

'मृच्छकटिक' एक ऐसा प्रकरण है जिसमे कुलस्त्री तथा गणिका दो नायिकायें है—'नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित्।' (साहित्यदर्पण ६।२४२)। धूता कुलस्त्री है और वसन्तसेना गणिका। इनमे वसन्तसेना का ही चरित्र मुख्यरूप से चित्रित किया गया है। दशरूपक के अनुसार नायिकायें तीन प्रकार की होती है—स्वकीया, परकीया और साधारण स्त्री (२।१५)। साधारण स्त्री को गणिका कहते है। वह कला, प्रगल्भता और धूर्तता से युक्त होती है। प्रकरण इत्यादि रूपकों मे गणिका को अनुरक्ता ही दिखलाया जाता है—'रक्तैव त्वप्रहसने' (दशरूपक २।२२)।

वसन्तसेना उज्जयिनी नगरी की सर्वाधिक सम्पत्तिशालिनी वेश्या है। उसके घर में प्रचुर सम्पत्ति भरी है। उसका घर कुबेर के घर का एक खण्ड सा मालूम पड़ता है। उसके घर की अनुपम समृद्धि देखकर चौथे अंक में विदूषक कहता है—'किं तावद् गणिकागृहम्, अथवा कुबेरभवनपरिच्छेद इति' (पृ० ३०६)। उसका निवास-स्थान कई खण्डों का एक विशाल प्रासाद है (अंक ४)। शकार के द्वारा भेंट किये गये दश हजार सोने की मुद्राओं के अलङ्कारों को भी ठुकराने मे उसे हिचक नहीं है (अं० ४)।

यौवन से मतवाली गणिका होने पर भी उसका चरित्र पवित्र है। चारुदत्त को स्वीकार करने के पूर्व सम्भवतः उसने किसी को अपना प्रेम नहीं प्रदान किया है। वसन्तसेना को उत्कण्ठित और प्रेमातुर जानकर मदनिका उससे कहती है—'प्रियं मे प्रियम्। कामः खलु नामैष भगवान् अनुगृहीतो महोत्सवस्तरुणजनस्य।' (पृ० १२१)। चारुदत्त

के प्रति उत्कण्ठित होने के पूर्व काम-व्यापार के प्रति वह उदासीन है। उसे प्राप्त करने के लिये युवकों की कामनाएँ निष्फल हैं। पैसे के पीछे जिस किसी के साथ उद्दाम-काम-क्रीडा उसके जीवन का उद्देश्य नहीं है। वह किसी लोक-प्रशंसित व्यक्ति के साथ प्रेम करके अपने जीवन को चरितार्थ करना चाहती है। वेश्याजीवन की अपेक्षा एक गृहस्थ कुलीन स्त्री का जीवन उसे अत्यधिक पवित्र तथा सम्माननीय प्रतीत होता है। चारुदत्त के द्वारा रोहसेन को लेकर घर में जाने की प्रेरणा पर वह स्वयं आने आप कहती है—'मन्दभागिनी खल्वहं तवाभ्यन्तरस्य' (पृ० १०४) 'एतेनानुचितभूमिकारोहणेनापराद्धा' इत्यादि (पृ० १४०)।

अपनी संपत्ति के अनुरूप ही वसन्तसेना का हृदय भी विशाल है। वह उदार है। उसके हृदय में करुणा की तरङ्गिणी सर्वदा तरङ्गायित रहती है। जब संवाहक उसकी शरण में आता है तो अपरिचित होने पर भी वह उसे अभयदान देती है। वह उसे ऋण से मुक्ति दिलाने के लिये अपने हाथ में पहना हुआ सोने का कड़ा सहर्ष निकाल कर भेजती है और कहला देती है कि संवाहक ने ही भेजा है (अङ्क २)। अपनी उदारता के कारण ही वह मदनिका को दासता से मुक्त कर देती है। वह इतनी दयालु है कि यदि उसका वश चलता तो वह सभी परिजनों को दासता से मुक्त कर देती—'यदि मम छन्दस्तदा विनाऽर्थं सर्वं परिजनमभुजिष्यं करिष्यामि।' (अं० ४) चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को सोने की गाड़ी के लिये रोते देखकर वह उसे सोने की गाड़ी बनवाने के लिये अपने सभी आभूषणों को निकाल कर दे देती है। क्या किसी वेश्या से इस प्रकार के व्यवहार की आशा की जा सकती है? वेश्याएँ अर्थ पिशाचिनी मानी गयी हैं। करुणा का कण भी उनके हृदय में देखने को नहीं मिल सकता। किन्तु वसन्तसेना इसका अपवाद है। चोरी गये हुए सुवर्णभाण्ड के बदले रत्नावली भेजने के लिये उसने चारुदत्त को उलाहना दिया है (पृ० ३७६)। चारुदत्त की पत्नी धूता को रत्नावली सौंपने के समय उसने कैसा अनुकरणीय सन्देश भेजा है। 'अहं श्रीचारुदत्तस्य गुणनिर्जिता दासी तदा युष्माकमपि।' (पृ० ३६०)।

वसन्तसेना एक बुद्धिमती, कलाकुशल तथा विदुषी नारी है। इशारे में कही गयी बात को समझने की उसमें अद्भुत प्रतिभा है। शकार के द्वारा किये जाते हुए अनुसरण के समय विट के कथन के गूढ़ अर्थ को सद्यः समझकर वह अपने आभूषणों को उतार लेती है (अङ्क १)। वह हाजिरजवाब स्त्री है। प्रथम अङ्क में जब चारुदत्त ने उससे उसके साथ भूल से परिजन का सा व्यवहार करने की क्षमा-याचना की तो उसने झट उससे कहा था—'एतेनानुचितभूमिकारोहणेनापराद्धाहं शीर्षेण प्रणम्य प्रसादयामि

(पृ० ११०)। वह चारुदत्त की गूढ़ व्यङ्ग्यभरी प्रणय-प्रार्थना का आशय झट समझ जाती है (पृ०१११)। वह चित्र और कविता बनाना भी जानती है। चतुर्थ अङ्क में सम्भवतः उसने अपना बनाया हुआ ही चारुदत्त का चित्र मदनिका को दिखाया है। पञ्चम अङ्क में वह स्वनिर्मित पद्यों से वर्षा का वर्णन करती है। उसे संस्कृत का भी उत्कृष्ट ज्ञान है। उसने चौथे अङ्क में विदूषक के साथ संस्कृत में ही वार्तालाप किया है।

वसन्तसेना चारुदत्त को सच्चे हृदय से प्रेम करती है वह उस पर आसक्त है। यह बात प्रथम अङ्क मे शकार की उक्ति से स्पष्ट हो जाती है - 'भाव ! भाव ! एषा गर्भदासी कामदेवायतनोद्यानात् प्रभृति तस्य दरिद्रचारुदत्तस्य अनुरक्ता' (पृ० ६६) जब विदूषक ने वसन्तसेना की उपस्थिति मे ही चारुदत्त को बतलाया कि वसन्तसेना काम-देवायतनोद्यान के दिन से ही उसे प्रेम करती है तो उसने कोई प्रतिवाद नहीं किया (पृ०१०७)। संवाहक के चारुदत्त का नाम लेने पर उसने उसका विशेष आदर किया है। (पृ० १६०)। चतुर्थ अङ्क मे विदूषक के अपने यहाँ पहुँचने पर उसने खड़ी होकर उसका स्वागत किया है (पृ० १५६) ये दोनों बातें भी चारुदत्त के प्रति उसका आदर अभिव्यक्त करती है। अनुरक्ता नितम्बिनी का वर्णन करते हुए दर्पणकार ने कहा है— आच्छादयति वागाद्यैः प्रियस्य परिचारकान्। विश्वसित्यस्य मित्रेषु बहुमानं करोति च' (पृ० ५०)। वह चारुदत्त के गुणों पर मुग्ध है। वह चारुदत्त के गुणों के द्वारा वश मे की गई उसकी दासी है। इस बात को उसने छठे अङ्क मे एक बार नही दो-दो बार कहा है—'अहं श्री चारुदत्तस्य गुणनिर्जिता दासी' (पृ० ३९०) और 'ते पितुर्गुणनिर्जिता दासी' (पृ० ३६४)। चारुदत्त के प्रति उसका प्रेम इतना बढ़ा हुआ है कि पञ्चम अङ्क मे चारुदत्त के घर पहुंचने पर उसने स्वयं उसे पहले आलिङ्गन किया है (पृ ३८१)। वह निर्धन चारुदत्त के गुणों और यौवन पर मुग्ध है। प्रेम के बदले उसे चारुदत्त से पैसा नहीं चाहिये। वह जानती है कि दरिद्र को प्रेम करने से लोक मे उसकी बदनामी न होगी—'दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमना. खलु गणिका लोकेऽवचनीया भवति' (पृ० १२४)। वह इस बात से सर्वदा सावधान रहा करती है कि दरिद्रता के कारण अपने को प्रत्युपकार करने में—कामक्रीडा के बदले धन देने मे—असमर्थ पाकर कही चारुदत्त फिर मिलना न छोड़ दे—'चेटि, सहसाभिसार्यमाणः प्रत्युपकारदुर्बलतया, मा तावत्, जनो दुर्लभदर्शनः पुनर्भविष्यति।' (पृ० १२५)। वह कभी ऐसा अवसर नहीं आने देना चाहती जिस से चारुदत्त को अपनी निर्धनता का स्मरण हो या उसके कारण लज्जित होना पड़े। इससे यह स्पष्ट है कि वह उससे स्थायी संबन्ध जोड़ना चाहती है। षष्ठ अङ्क में अपने

को चारुदत्त के घर की चौपाल (अभ्यन्तरचतुःशालक) में पाकर वह अतिशय प्रसन्न होती है। उसे यह आशा हो चलती है कि मेरा स्वप्न पूरा होगा। अवश्य ही चारुदत्त कभी न कभी मुझे अपनी बनायेंगे। चारुदत्त को छोड़कर उसने कभी अपना प्रेम किसी को नहीं दिया है। उसे मृत्यु का आलिङ्गन भी स्वीकार्य है, परन्तु वह चारुदत्त के अतिरिक्त शकार जैसे प्रभुता और सम्पत्ति-सम्पन्न व्यक्ति से भी प्रेम की बातें तक नहीं करना चाहती है (अङ्क ८)। केवल चारुदत्त के लिये ही उसका यौवन, धन सब कुछ-न्यौछावर है। वेश्या होने पर भी चारुदत्त के प्रति उसके सभी व्यवहार विवाहिता स्त्री के व्यवहारों के तुल्य ही हैं 'अवेशसदृशप्रणयोपचाराम्।' (८।२३)। चारुदत्त के प्रति उसकी एकनिष्ठा का ही परिणाम है कि वह अन्त में चारुदत्त की गृहिणी के पद पर प्रतिष्ठित होती है 'आर्ये वसन्तसेने! परितुष्टो राजा भवतीं वधूशब्देनानुगृह्णाति (पृ० ७ ३)।

चारुदत्त की वधू धूता के प्रति वसन्तसेना का व्यवहार आदि से अन्त तक नम्रता-पूर्ण और प्रशंसनीय है। वह धूता को बड़ी बहन के समान देखती है और अपने आपको उसकी दासी कहने में भी सकोच का अनुभव नहीं करती है—'गृहाणैतां रत्नावलीम्। मम भगिन्या आर्याधूतायै गत्वा समर्प्य। वक्तव्यं च – 'अहं श्रीचारुदत्तस्य गुणनिर्जिता दासी, तदा युष्माकमपि।' (पृ० ३९०)।

वसन्तसेना चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को भी हृदय से प्यार करती है। प्रथम बार के ही साक्षात्कार में वह अपनी सुकोमल बाहों को फैलाते हुए ललक कर कह उठती है—'एहि मे पुत्रक! आलिङ्ग। अनुकृतमनेन पितू रूपम्।' (पृ० ३८३)। उस बालक की प्रसन्नता के लिये, उसकी खेलने की गाड़ी बनवाने के लिये और सच्चे अर्थ में उसकी जननी बनने के लिए अपने शरीर पर पहने गये सुवर्णमय आभूषणों को वसन्तसेना उसी प्रकार उतार कर चेटी रदनिका के हाथों पर रख देती है मानो वह उसे फटा पुराना कपड़ा उतार कर दे रही हो। इससे अधिक कोई भी माता अपने पुत्र को क्या प्रेम दे सकती है। धन्य है वसन्तसेना का यह पुत्र-प्रेम। क्या आज की विमाताएँ इससे कुछ सबक लेंगी? यदि हाँ, तो निश्चय ही विश्व का महान् कल्याण होगा।

वसन्तसेना का सौन्दर्य अद्भुत है। उसकी सुन्दरता अपने जमाने में प्रसिद्ध तथा अनुपम है। उसे उज्जयिनी नगरी का विभूषण कहा गया है—'बालां स्त्रियं च नगरस्य विभूषणञ्च (८।२३), छादिता शरदभ्रेण चन्द्रलेखेव दृश्यते (१।५४)। उसके मद भरे यौवन पर बड़े से बड़े अधिकारी भी अपना सब कुछ समर्पित करने के लिये उसकी भृकुटि देखा करते हैं। वस्तुतः वह देवताओं के द्वारा आराध्य देवी जैसी लगती है।

यही कारण है कि दीपक के टिमटिमे (मन्द) प्रकाश में भी उसके सौन्दर्य को देखकर अचानक चारुदत्त के मुँह से निकल पड़ता है—'अये, कथं देवतोपस्थानयोग्या युवतिरियम् ? (पृ० १०९)। यह उसके सौन्दर्य की चरमसीमा ही है जिसने उसे मृत्यु के मुख में भी झोंक दिया। उसे पाकर चारुदत्त अपने आपको धन्य मानता है—'धन्यानि तेषां खलु जीवितानि' इत्यादि (५।४६)।

वह आभूषणप्रिय स्त्री है। नख से शिख तक आभूषणों से वह प्रायः अलंकृत रहा करती है। प्रसाधन के द्वारा अपने सौन्दर्य में चार चाँद लगा देना उसका दैनन्दिन कार्य है। वह अपने बालों को फूलों से भी सजाती है।

यदि संक्षेप में कहा जाय तो कह सकते हैं कि वह उदारता रूपी जल की नदी है, भूलोक में आई हुई रति है, आभूषणों का भी आभूषण है, सुजनता की नदी है और कामदेव की हार तथा सौभाग्यरूपी विक्रेय द्रव्य की निधि है—(८।३८)। कुल स्त्री तथा वेश्याओं के लिये भी उसकी यह उक्ति सर्वदा मननीय और अनुकरणीय रहेगी—

यत्नेन सेवितव्यः पुरुषः कुलशीलवान्दरिद्रोऽपि।
शोभा हि पणस्त्रीणां सदृशजनसमाश्रयः कामः ॥८।३३॥

शकार

शकार इस प्रकरण का प्रतिनायक है। साहित्यदर्पण के अनुसार शकार, मद और मूर्खता के कारण अभिमानी, नीचकुलोत्पन्न तथा ऐश्वर्य से सम्पन्न होता है। यह अविवाहिता स्त्री (रखेली) का भाई तथा राजा का साला भी कहा गया है—

मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्यसंयुक्तः।
सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः॥ ३।५४॥

साहित्यदर्पणकार ने शकार का यह लक्षण 'मृच्छकटिक' के शकार को ही दृष्टि में रखकर बतलाया है। अतः ये सभी लक्षण सर्वात्मना 'मृच्छकटिक' के शकार में पाये जाते हैं। 'दशरूपक' के अनुसार प्रतिनायक लोभी, धीरोद्धत, जडप्रकृतिवाला, पापी और व्यसनी होता है (दश० २।९)। शकार मूर्खता, प्रवञ्चना, क्रूरता तथा कायरता आदि दुर्गुणों से भरपूर है। यह किसी व्यभिचारिणी स्त्री का पुत्र है। प्रथम अङ्क में विट इसे 'काणेलीमातः' कह कर सम्बोधित करता है। व्याख्याकारों ने 'काणेली' शब्द का 'अविवाहिता' अथवा 'व्यभिचारिणी' अर्थ किया है। यह राजा पालक का साला (राजश्यालकः) कहा गया है। इसका नाम है संस्थानक। यह शकारी प्राकृत बोलता

है जिसमें 'स' के स्थान पर 'श' होता है (जैसे वशन्तशेणा)। सम्भवतः इसी कारण से इसे शकार कहा गया है।

शकार बहुत बड़ा अभिमानी है। उसे राजा के साथ अपने सम्बन्ध का बड़ा गर्व है। नवें अंक में जब न्यायाधीश उसका मुकदमा सुनने से इन्कार कर देते हैं। तब वह धमकी देता है 'यदि मेरा मुकदमा न देखा गया तो मैं अपने बहनोई राजा पालक से कहकर इस न्यायाधीश के स्थान पर दूसरे की नियुक्ति करवाऊँगा—'यदि न दृश्यते, तदावुत्तं राजानं पालकं भगिनीपतिं विज्ञाप्य······एतमधिकरणिकं दूरीकृत्यात्रान्यमधिकरणिकं स्थापयिष्यामि।' (पृ० ५५३)। उसे अपने धन का भी अभिमान है। अपनी बड़ी मूर्खता के कारण वह अपने आपको 'प्रवरपुरुष मनुष्य वासुदेव' कहता है। उसे अपनी सुन्दरता का महान् अहंकार है। एक स्वरूपसुन्दरी बहन का भाई होने के नाते इसे आकार से सुन्दर होना चाहिए। यह पूर्णतया अशिक्षित है। इसे इस बात का भी ज्ञान नहीं है कि किस तरह लोगों से बातें की जाती हैं। निश्चय ही इसने पुराण आदि की कथा सुनी है। किन्तु इस पर इनकी बातों का कुछ भी अच्छा परिणाम नहीं हुआ है। इतिहास विरुद्ध बातें [द्रोणपुत्रो जटायुः] तथा अनर्थक प्रलाप [न मृताः रज्जवः, यदि राक्षसी प्रतिवसति, तत्कथं न त्वां मुष्णाति ? इत्यादि] उसके कथनों में पग-पग पर मिलते हैं।

वह अस्थिर स्वभाववाला, दुराग्रही तथा कायर है। विचारों में क्षण-क्षण में परिवर्तन होते रहना उसकी प्रकृति की साधारण बात है। उसके साथी विट और चेट भी उसकी बातों का विश्वास नहीं करते हैं। अष्टम अंक में वह विटको गाड़ी पर चढ़ने का आदेश देकर भी पुनः उसे उतार देता है। उसके स्वभावकी अस्थिरता सूचक बहुत सी बातें आठवें अंक में देखी जा सकती हैं। खतरे की पूरी सम्भावना रहने पर भी वह चेट को टूटी दीवाल के बीच से गाड़ी को पुष्पकरण्डक उद्यान के भीतर ले जाने के लिये बाध्य करता है (पृ० ४८४-८५)। प्रथम अंक में वह वसन्तसेना को बिना पकड़े लौटने के लिये तैयार नहीं देखा जाता। ये बातें उसके दुराग्रही होने का प्रमाण हैं। गाड़ी में वसन्तसेना को देखने मात्र से वह भयभीत हो जाता है। अन्त में मृत्यु के भय से वह चारुदत्त की शरण में जाता है (पृ० ७०९)। यह है उसकी कायरता।

शकार क्रूर, निर्दयी तथा पापी है। उसकी क्रूरता उस समय अपनी चरमसीमा पर पहुँच जाती है जब वह कपटपूर्वक विट और चेट को हटाकर निर्जन स्थान में वसन्तसेना का गला घोंटकर हत्या करता है। उसकी स्वयं हत्या करके हत्या का पाप चारुदत्त के शिर पर मढ़ने के लिये उसने नवीन कपट योजना की है—'चारुदत्तविनाशाय करोमि

कपटं नवम् ।' (८।४४) । एकमात्र वसन्तसेना के ही लिये वह चारुदत्त का जीवन-शत्रु है । दसवें अंक में चाण्डालों से वह कहता है कि पुत्र सहित चारुदत्त का वध करो – 'सपुत्रमेवैतं मारयत ।' (पृ० ६७०) ।

शकार दुर्गुणों की खान है । वह स्त्री-लम्पट, पेटू, निर्दय, क्रूर तथा स्वार्थी है । शकार जैसे अवाञ्छनीय तत्त्व ही समाज के विनाशक तत्त्व होते हैं । प्रतिनायक के रूप में उसका यथार्थ चित्र 'मृच्छकटिक' में चित्रित किया गया है । पाठक शकार के लिये प्रशंसा का एक शब्द भी देने के लिये तैयार नहीं होते । वह मानव नहीं दानव है ।

विदूषक—

'मृच्छकटिक' के विदूषक का नाम मैत्रेय है । जाति का वह ब्राह्मण है । वह चारुदत्त का किसी भी अवस्था में विचलित न होने वाला मित्र और सहायक है । चारुदत्त विदूषक के विषय में कहता है –'अये ! सर्वकालमित्रं मैत्रेयः (पृ० २९) । दशरूपक के अनुसार नायक का वह सहायक, जो अपने आकार, प्रकार तथा कथन आदि से हँसी उत्पन्न करता है, विदूषक कहलाता है 'हास्यकृच्च विदूषकः' (दश० २।९) । बाद के नाटकों में विदूषक का यही रूप देखा जाता है । इन बातों के साथ ही, 'मृच्छकटिक' का विदूषक अपनी कुछ अन्य विशेषताओं को भी रखता है जो अन्य विदूषकों मे नहीं देखी जातीं ।

चारुदत्त की समृद्धि की अवस्था में वह उसके यहाँ बहुत आनन्द के साथ खाता पीता था । जब से चारुदत्त निर्धन हो गया है तब से वह इधर-उधर घूमकर भोजन करता है और केवल रात्रि में सोने भर के लिये आता है (पृ० २६, २७) । वह उसका साथ नहीं छोड़ता । विदूषक सर्वदा चारुदत्त की समृद्धि की कामना करता है (पृ० ९८) । वह उसकी थोड़ी सी भी हानि नही देखना चाहता । सुवर्णभाण्ड के बदले वसन्तसेना को रत्नावली देना उसे कथमपि अभीष्ट न था—'मा तावदखादितस्याभुक्तस्याल्पमूल्यस्य चोरैरपहृतस्य कारणाच्चतुःसमुद्रसारभूता रत्नावली दीयते (अं० ३) । वह एक सच्चे और सुयोग्य मित्र की भाँति चारुदत्त को गणिका वसन्तसेना के संसर्ग से अलग करना चाहता है – "तदहं ब्राह्मणो भूत्वेदानीं भवन्तं शीर्षेण पतित्वा विज्ञापयामि --'निवर्त्यतामात्मास्माद्बहुप्रत्यवायाद्गणिकाप्रसङ्गात्'' (पृ० ३२४) । चारुदत्त के प्रति उसे प्रगाढ प्रेम है । जब उसे पता चलता है कि शकार ने चारुदत्त पर मिथ्या अभियोग लगाया है और चारुदत्त न्यायालय में बुलाया गया है तो वह चिन्तित हो उठता है । वह न्यायालय में जाता है और शकार से लड़ बैठता है । चारुदत्त को

मृत्युदण्ड दिये जाने पर वह उसके बिना जीवित नहीं रहना चाहता—"तथापि न शक्नोमि प्रियवयस्यविरहितः प्राणान् धर्तुमिति" (पृ० ६७२)। मित्रता का यह उदाहरण निश्चित ही बेजोड़ है।

विदूषक डरपोक तथा क्रोधी स्वभाव का है। शकार के द्वारा रदनिका के केश पकड़ने की बात सुनकर वह क्रुद्ध हो उठता है तथा शकार को मारने के लिये तैयार हो जाता है (प्रथम अङ्क पृ० ८४)। वह अँधेरे में चौराहे पर जाने से तथा वसन्तसेना को उसके घर पहुँचाने से डरता है (पृ० ७६)। वह एक अति सामान्य बुद्धि का व्यक्ति है। संसार के साधारण व्यवहार से भी वह पूर्णतया परिचित नहीं प्रतीत होता वसन्तसेना के चारुदत्त के यहाँ पहुँचने पर वह पूछता है 'अथ किंनिमित्तं पुनरीदृशे प्रनष्टचन्द्रालोके दुर्दिनान्धकारे आगता भवती ?" (पृ० ३५०)। वह पेटू भी है। जब वह आभूषणों के बदले रत्नावली देने जाता है तब वसन्तसेना उसे केवल मौखिक सत्कार करके विदा कर देती है। इस पर वह रुष्ट हो जाता है। वह कहता है "एतावत्या ऋद्धया न तया अहं भणितः 'आर्य मैत्रेय ! विश्रम्यतां मल्लकेन पानीयमपि पीत्वा गम्यताम्" इत्यादि (पृ० ३२१)।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि विदूषक एक सच्चा हितचिन्तक मित्र है। वह संपत्ति तथा विपत्ति में समानरूप से साथ देनेवाला है। नाटककार ने एकमात्र हास्य के लिये ही उसकी सृष्टि न कर एक विशेष प्रयोजन के लिये की है। उसे वह एक सच्चे मित्र के रूप में चित्रित करना चाहता है। इस उद्देश्य से विदूषक का चरित्र अवश्य ही खरा उतरता है।

शर्विलक

शर्विलक जाति का ब्राह्मण है—'अहं हि चतुर्वेदविदोऽप्रतिग्राहकस्य पुत्रः शर्विलको नाम ब्राह्मणो गणिकामदनिकार्थमकार्यमनुतिष्ठामि।' (अं० ३)। वह साहस और वीरता की प्रतिमूर्ति है। उसका सिद्धान्त है कि 'साहस में लक्ष्मी निवास करती है। उसने मदनिका से कहा है—'अपण्डिते ! साहसे श्रीः प्रतिवसति।' (अं० ४)। वह चोरी की कला में पारङ्गत है। उसने योगाचार्य नाम के किसी आचार्य से चोरी की कला सीखी है। किन्तु वह पेशेवर चोर नहीं है। चोरी को वह अच्छा नहीं समझता है। किन्तु उसने दरिद्रता के कारण गणिका मदनिका के प्रेम में फँस कर इस अकार्य को केवल एक स्वतन्त्र व्यवसाय मानकर किया है। उसके जैसे ओजस्वी व्यक्ति से भला किसी के सामने धन के लिये हाथ जोड़ने की कल्पना की ही कैसे जा सकती है ?। वह कहता है—'स्वाधीना वचनीयताऽपि हि वरं बद्धो न सेवाञ्जलिः।' (३।११)।

यद्यपि वह चोरी करता है, किन्तु उस समय भी वह कार्याकार्य का विचार करता है वह विचारशून्य एकमात्र लोभी चोर नहीं है (४।६)। वह दरिद्रता को धिक्कारता है जिसके कारण उसे चोरी जैसा निन्दनीय कर्म करना पड़ता है (३।१६)।

शर्विलक में साहस और वीरता कूट-कूट कर भरी है। वह क्रान्तिकारियों का अगुआ है। जेल का फाटक तोडकर रक्षकों के बीच से गोपाल दारक आर्यक को भगा ले जाना, शर्विलक जैसे शूरवीर का ही काम है। राजा के महल के अन्दर घुस कर पालक का वध करना तथा शीघ्र ही राजगद्दी पर आर्यक का अभिषेक करना भी शर्विलक का ही काम है (१०।४७)। वस्तुतः क्रान्ति तथा पुनः शान्तिस्थापन आदि सभी कार्य शर्विलक के द्वारा ही किये गये हैं।

वह प्रत्युत्पन्नमति है। नापने के सूत के अभाव में वह झटपट यज्ञोपवीत से ही मानसूत्र का काम लेते हुए दिखलाई पड़ता है। वह समझदार भी है। मदनिका के द्वारा समझाये जाने पर वह चोरी करके लाये गये आभूषणों को लौटा देने का औचित्य स्वीकार करते हुए देखा जाता है। उसकी गुणग्राहिता उस समय देखी जा सकती है जब वह वसन्तसेना के घर चारुदत्त की प्रशंसा करते हुए कहता है—'साधु आर्य चारुदत्त ! साधु। गुणेष्वेव हि कर्तव्यः प्रयत्नः पुरुषैः सदा।' इत्यादि (पृ० २७४)।

वह एक सच्चा और दृढ़ मित्र भी है। मदनिका के साथ वसन्तसेना के घर के बाहर निकलते ही उसे राजा पालक के द्वारा आर्यक के कैद किये जाने का समाचार मिलता है। वह तुरंत गाडी से उतर पड़ता है। मदनिका को अपने मित्र रेभिल के घर भेजकर वह मित्र आर्यक को छुड़ाने चल पड़ता है। शर्विलक षड्यन्त्र करने में भी प्रवीण है ४।२६)।

वह गणिका मदनिका का बहुत प्रेमी है। उसने उसे छुड़ाने के लिये ही चोरी की है। उसे यह बात सह्य नहीं है कि मदनिका और किसी से प्रेम या सहानुभूति करे। चारुदत्त के विषय में मदनिका को उत्सुक देखकर वह बिगड़ खड़ा होता है। वह स्त्रियों का, वेश्याओं को बहुत बुरा भला भी कहता है।

शर्विलक अनेक वेश धारण करने में तथा अनेक देश की भाषाओं को बोलने में भी प्रवीण है (३। ०)। सम्भवतः वह उज्जयिनी नगरी का निवासी नहीं है। वह कहीं बाहर से आकर उज्जयिनी में रेभिल के घर ठहरा है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ कमियों के रहते हुए भी उसमें गुणों की ही मात्रा अधिक है।

धूता—

धूता चारुदत्त की विवाहिता स्त्री है। यह एक पतिव्रता स्त्री के रूप में दर्शकों या

पाठकों के सामने आती है। धूता सुख और दुःख में समानरूप से चारुदत्त का अनुगमन करती है (३।२८)। वस्तुतः धूता जैसी पतिपरायण स्त्रियाँ बहुत ही कम मिलती हैं। वह एक ऐसे पति की अनुगामिनी स्त्री है जो वेश्या से प्रेम करता है, उसे अपने हृदय की महारानी समझता है। ऐसी अवस्था में भी अपने पतिदेव के प्रति उसकी निष्ठा जरा भी कम नहीं हुई है। वसन्तसेना के आभूषणों की चोरी हो जाने पर वह रत्नषष्ठी व्रत के बहाने से अपनी माता के घर से प्राप्त बहुमूल्य रत्नावली उतार कर वसन्तसेना को देने के लिये विदूषक को सौंप देती है (तृतीय अंक)। चारुदत्त की प्रतिष्ठा कलङ्कित न हो एतदर्थ वह सर्वदा चिन्तित रहती है (तृतीय अंक)। वह चारुदत्त के मृत्यु के समाचार को सुनने की अपेक्षा मर जाना ही श्रेयस्कर समझती है— 'जात ! मुञ्च माम्। मा विघ्नं कुरुष्व। बिभेम्यार्यपुत्रस्यामङ्गलाकर्णनात्।' (पृ०७१७)।

धूता सामान्य स्त्रियों की भाँति आभूषण की लोभी नहीं है। जब वसन्तसेना ने रत्नावली को धूता के पास वापस भेज दिया तब उसने उसे यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि 'आर्यपुत्र ने इसे आपको प्रसन्नता पूर्वक दिया है, अतः इसे लेना मेरे लिये ठीक न होगा— 'आर्यपुत्रेण युष्माकं प्रसादीकृता; न युक्तं ममैतां ग्रहीतुम्।' (पृ० ३६१)। वह चारुदत्त को ही अपना सबसे बड़ा आभरण मानती है—'आर्यपुत्र एव ममाभरण-विशेष इति जानातु भवती।' (पृ० ३६१)। वह इतनी उदार है कि अपने पति से प्रेम करने वाली वेश्या वसन्तसेना को अपनी बहन के तुल्य मानती है और उसके कल्याण की कामना करती है— 'दिष्ट्या कुशलिनी भगिनी। (पृ० ७२३)। धन्य हैं धूता जैसी पतिपरायण ललनाएं जिनके गौरव के बल पर भारतीय नारीजगत् का मस्तक सर्वदा-स्वाभिमान के साथ ऊँचा रहा है।

मदनिका—

मदनिका वसन्तसेना की दासी तथा सखी के रूप में चित्रित की गई है। ये दोनों परस्पर एक दूसरे को बहुत प्रेम करती हैं। वसन्तसेना ने चारुदत्त के साथ अपने प्रेम के रहस्य को मदनिका से ही बतलाया है। मदनिका का शर्विलक के साथ गुप्त प्रेम है। शर्विलक ने मदनिका को दासीपन से छुड़ाने के लिये ही चारुदत्त के घर चोरी की है। मदनिका बड़ी ही बुद्धिमती तथा चतुर स्त्री है। उसने शर्विलक को एक सद्गृहिणी की भांति उपदेश दिया है। उसके इस उपदेश को ही सुनकर वसन्तसेना ने कहा है— 'साधु मदनिके ! साधु। अभुजिष्येव मन्त्रितम्।' (अं० ४)। मदनिका भीरु नहीं है। वह शर्विलक जैसे साहसी की योग्य पत्नी होने के सर्वथा योग्य है। जब शर्विलक अपने मित्र आर्यक को बन्धन से छुड़ाने की इच्छा व्यक्त करता है तो वह उसका समर्थन

करती है (पृ० २८०)। वह अपने पति के कर्त्तव्य में बाधा नहीं बनना चाहती है। वस्तुतः मदनिका एक गणिका होते हुए भी सुयोग्य सखी और पत्नी है।

भिक्षु—

भिक्षु बौद्ध संन्यासी होने के पहले जुआरी संवाहक के रूप में हमारे सामने आता है। द्वितीय अंक में वसन्तसेना के साथ इसकी बातचीत से इसका पूरा परिचय मिलता है। यह पाटलिपुत्र (पटना) का रहने वाला है। यह वहाँ के एक गृहस्थ का लड़का है। देश देखने की उत्सुकता से उज्जयिनी आया है। यहाँ इसने चारुदत्त के घर नौकरी कर ली है। प्रारम्भ में कला समझकर इसने देह दबाने और मालिश करने का काम सीखा है। बाद में यही काम इसकी जीविका का साधन बना है। चारुदत्त की गरीबी के दिनों में इसने जुआ खेलकर अपना पेट पालना शुरू किया था। एक दिन जुए में सोने की दस मुद्राएँ हार गया। विजयी जुआड़ी के भय से इसने वसन्तसेना की शरण ली। वसन्तसेना ने इसे उनके हाथों से छुड़ाया। इसी अपमान से दुःखी होकर यह बौद्ध भिक्षु हो गया। इसे बराबर वसन्तसेना के उपकार का बदला चुकाने की चिन्ता सताती रही—'अथवालं ममैतेन स्वर्गेण। यावत्तस्या वसन्तसेनाया बुद्धोपासिकायाः प्रत्युपकारं न करोमि, यया दशानां सुवर्णकानां कृतेन द्यूतकराभ्यां निष्क्रीतः, ततः प्रभृति तया क्रीतमिवात्मानमवगच्छामि।' (पृ० ५३४)। आगे यह बेहोश पड़ी हुई वसन्तसेना को होश में लाता है और उसे चारुदत्त से मिलाता है।

संवाहक संन्यास ग्रहण करने के बाद एक सच्चे संन्यासी के रूप में हमारे सामने आता है। वह इन्द्रिय संयम के प्रति पूर्ण निष्ठावान् है—'संयच्छत निजोदरम्' इत्यादि (अष्टम अंक का प्रारम्भ)।

बौद्ध संन्यासी हो जाने के बाद संवाहक एक आदर्श भिक्षु के रूप में दिखलाई पड़ता है। दशम अंक के अन्त में उससे जब यह पूछा जाता है कि—'भिक्षो! तुम्हें सबसे अधिक क्या अभीष्ट है?' तब वह उत्तर देता है—'इस प्रकार की अनित्यता को देखकर संन्यास के प्रति मेरा आदर दुगुना हो गया है'—'इदमीदृशमनित्यत्वं प्रेक्ष्य द्विगुणतरो मम प्रव्रज्यायां बहुमानः संवृत्तः।' (पृ० ७२३) संक्षेप में भिक्षु होने के पहले से लेकर बाद तक एक सत्यनिष्ठ व्यक्ति के रूप में हम संवाहक का चित्र पाते हैं।

—:o:—

अथ

मृच्छकटिकम्

प्रथमोऽङ्कः

पर्यङ्कग्रन्थिबन्धद्विगुणितभुजगाश्लेषसंवीतजानो-
रन्तःप्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञानरुद्धेन्द्रियस्य।
आत्मन्यात्मानमेव व्यपगतकरणं पश्यतस्तत्त्वदृष्ट्या
शंभोर्वः पातु शून्येक्षणघटितलयब्रह्मलग्नः समाधिः ॥ १ ॥

बुधं भट्टाचार्यं विमलहृदि सिद्धेश्वरगुरुं
प्रणम्य श्रद्धातः प्रथितयशसः शूद्रककवेः।
त्रिपाठीतिप्रख्यः प्रकरणकृतौ मृच्छकटिके
रमानाम्नीं टीकां रचयति रमाशङ्करसुधीः ॥

अन्वयः—पर्यङ्कग्रन्थिबन्धद्विगुणितभुजगाश्लेषसंवीतजानोः, अन्तःप्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञानरुद्धेन्द्रियस्य, तत्त्वदृष्ट्या, आत्मनि, व्यपगतकरणम्, आत्मानम्, एव, पश्यतः, शम्भोः, शून्येक्षणघटितलयब्रह्मलग्नः, समाधिः, वः, पातु ॥ १ ॥

शब्दार्थः—पर्यङ्कग्रन्थिबन्धद्विगुणितभुजगाश्लेषसंवीतजानोः = पर्यङ्कनामक - योगासन की गाँठ (पलथी) बाँधने में अर्थात् मुद्रा धारण करने में दुहरे सर्प के लपेटने से बँधी हुई जाँघ वाले। अन्तःप्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञानरुद्धेन्द्रियस्य = भीतर ही प्राण आदि वायु के रोक देने से समाप्त हो गया है (बाहरी चीजों का) ज्ञान जिनका ऐसी वश में की गयी इन्द्रियोंवाले। तत्त्वदृष्ट्या = सच्चे ज्ञान रूपी नेत्र से [निर्विकल्पकज्ञान से]। आत्मनि = अपने में, अपने भीतर। व्यपगतकरणम्= इन्द्रिय आदि से रहित, निष्कल अथवा कारणरहित। आत्मानम् = परमात्मा को। एव = ही। पश्यतः = देखनेवाले। शम्भोः = शिव की। शून्येक्षणघटितलयब्रह्म-लग्नः = निराकार के देखने से अर्थात् अनुभव करने से होनेवाली तल्लीनता के कारण ब्रह्म में लगी हुई। समाधिः = ब्रह्म के चिन्तन में पूर्ण लीनता। वः = आप लोगों की। पातु = रक्षा करे ॥

अर्थः—'पर्यङ्क' नामक एक विशेष प्रकार के योगासन की मुद्रा [रचना] धारण करने में द्विगुणित [दुहरे] सर्प के लपेटने से जिसके [शिव के] घुटने कसकर बँधे हुए हैं ; [यौगिक क्रिया के द्वारा] प्राण आदि वायुओं को शरीर के भीतर ही रोक देने से जिसकी सभी इन्द्रियाँ [बाहरी वस्तुओं के] ज्ञान से निवृत्त एवं [विषयों से] संयत हो गयी हैं, जिन्होंने सच्चे ज्ञान के द्वारा अपने भीतर इन्द्रियादि रहित अर्थात् निष्कल अथवा कारणरहित [जिसको बनाने वाला अन्य कोई व्यक्ति कारण न हो] विशुद्ध चैतन्यरूप केवल परमात्मा को ही देखा है ; उस शिव की, निराकार [ब्रह्म] के साक्षात्कार करने से होने वाली एकाग्रता [लय] के कारण ब्रह्म में लगी हुयी समाधि आप सभी [सभा में उपस्थित लोगों] की रक्षा करे ॥ १ ॥

टीका—पर्यङ्केति—पर्यङ्कस्य = योगासनविशेषस्य, यः ग्रन्थिः = निर्माणं तस्य बन्धे = धारणे, द्विगुणितः = द्विगुणतां प्राप्तः, य भुजगः = सर्पः तस्य आश्लेषेण = वेष्टनेन, संवीते = बद्धे, जानुनी = जानुद्वयं यस्य तस्य, बद्धपर्यङ्कासनस्येति भावः; अन्तः = शरीराभ्यन्तरे, प्राणानाम्=प्राणापानादिवायूनाम्, अवरोधेन= निरोधेन, व्युपरतम्=विशेषेण निवृत्तम्, सकलम् = समस्तम्, ज्ञानम् = बाह्यविषयज्ञानम् येषां तानि रुद्धानि = सम्यग्वशीकृतानि, इन्द्रियाणि यस्य तस्य; तत्त्वदृष्ट्या= सम्यग्ज्ञानदृष्ट्या; आत्मनिः = स्वस्मिन् ; व्यपगतानि = दूरीभूतानि, करणानि = इन्द्रियाणि यस्मात् तम् अथवा व्यपगतम् = दूरीभूतम्, करणम् = जन्म यस्य तम् ; आत्मानम् = परमात्मानं स्वचिद्रूपम्; एव; पश्यतः = ध्यायतः; शम्भोः = शिवस्य; शून्यस्य = निराकारस्य, ईक्षणेन = अवलोकनेन, घटितः = सम्पादितः, यः लयः = तल्लीनता तेन ब्रह्मणि = परब्रह्मणि, लग्नः = सम्पन्नः, समाधिः वः = युष्मान् सामाजिकान्, पातु = रक्षतु ॥ १ ॥

टिप्पणी—'शम्भोः शून्येक्षण० समाधिः वः पातु' यही इस श्लोक का प्रधान वाक्य है। षष्ठी विभक्तिवाले अन्य पद 'शम्भु' के विशेषण हैं। 'पर्यङ्क' योग का अभ्यास करने के लिये एक प्रकार का आसन है। 'काले' महाशय 'पर्यङ्क' को वीरासन कहते हैं। किन्तु पर्यङ्क आसन वीरासन से सर्वथा भिन्न है। प्रमाण के लिये शिवमहापुराण का एक श्लोक यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

स्वस्तिकं पद्म मध्येन्दुं वीरं योगं प्रसाधितम् ।
पर्यङ्कं च यथेष्टं च प्रोक्तमासनमष्टधा ॥ शिव० ७।२।३७।२०

ग्रन्थि = गाँठ, पलथी लगाने के लिये एक पैर को मोड़कर दूसरे पैर पर रखना। ध्यान की अवस्था में यह पलथी छूट न जाय अथवा ढीली न पड़ जाय

अपि च,—

पातु वो नीलकण्ठस्य कण्ठः श्यामाम्बुदोपमः ।
गौरीभुजलता यत्र विद्युल्लेखेव राजते ॥ २ ॥

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अलमनेन परिषत्कुतूहलविमर्दकारिणा परिश्रमेण । एवमहमार्यमि-

---

अतः दोहरा सर्प लपेट कर घुटनों के ऊपर बाँधा गया है। प्राणायाम के समय जब सब प्रकार के वायु भीतर ही रोक दिये जाते हैं तब ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ निश्चेष्ट होकर वश में हो जाती हैं। इन्द्रिय = इन्द्रस्य आत्मनः लिङ्गम् (इन्द्र अर्थात् आत्मा का अनुमान करानेवाला चिह्न], इन्द्र + घच् (इय) । आत्मानम्—वस्तुतः इसका अर्थ है आत्मस्वरूप—तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् (योगसूत्र १।३) ।

इस श्लोक में 'स्रग्धरा' छन्द है। इसका लक्षण है—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ।' इति ॥ १ ॥

पातु वो नीलकण्ठस्येति—

अन्वयः—यत्र, गौरीभुजलता, विद्युल्लेखा, इव, राजते, (सः), श्यामाम्बुदोपमः, नीलकण्ठस्य, कण्ठः, वः, पातु ॥ २ ॥

शब्दार्थः—यत्र = जिसमें, जिस कण्ठ में; गौरीभुजलता = गोरी पार्वती की बाँह रूपी लता; विद्युल्लेखा = बिजली की रेखा, पतली लाइन; इव = जैसा, राजते = शोभित हो रही है; (सः = वह); श्यामाम्बुदोपमः = नीले बादलों के समान; नीलकण्ठस्य = शिवका; कण्ठः = कण्ठ, गला; वः = आप लोगों की, सभा में बैठे सज्जनों की; पातु = रक्षा करे ।

और भी —

अर्थ :—जिसमें [कण्ठ में] पार्वती जी की [गौरवर्ण] बाहु-लता बिजली की पंक्ति की भाँति सुशोभित होती है, वह काले बादलों के समान शङ्कर जी का कण्ठ आप सब की रक्षा करे ॥ २ ॥

टीका—यत्र = यस्मिन्; गौर्याः = गौरवर्णायाः पार्वत्याः भुजः = बाहुः एव लता = वल्ली (वेष्टनसाधर्म्याद् भुजे लतात्वस्य आरोपः); विद्युतः = तडितः लेखा = रेखा, पंक्तिः; इव = यथा; राजते = शोभते; (सः), श्यामः = नीलवर्णः अम्बुदः = जलदः एव उपमा = सादृश्यं यस्य सः; नीलः = नीलवर्णः कण्ठः = गलभागः यस्य तस्य, शिवस्य इत्यर्थः; कण्ठः = गलप्रदेशः; वः = युस्मान् सामाजिकान्; पातु = रक्षतु ॥ २ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में बीज रूप से कथा की एक झलक मिल जाती है। जैसे— 'शिव के कण्ठ में गौरी की भुजा' से चारुदत्त और वसन्तसेना का प्रेम प्रकट होता है। पार्वती के द्वारा अपनी बाँह से शिव के लपेटने से पार्वती की उत्कण्ठा की भाँति स्वयं आकर चारुदत्त का आलिङ्गन करने वाली वसन्तसेना की कामुकता भी सूचित होती है। नीलाम्बुद का वर्णन मेघाच्छन्न दिन में वसन्तसेना के अभिसरण का सूचक है। श्वेत के वर्णन से वसन्तसेना का पवित्र प्रेम और श्याम के वर्णन से शकार आदि की मलिनता व्यक्त होती है।

यहाँ पर 'नीलकण्ठस्य कण्ठः' में लाटानुप्रास है। 'भुजः एव लता' में रूपक अलङ्कार है। 'विद्युल्लेखा इव' में उपमा है। इस प्रकार इस श्लोक में संसृष्टि नामक अलङ्कार है। विश्वनाथ ने संसृष्टि का लक्षण इस प्रकार कहा है— 'मिथोऽनपेक्षतयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते।'

इस श्लोक में 'पथ्यावक्त्र' छन्द है। इसका लक्षण है—युजोश्चतुर्थतोजेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्॥ २॥

नान्द्यन्ते इति—

[मङ्गलाचरणरूप नान्दी के अन्त में]

टीका—नान्द्याः अन्ते=समाप्तौ। नन्दन्ति देवता अस्याम् इति नान्दी।

टिप्पणी—देव, द्विज अथवा राजा आदिको प्रसन्न करने के लिए नाटक के प्रारम्भ में स्तुति अथवा आशीर्वाद के रूप में मङ्गल किया जाता है, यही 'नान्दी' कहलाती है। नन्दयति इति नन्दः √ नन्द+अच्; नन्दः एव नान्दः { स्वार्थे अण् } नान्द+ई (स्त्री०)=नान्दी। नान्दी का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—

'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥' भरत मुनि॥

आठ पदों से युक्त यह 'पत्रावली' नामक नान्दी है। इसकी परिभाषा इस प्रकार है—

'यस्यां बीजस्य विन्यासो ह्यभिधेयस्य वस्तुनः।
श्लेषेण वा समासोक्त्या नान्दी पत्रावलीति सा॥'

यहाँ यह स्मरणीय है कि नान्दी का पठ सूत्रधार करता है॥२॥

सूत्रधारः इति—

शब्दार्थः—सूत्रधारः=रङ्गशाला का व्यवस्थापक प्रधान नट।

टिप्पणी—यहाँ पर लक्षणा के द्वारा 'सूत्र' शब्द का अर्थ नाट्य का उपकरण अथवा अभिनय का निर्देशन किया जाता है। जिसके अधिकार में नाट्य के सभी उपकरण होते हैं अथवा जो रङ्गमञ्च का प्रबन्ध करता है वह प्रधान नट अर्थात् अभिनय करनेवालों का निर्देशक सूत्रधार कहा जाता है। सूत्रधार का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते॥'

अलमनेन इति—

शब्दार्थः—परिषत्कुतूहलविमर्दकारिणा = सभा में स्थित लोगों की उत्कण्ठा को भङ्ग करनेवाले ; अनेन = इस ; परिश्रमेण=परिश्रम से ; अलम् = बस (करें)। एवम् = इस प्रकार ; अहम् = मैं, सूत्रधार ; आर्यमिश्रान् = आदरणीय सभ्यजनों को ; प्रणिपत्य = प्रणाम करके ; विज्ञापयामि = सूचित करता हूँ ; यत्=कि ; वयम्= हम लोग ; इदम् = इस ; मृच्छकटिकं नाम = मृच्छकटिक नामवाले ; प्रकरणम् = प्रकरण को ; प्रयोक्तुम् = अभिनय करने के लिये ; व्यवसिताः=उद्यत हैं ; किल = निश्चय ही ; एतत्कविः = इसके लेखक कवि,—

अर्थ :—

सूत्रधारः—सभा में उपस्थित सभ्यलोगों के कुतूहल [नाटक देखने की उत्कण्ठा] को भङ्ग करने वाले इस परिश्रम [मङ्गलाचरण के विस्तार] को बन्द करो। इस प्रकार आदरणीय एवं सभ्य आप लोगों को प्रणाम करके मैं सूचित करता हूँ कि—हमलोग 'मृच्छकटिक' नामक इस 'प्रकरण' का अभिनय करने के लिए उद्यत हैं। निःसन्देह, इसके रचयिता कवि—

टीका—परिषीदन्ति इति व्युत्पत्त्या परिषत् शब्दः अत्र सभायां स्थितस्य जनस्य वाचकः। परिषदाम् = सभ्यानाम् ; कुतूहलस्य=उत्सुकतायाः ; विमर्दकारिणा = विनाशकेन, विघ्नकरेण वा ; अनेन = नान्दीपाठरूपेण ; परिश्रमेण = आयासेन; अलम् = निष्फलम्। आर्यान् = आदरणीयान् ; मिश्रान् = पठितबहुशास्त्रान् ; अथवा आर्येषु = श्रेष्ठेषु मिश्राः = प्रधानाः तान् ; प्रणिपत्य = नमस्कृत्य ; विज्ञापयामि = निवेदयामि। मृच्छकटिकम्—मृदः = मृत्तिकायाः शकटिका=चारुदत्तपुत्र-रोहसेनस्य क्रीडनार्थं षष्ठे अङ्के वर्णितं मृत्तिकानिर्मितं क्षुद्रशकटं यस्मिन् इति मृच्छकटिकम्। अथवा मृदः शकटं मृच्छकटकम् अत्र अस्ति इति मृच्छकटिकम् 'अत इनिठनौ' पा० सू० ५।२।११५ इति ठन्। नाम=सार्थकनामकम् ; प्रकरणम् = रूपकविशेषम् ; प्रयोक्तुम्=अभिनयं कर्तुम् ; व्यवसिताः = तत्पराः कृतनिश्चयाः वा; एतस्य = रूपकस्य कविः = रचयिता।

आन्प्रणिपत्य विज्ञापयामि—यदिदं वयं मृच्छकटिकं नाम प्रकरणं प्रयोक्तुं व्यवसिताः। एतत्कविः किल,—

द्विरदेन्द्रगतिश्चकोरनेत्रः परिपूर्णेन्दुमुखः सुविग्रहश्च।
द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव प्रथितः शूद्रक इत्यगाधसत्त्वः ॥ ३ ॥

टिप्पणी—विमर्दकारिणा = विघ्नकरने वाले, भङ्गकरनेवाले, विमर्द + √कृ + णिनि। आर्यमिश्रान्—आर्य = आदरणीय जन; आर्य का लक्षण इस प्रकार है –

कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे स वै आर्य इति स्मृतः॥

मिश्र शब्द विद्वान् व्यक्तियों के लिये सम्मानसूचक उपाधि है।

मृच्छकटिकम् (मृद् + शकटिका) का अर्थ है—मिट्टी की गाड़ी। 'मृदः शकटिका यस्मिन्' इस अर्थ में बहुव्रीहि समास करने पर 'मृच्छकटिक' शब्द बनता है। छठें अङ्क में मिट्टी की गाड़ी का वर्णन है, जो कथा वस्तु को एक नया मोड़ दे देता है। इसी बात को ध्यान में रखकर इस प्रकरण का नाम 'मृच्छकटिक' रक्खा गया है।

प्रकरण—रूपक के दश भेद होते हैं। प्रकरण उनमें से एक है। मृच्छकटिक एक प्रकरण है। दशरूपक में प्रकरण का लक्षण इस प्रकार है—

'अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम्।
अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम्॥
धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम्।
शेषं नाटकवत् सन्धिप्रवेशकरसादिकम्॥
नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा।
क्वचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित्॥
कुलजाभ्यन्तरा बाह्या वेश्या नातिक्रमोऽनयोः।
आभिः प्रकरणं त्रेधा सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम्॥

द्विरदेति—

अन्वयः—द्विरदेन्द्रगतिः, चकोरनेत्रः, परिपूर्णेन्दुमुखः, सुविग्रहः, च, द्विजमुख्यतमः, अगाधसत्त्वः, शूद्रकः, प्रथितः, कविः, बभूव ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—द्विरदेन्द्रगतिः = गजराज के समान चालवाले, चकोरनेत्रः = चकोर नामक पक्षी के समान आँखोंवाले, परिपूर्णेन्दुमुखः = पूर्णिमा तिथि के

अपि च,—

ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां
ज्ञात्वा शर्वप्रसादाद्व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य।
राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः॥ ४॥

चन्द्रमा के समान मुखवाले, सुविग्रहः = सुन्दर शरीरवाले, च = और, द्विजमुख्यतमः = क्षत्रियों में सर्वश्रेष्ठ, अगाधसत्त्वः = अगाध बलवाले, शूद्रकः = शूद्रक, प्रथितः = विख्यात, कविः = काव्य रचयिता, बभूव = हुए।

अर्थः—गजराजके समान मतवाली चाल [गति] वाले, 'चकोर' नामक पक्षी के समान आँखों वाले, पूर्णिमा तिथि के चन्द्रमा के समान [मनोहर] मुखवाले, सुन्दर सुगठित शरीरवाले, क्षत्रियों [द्विजों] में सर्वश्रेष्ठ एवं अगाधबलशाली 'शूद्रक' नामक विख्यात कवि हुए॥ ३॥

टीका—द्वौ, रदौ = दन्तौ यस्य सः द्विरदः = हस्ती, द्विरदेषु इन्द्रः इव द्विरदेन्द्रः = गजराजः तस्य गतिः = गमनम् इव गतिः यस्य सः; गजराजवत् मन्दगमनः इति भावः। चकोरस्य = पक्षिविशेषस्य नेत्रे = नयने इव नेत्रे यस्य सः। चकोरसदृशसुन्दरनयनः इति भावः। परिपूर्णः = सकलकलासम्पन्नः इन्दुः = चन्द्रः इव मुखं यस्य सः; सु = शोभनः विग्रहः = शरीरम् यस्य सः; द्विजेषु = क्षत्रियेषु मुख्यतमः = श्रेष्ठतमः; अगाधम् = विपुलम् सत्त्वम् = बलम् यस्य सः; शूद्रकः—एतन्नामकः; प्रथितः = प्रसिद्धः, कविः = काव्यकलाकुशलः; बभूव = जातः॥ ३॥

टिप्पणी इस श्लोक से प्ररोचना प्रारम्भ होती है। कवि तथा काव्य की प्रशंसा के द्वारा सभा में स्थित लोगों को काव्य की ओर आकृष्ट करना प्ररोचना कहलाता है—

'उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्रयोजनम्।'

द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य ये तीनों वर्ण द्विज कहे जाते हैं। यहाँ द्विज शब्द क्षत्रिय के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा मालभारिणी छन्द है। इस छन्द का लक्षण है—'विषमे स-स-जा यदा गुरू चेत् स—भ-रा येन तु मालभारिणीयम्'॥३॥

ऋग्वेदमिति—

अन्वयः—ऋग्वेदम्, सामवेदम्, गणितम्, अथ, कलाम्, वैशिकीम्, हस्तिशिक्षाम्, ज्ञात्वा, शर्वप्रसादात्, व्यपगततिमिरे, चक्षुषी, च, उपलभ्य, पुत्रम्,

राजानम्, वीक्ष्य, परमसमुदयेन, अश्वमेधेन, च, इष्ट्वा, दशदिनसहितम्, शताब्दम्, आयुः, च, लब्ध्वा, शूद्रकः, अग्निम्, प्रविष्टः ॥४॥

शब्दार्थः—ऋग्वेदम् = ऋग्वेद को, सामवेदम् = सामवेद को, गणितम् = गणित को, अथ=और, कलाम् = नृत्य-गीत आदि चौंसठ कलाओं को, वैशिकीम् = नाट्यशास्त्र को, हस्तिशिक्षाम् = हाथी सञ्चालन की शिक्षा को, ज्ञात्वा = जानकर, शर्वप्रसादात् = शङ्कर की कृपा से, व्यपगततिमिरे = [अज्ञानरूपी] अन्धकार से रहित, चक्षुषी = दोनों नेत्रों को, च, उपलभ्य = पाकर के, पुत्रम् = पुत्र को, राजानम् = राजा [के रूप में], वीक्ष्य = देखकर, परमसमुदयेन = प्रचुर सम्पत्ति लगने वाले अथवा परम उन्नति करने वाले, अश्वमेधेन = अश्वमेध नामक यज्ञ से, इष्ट्वा = यजन करके, दशदिनसहितम् = दश दिन के सहित, शताब्दम् = सौ वर्ष तक की, आयुः = जीवन, च, लब्ध्वा = पाकर, शूद्रकः = शूद्रक नाम वाला [कवि, राजा], अग्निम्=आग में, प्रविष्टः = प्रवेश कर गया ॥

और भी—

अर्थः—[इस ग्रन्थ [प्रकरण] के रचयिता] शूद्रक कवि ऋग्वेद, सामवेद, गणित, नृत्यगीत आदि चौंसठ कलाओं, नाट्यशास्त्र एवं हस्तिसञ्चालन की शिक्षा को प्राप्त करके ; भगवान शङ्कर की कृपा से अज्ञान रूपी अन्धकार से रहित नेत्रों [ज्ञानरूपी नेत्रों] को पा करके ; अपने पुत्र को राजा के रूप में देखकर अर्थात् अपने पुत्र को राजसिंहासन पर बैठाकर एवं प्रचुर सम्पत्ति लगने वाले अथवा परम उन्नति करने वाले 'अश्वमेध' यज्ञ को करके ; सौ वर्ष दस दिन की आयु पाकर [अन्त में] अग्नि में प्रविष्ट हो गये ॥ ४ ॥

टीका—ऋग्वेदम् ; सामवेदम् ; गणितम्, कलाम् = चतुःषष्ठिसंख्याकां नृत्यगीतादिरूपां विद्याम् ; वैशिकीम् = वेशः नेपथ्यग्रहणं तत्सम्बन्धिनीं नाट्यकलाम् ; हस्तिशिक्षाम् = गजसञ्चालनादिशिक्षाम् ; ज्ञात्वा = प्राप्य ; शर्वस्य= शङ्करस्य प्रसादात् = अनुग्रहात् ; व्यपगतम् = दूरीभूतम् तिमिरम् = अज्ञानान्धकारः ययोः ते ; चक्षुषी = नेत्रे, ज्ञाननेत्रे ; च, उपलभ्य = प्राप्य ; पुत्रम् = सुतम् ; राजानम् = राज्यासनासीनम् ; वीक्ष्य = दृष्ट्वा ; परमः = सर्वाधिकः समुदयः = उन्नतिः यस्मात् सः अथवा परमः समुदयः = समृद्धिः यत्र तेन ; अश्वमेधेन = तन्नामकेन यागविशेषेण, इष्ट्वा = यागं विधाय ; दशदिनसहितम् = दशदिनाधिकम् ; शताब्दम् = शतवर्षमितम् ; आयुः = जीवनम्, लब्ध्वा = प्राप्य ; शूद्रकः = एतन्नामकः कविः ; अग्निम् = वह्निम् ; प्रविष्टः=स्वेच्छया निविष्टः ॥४॥

अपि च,—

समरव्यसनी प्रमादशून्यः ककुदो वेदविदां तपोधनश्च ।
परवारणबाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव ॥ ५ ॥

टिप्पणी—वैशिकीम्—वेश से सम्बन्ध रखनेवाली; वेश + ठक् । 'वेश' शब्द के अनेक माने होते हैं, जैसे—१- वेश्याओं का वासस्थान-वेश्यालय २—अग्निवेश द्वारा लिखित काम शास्त्र ३ नेपथ्य । यहाँ वेश (नेपथ्य) सम्बन्धी-कला अर्थात् नाट्यकला यह अर्थ ही अधिक संगत होने के कारण लिया गया है । इष्ट्वा=यज्ञ करके; √यज् + क्त्वा ।

इस श्लोक में 'स्रग्धरा' छन्द है । इसका लक्षण प्रथम श्लोक की टिप्पणी में दे दिया गया है ॥ ४ ॥

समरव्यसनीति—

अन्वयः—शूद्रकः, समरव्यसनी, प्रमादशून्यः, वेदविदाम्, ककुदः, तपोधनः, च, परवारणबाहुयुद्धलुब्धः, क्षितिपालः, बभूव, किल ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—शूद्रकः = शूद्रक नाम वाले कवि, समरव्यसनी = युद्ध करने के प्रेमी, प्रमादशून्यः=सावधान, वेदविदाम् = वेद के जानने वालों में, ककुदः = श्रेष्ठ, तपोधनः = तपस्वी, च = और, परवारणबाहुयुद्धलुब्धः = शत्रुओं के हाथियों के साथ मल्लयुद्ध करने के लालची, क्षितिपालः = प्रजापालक, बभूव = थे, किल = निश्चय ही अथवा ऐसी प्रसिद्धि है ॥

और भी—

अर्थः—'शूद्रक' युद्ध करने के प्रेमी [अभ्यासी], असावधानी रहित अर्थात् सर्वदा सतर्क, वेद के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ, तपस्या को ही अपना धन समझने वाले अर्थात् तपस्वी, शत्रुओं के हाथियों के साथ बाहुयुद्ध [मल्लयुद्ध=कुश्ती] करने के लालची अर्थात् इच्छुक तथा प्रजापालक राजा थे ॥ ५ ॥

टीका—शूद्रकः = एतत्प्रकरणकर्त्ता कविः; समरेषु = संग्रामेषु व्यसनी = प्रसक्तः; सर्वदा युद्धोद्यतः इति भावः; प्रमादेन = अनवधानतया शून्यः = हीनः ('प्रमादोऽनवधानता'—इत्यमरः); वेदविदाम्=वेदज्ञानाम्; ककुदः=श्रेष्ठः; ('प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियाम्'—इत्यमरः); तपः = तपस्या एव धनं यस्य सः; तपस्यासंलग्नः इति भावः; च, परेषाम्=शत्रूणाम् वारणैः = गजैः बाहुयुद्धे = मल्लयुद्धे लुब्धः = साभिलाषः; बभूव = अभवत् ; किल = निश्चयेन वा इति प्रसिद्धिः ॥ ५ ॥

अस्यां च तत्कृतौ,—

अवन्तिपुर्यां द्विजसार्थवाहो युवा दरिद्रः किल चारुदत्तः ।
गुणानुरक्ता गणिका च यस्य वसन्तशोभेव वसन्तसेना ॥ ६ ॥

टिप्पणी—व्यसनी—किसी कार्य में अत्यन्त संलग्न, वि + √अस् + ल्युट् + इनि । इस श्लोक में मालभारिणी छन्द है । इसका लक्षण तीसरे श्लोक की टिप्पणी में बतला दिया गया है ॥ ५ ॥

अवन्तिपुर्यामिति—

अन्वयः—अवन्तिपुर्याम्, द्विजसार्थवाहः, दरिद्रः, युवा, चारुदत्तः, किल, यस्य, गुणानुरक्ता, वसन्तशोभा, इव, वसन्तसेना, गणिका, च (आसीत्) ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—अवन्तिपुर्याम्=उज्जयिनी नगरी में, द्विजसार्थवाहः = व्यापारी-ब्राह्मण अथवा धन देकर ब्राह्मणों का पालन करने वाला, दरिद्रः = निर्धन (बाद में निर्धन) युवा= युवक, चारुदत्तः = चारुदत्त नामका व्यक्ति, किल = निश्चय ही (था); यस्य=जिसके; गुणानुरक्ता=गुणों से प्रेम करने वाली, वसन्तशोभा = वसन्त ऋतु की सुन्दरता, इव = जैसी, वसन्तसेना = वसन्तसेना नामवाली, गणिका = वेश्या, च = भी (तत्र = वहाँ, आसीत् = थी) ॥

और उनकी इस रचना [मृच्छकटिक] में—

अर्थः—उज्जयिनी नगरी में [पहले] व्यापारी-ब्राह्मण अथवा धनदान के द्वारा ब्राह्मणों का पोषक किन्तु [बाद में] निर्धन युवक 'चारुदत्त' [रहता था], जिसके गुणों से अनुरक्त, वसन्त ऋतु की शोभा के समान 'वसन्तसेना' नामक वेश्या भी [वहाँ थी) ॥ ६ ॥

टीकाः—अवन्तिपुर्याम् = उज्जयिन्याम् ; सार्थवाहः—सार्थम्=वणिक्समूहम् वहति = नयति इति सार्थवाहः, ['सार्थो वणिक्-समूहे स्यादपि सङ्घातमात्रके' इति मेदिनी] द्विजश्च असौ सार्थवाहश्च इति द्विजसार्थवाहः [पूर्वम्] व्यापार-संलग्नः इत्यर्थः, अथवा द्विजानाम् = ब्राह्मणादीनाम् सार्थम् = समूहम् वहति = अन्नादिना पालयति इति द्विजसार्थवाहः ; [सम्प्रति] दरिद्रः = निर्धनः ; युवा = युवकः ; चारुदत्तः ; किल = निश्चयेन आसीत् ; यस्य = चारुदत्तस्य ; गुणैः = सौन्दर्यादिभिः गुणैः अनुरक्ता = वशङ्गता ; वसन्तस्य शोभा = कान्तिः ; इव = यथा ; वसन्तसेना ; गणिका = वेश्या ['वारस्त्री गणिका वेश्या' इत्यमरः] ; च आसीद् इति शेषः ॥ ६ ॥

तयोरिदं सत्सुरतोत्सवाश्रयं नयप्रचारं व्यवहारदुष्टताम्।
खलस्वभावं भवितव्यतां तथा चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः ॥ ७ ॥

(परिक्रम्यावलोक्य च) अये, शून्येयमस्मत्संगीतशाला, क्व नु गताः कुशीलवा भविष्यन्ति। (विचिन्त्य) आं, ज्ञातम् :

टिप्पणी—पहले अवन्ति नामक एक प्रदेश था, जिसकी राजधानी 'अवन्तिपुरी' [अवन्तीनाम् जनपदानाम् पुरी] अर्थात् उज्जयिनी थी। चारुदत्त के पूर्वज सार्थवाह [व्यापारी] थे, अतः व्यापारी न होने पर भी इसके साथ यह उपाधि लगती थी।

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा उपेन्द्रवज्रा छन्द है। उपेन्द्रवज्रा का लक्षण है 'उपेन्द्रवज्रा प्रथमे लघौ सा' ॥ ६ ॥

तयोरिदमिति—

अन्वयः इदम्, तयोः, सत्सुरतोत्सवाश्रयम्, [अस्ति], शूद्रकः, नृपः, [अत्र], नयप्रचारम्, व्यवहारदुष्टताम्, खलस्वभावम्, तथा, भवितव्यताम्, [एतत्], सर्वम्, चकार, किल ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—इदम् = यह [प्रकरण], तयोः = उन दोनों, चारुदत्त एवं वसन्तसेना की, सत्सुरतोत्सवाश्रयम्=उत्तम विहारलीला का आधार वाला, [अस्ति = है], शूद्रकः=शूद्रक, नृपः=राजा ने, [अत्र=इसमें], नयप्रचारम्=नीति की गति को, व्यवहारदुष्टताम् = दोषपूर्ण व्यवहार को, खलस्वभावम् = दुर्जनों के चरित्र को, तथा = और, भवितव्यताम् = होनी, भावी को –[एतद् = इन], सर्वम् = सबको, चकार = [वर्णित] किया है, किल = ऐसी प्रसिद्धि है ॥

अर्थः—यह 'मृच्छकटिक' नामक प्रकरण उन दोनों [चारुदत्त और वसन्तसेना] की उत्तम विहार-लीला [सम्भोगलीला] का अवलम्बन करके लिखा गया है। राजा 'शूद्रक' ने इसमें नीति की गति [प्रचार], दुष्टों के दोषपूर्ण आचरण, दुर्जनों के चरित्र तथा भाग्य—इन सबका वर्णन [प्रणयन] किया है ॥ ७ ॥

अथवा—

[इस 'मृच्छकटिक' नामक प्रकरण में] राजा 'शूद्रक' ने उन दोनों [चारुदत्त और वसन्तसेना] के श्रेष्ठ आनन्द-विलास पर आश्रित नीति के आचरण, दुष्ट-व्यवहार, दुर्जनों के चरित्र तथा होनहार [भाग्य]—इन सब का प्रणयन [वर्णन] किया है ॥ ७ ॥

टीका- इदम् = प्रकरणम् ; तयोः =चारुदत्तवसन्तसेनयोः ; सन्=उत्तमः : सुरतोत्सवः = कामक्रीडाप्रमोदः, सः आश्रयः=अवलम्बनम् यस्य तत् ; अस्ति इति शेषः । शूद्रकः नृपः = राजा ; [अत्र = अस्मिन् प्रकरणे] ; नयस्य = नीतेः : प्रचारम् = गतिम् : व्यवहारस्य = दुष्टजनाचरणस्य दुष्टताम् =दोषपूर्णताम् अथवा व्यवहारस्य = विवादनिर्णयस्य दुष्टताम् = सदोषताम् ; खलानाम् = दुष्टानाम् शकारादीनाम् स्वभावम् = प्रकृतिम् ; तथा, भवितव्यताम् = दुर्निवार्यां नियतिम् ; [एतत्] सर्वं चकार = प्रणिनाय ; किल = एतादृशी प्रसिद्धि अस्ति ॥ ७ ॥

टिप्पणी- प्रचार = गति, रिवाज, प्र + ✓चर् + घञ् । भवितव्यता= होनी, प्रारब्ध, ✓भू + तव्यत् = भवितव्य + तल् + टाप् ।

इस श्लोक में स्वभावोक्ति अलङ्कार तथा वंशस्थ छन्द है। इस छन्द का लक्षण इस प्रकार है—'वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ' ॥ ७ ॥

अये, इति—

शब्दार्थ—अये = अरे ! [यह विषाद सूचक अव्यय है], इयम् = यह, अस्मत्सङ्गीतशाला = हमारी संगीतशाला, शून्या = खाली है, कुशीलवाः = नट, चारण, क्व = कहाँ ? नु = यह सोच-विचार के लिये प्रयुक्त होता है, गताः = गये, भविष्यन्ति = होंगे, आम् = अच्छा, [यह अव्यय है और याद करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है], ज्ञातम् = याद हुआ ॥

अर्थः—[घूमकर और चारों ओर देखकर] अरे ! हमारी संगीतशाला तो खाली है, नट और चारण [अभिनय करने वाले पात्र] कहाँ गये होंगे ? [सोचकर] अच्छा, समझ गया;

टीका—अये = इदम् विषादसूचकमव्ययपदम् ['अये क्रोधे विषादे च' इति मेदिनी]। इयम्=सम्मुखे वर्तमाना ; अस्मत्सङ्गीतशाला=अस्माकम् अभिनयसभा ; शून्या = रिक्ता ; कुशीलवाः = नटाः ['नटाश्चारणाश्च कुशीलवाः' इत्यमरः] ; क्व = कुत्र ; नु = वितर्के ; गताः भविष्यन्ति ; आम् = सुष्ठु ['आम्' इति स्वीकृतौ स्मरणे वा अव्ययम्] ; ज्ञातम् = स्मृतम् ॥

टिप्पणी—'अये' यह पद क्रोध एवं विषाद को सूचित करने के लिए प्रयुक्त होता है ['अये क्रोधे विषादे च' इति मेदिनी] । 'नु' यह अव्यय है और सोच-विचार अथवा तर्क-वितर्क के लिए आता है। 'आम्' यह भी अव्यय है तथा किसी बात की याद अथवा हामी [स्वीकृति] के लिए बोला जाता है ॥

शून्यमपुत्रस्य गृहं चिरशून्यं नास्ति यस्य सन्मित्रम्।
मूर्खस्य दिशः शून्याः सर्वं शून्यं दरिद्रस्य॥ ८॥

शून्यमपुत्रस्य इति—

अन्वयः—अपुत्रस्य, गृहम्, शून्यम्, यस्य, सन्मित्रम्, न अस्ति, [तस्य, गृहम्], चिरशून्यम्, [अस्ति], मूर्खस्य, दिशः शून्याः, [सन्ति], दरिद्रस्य, सर्वम्, शून्यम् [भवति] ॥ ८॥

शब्दार्थः—अपुत्रस्य=निपुत्रका, पुत्रविहीनका, गृहम् = घर, शून्यम् = सूना (है), यस्य = जिसका, सन्मित्रम् = सच्चामित्र, न = नहीं, अस्ति = है, (तस्य = उसका, गृहम्=घर), चिरशून्यम् = हमेशा सूना, (अस्ति = है), मूर्खस्य = मूर्ख की, दिशः = सभी दिशाएँ, शून्याः = सूनी, (सन्ति = हैं), दरिद्रस्य = निर्धन का, सर्वम् = सब कुछ, शून्यम् = सूना (भवति=होता है) ।

अर्थः–पुत्रहीन व्यक्ति का घर सूना है अर्थात् बालक के बिना किसी भी व्यक्ति का घर सूना लगता है, जिस व्यक्ति के सच्चे मित्र नहीं हैं उसका [भी] घर सदा से सूना है। मूर्ख के लिये सभी दिशाएँ सूनी [सहारा=आश्रयरहित] हैं, और निर्धन के लिये सब कुछ सूना है। [यही कारण है कि मेरे नट एवं चारण आदि अभिनय करने वाले व्यक्ति मुझको निर्धन समझकर अपनी इच्छा के अनुसार विचरण करते हैं] ॥ ८॥

टीका—नास्ति पुत्रः यस्य सः अपुत्रः तस्य अपुत्रस्य = पुत्ररहितस्य; गृहम् = वासस्थानम्; शून्यम् = रिक्तम्, इव प्रतिभाति। यस्य = जनस्य; सन्मित्रम्=साधुसखा, नास्ति=न वर्तते; तस्य गृहम् = निकेतनम्; चिरशून्यम्–चिराय = बहुकालाय शून्यम्, न कदापि सुखकरम् इति भावः। मूर्खस्य=अज्ञस्य; दिशः = सर्वाः काष्ठाः ('दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्चताः' इत्यमरः); शून्या = निष्फलाः इत्यर्थः। सन्ति इति शेषः। दरिद्रस्य = निर्धनस्य; सर्वम् = निखिलं स्थानमिति भावः; शून्यं भवति इति शेषः ॥ ८॥

टिप्पणी—'क्योंकि दरिद्र का सब कुछ सूना होता है। इसीलिये मुझ निर्धन की सङ्गीतशाला सूनी है।' यहाँ पर अप्रस्तुत (दरिद्रता) से प्रस्तुत कार्य (सङ्गीतशाला की शून्यता) का वर्णन करने के कारण 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलङ्कार है। इसमें प्रयुक्त छन्द है 'आर्या'। इसका लक्षण है—

'यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादशद्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या॥' ८॥

कृतं च संगीतक मया। अनेन चिरसंगीतोपासनेन ग्रीष्मसमये प्रचण्डदिनकरकिरणो-च्छुष्कपुष्करबीजमिव प्रचलिततारके क्षुधा ममाक्षिणी खटखटायेते। तद्यावद्गृहिणी-माहूय पृच्छामि, अस्ति किंचित्प्रातराशो न वेति। एषोऽस्मि भोः, कार्यवशात्प्रयोग-वशाच्च प्राकृतभाषी संवृत्तः। अविद अविद भोः! चिरसंगीदोवासरोण सुक्ख-

---

कृतं च सङ्गीतकमिति —

शब्दार्थः—सङ्गीतकम्=सङ्गीत = नाच, गाना एवं बजाना। चिरसङ्गीतोपास-नेन = देरतक सङ्गीत की उपासना करने से अर्थात् सङ्गीत का अभ्यास करने से, प्रचण्डदिनकरकिरणोच्छुष्कपुष्करबीजम्=सूर्य की प्रचण्ड किरणों से सूखे हुए कमल के बीज, इव = जैसी, क्षुधा = भूख से, प्रचलिततारके = छटपटाती हुई पुतलियों वाली, मम = मेरी, अक्षिणी = आँखें, खटखटायेते=खटखटा रही हैं। गृहिणीम् = घरवाली को। प्रातराशः = कलेवा, कार्यवशात् = प्रयोजनवश, प्रयोगवशात् = अभिनय अथवा बात-चीत की सरलतावश, प्राकृतभाषी = प्राकृतभाषा बोलने वाला संवृत्त हो गया हूँ।

अर्थ : – मैंने सङ्गीत-कार्यको कर लिया है। अधिक समय तक इस सङ्गीत में लगे रहने से [परिश्रम के कारण] भूखवश चञ्चल पुतलियों वाली मेरी आँखें उसी प्रकार खट-खटा रही हैं [विचलित हो रही हैं], जिस प्रकार गर्मी के समय में सूर्य की प्रचण्ड किरणों से सूखे हुए कमल के बीज [कमल के फल में] खट-खटाते हैं। तो जब तक [अर्थात् इसलिए] पत्नीको बुलाकर पूछता हूँ कि प्रातराश [जलपान, कलेवा] है अथवा नहीं। यह मैं प्रयोजनवश तथा प्रयोग [बात-चीत] की सरलता के कारण प्राकृत भाषा बोलने वाला हो गया हूँ।

टीका—सङ्गीतकम् = नृत्यम् गीतम् तथा वाद्यम् [नृत्यं गीतं तथा वाद्यं त्रयं सङ्गीतमुच्यते—इति सङ्गीतरत्नाकरः] ; चिरम् = बहुकालम् , सङ्गीतस्य = पूर्वोक्तस्य नृत्यादिकस्य उपासनेन = आराधनेन ; प्रचण्डस्य = प्रदीप्तस्य दिन-करस्य = सूर्यस्य किरणैः = करैः अथवा प्रचण्डैः दिनकरस्य किरणैः उच्छुष्कं = समु-पजातशोषम् यत् पुष्करस्य = कमलस्य बीजम् तदिव; क्षुधा = बुभुक्षया; प्रचलिते = चञ्चले तारके = कनीनिके ['तारकाक्ष्णः कनीनिका' इत्यमरः] ययोस्ते; मम = सूत्रधारस्य; अक्षिणी = नयने; खटखटायेते = खटखटशब्दम् कुरुतः। गृहिणीम् = गृहस्वामिनीं स्वस्त्रियम्; प्रातराशः—प्रातः अश्यते = भोज्यते असौ इति प्रातराशः = कल्यभोजनम् जलपानम् वा; कार्यवशात् = प्रयोजनवशात्; प्रयोगवशात् = अभिनयस्य सरलतया नाट्यप्रयोगस्य नियमाद्वा; प्राकृतभाषी = प्राकृतभाषावक्ता; संवृत्तः = सञ्जातः ॥

पोक्खरणालाइं विअ मे बुभुक्खाए मिलाणाइं अंगाइं । ता जाव गेहं गदुअ जाणामि, अत्थि किं पि कुडुंबिणीए उववादिदं ण वेत्ति। (परिक्रम्यावलोक्य च) एदं तं अम्हाणं गेहं, ता पविसामि । (प्रविश्यावलोक्य च) हीमाणहे, किं णु खु अम्हाणं गेहे अवर विअ संविहाणअं वट्टदि। आआमितंडुलोदअप्पवाहा रच्छा, लोहकडाहपरिअत्तणकसणसारा किदविसेसआ विअ जुअदी अहिअदरं सोहदि भूमी। सिणिद्धगंधेण उद्दीविअंती विअ अधिअं बाधेदि मं बुभुक्खा। ता किं पुव्वविढत्तं णिहाणं उप्पण्णं भवे। आदु अहं जेव्व बुभुक्खादो ओदाणमअं जीअलोअं पेक्खामि। णत्थि किल पादरासो अम्हाणं गेहे। पाणच्चअं बाधेदि मं बुभुक्खा। इध सव्वं णवं विअ संविहाणं वट्टदि। एक्का वण्णअं पीसेदि, अवरा सुमणाओ गुंफेदि। (विचिन्त्य) किं एणेदं। भोदु। कुडुंबिणिं सद्दाविअ परमत्थं

टिप्पणी—खटखटायेते—खटत् शब्द से डाच् प्रत्यय होने पर द्वित्व होकर 'खटखटा' शब्द बनता है; खटखटा+य [क्यप्] 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यप्' [पा० ३।१।१३]; आत्मनेपद प्रथम पुरुष द्विवचन में 'खटखटायेते' रूप होता है।

'स्त्रीषु ना प्राकृतं वदेत्' स्त्रियों के साथ पुरुष को प्राकृत भाषा में बोलना चाहिये यह नियम है। अतः सूत्रधार प्राकृत भाषा बोलने वाला हो गया है। अथवा प्रसङ्ग के अनुसार भाषा-परिवर्तन कर लिया जाता है—जैसे कि छठें अङ्क में चन्दनक ने आर्यक के साथ बात संस्कृत में, वसन्तसेना ने पञ्चम अङ्क में वर्षा-वर्णन संस्कृत में किया है ॥

शब्दार्थः - अविद अविद = कष्ट है, कष्ट है, बुभुक्षया = भूख से, मे = मेरे, अङ्गानि = अङ्ग, शुष्कपुष्करनालानि = सूखे कमल के डण्ठल, इव = जैसे, म्लानानि = कुँभला गये हैं। कुटुम्बिन्या = घर की मालकिन स्त्री के द्वारा, उपपादितम् = बनाया गया। अपरमिव = दूसरा सा, संविधानकम् = आयोजन। रथ्या = गली, आयामितण्डुलोदकप्रवाहा = चावल के फैले हुए धोवन के बहाव वाली [है]। लोहकटाहपरिवर्तनकृष्णसारा = लोहे की कड़ाही को [माँजने के लिये] घुमाने से चितकबरी, भूमिः = जमीन, कृतविशेषका = तिलक लगाये हुई, युवती = जवान स्त्री, इव = जैसी, शोभते = शोभित हो रही है। स्निग्धगन्धेन = घी आदि की मनोहर महक से, उद्दीप्यमाना = भड़की हुई, बाधते = पीडित कर रही है। पूर्वार्जितम् = पुरखों के द्वारा कमाया गया, निधानम् = खजाना, उत्पन्नम् = प्राप्त, भवेत् = हो गया ? प्राणाधिकम् = प्राण से भी अधिक अर्थात् जिसमें प्राण छटपटा रहा है। वर्णकम् = सुगन्धित द्रव्य को, पिनष्टि = पीस रही है; अपरा = दूसरी, सुमनसः = फूलों को, ग्रथ्नाति = गूँथ रही है। शब्दाप्य=बुलाकर, परमार्थम्=

वास्तविक बात को, ज्ञास्यामि = जानूँगा। आर्ये ! = प्रिये !, इतस्तावत् = जरा इधर आओ।

अर्थः–खेद है कि देर तक संगीत की उपासना [अर्थात् सङ्गीत का कार्य] करने से भूख के कारण मेरे सभी अङ्ग सूखे हुए कमल के नाल [डण्ठल] की भाँति मलिन हो गये हैं। तो जब तक [अर्थात् इसलिए], मैं घर जाकर पता लगाता हूँ कि मेरी स्त्री ने [खाने के लिये] कुछ बनाया भी है अथवा नहीं। [घूमकर और देखकर] तो, यही हमारा घर है। अतः इसमें प्रवेश करता हूँ। [प्रवेश कर और देखकर] आश्चर्य ! यह क्या ? हमारे घर में तो कुछ दूसरा ही आयोजन हो रहा है। गली चावलों के फैले हुए जल के प्रवाह से [अर्थात् चावल के धोवन से] व्याप्त है। लोहे की कड़ाही को [माँजने के लिए इधर-उधर] घुमाने से चितकबरी हुयी भूमि, तिलक लगाये हुयी युवती की भाँति, अत्यधिक शोभित हो रही है। [पकवान आदि की] स्निग्ध [अर्थात् घी आदि की मनोहर] सुगन्ध से उद्दीप्त [भड़की] हुयी सी भूख मुझे अधिक पीड़ित कर रही है। तो क्या पूर्वजों के द्वारा सञ्चित [जमीन में गाड़ा गया] खजाना निकल आया [अर्थात् मिल गया] है ? अथवा मैं ही भूख के कारण संसार को भातमय [पका हुआ चावलमय] देख रहा हूँ। हमारे घर में [तो], कलेवा [जलपान की सामग्री] है ही नहीं। भूख के कारण मेरे प्राण निकले जा रहे हैं। यहाँ सब नवीन सा ही आयोजन हो रहा है। एक स्त्री [कस्तूरी आदि] सुगन्धित द्रव्य पीस रही है, दूसरी फूलों को गूँथ रही है। [सोचकर] यह क्या [बात] है ? अच्छा, गृहिणी [अपनी स्त्री] को बुलाकर वास्तविक बात का पता लगाता हूँ। [नेपथ्य = पर्दा की ओर देखकर] आर्ये ! इधर तो आना।

टीका—अविद अविद = कष्टं कष्टम्। बुभुक्षया = क्षुधया; मे = मम; अङ्गानि = गात्राणि; शुष्काणि = विरसानि यानि पुष्कराणि = कमलानि तेषाम् नालानि = दण्डानि; इव; म्लानानि = मलिनानि कुटुम्बिन्या = भार्यया ('भार्या जाया पुंभूम्नि दाराः स्यात्तु कुटुम्बिनी' इत्यमरः); उपपादितम् = सम्पादितं विरचितं वा। अपरमिव=अन्यत् नवीनमिव, संविधानकम्—संविधीयते इति संविधानं तदेव संविधानकम् आयोजनम्। रथ्या=प्रतोली; आयामिनः=दीर्घाः तण्डुलोदकानाम्= प्रक्षालिततण्डुलजलानां प्रवाहाः = धाराः यस्यां सा; लोहकटाहस्य = लोहनिर्मित-कटाहस्य परिवर्तनेन = इतस्ततः सञ्चालनेन कृष्णसारा = चित्रिता; भूमिः = अत्रत्या पृथिवी; कृतः = सम्पादितः विशेषकः = तिलकः यया सा; युवती = तरुणी इव; शोभते = भाति। स्निग्धगन्धेन – स्निग्धस्य = घृतादिचिक्कणपदार्थस्य गन्धेन =

जाणिस्सं । (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य ।) अज्जे ! इदो दाव । [अविद, अविद भोः ! चिरसंगीतोपासनेन शुष्कपुष्करनालानीव मे बुभुक्षया म्लानान्यङ्गानि । तद्यावद्गृहं गत्वा जानामि, अस्ति किमपि कुटुम्बिन्या उपपादितं न वेति । इदं तदस्माकं गृहम् , तत्प्रविशामि । आश्चर्यम् ! किं नु खल्वस्माकं गृहेऽपरमिव संविधानकं वर्तते । आयामितण्डुलोदकप्रवाहा रथ्या, लोहकटाहपरिवर्तनकृष्णसारा कृतविशेषकेव युवत्यधिकतरं शोभते भूमिः । स्निग्धगन्धेनोद्दीप्यमानेवाधिकं बाधते मां बुभुक्षा । तत्किं पूर्वार्जितं निधानमुत्पन्नं भवेत् । अथवाहमेव बुभुक्षात ओदनमयं जीवलोकं पश्यामि । नास्ति किल प्रातराशोऽस्माकं गृहे । प्राणाधिकं बाधते मां बुभुक्षा । इह सर्वं नवमिव संविधानकं वर्तते । एका वर्णकं पिनष्टि, अपरा सुमनसो ग्रथ्नाति । किन्विदम् ? भवतु, कुटुम्बिनीं शब्दाप्य परमार्थं ज्ञास्यामि । आर्ये ! इतस्तावत् ।]

नटी—(प्रविश्य ।) अज्ज ! इअं म्हि । [आर्य ! इयमस्मि ।]

सूत्रधारः - अज्जे ! साअदं दे । [आर्ये ! स्वागतं ते ।]

सुगन्धिना: उद्दीप्यमाना = वृद्धिङ्गता; बाधते = पीडयति । पूर्वैः = पूर्वपुरुषैः अर्जितम् = उपार्जितम्; निधानम् = भूमौ संस्थापितम् धनम् ; उपपन्नम् = प्राप्तम् जातमिति शेषः । प्राणाधिकम्—प्राणेषु = जीवनेषु अधिकम् =सोढुम् अशक्यम् यथा स्यात् तथा क्रियाविशेषणम् इदम् । वर्णकम् = कस्तूर्यादिद्रव्यम् ; पिनष्टि = चूर्णयति; अपरा = अन्या स्त्री; सुमनसः = पुष्पाणि; ग्रथ्नाति = गुम्फति । शब्दाप्य = आहूय; परमार्थम् = वास्तविकम् अर्थम् ; ज्ञास्यामि = वेत्स्यामि । आर्ये = प्रिये !; इतस्तावत्= इहागम्यताम् ॥

टिप्पणी—स्निग्ध [विशेषण] = प्रिय, तैल आदि से मिश्रित; ✓स्निह् + क्त । निधानं = खजाना, नि + ✓धा + ल्युट् ॥

नेपथ्य = नेपथ्य उस स्थान को कहते हैं जहाँ पर कि नाटक में काम करने वाले व्यक्ति सुसज्जित होते हैं और रूपपरिवर्तन करते हैं । आर्ये = प्रिये !; स्त्री माननीय व्यक्ति को आर्य कहती है । पुरुष भी स्त्री के प्रति आदर व्यक्त करने के लिये उसे आर्या कहता है । नटी एवं सूत्रधार परस्पर एक दूसरे को इसी प्रकार सम्बोधित करते हैं—'वाच्यौ नटी-सूत्रधारौ आर्यनाम्ना परस्परम् ॥'

अर्थः –नटी—[प्रवेश करके अर्थात् मञ्च पर आकरके] आर्य ! यह (मैं) हूँ [अर्थात् यह मैं उपस्थित हूँ ।]

सूत्रधार—आर्ये ! तुम्हारा स्वागत है ।

नटी—आणवेदु अज्जो को णिओओ अणुचिट्ठीअदु त्ति । [आज्ञापयत्वार्यः को नियोगोऽनुष्ठीयतामिति ।]

सूत्रधारः अज्जे ! ('चिरसंगीदोवासरणेण' इत्यादि पठित्वा ।) अत्थि किंपि अम्हाणं गेहे असिदव्वं ण वेत्ति। [आर्ये ! अस्ति किमप्यस्माकं गेहेऽशितव्यं न वेति ।]

नटी—अज्ज ! सव्वं अत्थि । [आर्य ! सर्वमस्ति ।]

सूत्रधारः किं किं अत्थि ? । [किं किमस्ति ? ।]

नटी तं जधा—गुडोदणं घिअं दहीं तंडुलाइं, अज्जेण अत्तव्वं रसाअणं सव्वं अत्थि त्ति । एवं ते देवा आसासेंतु [तद्यथा—गुडौदनं घृतं दधि तण्डुलाः, आर्येणात्तव्यं रसायनं सर्वमस्तीति । एवं तव देवा आशासन्ताम् ।]

नटी—आर्य ! आज्ञा दें, किस आदेश का पालन किया जाय ?

अस्माकं गेहे इति—

शब्दार्थः—अस्माकम्=हमारे, गेहे = घर में, अशितव्यम्=खाने योग्य ।

अर्थः—सूत्रधार—आर्ये ! [बहुत देर तक संगीत कार्य करने मे, इत्यादि पूर्वोक्त वाक्य कहकर] हमारे घर में खाने के योग्य कुछ है अथवा नहीं ?

नटी—आर्य ! सब कुछ है।

सूत्रधार—क्या-क्या है ?

टीका—अस्माकम्; गेहे = गृहे; अशितव्यम्=भोक्तव्यम, खाद्यं किमपि वर्तते न वा इति प्रश्नाशयः ।

टिप्पणी—अशितव्यम्=√अश् [क्र्या० पर०; अश्नाति]+ तव्य ।

तद्यथा इति—

शब्दार्थः—गुडौदनम् = गुड़–भात [खीर], अत्तव्यम् = खाने योग्य, रसायनम् = सरस, स्वादिष्ट । एवम् = ऐसा, तव = तुम्हारे, देवाः = देवता जन, आशासन्ताम् = आशीर्वाद दें ।

अर्थः—नटी—तो, जैसे–गुड़-भात, घी, दही, चावल [अर्थात भात]–आर्य के खाने के योग्य सब प्रकार का सरस भोजन है। इस प्रकार आप के देवगण [ऊपर निर्देश किये गये सभी पदार्थों की प्राप्ति के लिए] आशीर्वाद दें।

टीका—गुडेन मिश्रितम् ओदनम् गुडौदनम् = पायसम्; अत्तव्यम् = भोक्तव्यम्; रसानाम् अयनम् रसायनम् = सरसम् । एवम् = इत्थम्; ते = तव; देवाः = देवताः; आशासन्ताम् = प्रसादविषयीकुर्वन्तु ।

सूत्रधारः—किं अम्हाणं गेहे सव्वं अत्थि ? आदु परिहससि ?। [किमस्माकं गेहे सर्वमस्ति ? अथवा परिहससि ?।]

नटी –(स्वगतम्) परिहसिस्सं दाव। (प्रकाशम्) अज्ज ! अत्थि आवणे। [परिहसिष्यामि तावत्। आर्य ! अस्त्यापणे।]

सूत्रधारः— (सक्रोधम्) आः, अणज्जे ! एव्वं ते आसा छिज्जिस्सदि। अभावं अ गमिस्ससि। जं दाणिं अहं वरंडलंवुओ विअ दूरं उक्खिविअ पाडिदो। [आः अनार्ये ! एवं तवाशा छेत्स्यति, अभावं च गमिष्यसि। यदिदानीमहं वरण्डलम्बुक इव दूरमुत्क्षिप्य पातितः।]

अर्थः—सूत्रधार—क्या हमारे घर में सब कुछ है ? अथवा तुम मेरी हँसी उड़ा रही हो ?

नटी—[अपने मन में] तो परिहास [हँसी, मजाक] करूँगी। [प्रकट रूप में] आर्य ! बाजार में [वे वस्तुएँ] हैं।

आः अनार्ये ! इति—

शब्दार्थः—आः अरी ! अनार्ये = दुष्टे ! एवम् इसी तरह, तव=तुम्हारी: आशा = अभिलाषा, छेत्स्यति = नष्ट होगी। अभावम् = नाश को अथवा चीजों की कमी को, गमिष्यसि = प्राप्त होओगी। यत् = जो [कि], इदानीम् = इस समय, अहम् = मैं, वरण्डलम्बुकः = [ढेंकुली के] लम्बे बाँस अथवा लकड़ी के लम्बे लट्ठे से [एक कोने पर] बँधे हुए मिट्टी के ढेले, इव=जैसा: दूरम् = दूर तक, उत्क्षिप्य = ऊपर उठाकर, पातितः = नीचे गिराया गया [हूँ]।

अर्थः—सूत्रधार - [क्रोध के साथ] री दुष्टे ! इसी प्रकार तुम्हारी [भी] आशा भङ्ग होगी और तूँ अभाव [नाश अथवा वस्तुओं की कमी] को प्राप्त होओगी। क्योंकि इस समय मैं [ढेंकुली के] लम्बे बाँस अथवा लकड़ी के लम्बे लट्ठे से [एक कोने पर] बँधे हुए मिट्टी के बड़े ढेले [खण्ड] की भाँति काफी ऊँचा उठाकर पटक दिया गया हूँ [अर्थात् आशा दिखला कर निराश किया गया हूँ]।

टीका—आः = क्रोधद्योतकम् इदम् अव्ययपदम्। अनार्ये = दुष्टे ! एवम् = अनेन रूपेण; तव = ते: आशा = अभिलाषा; छेत्स्यति = छिन्ना भग्ना वा भविष्यति, आशाभङ्गः भविष्यति इति अर्थः। अभावम् = क्षयम् अथवा वाञ्छितवस्तूनाम् क्षयम्: गमिष्यसि = प्राप्स्यसि। अनेन वसन्तसेनायाः प्रवहणविपर्यासमोटनयोः सूचनमिति पृथ्वीधरः। यत् = यस्मात् कारणात्; इदानीम् = सम्प्रति; अहम् =

नटी—मरिसेदु मरिसेदु अज्जो, परिहासो खु एसो [मर्षतु मर्षत्वार्यः, परिहासः खल्वेषः ।]

सूत्रधारः—ता किं उण इमं णवं विअ संविहाणअं वट्टदि ? । एक्का वण्णअं पीसेदि, अवरा सुमणाओ गुंफेदि, इअं अ पञ्चवण्णकुसुमोवहारसोहिदा भूमी । [तत्किं पुनरिदं नवमिव संविधानकं वर्तते ? । एका वर्णकं पिनष्टि, अपरा सुमनसो गुम्फति, इयं च पञ्चवर्णकुसुमोपहारशोभिता भूमिः ।]

नटी—अज्ज उववासो गहिदो । [अद्योपवासो गृहीतः ।]

सूत्रधारः; वरण्डः = लम्बायमानं काष्ठं तस्य लम्बुकः = तत्प्रान्तनिबद्धः मृत्तिकास्थूणः, सः हि द्रोण्यां पानीयोद्धारार्थं दूरम् उत्थाप्य अधः पात्यते । दूरम् = बहुदूरपर्यन्तम् ; उत्क्षिप्य = उत्थाप्य, आशां दत्त्वा इति भावः; पातितः = निपातितः, निराशः कृतः इति तात्पर्यम् ।

टिप्पणी—वरण्डलम्बुक—इसके बहुत से अर्थ किये जाते हैं, जैसे [१] वरण्ड—ढेंकुली में काम आने वाला लकड़ी का लट्ठा; लम्बुक—उसके पीछे बँधा हुआ मिट्टी का लोंदा [स्थूणः]। उसे नीचे स्थान से जल निकालने के लिये ऊपर उठाकर नीचे गिराया जाता है। यह क्रिया आज भी सर्वत्र देखी जाती है।

अर्थः—नटी—आर्य ! क्षमा करें, क्षमा करें ; [वास्तव में मेरे द्वारा किया गया] यह परिहास [मजाक] था ।

शब्दार्थः—पञ्चवर्णकुसुमोपहारशोभिता = पाँच रङ्ग के फूलों के चढ़ाने [उपहार देने] से शोभित [है] । उपवासः = व्रत । अभिरूपपतिः=अनुकूल अथवा सुन्दर पति दिलाने वाला । इहलौकिकः = इस लोक में होने वाला; पारलौकिकः= दूसरे लोक में होनेवाला [मिलने वाला] । आर्यमिश्राः = श्रेष्ठसभासदों, सज्जनों, भक्तपरिव्ययेन = भात [अन्न] के खर्च से, भर्त्ता = पति, अन्विष्यते = खोजा जा रहा है । जन्मान्तरे = दूसरे जन्म में, उपोषिता = उपवासी, भूखी । उपदिष्टः = बतलाया गया है ।

अर्थः—सूत्रधार—तो फिर यह कैसा नवीन-सा आयोजन है ? एक स्त्री [कस्तूरी आदि] सुगन्धित द्रव्य पीस रही है, दूसरी फूलों को गूँथ रही है और यह [सामने की] भूमि पाँच रङ्ग के फूलों के उपहार से शोभित है ।

नटी—आज उपवास ग्रहण किया है [अर्थात् आज मैं उपवास = व्रत कर रही हूँ] ।

सूत्रधारः—किंणामधेओ अअं उववासो ? । [किंनामधेयोऽयमुपवासः ? ।]

नटी—अहिरूअवदी णाम । [अभिरूपपतिर्नाम ।]

सूत्रधारः—अज्जे ! इहलोइओ आदु पारलोइओ ? । [आर्ये ? इहलौकिकोऽथवा पारलौकिकः ? ।]

नटी—अज्ज ! पारलोइओ । [आर्य ! पारलौकिकः ।]

सूत्रधारः (सरोषम् ।) पेक्खंतु पेक्खंतु अज्जमिस्सा, ममकेरकेण भत्तपरिव्वएण पारलोइओ भत्ता अण्णेसीअदि । [प्रेक्षन्तां प्रेक्षन्तामार्यमिश्राः ! मदीयेन भक्तपरिव्ययेन पारलौकिको भर्तान्विष्यते ।]

नटी—अज्ज ! पसीद पसीद । तुमं जेव्व जम्मंतरे वि भविस्ससि त्ति उववसिदम्हि । [आर्य ! प्रसीद प्रसीद । त्वमेव जन्मान्तरेऽपि भविष्यसीत्युपोषिताऽस्मि ।]

सूत्रधारः—अध अअं उववासो केण दे उवदिट्ठो ? । [अथायमुपवासः केन तवोपदिष्टः ?]

नटी—अज्जस्स जेव्व पिअवअस्सेण जुण्णवुड्ढेण । [आर्यस्यैव प्रियवयस्येन जूर्णवृद्धेन ।]

सूत्रधार इस उपवास का क्या नाम है ?

नटी—[यह] 'अभिरूपपति' नामक व्रत है [अर्थात् इस व्रत के करने से स्त्री को सुन्दर पति मिलता है ।]

सूत्रधर—आर्ये ! इस लोक में होने वाला [पति] अथवा परलोक में ?

नटी—आर्य ! परलोक में होने वाला ।

सूत्रधार—[क्रोध के साथ] सज्जन गण ! देखिए, देखिए । मेरे भात [अन्न] को व्यय करके पारलौकिक [दूसरे लोक अथवा जन्म में होने वाला] पति ढूँढा जा रहा है ।

नटी - आर्य ! प्रसन्न हो जाइये, प्रसन्न हो जाइये । तुम्हीं दूसरे जन्म में भी [मेरे पति] होओगे, इसीलिए व्रत कर रही हूँ ।

सूत्रधार - अच्छा, यह उपवास तुमको किसने बतलाया है ?

नटी—आपके ही प्रियमित्र 'जूर्णवृद्ध' ने ।

टीका—पञ्चवर्णानाम् = नील-पीत-रक्त-कृष्ण-श्वेतानाम् कुसुमानाम्=पुष्पाणाम् उपहारेण = समर्पणेन शोभिता = अलङ्कृता । उपवासः = व्रतम् । अभिरूपः= सुन्दरः अनुकूलः वा पतिः = भर्त्ता येन असौ, अस्य उपवासस्य फलं सुन्दरपतिप्राप्तिः इति भावः । इह = अस्मिन् लोके = संसारे भवः इहलौकिकः ; परलोके =

सूत्रधारः—(सकोपम् ।) आः दासीए उत्ता जुण्णवुड्ढा, कदा णु हु तुमं कुविदेण रण्णा पालएण णववहूकेसहत्थं विअ सुअंधं कप्पिज्जंतं पेक्खिस्सं । [आः दास्याःपुत्र जूर्णवृद्ध ! कदा नु खलु त्वां कुपितेन राज्ञा पालकेन नववधूकेशहस्तमिव समुगन्धं छेद्यमानं प्रेक्षिष्ये ।]

नटी पसीददु अज्जो । अज्जस्स जेव्व पारलोइओ अअं उववासो अणुचिट्ठीअदि । (इति पादयोः पतति ।) [प्रसीदत्वार्यः । आर्यस्यैव पारलौकिकोऽयमुपवासः अनुष्ठीयते ।]

स्वर्गादौ अन्यलोके भवः पारलौकिकः । आर्येषु = मान्येषु सभ्येषु मिश्राः = श्रेष्ठाः; भक्तस्य = अन्नस्य परिव्ययः = व्ययः तेन ; भर्त्ता = पतिः ; अन्विष्यते = याच्यते इत्यर्थः । जन्मान्तरे = अन्यस्मिन् जन्मनि ; उपोषिता = गृहीतोपवासा । उपदिष्टः = निर्दिष्टः ॥

टिप्पणी—इहलौकिकः = इसलोक का, 'इहलोके भवः' इहलोक + ठञ् [इक्] ; पाणिनि व्याकरण के अनुसार 'ऐहलौकिकः' प्रयोग होना चाहिये ; क्योंकि 'अनुशतिकादीनाम् च' ७ । ३ । २० से उभयपदवृद्धि होती है । इसी प्रकार 'पारलौकिकः' भी समझना चाहिये ।

शब्दार्थः—आः = अरे ! दास्याः = दासी के, पुत्र = बच्चे ! समुगन्धम् = सुगन्धित, नववधूकेशहस्तम् = नयी दुलहन के केशपाश, इव = जैसा, छेद्यमानम् = काटे जाते हुए । अस्मादृशजनयोग्येन = अपने जैसे लोगों के योग्य, उपनिमन्त्रितेन = न्यौता दिये गये, ब्राह्मणेन = ब्राह्मण से अर्थात् अपने लायक ब्राह्मण के निमन्त्रित करने से । सुसमृद्धायाम् = धन-धान्य से भरी हुई, उज्जयिन्याम् = उज्जयिनी नगरी मे, अशितुम् = भोजन करने के लिए, अग्रणीः = अग्रेसर, तैयार, भवतु = हों । नेपथ्ये = पर्दे में । व्यापृतः = कार्य-व्यस्त । सम्पन्नम् = तैयार, अच्छा, च=और, निःसपत्नम्=प्रतिद्वन्दीरहित । प्रत्यादिष्टः=मना किया गया, अनुरोद्धुम् = अनुरोध करने के लिये ; निर्बन्धः = हठ, आग्रह, आमुखम् = प्रस्तावना ॥

अर्थः—सूत्रधार [क्रोधपूर्वक] अरे ! दासी के पुत्र जूर्णवृद्ध ! क्रुद्ध राजा 'पालक' के द्वारा, नयी वधू के सुगन्धित केशपाश की भाँति, तुझे चीरा [काटा] जाता हुआ मैं कब देखूँगा ?

नटी आर्य प्रसन्न हों । यह पारलौकिक व्रत तो आर्य के लिए ही किया जा रहा है । [ऐसा कहकर पैरों पर गिरती है ।]

सूत्रधारः—अज्जे ! उट्ठेहि । कधेहि एत्थ उववासे केण कज्जं ? । [आर्ये ! उत्तिष्ठ । कथयात्रोपवासे केन कार्यम् ? ।]

नटी—अम्हारिसजणजोग्गेण बम्हणेण उवणिमंतिदेण । [अस्मादृशजन-योग्येन ब्राह्मणेनोपनिमन्त्रितेन ।]

सूत्रधारः—अदो गच्छदु अज्जा । अहं पि अम्हारिसजणजोग्गं बम्हणं उवणिमंतेमि । [अतो गच्छत्वार्या । अहमप्यस्मादृशजनयोग्यं ब्राह्मणमुप-निमन्त्रयामि ।]

नटी—जं अज्जो आणवेदि । (इति निष्क्रान्ता ।) [यदार्य आज्ञापयति ।]

सूत्रधारः—(परिक्रम्य ।) हीमाणहे, ता कधं मए एव्वं सुसमिद्धाए उज्जइणीए अम्हारिसजणजोग्गो बम्हणो अण्णेसिदव्वो ? । (विलोक्य ।) एसो चारुदत्तस्स मित्तं मित्तेओ इदो ज्जेव्व आअच्छदि । भोदु, पुच्छिस्सं दाव । अज्ज मित्तेअ ! अम्हाणं गेहे असिदुं अग्गणी भोदु अज्जो । [आश्चर्यम्, तस्मात्कथं मयैवं सुसमृद्धायामुज्जयिन्यामस्मादृशजनयोग्यो ब्राह्मणोऽन्वेषितव्यः ? । एष चारुदत्तस्य मित्रं मैत्रेय इत एवागच्छति । भवतु, प्रक्ष्यामि तावत् । आर्य मैत्रेय ! अस्माकं गृहेऽशितुमग्रणीर्भवत्वार्यः ।]

(नेपथ्ये)

भो ! अण्णं बम्हणं उवणिमंतेदु भवं ; वावुडो दाणिं अहं । [भोः ! अन्यं ब्राह्मणमुपनिमन्त्रयतु भवान् ; व्यापृत इदानीमहम् ।]

सूत्रधार—आर्ये ! उठो । बतलाओ कि इस उपवास में क्या करना चाहिए ?

नटी—अपने अनुरूप ब्राह्मण को निमन्त्रित करना चाहिए ।

सूत्रधार—अच्छा, आर्ये ! अब तुम जाओ । मैं भी अपने योग्य ब्राह्मण को निमन्त्रित करता हूँ ।

नटी—जैसी आर्य की आज्ञा । [ऐसा कह कर चली जाती है] ।

सूत्रधार—[घूम कर] आश्चर्य ! तो मेरे द्वारा इस प्रकार भली भाँति सम्पन्न 'उज्जयिनी" नगरी में अपने योग्य ब्राह्मण कैसे ढूँढा जाय ? [देखकर] यह 'चारुदत्त' का मित्र 'मैत्रेय' इधर ही आ रहा है । अच्छा, [इससे] पूछूँ तो । आर्य मैत्रेय ! आज आप हमारे घर भोजन करने के लिए अग्रणी हों [अर्थात् चलें] ।

[नेपथ्य में]

अरे ! आप दूसरे ब्राह्मण को निमन्त्रण दें । इस समय मैं [कार्य में] व्यस्त हूँ ।

सूत्रधारः—अज्ज ! संपएणं भोअणं णीसवत्तं च । अवि अ दक्खिणा वि दे भविस्सदि । [आर्य ! संपन्नं भोजनं निःसपत्नं च । अपि च दक्षिणापि ते भविष्यति ।]

(पुनर्नेपथ्ये)

भो, जधा दाणिं पढमं जेव्व पच्चादिट्टोसि, ता को दाणिं दे णिव्वंधो पदे पदे मं अणुवंधेदुं ? । [भोः, यदिदानीं प्रथममेव प्रत्यादिष्टोऽसि, तत्क इदानीं ते निर्बन्धः पदे पदे मामनुरोद्धुम् ? ।]

सूत्रधारः—पच्चादिट्टो म्हि एदिणा । भोदु, अएणं बम्हणं उवणिमंतेमि । (इति निष्क्रान्तः) [प्रत्यादिष्टोऽस्म्येतेन । भवतु, अन्यं ब्राह्मणमुपनिमन्त्रयामि ।]

इत्यामुखम् ।

सूत्रधार—आर्य ! भोजन तैयार है तथा [इस में] दूसरा विपक्षी भी नहीं है [अर्थात् एकमात्र आप ही खाने के लिए निमन्त्रित हैं] । और दक्षिणा भी तुम्हें मिलेगी ।

[फिर नेपथ्य में]

अरे ! अभी पहले ही जब तुम्हें मना कर दिया गया है [अर्थात् तुम्हारा निमन्त्रण अस्वीकृत कर दिया गया है], तब इस समय पग पग पर मुझसे अनुरोध करने के लिए तुम्हारा [यह] कैसा हठ है ?

सूत्रधार—इसने [तो] मुझे इन्कार कर दिया । अच्छा, दूसरे ब्राह्मण को निमन्त्रित करता हूँ ।

[ऐसा कह कर बाहर चला जाता है] ।

[आमुख समाप्त]

टीका—आः = इति आक्षेपे कोपे वा अव्ययम् । दास्याः = सेविकायाः, चेट्याः, पुत्र = सुत ! ; ससुगन्धम् = सुगन्धितं वासितम् ; नववध्वाः=सद्यः विवाहित-स्त्रियः केशहस्तम्=केशकलापम् (कलापो भूषणे बर्हे तूणीरे संहतेऽपि च—इत्यमरः); इव ; छेद्यमानम् = जूर्णवृद्धपक्षे छेद्यमानं नववधूपक्षे च कल्प्यमानम् ।—अनेन संहाराङ्के चारुदत्तनिग्रहसूचनम् इति पृथ्वीधरः । अस्मादृशस्य = अस्मद्योग्यस्य ; जनस्य = व्यक्तिविशेषस्य ; योग्येन = सदृशेन ; उपनिमन्त्रितेन = भोजनार्थम् आहूतेन ; ब्राह्मणेन=विप्रेण । सुसमृद्धायाम् = सम्पन्नायाम् ; उज्जयिन्याम्=उज्जयिनी-नगर्याम् ; अशितुम्=भोक्तुम्, अग्रणीः = अग्रेसरः ; भवतु । नेपथ्ये=वेशग्रहणस्थाने

(प्रविश्य प्रावारहस्तः)

मैत्रेयः— ('अएणं बम्हणं' इति पूर्वोक्तं पठित्वा) अथवा, मए वि मित्तेएण परस्स आमंतणआइं पक्खिदव्वाइं। हा अवत्थे! तुलीअसि। जो णाम अहं तत्थभवदो चारुदत्तस्स रिद्धीए अहोरत्तं पअत्तसिद्धेहिं उग्गारसुरहिगंधेहिं मोदएहिं जेव्व आसिदो अब्भंतरचदुस्सालअदुए उवविट्ठो मल्लकसदपरिवुदो चित्तअरो विअ अंगुलीहिं छिविअ छिविअ अवणेमि। णअरचत्तरवुसहो विअ रोमंथाअमाणो चिट्ठामि, सो दाणिं अहं तस्स दलिद्ददाए जहिं तहिं चरिअ गेहपारावदो विअ आवासणिमित्तं इध आअच्छामि। एसो अज्जचारुदत्तस्स

(अन्तर्जवनिकामाहुर्नेपथ्यम्। केचित्तु मेदिनीकारानुरोधेन नेपथ्यं रङ्गः इति अर्थमाहुः)। व्यापृतः = कार्यव्यस्तः। सम्पन्नम् = मृष्टं पक्कं समृद्धं वा; निःसपत्नम् = विपक्षरहितम् भोजकान्तरशून्यमिति भावः। प्रत्यादिष्टः = निराकृतः; (प्रत्यादेशो निराकृतिः—इत्यमरः) अनुरोध्दुम्=अनुसन्धातुम्, निमन्त्रयितुमित्यर्थः। निर्बन्धः = आग्रहः; आमुखम् = प्रस्तावना॥

टिप्पणी—आमुख = जहाँ सूत्रधार, नटी अथवा विदूषक आदि के साथ बात-चीत करते हुए विचित्र उक्ति के द्वारा प्रस्तुत वस्तु का संकेत करता हुआ अपने कार्य की चर्चा करता है, उसे आमुख अथवा प्रस्तावना कहते हैं—

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा॥

(साहि० ६–३१–३२)

शब्दार्थः—प्रावारहस्तः = हाथ में दुपट्टा (उत्तरीय वस्त्र) लिये हुए। आमन्त्रणकानि = न्यौता, निमन्त्रण, समीहितव्यानि = चाहे जाने चाहियें। तुलयसि = परीक्षा ले रही हो। ऋद्धया = सम्पन्नता से, प्रयत्नसिद्धैः = परिश्रम-पूर्वक बनाये गये, उद्गारसुरभिगन्धिभिः = डकार में सुगन्धि लाने वाले, मोदकैः= लड्डुओं से; अशितः = खाकर अघाया हुआ, तृप्त, अभ्यन्तरचतुःशालकद्वारे = भीतरी चतुःशाला के दरवाजे पर, मल्लकशतपरिवृतः = सैकड़ों व्यञ्जनपात्र (चित्रकार के पक्ष में—रङ्ग-पात्र) से घिरा हुआ, चित्रकर इव = चित्रकार की भाँति, अपनयामि = दूर करता हूँ (था); नगरचत्वरवृषभः = नगर के चौगहे के साँड़, रोमन्थायमानः = जुगाली करता हुआ। गृहपारावत इव = पालतू कबूतर की

पिअवअस्सेण जुण्णवुड्ढेण जादीकुसुमवासिदो पावारओ अणुप्पेसिदो सिद्धीकिद-देवकज्जस्स अज्जचारुदत्तस्स उवणेदव्वो त्ति। ता जाव अज्जचारुदत्तं पेक्खामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) एसो अज्जचारुदत्तो सिद्धीकिददेवकज्जो गिहदेवदाणं बलिं हरेंतो इदो ज्जेव्व आअच्छदि। [अथवा मयापि मैत्रेयेण परस्यामन्त्रणकानि समीहितव्यानि ? हा अवस्थे ! तुलयसि। यो नामाहं तत्रभवतश्चारुदत्तस्य ऋद्धयाऽहोरात्रं प्रयत्नसिद्धैरुद्गारसुरभिगन्धिभिर्मोदकैरेवाशितोऽभ्यन्तरचतुःशालकद्वार उपविष्टो मल्लकशतपरिवृतश्चित्रकर इवाङ्गुलीभिः स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वापनयामि, नगरचत्वरवृषभ इव रोमन्थायमानस्तिष्ठामि, स इदानीमहं तस्य दरिद्रतया यत्र तत्र चरित्वा गृहपा-

---

भाँति, आवासनिमित्तम् = बसेरे के लिये। जातीकुसुमवासितः चमेली के फूलों से सुवासित, प्रावारकः = दुपट्टा। सिद्धीकृतदेवकार्यस्य = देवताओं की पूजा से खाली (निवृत्त), उपनेतव्यः = देना चाहिये। गृहदेवतानाम् = गृहदेवताओं को ; गृहदेवता एक विशेष प्रकार की देवता हैं, जिन्हें घर की रक्षा करने वाली समझा जाता है और अन्न आदि की पूजा दी जाती है। बलिम् = पूजा को। यथानिर्दिष्टः= जैसा ऊपर बतलाया गया है अर्थात् बलि का अन्न लिये हुए। सनिर्वेदम् = दुःख के साथ।

अर्थः—[हाथ में उत्तरीय वस्त्र = दुपट्टा लिए हुए प्रवेश करके]

मैत्रेय—['दूसरे ब्राह्मण को........' इत्यादि पूर्वोक्त वाक्य को पढ़कर] अथवा, मुझ मैत्रेय को भी दूसरों के निमन्त्रण की इच्छा करनी चाहिए ? हा अवस्थे ! तुम मेरी परीक्षा ले रही हो [अर्थात् तुम मुझे तौल रही हो]। जो मैं श्रद्धेय 'चारुदत्त' की सम्पन्नता के कारण [अर्थात् 'चारुदत्त' की सम्पन्नता की अवस्था में] यत्नपूर्वक बनाए गये, [खाने के बाद] उद्गार [डकार] में सुगन्धि लाने वाले लड्डुओं को रात-दिन खाकर तृप्त, भीतरी चतुःशाला के द्वार [दरवाजा] पर बैठा हुआ, सैकड़ों मल्लकों [रङ्गों से भरे हुए पुरवा अथवा कसोरा] से घिरे हुए चित्रकार की भाँति, [खाद्य-पदार्थों से भरे हुए सैकड़ों पत्रपुटों = दोना को] अङ्गुलियों से छू-छू कर छोड़ देता था, नगर के प्राङ्गण [बाणा] के साँड़की भाँति जुगाली करता बैठा रहता था, वही मैं इस समय उन चारुदत्त की निर्धनता के कारण पालतू कबूतर की भाँति जहाँ-तहाँ घूमकर [भोजन के लिए भटककर] निवास करने के लिए यहाँ [चारुदत्त के घर में] आ रहा हूँ। आर्य 'चारुदत्त' के प्रिय मित्र 'जूर्णवृद्ध' ने चमेली के फूलों से सुवासित यह उत्तरीय [दुपट्टा] भेजा है कि देवताओं की पूजा से निवृत्त हो जाने पर इसे आर्य 'चारुदत्त' के पास पहुँचा देना [अर्थात् आर्य 'चारुदत्त' को दे

रावत इवावासनिमित्तमत्रागच्छामि। एष चार्यचारुदत्तस्य प्रियवयस्येन जूर्णवृद्धेन जातीकुसुमवासितः प्रावारकोऽनुप्रेषितः सिद्धीकृतदेवकार्यस्यार्यचारुदत्तस्योपनेतव्य इति। तद्यावदार्यचारुदत्तं पश्यामि। एष आर्यचारुदत्तः सिद्धीकृतदेवकार्यो गृहदेवतानां बलिं हरन्नित एवागच्छति।]

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टश्चारुदत्तो रदनिका च)

देना।] तो तब तक आर्य 'चारुदत्त' को देखता हूँ। [घूमकर और देखकर] यह आर्य 'चारुदत्त' देवताओं की पूजा से निवृत्त होकर गृह-देवताओं को बलि [पूजा की सामग्री] लेकर इधर ही आ रहे हैं।

[इसके बाद गृह देवताओं की पूजन-सामग्री हाथ में लिए 'चारुदत्त' और 'रदनिका' प्रवेश करते हैं]

टीका—प्रावारः = उत्तरीयम् हस्ते = करे यस्य असौ। आमन्त्र्यते = आकार्ल्यते येभ्यः तानि आमन्त्रणकानि = निमन्त्रणे प्रस्तुतानि वस्तूनि; समीहितव्यानि = वाञ्छितव्यानि। तुलयसि = परीक्षसे। तूलयसि इति पाठे तूलङ्करोषि = लघूकरोषि इत्यर्थः, 'तत्करोषि तदाचष्टे' इति तूलशब्दात् णिच्। ऋद्धया = समृद्धया; प्रयत्नेन = परिश्रमेण सिद्धैः = निष्पन्नैः; उद्गारेषु = भुक्तपदार्थस्य ऊर्ध्वगामिवायुवशादुद्गमनेषु सुरभिः = सौरभ-संयुक्तः गन्धः येषां मोदकादीनां तैः; मोदकैः = लड्डुकैः; अशितः = अशनेन तृप्तः; अभ्यन्तरे = गृहान्तरे यत् चतुःशालकम् = चतस्रः शालाः समाहृताः यस्मिन् तत् चतुःशालम् तदेव चतुःशालकम् (स्वार्थे कः) तस्य द्वारे=सन्निहिते बहिर्भागे; मल्लकानाम् = पात्रविशेषाणाम् (विदूषकपक्षे–व्यञ्जनादिपूरितपात्राणाम्, चित्रकारपक्षे-वर्णिकापात्राणाम्) शतेन परिवृतः = परिव्याप्तः; चित्रकर इव = रङ्गजीव इव ('रङ्गजीवश्चित्रकरः' इत्यमरः ; अपनयामि = त्यजामि; अत्यन्ततृप्तत्वात्। चित्रकारोऽपि बिन्दुपातभयात् वर्णिकापात्रम् ईषत् स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा विक्षिपति। नगरस्य यत् चत्वरम् = अङ्गनम् ['अङ्गनम् चत्वराजिरे' इत्यमरः] तस्य वृषभः = बलीवर्दः इव ; रोमन्थायमानः = उद्गीर्य चर्वणं कुर्वाणः। गृहपारावत इव = गृहकपोत इव ; आवासनिमित्तम् = शयननिमित्तम्। जातीकुसुमैः = मालतीसुमनैः वासितः = सुरभीकृत ; प्रावारकः = उत्तरीयवस्त्रम्। सिद्धीकृतम् = सम्पादितम् देवाकार्यम् = देवार्चनादिकम् येन तस्य आर्यचारुदत्तस्य ; उपनेतव्यः = दातव्यः। बलिम् =पूजाम् ['बलिः पूजोपहारयोः, इत्यमरः]। यथानिर्दिष्टः = पूर्वसूचितः अर्थात् गृहदेवताभ्यः बलिमुपाहरन्। निर्वेदेन = दारिद्र्यजनितदुःखेन सहितं सनिर्वेदम्॥

चारुदत्तः – (ऊर्ध्वमवलोक्य सनिर्वेदं निःश्वस्य च)

यासां बलिः सपदि मद्गृहदेहलीनां
हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्तपूर्वः ।
तास्वेव संप्रति विरूढतृणाङ्कुरासु
बीजाञ्जलिः पतति कीटमुखावलीढः ॥ ९ ॥

(इति मन्दं मन्दं परिक्रम्योपविशति)

टिप्पणी—प्रावारः = दुपट्टा, प्र + आ + √वृ + घञ् ; 'प्रावृयतेऽनेन' इस विग्रह में 'वृणोतेराच्छादने' [३।३।५४] इस सूत्र से पाक्षिक घञ् प्रत्यय होकर प्रावार शब्द बनता है । तुलयसि = तुला + णिच् + लट् , म० पु० एक० । मल्लक—जिस प्रकार चित्रकार चित्रफलक पर बूँद गिरने के भय से तूलिका [ब्रश] को रङ्ग में जरा सा छुआता है, उसी प्रकार विदूषक अंगुलियों से चख-चखकर व्यञ्जन-पात्रों को छोड़ देता था ॥

यासां बलिः इति—

अन्वयः—यासाम् , मद्गृहदेहलीनाम् , बलिः, सपदि, हंसैः, च, सारसगणैः, विलुप्तपूर्वः, सम्प्रति, विरूढतृणाङ्कुरासु, तासु, एव, कीटमुखावलीढः, बीजाञ्जलिः, पतति ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—यासाम् = जिन, मद्गृहदेहलीनाम्=हमारे घर की देहलियों [द्वारों] की, बलिः = पूजा, अर्थात् पूजा में चढ़ाये गये अक्षत आदि, सपदि = शीघ्र ही, हंसैः = हंसों के द्वारा, च = और, सारसगणैः = सारस पक्षियों के झुंडों के द्वारा, विलुप्तपूर्वः = पहले [खाकर] समाप्त कर दी जाती थी, सम्प्रति = इस समय, विरूढतृणाङ्कुरासु = उगे हुए तृणाङ्कुरों से युक्त, तासु = उन देहलियों पर, एव = ही, कीटमुखावलीढः = कीड़ों के मुख के द्वारा खायी गयी, बीजाञ्जलिः = बीजों, (चावलों आदि) की अञ्जलि, पतति = गिरती है ।

अर्थः – चारुदत्त—[ऊपर की ओर देखकर और दुःख के साथ लम्बी साँस लेकर]

मेरे घर की जिन देहलियों [द्वारों] पर रक्खे गये पूजा के अक्षत आदि पदार्थ पहले [मेरी सम्पन्न दशा में] हंस और सरसों के द्वारा [खाये जाकर] समाप्त कर दिये जाते थे ; आज [निर्धनता की अवस्था में] [मनुष्यों के आने-जाने के अभाव से अथवा द्रव्य के अभाव में सफाई आदि न होने से] उगे हुए तृणाङ्कुरों से युक्त उन्हीं देहलियों पर कीड़ों के मुख-द्वारा खाये हुए बीजों की अञ्जलि [बीजों की मुट्ठी] गिरती है ॥ ९ ॥

[ऐसा कहकर धीरे-धीरे घूमकर बैठ जाता है ।]

विदूषकः—एसो अज्जचारुदत्तो। ता जाव संपदं उवसप्पामि। (उपसृत्य) सोत्थि भवदे। वड्ढदु भवं। [एष आर्यचारुदत्तः। तद्यावत्सांप्रतमुपसर्पामि। स्वस्ति भवते। वर्धतां भवान्।]

चारुदत्तः—अये! सर्वकालमित्रं मैत्रेयः प्राप्तः। सखे! स्वागतम्। आस्यताम्।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि। (उपविश्य) भो वअस्स! एसो दे पिअवअस्सेण जुण्णवुड्ढेण जादीकुसुमवासिदो पावारओ अणुप्पेसिदो सिद्धीकिद-देवकज्जस्स अज्जचारुदत्तस्स तुए उवणेदव्वो त्ति। (समर्पयति) [यद्भवानाज्ञापयति। भो वयस्य! एष ते प्रियवयस्येन जूर्णवृद्धेन जातीकुसुमवासितः प्रावारकोऽनुप्रेषितः सिद्धीकृतदेवकार्यस्यार्यचारुदत्तस्य त्वयोपनेतव्य इति।]

टीका—यासाम्, मम = चारुदत्तस्य गृहाणि = भवनानि इति मद्गृहाणि तेषाम् या देहल्यः = द्वारपीण्डिकाः, बहिर्द्वारस्य काष्ठखण्डविशेषाः, तासाम्; बलिः = पूजाप्रयुक्ताक्षतादिद्रव्यम्; सपदि = झटिति; हंसैः=मरालैः; च = तथा; सारसानाम्= पक्षिविशेषाणाम् गणैः = समूहैः; पूर्वम् विलुप्तः = भक्षितः इति विलुप्तपूर्वः ['पूर्वापर'—(२।१।५८ पा०) इति पूर्व निपातः]; सम्प्रति = अधुना; मम दारिद्र्यकाले इत्यर्थः; विरूढाः = संस्काराभावात् वृद्धिङ्गताः तृणाङ्कुराः = शष्पाङ्कुराः यासु तासु; तासु = गृहदेहलीषु; एव; कीटमुखैः = कीटाननैः अवलीढः = खण्डितः आस्वादितो वा; बीजानाम् = तण्डुलादीनाम् अञ्जलिः = समूहः; पतति = पतितो भवति ॥ ९ ॥

टिप्पणी—अवलीढ = खाया हुआ, चबाया हुआ; (भूतकालिक कर्म में कृदन्त = क्त) अव + √लिह् + क्त।

इस श्लोक में 'पर्याय' अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है। इस छन्द का लक्षण है—

'उक्ता वसन्ततिलका त—भ—जा ज—गौ गः' ॥ ९ ॥

अर्थ:—विदूषक—यह आर्य चारुदत्त हैं। तो मैं अब इनके समीप चलता हूँ। [समीप जाकर] आप का कल्याण हो। आप की वृद्धि हो।

चारुदत्त—अरे! सब समय का मित्र [सुख-दुःख का समान मित्र] मैत्रेय आया है। मित्र! स्वागत है। बैठिए।

विदूषक—जैसी आप की आज्ञा। [बैठकर] हे मित्र! चमेली के फूलों से सुगन्धित यह उत्तरीय आपके प्रिय मित्र 'जूर्णवृद्ध' ने भेजा है [और कहा है

(चारुदत्तो गृहीत्वा सचिन्तः स्थितः)

विदूषकः भो ! किं इदं चिंतीअदि ? । [भोः, किमिदं चिन्त्यते ? ।]

चारुदत्तः वयस्य !

सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम् ।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरेण मृतः स जीवति ॥ १० ॥

कि] तुम इसे देवताओं की पूजा से निवृत्त हुए आर्य 'चारुदत्त' को दे देना । [समर्पित करता हूँ ।]

[चारुदत्त' ग्रहण करके चिन्तित हो जाता है ।]

विदूषक अरे ! क्या सोच रहे हो ?

सुखं हि इत्यादि —

अन्वयः—घनान्धकारेषु, दीपदर्शनम्, इव, दुःखानि, अनुभूय, सुखम्, हि, शोभते, यः, नरः, सुखात्, दरिद्रताम्, याति, सः, शरीरेणः, धृतः, अपि, मृतः, [इव], जीवति ॥ १० ॥

शब्दार्थः—घनान्धकारेषु = गाढ़े अँधेरे में, दीपदर्शनम् = दीपकके प्रकाश (की), इव = भाँति, दुःखानि = कष्ट, अनुभूय = अनुभव करके, सुखम् = सुख, आनन्द, हि = निश्चित, शोभते = शोभित होता है । तु = किन्तु, यः = जो, नरः = व्यक्ति, सुखात् = सुख से अर्थात् सुख भोग करके, दरिद्रताम् = दरिद्रता को, याति = जाता है, प्राप्त होता है, सः = वह, शरीरेण = शरीर से, धृतः = धारण किया गया, अपि = भी, मृतः = मरा, इव = जैसा, जीवति = जीवित रहता है ।

अर्थः—**चारुदत्त**—मित्र ! घने अन्धकार में दीपक के प्रकाश की भाँति दुःखों का अनुभव करने के अनन्तर सुख शोभित होता है [अच्छा लगता है] । किन्तु जो मनुष्य सुख भोग करके निर्धनता को प्राप्त होता है वह तो शरीर से रहता हुआ भी [अर्थात् शरीर धारण करते हुए भी] मृतक के समान जीवन व्यतीत करता है ॥ १० ॥

टीका—घनाः = निविडाः अन्धकाराः = तिमिराणि तेषु ; दीपदर्शनम् = दीपप्रकाशः इव ; दुःखानि = कष्टानि, अनुभूय = विज्ञाय ; स्थितस्य जनस्येति शेषः ; सुखम् = आनन्दः ; हि = अवश्यम् ; शोभते = राजते ; तु = किन्तु ; यः नरः = मनुष्यः ; सुखात् = आनन्दानुभवात् अनन्तरमिति शेषः ; दरिद्रताम् =

विदूषकः—भो वअस्स ! मरणादो दालिद्दादो वा कदरं दे रोअदि ? । [भो वयस्य ! मरणाद्दारिद्र्याद्वा कतरत्ते रोचते ? ।]

चारुदत्तः—वयस्य !

दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम् ।
अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम् ॥ ११ ॥

निर्धनताम् ; याति = गच्छति, प्राप्नोतीत्यर्थः ; सः = जनः ; शरीरेण = कायेन ; धृतः = संयुक्तः ; अपि, मृतः = निष्प्राणः ; इव = यथा ; जीवति = प्राणान् धारयति । १० ॥

टिप्पणी इस श्लोक के पहले वाले आधे हिस्से में उपमा अलङ्कार और उत्तर वाले भाग में अप्रस्तुत प्रशंसा तथा ['मृतः स जीवति'] में विरोधाभास अलङ्कार है इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है–वंशस्थ । छन्द का लक्षण इस प्रकार है–
"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" ॥ १० ॥

अर्थ : –विदूषक - हे मित्र ! मृत्यु और निर्धनता में से तुम्हें कौन-सी अच्छी लगती है ?

दारिद्र्यात् इति—

अन्वयः––दारिद्र्यात्, मरणात्, वा, मम, मरणम्, रोचते, दारिद्र्यम्, न, [यतः], मरणम्, अल्पक्लेशम्, [अस्ति], दारिद्र्यम्, अनन्तकम्, दुःखम्, [अस्ति] ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—दारिद्र्यात् = निर्धनता से, मरणात् = मरने से, अर्थात् निर्धनता और मृत्यु में से, वा = इसका प्रयोग विकल्प के अर्थ में होता है, मम = मुझे, मरणम् = मृत्यु, रोचते = अच्छी लगती है, दारिद्र्यम् = निर्धनता, न = नहीं; [यतः = क्योंकि], मरणम् = मृत्यु, अल्पक्लेशम् = कम दुःखदायी, [अस्ति = है], दारिद्र्यम् = दारिद्रता, अनन्तकम् = अनन्त, कभी भी न खतम होनेवाला, दुःखम् = दुःख, [अस्ति = है] ॥

अर्थः—चारुदत्त—मित्र ! दरिद्रता और मृत्यु में से मुझे मृत्यु अच्छी लगती है, दरिद्रता नहीं । मृत्यु कम कष्टवाली होती है, किन्तु दरिद्रता कभी न समाप्त होने वाला दुःख है [अर्थात् दरिद्रता में जीवन पर्यन्त दुःख भोगना पड़ता है ॥ ११ ॥

टीका—दारिद्र्यात् = दैन्यात् निर्धनत्वाद्वा ; मरणात् = जीवनत्यागात् ; वा ; दैन्यमरणयोः मध्ये इत्यर्थः ; मम = चारुदत्तस्य, सम्बन्धविवक्षयाऽत्र षष्ठी, अन्यथा 'रुच्यर्थानाम् प्रियमाणः, इति चतुर्थी स्यात् ; मरणम् = मृत्युः ; रोचते =

विदूषकः—भो वअस्स ! अलं संतप्पिदेण । पणइजणसंकामिदविहवस्स सुरजणपीदसेसस्स पडिवच्चंदस्स विअ परिक्खओ वि दे अहिअदरं रमणीओ । [भो वयस्य ! अलं संतप्तेन; प्रणयिजनसंक्रामितविभवस्य सुरजनपीतशेषस्य प्रतिपच्चन्द्रस्येव परिक्षयोऽपि तेऽधिकतरं रमणीयः ।]

प्रीणाति ; दारिद्र्यम् = दैन्यम् ; न रोचते इति शेषः । यतः मरणम् = मृत्युः ; अल्पक्लेशः - अल्पः = दारिद्र्यात् लघुः, क्लेशः = दुःखम् यस्मिन् तत्, अस्ति ; दारिद्र्यम् = निर्धनत्वम् ; तु अनन्तकम् = न विद्यते अन्तः = समाप्तिः यस्य तत् तादृशम् ; दुःखम् । जीवनपर्यन्तं दुःखप्रदत्वात् दारिद्र्यम् अनन्तदुःखमेवेति तात्पर्यम् ॥ ११ ॥

टिप्पणी—दारिद्र्यात्, मरणात् - दरिद्रता और मरने में ; यहाँ पर पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग ठीक नहीं है । कुछ व्याख्याकारों के अनुसार 'दारिद्र्यमाश्रित्य' इस प्रकार आश्रित्य पद का अध्याहार करके 'ल्यब्लोपे०' इत्यादि से कर्म में पञ्चमी है ।

मम रोचते—मुझे पसन्द है ; पाणिनि व्याकरण के अनुसार 'मह्यम रोचते' प्रयोग होता है । किन्तु इस स्थल का समाधान सम्बन्ध की विवक्षा में षष्ठी मान कर किया जा सकता है ।

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में उक्त अर्थ के साथ उत्तरार्द्ध वाक्य का अर्थ हेतुरूप में अन्वित होता है, अतः यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है । अथवा सामन्य से विशेष का समर्थन होने के कारण अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है । इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है आर्या ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—प्रणयिजनसंक्रामितविभवस्य = प्रेमी जनों को धन दे डालने वाले, ते = तुम्हारी, परिक्षयः = निर्धनता, अपि = भी, सुरजनपीतशेषस्य = देवताओं के द्वारा पीने से बचे हुए, प्रतिपच्चन्द्रस्य = परिवा के चन्द्रमा की, परिक्षयः = हीनता, इव = जैसी, अधिकतरम् = अत्यधिक, रमणीयः = सुन्दर है । दैन्यम् = सन्ताप ॥

अर्थः—**विदूषक**—हे मित्र ! दुःख करना व्यर्थ है प्रेमीजनों को सम्पत्ति दे डालने वाले आपकी निर्धनता भी देवों के द्वारा पीने से बचे हुए प्रतिपदा तिथि के चन्द्रमा की [क्षीणता की] भाँति, अत्यधिक अच्छी लगती है ।

टीका—प्रणयिजनेषु = प्रियजनेषु; संक्रामिताः = दयाधर्मादिना प्रदत्ताः ; विभवाः = धनानि येन तस्य ; ते = तव चारुदत्तस्य ; परिक्षयः = निर्धनता अपि ; सुरजनैः = देवैः पीतशेषस्य = भुक्तावशिष्टस्य ; प्रतिपदः = शुक्लप्रतिपदायाः,

चारुदत्तः—वयस्य ! न ममार्थान्प्रति दैन्यम् । पश्य,—

एतत्तु मां दहति यद्गृहमस्मदीयं
क्षीणार्थमित्यतिथयः परिवर्जयन्ति ।
संशुष्कसान्द्रमदलेखमिव भ्रमन्तः
कालात्यये मधुकराः करिणः कपोलम् ॥ १२ ॥

वस्तुतः शुक्लप्रतिपदि चन्द्रदर्शनस्य अभावात् एतत् कृष्णचतुर्दश्याः उपलक्षकम् ; चन्द्रस्य = चन्द्रमसः ; परिक्षयः = कलाक्षीणता इव ; अधिकतरम् = पर्याप्तम् ; रमणीयः = सुन्दरः । दैन्यम् = सन्तापः ।

टिप्पणी—सुरजनपीतशेषस्य—यह माना जाता है कि कृष्णपक्ष में देवता लोग चन्द्रमा की अमृतमय कलाओं का क्रमशः पान करते हैं । प्रतिपच्चन्द्रस्य–शुक्ल की प्रतिपदा को चन्द्रमा के न दिखलाई पड़ने के कारण इसका अर्थ कृष्णचतुर्दशी का चन्द्रमा समझना चाहिये ।

एतत्तु माम् इति—

अन्वयः—भ्रमन्तः, मधुकराः, कालात्यये, संशुष्कसान्द्रमदलेखम्, करिणः, कपोलम्, इव, अतिथयः, क्षीणार्थम्, इति, यत्, अस्मदीयम्, गृहम्, परिवर्जयन्ति, एतत्, तु, माम्, दहति ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—भ्रमन्तः = इधर-उधर घूमने वाले, मधुकराः = भौंरे, कालात्यये= समय बीत जाने पर अर्थात् मद बहने के समय के समाप्त हो जाने पर, संशुष्क-सान्द्रमदलेखम् = सूखी हुई गाढ़ी मद की धारा वाले, करिणः = हाथी के, कपोलम् इव = गण्डस्थल की भाँति, अतिथयः = मेहमान, आगन्तुक, क्षीणार्थम् = धन से हीन, इति = ऐसा (समझकर), यत् = जो कि, अस्मदीयम् = हमारे, गृहम् = घर को, परिवर्जयन्ति = छोड़ दे रहे हैं, एतत् = यह, तु = ही, माम् = मुझको, दहति = जला रहा है ॥

अर्थः—**चारुदत्त—**मित्र ! धन नष्ट हो जाने के विषय में मुझे दुःख नहीं है । देखो—

मुझे यह बात सन्तप्त कर रही है कि हमारे घर को धन से रहित समझ कर अतिथि लोग इसका उसी प्रकार से परित्याग करते हैं, जिस प्रकार [मद बहने के] समय के बीत जाने पर मँडराने वाले भौंरे सूखी हुई गाढ़ी मद की धारा वाले हाथी के गण्डस्थल [कपोल] को त्याग देते हैं ॥ १२ ॥

टीका:—भ्रमन्तः = इतस्ततः चरन्तः, मधुकराः = भ्रमराः ; कालस्य = मदसमयस्य अत्यये = अपगमे ; संशुष्काः = शोषं प्राप्ताः सान्द्राः = निविडाः

विदूषकः—भो वअस्स ! एदे खु दासीए पुत्ता अत्थकल्लवत्ता वरडाभीदा विअ गोवालदारआ अरण्णे जहिं जहिं ण खज्जंति तहिं तहिं गच्छंति। [भो वयस्य ! एते खलु दास्याःपुत्रा अर्थकल्यवर्ता वरटाभीता इव गोपालदारका अरण्ये यत्र यत्र न खाद्यन्ते तत्र तत्र गच्छन्ति ।

चारुदत्तः—वयस्य !

सत्यं न मे विभवनाशकृतास्ति चिन्ता
भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति ।
एतत्तु मां दहति नष्टधनाश्रयस्य
यत्सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति ॥ १३ ॥

मदलेखाः = मदप्रवाहरेखाः यस्य यस्मिन् वा तम् ; करिणः = हस्तिनः ; कपोलम् = गण्डस्थलम् ; इव = यथा ; न विद्यते तिथिः द्वितीया अवथा न विद्यते तिथिः = निर्धारितः कालः येषां ते अतिथयः = अभ्यागताः ; क्षीणार्थम् = धनहीनम् ; इति = इत्थम् मत्वा इति शेषः, यत् अस्मदीयम् = मामकीनम् ; गृहम् = भवनम् ; परिवर्जयन्ति = विहाय अन्यत्र गच्छन्ति ; एतत् = अतिथिपरिवर्जनम् ; तु = एव, अर्थात् अतिथिपरिवर्जनमेव ; माम् = चारुदत्तम् ; दहति = सन्तापयति ॥ १२ ॥

टिप्पणीः—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है । इस छन्द का लक्षण है—'उक्ता वसन्ततिलका त-भ- जा ज-गौ गः ॥' १२ ॥

शब्दार्थः - दास्याः = दासी के, पुत्राः = बच्चे, अर्थकल्यवर्ताः = प्रातः कालीन जलपान की भाँति (तुच्छ), धन, वरटाभीताः = बर्रे से डरे हुए, गोपाल-दारकाः = अहीरों के बच्चे अर्थात् पशुओं के चरवाहे, खाद्यन्ते = खाये जाते हैं, काटे जाते हैं ।

अर्थः—विदूषक—हे मित्र ! दासी के पुत्र, कलेवा [प्रातःकालीन जलपान] की भाँति [तुच्छ] ये धन वन में बर्रे से डरे हुए गायों के चरवाहों की भाँति वहीं-वहीं जाते हैं जहाँ खाये [भोगे, काटे] नहीं जाते ।

टीकाः—दास्याः = सेविकायाः ; पुत्राः = सुताः ; गालीदानाय दासीपुत्र-शब्दः प्रयुज्यते, दासीपुत्रवत् अतिनीचाः इत्यर्थः ; कल्ये = प्रातःकाले वर्तते एभिः इति कल्यवर्ताः = प्रातराशाः, अर्थाः = धनानि एव कल्यवर्ता अर्थकल्यवर्ताः ; वरटाः = दंशनकारिकीटविशेषाः (गन्धोली वरटा द्वयोः इत्यमरः) ताभिः भीताः = त्रस्ताः, गोपालानाम् = आभीराणाम् दारकाः = बालकाः, गोचारकाः इवेत्यर्थः । खाद्यन्ते = भुज्यन्ते, अन्यत्र दश्यन्ते । इमानि धनानि यत्र न उपभुज्यन्ते तत्रैव गच्छन्ति, कृपणानामेव गृहे तिष्ठन्ति इति भावः ॥

सत्यम् न मे इति—

अन्वयः—सत्यम्, मे, चिन्ता, विभवनाशकृता, न, अस्ति, हि, धनानि, भाग्यक्रमेण, भवन्ति, (तथा) यान्ति, तु, एतत्, माम्, दहति, यत्, जनाः, नष्टधनाश्रयस्य, सौहृदात्, अपि, शिथिलीभवन्ति ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—सत्यम् = वस्तुतः, मे = मेरी, चिन्ता, विभवनाशकृता = धन के नाश से होनेवाली, न = नहीं, अस्ति = है, हि = क्योंकि, धनानि = सम्पत्तियाँ, भाग्यक्रमेण = भाग्य के अनुसार, भवन्ति = होती हैं, तथा, यान्ति = चली जाती हैं। तु = किन्तु, एतत् = यह, माम् = मुझको, दहति = जलाता है, यत् = कि, जनाः=लोग, नष्टधनाश्रयस्य=धनरूपी आश्रय के नष्ट हो जाने वाले (व्यक्ति) की, सौहृदात् = मित्रता से, अपि=भी, शिथिलीभवन्ति=उदासीन हो जाते हैं।

अर्थः—चारुदत्त—मित्र !

वस्तुतः, मुझे धन के नष्ट हो जाने की चिन्ता नहीं है, क्योंकि भाग्य के अनुसार धन प्राप्त होते और चले जाते हैं। किन्तु यह बात मुझे जलाती है कि जिसका धनरूपी आश्रय नष्ट हो जाता है [अर्थात् जो निर्धन हो जाता है] उसकी मित्रता से भी लोग शिथिल हो जाते हैं ॥ १३ ॥

टीकाः—सत्यम्=वस्तुतः; मे = मम; चिन्ता=चरिताभावना; विभवनाशेन=धनक्षयेण कृता = विहिता, धननाशोत्पन्ना इत्यर्थ ; न = नहि; अस्ति = वर्तते; हि=यतः; धनानि = विभवा; भाग्यस्य=दैवस्य क्रमेण=अनुसारेण; भवन्ति=जायन्ते; तथा, यान्ति = नश्यन्ति; किंकृता तर्हि चिन्ता ? इत्याह - तु=किन्तु; एतत् माम्=निर्धनम् चारुदत्तम्, दहति=सन्तापयति; यत् जनाः = लोकाः; धनमेव आश्रयः धनाश्रय नष्ट =क्षीणः धनाश्रयः=विभवाश्रयः यस्य तस्य निर्धनस्येत्यर्थ ; सौहृदात् मित्रभावात्; शिथिलीभवन्ति=प्रयोजनविरहात् मित्रताम् अपि त्यजन्ति ॥ १३ ॥

टिप्पणी: सौहृदात् = 'शोभनम् हृदयम् यस्य स सुहृद्'—हृदय के स्थान में हृद् हो जाता है। सुहृदः भावः सौहृदम्। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'सौहार्द' (सुहृद् + अण्) होना चाहिये; क्योंकि यहाँ 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' (७।३।१९) इस सूत्र से उभयपदवृद्धि होती है। तथापि 'सौहृद' शब्द का प्रचुर प्रयोग संस्कृत साहित्य में मिलता है। शिथिलीभवन्ति = शिथिल + च्वि + भवन्ति।

प्रथमार्द्ध में काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा 'नष्टधनाश्रयस्य' में रूपक अलङ्कार होने से इस श्लोक में सङ्कर अलङ्कार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है वसन्ततिलका ॥ १३ ॥

अपि च,—

दारिद्र्याद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो
निस्तेजाः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ॥
निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम् ॥ १४ ॥

विदूषकः—भो वअस्स ! तं जेव अत्थकल्लवत्तअं सुमरिअ अलं संतप्पिदेण । [भो वयस्य ! तमेवार्थकल्यवर्तं स्मृत्वालं संतापितेन ।]

दरिद्र्यात् इति—

अन्वयः—(मनुष्यः) दारिद्र्यात् , ह्रियम् , एति, ह्रीपरिगतः, तेजसः, प्रभ्रश्यते, निस्तेजाः, परिभूयते, परिभवात्, निर्वेदम्, आपद्यते, निर्विण्णः, शुचम् , एति, शोकपिहितः, बुद्ध्या, परित्यज्यते, निर्बुद्धिः, क्षयम् , एति, अहो, निधनता, सर्वापदाम्, आस्पदम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थः–(मनुष्य) दारिद्र्यात्=दरिद्रता से, ह्रियम्=लज्जा को, एति= प्राप्त होता है, ह्रीपरिगतः=लज्जित व्यक्ति, तेजसः = तेजस्विता से, प्रताप से, प्रभ्रश्यते=भ्रष्ट होता है, निस्तेजाः=तेजहीन, परिभूयते = तिरस्कृत, अपमानित होता है, परिभवात्=तिरस्कार से, निर्वेदम् = खेद को, ग्लानि को, आपद्यते=प्राप्त करता है, निर्विण्णः = ग्लानियुक्त, शुचम् = शोक को, एति = प्राप्त होता है, शोकपिहितः = शोकाकुल, बुद्ध्या = बुद्धि के द्वारा, परित्यज्यते=छोड़ दिया जाता है, निर्बुद्धिः = बुद्धिहीन, क्षयम् = नाशको, एति = जाता है, प्राप्त होता है, अहो = खेद है, निधनता = दरिद्रता, सर्वापदाम् = सभी आपत्तियों की, आस्पदम् जड़ (है) ॥

अर्थः—और भी—

(मनुष्य) दरिद्रता से लज्जा को प्राप्त होता है, लज्जित (व्यक्ति) तेज रहित हो जाता है, तेजहीन तिरस्कृत होता है, तिरस्कार से ग्लानि को प्राप्त होता है, ग्लानियुक्त शोक सन्तप्त होता है, शोकाकुल व्यक्ति बुद्धि (विवेक) के द्वारा त्याग दिता जाता है (अर्थात् शोकाकुल व्यक्ति विवेक को खो बैठता है), और निर्बुद्धि नाश को प्राप्त होता है—अहो ! दरिद्रता सभी आपत्तियों की जड़ है ॥ १४ ॥

विदूषक—हे मित्र ! कलेवा [प्रातःकालीन जलपान] रूप उसी धन का स्मरण कर दुःख करना व्यर्थ है ।

चारुदत्तः – वयस्य ! दारिद्र्यं हि पुरुषस्य,—

निवासश्चिन्तायाः परपरिभवो वैरमपरं
जुगुप्सा मित्राणां स्वजनजनविद्वेषकरणम् ।
वनं गन्तुं बुद्धिर्भवति च कलत्रात्परिभवो
हृदिस्थः शोकाग्निर्न च दहति संतापयति च ॥ १५ ॥

टीकाः—मनुष्यः = जनः ; दारिद्र्यात् = निर्धनत्वात् ; ह्रियम् = लज्जाम् ; एति = याति ; लज्जितः भवति ; ह्रिया = लज्जया परिगतः = आच्छन्नः ; तेजसः = प्रतापात् ; प्रभ्रश्यते = प्रच्युतः भवति ; निस्तेजाः = तेजहीनः ; परिभूयते = तिरस्क्रियते, जनैः इति शेषः ; परिभवात् = तिरस्कारात् ; निर्वेदम् = ग्लानिम् ; आपद्यते = प्राप्नोति ; निर्विण्णः = ग्लानियुक्तः; शुचम् = शोकम् ; एति=प्राप्नोति; शोकेन = वेदनया पिहितः = आविष्टः ; बुद्ध्या = विवेकेन ; परित्यज्यते = विहीयते ; निर्बुद्धिः = बुद्धिहीनः ; क्षयम् = नाशम् ; एति = गच्छति ; अहो = एतत् आश्चर्यद्योतकम् अव्ययम् ; निधनता = दरिद्रता ; सर्वापदाम्—सर्वासाम् आपदाम्=विपत्तीनाम् ; आस्पदम् = स्थानम् ॥१४॥

टिप्पणीः—यहाँ कारणमाला अलङ्कार है। जहाँ पहले बतलायी गयी वस्तु क्रमशः अपने से आगे आनेवाली का कारण होती है वहाँ कारणमाला नामक अलङ्कार होता है—'यथोत्तरं चेत् पूर्वस्यार्थस्य हेतुता तदा कारणमाला स्यात्' । काव्यप्रकाश ॥

इस श्लोक के छन्द का नाम शार्दूलविक्रीडित है,—लक्षण—"सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्" ॥ १४ ॥

निवासश्चिन्तायाः इति—

अन्वयः—(हि, दारिद्र्यम्, पुरुषस्य—इति गद्यभागेन अन्वयः), चिन्तायाः, निवासः, परपरिभवः, अपरम्, वैरम्, मित्राणाम्, जुगुप्सा, स्वजनजनविद्वेषकरणम्, च, कलत्रात्, परिभवः, (भवति, अतः) वनम्, गन्तुम्, बुद्धिः, भवति, च, हृदिस्थः, शोकाग्निः, न, दहति (किन्तु दरिद्रम्) सन्तापयति च ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—(हि = क्योंकि, दारिद्र्यम् = गरीबी, पुरुषस्य = पुरुष की), चिन्तायाः = चिन्ता का, निवासः = घर (है), परपरिभवः = दूसरों के द्वारा किये जाने वाले अनादर का कारण है, अपरम् = दूसरी, विलक्षण, वैरम् = शत्रुता (है); मित्राणाम् = मित्रों की, जुगुप्सा = घृणा है, स्वजनजनविद्वेषकरणम् = अपने भाई बन्धुओं तथा अन्य लोगों के द्वेष का कारण है, कलत्रात् =

स्त्रं के पास से अर्थात् स्त्री के द्वारा, परिभवः = तिरस्कार, (भवति = होता है, अतः = इसीलिये) वनम् = वन को, गन्तुम् = जाने के लिये, बुद्धिः = विचार, भवति = होता है, च = वन जाने की इच्छा में स्त्री का तिरस्कार कारण है, यह भाव इससे सूचित होता है, हृदिस्थः = हृदय में वर्तमान, शोकाग्निः = शोकरूपी आग, न = नहीं, दहति = जलाती है (किन्तु, दरिद्रम् = दरिद्रको) सन्तापयति = सन्तप्त करती है, च = यह सन्ताप की अधिकता को सूचित करता है ॥

अर्थः चारुदत्त–मित्र ! निर्धनता ही पुरुषों की–चिन्ता का घर [निवास-स्थान] है; दूसरों के द्वारा किये जाने वाले अनादर का कारण है; दूसरी (विलक्षण) शत्रुता है; मित्रों की घृणा तथा अपने भाई बन्धुओं एवं अन्य लोगों के द्वेषका कारण है। पत्नी के द्वारा भी (उसका) तिरस्कार होता है। अतः (दरिद्र व्यक्ति की) वन में चले जाने की इच्छा होती है। (कहाँ तक कहा जाय दरिद्र के) हृदय में वर्तमान शोकाग्नि एक बार ही जला नहीं डालती किन्तु सन्तप्त करती है (अर्थात् धीरे-धीरे जला-जलाकर मारती है) ॥ १५ ॥

टीका— दारिद्र्यम् हि पुरुषस्य [इति गद्यभागेन अन्वयः] चिन्तायाः = कथं मम निर्वाहः स्यात् ? इत्येवम् रूपायाः ; निवासः = आश्रयः ; परेषाम् = अन्येषाम् परिभवः = तिरस्कारस्थानमिति भावः। अथवा परश्चासौ परिभवश्चेति कर्मधारयः। अपरम् = अन्यत् अथवा विलक्षणम् ; वैरम् = शत्रुभाव, शत्रुवत् दुःखकारणतया इति ज्ञेयम् ; मित्राणाम् = सुहृदाम् ; जुगुप्सा = घृणा, तत्कारणमिति भावः ; स्वजनानाम् = बन्धूनाम् जनानाम् = सामान्यलोकानाम् च विद्वेषस्य = शत्रुभावस्य करणम् = हेतुः च भवति। कलत्रात् = भार्यायाः ; परिभवः = अनादरः ; भवति दरिद्रस्य इति शेषः। अतः तस्य वनम् = अरण्यम् ; गन्तुम् = यातुम् ; बुद्धिः = मतिः ; भवति = जायते ; च = चकारो हेतौ। वनगमने कलत्र-परिभवो हेतुः इति पृथ्वीधर। हृदिस्थः = हृदये वर्तमानः ; शोकस्य = सन्तापस्य ; अग्निः = वह्नि ; न दहति = न भस्मीकरोति ; किन्तु सन्तापयति = सन्तापम् जनयति, दरिद्रमिति शेषः ; चकारः सन्तापस्य दुःसहनीयत्वद्योतनार्थम् ॥१५॥

टिप्पणी— जुगुप्सा=निन्दा, झिड़की, नापसन्दगी, घृणा ; √गुप् + सन् + अ + टाप्। यहाँ दरिद्रता का 'चिन्ता का निवास' इत्यादि अनेक प्रकार से उल्लेख होने के कारण उल्लेख अलङ्कार है। 'शोकाग्नि' में रूपक है। अग्निरूप कारण के रहने पर भी दाह रूप कार्य नहीं होता इस कथन में विशेषोक्ति है। इन अलङ्कारों में परस्पर अङ्गाङ्गिभाव होने के कारण सङ्कर अलङ्कार इस श्लोक में है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—शिखरिणी। इसका लक्षण इस प्रकार है—

'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' ॥१५॥

तद्वयस्य ! कृतो मया गृहदेवताभ्यो बलिः। गच्छ, त्वमपि चतुष्पथे मातृभ्यो बलिमुपहर।

विदूषकः - ण गमिस्सं। [न गमिष्यामि।]

चारुदत्तः—किमर्थम् ?।

विदूषकः - जदो एव्वं पूइज्जंता वि देवणा ण दे पसीदंति, ता को गुणो देवेसु अच्चिदेसु ?। [यत एवं पूज्यमाना अपि देवता न ते प्रसीदन्ति, तत्को गुणो देवेष्वर्चितेषु ?।]

शब्दार्थः— गृहदेवताभ्यः गृह के स्वामी देवताओं के लिए, बलिः = पूजा, चतुष्पथे = चौराहे पर, मातृभ्यः = मातृ–देवियों, मातृकाओं के लिए, उपहर = चढ़ाओ, प्रदान करो। गुणः = लाभ। नित्यः = अवश्य करने योग्य, विधिः = कर्म।

अर्थः—तो मित्र ! मैंने गृह-देवताओंको बलि (पूजा) दे दी है। जाओ तुम भी चौराहे पर मातृ-देवियों को बलि (पूजा) चढ़ा आओ।

विदूषक— मैं नहीं जाऊँगा।

चारुदत्त— किस लिए ?

विदूषक— इस प्रकार (विधिवत्) पूजा करने पर भी देवता तुम्हारे ऊपर प्रसन्न नहीं होते तो उनकी (देवताओं की) पूजा से क्या लाभ (पूजित देवों में क्या गुण है) ?

टीका—गृहदेवताभ्यः = गृहाधिष्ठातृभ्यः देवेभ्यः ; बलिः = पूजा ; चत्वारः पन्थाः समाहृताः यत्र तत् चतुष्पथम् तस्मिन् चतुष्पथे = शृङ्गाटके [शृङ्गाटक-चतुष्पथे' इत्यमरः] ; मातृभ्यः = ब्राह्मीप्रभृतिभ्यः ; ताश्च 'ब्राह्मी माहेश्वरी चैन्द्री वाराही वैष्णवी तथा। कौमारी चैव चामुण्डा चर्च्चिकेत्यष्टमातरः।' उपहर=प्रदेहि। गुणः = लाभः। नित्यः = अवश्यकर्त्तव्यः, "यदकरणे प्रत्यवायः स्यात् स नित्यः" इति शास्त्रवचनात् ; विधिः = कर्म॥

टिप्पणी—नित्यः अयम् विधिः = यह नित्य कर्म है। धार्मिक कृत्य [विधि] तीन प्रकार के हैं। नित्य = सन्ध्यावन्दन आदि। नैमित्तिक = किसी कारण से होने वाले कार्य--'जातेष्टि' आदि। काम्य–स्वर्ग दिलानेवाले 'ज्योतिष्टोम' आदि याग'।

चारुदत्तः—वयस्य ! मा मैवम्, गृहस्थस्य नित्योऽयं विधिः :

तपसा मनसा वाग्भिः पूजिता बलिकर्मभिः ।
तुष्यन्ति शमिनां नित्यं देवताः किं विचारितैः ? ॥ १६ ॥

तद्गच्छ, मातृभ्यो बलिमुपहर ।

विदूषकः—भो ! ण गमिस्सं ; अण्णो को वि पउंजीअदु । मम उण बम्हणस्स सव्वं जेव्व विपरीदं परिणमदि । आदंसगदा विअ छाआ वामादो दक्खिणा दक्खिणादो वामा । अण्णं च एदाए पदोसवेलाए इध राअमग्गे गणिआ विडा चेडा राअवल्लहा अ पुरिसा संचरंति । ता मंडूअलुद्धस्स कालसप्पस्स

तपसा मनसा इति—

अन्वयः—तपसा, मनसा, वाग्भिः, बलिकर्मभिः, पूजिताः, देवताः, शमिनाम्, नित्यम्, तुष्यन्ति, विचारितैः, किम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—तपसा = तपस्यासे, मनसा = मनसे, वाग्भिः = वचनों से, स्तुतियों से, बलिकर्मभिः = पूजा के कार्यों से, पूजिताः = पूजा किये गये, देवताः = देव गण, शमिनाम् = शान्तचित्तवाले व्यक्तियों के (ऊपर), नित्यम् = सर्वदा, तुष्यन्ति = सन्तुष्ट रहते हैं, विचारितैः = विचारों से, तर्क-वितर्क करने से, किम् = क्या लाभ ? ।

अर्थः—चारुदत्त—मित्र ! ऐसा मत कहो । गृहस्थाश्रम में रहने वाले व्यक्तियों का यह (देवों की पूजा करना) नित्य-कर्म है ।

तप, मन, वचनों (स्तुतियों) एवं बलिकर्मों (पूजा में समर्पित फल, अक्षत आदि सामानों) के द्वारा पूजित देवता शान्त चित्तवाले व्यक्तियों से सर्वदा सन्तुष्ट रहते हैं । (इसमें) तर्क-वितर्क करने से क्या लाभ ? ॥ १६ ॥

तो जाओ, मातृ-देवियों को बलि (पूजा) समर्पित कर दो ।

टीका:—तपसा=तपस्यया; मनसा=चेतसा ध्यानेन वा; वाग्भिः = स्तुतिपाठादिरूपैः वचनैः; बलिकर्मभिः=पूजाकार्यैः; पूजिताः=अर्च्चिताः; देवताः=देवाः; शमः एषां विद्यते इति शमिनः तेषां शमिनाम्=शान्तचित्तानाम्; नित्यम्=सततम्; तुष्यन्ति = सन्तुष्टाः भवन्ति; विचारितैः=विचारणैः तर्कवितर्कैः वा; किं फलम् ? अफलं निष्फलं वा इदं देवकर्म अत्र वितर्कः न कर्त्तव्यः इति तात्पर्यम् ॥ १६ ॥

टिप्पणीः—शमिनाम् = सौम्य, शान्त लोगों के; शम + इनि + षष्ठी बहु० । इस श्लोक में अनुष्टुप् छन्द है । इसका लक्षण पहले बतलाया जा चुका है ॥ १६ ॥

मूसिओ विअ अहिमुहावत्थिदो वज्झो दाणिं भविस्सं। तुमं इध उवविट्ठो किं करिस्ससि ? [भोः ! न गमिष्यामि ; अन्यः कोऽपि प्रयुज्यताम्। मम पुनर्ब्राह्मणस्य सर्वमेव विपरीतं परिणमति; आदर्शगतेव छाया वामतो दक्षिणा दक्षिणतो वामा। अन्यच्चैतस्यां प्रदोषवेलायामिह राजमार्गे गणिका विटाश्चेटा राजवल्लभाश्च पुरुषाः संचरन्ति। तस्मान्मण्डूकलुब्धस्य कालसर्पस्य मूषिक इवाभिमुखापतितो वध्य इदानीं भविष्यामि। त्वमिह उपविष्टः किं करिष्यसि ?।]

चारुदत्तः—भवतु, तिष्ठ तावत् ; अहं समाधि निर्वर्तयामि।

(नेपथ्ये)

तिष्ठ वसन्तसेने ! तिष्ठ।

(ततः प्रविशति विटशकारचेटैरनुगम्यमाना वसन्तसेना)

शब्दार्थः– प्रयुज्यताम्=नियुक्त किया जाय, आदर्शगता = दर्पण में पड़ी हुई। प्रदोषवेलायाम्=सायंकाल के समय में, गणिका=वेश्या, विटाः=विट, दुश्चरित्र युवकों के साथी, चेटा =सेवक, राजवल्लभाः=राजा के प्रिय। मण्डूकलुब्धस्य=मेढक के लोभी, कालसर्पस्य=काले साँप के, अभिमुखापतितः=सामने आये हुए, मूसिक इव = चूहे की तरह, वध्यः = शिकार, भविष्यामि =हो जाऊँगा। निर्वर्तयामि= समाप्त करता हूँ ॥

अर्थः – विदूषक—जी, मैं नहीं जाऊँगा। किसी दूसरे व्यक्तिको भेज दो। जिस प्रकार दर्पण (शीशा) में पड़ने वाली परछांई (प्रतिबिम्ब) बायें से दाहिनी ओर तथा दाँये से बाँई ओर होती है (अर्थात् जिस प्रकार शीशे में दाहिना भाग वाम और वाम भाग दाहिना दिखाई देता है); उसी प्रकार मुझ (बेचारे) ब्राह्मण का सब कुछ विपरीत (उल्टा) ही फल देता है। और दूसरी बात यह है कि इस सन्ध्या-समय में यहाँ सड़क पर वेश्यायें, विट, चेट और राजा के स्नेही जन (राजश्याल) घूम रहे हैं। तो मैं, मेंढक के लोभी काले सर्प के सामने आये हुए चूहे के समान, इस समय बध्य हो जाऊँगा (अर्थात् जान से मारा जाऊँगा)। तुम यहाँ बैठे हुए क्या करोगे ?।

चारुदत्त—अच्छा, तब तक ठहरो। मैं समाधि (सन्ध्या) समाप्त करता हूँ।

(नेपथ्य में)

ठहर, वसन्तसेने ? ठहर।

(इसके बाद विट, शकार तथा चेट के द्वारा पीछा की जाती हुई 'वसन्तसेना' प्रवेश करती है)

विटः—वसन्तसेने ! तिष्ठ तिष्ठ,

किं त्वं भयेन परिवर्तितसौकुमार्या
नृत्यप्रयोगविशदौ चरणौ क्षिपन्ती ।
उद्विग्नचञ्चलकटाक्षविसृष्टदृष्टि-
र्व्याधानुसारचकिता हरिणीव यासि ? ॥ १७ ॥

टीका:—प्रयुज्यताम् = नियुज्यताम्; आदर्शे=दर्पणे गता=पतिता; प्रदोषवेलायाम्=सान्ध्ये काले; गणिका = वेश्या; वेश्यानागरिकयोः सन्देशं परस्परं विटन्ति इति—विटाः = वेश्यातत्कामुकयोः परस्परं सन्देशवाहकाः; चेटाः = हीनजातीयाः सेवकाः; राजवल्लभाः = राज्ञः प्रियाः । "एतस्यां प्रदोषवेलायामिह राजमार्गे गणिका विटाश्चेटाः राजवल्लभाश्च पुरुषाः सञ्चरन्ति" इत्यनेन विटादीनां प्रवेशः सूचितः, "नासूचितस्य प्रवेशः" इति शास्त्रवचनात् । तत्रापि "गणिका" इति कथनेन वसन्तसेनायाः 'राजवल्लभाः' इत्यनेन शकारस्य च प्रवेशः ज्ञेयः । मण्डूकलुब्धस्य = मण्डूकभक्षणाभिलाषिणः; कालसर्पस्य = कृष्णसर्पस्य; अभिमुखे = सम्मुखे आपतितः=आगतः; मूषिकः यथा वध्यो भवति तथाऽहं भविष्यामि । समाधिम् = सन्ध्याम्; निर्वर्तयामि = सम्पादयामि ॥

टिप्पणी :—विट—नाटक में एक व्यक्ति जो कि धूर्त, किसी कला में निपुण, वेश बनाने में प्रवीण, बोलने में चतुर तथा विनोद-प्रिय होता है तथा गोष्ठी में बहुत पसन्द किया जाता है । यह वेश्या तथा कामुक व्यक्ति के परस्पर सन्देशों को एक दूसरे के पास पहुँचाता है ॥

चेट - सेवक, शृङ्गार में सहायक व्यक्ति । विट एवं चेट नायक अथवा प्रतिनायक के शृङ्गार में सहायक होते हैं ॥

किं त्वं भयेन इति—

अन्वय :—भयेन, परिवर्तितसौकुमार्या, नृत्यप्रयोगविशदौ, चरणौ, क्षिपन्ती, उद्विग्नचञ्चलकटाक्षविसृष्टदृष्टिः, त्वम्, व्याधानुसारचकिता, हरिणी, इव, किम्, यासि ? ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—भयेन = भय के कारण, परिवर्तितसौकुमार्या = सुकुमारता को छोड़देनेवाली अर्थात् सुकुमार मन्दगतिको त्याग देनेवाली, नृत्यप्रयोगविशदौ=नाचने की कला में निपुण, चरणौ = पैरों को, क्षिपन्ती = जल्दी जल्दी आगे बढ़ाती हुई, उद्विग्नचञ्चलकटाक्षविसृष्टदृष्टिः = भयविह्वल एवं चञ्चलकटाक्षों से देखती हुयी, त्वम् = तुम, व्याधानुसारचकिता = शिकारी के द्वारा पीछा करने से चकित हुयी,

शकारः चिश्ट वशंतशेणिए ! चिश्ट,

कि याशि धावशि पलाअशि पक्खलंती
वाशू ! पशीद ण मलिस्सशि चिश्ट दाव ।
कामेण दज्झदि हु मे हडके तवश्शी
अंगाललाशिपडिदे विअ मंशखंडे ॥ १८ ॥

[तिष्ठ वसन्तसेनिके ! तिष्ठ,

कि यासि धावसि पलायसे प्रस्खलन्ती
वासु ! प्रसीद न मरिष्यसि तिष्ठ तावत् ।

हरिणी इव = हिरनी के समान, किम् = क्यों, यासि = जा रही हो, भाग रही हो ? ॥

अर्थः—विट—वसन्तसेने ! ठहर, ठहर,

भय के कारण सुकुमार मन्दगति को त्याग देने वाली, नृत्य-कला में निपुण चरणों को जल्दी-जल्दी आगे बढ़ाती हुई, भय-विह्वल एवं चञ्चल कटाक्षों से (इधर-उधर) दृष्टिपात करती हुई तुम, शिकारी के द्वारा पीछा करने से चकित हुयी हरिणी के समान, क्यों जा रही हो ? ॥ १७ ॥

टीका—हे वसन्तसेने ! इति गद्यस्थभागेन अन्वयः । भयेन = भीत्या; परिवर्तितम् = द्रुततरगमनाय अन्यथाकृतम् सौकुमार्यम् = गमनसुकुमारता मन्दगमनमिति यावत् , यया सा; नृत्यप्रयोगे = नर्तनकार्ये विशदौ = निर्दोषौ विमलौ वा अथवा नृत्यप्रयोगेन = नृत्याभ्यासेन विशदौ = झटिति प्रसरणशीलौ दक्षौ वा; चरणौ = पादौ; क्षिपन्ती = द्रुतम् इतस्ततः पातयन्ती; उद्विग्नाः = त्रस्ताः अतएव चञ्चलाः = विलोलाः कटाक्षाः = अपाङ्गदृष्टयः यस्मिन् तत् यथा स्यात् तथा (कटाक्षोऽपाङ्गदर्शने, इत्यमरः ।) क्रियाविशेषणम् , विसृष्टा = प्रेरिता दृष्टिः = नेत्रं यया सा; अथवा = उद्विग्नः अत एव चञ्चलश्च असौ कटाक्षश्च (कर्मधारयः) तेन विसृष्टा दृष्टिः यया सा ; अथवा उद्विग्ना चाऽसौ चञ्चला च कटाक्षविसृष्टा च दृष्टिः यस्याः सा ; त्वम् = सुकोमलाङ्गी वेश्या ; व्याधस्य = लुब्धकस्य अनुसारेण = अनुपतनेन पश्चाद्धावनेन वा चकिता = भयविह्वला ; हरिणी = मृगी ; इव = यथा ; किम् = कस्मात् ; यासि = गच्छसि, पलायसे ? इत्यर्थः ॥ १७ ॥

टिप्पणीः—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं वसन्त-तिलका छन्द है । इस छन्द का लक्षण पहले बतलाया जा चुका है ॥ १७ ॥

कि यासि धावसि इति—

अन्वयः—(हे वसन्तसेने ! इति गद्यस्थेन अन्वयः) प्रस्खलन्ती, किम्,

कामेन दह्यते खलु मे हृदयं तपस्वि
अङ्गारराशिपतितमिव मांसखण्डम् ॥

यासि, धावसि, पलायसे, हे वासु ! प्रसीद, न मरिष्यसि, तावत्, तिष्ठ, अङ्गारराशिपतितम्, मांसखण्डम्, इव, तपस्वि, मे, हृदयम्, कामेन, खलु, दह्यते ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—हे वसन्तसेने ! प्रस्खलन्ती = लड़खड़ाती हुई, किम् = क्यों, यासि = जा रही हो, धावसि = दौड़ रही हो, पलायसे = भागरही हो, हे वासु = हे वाले ! प्रसीद = प्रसन्न होओ, न = नहीं, मरिष्यसि = मरोगी, तावत् = तनिक, तिष्ठ = रुको, अङ्गारराशिपतितम् = अङ्गारों के समूह पर गिरे हुए, मांसखण्डम् = मांस के टुकड़े (की), इव = भाँति, तपस्वि = बेचारा, मे = मेरा, हृदयम् = हृदय, कामेन = कामदेव के द्वारा (कामाग्नि के द्वारा), खलु = निश्चय ही, दह्यते = जलाया जा रहा है ॥

अर्थः—शकार— ठहरो, वसन्तसेने ! ठहरो,

लड़खड़ाती हुयी क्यों जा रही हो, दौड़ रही हो, भाग रही हो । वाले ! प्रसन्न होओ, मरोगी नहीं, तनिक ठहरो । अङ्गारों के समूह पर गिरे हुए मांस के टुकड़े की भाँति मेरा बेचारा हृदय कामाग्नि के द्वारा जलाया जा रहा है ॥१८॥

टीकाः—शकारः राष्ट्रियः, 'शकारो राष्ट्रियः स्मृतः' इति वचनात् । तस्य लक्षणन्तु—मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्यसंयुक्तः । सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः ।

हे वसन्तसेने ! प्रस्खलन्ती = प्रस्खलनं कुर्वती ; किम् = कथम् ; यासि, धावसि, पलायसे—एषां पदानां समानार्थत्वेऽपि शकारवचनात् पौनरुक्त्यं न दोषास्पदम्, तदुक्तम्—"अपार्थक्रमं व्यर्थं पुनरुक्तं हतोपमम् । लोकन्यायविरुद्धञ्च शकारवचनं विदुः ॥" हे वासु = हे वाले ! प्रसीद = प्रसन्ना भव ; न मरिष्यसि= मृत्युम् न गमिष्यसि ; तावत् = इदम् तावत् पदम् वाक्यालङ्कारे ; तिष्ठ = स्थिता भव ; अङ्गारराशौ = अग्निसमूहे पतितम् = भ्रष्टम्, मांसखण्डम् = पललपिण्डम् ; इव = यथा ; तपस्वि = वराकम् अनुकम्पार्हं वा ; मे = मम ; हृदयम् कामेन = मदनेन कामाग्निना इति भावः ; खलु = अवश्यम् ; दह्यते = सन्तप्यते ॥ १८ ॥

टिप्पणीः—शकार— लक्षण ग्रन्थों के अनुसार राजा का साला रखैल स्त्री का भाई जो खराब कुल में उत्पन्न, मूर्ख तथा अभिमानी होता है वही शकार कहलाता है । वह शकारी (प्राकृत) बोली बोलता है, जिसमें कि 'श' अक्षर (शकार) की अधिकता होती है इसी से वह शकार कहलाता है — "शकारप्रायभाषित्वाच्छकारो राष्ट्रियः स्मृतः ।"

चेटः—अज्जुके ! चिट्ठ, चिट्ठ,

उत्ताशिता गच्छशि अंतिका मे शंपुण्णपच्छा विअ गिम्हमोरी ।
ओवग्गदी शामिअभशटके मे वण्णे गडे कुक्कडशावके व्व ॥ १९ ॥

[आर्ये ! तिष्ठ तिष्ठ,

उत्त्रासिता गच्छस्यन्तिकान्मम संपूर्णपक्षेव ग्रीष्ममयूरी ।
अववल्गति स्वामिभट्टारको मम वने गतः कुक्कुटशावक इव ॥]

किं यासि:०—शकार की भाषा की यह विशेषता है कि वह पुनरुक्ति तथा व्यर्थ प्रलापों से भरी रहती है ।

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है । छन्द का लक्षण पहले कहा जा चुका है ॥ १८ ॥

उत्त्रासिता गच्छसि इति—

अन्वयः—(त्वं) मम, अन्तिकात्, सम्पूर्णपक्षा, ग्रीष्ममयूरी, इव, उत्त्रासिता, गच्छसि, मम, स्वामिभट्टारकः, वने, गतः, कुक्कुटशावकः, इव, अववल्गति ॥ १९ ॥

शब्दार्थः—(त्वम् = तुम ', मम = मेरे, अन्तिकात् = पास से, सम्पूर्णपक्षा = सम्पूर्ण पंखों वाली, ग्रीष्ममयूरी इव = ग्रीष्मकालीन मयूरी के समान, उत्त्रासिता = भयभीत हुयी, गच्छसि = जा रही हो, मम = मेरा, स्वामिभट्टारकः = श्रेष्ठ स्वामी (शकार), वने = जङ्गल में, गतः गए हुए, कुक्कुटशावक इव = मुर्गे के बच्चे के समान, अववल्गति = (तुम्हारे पीछे पीछे) उतावली के साथ आ रहा है ॥

अर्थः—चेट – आर्ये ! ठहरो, ठहरो,

(तुम) मेरे पास से; भयभीत हुयी सम्पूर्ण पंखों वाली ग्रीष्म काल की मयूरी के समान जा रही हो मेरा स्वामी (शकार) वन में गये हुए मुर्गे के बच्चे के समान (तुम्हारे पीछे-पीछे) उतावली के साथ आ रहा है ॥ १९ ॥

टीका:— त्वं मम = मे ; अन्तिकात् = समीपात् ; सम्पूर्णपच्छा = समस्तपुच्छयुक्ता ; ग्रीष्ममयूरी इव = ग्रीष्मकालीनशिखिनीव ; उत्त्रासिता = भयविह्वला ; गच्छसि = व्रजसि ; मम = चेटस्य ; स्वामी चासौ भट्टारकश्च स्वामिभट्टारकः = स्वामिश्रेष्ठः शकारः ; वने = अरण्ये ; गतः = सम्प्राप्तः ; कुक्कुटस्य शावकः = शिशुः इव ; अववल्गति = ससंभ्रममागच्छति ॥ १९ ॥

विटः—वसन्तसेने ! तिष्ठ तिष्ठ

किं यासि बालकदलीव विकम्पमाना
रक्तांशुकं पवनलोलदशं वहन्ती ।
रक्तोत्पलप्रकरकुड्मलमुत्सृजन्ती
टङ्कैर्मनःशिलगुहेव विदार्यमाणा ॥ २० ॥

टिप्पणी :—चेटका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

कलहप्रियो बहुकथो विरूपो गन्धसेवकः ।
मान्यामान्यविशेषज्ञश्चेटोऽप्येवंविधः स्मृतः ॥

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं इन्द्रवज्रा छन्द है । छन्द का लक्षण इस प्रकार है :—

"स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः ।" १६ ॥

किं यासि इति—

अन्वय :–हे वसन्तसेने ! बालकदली, इव, विकम्पमाना, पवनलोलदशम्, रक्तांशुकम्, वहन्ती, टङ्कैः, विदार्यमाणा, मनःशिलगुहा, इव, रक्तोत्पलप्रकर-कुड्मलम्, उत्सृजन्ती, किम्, यासि ? ॥ २० ॥

शब्दार्थ :—हे वसन्तसेने ! बालकदली = नवीन केला के वृक्ष, इव = जैसी, विकम्पमाना = काँपती हुई, पवनलोलदशम् = वायु के द्वारा चञ्चल आँचल वाले, रक्तांशुकम् = लाल रेशमी वस्त्र को, वहन्ती = धारण करती हुई, टङ्कैः = टाँकियों के द्वारा, विदार्यमाणा = काटी जाती हुई, मनःशिलगुहा = मनसिल की कन्दरा (के), इव = समान, रक्तोत्पलप्रकरकुड्मलम् = लाल कमलों की कलियों को, उत्सृजन्ती = बिखेरती हुई, किम् = क्यों, यासि = जा रही हो ? ॥

अर्थः—विट—वसन्तसेने ! रुको, रुको ।

नवीन केला के वृक्ष के समान (भय से) काँपती हुयी, वायु के द्वारा चञ्चल अञ्चल वाले लाल रेशमी वस्त्र को धारण करती हुई, टाँकी द्वारा काटी जाती हुई मनःशिला (मनसिल) की कन्दरा (से निकलने वाली चिनगारियों) के समान (केशों में गुँथे हुए) रक्त-कमलों की कलियों को (वेग से दौड़ने के कारण) बिखेरती हुयी क्यों जा रही हो ? ॥ २० ॥

टीकाः—हे वसन्तसेने ! त्वं बालकदली = नूतनकदलीतरुः इव ; विकम्पमाना = कम्पिता ; पवनेन = वायुना तीव्रसञ्चरणवेगोत्थवायुना वा लोला = चञ्चला दशा = अञ्चलभागः यस्य तत् ; रक्तांशुकम् = रक्ताभं वस्त्रम्;

शकारः—चिश्ट वशंतशेणिए ! चिश्ट,

मम मश्रणमणंगं मम्मथं वड्ढश्रंती
णिशि श्र शश्रणके मे णिद्दश्रं श्राक्खिवंती ।
पशलशि भश्रभीदा पक्खलंती खलंती
मम वशमणुजादा लावणश्शेव कुंती ॥ २१ ॥

[तिष्ठ वसन्तसेने ! तिष्ठ,—

मम मदनमनङ्गं मन्मथं वर्धयन्ती
निशि च शयनके मम निद्रामाक्षिपन्ती ।
प्रसरसि भयभीता प्रस्खलन्ती स्खलन्ती
मम वशमनुयाता रावणस्येव कुन्ती ॥]

वहन्ती = धारयन्ती; टङ्कैः = पाषाणदारणैः ['टङ्कः पाषाणदारणः' इत्यमरः]; विदार्यमाणा = प्रस्फोट्यमाना भिद्यमाना वा, विदारणकाले हि निर्मला दीप्तिः प्रसरतीति भावः; मनःशिलानाम् = रक्तवर्णधातुविशेषाणाम् गुहा = खनिः इव; मनःशिलाशब्दः स्त्रीलिङ्गे भाव्यः, किन्तु महाभारते 'मनःशिल' शब्दोऽपि दृश्यते इति तथा प्रयुक्तः,- इति पृथ्वीधरः। रक्तोत्पलानाम् = रक्तकमलानाम् प्रकरः = समूहः, तन्निर्मितमालेति यावत् तस्य कुड्मलम् = एकैकं मुकुलम्, उत्सृजन्ती = गमनवेगेन पातयन्ती; किम् = कथम्; यासि = गच्छसि, पलायसे इति तात्पर्यम् ॥ २० ॥

टिप्पणीः—मनःशिलगुहा = मनसिल की कन्दरा (खान); 'मनः-शिला' शब्द स्त्रीलिङ्ग है, अतः 'मनःशिलागुहा' होना चाहिये। इस के लिये व्याख्याकारों ने विभिन्न समाधान दिये हैं, जिनमें सबसे अच्छा यह है कि 'मनः शिला' (स्त्री०) के समान 'मनःशिल' (पु०) शब्द भी है।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा तथा उपमा अलङ्कार एवं वसन्ततिलका छन्द है। छन्द का लक्षण पीछे लिखा जा चुका है ॥ २० ॥

मम मदनमनङ्गमिति—

अन्वयः—मम, मदनम्, अनङ्गम्, मन्मथम्, वर्धयन्ती, निशि, शयनके, च, मम, निद्राम्, आक्षिपन्ती, (त्वम्), भयभीता, प्रस्खलन्ती, स्खलन्ती, प्रसरसि, (किन्तु), रावणस्य, कुन्ती, इव, (त्वम्), मम, वशम्, अनुयाता ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—मम = मेरे, मदनम् अनङ्गम् मन्मथम् = काम को, वर्धयन्ती = बढ़ाती हुई, निशि = रात में, शयनके = बिस्तर पर, मम=मेरी, निद्राम् = नींद को,

विटः--वसन्तसेने !

किं त्वं पदैर्मम पदानि विशेषयन्ती
व्यालीव यासि पतगेन्द्रभयाभिभूता।
वेगादहं प्रविसृतः पवनं न रुन्ध्यां
त्वन्निग्रहे तु वरगात्रि ! न मे प्रयत्नः ॥ २२ ॥

आक्षिपन्ती = भङ्ग करती हुई, (त्वम् = तुम) भयभीता = डरी हुई, प्रस्खलन्ती स्खलन्ती = बार बार लड़खड़ाती हुई, प्रसरसि = भाग रही हो, (किन्तु = परन्तु), रावणस्य = रावण के (वश में), कुन्ती इव = कुन्ती की तरह, (त्वम् = तुम), मम = मेरे, वशम् = वशको (में), अनुयाता = आ गयी हो ॥

अर्थः—शकार—ठहरो, वसन्तसेने ! ठहरो,

मेरे मदन, अनङ्ग, मन्मथ (काम) को बढ़ाती हुई, और रात्रि में बिस्तर पर मेरी नींद को उचटाती हुई (तुम) भयभीत होकर बारम्बार लड़खड़ाती हुई भाग रही हो। (किन्तु तुम) उसी प्रकार मेरे वश में आ गयी हो जिस प्रकार रावण के वश में कुन्ती (आ गयी थी) ॥ २१ ॥

टीकाः—मम = शकारस्य ; मदनम् अनङ्गम् मन्मथम् = कामवेगमिति भावः ; वर्धयन्ती = दीपयन्ती ; निशि = रात्रौ ; शयनके = शय्यायाम् ; च मम = मे ; निद्राम् = शयनम् ; स्वचिन्तनेन ; आक्षिपन्ती=अपसारयन्ती ; त्वम् भयभीता= भयविह्वला, प्रस्खलन्ती स्खलन्ती = स्खलनम् कुर्वती ; प्रसरसि = पलायसे ; किन्तु रावणस्य = दशाननस्य ; कुन्तीव = अर्जुनमातेव ; त्वम् मम = पराक्रमी शकारस्येति भावः ; वशम् = अधिकारम् ; अनुयाता = आगता असीति शेषः ॥ २१ ॥

टिप्पणी :—शकार का वचन होने के कारण यह श्लोक पुनरुक्ति तथा निरर्थकता से पूर्ण है। 'रावणस्येव कुन्ती' इस वाक्य में हतोपमा है। इस श्लोक में प्रयुक्त मालिनी छन्द का लक्षण इस प्रकार है—

"ननमयययुतेयं, मालिनी भोगिलोकैः" २१ ॥

किं त्वं पदैर्मम इति—

अन्वय :—हे वसन्तसेने ! पतगेन्द्रभयाभिभूता, व्याली, इव, पदैः, मम पदानि, विशेषयन्ती, त्वम्, किम्, यासि ? वेगात्, प्रविसृतः, अहम्, पवनम्, न, रुन्ध्याम् ? हे वरगात्रि ! तु, त्वन्निग्रहे, मे, प्रयत्नः, न ॥ २२ ॥

शकारः—भावे भावे !

एशा णाणकमूशिकामकशिका मच्छाशिका लाशिका
णिण्णाशा कुलणाशिका अवशिका कामस्स मंजूशिका ।
एशा वेशवहू शुवेशणिलआ वेशंगणा वेशिआ
एशे शे दशणामके मयि कले अज्जावि मं णेच्छदि ॥ २३ ॥

शब्दार्थ :—हे वसन्तसेने ! पतगेन्द्रभयाभिभूता = पक्षिराज गरुड़ से डरी हुई, व्याली इव = साँपिन के समान, पदैः = (अपने) डगों से, मम = मेरे, पदानि = डगों को, विशेषयन्ती = अतिक्रान्त करती हुई, जीतती हुई, त्वम् = तुम, किम् = क्यों, यासि = जा रही हो ? वेगात् = वेग से, प्रविसृतः = दौड़ा हुआ, अहम् = मैं, पवनम् = वायुको, न = नहीं, रुन्ध्याम्=रोक सकता हूँ ? (काकु) अर्थात् रोक सकता हूँ । हे सुन्दरि ! तु=किन्तु, त्वन्निग्रहे = (जबरदस्ती) तुम्हें पकड़ने में, मे = मेरा, प्रयत्नः = प्रयत्न, न = नहीं है ।

अर्थः—विट—पक्षिराज गरुड़ से भयभीत हुई साँपिन के समान अपने डगों से मेरे डगों को अतिक्रान्त करती हुयी (अर्थात् अपने पैरों को मुझसे भी अधिक वेग से रखती हुयी) तुम क्यों जा रही हो ? वेग से दौड़ा हुआ मैं क्या (अत्यन्त तीव्रगामी) वायु को भी नहीं रोक सकता ? (अर्थात् अवश्य रोक सकता हूँ ।) किन्तु हे सुन्दरि ! मेरा प्रयत्न तुमको जबर्दस्ती रोकने का नहीं हैं (अर्थात् मैं जबर्दस्ती तुम्हें रोकना नहीं चाहता) ॥ २२ ॥

टीका :—हे वसन्तसेने ! पतगेन्द्रात् = गरुडात् यत् भयम् = भीतिः तेन अभिभूता = आक्रान्ता ; व्यालीव = सर्पिणीव ; पदैः = स्वपादप्रक्षेपैः ; मम = विटस्य ; पदानि = पादविक्षेपान् ; विशेषयन्ती = अतिशयाना ; त्वम् = वसन्तसेना; किम् = कस्मात् ; यासि = गच्छसि ; वेगात् = जवात् ; प्रविसृतः = प्रचलितः ; अहम्=विटः ; पवनम्=वायुम्, न रुन्ध्याम्=अतिक्रमितुं न शक्नुयाम् ?; अत्र नकारः काकौ, न रुन्ध्याम् अपितु रुन्ध्यामेव इत्यर्थः । निरुन्ध्याम् इति पाठान्तरं निरोद्धुं शक्नुयामित्यर्थः ; हे वरगात्रि ! वरम् = मनोहरम् अतिसुकोमलमित्यर्थः, गात्रम् = शरीरं यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ ; तु = किन्तु ; त्वन्निग्रहे = तव ग्रहणे ; मे = मम ; प्रयत्नः = प्रवृत्तिः, न=नास्ति ॥ २२ ॥

टिप्पणी :—इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं वसन्ततिलका छन्द है । छन्द का लक्षण पहले बतलाया जा चुका है ॥ २२ ॥

[भाव भाव !
एषा नाणकमोषिकामकशिका मत्स्याशिका लासिका
निर्नासा कुलनाशिका अवशिका कामस्य मञ्जूषिका।
एषा वेशवधूः सुवेशनिलया वेशाङ्गना वेशिका
एतान्यस्या दश नामकानि मया कृतान्यद्यापि मां नेच्छति ॥]

एषा नाणकमोषिकाम० इत्यादिः—

अन्वय :—एषा, नाणकमोषिकामकशिका, मत्स्याशिका, लासिका निर्नासा, कुलनासिका, अवशिका, कामस्य, मञ्जूषिका, एषा, वेशवधूः, सुवेशनिलया, वेशाङ्गना, वेशिका, एतानि, अस्याः, दश, नामकानि, मया, कृतानि, (किन्तु), अद्य, अपि, (इयम्) माम्, न, इच्छति ॥ २३ ॥

शब्दार्थ :—एषा = यह वसन्तसेना, नाणकमोषिकामकशिका = उत्तम रत्न आदि चुरानेवालों की कामाग्नि को शान्त करनेवाली, मत्स्याशिका = मछली खानेवाली, लासिका = नाचनेवाली, निर्नासा = नाक रहित (अर्थात् अप्रतिष्ठित= बेइज्जत), कुलनासिका = कुलको नष्ट करनेवाली, अवशिका = किसी के वश में न होने वाली, कामस्य = काम की, मञ्जूषिका = पिटारी, (है), एषा = यह (वसन्तसेना), वेशवधूः = वेश्यागामियों की स्त्री, सुवेशनिलया = सुन्दर वेश्यालय में निवास करनेवाली, वेश्याङ्गना = वेश्यालय की कामिनी, वेशिका = वेश्या (है), एतानि = ये, अस्याः = इसके, दश = दश, नामकानि = नाम, मया = मेरे द्वारा, कृतानि = किए गये हैं–रक्खे गये हैं, (किन्तु), अद्य = आज, अपि = भी, (इयम् = यह), माम् = मुझको, न = नहीं, इच्छति = चाहती है ॥

अर्थ :—**शकार**—महानुभाव ! महानुभाव !

उत्तम रत्न आदि चुराने वालों की कामाग्नि को शान्त करने वाली, मछली खाने वाली, नर्तकी, नासिकाहीन (अर्थात् अप्रतिष्ठित = बेइज्जत), कुल को नष्ट करने वाली, किसी के वश में न होनेवाली, काम की पिटारी, वेश्यागामियों की स्त्री, सुन्दर वेश्यालय में निवास करने वाली, वेश्यालय की कामिनी, वेश्या—इस प्रकार इसके ये दश नाम मैंने रक्खें हैं। फिर भी (अब भी) यह मुझे नहीं चाहती है ॥ २३ ॥

टीका :—भाव ! गद्यभागे आदरसूचकं सम्बोधनपदम्। उक्तञ्च—'सेनापतिरमात्यश्च श्यालो भावेति भाष्यते।' एषा= वसन्तसेना, नाणकानि = बहुमूल्यरत्नानि शिवाङ्कानि टङ्कादिवित्तानि वा मुष्णन्ति = हरन्ति इति

विटः—

प्रसरसि भयविक्लवा किमर्थं प्रचलितकुण्डलघृष्टगण्डपार्श्वा ।
विटजननखघट्टितेव वीणा जलधरगर्जितभीतसारसीव ॥२४॥

नाणकमोषिणः तेषां कामस्य = मदनस्य कशिका = कशा, तस्कराणाम् कामस्य उद्दीपिका इत्यर्थः, उक्तञ्च—"तस्कराः पण्डका मूर्खाः सुखप्राप्तधनास्तथा । लिङ्गिनश्छन्नकामाद्या आसां प्रायेण वल्लभाः ॥" मत्स्याशिका = मत्स्यभोजिनी, लासिका = नर्तकी, निर्नासा = निम्ननासा (प्रतिष्ठारहिता इतिभावः) केचन निर्नाशा इति पदं स्वीकृत्य निश्चयेन नाशः = ध्वंसो यस्याः यया वा सा, ध्वंसकारिणी इति अर्थं कुर्वन्ति; कुलस्य = सद्वंशस्य नाशिका = नाशिनी पातित्यजननात् । अवशिका = अनायत्ता, अवशीभूता, धनदानेनापि कस्यापि अधीना न भवति । कामस्य = मदनस्य, मञ्जूषिका = पेटिका, कन्दर्पभाजनम् इत्यर्थः । एषा = वसन्तसेना, वेशस्य = वेश्याजनाश्रयस्य जनस्य ('वेशो वेश्याजनाश्रयः' इत्यमरः) बधूः = जाया सम्भोगाश्रयभावात् । सुवेशनिलया = शोभनानां वेशानाम् = अलङ्काराणां परिधानानां वा निलयः = आश्रयः यस्यां सा अथवा सुवेशः = सुन्दरः वेश्यालयः एव निलयः = आवासस्थानं यस्याः सा । वेशस्य=वेश्यालयस्य अङ्गना = उत्तमा स्त्री; वेशिका-वेशः अस्याः अस्ति इति वेशिका = वेशशालिनी । एतानि = पूर्वोक्तानि, अस्याः = वसन्तसेनायाः, दश = दशसंख्याकानि, नामकानि = नामानि, मया = शकारेण, कृतानि = विहितानि, किन्तु, अद्य = अधुना अपि इयं माम् = स्वभक्तं राजश्यालकम्, न इच्छति = वाञ्छति । देवाः अपि बहूनां नाम्नाम् उच्चारणे प्रसन्नाः= भवन्ति परञ्चेयं न प्रसीदतीति तात्पर्यम् ॥ २३ ॥

टिप्पणीः—निर्नासा—(निर्+नासा) यहाँ पर 'निर्' अल्पता का बोधक है, नीचीनाक वाली । इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है । लक्षण पहले लिखा जा चुका है ॥ २३ ॥

प्रसरसि भयविक्लवा इति—

अन्वयः—विटजननखघट्टिता, वीणा, इव, प्रचलितकुण्डलघृष्टगण्डपार्श्वा, (त्वम्), जलधरगर्जितभीतसारसी, इव, भयविक्लवा, (सती) किमर्थम्, प्रसरसि ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—विटजननखघट्टिता = विट लोगों के नख से रगड़ी गयी, वीणा इव = वीणा के समान, प्रचलितकुण्डलघृष्टगण्डपार्श्वा = हिलने वाले कुण्डलों से रगड़ खाये हुए कपोलों वाली, (त्वम् = तुम), जलधरगर्जित-

शकारः—

झाणज्झणंतबहुभूशणशद्दमिश्शं
किं दोव्वदी विअ पलाअशि लामभीदा ?।
एशे हलामि शहश त्ति जधा हणूमे
विश्शावशुश्श बहिणिं विअ तं शुभद्दं ॥ २५ ॥

[झणज्झणमिति बहुभूषणशब्दमिश्रं किं द्रौपदीव पलायसे रामभीता ? ।
एष हरामि सहसेति यथा हनूमान्विश्वावसोर्भगिनीमिव तां सुभद्राम् ॥]

भीतसारसी = बादलों के गरजने से भयभीत सारसी, इव = जैसी, भयविक्लवा = भयभीत, (सती = होती हुई), किमर्थम् = किसलिये, प्रसरसि = भाग रही हो ।।

अर्थः-विट—विट लोगों के नख से घृष्ट (घसी गयी, रगड़ी गयी) वीणा के समान (भागने के कारण) हिलने वाले कुण्डलों (के बारम्बार स्पर्श) से घृष्ट (रगड़ खाये हुए) कपोलों वाली तुम, बादलों के गर्जन से भयभीत सारसी की भाँति, भयातुर होकर किस लिये भागी जा रही हो ।। २४ ।।

टीकाः—विटजनानाम्=विलासिजनानाम् नखैः = अङ्गुल्यग्रभागैः घट्टिता = घर्षिता सार्यमाणा वा ; वीणा इव ; प्रचलिते = तीव्रगमनात् चञ्चले ये कुण्डले = कर्णाभूषणे ताभ्यां घृष्टौ = प्राप्तसंघर्षौ गण्डयोः = कपोलयोः पार्श्वौ = भागौ यस्याः सा ; त्वम् ; जलधराणाम् = मेघानाम् गर्जितेन = गर्जनेन भीता=विक्लवा सारसीव = सारसी पक्षिणीव ; भयेन = भीत्या विक्लवा = व्याकुला ; सती ; किमर्थम् = किन्निमित्तम् ; प्रसरसि = शीघ्रम् गच्छसि ।। २४ ।।

टिप्पणीः—यहाँ पर मालोपमा अलङ्कार एवं पुष्पिताग्रा छन्द है । छन्द का लक्षण इस प्रकार है—

"अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि तु न-जौ-ज-र-गाश्च पुष्पिताग्रा" ।।२४।।

झणज्झणमिति—

अन्वयः—रामभीता, द्रौपदी, इव, बहुभूषणशब्दमिश्रम्, झणज्झणम्, इति, (कुर्वंती) किम्, पलायसे, यथा, हनूमान्, विश्वावसोः, ताम्, भगिनीम्, सुभद्राम्, इव, एषः, (अहम्) इति, सहसा, हरामि ।। २५ ।।

शब्दार्थः—रामभीता = राम से डरी हुई, द्रौपदी इव = द्रौपदी की भाँति, बहुभूषणशब्दमिश्रम् = अनेक आभूषणों के शब्द से मिश्रित, झणज्झणम् = झण झड़ाहटको, इति = इस प्रकार (कुर्वंती = करती हुई) किम् = क्यों, पलायसे = भागी जा रही हो ? यथा = जैसे, हनूमान् = हनूमान् जी ने, विश्वावसोः =

चेट:--

लामेहि अ लाअवल्लहं तो क्खाहिशि मच्छमंशकं ।
एदेहिं मच्छमंशकेहिं शुणआ मडअं ण शेवंदि ।। २६ ।।
[रमय च राजवल्लभं ततः खादिष्यसि मत्स्यमांसकम् ।
एताभ्यां मत्स्यमांसाभ्यां श्वानो मृतकं न सेवन्ते ।।]

विश्वावसु की, ताम् = उस प्रसिद्ध, भगिनीम्=बहन, सुभद्राम्=सुभद्रा को (हरा था), एषः = यह, (अहम् = मैं) इति = इस प्रकार, सहसा = बलपूर्वक, हरामि = (तुमको) हरता हूँ ।।

अर्थः—शकार—राम से डरी हुयी द्रौपदी के समान, अनेक आभूषणों के शब्द से मिश्रित झन-झनाहट के साथ (अर्थात् अपने आभूषणों का झन-झन शब्द करती हुयी) तुम क्यों भागी जा रही हो ? जिस प्रकार हनुमान् ने विस्वावसु की उस (प्रसिद्ध) बहन सुभद्रा का अपहरण किया था, उसी प्रकार यह मैं (भी) बलपूर्वक तुम्हारा हरण करता हूँ ।। २५ ।।

टीका:—रामात् = श्रीरामचन्द्रात् भीता = त्रस्ता ; द्रौपदी = पाञ्चाली ; इव = यथा ; बहुभूषणानाम् = नानाविधालङ्काराणाम् शब्देन = ध्वनिना मिश्रम् = समन्वितम् ; झणज्झणमिति = झणझणेत्यव्यक्तशब्दम् ; कुर्वतीति शेषः ; किम् = कस्मात् ; पलायसे = अपसरसि ? यथा हनूमान् = पवनकुमार इव ; विश्वावसोः = एतन्नामप्रसिद्धगन्धर्वस्य ; ताम्=प्रसिद्धाम्, भगिनीम् = स्वसारम् ; सुभद्राम् इव = श्रीकृष्णस्य भगिनीम् इव ; एषः = उपस्थितः ; अहम्, इति = इत्थम् ; सहसा = झटिति हठादित्यर्थः ; त्वां हरामि = अपनयामि स्वाधिकारे करोमीति भावः । शकारवचनत्वात् द्विरुक्तिदोषादयः सोढव्याः ।। २५ ।।

टिप्पणी—शकार का वचन होने के कारण काल तथा सम्बन्ध को असम्बद्धता इस श्लोक में है । इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है 'वसन्ततिलका' । इसका लक्षण पहले लिखा जा चुका है ।। २५ ।।

रमय च इति—

अन्वयः—(हे वसन्तसेने !) राजवल्लभम्, रमय, ततः, मत्स्यमांसकम्, च, खादिष्यसि, एताभ्याम्, मत्स्यमांसाभ्याम्, (तृप्ताः), श्वानः, मृतकम्, न, सेवन्ते ।। २६ ।।

शब्दार्थः—(हे वसन्तसेने !) राजवल्लभम् = राजाके प्रिय शकार के साथ, रमय = रमणकरो, ततः = तब, मत्स्यमांसकम् = मछली और मांस को,

विटः—भवति वसन्तसेने !

किं त्वं कटीतटनिवेशितमुद्वहन्ती
ताराविचित्ररुचिरं रशनाकलापम् ।
वक्त्रेण निर्मथितचूर्णमनःशिलेन
त्रस्ताद्भुतं नगरदैवतवत्प्रयासि ॥ २७ ॥

खादिष्यसि = खाओगी, एताभ्याम् = इन दोनों (मछली तथा मांस) के कारण, (तृप्तः = अघाए हुए), श्वानः = कुत्ते, मृतकम् = लाश को, न=नहीं, सेवन्ते = खाते हैं ॥

अर्थः– चेट—राजा के अत्यन्त प्रिय (शकार) के साथ रमण करो, तब तुम मछली और मांस (खूब) खाओगी। इन दोनों-मछली और मांस के कारण (परितृप्त हुए शकार के) कुत्ते मृतक (मरे हुए पशु, पक्षी आदि की लाश) का सेवन नहीं करते हैं ॥ २६ ॥

टीकाः हे वसन्तसेने ! राज्ञः=नृपतेः पालकस्य वल्लभम् = प्रियम् शकारमित्यर्थः ; रमय = रतिदानेन आनन्दय ; ततः = तदनन्तरं तद्रमणात् वा ; मत्स्याश्च मांसम् च मत्स्यमांसम् तदेव मत्स्यमांसकम् च त्वम् खादिष्यसि = भक्षयिष्यसि ; एताभ्याम् = मत्स्यमांसाभ्याम् ; तृप्ताः = परितृप्ताः, श्वानः = कुक्कुराः, मृतकम् = शवशरीरम् ; न सेवन्ते = न खादन्ति ॥ २६ ॥

टिप्पणी– यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि चेट ने अपने निम्न स्तर के अनुसार ही यह बात कही है। इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा आर्या छन्द है। पृथ्वीधर इसमें 'मात्रासमक' छन्द मानते हैं। इस छन्द का लक्षण इस प्रकार है :—

"मात्रासमकं नवमो ल्गान्त्यः" ॥ २६ ॥

किं त्वम् इति—

अन्वयः—भवति वसन्तसेने ! (इति गद्येन अन्वयः) त्वम्, कटीतटनिवेशितम्, ताराविचित्ररुचिरम्, रशनाकलापम्, उद्वहन्ती, निर्मथितचूर्णमनःशिलेन, वक्त्रेण, (उपलक्षिता सती); नगरदैवतवत्, त्रस्ताद्भुतम्, किम्, प्रयासि ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—भवति = माननीय, वसन्तसेने ! त्वम्=तुम, कटीतटनिवेशितम्= कमर भाग में बँधी हुई, ताराविचित्ररुचिरम् = मोतियों के कारण अद्भुत एवं मनोहर, रशनाकलापम् = करधनी को, उद्वहन्ती = धारण करती हुई, निर्मथित-

शकारः—

अम्हेहिं चंडं अहिशालिअंती वणे शिआली विअ कुक्कुलेहिं।
पलाशि शिग्घं तुलिदं शवेग्गं शवेंटणं मे हलअं हलंती॥ २८॥

[अस्माभिश्चण्डमभिसार्यमाणा वने शृगालीव कुक्कुरैः।
पलायसे शीघ्रं त्वरितं सवेगं सवृन्तं मम हृदयं हरन्ती॥]

चूर्णमनःशिलेन = चूर्ण मनसिल को तिरस्कृत करने वाले, वक्त्रेण = मुख से, (उपलक्षिता सती = युक्त होकर), नगरदैवतवत् = नगर की (रखवाली करने वाली) देवता की भाँति, त्रस्ताद्भुतम् = भयविह्वलता पूर्वक, किम् = क्यों, प्रयासि = जा रही हो ?॥

अर्थः—विट–सुश्री वसन्तसेने ! कटि-प्रान्त (कमर) में बँधी हुई, मोतियों से अद्भुत अतएव मनोहर मेखला (करधनी) को धारण करती हुई, चूर्ण मनः–शिला (मनसिल) को भी (अपने गुलाबी वर्ण से) तिरस्कृत करने वाले मुख से युक्त तुम नगर-देवता की भाँति, भय-विह्वलतापूर्वक क्यों भागी जा रही हो ?॥ २७॥

टीका—भगवति वसन्तसेने = मान्ये वसन्तसेने ! त्वम् कटीतटे = श्रोणि-प्रदेशे निवेशितम् = संस्थापितम् ; ताराभिः = मुक्ताभिः विचित्रश्चासौ रुचिरश्च विचित्ररुचिरः = अद्भुतमनोहरः तम्, रशनाकलापम् = मेखलाभूषणम् ('कलापो भूषणे बर्हे, इति विश्व.') उद्वहन्ती = धारयन्ती; निर्मथिता = तिरस्कृता चूर्णा = चूर्णीकृता मनःशिला = मनःशिलोपधातुविशेषः येन तादृशेन; वक्त्रेण = आननेन, (उपलक्षिता = युक्ता सती) नगरस्य दैवतेन तुल्यम् नगरदैवतवत् = नगराधिदेवता इव; त्रस्ताद्भुतम् = सभीतिविस्मयं यथा स्यात् तथा; किम् = कस्मात्, प्रयासि = पलायसे ?॥ २७॥

टिप्पणीः—निर्मथित०— कुछ व्याख्याकारों के अनुसार–जिस (मुख) पर चूर्णित मनःशिल लगाया गया है (निर्मथिता = अवलिप्ता चूर्णमनःशिला यत्र तेन) यह अर्थ है इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है॥ २७॥

अस्माभिश्चण्डम् इति—

अन्वयः—वने, कुक्कुरैः, शृगाली, इव, अस्माभिः, चण्डम्, अभिसार्यमाणा, (त्वम्), मम, हृदयम्, सवृन्तम्, हरन्ती, शीघ्रम् त्वरितम् सवेगम्, पलायसे॥ २८॥

वसन्तसेना—पल्लवआ पल्लवआ! परहुदिए परहुदिए!। [पल्लवक पल्लवक! परभृतिके परभृतिके!]

शकारः—(सभयम्) भावे भावे! मणुश्शे मणुश्शे!। [भाव भाव! मनुष्या मनुष्याः!।]

विटः—न भेतव्यं न भेतव्यम्।

शब्दार्थः—वने = जंगल में, कुक्कुरैः = कुत्तों के द्वारा, शृगाली इव = सियारिन के समान, अस्माभिः = हम लोगों के द्वारा, चण्डम् = वेगपूर्वक, अभिसार्यमाणा = पीछा की जाती हुई, (त्वम् = तुम), मम = मेरे हृदयम् = हृदय को, सवृन्तम् = मूलसहित, हरन्ती = हरण करती हुई, शीघ्रम् त्वरितम् सवेगम् = वेग पूर्वक, पलायसे = भाग रही हो ॥

अर्थः—शकार—कुत्तों के द्वारा पीछा की जाती हुई सियारिन (शृगाली) के समान हम लोगों के द्वारा तीव्र गति से पीछा की जाती हुई, मेरे हृदय को समूल हरण करती हुई तुम शीघ्र, तुरन्त और वेगपूर्वक भाग रही हो ॥ २८ ॥

टीका:- वने = अरण्ये ; कुक्कुरैः = श्वभिः ; अभिसार्यमाणा इति शेषः ; शृगाली = शिवा इव ; अस्माभिः = शकारादिभिः ; चण्डम् = शीघ्रम् (एतत् क्रियाविशेषणम्) ; अभिसार्यमाणा = अनुगम्यमाना ; त्वम् मम = शकारस्य ; हृदयम् सवृन्तम् = समूलबन्धम् ; हरन्ती = चोरयन्ती अपनयन्ती वा ; शीघ्रम् त्वरितम् सवेगम् = झटिति यथा तथा ; पलायसे=पलायनम् करोषि। पुनरुक्त्यादयः दोषाः शकारोक्तिं सम्भाव्य न विचारार्हाः ॥ २८ ॥

टिप्पणी—चण्डम् = भयङ्कररूप से, तीव्र वेग से (क्रियाविशेषण) ; √ चंड् + अच् + विभक्तिकर्म।

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा उपजाति छन्द है। जब इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा को एक ही श्लोक में मिला देते हैं तो उसे उपजाति छन्द कहते हैं। इसके चौदह भेद होते हैं ॥ २८ ॥

शब्दार्थः—पल्लवक = वसन्तसेना के एक सेवक का नाम। परभृतिका तथा माधविका = वसन्तसेना की सेविकाएँ। परिजनः—सेवक। परिभ्रष्टः = छूट गये, खो गये। परभृतिकाम् = कोयल को, पल्लवकम् = नूतन पत्ता को, वसन्तमासम् = वसन्त ऋतु को ॥

अर्थः—वसन्तसेना—पल्लवक! पल्लवक!! परभृतिके! परभृतिके!!

शकार—(भयपूर्वक) भाव! मनुष्य, मनुष्य।

विट—डरना नहीं चाहिये, डरना नहीं चाहिये (अर्थात् डरो मत)।

वसन्तसेना—माहविए माहविए ! । [माधविके माधविके ! ।]

विटः—(सहासम्) मूर्ख ! परिजनोऽन्विष्यते ।

शकारः—भावे भावे ! इत्थिश्रं श्रण्णेशदि । [भाव भाव ! स्त्रियमन्वेषयति ? ।]

विटः—अथ किम् ।

शकारः—इश्यिआणं शदं मालेमि । शूले हगे । [स्त्रीणां शतं मारयामि । शूरोऽहम् ।

वसन्तसेना—(शून्यमवलोक्य) हद्धी हद्धी, कधं परिश्रणो वि परिब्भट्टो । एत्थ मए अप्पा शश्रं जेव रक्खिदव्वो । [हा धिक् हा धिक्, कथं परिजनोऽपि परिभ्रष्टः । अत्र मयात्मा स्वयमेव रक्षितव्यः ।]

विटः—अन्विष्यतामन्विष्यताम् ।

शकारः—वशंतशेणिए ! विलव विलव पलहुदिश्रं वा पल्लवश्रं वा शव्वं वा वशंतमाशं । मए अहिशालिअंतीं तुमं के पलित्ताइश्शदि ? ।

वसन्तसेना—माधविके ! माधविके !

विट—(हंसी पूर्वक) मूर्ख ! भृत्य को खोज रही है ।

शकार—भाव ! भाव ! क्या स्त्री को खोज रही है ?

विट—और क्या ?

शकार—स्त्रियाँ तो सैकड़ों मार सकता हूँ । मैं बहादुर हूँ ।

वसन्तसेना—(सूना देख कर) हाय ! हाय ! क्या सेवक भी छूट गये। यहाँ मुझे स्वयं ही अपनी रक्षा करनी चाहिये ।

विट—खोजो, खोजो (परिजनों को) ।

शकार—वसन्तसेने ! विलाप कर, विलाप कर, परभृतिका (कोयल) के लिए, पल्लवक (नूतन पत्ता) के लिए अथवा सम्पूर्ण वसन्त मास के लिए । मेरे द्वारा अभिसरण (पीछा) की जाती हुई तुमको कौन बचायेगा ?

टीका:—पल्लवकः परभृतिका च वसन्तसेनायाः परिचारकः परिचारिका च । माधविका अपरा परिचारिका । परिजनः = सेवकः, परिचारकः । परिभ्रष्टः = पश्चादेव स्थितः । परभृतिकाम् = कोकिलाम् ; पल्लवकम्—पल्लवः एव पल्लवकः तम् पल्लवकम् = नवनिर्गतपत्रम् ; वसन्तमासम् = वसन्तर्तुम् । अत्र विपद्वर्तमानया वसन्तसेनया समाहूतानां स्वपरिजनानां कोकिलपल्लवापरपर्यायकं परभृतिकापल्लवकनामाकर्ण्य शकारः परभृतिकाशब्दं पल्लवकशब्दञ्च कोकिलापरपर्यायतया नूतनपत्रापरपर्यायतया च योजितवानिति वक्रोक्तिरलङ्कारः ॥

किं भीमशेणे जमदग्गिपुत्ते कुंतीशुदे वा दशकंधले वा।
एशे हगे गेण्हिय केशहश्ते दुश्शाशणश्शाणुकिदिं कलेमि ॥ २६ ॥

टिप्पणीः—पल्लवक— √ पल् + क्विप् = पल्, लू + अप् = लव, पल् चासौ लवश्च कर्म॰ समास, पल्लव एव पल्लवकः स्वार्थ में कन्। परिभ्रष्टः—(भूतकालिक कर्म में कृदन्त) परि + √ भ्रंश + क्त ।

किं भीमसेनः इति—

अन्वयः—किम्, जमदग्निपुत्रः, भीमसेनः, वा, कुन्तीसुतः, वा, दशकन्धरः, (त्वाम्, रक्षिष्यति), एषः, अहम्, केशहस्ते, (त्वाम्), गृहीत्वा, दुःशासनस्य, अनुकृतिम्, करोमि ॥ २६ ॥

शब्दार्थः – किम् = क्या, जमदग्निपुत्रः = जमदग्नि का पुत्र, भीमसेनः = भीमसेन, वा = अथवा, कुन्तीसुतः = कुन्ती का पुत्र, वा = अथवा, दशकन्धरः = रावण, (त्वाम् = तुमको, रक्षिष्यति = बचायेगा), एषः = यह, अहम् = मैं, केशहस्ते = जूड़ा में, (त्वाम् = तुमको), गृहीत्वा = पकड़ कर, दुःशासनस्य = दुःशासन के, अनुकृतिम् = अनुकरण को, करोमि = करता हूँ ॥

अर्थः—क्या जमदग्नि का पुत्र भीमसेन, अथवा कुन्ती का पुत्र अथवा रावण ? (तुम्हारी रक्षा करेगा ?) । यह मैं (तुम्हारे) केशपाश (जूड़ा) को पकड़ कर दुःशासन का अनुकरण करता हूँ ॥ २६ ॥

टीकाः—किम् जमदग्निपुत्रः = परशुरामः ; भीमसेनः = वृकोदरः, वा = अथवा ; कुन्तीसुतः = कुन्तीपुत्रः कर्णः अर्जुनो वा ; वा दशकन्धरः = दशाननः, त्वां रक्षिष्यतीति शेषः । एषः = त्वत्पृष्ठे संलग्नः ; अहम् = राजश्यालः शकारः ; केशहस्ते = केशकलापे ('पाशः पक्षश्च हस्तश्च कलापार्थाः कचात् परे'इत्यमरः), त्वां गृहीत्वा = धृत्वा ; केशसमूहम् आकृस्य इत्यर्थः ; दुःशासनस्य = दुर्योधनानुजस्य ; अनुकृतिम् = अनुकरणम् ; करोमि । दुःशासनः यथा द्रौपद्याः केशाकर्षणं चकार तथैव सम्प्रति अहमपि तव केशकलापम् आकृष्य त्वां पीडयितुमारभे । रक्षतु कश्चित् तव रक्षकः इति भावः ॥ २६ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा इन्द्रवज्रा छन्द है । छन्द का लक्षण इस प्रकार है—

'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' ॥ २६ ॥

णं पेक्ख णं पेक्ख,—

अशी शुतिक्खे वलिदे अ मश्तके
कप्पेम शीशं उद मालएम वा।
अलं तवेदेण पलाइदेण
मुमुक्खु जे होदि ण शे खु जीअदि ॥ ३० ॥

[वसन्तसेनिके! विलप विलप परभृतिकां वा पल्लवकं वा सर्वं वा वसन्तमासम्। मयाभिसार्यमाणां त्वां कः परित्रास्यते ? ।

किं भीमसेनो जमदग्निपुत्रः कुन्तीसुतो वा दशकन्धरो वा।
एषोऽहं गृहीत्वा केशहस्ते दुःशासनस्यानुकृतिं करोमि ॥

ननु प्रेक्षस्व ननु प्रेक्षस्व,

असिः सुतीक्ष्णो वलितं च मस्तकं कल्पये शीर्षमुत मारयामि वा।
अलं तवैतेन पलायितेन मुमूर्षुर्यो भवति न स खलु जीवति ॥]

असिः सुतीक्ष्णो—

अन्वयः—(मम) असिः, सुतीक्ष्णः, (अस्ति), तव, मस्तकम्, च, वलितम्, (वर्तते), (अहम्, तव) मस्तकम्, कल्पये, उत, मारयामि, वा, तव, एतेन, पलायितेन, अलम्, यः, मुमूर्षुः, भवति, सः, खलु, न, जीवति ॥ ३० ॥

शब्दार्थः—(मम = मेरी) असिः = तलवार, सुतीक्ष्णः = बड़ी तेज, (अस्ति = है), तव = तुम्हारा, मस्तकम् = मस्तक, च = भी, वलितम् = बड़ा सुन्दर, (वर्तते = है), (अहम् = मैं, तव = तुम्हारे) मस्तकम् = शिर को, कल्पये = काट डालता हूँ, उत = अथवा, मारयामि = मार डालता हूँ, वा = विकल्पार्थक है, तव = तुम्हारे, एतेन = इस, पलायितेन = भागने से, अलम् = व्यर्थ है, अर्थात् तुम्हारा भागना व्यर्थ है, यः = जो आदमी, मुमूर्षुः = मरनेवाला, भवति = होता है, सः = वह, खलु = निश्चय ही, न = नहीं, जीवति = जीता है ॥

अर्थः—देखो, देखो,

तलवार बड़ी तेज है और तुम्हारा मस्तक (भी) बड़ा सुन्दर है, मैं तुम्हारा शिर काट डालूँगा अथवा मार डालूँगा। तुम्हारा इस प्रकार भागना निरर्थक है, (क्योंकि) जो मरने वाला होता है वह निश्चित रूप से जीवित नहीं रहता ॥ ३० ॥

वसन्तसेना—अज्ज ! अबला खु अहं । [आर्य ! अबला खल्वहम् ।]

विटः—अत एव ध्रियसे ।

शकारः—अदो ज्जेव ण मालीहशि । [अत एव न मार्यसे ।]

टीका—मम = शकारस्य; असिः = कृपाणः; सुतीक्ष्णः = निशितः; अस्तीति शेषः; तव = वसन्तसेनायाः; मस्तकम् = शिरः; च = अपि; वलितम् = लालितम् शोभनम् वा; वर्तते; अहम् तव मस्तकम् = शिरः; कल्पये = छिनद्मि; उत = अथवा; मारयामि = ते प्राणविनाशं करोमि; वा इति विकल्पे; तव = वसन्तसेनायाः; एतेन = अधुना गृहीतेन; पलायितेन = अपसरणेन; अलम् = व्यर्थमितिभावः; यः = जनः; मुमूर्षुः = उपस्थितमरणः; भवति = अस्ति; सः = जनः; खलु = निश्चयेन; न जीवति = न प्राणिति । सम्प्रति त्वं मम करायत्ता जाता । मामस्वीकारे तव मृत्युः सुनिश्चितः । पलायनं तव व्यर्थम् । आसन्नमृत्युः कुत्रापि न जीवितुं शक्नोति इति भावः ॥ ३० ॥

टिप्पणी—मुमूर्षुः—मरने वाला, वह व्यक्ति जिसकी मृत्यु निकट होती है । शङ्के मरिष्यतीति = मुमूर्षति → √मृ + सन् ; मुमूर्ष + उ ।

इस श्लोक के पहले और चौथे चरण में वंशस्थ और दूसरे तथा तीसरे चरण में इन्द्रवज्रा है । अतः इसमें उपजाति छन्द माना गया है—जब इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्राको एक ही श्लोक में मिला देते हैं तो उसे उपजाति छन्द कहते हैं । जब अन्य छन्द भी एक ही श्लोक में मिला दिये जाते हैं तो भी उपजाति ही छन्द होता है ॥ ३० ॥

अर्थः—वसन्तसेना—आर्य ! मैं तो अबला हूँ ।

विट—इसीलिए (तुम अब तक) जीवित हो ।

शकार—इसीलिए तुम नहीं मारी जा रही हो ।

शब्दार्थः—अस्मात् = इस जन से, मुझसे, तर्क्यते = चाहा जाता है, शान्तम् = शान्त हो, किसी के कथन का निषेध करने के लिये अथवा किसी आशङ्कित अनिष्ट के निवारण की कामना प्रकट करने के लिए 'शान्तम्' का प्रयोग किया जाता है, कृतम् - बस करो, पुष्पमोषम् = फूल तोड़नेको (के), अपेहि = दूर हटो, अनार्यम्=अनुचित, माम् अन्तरेण = मेरे विषय में, मेरे प्रति (अन्तरेण के योग में द्वितीया), सुस्निग्धा = अनुरक्त, प्रेम करने वाली, भावस्य = विद्वान् (विट) के, पृष्ठानुपृष्ठिकया = पीछे-पीछे, आहिण्डमानः = घूमता हुआ । वेशवासविरुद्धम् = वेश्यालय में निवास के विपरीत ॥

वसन्तसेना—(स्वगतम्) कधं अणुणओ वि से भअं उप्पादेदि ?। भोदु एव्वं दाव। (प्रकाशम्) अज्ज ! इमादो किंपि अलंकरणं तक्कीअदि। [कथ-नु-नयोऽप्यस्य भयमुत्पादयति। भवतु एवं तावत्। आर्य ! अस्मात्किमप्यलं-करणं तर्क्यते।

विटः—शान्तं पापं शान्तं पापम्। भवति वसन्तसेने ! न पुष्पमोषमर्हत्युद्यान-लता। तत्कृतमलंकरणैः।

वसन्तसेना—ता किं खु दाणिं। [तत्किं खल्विदानीम्।]

शकारः—हग्गे वरपुलिशमणुश्शे वाशुदेवके कामइदव्वे। [अहं वरपुरुष-मनुष्यो वासुदेवः कामयितव्यः।]

वसन्तसेना—(सक्रोधम्) संतं पावं। अवेहि, अणज्जं मंतेशि। [शान्तं पापम्। अपेहि, अनर्हं मन्त्रयसि।]

शकारः—(सतालिकं विहस्य) भावे भावे ! पेक्ख दाव। मं अंतलेण शुशिणिद्धा एशा गणिआदालिआ णं। जेण मं भणादि—'एहि। शंते शि। किलिंते शि' त्ति। हग्गे ण गामंतलं ण णगलंतलं वा गडे। अज्जुके ! शवामि भावश्श शीशं अत्तणकेहिं पादेहिं। तव ज्जेव्व पश्चाणुपश्चिआए आहिंडंते शंते किलिंते म्हि शंवुत्ते। [भाव भाव ! प्रेक्षस्व तावत्। मामन्तरेण सुस्निग्धैषा

अर्थः—वसन्तसेना—(अपने आप) इसकी नम्रता भी कैसा भय उत्पन्न करती है। अच्छा, तो ऐसा करूँ। (प्रकट रूप से) आर्य ! आप मुझ से कोई आभूषण लेना चाहते हैं ?।

विट—ऐसा मत कहो। श्रीमति ! वसन्तसेने ! उद्यान की लता पुष्प तोड़ने के योग्य नहीं होती (अर्थात् बगीचे की लता का पुष्प तोड़ना समुचित नहीं होता)। इसलिए आभूषणों को रहने दो।

वसन्तसेना—तो, इस समय आपका मुझसे क्या प्रयोजन है ?

शकार—मुझ पुरुषश्रेष्ठ, मनुष्य वासुदेव की (तुम्हें) कामना करनी चाहिये।

वसन्तसेना (क्रोध पूर्वक) शान्त, शान्त (अर्थात् चुप रहो, चुप रहो)। दूर हटो। अशिष्ट बात कहते हो।

शकार—(ताली बजाता हुआ हँस कर) भाव ! भाव !! जरा देखो तो। यह वेश्या-पुत्री निश्चय ही भीतर से (मन से) मुझ से प्रेम करती है,

गणिकादारिका ननु । येन मां भणति–'एहि । श्रान्तोऽसि । क्लान्तोऽसि' इति । अहं न ग्रामान्तरं न नगरान्तरं वा गतः । भट्टालिके ! शपे भावस्य शीर्षमात्मीयाभ्यां पादाभ्याम् । तवैव पृष्ठानुपृष्ठिकयाहिण्डमानः श्रान्तः क्लान्तोऽस्मि संवृत्तः ।]

विटः—(स्वगतम्) अये, कथं शान्तमित्यभिहिते श्रान्त इत्यवगच्छति मूर्खः ! । (प्रकाशम्) वसन्तसेने ! वेशवासविरुद्धमभिहितं भवत्या । पश्य,—

तरुणजनसहायश्चिन्त्यतां वेशवासो
विगणय गणिका त्वं मार्गजाता लतेव ।
वहसि हि धनहार्यं पण्यभूतं शरीरं
सममुपचर भद्रे ! सुप्रियं वाप्रियं वा ।। ३१ ।।

जिससे मुझको यह कहती है—"आओ, थक गये हो, खिन्न हो गये हो।" मैं न किसी दूसरे गाँव को गया था, न किसी दूसरे नगर को ही। मान्य गणिके ! मैं अपने पैरों से महानुभाव (विट) के शिर की शपथ खाता हूँ, कि तुम्हारे ही पीछे-पीछे घूमता हुआ थका एवं खिन्न हुआ हूँ।

विट—(अपने आप) अरे ! यह मूर्ख किस प्रकार से 'शान्त' ऐसा कहे जाने पर 'श्रान्त' (थका हुआ) समझ रहा है। (प्रकट रूप से) वसन्तसेने ! आपने यह बात वेश्यालय के वास (जीवन) के विरुद्ध कही है (अर्थात् आपने यह बात वेश्याजन के विरुद्ध कही है)।

टीका—अस्मात् = मत्स्वरूपाजनात्; तर्क्यते = ग्रहीतुमिष्यते; शान्तम् = विरतम् भवतु, न वाच्यमेतदिति भावः । कृतम् = अलम् इत्यर्थः । पुष्पमोषम् = पुष्पत्रोटनम् । इदं तात्पर्यं यथा कुसुमावचयेन उद्यानलतानां शोभाहानिः जायते तथैव अलङ्कारहरणेन तव गात्राणां सौन्दर्यहानिः भविष्यति इति तन्नेप्सितम् । अपेहि = दूरम् अपसर । अनार्यम् = आर्यजनविरुद्धम् अनुचितमिति भावः । माम् अन्तरेण = मम सम्बन्धे ('अन्तरान्तरेण युक्ते द्वितीया' इति द्वितीया); सुस्निग्धा= अत्यनुरक्ता वासनावतीत्यर्थः । भावस्य = विदुषः विटस्य इत्यर्थः । पृष्ठानुपृष्ठिकया = पश्चात् पश्चात् । आहिण्डमानः = इतस्ततः गतिं कुर्वन् । वेशे = वेश्यालये वासः = निवासः तस्य विरुद्धम् = विपरीतम् । वेश्यानां सर्वजनग्राह्यत्वादिति ।।

टिप्पणी—पृष्ठानुपृष्ठिका = 'पृष्ठानुपृष्ठमस्ति अस्यां क्रियायामिति पृष्ठानुपृष्ठिका तया ; पृष्ठानुपृष्ठ + ठन् (इक) । आहिण्डमानः = आ ✓ हिण्ड + शानच् ।।

तरुणजनसहायः इति —

अन्वयः—वेशवासः, तरुणजनसहायः, चिन्त्यताम्, त्वम्, मार्गजाता,

लता, इव, गणिका, (इति), विगणय, हि, पण्यभूतम्, धनहार्यम्, शरीरम्, वहसि, (अतः), हे भद्रे ! सुप्रियम्, वा, अप्रियम्, वा समम्, उपचर ॥३१॥

शब्दार्थः—वेशवासः = वेश्यालय का निवास, तरुणजनसहायः = युवकों की सहायता वाला अर्थात् युवक जन हैं आश्रय जिसका ऐसा, चिन्त्यताम्=सोचो, त्वम् = तुम, मार्गजाता = मार्ग में उत्पन्न हुई, लता = लतिका, इव = जैसी, गणिका = वेश्या, (हो, इति = ऐसा), विगणय = विशेष रूप से विचारो, हि = क्योंकि, पण्यभूतम् = बेंची जाने वाली वस्तु के समान, धनहार्यम् = धन के द्वारा ग्रहण करने के योग्य, शरीरम् = शरीर को, वहसि = धारण करती हो, (अतः = इसलिये) हे भद्रे ! हे भद्र स्त्री ! सुप्रियम् = प्रिय को, वा=अथवा, अप्रियम् = अप्रिय को, समम् = समानरूप से, उपचर = व्यवहार करो ।

अर्थः—देखो –

वेश्यालय के जीवन (वास) को युवकों की सहायता पर आश्रित समझो। सोचो, तुम मार्ग में उत्पन्न हुयी लता के समान वेश्या हो ! तुम, बाजार में बेंची जाने वाली वस्तु के समान, धन के द्वारा ग्रहण करने योग्य शरीर धारण करती हो। अतः, हे भद्र स्त्री ! प्रिय और अप्रिय दोनों के साथ समान व्यवहार करो ॥ ३१ ॥

टीका—वेशवासः—वेशे = वेश्यालये ('वेशो वेश्याजनाश्रयः' इत्यमरः) वासः = निवासः ; तरुणजनः = युवजनः सहायः = आश्रयः यस्य सः ; तरुणजनाश्रयीत्यर्थः ; चिन्त्यताम् = विचार्यताम् ; त्वम् = वेश्याकुलोत्पन्ना वसन्तसेना ; मार्गे=पथि जाता = उत्पन्ना ; लता = वल्ली ; इव = यथा ; गणिका = गणस्त्री वेश्या इति यावत् असि, इति = इत्थम् ; विगणय = विचारय ; हि=यतः ; पण्यभूतम् = विक्रेयस्वरूपम् ; अत एव धनहार्यम् = धनेन ग्राह्यम् ; शरीरम्=देहम् ; वहसि = धारयसि ; अतः हे भद्रे ! हे साधुस्वभावे ! कार्यं साधयितुं प्रशंसति। सुप्रियम् = अभीप्सितम् ; वा = अथवा ; अप्रियम् = अनभीष्टम् ; जनमिति शेषः ; वा, समम् = तुल्यम् ; उपचर = सेवस्व । वेश्यानां कृते भेदव्यवहारः न समीचीनः । अतः अस्मान् प्रति अनुकूलतां प्रदर्शयेति भावः ॥ ३१ ॥

टिप्पणीः—पण्यभूतम् = ऐसे स्थानों पर 'भूत' शब्द 'समान' अर्थ को प्रकट करता है ; पण्यं भूतं पण्यभूतम्, सुप्सुपेति समासः ।

इस श्लोक में उपमा एवं काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा मालिनी छन्द है । छन्द का लक्षण है :—

"न-न-म-य-य-युतेयं मालिनी भोगिलोकैः" ॥ ३१ ॥

अपि च,—

वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवरो मूर्खोऽपि वर्णाधमः
फुल्लां नाम्यति वायसोऽपि हि लतां या नामिता बर्हिणा।
ब्रह्मक्षत्रविशस्तरन्ति च यया नावा तयैवेतरे
त्वं वापीव लतेव नौरिव जनं वेश्यासि सर्वं भज॥ ३२॥

वाप्यां स्नाति इति—

अन्वयः—विचक्षणः, द्विजवरः, वर्णाधमः, मूर्खः, अपि, वाप्याम्, स्नाति या, बर्हिणा, नामिता, फुल्लाम्, (ताम्), लताम् वायसः, अपि, नाम्यति, हि, यया, नावा, ब्रह्मक्षत्रविशः, तरन्ति; तया, एव, इतरे, च; त्वम्, वेश्या, असि, (अतः), वापी, इव, लता, इव, नौः, इव, सर्वम्, जनम्, भज॥ ३२॥

शब्दार्थः—विचक्षणः = विद्वान्, द्विजवरः=ब्राह्मण, वर्णाधमः = नीच-जातिवाला, मूर्खः = मूर्ख, अपि = भी, वाप्याम् = बावली में, स्नाति = स्नान करता है। या = जो (लता), बर्हिणा = मोर के द्वारा, नामिता = झुकायी गयी थी, फुल्लाम्=फूली हुई (ताम्=उसी), लताम् = लता को, वायसः = कौवा, अपि = भी, नाम्यति = झुका देता है। हि = जैसा कि सुविदित है, यया = जिस, नावा = नैया से, ब्रह्मक्षत्रविशः = ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य, तरन्ति = पार होते हैं, तया = उसी नैया से, एव = ही, इतरे = दूसरे (वर्णाधम) लोग, च = भी। त्वम्= तुम, वेश्या = वेश्या, असि = हो, (अतः) वापी = बावली (के), इव = समान, नौः = नैया (के), इव = समान, सर्वम् = सब, जनम् = लोगों को, भज = स्वीकार करो।

अर्थः—और भी—

विद्वान् ब्राह्मण तथा नीच जाति वाला मूर्ख भी एक बावली में स्नान करता है। जो लता पहले मयूर के द्वारा (बैठकर) झुकायी गयी थी उसी फूली हुयी लता को (उस पर बैठ कर) कौवा भी झुका देता है। जिस नाव से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पार उतरते हैं उसी से दूसरे (वर्णाधम) लोग भी। तुम वेश्या हो, अतः बावली, लता और नाव की भाँति सब लोगों का (एक समान) सेवन करो॥ ३२॥

टीका:—विचक्षणः—विद्वान्; द्विजेषु = द्विजातिषु वरः = श्रेष्ठः ब्राह्मणः इत्यर्थः; वर्णेषु = सर्वजातिषु अधमः = हीनः शूद्रः चण्डालो वा; अपि; वाप्याम्= एकस्याम् एव दीर्घिकायाम्; स्नाति = स्नानम् करोति; या = लता;

वसन्तसेना—गुणो खु अणुराअस्स कारणं, ण उण बलक्कारो। [गुणः खल्वनुरागस्य कारणम्, न पुनर्बलात्कारः।]

शकारः—भावे भावे ! एशा गब्भदाशी कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुदि ताह दलिद्दचालुदत्ताह अणुलत्ता ण मं कामेदि। वामदो तश्श घलं। जधा तव

बर्हिणा = मयूरेण ; नामिता = आक्रान्ता अधरीकृता वा उवेशनेन इति शेषः ; फुल्लाम्=विकसिताम् ; ताम् एव लताम् = वल्लरीम् ; वायसः = काकः पक्षिक्षुद्रः ; अपि = दृढतायाम् ; नाम्यति=नमयति; नाम्यतीति कण्वादिपाठात् 'नामम् करोति' इत्यर्थे यक्यकारलोपे च रूपमिति पृथ्वीधरः। हि = विदितम् इदम्। यया = हेतुभूतया यया ; नावा=तरण्या ; ब्रह्मक्षत्रविशः = ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः, जातिश्रेष्ठाः इति भावः ; तरन्ति = पारं व्रजन्ति ; तया एव = नावा ; इतरे = वर्णाधमाः, शूद्राः अपि तरन्ति इति शेषः। त्वं वेश्या = सर्वजनसाधारणी स्त्री ; असि = वर्तसे ; अतः ; वापीव = दीर्घिका इव ; नौः इव = नौका इव ; सर्वम्=निखिलम् ; जनम् = मनुष्यम् प्रार्थयितारम् इत्यर्थः ; भज = सेवस्व। त्वया साधारण्येन व्यवहर्त्तव्यं न विशेषेण पक्षपातेन वा इति भावः॥ ३२॥

टिप्पणी :—फुल्लाम् = फूली हुई, √फुल्+क्त। नाम्यति = नामयति झुकाता है, 'नाम' [नमना] शब्द कण्वादिगण में है अतः 'नामम् करोति' इस अर्थ में नाम + यक्→अकार लोप होकर 'नाम्यति' रूप होता है।

इस श्लोक में मालोपमा एवं काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है। छन्द का लक्षण इस प्रकार है—

"सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्"॥३२॥

अर्थः-वसन्तसेना— गुण ही अनुराग का कारण होता है, न कि बलात्कार।

शब्दार्थ :—गर्भदासी = जन्म से दासी, यह गाली के रूप में प्रयोग किया गया है। कामदेवायतनोद्यानात् = कामदेव का मन्दिर है जिसमें ऐसे बगीचे [में जाने] से लेकर। परिभ्रश्यति = छूटती है। परिहर्तव्यम् = छोड़ने के लायक है। उदाहरति = कह रहा है। रत्नम् = रत्न, रत्नेन = रत्न से, सङ्गच्छते = मिलता है। काणेलीमातः = कुलटा के बच्चे ! अपराध्यता = अपराध करते हुए। बलीयसि = गाढ़े, माषराशिप्रविष्टा = उड़द की ढेर में गिरी हुई, मसी-गुटिका = स्याही की गोली। प्रनष्टा = गायब हो गयी।

अर्थः-शकार—भाव ! भाव !! जन्म से ही दासी यह वेश्या कामदेवायतन-उद्यान में (अर्थात् उस उद्यान में जिसमें कामदेव का मन्दिर है) जाने से लेकर

मम अ हश्तादो ण एशा पलिब्भंशदि तधा कलेदु भावे। [भाव भाव ! एषा गर्भदासी कामदेवायतनोद्यानात्प्रभृति तस्य दरिद्रचारुदत्तस्यानुरक्ता न मां कामयते। वामतस्तस्य गृहम्। यथा तव मम च हस्तान्नैषा परिभ्रश्यति तथा करोतु भावः।]

विटः—(स्वगतम्) यदेव परिहर्तव्यं तदेवोदाहरति मूर्खः। कथं वसन्तसेनार्यचारुदत्तमनुरक्ता ?। सुष्ठु खल्विदमुच्यते—'रत्नं रत्नेन संगच्छते' इति। तद्गच्छतु, किमनेन मूर्खेण। (प्रकाशम्) काणेलीमातः ! वामतस्तस्य सार्थवाहस्य गृहम् ?।

शकार—अध इं। वामदो तश्श घलं। (अथ किम्। वामतस्तस्य गृहम्।)

वसन्तसेना—(स्वगतम्) अम्महे, वामदो तस्स गेहं त्ति जं सच्चं, अवरज्झंतेण वि दुज्जणेण उवकिदं, जेण पिअसंगमं पाविदं। (आश्चर्यम्, वामतस्तस्य गृहमिति यत्सत्यम्, अपराध्यतापि दुर्जनेनोपकृतम्, येन प्रियसंगमः प्रापितः।)

शकारः—भावे भावे ! बलिए खु अंधआले माशलाशिपविश्टा

उस दरिद्र चारुदत्त से प्रेम करने लगी है और मुझे नहीं चाहती है। बाँयी ओर उसका घर है। ऐसा उपाय कीजिए कि जिससे यह हमारे और तुम्हारे हाथ से निकल न जाय।

विट—(अपने आप) यह मूर्ख वही बात कह रहा है जो नहीं कहनी चाहिए। क्या वसन्तसेना आर्य चारुदत्त से प्रेम करती है ? वस्तुतः यह ठीक ही कहा गया है कि—'रत्न-रत्न के ही साथ संयुक्त होता है (अर्थात् योग्य का मेल योग्य से ही होता है)।' तो जाने दो। इस मूर्ख से क्या लाभ ? (प्रकट रूप से) काणेलीपुत्र ! (व्यभिचारिणीपुत्र !) उस सार्थवाह चारुदत्त का घर बाँयी ओर है ?

शकार—और क्या ? उसका घर बाँयी ओर है।

वसन्तसेना–(अपने आप) आश्चर्य ! यदि सचमुच बाँयी ओर उसका घर है, तो अपराध करते हुए भी इस दुष्ट ने उपकार किया है, जिसने प्रिय के साथ समागम तो प्राप्त कराया (अर्थात् जिससे प्रिय चारुदत्त का मिलना तो सम्भव हो गया)।

शकार :—भाव ! भाव !! इस घोर अन्धकार में, उड़द [माष] की ढेर

विश्र मशिगुडिश्रा दीशंती जेव्व पणश्टा वशंतशेणिश्रा। (भाव भाव! बलीयसि खल्वन्धकारे माषराशिप्रविष्टेव मसीगुटिका दृश्यमानैव प्रनष्टा वसन्तसेना।)

विटः—अहो, बलवानन्धकारः। तथा हि,—

आलोकविशाला मे सहसा तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना।
उन्मीलितापि दृष्टिर्निमीलितेवान्धकारेण ॥ ३३ ॥

में गिरी हुई स्याही की टिकिया के समान, देखते ही देखते वसन्तसेना अदृश्य हो गयी।

टीका :—गर्भदासी = जन्मप्रभृति दासी, सर्वजनभोग्यत्वात् इति भावः। कामदेवस्य = मनसिजस्य आयतनम् = मन्दिरम् तस्य उद्यानम् = पुष्पवाटिका तस्मात्। यदुद्यानं कामदेवमन्दिरस्य सम्मुखे चतुर्दिक्षु वा वर्तते तस्मादिति भावः। परिभ्रश्यति = परिच्युता भवति। परिहर्तव्यम् = वर्जनीयम्। वसन्तसेनायाः मित्रस्य चारुदत्तस्य गृहं समीपे एव वर्तते इति कथनं कथमपिनोचितम्, परञ्च मूर्खः शकारः तदेव वदति। रत्नम् = मणिः; रत्नेन = मणिना; सङ्गच्छते = सम्मिलति। वसन्तसेना चारुदत्तौ रत्नतुल्यौ अतः एतयोः सम्मिलनं सख्यं वा शोभते 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' इत्युक्तेः। काणेलीमातः! काणेली = अविवाहिता स्त्री असती वा माता यस्य तत्सम्बुद्धौ! अपराध्यता = अपराधं कुर्वता; बलात्कारानुसरणेनेति शेषः। बलीयसि = प्रगाढे। माषाणाम् = अन्नविशेषाणाम् राशौ = समूहे प्रविष्टा = प्रक्षिप्ता; मसीगुटिका = मसीवटिका, इव, प्रनष्टा = तिरोहिता ॥

टिप्पणी :—उदाहरति = कहता है, उद् + आ √ हृ + प्र० पु० एक०। 'चारुदत्तम्' अथवा 'चारुदत्ते' अनुरक्ता होना चाहिये। 'चारुदत्तस्य अनुरक्ता' शकार का यह कथन ठीक नहीं है। काणेलीमातः—काणेली शब्द का अर्थ है—एक अविवाहित स्त्री जो किसी पुरुष के साथ विवाहित स्त्री के समान रहती हो। उस स्त्री का पुत्र—काणेलीमातृकः अथवा काणेलीमाता; यहाँ बहुव्रीहि के अन्त में विकल्प से 'क' प्रत्यय होता है। अपराध्यता = अपराध करते हुए, अप + √ राध् + शत् + तृ० एक० ॥

आलोकविशाला इति—

अन्वय :—आलोकविशाला, मे दृष्टिः, सहसा, तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना,

अपि च,—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥ ३४ ॥

[जाता], उन्मीलिता, अपि, [दृष्टिः] अन्धकारेण, निमीलिता, इव, [भवति] ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ :—आलोकविशाला = प्रकाश में दूर तक देखनेवाली, मे = मेरी, दृष्टिः = आँख, सहसा = एकाएक, तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना = अन्धकार में प्रवेश करने से अवरुद्ध, [जाता = हो गयी है], उन्मीलिता = खुली हुई, अपि = भी, [दृष्टिः = आँख], अन्धकारेण = अन्धकार के द्वारा, निमीलिता = बन्द, इव = सी, [भवति = हो रही है] ॥

अर्थ :—**विट** :—अहो, प्रबल अन्धकार है; क्योंकि—

प्रकाश में विस्तृत [दूर तक देखनेवाली] मेरी दृष्टि सहसा अन्धकार में प्रवेश करने से अवरुद्ध हो गयी है। खुली हुयी भी मेरी आँखें अन्धकार के द्वारा बन्द सी कर दी गयी हैं ॥ ३३ ॥

टीका :—आलोके = प्रकाशे दर्शने वा विशाला = विस्तृता महती वा ; मे = मम विटस्य इत्यर्थः ; दृष्टिः = नेत्रम् ; सहसा = झटिति ; तिमिरे = अन्धकारे प्रवेशेन = आगमनेन विच्छिन्ना = अवरुद्धा हीनशक्तिः इत्यर्थः ; जाता इति शेषः । उन्मीलिता = कृतोन्मेषा ; अपि ; [दृष्टिः] ; अन्धकारेण = तिमिरेण ; निमीलिता = मुद्रिता ; इव ; भवति इति शेषः ॥ ३३ ॥

टिप्पणी :—इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार एवं आर्या छन्द है। छन्द का लक्षण—

"यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या" ॥ ३३ ॥

लिम्पतीव इति—

अन्वय :—तमः, अङ्गानि, लिम्पति, इव, नभः, अञ्जनम्, वर्षति, इव, दृष्टिः, असत्पुरुषसेवा, इव, विफलताम्, गता ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ :—तमः = अन्धकार, अङ्गानि = अङ्गों को, लिम्पति इव = लिप्त सा कर रहा है, नभः = आकाश, अञ्जनम् = आँजन, काजल को, वर्षति इव =

शकारः—भावे भावे! अण्णेशामि वशंतशेणिअं। (भाव भाव! अन्विष्यामि वसन्तसेनिकाम्।)

विटः—काणेलीमातः! अस्ति किंचिच्चिह्नं यदुपलक्षयसि।

शकारः—भावे भावे! किं विअ? (भाव भाव! किमिव?।)

विटः—भूषणशब्दं सौरभ्यानुविद्धं माल्यगन्धं वा।

बरस सा रहा है, दृष्टिः = आँख, असत्पुरुषसेवा इव = दुष्ट मनुष्यों की सेवा की भाँति, विफलताम् = निष्फलता को, गता = प्राप्त हो गयी है।

अर्थः—और भी—

अन्धकार अङ्गों को लिप्त सा कर रहा है [अर्थात् अङ्गों में अन्धकार व्याप्त हो रहा है], आकाश मानो काजल की वृष्टि कर रहा है। मेरी दृष्टि दुष्ट मनुष्यों की सेवा की भाँति निष्फल हो गयी है ॥ ३४ ॥

टीका :—तमः = अन्धकारः ; अङ्गानि= शरीरावयवान् ; लिम्पति इव = म्रक्षति इव ; नभः = आकाशम् ; अञ्जनम् = कज्जलम् ; वर्षति = पातयति इव ; दृष्टिः = नेत्रम् ; असत्पुरुषस्य = असज्जनस्य सेवा = परिचर्या इव ; विफलताम् = निष्फलताम् दर्शनाभावमित्यर्थः; गता = जाता ॥ ३४ ॥

टिप्पणी :—इस श्लोक में यमक और अनुप्रास तथा उपमा एवं उत्प्रेक्षा की संसृष्टि है। इसमें प्रयुक्त छन्द है—'अनुष्टुप्'। इसका लक्षण इस प्रकार है—

"श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयो ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥ ३४ ॥

अर्थ :—शकार :—भाव! भाव!! वसन्तसेना को खोज रहा हूँ।

शब्दार्थः—उपलक्षयसि = उपलक्षण बना रहे हो, अर्थात् जिसके सहारे ढूँढ रहे हो?। सौरभ्यानुविद्धम्=सुगन्धि से व्याप्त, माल्यगन्धम् = माला की गन्ध। अन्धकारपूरितया = अन्धकार से भरी हुई। सुव्यक्तम् = स्पष्ट। जनान्तिकम्=व्यक्ति के पास ॥

अर्थ :—विटः—काणेली के पुत्र! कोई चिह्न है, जिसके सहारे तुम (वसन्तसेना को) ढूँढ रहे हो?।

शकार—भाव! भाव!! कैसा चिह्न?

विट—आभूषणों की खनखनाहट अथवा सुगन्धित माला की गन्ध?

शकारः—शुणामि मल्लगंध, अंधआलपुलिदाए उण णाशिआए ण शुव्वत्तं पेक्खामि भूषणसद्दं। (शृणोमि माल्यगन्धम्, अन्धकारपूरितया पुनर्नासिकया न सुव्यक्तं पश्यामि भूषणशब्दम्।

विटः—(जनान्तिकम्) वसन्तसेने!

कामं प्रदोषतिमिरेण न दृश्यसे त्वं
सौदामिनीव जलदोदरसंधिलीना।
त्वां सूचयिष्यति तु माल्यसमुद्भवोऽयं
गन्धश्च भीरु! मुखराणि च नूपुराणि॥ ३५॥

श्रुतं वसन्तसेने!।

शकार—माला की गन्ध तो सुन रहा हूँ, किन्तु अन्धकारयुक्त नाक से (अर्थात् नाक के अन्धकार से पूर्ण हो जाने के कारण) आभूषणों के शब्द को स्पष्ट नहीं देख रहा हूँ।

टीका—उपलक्षयसि = अन्वेषणे साधनं करोषि। सौरभ्येण = सुगन्धेन अनुविद्धम् = व्याप्तम्; माल्यस्य = पुष्पदाम्नः गन्धम्=आमोदम्; उपलक्षयसि इति पूर्वकथितायाः क्रियायाः इदं कर्मपदम्। अन्धकारेण = तिमिरेण पूरितया= व्याप्तया। सुव्यक्तम् = स्पष्टम्। जनान्तिकम्=अयं नाट्योक्तिप्रकारः। एतस्य लक्षणं निगदितम् इत्थं साहित्यदर्पणकारेण—

"त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम्।
अन्योन्यामन्त्रणं यत् स्यात्तज्जनान्ते जनान्तिकम्॥"

टिप्पणी—नाटक में नियतश्राव्य कथन दो प्रकार के होते हैं—

(१) जनान्तिक (२) अपवारित। जब एक पात्र अपने हाथ की तीन अङ्गुलियाँ उठाकर तथा अनामिका अङ्गुली को टेढ़ी किये हुए अन्य लोगों को बचा कर किसी एक पात्र से कुछ कहता है तो वह जनान्तिक कहा जाता है। और जब मुँह फेर कर दूसरे से गुप्त बात कही जाती है तब वह संवाद अपवारित कहलाता है॥

कामं प्रदोषतिमिरेण इति—

अन्वयः—हे वसन्तसेने! (इति गद्यभागेनान्वयः) जलदोदरसन्धिलीना, सौदामिनी, इव, कामम्, त्वम्, प्रदोषतिमिरेण, न, दृश्यसे, तु, हे भीरु!

वसन्तसेना—(स्वगतम्) सुदं गहिदं च । (नाट्येन नूपुराण्युत्सर्य माल्यानि चापनीय किंचित्परिक्रम्य हस्तेन परामृश्य) अम्मो, भित्तिपरामरिससूचिदं पक्खदुआरअं खु एदं । जाणामि अ संजोएण गेहस्स संवुदं पक्खदुआरअं।

माल्यसमुद्भवः, अयम्, गन्धः, त्वाम्, सूचयिष्यति, च, मुखराणि, नूपुराणि, च, (सूचयिष्यन्ति) ॥३५॥

शब्दार्थः—हे वसन्तसेने ! जलदोदरसन्धिलीना = बादलों के भीतर सन्धि-स्थल में छिपी हुई, सौदामिनी = बिजली (के), इव = समान, कामम् = यद्यपि, त्वम् = तुम, प्रदोषतिमिरेण = सायंकालीन अन्धकार के कारण, न = नहीं दृश्यसे = दिखलायी पड़ रही हो, तु = किन्तु, हे भीरु = हे डरपोक स्वभाव-वाली ! माल्यसमुद्भवः = माला से निकली हुई, अयम् = यह, गन्धः = सुगन्ध, मँहक, त्वाम् = तुमको, सूचयिष्यति = सूचित कर देगी, च = और, मुखराणि = शब्द करने वाले, नूपुराणि = नूपुर, च = भी, (सूचयिष्यन्ति = सूचित कर देंगे) ॥

अर्थः—शिट- (जनान्तिक) हे वसन्तसेने !

बादलों के भीतर सन्धि—स्थल में छिपी हुयी बिजली के समान यद्यपि तुम सायंकालीन अन्धकार के कारण नहीं दिखलायी पड़ रही हो, परन्तु हे डरपोक (भीरु) ! माला से निकली हुयी सुगन्ध तथा शब्द करनेवाले नूपुर तुम्हें सूचित कर देंगे (अर्थात् तुम्हारा पता बदला देंगे) ।

टीका—हे वसन्तसेने ! (इति गद्यभागेन अन्वयः); जलदानाम् = मेघानाम् उदरसन्धौ = आभ्यन्तरे लीना = अन्तर्हिता; सुदाम्नः = मेघविशेषस्य अपत्यं स्त्री सौदामिनी = विद्युत्; इव; कामम् = यद्यपि; त्वम् = वसन्तसेना; प्रदोषतिमिरेण— प्रदोषस्य = रजनीमुखस्य तिमिरेण = अन्धकारेण; न = नहि; दृश्यसे = अवलोक्य-से; तु = किन्तु; हे भीरु = हे भयशीले ! माल्यात् = पुष्पदाम्नः समुद्भवः = उत्पत्तिः यस्य सः; अयम्=अनुभूयमानः; गन्धः=सौरभः; त्वाम्=वसन्तसेनाम्; सूचयिष्यति = ज्ञापयिष्यसि, च = तथा; मुखराणि = शब्दायमानानि; नूपुराणि = पादभूषणानि; च = अपि; सूचयिष्यन्ति इति विभक्तिविपरिणामेन अन्वयः ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार और वसन्ततिलका छन्द है । छन्द का लक्षण इस प्रकार है—

"उक्ता वसन्ततिलका त-भ-जा ज-गौ गः ।" ॥ ३५ ॥

(श्रुतं गृहीतं च । अहो, भित्तिपरामर्शसूचितं पक्षद्वारकं खल्वेतत् । जानामि च संयोगेन गेहस्य संवृत्तं पक्षद्वारकम् ।)

चारुदत्तः—वयस्य ! समाप्तजपोऽस्मि । तत्सांप्रतं गच्छ ! मातृभ्यो बलिमुपहर ।

विदूषकः—भो, ण गमिस्सं । (भो न गमिष्यामि ।)

चारुदत्तः—धिक्कष्टम्,—

दारिद्र्यात्पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न संतिष्ठते
सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृदः स्फारीभवन्त्यापदः ।
सत्त्वं ह्रासमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते
पापं कर्म च यत्परैरपि कृतं तत्तस्य संभाव्यते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थः—श्रुतम् =सुना गया, गृहीतम्=समझ लिया गया । भित्तिपरामर्श-सूचितम् = दीवार के छूने से पता चलता है । संयोगेन = स्पर्श के द्वारा । समाप्तजपः = समाप्त कर लिया है जपको जिसने ऐसा ॥

अर्थः वसन्तसेना—(अपने आप) सुना और मतलब भी समझ लिया । (अभिनय से नूपुरों को उतार कर और मालाओं को फेंक कर, कुछ घूम कर तथा हाथ से छूकर) अहो ! दीवाल के छूने से पता चलता है कि यह अवश्य ही बगल का दरवाजा (खिड़की) है, और छूने से लगता है घर का यह पक्षद्वार (खिड़की) बन्द है ।

चारुदत्त—मित्र ! मैं जप समाप्त कर चुका । तो अब जाओ, मातृ-देवियों को बलि (पूजा) चढ़ा आओ ।

टीका—श्रुतम्=श्रवणविषयीकृतम्; गृहीतम्=अवधारितम्, अस्य तात्पर्यम् अपि आकलितम् इति भावः । भित्तेः=कुड्यस्य परामर्शेन=स्पर्शेन सूचितम् = ज्ञातम् अनुमितं वा; संयोगेन = करसंयोगजनितानुभवेन । समाप्तः = समाप्तिं गमितः जपः = जपविधिः येन सः ॥

अर्थः—विदूषक—अजी मैं नहीं जाऊँगा ।

दारिद्र्यात्पुरुषस्य इति—

अन्वयः—दारिद्र्यात्, बान्धवजनः, पुरुषस्य, वाक्ये, न, सन्तिष्ठते, सुस्निग्धाः, सुहृदः, विमुखीभवन्ति, आपदः, स्फारीभवन्ति, सत्त्वम्, ह्रासम्, उपैति,

शीलशशिनः, कान्तिः, परिम्लायते, च, यत्, पापम्, कर्म, परैः, अपि, कृतम्, तत्, तस्य, सम्भाव्यते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ :—दारिद्र्यात्=दरिद्रता के कारण, बान्धवजनः=बन्धु लोग, पुरुषस्य=निर्धन पुरुष के, वाक्ये=कहने में, न=नहीं, सन्तिष्ठते=रहते, सुस्निग्धाः=अत्यन्त स्नेही, सुहृदः=मित्र, विमुखीभवन्ति=विमुख हो जाते हैं, मुँह फेर लेते हैं, आपदः=विपत्तियाँ, स्फारीभवन्ति=बढ़ जाती हैं, सत्त्वम्=बल, ह्रासम्=कमी को, उपैति=प्राप्त हो जाता है, शीलशशिनः=चरित्ररूपी चन्द्रमा की, कान्तिः=चमक, परिम्लायते=धुँधली हो जाती है, च=कहाँ तक कहा जाय, यत्=जो, पापम्=पाप, कर्म=काम, परैः=दूसरे व्यक्तियों के द्वारा, अपि=भी, कृतम्=किया गया है, तत्=वह पाप कर्म, तस्य=उसी दरिद्र का, सम्भाव्यते=समझा जाता है ॥

अर्थः—दरिद्रता के कारण बन्धु लोग भी निर्धन पुरुष के कहने में नहीं रहते। अत्यन्त स्नेही मित्र भी विमुख हो जाते हैं और आपत्तियाँ बढ़ जाती हैं। बल क्षीण हो जाता है, चरित्र रूपी चन्द्रमा की कान्ति धुँधली हो जाती है, कहाँ तक कहा जाय, जो दूसरे व्यक्तियों के द्वारा भी किया गया पाप-कर्म है वह उसी का किया हुआ समझा जाता है ॥ ३६ ॥

टीका—दारिद्र्यात्=निर्धनत्वात्; बान्धवजनः = सुहृज्जनः ('सगोत्रबान्धव-ज्ञातिबन्धुस्वजनाः समाः'—इत्यमरः); पुरुषस्य=निर्धनजनस्य ; वाक्ये=कथने ; न सन्तिष्ठते = न चलति, वचनं न पालयति इत्यर्थः ; सुस्निग्धाः = अतिस्नेहपूरिताः ; सुहृदः = मित्रजनाः ; विमुखीभवन्ति=विमुखाः उदासीनाः वा जायन्ते ; आपदः = विपत्तयः; स्फारीभवन्ति=वृद्धिम् आपद्यन्ते; सत्त्वम्=बलम्; ह्रासम्=अवनतिम्; उपैति= गच्छति ; शीलम् = चरित्रम् एव शशी = चन्द्रः तस्य ; कान्तिः=दीप्तिः ; परिम्लायते=मलिनतां प्राप्नोति ; च=किञ्च ; यत् पापम्=पापजनकम् निन्दितमित्यर्थः, कर्म = कार्यम् ; परैः=अन्यजनैः ; अपि, कृतम्=सम्पादितम्; तत्=अन्यव्यक्तिकृतं पापं कर्म ; तस्य = निर्धनस्य जनस्य ; सम्भाव्यते=अनुमीयते। दरिद्रोऽयं धनार्थम् इदम् अनुचितं कार्यं कृतवानिति निश्चीयते ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में रूपक अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस छन्द का लक्षण है :—

"सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्" ॥३६॥

अपि च,—

सङ्गं नैव हि कश्चिदस्य कुरुते संभाषते नादरात्
संप्राप्तो गृहमुत्सवेषु धनिनां सावज्ञमालोक्यते ।
दूरादेव महाजनस्य विहरत्यल्पच्छदो लज्जया
मन्ये निर्धनता प्रकाममपरं षष्ठं महापातकम् ॥ ३७ ॥

सङ्गं नैव हि इति—

अन्वयः—हि, कश्चित्, अस्य, सङ्गम्, न, एव, कुरुते, आदरात्, न, सम्भाषते, उत्सवेषु, धनिनाम्, गृहम्, सम्प्राप्तः, सावज्ञम्, आलोक्यते, अल्पच्छदः, (दरिद्रः), लज्जया, महाजनस्य, दूरात्, एव, विहरति, (अतः अहम्) मन्ये, निर्धनता, अपरम्, प्रकामम्, षष्ठम्, महापातकम् (अस्ति) ॥३७॥

शब्दार्थः—हि = क्योंकि, कश्चित् = कोई, अस्य = इसका (निर्धन का), सङ्गम् = साथ, न = नहीं, एव = ही, कुरुते = करता है; आदरात् = आदर से, न = नहीं, सम्भाषते = बोलता है; उत्सवेषु = उत्सवोंमें, धनिनाम् = धनियों के, गृहम् = घर को, सम्प्राप्तः = गया हुआ, सावज्ञम् = अनादरपूर्वक, आलोक्यते = देखा जाता है; अल्पच्छदः = अल्प वस्त्र वाला (दरिद्र), लज्जया = लज्जा के कारण, महाजनस्य = बड़े लोगों के, दूरात् = दूर से, एव = ही, विहरति = चलता है; (अतः = इसलिये, अहम् = मैं), मन्ये = मानता हूँ, निर्धनता = गरीबी, अपरम्=दूसरा, प्रकामम्=प्रबल, षष्ठम्=छठा, महापातकम्=महापाप, (अस्ति = है) ॥

अर्थः—और भी—

कोई भी व्यक्ति इसका (निर्धन का) संग नहीं करता है। न आदर से (इसके साथ) बोलता है। उत्सव (विवाह आदि) के अवसर पर (यदि निर्धन) धनिक के घर पहुँच जाता है तो वहाँ भी वह लोगों के द्वारा अनादर की दृष्टि से देखा जाता है। (निर्धन व्यक्ति) अल्प वस्त्रवाला होने के कारण लज्जावश बड़े लोगों से दूर होकर ही चलता है (अर्थात् दूर ही रहता है)। अतः मेरी समझ में दरिद्रता (पञ्च महा पातकों के अतिरिक्त) एक प्रबल छठा महापाप है ॥३७॥

टीका—हि = यतः; कश्चित् = कोऽपि; जनः इति शेषः; अस्य = दरिद्रस्य; सङ्गम् = सम्पर्कम्; नैव कुरुते = नैव विदधाति; तथा आदरात् = सत्कारात्, न सम्भाषते=न वदति; दरिद्रम् इति शेषः; उत्सवेषु=विवाहादिशुभावसरेषु; आनन्द-

अपि च,—

दारिद्रय ! शोचामि भवन्तमेवमस्मच्छरीरे सुहृदित्युषित्वा ।
विपन्नदेहे मयि मन्दभाग्ये ममेति चिन्ता क्व गमिष्यसि त्वम् ।। ३८ ।।

जनककार्येषु इत्यर्थः ; धनिनाम्=धनवताम् ; गृहम्=भवनम् ; सम्प्राप्तः = गतः ; अवज्ञया = तिरस्कारेण सहितं सावज्ञम्; आलोक्यते = अवलोक्यते, जनैः इति शेषः ; अल्पः = स्वल्पः छदः = वस्त्रम् यस्य सः, अल्पच्छदः अतिस्वल्पवस्त्रः दरिद्रः ; लज्जया=ह्रिया ; महाजनस्य=धनिनः ; श्रेष्ठवस्त्रवतः इत्यर्थः ; दूरादेव ; विहरति = गच्छति ; अतः अहम् ; मन्ये=स्वीकरोमि ; यत् निर्धनता=दरिद्रता; अपरम्=अन्यत्; प्रकामम्=प्रवृद्धम्; षष्ठम्=ब्रह्महत्यादिपञ्चप्रकारातिरिक्तम्; महापातकम्=बृहत्पातकम् ; अस्ति । भगवता मनुना महापातकानां पञ्चप्रकारत्वं स्वीकृतम्, तद्यथा—"ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः । महान्ति पातक्यान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥" इत्येतद्व्यतिरिक्तं दारिद्र्यस्य षष्ठमहापातकत्वं प्रतिपादितम् ।। ३७ ।।

टिप्पणी—सङ्गः = साथ मिलना ; √सञ्ज् + भावे घञ् । इस श्लोक मे उत्प्रेक्षा अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है । इस छन्द का लक्षण पीछे वाले श्लोक की टिप्पणी में लिखा गया है ।। ३७ ।।

दारिद्रय ! शोचामि इति—

अन्वयः—हे दारिद्रय ! भवन्तम्, एवम्, शोचामि, [यत्], अस्मच्छरीरे, सुहृद्, इति, उषित्वा, मयि, मन्दभाग्ये, विपन्नदेहे, [सति], त्वम्, क्व, गमिष्यसि, इति, मम, चिन्ता (अस्ति) ।। ३८ ।।

शब्दार्थः—हे दारिद्रय = हे गरीबीपन, भवन्तम्=आपको अर्थात् आपके विषय में, एवम् = इस प्रकार, शोचामि=दुःखी होता हूँ, (यत्=कि), अस्मच्छरीरे = मेरे शरीर में, सुहृद् = मित्र, इति = जैसा, उषित्वा = निवास करके, मयि = मुझ, मन्दभाग्ये=अभागा (के), विपन्नदेहे=मर जाने पर, त्वम्=तुम, क्व=कहाँ, गमिष्यसि =जाओगे, इति = ऐसी, मम=मेरी, चिन्ता=फिकर, अस्ति=है ।

अर्थः—और भी—

हे दारिद्रय ! तुम्हारे विषय में मैं इस प्रकार दुःखी होता हूँ (अर्थात् तुम्हारे विषय में मुझे यही चिन्ता है) कि मेरे शरीर में मित्र के समान निवास करके मुझ अभागे के मर जाने पर तुम कहाँ जाओगे ? ।

विदूषकः—(सवैलक्ष्यम्) भो वअस्स ! जइ मए गंतव्वं ता एसा वि सहाइणी रदणिआ भोदु। (भो वयस्य ! यदि मया गन्तव्यम्, तदेषापि मम सहायिनी रदनिका भवतु।

चारुदत्तः—रदनिके ! मैत्रेयमनुगच्छ।

चेटि—जं अज्जो आणवेदि। (यदार्य आज्ञापयति।)

विदूषकः—भोदि रदणिए! गेण्ह बलिं पदीवं च। अहं अवावुदं पक्खदुआरअं करेमि। (तथा करोति) [भवति रदनिके! गृहाण बलिं प्रदीपं च। अहमपावृतं पक्षद्वारकं करोमि।]

वसन्तसेना—मम अब्भुववत्तिणिमित्तं विअ अवावुदं पक्खदुआरअं। ता

टीका—हे दारिद्रय=हे दैन्य ! भवन्तम् = त्वाम्; एवम् = इत्थम्; शोचामि= तव भाविनीं दशां विचारयन् दुःखमनुभवामि। अत्र 'दारिद्रयम्' इति नपुंसकम् अतः 'भवन्तम्' इति पुंल्लिङ्गनिर्देशः प्रामादिकः, इति चिन्त्यः; अथवा अर्थपरत्वात् पुंलिङ्गत्वमिति पृथ्वीधरः। यत्; अस्मच्छरीरे = मम देहे; सुहृद् = मित्रमिति बुद्धया इति शेषः; उषित्वा=निवासं कृत्वा; मयि=चारुदत्ते; मन्दभाग्ये = भाग्य विरहिते; विपन्नः= विनष्टः; देहः=शरीरं यस्य तस्मिन्; मृते सतीत्यर्थः; त्वं क्व=कुत्र; गमिष्यसि = यास्यसि; इति=एतादृशी; मम=तव सुहृदः; चिन्ता= मर्मोपघातिनी भावना अस्तीति शेषः॥ ३८॥

टिप्पणी—'दारिद्रयम्' नपुंसक लिङ्ग के लिये 'भवन्तम्' पुंल्लिङ्ग निर्देश करने के कारण इस श्लोक में च्युतसंस्कारता दोष है। इस में प्रयुक्त छन्द का नाम है—उपजाति। इसका लक्षण इस प्रकार है—

अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ
पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।
इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु
वदन्ति जातिष्विदमेव नाम॥ ३८

शब्दार्थ:—सवैलक्ष्यम् = लज्जापूर्वक, अपावृतम् = खुला हुआ। अभ्युपपत्तिनिमित्तम् = दया करने के लिए, अपावृतपक्षद्वारेण = खुले हुए पक्षद्वार से, पिण्डीभूतेन = इकट्ठा हुए, वातेन = वायु से, निर्वापितः = बुझा दिया गया।

जाव पविसामि। (दृष्ट्वा) हद्धी हद्धी, कधं पदीवो। (पटान्तेन निर्वाप्य प्रविष्टा) (ममाभ्युपपत्तिनिमित्तामिवापावृतं पक्षद्वारकम्। तद्यावत्प्रविशामि। हा धिक् हा धिक्, कथं प्रदीपः।)

चारुदत्तः—मैत्रेय ! किमेतत् ?।

विदूषकः—अवावुदपक्खदुआरएण पिंडीभूदेण वादेश णिव्वाविदो पदीवो। भोदि रदणिए ! णिक्कम तुमं पक्खदुआरएण अहंपि अब्भंतरचदुस्सालादो पदीवं पज्जालिअ आअच्छामि। (इति निष्क्रान्तः) (अपावृतपक्षद्वारेण निर्वापितः प्रदीपः। भवति रदनिके ! निष्क्राम त्वं पक्षद्वारकेण। अहमप्यभ्यन्तरचतुःशालातः प्रदीपं प्रज्वाल्यागच्छामि।)

अर्थः—**विदूषक**—(लज्जापूर्वक) मित्र ! यदि मुझे जाना ही है तो यह रदनिका भी मेरे साथ चले।

चारुदत्त—रदनिके ! मैत्रेय के साथ जाओ।

चेटी—जैसी आर्य की आज्ञा।

विदूषक—हे रदनिके ! बलि और दीपक को पकड़ो। मैं पक्षद्वार (खिड़की) को खोलता हूँ। (वैसा करता है)।

वसन्तसेना मानो मुझ पर दया करने के लिये बगल का द्वार (खिड़की) खुल गया है। तो जब तक प्रवेश करती हूँ। (देखकर) हाय ! हाय !! क्या दीपक (जल रहा) है ? (आँचल से दीपक बुझा कर भीतर प्रविष्ट हो जाती है)।

चारुदत्त—मैत्रेय ! यह क्या ?

विदूषक—पक्षद्वार के खुलते ही एकत्रीभूत वायु के झोंके से दीपक बुझा दिया गया। हे रदनिके ! तुम पक्षद्वार से बाहर चलो। मैं भी भीतरी चतुःशाला से दीपक जलाकर आ रहा हूँ। (निकल जाता है)।

टीका : - विलक्षस्य = लज्जितस्य भावः वैलक्ष्यम् तेन सहितम् सवैलक्ष्यम् = सलज्जम् यथा स्यात् तथा। अपावृतम् = उद्घाटितम्। अभ्युपपत्तिनिमित्ताम् = अनुग्रहार्थम् ['अभ्युपपत्तिरनुग्रहः' इत्यमरः] अपावृतम् = उद्घाटितम् च तत् पक्षद्वारम् तेन कारणेन ; पिण्डीभूतेन = राशीभूतेन ; वातेन = वायुना ; निर्वापितः = निर्वाणम् प्रापितः।

शकारः—भावे भावे! अण्णेशामि वशंतशेणिअं। (भाव भाव!) अन्वेषयामि वसन्तसेनिकाम्।]

विटः—अन्विष्यतामन्विष्यताम्।

शकारः—(तथा कृत्वा) भावे भावे! गहिदा गहिदा। (भाव भाव! गृहीता गृहीता।)

विटः—मूर्ख! नन्वहम्।

शकारः—इदो दाव भविअ एअंते भावे च्चिश्टदु। (पुनरन्विष्य चेटं गृहीत्वा) भावे भावे! गहिदा गहिदा। (इतस्तावद्भूत्वा एकान्ते भावस्तिष्ठतु। भाव भाव! गृहीता गृहीता।

चेटः—भश्टके, चेडे हग्गे। (भट्टारक! चेटोऽहम्।)

शकारः—इदो भावे, इदो चेडे। भावे चेडे, चेडे भावे। तुम्हे दाव एअंते च्चिश्ट। (पुनरन्विष्य रदनिकां केशेषु गृहीत्वा।) भावे भावे! शपदं गहिदा गहिदा वशंतशेणिआ।

अंधआले पलाअंती मल्लगंधेण शूइदा।
केशविंदे पलामिश्टा चाणक्के णेव्व दोव्वदी॥ ३६॥

(इतो भावः, इतश्चेटः। भावश्चेटः, चेटो भावः। युवां तावदेकान्ते तिष्ठतम्। भाव भाव! सांप्रतं गृहीता वसन्तसेनिका।

अन्धकारे पलायमाना माल्यगान्धेन सूचिता।
केशवृन्दे परामृष्टा चाणक्येनेव द्रौपदी॥)

अर्थः—शकार—भाव! भाव!! मैं वसन्तसेना को ढूँढ रहा हूँ।

विट—ढूँढिये, ढूँढिये।

शकार—(खोजकर) भाव! भाव!! पकड़ ली गयी, पकड़ ली गयी।

विट—मूर्ख! (यह तो) मैं हूँ।

शकार—तो आप (भाव) इधर होकर एकान्त में खड़े रहें। (फिर ढूँढ-कर और चेट को पकड़कर) भाव! भाव!! पकड़ ली गयी, पकड़ ली गयी।

चेट– स्वामिन्! यह तो मैं (चेट) हूँ।

अन्धकारे पलायमाना इति—

अन्वय:—अन्धकारे, पलायमाना, माल्यगन्धेन, सूचिता, [वसन्तसेना], चाणक्येन, द्रौपदी, इव, केशवृन्दे, परामृष्टा॥ ३६।

विटः—

एषासि वयसो दर्पात्कुलपुत्रानुसारिणी।
केशेषु कुसुमाढ्येषु सेवितव्येषु कर्षिता ॥ ४० ॥

शब्दार्थ :—अन्धकारे = अँधेरे में, पलायमाना = भागती हुई, माल्यगन्धेन = माला की मँहक से, सूचिता = सूचित की गयी, [वसन्त सेना], चाणक्येन = चाणक्य के द्वारा, द्रौपदी इव = द्रौपदी की भाँति, केशवृन्दे = केशों में [से], परामृष्टा = पकड़ ली गयी।

अर्थः–शकार - इधर भाव (विट), इधर चेट। भाव-चेट, चेट-भाव। तुम दोनों तो एकान्त में खड़े रहो। (फिर खोज कर और रदनिका का केश पकड़कर) भाव! भाव!! अब 'वसन्तसेना' पकड़ ली गयी, पकड़ ली गयी।

अन्धकार में भागती हुयी माला की गन्ध से सूचित 'वसन्तसेना' मेरे द्वारा उसी प्रकार केशों से पकड़ ली गयी (अर्थात् वसन्तसेना का केशपाश मैंने पकड़ लिया) है जैसे 'चाणक्य' के द्वारा 'द्रौपदी' ॥३९॥

टीका :—अन्धकारे = तिमिरव्याप्ते स्थाने ; पलायमाना = पलाय्य गच्छन्ती अपि ; माल्यस्य = पुष्पदाम्नः गन्धेन = सौरभेण ; सूचिता = निर्दिष्टा ; वसन्तसेना ; चाणक्येन = कौटिल्येन ; द्रौपदी = पाञ्चाली ; इव = यथा ; केशवृन्दे = केशकलापे ; परामृष्टा = गृहीता ; मयेति शेषः। अत्र शकारवचनत्वात् उपमाव्याहतिः क्षन्तव्या ॥ ३९ ॥

टिप्पणी : चाणक्य०—यहाँ काल भेद है। चतुर्थ शताब्दी में होने वाले चाणक्य का द्रौपदी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, अतः यह हतोपमा है जो शकार जैसे मूर्ख का वचन होने से क्षम्य है। इस श्लोक में अनुष्टुप् छन्द है। इसका लक्षण इस प्रकार है –

"श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः" ॥ ३९ ॥

एषासि वयसः इति—

अन्वय—वयसः, दर्पात्, कुलपुत्रानुसारिणी, एषा, (त्वम्), पुष्पाढ्येषु, सेवितव्येषु, केशेषु, कर्षिता, असि ॥ ४० ॥

शब्दार्थः—वयसः = अवस्था के, दर्पात् = घमण्ड से, कुलपुत्रानुसारिणी = कुलीन पुत्र (चारुदत्त) का अनुगमन करनेवाली, एषा = यह, (त्वम् = तुम),

शकारः—

एशाशि वाशू शिलशि ग्गहीदा केशेशु बालेशु शिलोलुहेशु।
अक्कोश विक्कोश लवहिचंडं शंभुं शिवं शंकलमीशलं वा॥ ४१॥

(एषासि वासु शिरसि गृहीता केशेषु बालेषु शिरोरुहेषु।
आक्रोश विक्रोश लपाधिचण्डं शंभुं शिव शंकरमीश्वरं वा॥)

पुष्पाढ्येषु = फूलों से सजे हुए, सेवितव्येषु = सेवा करने के योग्य, केशेषु = बालों में, कर्षिता = खींची गयी, असि = हो॥

अर्थः-विट—युवावस्था के अहङ्कार से कुलीन पुत्र (चारुदत्त) का अनुगमन करने वाली यह (तुम) फूलों से सजे हुए, सेवा करने के योग्य बालों से पकड़ कर खींची जा रही हो॥४०॥

टीका—वयसः = यौवनावस्थायाः; दर्पात् = अहङ्कारात्; कुलस्य = प्रशस्त-वंशस्य, पुत्रम्=सुतम् चारुदत्तमित्यर्थः अनुसरति इति अनुसारिणी=अनुगमनशीला; एषा = अपसरन्ती अपि; त्वम् = वसन्तसेना; पुष्पैः = कुसुमैः आढ्येषु = सम्पन्नेषु; सेवितव्येषु = अलङ्कार्येषु सेवनीयेषु वा; केशेषु = कचेषु; केशावच्छेदेन इत्यर्थः; कर्षिता = हठात् गृहीता; असि = वर्तसे; शकारेण इति शेषः॥ ४०॥

टिप्पणी—अनुसारिणी = अनुसरति इति अनुसारिणी, अनु + √सृ + णिनि (स्त्री)। इस श्लोक में अनुष्टुप् छन्द है। इसका लक्षण पीछेवाले श्लोक की टिप्पणी में लिखित है॥ ४०॥

एषासि वासु इति—

अन्वयः—हे वासु! एषा, (त्वम्) शिरसि, केशेषु, बालेषु, शिरोरुहेषु, गृहीता, असि, (सम्प्रति), आक्रोश, विक्रोश, वा, शम्भुम्, शिवम्, शङ्करम्, ईश्वरम्, अधिचण्डम्, लप॥ ४१॥

शब्दार्थः—हे वासु = हे बाले! (त्वम् = तुम), शिरसि = शिर में, केशेसु = बालों में, बालेषु = केशों में, शिरोरुहेषु = शिर के बालों में, गृहीता = पकड़ली गयी, असि = हो, (सम्प्रति,=अब) आक्रोश = गाली दो, विक्रोश = चिल्लाओ, वा = अथवा, शम्भुम्=शम्भु को, शिवम्=शिव को, शङ्करम्=शङ्करको, ईश्वरम्=ईश्वर को, अधिचण्डम्=काफी जोर से, लप = पुकारो॥

अर्थः-शकार—हे बाले! यह (तुम) शिर के बालों, केशों, शिरोरुहों के माध्यम से पकड़ ली गयी हो (अर्थात् तुम्हारे शिर के बाल पकड़ में आ गए हैं)।

रदनिका—(सभयम्) किं अज्जमिस्सेहिं ववसिदं ? । (किमार्यमिश्रै र्व्यवसितम् ? ।)

विटः—काणेलीमातः ! अन्य एवैष स्वरसंयोगः ।

शकारः—भावे भावे ! जधा दहिभत्तलुद्धाए मज्जालिए शलपलिवत्ते होदि, तधा दाशीए धीए शलपलिवत्ते कडे । (भाव भाव ! यथा दधिभक्त-लुब्धाया मार्जारिकायाः स्वरपरिवृत्तिर्भवति, तथा दास्याः पुत्र्या स्वरपरिवृत्तिः कृता ।)

(अब तुम) गाली दो, चिल्लाओ, शम्भु, शिव, शङ्कर अथवा ईश्वर को जोर से पुकारो (हमें किसी से भय नहीं है)।

टीका—हे वासु = हे बाले ! ('बाला स्याद्वासुः'), एषा = पलायमाना; त्वम् = वसन्तसेना; शिरसि केशेषु बालेषु शिरोरुहेषु = कचेषु ('चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुहः' इत्यमरः;) गृहीता = अवलम्बिता, असि = वर्तसे । सम्प्रति त्वम् आक्रोश = शापम् गालिं वा देहि, श्रावय; विक्रोश = आह्वय कमपि इति शेषः, वा = अथवा; शम्भुम् शिवम् शङ्करम् = महेश्वरमित्यर्थः, अधिचण्डम् = अत्युच्चैः; क्रियाविशेषणमेतत्; लप = विलापम् कुरु । शकारवचन-मेतत् अतः द्विस्त्रिः उक्तिः न दोषावहा ॥ ४१ ॥

टिप्पणी—शकार की उक्ति होने के कारण पुनरुक्तियाँ क्षम्य हैं। इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—इन्द्रवज्रा। इसका लक्षण इस प्रकार है—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' ॥ ४१ ॥

शब्दार्थः—आर्यमिश्रैः = माननीयों में श्रेष्ठ लोगों के द्वारा अर्थात् महानु-भावों के द्वारा, व्यवसितम् = किया गया। स्वरसंयोगः = आवाज। स्वरपरि-वृत्तिः = आवाज में परिवर्तन ॥

अर्थः—रदनिका—(भयपूर्वक) आप (महानुभावों) ने यह क्या किया ?

विट—काणेली के पुत्र ! यह स्वर तो दूसरा सा लगता है (अर्थात् यह स्वर 'वसन्तसेना' के स्वर से भिन्न सा प्रतीत होता है)।

शकार—भाव ! भाव !! जिस प्रकार दही भात की इच्छुक बिल्ली के स्वर में परिवर्तन हो जाता है (अर्थात् जिस प्रकार दही-भात की अभिलाषिणी बिल्ली अपना स्वर बदल देती है) उसी प्रकार दासी की पुत्री इस (नीच वसन्तसेना) ने भी स्वर में परिवर्तन कर लिया है।

टीका:—आर्याः = मान्याश्च ते मिश्राः = श्रेष्ठाः विद्वांसो वा तैः, अथवा

विटः—कथं स्वरपरिवर्तः कृतः ?। अहो चित्रम्, अथवा किमत्र चित्रम् ?।

इयं रङ्गप्रवेशेन कलानां चोपशिक्षया।
वञ्चनापण्डितत्वेन स्वरनैपुण्यमाश्रिता ॥ ४२ ॥

आर्येषु = माननीयेषु मिश्राः श्रेष्ठाः तैः; सम्यसम्भाषणपरिपाटीयम्। व्यवसितम् = प्रारब्धम् कृतम् वा। स्वरसंयोगः = स्वरसम्बन्धः। स्वरपरिवृत्तिः = स्वरपरिवर्तनम् भिन्नकण्ठध्वनिः इत्यर्थः। यथा दधिभक्तलुब्धायाः मार्जारिकायाः स्वरे परिवर्तनं भवति तथैतया वेश्यया स्वरपरिवर्तनं विहितम्। 'दधिशर' इति पाठे शरः दध्नः उपरिभागः विज्ञेयः ॥

टिप्पणी—व्यवसितम् = वि + अव + √सो + क्त। दधिशर इस पाठान्तर का अर्थ है—दही की मलाई।

इयं रङ्गप्रवेशेन इति—

अन्वयः—इयम्, रङ्गप्रवेशेन, कलानाम्, उपशिक्षया, वञ्चनापण्डितत्वेन, च, स्वरनैपुण्यम्, आश्रिता ॥ ४२ ॥

शब्दार्थः—इयम् = यह वसन्तसेना, रङ्गप्रवेशेन = नाट्य शाला में प्रवेश करने से, कलानाम् = सङ्गीत आदि कलाओं के, उपशिक्षया = अभ्यास के द्वारा, वञ्चनापण्डितत्वेन = ठगने की कुशलता के कारण, स्वरनैपुण्यम् = स्वर (परिवर्तन) में निपुणता, आश्रिता = प्राप्त करली है ॥

अर्थः—विट—क्या स्वर में परिवर्तन कर लिया ? अहो आश्चर्य है ! अथवा इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

इस 'वसन्तसेना ने नाट्यशाला में प्रवेश एवं कलाओं की शिक्षा के द्वारा (दूसरों को) ठगने में कुशलता प्राप्त कर लेने के कारण स्वर (परिवर्तन) में निपुणता प्राप्त कर ली है ॥४२॥

टीका—इयम् = वसन्तसेना ; रङ्गः=नाट्यशाला तस्मिन् प्रवेशेन=गमनेन् ; कलानाम्=नृत्यगीतादीनाम् ; उपशिक्षया=अभ्यासेन, शिक्षया वा ; वञ्चनायाम्= जनप्रतारणायाम्, धूर्ततायाम् इत्यर्थः ; पण्डितत्वेन = चातुर्येण ; च ; स्वरनैपुण्यम्= स्वरपरिवर्तनपटुताम् ; आश्रिता=प्राप्तवती, शिक्षिता इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—नैपुण्यम=दक्षता, कौशल, चतुराई, प्रवीणता ; निपुण + अण्, अथवा ष्यञ्। इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा अनुष्टुप् छन्द है। ४२ ॥

(प्रविश्य)

विदूषकः—ही ही भोः, पदोसमंदमारुदेण पशुबंधोवणीदस्स विअ छागलस्स हिअअं, फुरफुराअदि पदीवो। (उपसृत्य रदनिकां दृष्ट्वा) भो रदणिए! (आश्चर्यं भोः, प्रदोषमन्दमारुतेन पशुबन्धोपनीतस्येव छागलस्य हृदयम्, फुरफुरायते प्रदीपः। भो रदनिके!)

शकारः—भावे भावे! मणुश्शे मणुश्शे। (भाव भाव! मनुष्यो मनुष्यः।)

विदूषकः—जुत्तं णेदं, सरिसं णेदं, जं अज्जचारुदत्तस्स दलिद्ददाए संपदं परपुरिसा गेहं पवेसिअंति। (युक्तं नेदम्, सदृशं नेदम्, यदार्यचारुदत्तस्य दरिद्रतया सांप्रतं परपुरुषा गेहं प्रविशन्ति।)

रदनिका—अज्ज मित्तेअ! पेक्ख मे परिहवं। (आर्य मैत्रेय! प्रेक्षस्व मे परिभवम्।)

विदूषकः—किं तव परिहवो आदु अम्हाणं?। (किं तव परिभवः अथवाऽस्माकम्?।)

शब्दार्थः—पशुबन्धोपनीतस्य=जहाँ बलिका पशु बाँधा जाता है वह खूँटा (यूप) पशुबन्ध कहलाता है, उसके पास ले जाये गये, छागलस्य=बकरे के, हृदयम् इव=हृदय की भाँति; फुरफुरायते = फुर फुर कर रहा है, काँप रहा है। सदृशम्=योग्य। परिभवः=तिरस्कार, अपमान। चण्डः=जबर्दस्त, भयङ्कर। अस्मादृशभागधेयकुटिलेन=हम लोगों के भाग्य के समान टेढ़े। दुष्टस्य=दोषयुक्त, विकृत अर्थात् दीमक आदि से खाये गये, शुष्कवेणुकस्य=सूखे हुए बाँस के, इव= समान, कुट्टयिष्यामि=कूट डालूँगा। महाब्राह्मण = यह उपहास का कथन है, अतः इसका अर्थ है—अधम ब्राह्मण, संस्थानक = यह शकार का नाम है। उपमर्दः = अपमान।

(प्रवेश करके)

अर्थः--विदूषक—अरे आश्चर्य है! रात्रि के प्रथम प्रहर की धीमी-धीमी हवा से, (वध्य) पशु को बांधने के खूँटे के समीप ले जाये गये बकरे के हृदय की भाँति, दीपक काँप रहा है। (समीप आकर और रदनिकाको देखकर) अरी रदनिके!

शकार—भाव! भाव!! मनुष्य, मनुष्य।

विदूषक—यह उचित नहीं है, यह योग्य (ठीक) नहीं है कि आर्य 'चारुदत्त' की निर्धनता के कारण अब उनके घर में दूसरे लोग प्रवेश करते हैं।

रदनिका—आर्य मैत्रेय! मेरा अपमान तो देखो।

विदूषक—क्या तुम्हारा अपमान? अथवा हम लोगों का (अपमान)?।

रदनिका—णं तुम्हाणं जेव्व। (ननु युष्माकमेव।)

विदूषकः—किं एसो बलक्कारो ?। (किमेष बलत्कारः ?।

रदनिका—अध इं। (अथ किम्।)

विदूषकः—सच्चं। (सत्यम्।)

रदनिका—सच्चं। (सत्यम्)

विदूषकः—(सक्रोधं दण्डकाष्ठमुद्यम्य) मा दाव। भो, सके गेहे कुक्कुरो वि दाव चंडो भोदि, किं उण अहं बम्हणो। ता एदिणा अम्हारिसजणभाअधेअकुडिलेण दंडकट्ठेण दुट्ठस्स विअ सुक्खाणवेणुअस्स मत्थअं दे पहारेहिं कुट्टइस्सं। (मा तावत्। भोः, स्वके गेहे कुक्कुरोऽपि तावच्चण्डो भवति, किं पुनरहं ब्राह्मणः। तदेतेनास्मादृशजनभागधेयकुटिलेन दण्डकाष्ठेन दुष्टस्येव शुष्कवेणुकस्य मस्तकं ते प्रहारैः कुट्टयिष्यामि।

विटः—महाब्राह्मण ! मर्षय मर्षय।

विदूषकः—(विटं दृष्ट्वा) ण एत्थ एसो अवरज्झदि। (शकारं दृष्ट्वा) एसो खु एत्थ अवरज्झदि। अरे रे राअसालअ संठाणअ दुज्जण दुम्मणुस्स ! जुत्तं णेदं। जइ वि णाम तत्तभवं अज्जचारुदत्तो दलिद्दो संवुत्तो, ता किं तस्स गुणेहिं

रदनिका—हाँ आप ही लोगों का।

विदूषक—क्या यह बलात्कार ?।

रदनिका—और क्या ?

विदूषक—सचमुच ?

रदनिका—सचमुच।

विदूषक—(क्रोध के साथ लकड़ी का दण्डा उठा कर) ऐसा नहीं (होगा)। अपने घर में तो कुत्ता भी जबर्दस्त बन जाता है और मैं तो भला ब्राह्मण हूँ। अतः हम लोगों के भाग्य के समान टेढ़े इस काठ के दण्ड से विकृत (दुष्ट)सूखे हुए बाँस के समान तेरे मस्तक को प्रहारों से कूट डालूँगा।

विट—महाब्राह्मण ! क्षमा करो, क्षमा करो।

विदूषक—(विट को देख कर) यहाँ यह अपराध नहीं कर रहा है। (शकार को देखकर) निश्चय ही यही अपराधी है। अरे राजश्यालक (राजा के साले) संस्थानक ! (शकार का नाम) दुष्ट ! नीच मनुष्य ! यह उचित नहीं है। यद्यपि आर्य चारुदत्त (इस समय) निर्धन हो गये हैं; तो भी क्या 'उज्जयिनी'

ण अलंकिदा उज्जइणी ? । जेण तस्स गेहं पविसिअ परिअणस्स ईरिसो उवमद्दो करीअदि ।

मा दुग्गदो त्ति परिहवो णत्थि कदंतस्स दुग्गदो णाम ।
चारित्तेण विहीणो अड्ढो वि अ दुग्गदो होइ ॥ ४३ ॥

(नात्र एषोऽपराध्यति । एष खल्वत्रापराध्यति । अरे रे राजश्यालक संस्थानक दुर्जन दुर्मनुष्य ! युक्तं नेदम् । यद्यपि नाम तत्रभवानार्यचारुदत्तो दरिद्रः संवृत्तः । तत्किं तस्य गुणैर्नालंकृतोज्जयिनी ? येन तस्य गृहं प्रविश्य परिजनस्येदृश उपमर्दः क्रियते ।

मा दुर्गत इति परिभवो नास्ति कृतान्तस्य दुर्गतो नाम ।
चारित्र्येण विहीन आढ्योऽपि च दुर्गतो भवति ॥)

नगरी उनके गुणों से विभूषित नहीं है ? जिससे उनके घर में घुसकर (उनके) सेवक का इस प्रकार अपमान किया जा रहा है ।

टीका—पशुः बध्यते अत्र इति पशुबन्धः = पशुबधस्थानम् , यूपकाष्ठम् इत्यर्थः तत्र उपनीतस्य=उपस्थापितस्य ; छागलस्य = अजस्य ; हृदम् इव=चेत इव ; फुरफुरायते = अत्यधिकं कम्पते इत्यर्थः । सदृशम्=योग्यम् । चण्डः = भयङ्करः वलीयान् वा । अस्मादृशजनानाम् = अस्मत्सदृशपुरुषाणाम् भागधेयवत्= भाग्यवत् कुटिलेन = वक्रेण ; दण्डकाष्ठेन इत्यस्य विशेषणमिदम् । दुष्टस्य=विकृतस्य दोषयुक्तस्य इत्यर्थः शुष्कवेणुकस्य = शुष्कवंशखण्डस्य इव ; कुट्टयिष्यामि = चूर्णयिष्यामि । महाब्राह्मण = उपहासोक्तिः इयम्, अधमब्राह्मण इत्यर्थः ; महच्छब्दस्य पूर्वं निवेशनात् ब्राह्मणशब्दः निन्दार्थाभिधायी भवति । लोकेऽपि इयं प्रथा दृश्यते । उक्तञ्च—शङ्खे तैले तथा मांसे वैद्ये ज्यौतिषिके द्विजे । यात्रायां पथि निद्रायां महच्छब्दो न दीयते । संस्थानक = इदं शकारस्य नाम । उपमर्दः = अपमानम् ।

टिप्पणीः—महाब्राह्मण = ब्राह्मणाधम, कुछ (ब्राह्मण आदि) शब्दों के पहले 'महत्' शब्द जोड़ने से निन्दित अर्थ प्रकट होता है ; (देखिये संस्कृत टीका) । तदेतेन··· कुट्टयिष्यामि—यहाँ पर विमर्श सन्धि का सम्फेट नामक अङ्ग है—"सम्फेटो रोपभाषणात् ।"

मा दुर्गत इति—

अन्वयः—(अयम्) दुर्गतः, इति, परिभवः, मा, (कर्तव्यः), कृतान्तस्य,

विटः—(सवैलक्ष्यम्) महाब्राह्मण ! मर्षय मर्षय । अन्यजनशङ्कया खल्विदमनुष्ठितम् , न दर्पात् । पश्य,—

सकामान्विष्यतेऽस्माभिः

(समीपे), दुर्गतः, न, अस्ति, नाम, च, चारित्र्येण, विहीनः, आढ्यः, अपि, दुर्गतः, भवति ॥ ४३ ॥

शब्दार्थः—(अयम् = यह), दुर्गतः = निर्धन (हैं), इति = इसलिये, परिभवः = अपमान, मा=नहीं, (कर्तव्यः = करना चाहिये), कृतान्तस्य = यमराज के (समीपे = पास में) दुर्गतः = निर्धन, न=नहीं, अस्ति=है, नाम = सम्भवतः, च = और, चारित्र्येण=चरित्र से, विहीनः = हीन, आढ्यः = धनी, अपि = भी, दुर्गतः= दुर्दशाग्रस्त, भवति=होता है ।

अर्थः—(यह) 'निर्धन हैं' इसलिये अपमान मत करो । यमराज के यहाँ निर्धन (कोई) नहीं है और चरित्रहीन धनवान् भी दुर्दशा (दुर्गति) को प्राप्त होता है ॥४३॥

टीका—अयम् = जनः इति अध्याहार्यम् ; दुर्गतः=निर्धनः ; इति = अस्मात् कारणात् ; परिभवः=तिरस्कारः ; मा = न ; कर्त्तव्यः इति शेषः ; कृतान्तस्य = यमराजस्य दैवस्य वा ; (समीपे = समक्षम्) ; दुर्गतः=दरिद्रः, नास्ति नाम इति संभावनायाम् ; च=तथा ; चारित्र्येण=शिष्टाचारेण ; विहीनः=रहितः ; आढ्यः = धनसम्पन्नः ; अपि ; दुर्गतः=दरिद्रः विपद्ग्रस्त इत्यर्थः ; भवति=जायते । चरित्र-सम्पद्विरहितस्य दुर्गतेति संज्ञा, न तु चरित्रसम्पन्नस्य इति भावः ॥ ४३ ॥

टिप्पणीः—नाम—सम्भावना अर्थ में अव्यय है । इस श्लोक में संसृष्टि अलङ्कार है । यहाँ पहले चरण में तेरह मात्राएँ हैं, अतः सभी चरणों में समान अक्षर न होने के कारण आर्या का लक्षण ठीक नहीं बैठता । इसलिये इसमें 'गाथा' छन्द माना गया है । इसका लक्षण इस प्रकार है—

"विषमाक्षरपादत्वात्, पादौ रसमञ्जसं धर्मवत् ।

यच्छन्दसि नोक्तमत्र, गाथेति तत् सुरिभिः कथितम् ॥" वृत्तरत्नाकर ॥४३॥

अर्थः—विट—(लज्जापूर्वक) महाब्राह्मण ! क्षमा करो, क्षमा करो । किसी दूसरे व्यक्ति (वसन्तसेना) के भ्रम से ऐसा (अनुचित) कार्य हो गया, अहङ्कार से नहीं । देखो—

विदूषकः—किं इअं ? । (किमियम् ? ।)

विटः—शान्तं पापम् ।

काचित्स्वाधीनयौवना ।

सा नष्टा शङ्कया तस्याः प्राप्तेयं शीलवञ्चना ॥ ४४ ॥

सर्वथेदमनुनयसर्वस्वं गृह्यताम् । (इति खड्गमुत्सृज्य कृताञ्जलिः पादयोः पतति)

सकामान्विष्यते इति—

अन्वयः - अस्माभिः, सकामा, स्वाधीनयौवना, काचित्, अन्विष्यते, सा, नष्टा, तस्याः, शङ्कया, इयम्, शीलवञ्चना, प्राप्ता ॥ ४४ ॥

शब्दार्थः –अस्माभिः = हमारे द्वारा, सकामा = कामासक्ता (युवती), स्वाधीनयौवना = अपने यौवन की स्वामिनी, काचित् = कोई स्त्री, अन्विष्यते = ढूँढी जा रही है, सा = वह स्त्री, नष्टा = गायब हो गयी, तस्याः = उसी की, शङ्कया = शङ्का से, इयम् = यह, शीलवञ्चना=चरित्र की हानि, प्राप्ता = प्राप्त हुई ॥

अर्थः—हमारे द्वारा एक कामासक्ता (युवती) ढूँढी जा रही है (अर्थात् हम लोग एक कामिनी को खोज रहे हैं) ।

विदूषक—क्या यह (रदनिका) ?

विट—पाप शान्त हो ।

कोई अपने यौवन की स्वामिनी स्त्री (अर्थात् वेश्या) । किन्तु वह रमणी तो भाग गयी और उसी के भ्रम में यह चरित्र की हानि हुई (अर्थात् इस प्रकार सदाचार का उल्लंघन हो गया ।) ॥ ४४ ॥

टीका:—अस्माभिः = शकारप्रमुखैः जनैः; कामेन = मदनेन सहिता = संयुक्ता स्त्री सकामा = कामोत्सुका युवतीत्यर्थः; स्वाधीनम् = स्वायत्तम् भर्त्राद्याधीनत्वविरहितम् इत्यर्थः यौवनम् = यौवनव्यवहारः यस्याः सा, स्वेच्छाचारिणी गणिका इति यावत्; काचित् = सुन्दरी; अन्विस्यते = अनुसन्धीयते; 'सकामा' 'स्वाधीनयौवना' इति विशेषणाभ्यां सा गणिकेति निर्दिश्यते । अतः तस्याः धारणं न दोषावहमिति भावः । किन्तु सा = अनुसन्धीयमाना सुन्दरीत्यर्थः; नष्टा = अदर्शनं गता; तस्याः = रमण्याः, शङ्कया = आशङ्कया भ्रमेण वा; इयम् = रदनिकया सह घटिता; शीलस्य = शिष्टाचारस्य वञ्चना = प्रतारणा दुश्चरितसंभावनेत्यर्थः; प्राप्ता = सञ्जाता, अस्माभिः इति शेषः । इयं प्रतारणा भ्रमवशाज्जाता न तु ज्ञानपूर्वकम् । अतः वयं न दोषभागिनः इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

विदूषकः—सप्पुरिस ! उट्ठेहि उट्ठेहि। अआणंतेण मए तुमं उवालद्धे। संपदं उण जाणंतो अणुणेमि। [सत्पुरुष ! उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। अजानता मया त्वमुपालब्धः। सांप्रतं पुनर्जानन्ननुनयामि।]

विट :—ननु भवानेवात्रानुनेयः। तदुत्तिष्ठामि समयतः।

विदूषक :—भणादु भवं। [भणतु भवान्।]

विट :—यदीमं वृत्तान्तमार्यचारुदत्तस्य नाख्यास्यसि।

विदूषक :—ण कधइस्सं। [न कथयिष्यामि।]

टिप्पणीः—इस श्लोक में 'पथ्यावक्त्र' छन्द है। इसका लक्षण इस प्रकार है—'युजोर्जेन सरिद्भर्तुः। पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्॥ ४४॥

शब्दार्थः—सर्वथा = सब प्रकार से, अनुनयसर्वस्वम् = सबसे बड़ी मनौती को। उपालब्धः = उलाहना दिये गये हो, बुरा = भला कहे गये हो। अनुनयामि = बिनती करता हूँ। अनुनेयः = बिनती करने के योग्य, बिनती करने के पात्र। समयतः = शर्त से।

अर्थः—(आप) सब प्रकार से मेरी इस महान् बिनती (मनौती) को स्वीकार कीजिए। (ऐसा कह कर तलवार त्याग कर हाथ जोड़ पैरों पर गिर जाता है)।

विदूषकः—हे सज्जन ! उठो, उठो। बिना जाने मैंने तुम्हें उलाहना दिया है। अब तो जान लेने पर मैं (आप से) बिनती करता हूँ।

विटः—इस विषय में तो आप ही बिनती के पात्र हैं। अच्छा तो मैं उठता हूँ, किन्तु एक शर्त पर।

टीका—सर्वथा = सर्वप्रकारेण ; अनुनयस्य = विनयस्य सर्वस्वम्=प्रधानम् इत्यर्थः। उपालब्धः = तिरस्कृतः। अनुनयामि = प्रार्थयामि क्षन्तुमिति शेषः। अनुनेयः=प्रार्थनीयः। समयतः = शपथतः ('समयः सपथाचारः कालसिद्धान्तसम्पदः' इति विश्वः), समयः = क्रियाबन्धः इति पृथ्वीधरः अपि।

टिप्पणीः—अनुनयामि = बिनती करता हूँ, अनु + √ नी + लट्।

अर्थः—**विदूषकः**—कहिए आप।

विटः यदि इस घटना को आर्य 'चारुदत्त' से नहीं बताओगे।

विदूषकः—नहीं कहूँगा।

विट :—

एष ते प्रणयो विप्र ! शिरसा धार्यते मया ।
गुणशस्त्रैर्वयं येन शस्त्रवन्तोऽपि निर्जिताः ॥ ४५ ॥

शकार :—(सासूयम्) किंणिमित्तं उण भावे ! एदश्श दुश्टवडुअश्श किविणं अंजलिं कदुअ पाएशु णिवडिदे ? । [किंनिमित्तं पुनर्भाव ! एतस्य दुष्ट-बटुकस्य कृपणाञ्जलिं कृत्वा पादयोर्निपतितः ? ।]

एष ते प्रणयो विप्र ! इति—

अन्वयः—हे विप्र ! एषः, ते, प्रणयः, मया, शिरसा, धार्यते, येन शस्त्रवन्त ; अपि, वयम्, गुणशस्त्रैः, निर्जिताः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थः – हे विप्र = हे ब्राह्मण ! एषः = यह, ते = तुम्हारा, प्रणयः = अनुग्रह, स्नेह, मया = मेरे द्वारा, शिरसा = शिर से, धार्यते = धारण किया जा रहा है, येन = जिससे, जिस कारण से, शस्त्रवन्तः = शस्त्रधारी, अपि = भी, वयम् = हम लोग, गुणशस्त्रैः = गुणरूपीशस्त्र से, निर्जिताः = पराजित कर दिये गये ।

अर्थः—विट—हे ब्राह्मण ! तुम्हारे इस अनुग्रह को मैं शिरोधार्य करता हूँ । जिस कारण से शस्त्रधारी होते हुए भी हम लोग आप के गुणरूपी शस्त्र से पराजित कर दिये गए हैं ॥ ४५ ॥

टीका—हे विप्र = हे द्विजश्रेष्ठ ! एषः = त्वया सम्प्रति एव प्रदर्शितः ; ते = तव ; प्रणयः = अनुग्रहः स्नेहः वा ; मया = विटेन ; शिरसा = उत्तमाङ्गेन इत्यर्थः ; धार्यते = स्वीक्रियते ; येन = कारणेन प्रणयेन वा शस्त्रवन्तः = आयुध-धारिणः ; अपि वयम् = विटादयः ; गुणाः = औदार्यादिगुणाः एव शस्त्राणि = आयुधानि तैः (कारणभूतैः) चारुदत्तस्य इति शेषः ; निर्जिताः = पराभूताः ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में रूपक अलङ्कार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है । इस छन्द का लक्षण पीछे के श्लोक की टिप्पणी में लिखा जा चुका है ॥ ४५ ॥

शब्दार्थः—सासूयम् = ईर्ष्या के साथ, कृपणाञ्जलिम् = दीनता पूर्वक जोड़ी गयी अञ्जलि को । अशितव्यम् = खाना, खाने को ।

अर्थः—शकार—(ईर्ष्या के साथ) भाव ! विनयपूर्वक हाथ जोड़ कर आप इस दुष्ट ब्राह्मण के पैरों पर क्यों गिर पड़े ?

विट :– भीतोऽस्मि।

शकार :—कश्श तुमं भीदे ?। [कस्मात्त्वं भीतः ?।]

विट :— तस्य चारुदत्तस्य गुणेभ्यः।

शकार :— के विअ तश्श गुणा जश्श गेहं पविशिअ अशिदव्वं पि णत्थि। [के इव तस्य गुणा यस्य गृहं प्रविश्याशितव्यमपि नास्ति।]

विट :—मा मैवम् ,—

सोऽस्मद्विधानां प्रणयैः कृशीकृतो
न तेन कश्चिद्विभवैर्विमानितः।
निदाघकालेष्विव सोदको ह्रदो
नृणां स तृष्णामपनीय शुष्कवान् ॥ ४६ ॥

विट—डर गया हूँ।

शकार—तुम किससे डर गये हो ?

विट—उस 'चारुदत्त' के गुणों से।

शकार—उसके क्या गुण हैं ? जिसके घर में घुसने पर कुछ खाने योग्य (पदार्थ) भी नहीं है (अर्थात् जिसके घर में खाने के लिए भी कुछ नहीं है)।

टीका:—असूयया = ईर्ष्यया सहितं सासूयम् = सेर्ष्यम्। कृपणाञ्जलिम्= दीनाञ्जलिम्। अशितव्यम् = भोजनार्हं द्रव्यम्, खाद्यम् इत्यर्थः॥

टिप्पणी:—असूया = गुणों को बर्दास्त न करना, गुणों में दोष दिखलाना 'गुणेषु दोषाविष्करणमसूया'। अशितव्यम्—√ अश् + तव्य॥

सोऽस्मद्विधानाम् इति—

अन्वयः—सः, अस्मद्विधानां, प्रणयैः, कृशीकृतः, तेन, कश्चित्, विभवैः, न, विमानितः नृणाम्, तृष्णाम्, अपनीय, सः, निदाघकालेषु, सोदकः, ह्रदः, इव, शुष्कवान्॥ ४६ ॥

शब्दार्थः– सः = वह चारुदत्त, अस्मद्विधानाम् = हम जैसे लोगों की, प्रणयैः = प्रेमपूर्वक मांगों से, कृशीकृतः = क्षीण (धनहीन) कर दिये गये हैं, तेन = उनके द्वारा, कश्चित् = कोई, विभवैः = धन के कारण से, न = नहीं, विमानितः = अपमानित किया गया, नृणाम् = पुरुषों की, तृष्णाम्=(धनसम्बन्धिनी) प्यास को, अपनीय = मिटाकर, सः = वह, निदाघकालेषु = गर्मी के समयों में,

शकारः—(सामर्षम्) के शे गब्भदाशीअ पुत्ते ? ।

शूले विक्कंते पंडवे शेदकेदू
पुत्ते लाधाए लावणे इंददत्ते ।
आहो कुंतीए तेण लामेण जादे
अश्शत्थामे धम्मपुत्ते जडाऊ ॥ ४७ ॥

[कः स गर्भदास्याः पुत्रः ?
शूरो विक्रान्तः पाण्डवः श्वेतकेतुः पुत्रो राधाया रावण इन्द्रदत्तः ।
आहो कुन्त्यास्तेन रामेण जातः अश्वत्थामा धर्मपुत्रो जटायुः ॥]

सोदकः = जलयुक्त, ह्रदः = तालाब (की), इव = भाँति, शुष्कवान् = सूख गये हैं अर्थात् निर्धन हो गये हैं ॥

अर्थः—विटः—ऐस मत कहो ।

वह हम जैसे लोगों की हो प्रेमपूर्ण मांगों से क्षीण (धनहीन) हो गये हैं (अर्थात् प्रेम के कारण हम लोगों को धन दे देकर निर्धन हो गये हैं) । उन्होंने किसी को भी धन के गर्व से अपमानित नहीं किया है । मनुष्यों की (धनसम्बन्धिनी) प्यास (तृष्णा) को मिटा कर वे गर्मी के समय में जलयुक्त तालाब के समान सूख गये हैं (अर्थात् निर्धन हो गये हैं) ॥ ४६ ॥

टीकाः— सः = चारुदत्तः; अस्मद्विधानाम् अस्माकम् विधा इव विधा= प्रकारः येषां तेषाम् = अस्मादृशानाम्; प्रणयैः = धनयाचनापूर्णप्रार्थनाभिः; कृशीकृतः = धनहीनः कृतः; तेनः = चारुदत्तेन; कश्चित् = कोऽपि, याचकः मनुष्यः इति शेषः; विभवैः=धनैः; न विमानितः = न अपमानितः; नृणाम्=याचकजनानाम्; तृष्णाम् = धनाभिलाषाम्; (ह्रदपक्षे—पिपासाम्); अपनीय=दूरीकृत्य; सः= चारुदत्तः; निदाधकालेषु = ग्रीष्मसमयेषु; सोदकः = सजलः; ह्रदः = जलाशयः; इव, शुष्कवान् = धनाभावरूपाम्, जलाभावरूपां च शुष्कतां प्राप्तः ॥ ४६ ॥

टिप्पणीः—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं वंशस्थविल छन्द है । छन्द का लक्षण इस प्रकार है—"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" ॥ ४६ ॥

शूरो विक्रान्तः इति –

अन्वयः—कः, सः, (इति गद्येन अन्वयः) विक्रान्तः, शूरः, (सः, किम्) पाण्डवः, श्वेतकेतुः, इन्द्रदत्तः, राधायाः, पुत्रः, रावणः, आहो, तेन, रामेण, जातः, कुन्त्याः (पुत्रः), अश्वत्थामा, (वा) धर्मपुत्रः, जटायुः ॥ ४७ ॥

विट :—मूर्ख ! आर्यचारुदत्तः खल्वसौ,

दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी
आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः ।
सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो
ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये ।४८।

तदितो गच्छामः ।

शब्दार्थ—कः = कौन (है), सः = वह, विक्रान्तः = पराक्रमी, शूरः = योद्धा ? ; (सः = वह, किम् = क्या), पाण्डवः = पाण्डु का पुत्र, श्वेतकेतुः = श्वेतकेतु (है ?), इन्द्रदत्तः = इन्द्र के द्वारा दिया गया, राधायाः = राधा का, पुत्रः = पुत्र, रावणः = दशानन (है ?), आहो = अथवा, तेन = उस, रामेण = राम से, जातः = उत्पन्न, कुन्त्याः = कुन्ती का (पुत्र) अश्वत्थामा (है ?) ; (वा = अथवा) धर्मपुत्रः = धर्मराज का पुत्र, जटायुः = जटायु है ? ।

अर्थः - शकारः—(रोषपूर्वक) कौन है वह जन्मदासी का पुत्र ?

क्या (वह) शूरवीर पाण्डुपुत्र 'श्वेतकेतु है ? अथवा इन्द्रप्रदत्त 'राधा' का पुत्र 'रावण' है ? अथवा प्रसिद्ध उस 'राम' से उत्पन्न 'कुन्ती' का पुत्र 'अश्वत्थामा' है ? अथवा धर्मपुत्र 'जटायु' है ? ।। ४७ ।।

टीकाः—कः सः, विक्रान्तः = पराक्रमी ; शूरः = वीरः ? ; सः किम् ; पाण्डवः = पाण्डुपुत्रः ; श्वेतकेतुः = एतन्नाम्ना प्रसिद्धः जनः अथवा इन्द्रेण = देवराजेन दत्तः = प्रदत्तः ; राधायाः पुत्रः = सुतः रावणः = दशाननः ; आहो = अथवा ; तेन = प्रसिद्धेन ; रामेण = रामचन्द्रेण ; जातः = समुत्पन्नः ; कुन्त्याः = अर्जुनमातुः ; (पुत्रः = सुतः) अश्वत्थामा = द्रौणिः ; अथवा धर्मपुत्रः = धर्मसुतः, जटायुः = तन्नाम्ना प्रसिद्धः महापराक्रमी पक्षिविशेषः । यदि एषु मध्ये कोऽपि अत्र उद्दिष्टः स्यात्तदा समीचीनः तव व्यवहारः नान्यथेति भावः ।। ४७ ।।

टिप्पणीः—शकार की उक्ति होने के कारण सभी प्रकार की गलतियाँ क्षम्य हैं । इस श्लोक में वैश्वदेवी छन्द है—

'बाणाश्वैश्छिन्ना वैश्वदेवी म—मौ यौ" ।। ४७ ।।

दीनानाम् इति –

अन्वयः—दीनानाम्, स्वगुणफलनतः, कल्पवृक्षः ; सज्जनानाम्, कुटुम्बी; शिक्षितानाम्, आदर्शः; सुचरितनिकषः; शीलवेलासमुद्रः; सत्कर्ता; न, अवमन्ता;

पुरुषगुणनिधिः; दक्षिणोदारसत्त्वः; हि, अधिकगुणतया, श्लाघ्यः, एकः, सः, जीवति, अन्ये, उच्छ्वसन्ति, इव, च ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ :—दीनानाम् = दीनों के, स्वगुणफलनतः = अपने गुण रूपी फलों से झुके हुए, कल्पवृक्षः = कल्पवृक्ष, सज्जनानाम् = साधुओं के, कुटुम्बी = बन्धु, शिक्षितानाम् = पढ़े लिखे लोगों के, आदर्शः = आदर्श, नमूना, सुचरित-निकषः = सच्चरित्र की कसौटी, शीलवेलासमुद्रः = सदाचाररूपी मर्यादा के सागर, सत्कर्ता = सत्कार करने वाले, न = नहीं, अवमन्ता = अनादर करने वाले, पुरुषगुणनिधिः = मनुष्योचित गुणों के खजाना, दक्षिणोदारसत्त्वः = सरल एवं उदारस्वभाववाले, हि = निश्चित ही, अधिकगुणतया = गुणों की अधिकता के कारण, श्लाघ्यः = प्रशंसनीय, एकः = एकमात्र, सः = वह चारुदत्त, जीवति = जी रहे हैं, अन्ये = दूसरे लोग, उच्छ्वसन्ति = सांस लेते हैं, इव = मानो, जैसे ॥

अर्थः—विट—अरे मूर्ख ! यह तो आर्य 'चारुदत्त' हैं ।

जो दीनों के (कामनाओं को पूर्ण करने वाले) अपने गुण रूपी फलों से नम्र कल्पवृक्ष हैं । साधुओं के बन्धु, शिक्षितों के आदर्श, सच्चरित्र की कसौटी, सदाचार रूपी मर्यादा के (न लांघने वाले) सागर, सत्कार करने वाले, किसी का अनादर न करने वाले, मनुष्योचित गुणों के खजाना, सरल एवं उदार स्वभाव वाले हैं। गुणों की प्रचुरता के कारण प्रशंसनीय वह आर्य चारुदत्त ही (यथार्थ रूप में) जीवित हैं और अन्य लोग तो सिसकते ही हैं (अर्थात् उनके अतिरिक्त अन्य गुणहीन व्यक्तियों का जीवन निरर्थक है) ॥४८॥

तो यहाँ से चलें ।

टीका:—दीनानाम् = दुरवस्थापतितानाम् जनानाम् ; स्वस्य = निजस्य गुणाः = दयादाक्षिण्यादिगुणाः एव फलानि = परिणामाः तैः नतः = नम्रः अतिविनयशीलः इति भावः ; कल्पवृक्ष = कल्पस्य वृक्षः (जन्यजकनभाव-सम्बन्धे षष्ठी) अथवा कल्पफलकः कल्पपूरणः वा वृक्षः (शाकपार्थिवादिः) कल्पवृक्षः = कल्पतरुः ; सज्जनानाम् = सद्वृत्तानाम् जनानाम् ; कुटुम्बी = बन्धुः ; उपजीव्यः इति भावः ; शिक्षितानाम् = विदुषाम् ; आदृश्यते रूपमत्र आदर्शः = निदर्शनरूपः ; सुचरितानाम् = दयादाक्षिण्यादीनाम् निकष्यते अस्मिन् इति निकषः = परीक्षापाषाणः, परीक्षास्थानमित्यर्थः ; शीलम् = सद्वृत्तम् एव वेला = मर्यादा तस्याः समुद्रः = सागरः ; यथा सागरः कदापि वेलाभूमिं नातिक्रामति

शकार :—अगेरिहअ वशंतशेणिअं ? । [अगृहीत्वा वसन्तसेनाम् ?]

विट :—नष्टा वसन्तसेना ।

शकार :—कधं विअ ? । [कथमिव ? ।]

विट :—

अन्धस्य दृष्टिरिव पुष्टिरिवातुरस्य
मूर्खस्य बुद्धिरिव सिद्धिरिवालसस्य।
स्वल्पस्मृतेर्व्यसनिनः परमेव विद्या
त्वां प्राप्य सा रतिरिवारिजने प्रनष्टा ॥ ४९ ॥

तथैवाऽयं जनः सदाचारं न लङ्घयति इत्यर्थः। सत्कर्ता = समादरकर्ता, सर्वेषां जनानाम् इति शेषः ; नावमन्ता = न कस्यचिदपि अपमानकर्ता ; पुरुषगुणानाम् = औदार्यादीनाम् निधिः = आलयः ; दक्षिणम् = सरलम् अनुकूलम् वा उदारम् = महत् च सत्त्वम् = स्वभावः यस्य सः (सत्त्वं द्रव्ये गुणे चित्ते व्यवसायस्वभावयोः। पिशाचादौवालभावे बले प्राणेषु जन्तुषु' इति हेमचन्द्रः) ; हि = निश्चितम् ; अधिकगुणतया = अन्यजनातिशायिगुणशालित्वेन इत्यर्थः ; श्लाघ्यः = प्रशंसनीयः, एकः = केवलः, सः = चारुदत्तः ; जीवति = सफलं प्राणान् धारयति ; अन्ये = इतरे जनाः ; उच्छ्वसन्ति = उच्छ्वासं कुर्वन्ति ; इव = यथा ; यथा चर्ममयी भस्त्रा उच्छ्वसति तथैवेतरे च ।

टिप्पणी:—आदर्शः = नमूना । आ + √दृश् + घञ् । इस श्लोक में एक ही चारुदत्त का अनेक रूपों में उल्लेख किया गया है अतः उल्लेख अलङ्कार है । शीलवेला आदि में रूपक है; उच्छ्वसन्तीव में क्रियोत्प्रेक्षा अलङ्कार है । इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है स्रग्धरा—लक्षण = म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—शकार:—'वसन्तसेना' को बिना पकड़े ही ?

विट—'वसन्तसेना' तो अदृश्य हो गयी ।

शकार—किस प्रकार ?

अन्धस्य दृष्टिः इति—

अन्वय:—सा, त्वाम्, प्राप्य, अन्धस्य, दृष्टिः, इव, आतुरस्य, पुष्टिः, इव, मूर्खस्य, बुद्धिः, इव, अलसस्य, सिद्धिः, इव, अल्पस्मृतेः, व्यसनिनः, परमा, विद्या, इव, अरिजने, रतिः, इव, प्रनष्टा ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ:—सा = वह वसन्तसेना, त्वाम् = तुमको, प्राप्य = प्राप्त कर,

शकार :—अगेरिहअ वशंतशेरिअं ण गमिश्शं । [अगृहीत्वा वसन्तसेनां न गमिष्यामि ।]

विट : एतदपि न श्रुतं त्वया ?

आलाने गृह्यते हस्ती वाजी वल्गासु गृह्यते ।
हृदये गृह्यते नारी यदीदं नास्ति गम्यताम् ।। ५० ।।

अन्धस्य = अन्धे की, दृष्टिः = आँख (के), इव = समान, आतुरस्य = रोगी के पुष्टिः = बल (के), इव = समान, मूर्खस्य = मूर्ख की, बुद्धिः = बुद्धि (के), इव = समान, अलसस्य = आलसी की, सिद्धिः = सफलता (की), इव = तरह, अल्पस्मृतेः = कम स्मरण शक्तिवाले, व्यसनिनः = दुर्गुणासक्त (व्यक्ति की) परमा = उत्कृष्ट, विद्या = विद्या (की), इव = भाँति, अरिजने = शत्रु में, रतिः = प्रेम (के), इव = तुल्य, प्रनष्टा = अदृश्य हो गयी ।।

अर्थः—विट—वह तुम्हें प्राप्त कर अन्धे की दृष्टि के समान, रोगी के बल के समान, मूर्ख की बुद्धि की भाँति आलसी की सफलता की भाँति, कम स्मरण शक्तिवाले दुर्गुणासक्त (व्यक्ति) की उत्कृष्ट विद्या की तरह, शत्रुओं में प्रेम के सदृश, अदृश्य हो गयी ।। ४९ ।।

टीका:—सा = वसन्तसेना; त्वाम् = शकारम्; प्राप्य = लब्ध्वा; अन्धस्य = दृष्टिशक्तिरहितस्य जनस्य; दृष्टिः = दर्शनशक्तिः इव, आतुरस्य = व्याधिविह्वलस्य; पुष्टिः = शरीरबलमिव; मूर्खस्य = विवेकहीनस्य; बुद्धिः = विवेकसामर्थ्यम् इव; अलसस्य = मन्दस्य ('मन्दः तुन्दपरिमृजोऽलसः' इत्यमरः), सिद्धिः = कार्यसफलता इव; अल्पा = क्षीणा स्मृतिः = स्मरणशक्तिः यस्य तस्य; व्यसनम् अस्ति अस्य इति व्यसनी तस्य व्यसनिनः = दुर्गुणासक्तस्य; परमा = श्रेष्ठा; विद्या = ज्ञानमिव; अरिजने = शत्रुजने; रतिः = अनुरागः इव; प्रनष्टा = अदर्शनं गता ।। ४९ ।।

टिप्पणीः—यहाँ पर एक ही उपमेयभूत वसन्तसेना के लिये अन्धे की दृष्टि, आतुर की पुष्टि आदि अनेक उपमान होने के कारण मालोपमा अलङ्कार है । प्रयुक्त छन्द है वसन्ततिलका । छन्द का लक्षण—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ।। ४९ ।।

अर्थः—शकार—'वसन्तसेना' को बिना लिये नहीं जाऊँगा ।

आलाने इति—

अन्वय :—हस्ती, आलाने, गृह्यते, वाजी, वल्गासु, गृह्यते, नारी, हृदये, गृह्यते, यदि, इदम्, नास्ति, (तदा), गम्यताम् ।। ५० ।।

शकार : - यदि गच्छशि, गच्छ तुमं । हग्गे ण गमिश्शं । [यदि गच्छसि, गच्छ त्वम् । अहं न गमिष्यामि ।]

विट : एवम् ; गच्छामि । (इति निष्कान्तः)

शकार : गडे खु भावे अभावं । (विदूषकमुद्दिश्य ।) अले काकपद-शीशमश्तका दुश्टवडुअका ! उवविश उवविश । [गतः खलु भावोऽभावम् । अरे काकपदशीर्षमस्तक दुष्टवटुक ! उपविशोपविश ।]

शब्दार्थः – हस्ती = हाथी, आलाने = खम्भे में (हाथी को बाँधने का खम्भा आलान कहा जाता है), गृह्यते = वश में किया जाता है, वाजी घोड़ा, वल्गासु = लगामों में, गृह्यते = वश में किया जाता है, नारी = स्त्री, हृदये = हृदय में, गृह्यते = पकड़ी जाती है, वश में की जाती है, यदि = यदि, इदम् = हृदय, नास्ति = नहीं है, (तदा = तो), गम्यताम् = जाओ ॥

अर्थः—विट—क्या तुमने यह भी नहीं सुना है ? (कि)—

हाथी खम्भे में (बाँध कर) वश में किया जाता है, घोड़ा लगाम से वश में किया जाता है और स्त्री हृदय से (हृदय के प्रेम से) वश में की जाती है। यदि यह (हृदय अथवा हृदय का प्रेम) नहीं है तो जाइये ॥ ५० ॥

टीका—हस्ती = करी ; आलाने = बन्धनस्तम्भे ('आलानं बन्धनस्तम्भः' इत्यमरः) गृह्यते = वशीक्रियते ; वाजी = अश्वः ; वल्गासु = मुखरश्मिसु ; गृह्यते = निरुध्यते ; नारी = स्त्री ; हृदये = हृदि ; गृह्यते = वशीक्रियते ; स्त्रीणां वशीकरणं हृदयप्रेम्णा एव सम्भवति न तु बलात्कारेण इति भावः ; यदि = चेत् ; इदम् = अनुरागपूर्णं हृदयम् ; नास्ति = न वर्तते ; तदा गम्यताम् = निवर्त्यतामस्माद्व्यापारादिति भावः ॥ ५० ॥

टिप्पणीः—हृदये गृह्यते = भाव यह है कि किसी स्त्री के हृदय को आकृष्ट करके ही उसे वश में किया जाता है, जबर्दस्ती नहीं । 'हृदये' शब्द में सप्तमी विभक्ति का यही भाव है कि नारी के हृदय को पकड़ कर उसको अपना बनाया जाता है ।

यहाँ निदर्शना अलङ्कार है—'आलान आदि में हस्ती आदि के ग्रहण के समान 'हृदय में' स्त्री ग्रहण की जाती है ; यह तात्पर्य है । इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—पथ्यावक्त्र, लक्षण—'युजोर्येन सरिद्भर्तुः । पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्' ॥ ५० ॥

अर्थः—शकार—यदि तुम जाते हो, तो जाओ; मैं नहीं जाऊँगा ।

विट—अच्छा, जाता हूँ । (निकल जाता है) ।

विदूषक :—उववेसिदा जेव्व अम्हे । [उपवेशिता एव वयम् ।]

शकार :—केण ? । [केन ? ।]

विदूषक :—कअंतेण । [कृतान्तेन ।]

शकार :—उट्ठेहि उट्ठेहि । [उत्तिष्ठोत्तिष्ठ ।]

विदूषक :—उट्ठिस्सामो । [उत्थास्यामः ।]

शकार :—कदा ? । [कदा ? ।]

विदूषक :—जदा पुणो वि देव्वं अणुऊलं भविस्सदि । [यदा पुनरपि दैवमनुकूलं भविष्यति ।

शकार :—अले, लोद लोद । [अरे, रुदिहि रुदिहि ।]

विदूषक :—रोदाविदा जेव्व अम्हे । [रोदिता एव वयम् ।]

शकार :—केण ? । [केन ? ।]

शब्दार्थः—भावः = आदरणीय, विट, अभावम् = अनुपस्थिति को, ओझलपन को । काकपदशीर्षमस्तक = कौए के पञ्जे के समान शिर तथा माथे वाले ! कृतान्तेन = भाग्य के द्वारा । दुर्गत्या = दुर्दशा के द्वारा । ऋद्धया=समृद्धि के द्वारा । बलात्कारानुनीयमाना = जबर्दस्ती मनायी जाती हुई । अधिकरणे = न्यायालय में, व्यवहारं विना = मुकदमा के बिना, लघु = शीघ्र, निर्यातयतः = लौटाते हुए । अनुबद्धा = दृढ़ ॥

अर्थः—शकार—भाव तो अभाव को प्राप्त हुए (अर्थात् विट चले गये) । (विदूषक को लक्ष्य करके) अरे कौवे के पैर के समान शिर तथा माथे वाले दुष्ट वटुक, बैठ जा, बैठ जा ।

विदूषक—हम लोग तो बैठा ही दिए गये हैं ।

शकार—किसके द्वारा ?

विदूषक दैव के द्वारा ।

शकार—उठो, उठो ।

विदूषक—उठेंगे ।

शकार—कब ?

विदूषक—जब फिर भाग्य अनुकूल होगा ।

शकार—अरे रोओ, रोओ ।

विदूषक—हम लोग रुलाए जा चुके हैं ।

शकार—किसके द्वारा ?

विदूषक :—दुग्गदीए। [दुर्गत्या।]

शकार :– अले, हश हश। [अरे, हस हस।]

विदूषकः—हसिस्सामो। [हसिष्यामः।]

शकारः—कदा ?। [कदा ?।]

विदूषकः—पुणो वि रिद्धीए अज्जचारुदत्तस्स। [पुनरपि ऋद्धयार्यचारुदत्तस्य।]

शकारः—अले दुश्टवडुअका ! भणेशि मम वअणेण तं दलिद्दचालुदत्तकं—'एशा शशुवण्णा शहिलण्णा णवणाडअदंशणुठ्ठिदा शुत्तधालिव्व वशंतशेणिआ णाम गणिआदालिआ कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुदि तुमं अणुलत्ता अम्हेहिं बलकालाणुणीअमाणा तुम गेहं पविश्टा। ता जइ मम हश्ते शअं जेव्व पट्टाविअ एणं शमप्पेशि, तदो अधिअलणे ववहालं विणा लहुं णिज्जादमाणाह तव मए अणुबद्धा पीदी हुविश्शदि। आदु अणिज्जादमाणाह आमलणंतिके वेले हुविश्शदि। अवि अ पेक्ख पेक्ख,

---

विदूषक—दुर्दशा (दुर्गति) के द्वारा।

शकार—अरे हँस, हँस।

विदूषक—हँसेगें।

शकार—कब ?

विदूषक—पुनः आर्य 'चारुदत्त' की समृद्धि से।

शकार—अरे दुष्ट बटुक ! मेरे बचन (मेरी ओर) से उस दरिद्र 'चारुदत्त' से कहो कि—"यह सुन्दर वर्ण (रङ्ग) वाली, सुवर्ण (के आभूषणों) से युक्त, नवीन नाटक के प्रदर्शन के लिए उठ कर खड़ी हुयी मुख्य नटी जैसी 'वसन्तसेना' नाम की वेश्या-पुत्री, जो कि कामदेवायतनोद्यान (में जाने) से लेकर तुमसे प्रेम करती है, हमारे द्वारा बलपूर्वक मनायी जाती हुयी भी तुम्हारे घर में प्रविष्ट हो गयी है। तो यदि स्वयं ही (तुम) भेज कर मेरे हाथ में इसको सौंप देते हो तो न्यायालय में मुकदमे के बिना शीघ्र ही 'वसन्तसेना' को लौटाने वाले तुम्हारा मेरे साथ दृढ़ प्रेम हो जायगा। अथवा (वसन्तसेना) को नहीं लौटाने पर (हमारे साथ तुम्हारी) जीवन भरके लिए शत्रुता हो जायगी।"

टीकाः—भावः = आदरणीयः विटः; अभावम् = अदर्शनम्। काकपदवत् (वक्रं पञ्चधा विभक्तम् वा) शीर्षं मस्तकं च यस्य तत्सम्बोधने, सुलक्षणरहितमस्तक इत्यर्थः। कृतान्तेन = दैवेन इत्यर्थः। दुर्गत्या = दुर्दशया।

कश्चालुका गोच्छडलित्तवेंटा
शाके अ शुक्खे तलिदे हु मंशे ।
भत्ते अ हेमंतिअलत्तिशिद्धे
लीणे अ वेले ण हु होदि पूदी ॥ ५१ ॥

शोश्तकं भणेशि, लश्तकं भणेशि । तधा भणेशि जधा हग्गे अत्तणकेलिकाए पाशादबालग्गकवोदवालिआए उवविश्टे शुणामि तधा जदि ण भणेशि, ता कवालतलप्पविश्टं कवित्थं विअ मश्तअं दे मडमडाइश्शं । [अरे दुष्टबटुक ! भणिष्यसि मम वचनेन तं दरिद्रचारुदत्तकम्—'एषा ससुवर्णा सहिरण्या नवनाटक-दर्शनोत्थिता सूत्रधारीव वसन्तसेनानाम्नी गणिकादारिका कामदेवायतनोद्यानात्प्रभृति त्वामनुरक्तास्माभिर्बलात्कारानुनीयमाना तव गेहं प्रविष्टा । तद्यदि मम हस्ते स्वयमेव प्रस्थाप्यैनां समर्पयसि, ततोऽधिकरणे व्यवारं विना लघु निर्यातयतस्तव मयानुबद्धा प्रीतिर्भविष्यति । अथवाऽनिर्यातयतो मरणान्तिकं वैरं भविष्यति । अपि च प्रेक्षस्व,

कूष्माण्डी गोमयलिप्तवृन्ता शाकं च शुष्कं तलितं खलु मांसम् ।
भक्तं च हैमन्तिकरात्रिसिद्धं लीनायां च वेलायां न खलु भवति पूति ॥

ऋद्धया = समृद्धया ; अत्र प्रासङ्गिकचरितप्रकाशनेन प्रकरी नाम कार्यावस्था प्रदर्शिता—'प्रासङ्गिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता' इति लक्षणात् । बलात्कारेण = हठेन, विनयभङ्गेन इत्यर्थः अनुनीयमाना = आराध्यमाना । अधिकरणे = न्यायालये; व्यवहारं विना = विवादम् अभियोगं वा विना (अनेन व्यवहारनाम्नः नवमाङ्कस्य सूचनमिति पृथ्वीधरटीका) ; लघु = शीघ्रम् ; निर्यातयतः = अर्पयतः वसन्तसेनाम् इति शेषः । अनुबद्धा = सुदृढा ॥

टिप्पणीः—पुनरपि ऋद्धया—यहाँ पर प्रसङ्गवश चरित के कहने से प्रकरी नाम की कार्यावस्था है—देखिये टीका । बलात्कारः—हिंसा का प्रयोग करना, बल लगाना, बल + अत् + क्विप् = बलात् + √कृ + अण् ॥

कूष्माण्डी इति -

अन्वयः—गोमयलिप्तवृन्ता, कूष्माण्डी, शुष्कम्, शाकम्, च, तलितम्, मांसम्, खलु हैमन्तिकरात्रिसिद्धम्, भक्तम्, च, वेलायाम्, लीनायाम्, च, न, खलु, पूति, भवति ॥ ५१ ॥

शब्दार्थः—गोमयलिप्तवृन्ता = गोबर से लिपी हुई वृन्त (डंठल) वाली, कूष्माण्डी = कुम्हड़ी, शुष्कम् = सूखा हुआ, शाकम् = शाक, च = और,

शोभनं भणिष्यसि, सकपटं भणिष्यसि। तथा भणिष्यसि यथाहमात्मकीयायां प्रासादबालाग्रकपोतपालिकायामुपविष्टः शृणोमि। अन्यथा यदि भणसि, तदा कपाटतलप्रविष्टं कपित्थगुलिकमिव मस्तकं ते मडमडायिष्यामि।

तलितम् = तला हुआ, मांसम् = मांस, हैमन्तिकरात्रिसिद्धम् = हेमन्त ऋतु की रात में पकाया हुआ, भक्तम् = भात, वेलायाम् = काल (के), लीनायाम् = बीत जाने पर, च = भी, न खलु = नहीं, पूति = दुर्गन्धयुक्त, विकृत, भवति = होता है ॥

अर्थः—और भी देखो—

गोबर से लिप्त डण्ठल वाली कुम्हड़ी (कूष्माण्डी), सूखा हुआ शाक, तला हुआ मास, हेमन्त ऋतु की रात्रि में पकाया हुआ भात, (अधिक) काल बीत जाने पर भी विकृत नहीं होते हैं ॥ ५१ ॥

टीकाः—गोमयेन = गोपुरीषेण लिप्तम् = वेष्टितम् वृन्तम् = बन्धनम् यस्याः सा; कुष्माण्डी = स्वल्पकर्कारुः; ('कुष्माण्डकस्तुकर्कारुः' इत्यमरः) शुष्कम् = विरसम्; शाकम्; च; तलितम् = घृतादिना सम्भृष्टम्; मांसम् खलु; हैमन्तिकायाम् = हेमन्तऋतुभवायां रात्रौ = निशायाम् सिद्धम् = पक्वम्; भक्तम् = अन्नम् तण्डुलं वा; वेलायाम् = काले; लीनायाम् = अतिक्रान्तायाम्; च = अपि; न खलु = नैव; पूति = दुर्गन्धयुक्तम्, विकृतम् इत्यर्थः; भवति = जायते। शकारस्यायम् अभिप्रायः - विकारि एतत् वस्तुजातं कृते यत्ने कालातिपातं कर्तुं प्रभवति, परञ्च वसन्तसेनामनिर्यातयता त्वया सह मम मरणान्तिकं वैरं भविष्यतीति ॥ ५१ ॥

टिप्पणी—यहाँ पर अप्रस्तुत यथोक्त कूष्माण्ड इत्यादि में दुर्गन्ध के अभाव का प्रतिपादन किया गया है और उससे प्रस्तुत वसन्तसेना को न लौटाने से वैररूप दोष की विपरीत-क्रम से प्रतीति होती है; अतः अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार है। प्रयुक्त छन्द का नाम है—इन्द्रवज्रा। इसका लक्षण इस प्रकार है—

'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' ॥ ५१ ॥

शब्दार्थः—शोभनम्=भली प्रकार। आत्मकीयायाम्=अपनी, प्रासादबालाग्रकपोतपालिकायाम्=राजभवन के नवनिर्मित ऊपरी भागवाली कपोतपालिका (कबूतर पालने का स्थान) पर, उपविष्टः = बैठा हुआ। कपित्थगुलिकम् इव = कैथ के गोल फल की तरह, ते = तुम्हारे, मस्तकम् = शिर को, मडमडायिष्यामि = मड़-मड़ शब्द के साथ पीस डालूँगा ॥

विदूषकः—भणिस्सं। [भणिष्यामि।]

शकारः—(अपवार्य) चेडे! गडे शच्चकं जेव्व भावे। [चेट! गतः सत्यमेव भावः।]

चेटः—अध इं। [अथ किम्।]

शकारः—ता शिग्घं अवक्कमम्ह। [तच्छीघ्रमपक्रमावः।]

चेटः—ता गेण्हदु भश्टके अशिं [तद्गृह्णातु भट्टारकोऽसिम्।]

शकारः—तव जेव्व हत्थे चिश्टदु। [तवैव हस्ते तिष्ठतु।]

चेटः—एशे भश्टालके। गेण्हदु णं भश्टके अशिं। [एष भट्टारकः। गृह्णात्वेनं भट्टरकोऽसिम्।]

अर्थः—भली प्रकार कहना, तथा शीघ्र कहना; और उस प्रकार कहना जिससे मैं (अपने) राजभवन के नवनिर्मित ऊपरी भाग वाली कपोतपालिका पर बैठा हुआ सुनता रहूँ। यदि ऐसे नहीं कहोगे, तो किवाड़ों के बीच में रक्खी हुयी कैथ के समान, तुम्हारे मस्तक को मड़-मड़ शब्द के साथ पीस डालूँगा।

टीका शोभनम् = सुन्दरम्, ममानुकूलं यथा तथा इत्यर्थः। आत्मकीयायाम्=स्वकीयायाम्; प्रासादस्य = राजगृहस्य ('प्रासादो देव-भूभुजाम्' इत्यमरः) बालम्=नूतनम् अग्रम् = अग्रभागः यस्या सा, नवनिर्मिताग्रभागा इत्यर्थः, या कपोतपालिका—कपोतानां पालिका=रक्षास्थानम् विटङ्कम् इत्यर्थः ('कपोतपालिकायान्तु विटङ्कं पुं-नपुंसकम्' इत्यमरः) तस्याम्; उपविष्टः = स्थितः। कपाटतले = कपाटमध्ये प्रविष्टम् = गतम्; कपित्थगुलिकम् = वर्तुलाकारं कपित्थफलम् इव; ते = तव; मस्तकम् = शिरः; मडमडायिष्यामि = चूर्णयिष्यामि॥

अर्थः— विदूषक—कह दूँगा।

शकार—(अलग हट कर) चेट! सचमुच ही भाव (विट) चले गये?

चेट—और क्या?

शकार - तो हम दोनों शीघ्र ही चलें।

चेट—तो स्वामी तलवार को ग्रहण करें।

शकार—तुम्हारे ही हाथ में रहे।

चेट—स्वामिन्! यह है। आप इस तलवार को लेलें।

शकारः—(विपरीतं गृहीत्वा)

णिव्वक्कलं मूलकपेशिवण्णं खंधेण घेत्तण अ कोशशुत्तं ।
कुक्केहिं कुक्कीहिं अ बुक्कअंते जधा शिआले शलणं पलामि ॥५२॥
[निर्वल्कलं मूलकपेशिवर्णं स्कन्धेन गृहीत्वा च कोशसुप्तम् ।
कुक्कुरैः कुक्करीभिश्च बुक्कयमानो यथा शृगालः शरणं प्रयामि ॥]

(परिक्रम्य निष्क्रान्तौ)

निर्वल्कलमिति—

अन्वयः—निर्वल्कलम्, मूलकपेशिवर्णम्, कोशसुप्तम्, (असिम्), स्कन्धेन, गृहीत्वा, च, कुक्कुरैः, कुक्कुरीभिः, च, बुक्क्यमानः, शृगालः, यथा, शरणम्, प्रयामि ॥ ५२ ॥

शब्दार्थः— निर्वल्कलम् = नङ्गी, मूलकपेशिवर्णम् = मूली के छिलके के समान रङ्गवाली, कोशसुप्त = म्यान में स्थित, (असिम् = तलवार को), स्कन्धेन = कन्धे से (पर), गृहीत्वा = पकड़कर, यहाँ पर रख कर, च = तथा, कुक्कुरैः = कुत्तों के द्वारा, कुक्कुरीभिः = कुतियों के द्वारा, बुक्कयमानः = भोंके जाते हुए, शृगालः = गीदड़ (की), यथा = भाँति, शरणम् = घर को, प्रयामि = जा रहा हूँ ॥

अर्थ : शकार—(उलटी पकड़ कर)—

नङ्गी तथा मूली के छिलके के समान रङ्गवाली, कोष (म्यान) में स्थित तलवार को कन्धे पर रख कर मैं कुत्ते और कुतियों के द्वारा भोंके जाते हुए गीदड़ की भाँति घर को जाता हूँ ॥ ५२ ॥

(घूमकर निकल जाते हैं)

टीका—वल्कलात् = तरुत्वचः लक्षणया तन्निर्मितात् कोशात् निर्गतम् = निःसृतम् कोशबहिर्भूतम् इत्यर्थः; मूलकस्य पेशिः = त्वक् तद्वर्णः इव वर्णः यस्य तम् = मूलकत्वग्वर्णमित्यर्थः; कोशसुप्तम्=कोशस्थितम् (असिम्); स्कन्धेन = अंश-प्रदेशेन; गृहीत्वा = धृत्वा; च; कुक्कुरैः = श्वभिः; कुक्कुरीभिः = शुनीभिश्च; बुक्कयमानः - शब्दायमानः; शृगालः=जम्बुकः; यथा = इव; शरणम्=गृहम् ('शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः); प्रयामि = वेगेन गच्छामि ॥ ५२ ॥

टिप्पणी—यहाँ पर 'निर्वल्कलम्', और 'कोशसुप्तम्' दोनों शब्दों का विरोध हटाने के लिये यह माना जाता है कि शकार ने कन्धे पर रखने से पहले नङ्गी तलवार को कोश में रख लिया। बुक्कयमानः = √बुक्क (भोंकना)+शानच्

विदूषकः—भोदि रदणिए ! ण हु दे अअं अवमाणो तत्थभवदो चारुदत्तस्स णिवेदइदव्वो। दोग्गच्चपीडिअस्स मण्णे दिउणदरा पीडा हुविस्सदि। [भवति रदनिके ! न खलु तेऽयमपमानस्तत्रभवतश्चारुदत्तस्य निवेदयितव्यः। दौर्गत्यपीडितस्य मन्ये द्विगुणतरा पीडा भविष्यति।]

रदनिका—अज्ज मित्तेअ ! रदणिआ खु अहं संजदमुही। [आर्य मैत्रेय ! रदनिका खल्वहं संयतमुखी।]

विदूषकः—एवं णेदं। [एवमिदम्।]

चारुदत्तः—(वसन्तसेनामुद्दिश्य) रदनिके ! मारुताभिलाषी प्रदोषस-

---

(कर्म में)। इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं उपजाति छन्द है। छन्द का लक्षण—

अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ
पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।
इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु
वदन्ति जातिष्विदमेव नाम ॥ ५२ ॥

अर्थः—विदूषक—अरी रदनिके ! अपने इस अनादर को परमश्रद्धेय आर्य चारुदत्त से मत कहना। मैं समझता हूँ कि (इस घटना को सुनकर) दुर्दशा से पीडित (आर्य चारुदत्त) की पीडा दुगुनी हो जायगी।

शब्दार्थः— अहम्=मैं, खलु = निश्चय ही, संयतमुखी= मुँह को वश में करने-वाली, रदनिका = रदनिका नामक सेविका, दाँतवाली; (अस्मि हूँ), मारुता-भिलाषी = वायु का इच्छुक, प्रदोषसमयशीतार्तः = रात के पहले पहर की ठण्ड से पीड़ित, रोहसेनः= चारुदत्त का पुत्र। प्रवारकेण=दुपट्टे से। अनुदासीनम् = (भोग के प्रति) उदासीनता रहित। अपवारितकेन = चारुदत्त से ओझल होकर, उसकी आँखों से बचकर। तव = तुम्हारे, अभ्यन्तरस्य = घर के भीतर के लिये, अहम् = मैं, मन्दभागिनी = अयोग्य (हूँ) ॥

अर्थः–रदनिका—आर्य मैत्रेय ! मैं 'रदनिका' अपने मुख (जिह्वा) को वशमें रखने वाली हूँ।

विदूषक—हाँ, यह ऐसा ही है।

चारुदत्त—(वसन्त सेना को लक्ष्य करके) रदनिके ! वायु (सेवन) का इच्छुक 'रोहसेन' ('चारुदत्त' का पुत्र) रात्रि के प्रथम प्रहर की (अर्थात्

मयशीतार्तो रोहसेनः । ततः प्रवेश्यतामभ्यन्तरमयम् । अनेन प्रावारकेण छादयैनम् । (इति प्रावारकं प्रयच्छति)

वसन्तसेना—(स्वगतम्) कधं परिअणो त्ति मं अवगच्छदि । (प्रावारकं गृहीत्वा समाघ्राय च स्वगतं सस्पृहम्) अम्महे, जादीकुसुमवासिदो पावारओ । अणुदासीणं से जोव्वणं पडिभासेदि । [कथं परिजन इति मामवगच्छति । आश्चर्यम्, जातीकुसुमवासितः प्रावारकः । अनुदासीनमस्य यौवनं प्रतिभासते ।]

(अपवारितकेन प्रावृणोति)

चारुदत्तः—ननु रदनिके ! रोहसेनं गृहीत्वाभ्यन्तरं प्रविश ।

वसन्तसेना—(स्वगतम्) मंदभाइणी खु अहं तुह अब्भंतरस्स । [मन्दभागिनी खल्वहं तवाभ्यन्तरस्य ।

सायं कालीन) ठण्ड से पीडित है । इस लिए भीतर ले जाओ और इस उत्तरीय से इसे ढँक दो । (ऐसा कह कर उत्तरीय प्रदान करता है) ।

वसन्तसेना—(अपने आप) क्या (भूल से) मुझे अपना परिजन समझ रहे हैं ! (उत्तरीय लेकरके सूँघ कर अपने आप अभिलाषा पूर्वक) अहो ! उत्तरीय जाती-पुष्पों (चमेली के फूलों) से सुवासित है । (अतः अभी) इनका यौवन उपभोग की तृष्णा से उदासीन नहीं हुआ है ।

(अलग हट कर अपने आपको ढक लेती है) ।

चारुदत्त—हे रदनिके ! 'रोहसेन' को लेकर भीतर चली जाओ ।

वसन्तसेना—(अपने आप) तुम्हारे घर के भीतर (प्रवेश करने) के योग्य मैं नहीं हूँ ।

टीका—अहम् = तव पुरो वर्तमाना, स्वल्पभाषिणी इयं इति प्रसिद्धा; खलु = अवश्यम्; संयतम् = वशीकृतम् मुखम् = आननम् यया सा; रदनिका—रदनानि = दशनानि सन्ति अस्याः इति रदनिका = दशनवती न तु निर्दशना; अतः कथं मम वाचामसंयमः कल्प्यते, अन्वर्थनाम्नी अहं इति भावः । मारुतस्य = वायोः वायुसेवनस्य इति भावः अभिलाषी = इच्छुकः; रोहसेनः = मम चारुदत्तस्य पुत्रः । प्रावारकेण = उत्तरीयवस्त्रेण । अनुदासीनम् = उदासीनताविरहितम्, उपभोगे सतृष्णमित्यर्थः । अपवारितकेन = अपवारितनामकनाट्यप्रकारेण,— ...."तद्भवेदपवारितम् । रहस्यन्तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाशते ॥" इतिलक्षणात् । तव = अतिपुनीतस्य चारुदत्तस्य इत्यर्थः; अभ्यन्तरस्य = गृहाभ्यन्तरगमनस्य; अहम् = वेश्या वसन्तसेना ; मन्दभागिनी = अभागिनी अस्मि;

चारुदत्तः—ननु रदनिके ! प्रतिवचनमपि नास्ति । कष्टम्,—

यदा तु भाग्यक्षयपीडितां दशां
नरः कृतान्तोपहितां प्रपद्यते ।
तदास्य मित्राण्यपि यान्त्यमित्रतां
चिरानुरक्तोऽपि विरज्यते जनः ॥ ५३ ॥

(रदनिकामुपसृत्य)

वेश्यात्वादिति भावः। वेश्या भूत्वा अहं कथं तव गेहे प्रवेष्टुं समर्था ? वस्तुतस्तु वसन्तसेनायाः उक्तिरियं मर्माभिव्यञ्जिका। अभ्यन्तरस्य = गृहान्तरस्य अन्तःपुरस्येति यावत्; स्त्रीभूत्वा निवासे अवसरः न उपलब्धः वेश्यात्वात् न च सम्भावना अतोऽहम् अभागिनीति मार्मिकी भावना। अथवा तव अभ्यन्तरस्य = हृदयस्य, मध्ये स्थातुम् इति शेषः अभागिनी अहम् इति ध्वनिः ॥

टिप्पणी:—बात करने वाले से विमुख होकर जो रहस्य प्रकट किया जाता है, वह अपवारित कहलाता है। द्रष्टव्य—टीका ॥

यदातु भाग्यक्षय० इति ।

अन्वयः–यदा, तु, नरः, कृतान्तोपहिताम्, भग्यक्षयपीडिताम्, दशाम्, प्रपद्यते, तदा, अस्य, मित्राणि, अपि, अमित्रताम्, यान्ति, चिरानुरक्तः, जनः, अपि, विरज्यते ॥ ५३ ॥

शब्दार्थः—यदा = जब, नरः = मनुष्य, कृतान्तोपहिताम् = क्रुद्ध दैव के द्वारा उपस्थित की गयी, भाग्यक्षयपीडिताम् = भाग्यनाश के कारण दलित, दशाम् = दशा को, हालत को, प्रपद्यते = प्राप्त होता है, तदा = तब, अस्य = इसके, मित्राणि = मित्र, अपि=भी, अमित्रताम् = शत्रुता को, यान्ति = जाते हैं, प्राप्त हो जाते हैं; चिरानुरक्तः = बहुत दिनों से प्रेम करने वाला, जनः = व्यक्ति, अभि = भी, विरज्यते = विमुख हो जाता है ॥

अर्थः–चारुदत्त–अरी रदनिके ! (तुम्हारे पास) उत्तर भी नहीं है ? खेद है,

जब मनुष्य क्रुद्ध दैव के द्वारा उपस्थित की गयी भाग्यनाश के कारण दलित दशा को प्राप्त हो जाता है, तब इस (धनहीन) के मित्र भी शत्रुता को प्राप्त हो जाते हैं (अर्थात् शत्रु बन जाते हैं) और बहुत दिनों से प्रेम करने वाला व्यक्ति भी विरक्त (विमुख) हो जाता है ॥५३॥

टीका:—यदा = यस्मिन् समये; नरः = मानवः; कृतान्तेन = क्रुद्धदैवेन उपहिताम्=उपस्थापिताम्; भाग्यस्य = सुन्दरादृष्टस्य क्षयेण = विनाशेन, पीडा

विदूषकः— भो; इअं सा रअणिआ। [भोः, इयं सा रदनिका।]

चारुदत्तः— इयं सा रदनिका। इयमपरा का ?।

अविज्ञातावसक्तेन दूषिता मम वाससा।

वसन्तसेना—(स्वगतम्) णं भूसिदा। [ननु भूषिता।]

चारुदत्तः—

छादिता शरदभ्रेण चन्द्रलेखेव दृश्यते ॥ ५४ ॥

संजाता अस्याः तां पीडिताम् = दलिताम्; दशाम् = अवस्थाम्; प्रपद्यते = प्राप्नोति; तदा = तस्मिन् दुर्दशापूरिते काले; अस्य = दुर्दशाग्रस्तस्य जनस्य; मित्राणि = सुहृदः अपि, अमित्रताम् = शत्रुताम् तटस्थताम् वा; यान्ति = गच्छन्ति; चिरात् = बहोः कालात् अनुरक्तः = प्रीतः; जनः = मनुष्यः अपि; विरज्यते = विरक्तः भवति ॥५३॥

टिप्पणी:—यहाँ अप्रस्तुत मित्र आदि के वर्णन से प्रस्तुत रदनिका की प्रतीति होती है, अतः अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। प्रयुक्त छन्द है—वंशस्थ। छन्द का लक्षण—

'वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ' ॥५३॥

अर्थः-विदूषक— (रदनिका के समीप जाकर) आर्य ! (हम लोगों की) 'रदनिका' तो यह है।

अविज्ञातावसक्तेन इति—

अन्वयः—(या), अविज्ञातावसक्तेन, मम, वाससा, दूषिता, (तथा), शरदभ्रेण, छादिता, चन्द्रलेखा, इव, दृश्यते ॥ ५४ ॥

शब्दार्थः —(या = जो) अविज्ञातावसक्तेन = अनजान में स्पर्श किये हुए मम = मेरे, वाससा = वस्त्र से, दूषिता = दूषित हो गयी, (तथा), शरदभ्रेण = शरद् ऋतु के मेघ से, छादिता = ढकी हुई, चन्द्रलेखा = चन्द्रकला (के) इव = समान, दृश्यते = दिखलाई पड़ती है।

अर्थ : चारुदत्त— यह तो (हम लोगों का परिजन) 'रदनिका' है, और यह दूसरी (स्त्री) कौन है ?

'(जो) अनजाने में स्पर्श किये हुए मेरे वस्त्र से दूषित हो गयी (अर्थात् मेरे = परपुरुष के वस्त्र के स्पर्श से दूषित हो गयी)।'

वसन्तसेना— (अपने आप) अपितु भूषित हो गयी।

चारुदत्त—'शरद् ऋतु के मेघ से ढकी हुयी चन्द्रकला के समान दिखलायी पड़ती है' ॥५४॥

अथवा, न युक्तं परकलत्रदर्शनम् ।

विदूषकः—भो, अलं परकलत्तदंसणसंकाए । एसा वसंतसेणा कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुदि भवंतमणुरत्ता । [भोः, अलं परकलत्रदर्शनशङ्कया । एषा वसन्तसेना कामदेवायतनोद्यानात्प्रभृति त्वामनुरक्ता ।]

चारुदत्तः—अये, इयं वसन्तसेना (स्वगतम्)

यया मे जनितः कामः क्षीणे विभवविस्तरे ।
क्रोधः कुपुरुषस्येव स्वगात्रेष्वेव सीदति ॥ ५५ ॥

अथवा दूसरे की स्त्री को देखना उचित नहीं है ।

टीकाः—(या = स्त्री) अविज्ञातायाम् = अज्ञातायाम् मया इति शेषः अवसक्तेन = योजितेन अथवा अविज्ञातम् = अविदितम् अवसक्तम् = संसर्गः यस्य तेन; मम = चारुदत्तस्य, वाससा = उत्तरीयवस्त्रेण; दूषिता = अपवित्रीकृता; परपुरुषस्य वस्त्रस्य स्पर्शादिति भावः ; तथा शरदः = शरदर्तोः अभ्रेण = मेघेन ; छादिता = आवृता ; चन्द्रस्य = चन्द्रमसः लेखा = कला इव, दृश्यते = अवलोक्यते ॥ ५४ ॥

टिप्पणीः—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है ।
छन्द का लक्षण—'युजोर्येन सरिद्भर्तुः । पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ५४ ॥

अर्थः–विदूषक–अरे, दूसरे की स्त्री को देखने की शङ्का न कीजिए । यह 'वसन्तसेना' कामदेवायतनोद्यान (में गमन) से लेकर तुम में अनुरक्त है ।
यया में जनितः इति—

अन्वयः—विभवविस्तरे, क्षीणे, यया, जनितः, मे कामः, कुपुरुषस्य, क्रोधः, इव, स्वगात्रेषु, एव, सीदति ॥ ५५ ॥

शब्दार्थः—विभवविस्तरे = धनराशि के, क्षीणे = क्षीण हो जाने पर, यया=जिस वसन्तसेना के द्वारा, जनितः=उत्पन्न किया गया, मे = मेरा, कामः = कामभाव, कुपुरुषस्य=असमर्थ व्यक्ति के, क्रोधः इव=क्रोध की तरह, स्वगात्रेषु = अपने देह में, एव=ही, सीदति=नष्ट हो रहा है ।

अर्थः–चारुदत्त–अरे ! यह वसन्त सेना है !–(अपने आप) प्रचुर धन-राशि के क्षीण हो जाने पर जिस (वसन्तसेना) के द्वारा उत्पन्न की गयी मेरी कामवासना, असमर्थ व्यक्ति के क्रोध की भाँति, अपनी देह में ही विनष्ट हो रही है ॥५५॥

विदूषकः—भो वअस्स ! एसो खु राअसालो भणादि । [भो वयस्य ! एष खलु राजश्यालो भणति ।]

चारुदत्तः – किम् ? ।

विदूषकः—एसा ससुवण्णा सहिलण्णा णवणाडअदंसणुट्ठिदा सुत्तधालि व्व वसंतसेणा णाम गणिआदालिआ कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुदि तुमं अणुलत्ता अम्हेहिं बलक्कालाणुणीअमाणा तुह गेहं पविट्ठा । [एषा ससुवर्णा सहिरण्या नवनाटकदर्शनोत्थिता सूत्रधारीव वसन्तसेनानाम्नी गणिकादारिका कामदेवायतनोद्यानात्प्रभृति त्वामनुरक्तास्माभिर्बलात्कारानुनीयमाना तव गेहं प्रविष्टा ।

वसन्तसेना—(स्वगतम्) बलक्काराणुणीअमाणेत्ति जं सच्चं, अलंकिदह्मि एदेहिं अक्खरेहिं । बलात्कारानुनीयमानेति यत्सत्यम्, अलंकृतास्म्येतैरक्षरैः ।]

विदूषकः – ता जइ मम, हत्थे सअं जेव्व पट्ठाविअ एणं समप्पेसि, ता अधिअरणे ववहारं विणा लहुं णिज्जादमाणाह तव मए अणुबद्धा पीदी हुविस्सदि ।

टीका—विभवविस्तरे=सम्पत्तिसमूहे ; क्षीणे=विनष्टे सति ; यया=वसन्तसेनया ; जनितः=उत्पादितः ; मे=मम, निर्धनस्य चारुदत्तस्येत्यर्थः ; कामः=भोगाभिलाषः ; कुपुरुषस्य=असमर्थस्य जनस्य ; क्रोधः इव=कोपः इव ; स्वगात्रेषु=स्वकीयशरीरेषु एव; सीदति=विनश्यति । यथा सामर्थ्यहीनस्य जनस्य क्रोधः निष्फलः भवति तथैव निर्धनस्य मम कामाभिलाषः अपि ॥ ५५ ॥

टिप्पणी :—यहाँ पर उपमा अलङ्कार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है । छन्द का लक्षण पीछे की टिप्पणी में दे दिया गया है ॥ ५५ ॥

अर्थः–विदूषक – हे मित्र ! यह राजश्याल (शकार) कहता है—

चारुदत्त—क्या ?

विदूषक - यह सुन्दर वर्ण (रंग) वाली, सुवर्ण (के आभूषणों) से युक्त, नूतन नाटक के प्रदर्शन के लिए उठ कर खड़ी हुयी मुख्य नटी के सदृश 'वसन्तसेना' नाम की वेश्या पुत्री, जो कि कामदेवायतनोद्यान (में जाने) से लेकर तुमसे प्रेम करती है, हमारे द्वारा बलपूर्वक मनायी जाती हुयी भी तुम्हारे घर में प्रविष्ट हो गयी है।

वसन्तसेना—'बलात् मनायी जाती हुयी' यह बात सत्य है, इन अक्षरों से (वस्तुतः मैं) अलंकृत हो गयी ।

विदूषक—तो यदि स्वयं ही भेजकर मेरे हाथ में इस (वसन्तसेना) को सौंप देते हो तो न्यायालय में मुकदमे के विना शीघ्र ही 'वसन्तसेना' को

अण्णधा आमरणं वेरं हुविस्सदि। [तद्यदि मम हस्ते स्वयमेव प्रस्थाप्यैनां समर्पयसि, ततोऽधिकरणे व्यवहारं विना लघु निर्यातयस्तव मयानुबद्धा प्रीतिर्भविष्यति । अन्यथाऽऽमरणं वैरं भविष्यति ।]

चारुदत्तः—(सावज्ञम्) अज्ञोऽसौ । (स्वगतम्) अये, कथं देवतोपस्थानयोग्या युवतिरियम् ! । तेन खलु तस्यां वेलायाम् '—

प्रविश गृहमिति प्रतोद्यमाना
न चलति भाग्यकृतां दशामवेक्ष्य ।
पुरुषपरिचयेन च प्रगल्भं
न वदति यद्यपि भाषते बहूनि ।। ५६ ।।

लौटाने वाले तुम्हारी मेरे साथ प्रबल मैत्री हो जायगी । और न लौटाने पर जीवन भर के लिए (हम दोनों में) वैर हो जायगा ।

प्रविश गृहमिति --

अन्वय :—गृहम्, प्रविश, इति, प्रतोद्यमाना, भाग्यकृताम्, दशाम्, अवेक्ष्य, न, चलति, यद्यपि, (इयम्), बहूनि, भाषते, (तथापि), पुरुषपरिचयेन, प्रगल्भम्, न च, वदति ।। ५६ ।।

शब्दार्थ :--गृहम्=घर में, प्रविश=प्रवेश करो, इति=इस प्रकार, प्रतोद्यमाना=प्रेरित की गयी, भाग्यकृताम्=(प्रतिकूल) भाग्य के द्वार। उपस्थित की गयी, दशाम्=अवस्था को, अवेक्ष्य=देखकर, न=नहीं, चलति=चलती है, जाती है, यद्यपि=यद्यपि, (इयम्=यह वसन्तसेना), बहूनि=बहुत, भाषते=बोलती है, (तथापि=तो भी) पुरुषपरिचयेन=पुरुषों के संसर्ग से, प्रगल्भम्=धृष्टतापूर्वक, न च=नहीं ही, वदति=बोलती है ।।

अर्थ : चारुदत्त—(अनादर पूर्वक) यह (शकार) मूर्ख है । (अपने आप) अहो ! कैसी देवता के समान पूजा करने के योग्य यह युवती है । तभी तो (अभी) उस समय—

(रोहसेन को लेकर) 'घर में प्रवेश करो', इस प्रकार प्रेरित की गयी (भी, प्रतिकूल) भाग्य के द्वारा उपस्थित की गयी (मेरी) दुरवस्था को देखकर (भीतर) नहीं गयी । यद्यपि (वेश्या होने के नाते यह) बहुत बोलती है तथापि पुरुषों के संसर्ग से (अर्थात् पुरुषों के समक्ष) धृष्टता पूर्वक नहीं बोलती है ।।५६।।

(प्रकाशम्) भवति वसन्तसेने ! अनेनाविज्ञानादपरिज्ञातपरिजनोपचारेणापराद्धोऽस्मि । शिरसा भवतीमनुनयामि ।

वसन्तसेना—एदिणा अणुचिदभूमिआरोहणेण अवरद्धा अज्जं सीसेण पणमिअ पसादेमि । [एतेनानुचितभूमिकारोहणेनापराद्धाऽऽर्यं शीर्षेण प्रणम्य प्रसादयामि ।]

टीका :—गृहम्=भवनाभ्यन्तरम् ; प्रविश=गच्छ, रोहसेनम् गृहीत्वा इति शेषः ; इति=इत्थम्; प्रतोद्यमाना=प्रेर्यमाणा, मया इति शेषः ; भाग्येन=दैवेन कृताम्=जनिताम् ; दशाम्=अवस्थाम् दुरवस्थामित्यर्थः ; अवेक्ष्य=अवलोक्य ; न चलति=गृहाभ्यन्तरम् न गतवतीति भावः ; यद्यपि इयं वसन्तसेना ; बहूनि=अधिकानि ; भाषते=वदति ; तथापि ; पुरुषस्य=मादृशस्य जानस्य परिचयेन=संसर्गेण ; पुंसः समक्षमित्यर्थः ; प्रगल्भम्=धृष्टं यथा स्यात् तथा ; नच=नैव ; वदति=वक्ति । कुलाङ्गना इव लज्जापरवशः अस्याः व्यवहारः इति भावः । 'यद्यपि इयम् स्वभावात् सम्भाषणनिपुणा प्रगल्भा च परञ्च लज्जया पुरुषैः सह संयम्यात्मानं जल्पति न तु धृष्टतया ।' अयमेव उत्तरार्द्धस्यार्थः अन्यत्कल्पनं केवलं जल्पनमेव ॥ ५६ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में पुष्पिताग्रा छन्द है । इसका लक्षण है—

"अयुजि न-युग-रेफतो यकारो युजि च न-जौ ज-र-गाश्च पुष्पिताग्रा" ।।५६।।

शब्दार्थः—अविज्ञानात्=अज्ञान के कारण, अविज्ञातपरिजनोपचारेण=ठीक से न जानी गयी तुम्हारे साथ सेवक के समान व्यवहार करने से, अनुचित—भूमिकारोहणेन=अनुचित भूमि में अरोहण करने से, वेश्या होकर ब्राह्मण के घर में प्रवेश करने से, सुखम् = सुखपूर्वक, (क्रियाविशेषण), कलम = उत्तम अगहनी धान, केदार = खेत, क्यारी = कलमकेदारौ = धान की दो क्यारियों (की तरह), करभजानुसदृशेन=ऊँट के बच्चे के घुटने के समान, प्रणयः = स्नेह, औपचारिकता, शिष्टताप्रदर्शन, उपन्यासः = प्रस्ताव, ईदृशेन = इस प्रकार से, स्वेच्छा से, अनुग्राह्या=अनुगृहीत की गयी, कृपापात्र, एते=शकार आदि, पापाः=पापी लोग ।

अर्थ :–(प्रकट रूपमें) मानिनि ! वसन्तसेने !! इस प्रकार अनजान के कारण ठीक से न जानी गयी तुम्हारे साथ सेवक के समान व्यवहार करने से मैं अपराधी हूँ । अतः शिर झुकाकर मैं आपकी मनौती करता हूँ ।

वसन्तसेना—अनुचित भूमि में आरोहण करने से (अर्थात् वेश्या होने के कारण मैं आपके पवित्र घर में प्रवेश करने के योग्य नहीं हूँ । अतः इस

विदूषकः—भो, दुवे वि तुम्हे सुखं पणमिअ कलमकेदारा अण्णोण्णं सीसेण सीसं समाअदा। अहं पि इमिणा करहजाणुसरिसेण सीसेण दुवेवि तुम्हे पसादेमि।
[भोः, द्वावपि युवां सुखं प्रणम्य कलमकेदारावन्योन्यं शीर्षेण शीर्षं समागतौ। अहमप्यमुना करभजानुसदृशेन शीर्षेण द्वावपि युवां प्रसादयामि।]

(इत्युत्तिष्ठति)

चारुदत्तः- भवतु, तिष्ठतु प्रणयः।

वसन्तसेना—(स्वगतम्) चदुरो मधुरो अ अअं उवण्णासो। ण जुत्तं अज्ज एरिसेण इध आअदाए मए पडिवासिदुं। भोदु, एव्वं दाव भणिस्सं। (प्रकाशम्) अज्ज ! जइ एव्वं अहं अज्जस्स अणुग्गेज्झा ता इच्छे अहं इमं अलंकारअं अज्जस्स गेहे णिक्खिविदुं। अलंकारस्स णिमित्तं एदे पावा अणुसरंति।
[चतुरो मधुरश्चायमुपन्यासः। न युक्तमद्येदृशेनेहागतया मया प्रतिवस्तुम्। भवतु, एवं तावद्भणिष्यामि। आर्य ! यद्येवमहमार्यस्यानुग्राह्या तदिच्छाम्यहमिममलंकारकमार्यस्य गेहे निक्षेप्तुम्। अलंकारस्य निमित्तमेते पापा अनुसरन्ति।]

चारुदत्तः—अयोग्यमिदं न्यासस्य गृहम्।

भूमि पर आना मेरे योग्य नहीं है, इस कारण से) अपराधिनी मैं (वसन्तसेना) शिर से प्रणाम करके आर्य (आप) को प्रसन्न करती हूँ।

विदूषक—आह ! सुखपूर्वक प्रणाम करके आप दोनों के शिर, धान की दो क्यारियों के समान, परस्पर मिल गये। मैं भी ऊँट के बच्चे के घुटने के समान इस (अपने) शिर से आप दोनों को भी प्रसन्न करता हूँ।

(यह कह कर उठता है)।

चारुदत्त—जाने दो। प्रणय (औपचारिकता) को रहने दो।

वसन्तसेना—(अपने आप) यह कथन ('चारुदत्त' का कहना) प्रौढ एवं मधुर है। आज इस प्रकार (बिना बुलाये) आयी हुयी मेरे द्वारा यहाँ रहना उचित नहीं है। अच्छा ! तो इस प्रकार कहती हूँ। (प्रकट रूप से) आर्य ! यदि इस प्रकार मैं आपके द्वारा अनुगृहीत की जा रही हूँ, तो मैं इस (अपने) आभूषण को आप के घर में धरोहर रखना चाहती हूँ। (इस) आभूषण के लिये ये पापी मेरा पीछा कर रहे हैं।

चारुदत्त—यह घर धरोहर रखने के लायक नहीं है।

वसन्तसेना - अज्ज ! अलिअं। पुरिसेसु णासा णिक्खिविअंति, ण उण गेहेसु। [आर्य ! अलीकम्। पुरुषेषु न्यासा निक्षिप्यन्ते, न पुनर्गेहेषु।

चारुदत्तः — मैत्रेय ! गृह्यतामयमलंकारः।

वसन्तसेना — अणुग्गहीद म्हि। [अनुगृहीतास्मि।]

(इत्यलंकारमर्पयति)

विदूषकः—(गृहीत्वा) सोत्थि भोदिए। [स्वस्ति भवत्यै।]

टीका—अविज्ञानात्=अज्ञानात् ; अपरिज्ञाते=अपरिचिते, जने इति शेषः, परिजनवत्=दासीवत्, उपचारेण=आज्ञादानादिव्यवहारेण। अनुचितायाम्=मादृशवेश्याजनप्रवेशायोग्यायाम् भूमिकायाम्=भूमौ, भवद्गृहे इति भावः, आरोहणेन=आगमनेनेत्यर्थः ; (अनुचितभूमिकारोहणम्=पक्षद्वारेणावासप्रवेशादिकमिति पृथ्वीधरः)। पवित्रभूमौ ममागमनम् अनुचिम् एतदेव वसन्तसेनायाः तात्पर्य न त्वागमनप्रकारे। सुखम्=सुखपूर्वकम् ; क्रियाविशेषणमेतत् ; कलमानाम्=शालीनाम् ('शालयः कलमाद्याश्च' इत्यमरः) केदारौ=क्षेत्रे ('वप्रः केदारः क्षेत्रम्' इत्यमरः); इवेति पदम् अध्याहार्यम् ; करभस्य=उष्ट्रशिशोः जानुः=उरुजङ्घयोः सन्धिभागः तत्सदृशेन=तत्तुल्येन। प्रणयः=स्नेहप्रदर्शनम्, औपचारिकता इत्यर्थः। 'प्रणयः' इत्यनेन सभोगप्रार्थना कटाक्षिता इति केचित्। उपन्यासः=प्रस्तावः आलापो वा ; ईदृशेन=अनेन प्रकारेण, अगृहीतसम्भोगोपकरणादिना इत्यर्थः ; अनुग्राह्या=कृपाभाजनीविधेया इत्यर्थः, एते=शकारादयः ; पापाः=पापचारिणः।

शब्दार्थः - न्यासाः=धरोहर, निक्षिप्यन्ते=रखे जाते हैं। भवत्यै=आप के लिये, स्वस्ति=कल्याण हो। यद्येवम्=यदि ऐसा है अर्थात् न्यास है। निर्यातयिष्ये=लौटा दूँगा। चतुष्पथोपनीतः=चौराहे पर रक्खा हुआ, उपहारः=बलि, पूजा-सामग्री राजमार्गविश्वासयोग्याः=सड़क में विश्वास के योग्य अर्थात् ऐसी प्रदीपिकाएँ जो राजमार्ग पर विश्वसनीय हों वायु से न बुझ जाये। निस्नेहाः=(१) तेलरहित (२) प्रेमरहित। प्रदीपिकाभिः = दीपिकाओं से, कृतम्=व्यर्थ है अर्थात् आवश्यकता नहीं है॥

अर्थ : वसन्तसेना—आर्य ! यह असत्य है। पुरुषों में (अर्थात् पुरुषों के पास) धरोहर रक्खी जाती है, न कि घरों में।

चारुदत्त - मैत्रेय ! इस आभूषण को ले लो।

वसन्तसेना—अनुगृहीत हुयी। (आभूषण दे देती है)।

विदूषक—(लेकर) आपका कल्याण हो।

चारुदत्तः—धिङ् मूर्ख ! न्यासः खल्वयम् ।

विदूषकः—(अपवार्य) जइ एव्वं ता चोरेहिं अवहरीअदु । [यद्येवं तदा चौरैरपह्रियताम् ।]

चारुदत्तः—अचिरेणैव कालेन ।

विदूषकः—एसो से अम्हाणं विण्णासो । [एषोऽस्या अस्माकं विन्यासः ।]

चारुदत्तः—निर्यातयिष्ये ।

वसन्तसेना—अज्ज ! इच्छे अहं, इमिणा अज्जेण अणुगच्छिज्जती सकं गेहं गंतुं । [आर्य ! इच्छाम्यहमनेनार्येणानुगम्यमाना स्वकं गेहं गन्तुम् ।]

चारुदत्तः—मैत्रेय ! अनुगच्छ तत्रभवतीम् ।

विदूषकः—तुमं जेव्व एदं कलहंसगामिणीं अणुगच्छंतो राअहंसो विअ सोहसि । अहं उण बम्हणो तहिं जणेहिं चउप्पहोवणीदो उवहारो कुक्कुरेहिं विअ खज्जमाणो विवज्जिस्सं । [त्वमेवैतां कलहंसगामिनीमनुगच्छन् राजहंस इव शोभसे । अहं पुनर्ब्राह्मणो यत्र तत्र जनैश्चतुष्पथोपनीत उपहारः कुक्कुरैरिव खाद्यमानो विपत्स्ये ।]

चारुदत्त—धिक्कार है मूर्ख ! यह तो धरोहर है ।

विदूषक—(अलग हटकर) यदि ऐसा है तो चोरों द्वारा चुरा लिया जाय ।

चारुदत्त—बहुत शीघ्र ही········ ।

विदूषक—इसकी यह हमारे यहाँ विशेष धरोहर है ।

चारुदत्त—लौटा दूँगा ।

वसन्तसेना—आर्य ! मैं इन आर्य 'मैत्रेय' के साथ अपने घर जाना चाहती हूँ ।

चारुदत्त—मैत्रेय ! आप के साथ जाओ ।

विदूषक—तुम्हीं कलहंस के समान (सुन्दर) गमन करने वाली इनका (वसन्तसेना का) अनुगमन करते हुए राजहंस के समान शोभित होते हो । फिर मैं (बेचारा) ब्राह्मण (रास्ते में दुष्ट मनुष्यों के द्वारा) उसी प्रकार मारा जाऊँगा जिस प्रकार जहाँ तहाँ चौराहों पर मनुष्यों द्वारा लाकर चढ़ाई गयी बलि कुत्तों द्वारा खा ली जाती है ।

चारुदत्तः—एवं भवतु । स्वयमेवानुगच्छामि तत्रभवतीम् ।तद्राजमार्ग-विश्वासयोग्याः प्रज्वाल्यन्तां प्रदीपिकाः ।

विदूषकः—वड्ढमाणश्रा ! पज्जालेहि पदीविश्राश्रो । [वर्धमानक ! प्रज्वालय प्रदीपिकाः ।]

चेटी—(जनान्तिकम्) अले, तेल्लेण विणा पदीविश्राश्रो पज्जालीश्रंति । [अरे, तैलेन विना प्रदीपिकाः प्रज्वाल्यन्ते ।]

विदूषकः—(जनान्तिकम्) ही, ताश्रो खु श्रम्हाणं पदीविश्राश्रो श्रवमाणिदनिद्धणकामुश्रा विश्र गणिश्रा णिस्सिणेहाश्रो दाणिं संवुत्ता । [आश्चर्यम्, ताः खल्वस्माकं प्रदीपिका अपमानितनिर्धनकामुका इव गणिका निःस्नेहा इदानीं संवृत्ताः ।]

चारुदत्तः—मैत्रेय ! भवतु, कृतं प्रदीपिकाभिः । पश्य,—

उदयति हि शशाङ्कः कामिनीगण्डपाण्डु-
ग्रहगणपरिवारो राजमार्गप्रदीपः ।

चारुदत्त—ऐसा ही हो । स्वयं मैं ही इन श्रीमती का अनुगमन करता हूँ । तो राजमार्ग में विश्वास के योग्य दीपकों को जलाओ ।

विदूषक—वर्धमानक ! दीपकों को जलाओ ।

चेटी—(अलग से) अरे ! तेल के बिना कहीं दीपक जलाए जाते हैं ?

विदूषक—(अलग से) आश्चर्य है ; वस्तुतः वे हमारी प्रदीपिकाएँ (दीपक), धनहीन कामुक व्यक्तियों को अपमानित करने वाली वेश्याओं के समान आजकल स्नेहरहित (वेश्या के पक्ष में प्रेम रहित, प्रदीपिका के पक्ष में तेल रहित) हो गयी हैं ।

टीका—न्यासाः=निक्षेपाः ; निक्षिप्यन्ते=स्थाप्यन्ते । भवत्यै=तुभ्यम् ; स्वस्ति=मङ्गलम् अस्तु इति शेषः; न्यासं दानम् इति मन्यमानः विदूषकः आशीर्वचनं वदति । वस्तुतस्तु परिहास एवायमिति । यदि एवम्=न्यासः चेत् न तु दानमिति भावः । निर्यातयिष्ये=प्रत्यर्पयिष्ये । चतुष्पथे=चतुर्णां मार्गाणां सन्धिस्थले उपनीतः=प्रदत्तः ; उपहारः=बलिः । राजमार्गे=सार्वजनीने मार्गे विश्वासयोग्याः=गमनयोग्याः; यथा वायुप्रवाहैः न निर्वापिताः स्युः तथा इत्यर्थः । निःस्नेहाः=प्रेमशून्याः, प्रदीपपक्षे तैलविरहिताः । प्रदीपिकाभिः=क्षुद्रप्रदीपैः ; कृतम्=पर्याप्तम् , व्यर्थमिति यावत् ('युगपर्याप्तयोः कृतम्' इत्यमरः)

उदयति हि इति—

अन्वयः—हि , कामिनीगण्डपाण्डुः, ग्रहगणपरिवारः, राजमार्गप्रदीपः,

तिमिरनिकरमध्ये रश्मयो यस्य गौराः
स्रुतजल इव पङ्के क्षीरधाराः पतन्ति ॥ ५७ ॥

(सानुरागम्) भवति वसन्तसेने ! इदं भवत्या गृहम् । प्रविशतु भवती ।

(वसन्तसेना सानुरागमवलोकयन्ती निष्क्रान्ता)

शशाङ्कः, उदयति, यस्य, गौराः, रश्मयः, स्रुतजले, पङ्के, क्षीरधाराः, इव, तिमिर-निकरमध्ये, पतन्ति ॥ ५७ ॥

शब्दार्थः— हि=क्योंकि, कामिनीगण्डपाण्डुः=सुन्दरी युवती के कपोल के समान गोरा, ग्रहगणपरिवारः=नक्षत्र-समूह रूपी परिवारवाला, राजमार्गप्रदीपः= राजमार्ग का दीपक, शशाङ्कः=चन्द्रमा, उदयति = उदित हो रहा है, यस्य = जिसकी, गौराः=श्वेत, रश्मयः = किरणें, स्रुतजले = सूखे हुए जलवाले, पङ्के = कीचड़ में, क्षीरधाराः इव=दूध की धाराओं के समान, तिमिरनिकरमध्ये=अन्धकारसमूह के मध्य में, पतन्ति=पड़ रही हैं ।

अर्थः—चारुदत्तः-मैत्रेय ! रहने दो, प्रदीपिकाओं की आवश्यकता नहीं है । देखो—

सुन्दरी युवती के कपोल के समान उज्ज्वल (गौरवर्ण), नक्षत्र-समूह रूपी परिवार वाला तथा राजमार्ग का दीपक अथवा राजमार्ग को प्रकाशित करने वाला चन्द्रमा उदित हो रहा है । जिसकी श्वेत किरणें, सूखे हुए जलवाले कीचड़ में दूध की धाराओं के समान, अन्धकार समूह के मध्य में पड़ रही हैं ॥५७॥
(प्रेम के साथ) वसन्तसेने ! यह आपका घर है । आप (इसमें) प्रवेश करें ।

(वसन्तसेना प्रेमपूर्वक देखती हुयी निकल जाती है) ।

टीका – हि=यतः ; कामः अस्याः अस्ति इति कामिनी तस्याः कामिन्याः= तरुण्याः गण्डः=कपोलः इव पाण्डुः=गौरवर्णः ; ग्रहगणाः = नक्षत्रसमूहाः एव परिवारः=सहचरवर्गः यस्य सः ; नक्षत्राणां समूहैः आवृतः इत्यर्थः ; राजमार्गस्य= राजपथस्य प्रदीपः=दीपकः प्रकाशको वा ; शशाङ्कः=चन्द्रः ; उदयति=उदेति ; यस्य = चन्द्रस्य ; गौराः=शुभ्रवर्णाः ; रश्मयः=किरणाः ; स्रुतम् = शुष्कम् जलम्= सलिलम् यस्मात् तस्मिन् ; पङ्के=कर्दमे ('पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमौ' इत्यमरः) क्षीरस्य=दुग्धस्य धाराः=प्रवाहाः, इव ; तिमिरनिकरस्य=अन्धकारसमूहस्य मध्ये= अभ्यन्तरे ; पतन्ति=पतित्वा अन्धकारं विनाशयन्ति इत्यर्थः ॥ ५७ ॥

चारुदत्तः—वयस्य ! गता वसन्तसेना, तदेहि । गृहमेव गच्छावः ।

राजमार्गो हि शून्योऽयं रक्षिणः संचरन्ति च ।
वञ्चना परिहर्तव्या बहुदोषा हि शर्वरी ॥ ५८ ॥

(परिक्रम्य) इदं च सुवर्णभाण्डं रक्षितव्यं त्वया रात्रौ, वर्धमानकेनापि दिवा ।

टिप्पणी—"कामिनीगण्डपाण्डुः" में लुप्तोपमा ; "राजमार्गप्रदीपः" में रूपक तथा उत्तरार्द्ध में श्रौती उपमा है। इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द है—मालिनी, लक्षण—

"ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ॥ ५७ ॥

राजमार्गो हि इति—

अन्वयः—हि, अयम्, राजमार्गः, शून्यः, च, रक्षिणः, सञ्चरन्ति, वञ्चना, परिहर्तव्या, हि, शर्वरी, बहुदोषा, (भवति) ॥ ५८ ॥

शब्दार्थः—हि = क्योंकि, राजमार्गः = सड़क, शून्यः=सूनी (है), च = और ; रक्षिणः=पहरेदार, सञ्चरन्ति=घूम रहे हैं, वञ्चना=ठगी, परिहर्तव्या=बचाने योग्य है, हि=क्योंकि, शर्वरी=रात, बहुदोषा=बहुत दोषोंवाली, भवति=होती है ॥

चारुदत्तः—मित्र ! वसन्तसेना गयी । तो आओ, घर को ही चलें ।

(काफी रात बीत जाने से) यह राजमार्ग सूना है और रक्षक (पहरा देने वाले) लोग घूम रहे हैं। ठगी (चोरी) से बचना चाहिए (अर्थात् वसन्तसेना के आभूषण को कहीं छिपा कर रखना चाहिए जिससे चोर न पा सकें)। (क्योंकि) रात वस्तुतः बड़ी दोषपूर्ण होती है (अर्थात् चोरी आदि अपराध रात्रि में ही होते हैं) ॥ ५८ ॥

टीकाः—हि = यतः ; अयम् = आवाभ्याम् अनुस्रियमाणः ; राजमार्गः = साधारणमार्गः ; शून्यः=जनसञ्चरणरहितः, रात्र्याधिक्यादिति शेषः ; च=तथा ; रक्षिणः=रक्षकपुरुषाः ; सञ्चरन्ति=इतस्ततः भ्रमन्ति ; वञ्चना=प्रतारणा ; परिहर्तव्या=निवारणीया ; हि=यतः ; शर्वरी=रात्रिः ; बहुदोषा–बहवः=अनेके दोषाः= चौरादिभिः कृताः उपद्रवाः यस्याम् सा ; रात्रौ एव दुर्जनाः गर्हितकार्याणि सम्पादयन्ति ; भवति=वर्तते इति शेषः ॥ ५८ ॥

टिप्पणी—वञ्चना=ठगी, धोखा, √ वञ्च्+ल्युट् । यहाँ पर चौथे चरण के अर्थ से तीसरे चरण के अर्थ का समर्थन करने से सामान्य से विशेष का

विदूषकः- जधा भवं आणवेदि। [यथा भवानाज्ञापयति।]

इति निष्क्रान्तौ

इति मृच्छकटिकेऽलंकारन्यासो नाम प्रथमोऽङ्कः।

समर्थन होता है। अतः अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। इस श्लोक के छन्द का नाम है पथ्यावक्त्र,—लक्षण—

'युजोर्येन सरिद्भर्तुः पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्' ॥ ५८ ॥

॥ इति मृच्छकटिकटीकायां प्रथमोऽङ्कः ॥

अर्थः—(घूमकर) इस सोने के पात्र (अर्थात् स्वर्णाभूषण रखने की छोटी सन्दूक) की रक्षा तुमको रात्रि में और 'वर्धमानक' को दिन में करनी चाहिए।

विदूषकः—जैसा आप आज्ञा देते हैं (अर्थात् जैसी आपकी आज्ञा)।

[दोनों निकल जाते हैं]

अलङ्कार-न्यास नामक प्रथम अङ्क समाप्त।

—:०:—

द्वितीयोऽङ्कः

(प्रविश्य)

चेटी—अत्ताए अज्जआसआसं संदेसेण पेसिदम्हि। ता जाव पविसिअ अज्जआसआसं गच्छामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) एसा अज्जआ हिअएण किंपि आलिहंती चिट्ठदि। ता जाव उवसप्पामि। [मात्रार्यासकाशं संदेशेन प्रेषितास्मि। तद्यावत्प्रविश्यार्यासकाशं गच्छामि। एषार्या हृदयेन किमप्यालिखन्ती तिष्ठति तद्यावदुपसर्पामि।]

(ततः प्रविशत्यासनस्था सोत्कण्ठा वसन्तसेना मदनिका च)

वसन्तसेना—हञ्जे! तदो तदो?। [चेटि! ततस्ततः?।]

शब्दार्थः—मात्रा = माता (वसन्तसेना की माता) के द्वारा, आर्यासकाशम् = माननीय वसन्तसेना के पास, संदेशेन = सन्देश के साथ अर्थात् संदेश कहने के लिये, आलिखन्ती = चित्रित करती हुई अर्थात् सोचती हुई, उपसर्पामि = समीप चलती हूँ। सोत्कण्ठा = बेचैन, विरह वेदना से पीडित, मन्त्रयसि=कहती हो, आम्=अच्छा, एवम्=इस प्रकार, ऐसा, स्नेहः=प्रेम, पृच्छति= पूछता है, अर्थात् स्नेह का भाव पूछने के लिये प्रेरित करता है, पुरोभागिता= दोषदर्शिता, दोष देखने का भाव।

[प्रवेश करके]

अर्थः-चेटी-माता (वसन्त सेना की माता) जी के द्वारा सन्देश के साथ (अर्थात् सन्देश कहने के लिए) आर्या (वसन्तसेना) के पास भेजी गयी हूं। अतः प्रवेश करके आर्या के समीप चलती हूँ। (घूम कर और देख कर) यह आर्या तल्लीनता पूर्वक कुछ सोचती हुई बैठी हैं। तो तब तक उनके समीप चलती हूँ।

(इसके बाद आसन पर बैठी हुई उत्कण्ठित वसन्तसेना तथा मदनिका प्रवेश करती हैं)

वसन्तसेना—चेटी! इसके बाद?

चेटी—अज्जए ण किंपि मंतेसि। किं तदो तदो ?। [आर्ये ! न किमपि मन्त्रयसि। किं ततस्ततः ?।]

वसन्तसेना—किं मए भणिदं ?। [किं मया भणितम् ?।]

चेटी—तदो तदो त्ति। [ततस्तत इति।]

वसन्तसेना—(सभ्रूक्षेपम्) आं, एव्वं। [आं, एवम्।]

(उपसृत्य)

प्रथमा चेटी—अज्जए ! अत्ता आदिसदि—'ण्हादा भविअ देवदाणं पूअं णिव्वेत्तेहि' त्ति। [आर्ये ! माताऽऽदिशति—'स्नाता भूत्वा देवतानां पूजा निर्वर्तय' इति।]

वसन्तसेना—हञ्जे ! विण्णवेहि अत्तं—'अज्ज ण ण्हाइस्सं। ता म्हणो ज्जेव्व पूअं णिव्वत्तेदु' त्ति। [चेटि ! विज्ञापय मातरम्—'अद्य न स्नास्यामि। तद्ब्राह्मण एव पूजां निर्वर्तयतु' इति।]

चेटी—जं अज्जआ आणवेदि। [यदार्याज्ञापयति।]

(इति निष्क्रान्ता)

मदनिका—अज्जए ! सिणेहो पुच्छदि ण पुरोभाइदा, ता किं णेदं ?। [आर्ये ! स्नेहः पृच्छति, न पुरोभागिता, तत्किं न्विदम् ?।]

चेटी—आर्ये ! कुछ कहती तो हो नहीं; फिर 'इसके बाद' क्या ?

वसन्तसेना—मैंने क्या कहा ?

चेटी—'इसके बाद'।

वसन्तसेना—(भौं घुमाकर) अच्छा, इस प्रकार ?

[समीप जाकर]

पहली चेटी—आर्ये ! (आपको) माता जी की यह आज्ञा है कि—"नहा कर देवताओं की पूजा कर लो।",

वसन्तसेना—चेटी ! (जाकर) माता जी से कह दो कि—'आज मैं नहीं नहाऊँ (स्नान करूँगी) इसलिये ब्राह्मण ही पूजा को निपटाले।'

चेटी—जैसी आपकी आज्ञा।

[ऐसा कह कर चली जाती है]

मदनिका—आर्ये ! दोष की इच्छा नहीं किन्तु (मेरा आपके प्रति) प्रेम पूछने को प्रेरित करता है कि यह क्या बात है (अर्थात् आप की यह हालत क्यों है) ?

वसन्तसेना—मदणिए ! केरिसिं मं पेक्खसि ? । [मदनिके ! कीदृशीं मां प्रेक्षसे ? ।]

मदनिका—अज्जाआए सुण्णहिअअत्तणेण जाणामि हिअअगदं कंपि अज्जआ अहिलसदि त्ति । [आर्यायाः शून्यहृदयत्वेन जानामि हृदयगतं कमप्यार्याभिलषतीति ।]

टीका—मात्रा=वसन्तसेनाजनन्या ; आर्यायाः=मान्यायाः वसन्तसेनायाः सकाशम्=समीपम् ; संदेशेन=संदेशकथनार्थम् ; आलिखन्ती=विचिन्तयन्ती, अनन्यमनसा चिन्तयन्ती इति भावः ; उपसर्पामि=समीपं गच्छामि । उत्कण्ठया=विरहव्यथया सहिता=संयुक्ता, विरहवेदनाविह्वलेत्यर्थः । मन्त्रयसि=रहस्यं कथयसि । आम्=स्मरणार्थकम् अव्ययपदम् ; एवम्=इत्थम्, मया कथितमिति शेषः ; स्नेहः=त्वत्संबन्धी मम हृदये स्थितः अनुरागः ; पृच्छति=प्रश्नार्थं प्रेरयतीत्यर्थः ; प्रेमवशात् पृच्छामि इति भावः ; पुरोभागः=दोषदर्शनम् अस्य अस्ति इति पुरोभागी=दोषद्रष्टा, पुरोभागिनः भावः पुरोभागिता=दोषैकदर्शिता ('दोषैकदृक् पुरोभागी' इत्यमरः) । दोषदृष्टया न पृच्छामि इति अभिप्रायः ।।

टिप्पणी—उत्कण्ठा=बेचैनी, उद्+कण्ठ्+अ+टाप् । हञ्जे=यह चेटी के लिये सम्बोधन है—"हण्डे हञ्जे हलाह्वानं नीचां चेटीं सखीं प्रति" इत्यमरः ।।

अर्थः—वसन्तसेना—मदनिके ! (तुम) मुझे कैसी देख रही हो ?

शब्दार्थः—शून्यहृदयत्वेन=हृदय के सूना होने के कारण, मन की उदासी के कारण. हृदयगतम्=हृदय में स्थित (किसी) को, परहृदयग्रहणपण्डिता=दूसरे के मन की बातों को परखने में चतुर, त्वम्=तुम ; खलु=निश्चय ही, मदनिका=(१) चेटी का नाम (२) काम से युक्त स्त्री । तरुणजनस्य=युवकों का, महोत्सवः=आनन्दरूप महोत्सव, इच्छा, अनुगृहीतः=अनुगृहीत हुआ, कृतार्थ हुआ । विद्याविशेषालङ्कृतः=किसी खास विद्या को जानने वाला । ब्राह्मणजनः=ब्राह्मणलोग, मे=मेरे, पूजनीयः=पूज्य है । अनेकनगराभिगमनजनितविभवविस्तारः=अनेक शहरों में जाकर बहुत अधिक धन पैदा करने वाला । उपारूढस्नेहम्=बढ़ा हुआ है स्नेह जिसका उसको अर्थात् अत्यधिक प्रेम करने वाले को ।।

अर्थः—मदनिका—आपके मन की उदासी (शून्यहृदयता) के कारण यह समझ रही हूँ कि आप अपने मन में बैठे हुए (हृदयस्थ) किसी (प्रेमी) को चहती हैं ।

वसन्तसेना—सुट्ठु तुए जाणिदं। परहिअअग्गहणपंडिआ मदणिआ खु तुमं। [सुष्ठु त्वया ज्ञातम्। परहृदयग्रहणपण्डिता मदनिका खलु त्वम्।]

मदनिका—पिअं मे पिअं। कामो खु णाम एसो भअवं। अणुगहिदो महूसवो तरुणजणस्स। ता कधेदु अज्जआ, किं राआ राअवल्लहो वा सेवीअदि ?। [प्रियं मे प्रियम्। कामः खलु नामैष भगवान्। अनुगृहीतो महोत्सवस्तरुणजनस्य। तत्कथयत्वार्या, किं राजा राजवल्लभो वा सेव्यते ?।]

वसन्तसेना—हञ्जे ! रमिदुमिच्छामि, ण सेविदुं। [चेटि ! रन्तुमिच्छामि, न सेवितुम्।

मदनिका—विज्जाविसेसालंकिदो किं को वि बह्मणजुआ कामीअदि ?। [विद्याविशेषालंकृतः कि कोऽपि ब्राह्मणयुवा काम्यते ?।

वसन्तसेना—पूअणीओ मे बह्मणजणो। [पूजनीयो मे ब्राह्मणजनः।]

मदनिका—किं अणेअणअराभिगमणजणिदविहववित्थारो वाणिअजुआ वा कामीअदि ?। [किमनेकनगराभिगमनजनितविभवविस्तारो वाणिजयुवा वा काम्यते ?।]

वसन्तसेना—हञ्जे ! उवारूढसिणेहं वि पणइजणं परिच्चइअ देसंतरगमणेण

वसन्तसेना—तुमने ठीक जाना। दूसरे के मन की (हृदय की) बातों को परखने में चतुर (तुम) 'मदनिका' हो।

मदनिका—(यह) मेरे लिए बहुत प्रिय है। यह तो भगवान् कामदेव हैं (अर्थात् यह कामदेव का ही प्रभाव है कि तुम किसी पुरुष को चाहती हो)। अब तो युवकों की इच्छा पूरी हो गयी। तो आप बतलावें कि राजा अथवा राजा का कोई प्रिय व्यक्ति आपके द्वारा चाहा जा रहा है ?

वसन्तसेना—चेटी ! सम्भोग (पुरुष के साथ काम-क्रीडा) करना चाहती हूं न कि (धन लेने के लिए किसी धनी पुरुष की) सेवा करना।

मदनिका—क्या किसी खास विद्या को जानने वाले ब्राह्मण युवक को आप चाहती हैं ?

वसन्तसेना—ब्राह्मण लोग तो हमारे पूज्य हैं।

मदनिका—अथवा बहुत से शहरों में जाकर (व्यापार करने से) बहुत अधिक धन को पैदा करने वाले किसी व्यापारी (बनियाँ) युवक को चाहती हो ?

वसन्तसेना—चेटी ! व्यापारी पुरुष बहुत अधिक प्यार करने वाले प्रेमी

वाणिअजणो महंतं विओअजं दुक्खं उप्पादेदि। [चेटि ! उपारूढस्नेहमपि प्रणयिजनं परित्यज्य देशान्तरगमनेन वाणिजजनो महद्वियोगजं दुःखमुत्पादयति।]

मदनिका—अज्जए ! ण राआ, ण राअवल्लहो, ण बह्मणो, ण वाणिअजणो; ता को दाणिं सो भट्टिदारिआए कामीअदि ?। [आर्ये ! न राजा, न राजवल्लभः, न ब्राह्मणः, न वाणिजजनः; तत्क इदानीं स भर्तृदारिकया काम्यते ?।]

जन (स्त्री) को छोड़ कर दूसरे देशों को चले जाने से विरह के कारण होने वाले महान् दुःख को पैदा करता है।

टीका—शून्यहृदयत्वेन = अत्यधिकौदासीन्येनेति भावः; हृदये = चेतसि गतम् = स्थितम्; परस्य = अन्यस्य हृदयग्रहणे = अवस्थाज्ञाने भावपरिज्ञाने वेत्यर्थः पण्डिता = चतुरा; त्वम् खलु = निश्चितमेव; मदनिका—मदनमस्या अस्ति इति मदनिका=कामयुक्ता; अन्वर्थकनामवतीतिभावः; यथा खलु कामदेवः परहृदयग्रहणे प्रभवति तथा त्वमपि परहृदयस्थं भावं ज्ञातुं समर्था असीति अभिप्रायः। तरुणजनस्य = युवजनस्य; महोत्वसः = हर्षस्वरूपः उत्सवः; युवकैः अभिलषितायाः वसन्तसेनायाः पूर्वं कामं प्रति औदासीन्येन तेषां नासीत् हर्षावसरः। किन्तु अधुना सः हर्षस्वरूपः अवसरः अनुगृहीतः = अनुकम्पितः स्वीकृतः वा त्वयेति शेषः। विद्याविशेषेण = ज्ञानविशेषेण अलङ्कृतः = विभूषितः विशिष्टविद्यानिष्णातः; इत्यर्थ। ब्राह्मणजनः = विशिष्टविद्याविज्ञः ब्राह्मणः; मे = मम; पूजनीयः = पूजायोग्यः; न तु कामकेलियोग्यः; विशिष्टविद्यापरिशीलनेन कामवैमुख्यात् इति भावः। अनेकेषु = विविधेषु नगरेषु अभिगमनेन = व्यापारार्थं यात्राकरणेन जनितः - सम्पादितः उत्पादितो वा विभवस्य = सम्पत्तेः विस्तारः = बाहुल्यं येन असौ। उपारूढः = परिवर्द्धितः स्नेहः = अनुरागः यस्य तम्॥

टिप्पणी—कुछ लोगों के अनुसार "रन्तुमिच्छामि" यहाँ से लेकर "भर्तृदारिकया काम्यते" तक का पाठ प्रक्षिप्त है; क्योंकि कोई स्त्री अपने भाव को इस रूप से प्रकट नहीं करती। किन्तु सखियों एवम् मित्रों से हार्दिक भाव व्यक्त किये ही जाते हैं। इसका ध्यान रखकर निर्णय करना चाहिये।

अर्थः—मदनिका—आर्ये ! न राजा, न राजप्रेमी (राजा का कृपा पात्र कोई ऊँचा अधिकारी), न ब्राह्मण और न बनियाँ ही। तो वह कौन है जिसे आप चाहती हैं ?

वसन्तसेना—हञ्जे ! तुमं मए सह कामदेवाअदणुज्जाणं गदा आसि । [चेटि ! त्वं मया सह कामदेवायतनोद्यानं गतासीः ।]

मदनिका—अज्जए ! गदम्हि । [आर्ये ! गतास्मि ।]

वसन्तसेना—तह वि मं उदासीणा विअ पुच्छसि ? । [तथापि मामुदासीनेव पृच्छसि ? ।]

मदनिका—जाणिदं, किं सो ज्जेव जेण अज्जआ सरणाअदा अब्भुववण्णा ? । [ज्ञातम्, किं स एव येनार्या शरणागताभ्युपपन्ना ? ।]

वसन्तसेना—किंणामहेओ खु सो ? । [किंनामधेयः खलु सः ? ।]

मदनिका—सो खु सेट्ठिचत्तरे पडिवसदि । [स खलु श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति ।]

वसन्तसेना—अइ ! णामं से पुच्छिदासि । [अयि ! नामास्य पृष्टासि ।]

वसन्तसेना—चेटी ! तुम मेरे साथ काम देवायतन उद्यान में (उस बगीचे में जहाँ कि कामदेव का मन्दिर है) गयी थी ।

मदनिका—आर्ये ! गयी थी ।

शब्दार्थः—उदासीना = अनजानसी, अनभिज्ञसी, शरणागता = शरण में आयी हुई, अभ्युपपन्ना = स्वीकार की गयीं, अनुकम्पित की गयीं । श्रेष्ठिचत्वरे = सेठों के चौक में । सुगृहीतनामधेयः = स्वनामधन्य, प्रातःस्मरणीय; दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमनाः = निर्धनपुरुष से प्रेम करनेवाली; अवचनीया = अनिन्दनीय । मधुकर्यः = भ्रमरियाँ, हीनकुसुमम् = बिना बौरवाले, सहकारपादपम् = आम के पेड़ को, सेवन्ते = आश्रित करती हैं ?, ताः = वे, मधुकर्यः = फूलों का रस इकट्ठा करने वाली अथवा मत्त, उच्यन्ते = कही जाती हैं ।

अर्थः—**वसन्तसेना**—फिर भी अनजान सी (होकर) मुझसे पूछ रही हो ?

मदनिका—जान गयी । क्या उसको ही, जिसने आपको शरण देकर कृपा की थी ?

वसन्तसेना—उसका क्या नाम है ?

मदनिका—वह सेठों के चौक में रहते हैं ।

वसन्तसेना—अरी ! मैंने उसका नाम पूछा है ।

मदनिका—सो खु अज्जए! सुगहीदणामहेओ अज्जचारुदत्तो णाम। [स खलु आर्ये! सुगृहीतनामधेय आर्यचारुदत्तो नाम।]

वसन्तसेना—(सहर्षम्) साहु मदणिए! साहु। सुट्ठु तुए जाणिदं। [साधु मदनिके! साधु। सुष्ठु त्वया ज्ञातम्।]

मदनिका—(स्वगतम्) एव्वं दाव। (प्रकाशम्) अज्जए! दलिद्दो खु सो सुणीअदि। [एवं तावत्। आर्ये। दरिद्रः खलु स श्रूयते।]

वसन्तसेना—अदो ज्जेव कामीअदि। दलिद्दपुरिससंकंतमणा खु गणिआ लोए अवअणीआ भोदि। [अत एव काम्यते। दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमनाः खलु गणिका लोकेऽवचनीया भवति।]

मदनिका—अज्जए! किं हीणकुसुमं सहआरपादवं महुअरीओ उण सेवंति?। [आर्ये! किं हीनकुसुमं सहकारपादपं मधुकर्यः पुनः सेवन्ते?।]

वसन्तसेना—अदो ज्जेव ताओ महुअरीओ वुच्चन्ति। [अत एव ता मधुकर्य उच्यन्ते।]

मदनिका—आर्ये! वह सुन्दर नाम वाले (स्वनामधन्य) आर्य 'चारुदत्त' हैं।

वसन्तसेना—(प्रसन्नता के साथ) वाह! मदनिके वाह!! तूने ठीक जाना।

मदनिका—(अपने आप) तो ऐसा (कहूँ) (प्रकट रूप में) आर्ये! सुनती हूं कि वे निर्धन हैं।

वसन्तसेना—इसीलिए तो मैं चाहती हूं (क्योंकि) निर्धन पुरुष से प्रेम करने वाली वेश्या संसार में निन्दा का पात्र नहीं होती है।

मदनिका—आर्ये! क्या भ्रमरियाँ (भौंरों की स्त्रियाँ) बिना बौर वाले आम के पेड़ का सेवन करती हैं?

वसन्तसेना—इसीलिए तो उनका नाम 'मधुकरी' (फूलों का रस इकट्ठा करने वाली) है।

टीका:—उदासीना = तटस्था; अनभिज्ञा इत्यर्थः शरणम् = रक्षणम् आगता = प्राप्ता, शरणार्थिनी इति भावः; अभ्युपपन्ना = अनुकम्पिता। श्रेष्ठम् = धनादि एषाम् अस्ति इति श्रेष्ठिनः तेषां चत्वरे = वीथ्याम्। सुगृहीतम् = दातृत्वेन प्रातःस्मरणीयम् नामधेयम् = नाम ('आख्याह्वे अभिधानं च नामधेयं च नाम च' इत्यमरः) यस्य सः, प्रातःस्मरणीयः इत्यर्थः ('स सुगृहीतनामा स्यात् यः

मदनिका—अज्जए ! जइ सो मणीसिदो ता कीस दाणिं सहसा ण अहिसारीअदि ? [आर्ये, यदि स मनीषितस्तत्किमर्थमिदानीं सहसा नाभिसार्यते ? ।]

वसन्तसेना—हञ्जे ! सहसा अहिसारिअंतो पंचुअआरदुब्बलदाए, मा दाव, जणो दुल्लहदंसणो पुणो भविस्सदि । [चेटि ! सहसाभिसार्यमाणः प्रत्युपकारदुर्बलतया, मा तावत्, जनो दुर्लभदर्शनः पुनर्भविष्यति ।]

मदनिका—किं अदो ज्जेव सो अलंकारओ तस्स हत्थे णिक्खित्तो । [किमत एव सोऽलंकारस्तस्य हस्ते निक्षिप्तः ।]

प्रातरनुकीर्त्यते' इत्यमरः); दरिद्रपुरुषेषु = निर्धनेषु संक्रान्तम् = अनुरागविषयीकृतम् मनः = हृदयम् यया सा, दरिद्रपुरुषदत्तमना इत्यर्थः; अवचनीया = अनिन्दनीया: वेश्यानां धनलोलुपता एव जगद्विदिता न तु गुणानुरागः। किन्तु निर्धने अनुरागाभावात् ता चिरस्य वाच्यं न गताः भवन्ति इत्यर्थः। मधुकर्यः = भ्रमर्यः; हीनानि = अपगतानि कुसुमानि = पुष्पाणि यस्य तम्, पुष्पविरहितमित्यर्थः; सहकारपादपम् = आम्रवृक्षम्; सेवन्ते = आश्रयन्ति ? ताः = भ्रमर्यः; मधुकर्यः— मधु = पुष्परसम् कुर्वन्ति = सर्वतः एकत्रीकृत्य निष्पादयन्ति इति मधुकर्यः = पुष्परसाभिलाषिण्यः; पुष्पाभावे रसाप्राप्त्या कथं पुनः तासां प्रवृत्तिः इति भावः; अथवा मधु=पुष्परसम् कुर्वन्ति=सेवन्ते इति मधुकर्यः=मत्ता इत्यर्थ इति पृथ्वीधरः। मत्तानां व्यवहाराभावात् तत्राप्रवृत्तिरिति भावः। उच्यन्ते=कथ्यन्ते जनैः इति शेषः ॥

टिप्पणीः—अभ्युपपन्ना = (विशेषण) अभि + उप + √पद् + क्त + टाप् ॥

शब्दार्थः—सः = वह चारुदत्त, मनीषितः = मनचाहा, मनोवाञ्छित, अभिसार्यते = छिपकर मिले जाते हैं अथवा मिले जाते हैं। प्रत्युपकारदुर्बलतया = बदलाचुकाने में असमर्थता के कारण, दुर्लभदर्शनः = मिलना है मुश्किल जिसका ऐसा। अत एव = इसीलिये, विश्वास उत्पन्न करने के लिये। दशसुवर्णस्य = सोने की दश मुद्रा के लिए, रुद्धः = रोका गया।

अर्थः—मदनिका—आर्ये ! यदि वह मन चाहा (अभीप्सित प्रेमी) है तो क्यों नहीं तुरन्त इसी समय छिप कर उनसे मिलती हैं ?

वसन्तसेना—चेटी ! एकाएक छिप कर मिलने पर (धन आदि देकर) बदला चुकाने में असमर्थ होने के कारण, ऐसा न हो, कि फिर इन आर्य 'चारुदत्त' का मिलना भी दुर्लभ हो जाय।

मदनिका—क्या इसीलिए वह आभूषण (जेवर) उनके हाथ में (अर्थात् उनके पास) धरोहर के रूप में रक्खा है ?

वसन्तसेना—हञ्जे ! सुट्ठु दे जाणिदं । [चेटि ! सुष्ठु त्वया ज्ञातम् ।]

(नेपथ्ये)

अले भट्टा ! दशसुवण्णाह लुद्धु जूदकरु पपलीणु पपलीणु । ता गेण्ह गेण्ह । चिट्ठ चिट्ठ, दूलात्पदिट्ठो सि । [अरे भट्टारक ! दशसुवर्णस्य रुद्धो द्यूतकरः प्रपलायितः प्रपलायितः । तद्‌गृहाण गृहाण । तिष्ठ तिष्ठ, दूरात्प्रदृष्टोऽसि ।]

(प्रविश्यापटीक्षेपेण संभ्रान्तः)

संवाहकः - हीमाणहे, कट्टे एसे जुदिअलभावे ।

णवबंधणमुक्काए विअ
गद्दहीए हा ताडिदो म्हि गद्दहीए ।
अंगलाअमुक्काए विअ शत्तीए
घडुक्को विअ घादिदो म्हि शत्तीए ॥ १ ॥

लेखअवावडहिअअं शहिअं दट्‌ठूण झत्ति पब्भट्ठे ।
एण्हिं मग्गणिवडिदे कं णु खु शलणं पपज्जे ॥ २ ॥

वसन्तसेना—चेटी ! तुमने ठीक जाना ।

[नेपथ्य=पर्दा में]

अरे स्वामी ! दस सुवर्ण (तत्कालीन सोने का सिक्का) के लिये रोका (बाँधा) हुआ जुआरी भाग गया, भाग गया । तो (उसे) पकड़ो पकड़ो । ठहरो ठहरो दूर से ही दिखलायी पड़ गया है ।

टीका—सः = चारुदत्तः ; मनसः = हृदयस्य ईप्सितः = प्रियः वाञ्छितो वा ; अभिसार्यते = अभिसारः क्रियते । प्रत्युपकारे = ममाभिरमणरूपोपकारस्य प्रतिदाने दुर्बलतया = अशक्ततया, धनाभावादिति शेषः ; दुर्लभम् = दुष्प्राप्यम् दर्शनम् = साक्षात्कारः यस्य सः । अत एव = विश्वासमुत्पादयितुम् एव । दशानां सुवर्णानां समाहारः दशसुवर्णं तस्य दशसुवर्णस्य = पणीकृतसुवर्णमुद्रादशकस्य ; रुद्धः = गृहीतः ॥

टीप्पणी—काम के वशीभूत जो स्त्री प्रेमी को अपने पास बुलाती है, अथवा स्वयं उसके पास जाती है, वह अभिसारिका कही गयी है—

"अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा ।
स्वयं वा अभिसरत्येषा धीरैरुक्ताऽभिसारिका ॥"

अपटीक्षेपेण—बिना पर्दा हटाये अथवा बिना पर्दा गिराये ॥

ता जाव एदे शहिअज्दिअला अरणदो मं अरणेशंति, ताव हक्के विप्पडीवेहिं पादेहिं एदं शुरणदेउलं पविशिअ देवीभविश्शं। [आश्चर्यम्, कष्ट एष द्यूतकरभावः]।

नवबन्धनमुक्तयेव मर्दभ्या हा ताडितोऽस्मि गर्दभ्या।
अङ्गराजमुक्तयेव हा शक्त्या घटोत्कच इव घातितोऽस्मि शक्त्या ॥

नवबन्धनमुक्तया इति—

अन्वयः—हा !, नवबन्धनमुक्तया, गर्दभ्या, इव, गर्दभ्या, ताडितः, अस्मि, हा !, अङ्गराजमुक्तया, शक्त्या, घटोत्कचः, इव, शक्त्या, घातितः, अस्मि ॥१॥

शब्दार्थः—हा ! = हाय !, नवबन्धनमुक्तया=नये पगहा (बन्धन) से छूटी हुई, गर्दभ्या = गदही के, इव = समान, गर्दभ्या = जुआ खेलने की कौड़ी के द्वारा, ताडितः = मारा गया, अस्मि = हूँ, हा = हाय ! अङ्गराजमुक्तया = कर्ण के द्वारा चलायी गयी, शक्त्या = शक्तिनामक अस्त्र से, घटोत्कच इव = भीम के पुत्र घटोत्कच के समान, शक्त्या = जुए की कौड़ियों की चाल से, घातितः = मार दिया गया, अस्मि = हूँ ॥

[बिना पर्दा उठाए घबराया हुआ प्रवेश करके]

संवाहक—आश्चर्य है ! यह जुआरीपन बहुत ही दुःखदायक है।

हाय ! शीघ्र ही पगहा (बन्धन) से छूटी हुई गदही के समान गर्दभी (जुए के काम में आने वाली कौड़ी, पाशा) ने मुझे मार दिया (अर्थात् कौड़ी से बुरी तरह पछाड़ा गया हूँ । 'कर्ण' (अङ्गराज) के द्वारा चलाई हुई शक्ति (एक प्रकार का फेंक कर मारने वाला अस्त्र) से घटोत्कच' (भीम के लड़के) के समान, मैं भी शक्ति (जुए में चली जानेवाली कौड़ियों की एक खास चाल) के द्वारा मारा गया हुँ ॥ १ ॥

टीका हा = कष्टम् ! ; नवम् = सद्यः बन्धनात् = पाशात् मुक्तया = स्वतन्त्रया विगलितया वा ; गर्दभ्या = रासभस्त्रिया; इव = यथा ; गर्दभ्या = वराटिकया ; ताडितः = दण्डितः ; अस्मि = वर्ते ; हा = खेदे अव्ययपदम् ; अङ्गराजेन = कर्णेन मुक्तया प्रक्षिप्तया ; शक्त्या = अस्त्रविशेषेण ; घटोत्कच इव = हिडिम्बागर्भजभीमसेनपुत्रः इव ; शक्त्या = द्यूतखेलनप्रकारेण इत्यर्थः ; घातितः = मारितः अस्मि । महाभारते युद्धं कुर्वाणः हिडिम्बागर्भजातभीमसेनपुत्रः घटोत्कचः यदा कौरववीराणां महाक्षयं कृतवान् तदा कर्णेन एकघ्नीनामिकया अमोघशक्त्या हतः इति महाभारतीया कथा ॥ १ ॥

लेखकव्यापृतहृदयं सभिकं दृष्ट्वा झटिति प्रभ्रष्टः ।
इदानीं मार्गनिपतितः कं नु खलु शरणं प्रपद्ये ॥

तद्यावदेतौ सभिकद्यूतकरावन्यतो मामन्विष्यतः, तावदहं विपरीताभ्यां पादाभ्यामेतच्छून्यदेवकुलं प्रविश्य देवीभविष्यामि ।

(बहुविधं नाट्यं कृत्वा तथा स्थितः)

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा एवं यमक की संसृष्टि है। प्रयुक्त छन्द है—चित्रजाति ॥ १ ॥

लेखकव्यापृतहृदयम् इति—

अन्वयः—लेखकव्यापृतहृदयम्, सभिकम्, दृष्ट्वा, झटिति, प्रभ्रष्टः, इदानीम्, मार्गनिपतितः, (अहम्) नु, कम्, खलु, शरणम्, प्रपद्ये ॥ २ ॥

शब्दार्थः—लिखने में उलझे हुए चित्तवाले, सभिकम्=जुआरियों के अगुआ को, जुआ कराने वाले को, दृष्ट्वा=देखकर, झटिति=जल्दी ही, प्रभ्रष्टः=भाग निकला, इदानीम्=अब, मार्गनिपतितः=रास्ते पर आ गया, अहम्=मैं, नु=अरे ! कम्=किसको (की), (खलु=यह वाक्य की सुन्दरता के लिये हैं), शरणम्=शरण को, प्रपद्ये=प्राप्त करूँ ?

अर्थः—जुआरियों के अगुआ (सभिक) को कुछ लिखने में उलझा हुआ देख कर जल्दी ही (आँख बचा कर) भाग निकला और अब रास्ते पर आ गया मैं किसकी शरण में जाऊँ ? ॥ २ ॥

टीका—लेखः एव लेखकः (स्वार्थे कन्)=लेखनम् तस्मिन् व्यापृतम्=संलग्नम् हृदयम्=चेतः यस्य तम्; सभिकम्=द्यूताध्यक्षम्; दृष्ट्वा=अवलोक्य; झटिति=शीघ्रम्; प्रभ्रष्टः=पलायितः; इदानीम्=सम्प्रति; मार्गे=राजपथे निपतितः=आगतः; अहम्=संवाहकः; नु=अरे ! कम्=जनम्; खलु=वाक्यालङ्कारे पदमेतत्; शरणम्=शरणार्थं रक्षितारम् इत्यर्थः; प्रपद्ये=प्राप्नोमि ? ॥ २ ॥

टिप्पणी—इसमें गाथा छन्द है, लक्षण—

"विषमाक्षरपादत्वात्, पादौ रसमञ्जसं धर्मवत् ।
यच्छन्दसि नोक्तमत्र, गाथेति तत् सूरिभिः कथितम्" ॥ २ ॥

शब्दार्थ:—अन्यतः=दूसरी ओर, विपरीताभ्याम्=उलटे, पादाभ्याम्=पैरों से, देवकुलम्=मन्दिर में, देवीभविष्यामि=देवता की मूर्ति बन जाऊँगा। माथुरः=माथुर नामक जुआरियों का अगुआ, द्यूतकरः=विजेता जुआरी ॥

(ततः प्रविशति माथुरो द्यूतकरश्च)

माथुरः--अले भट्टा ! दशसुवण्णाह लुद्ध जूदकरु पपलीणु पपलीणु । ता गेण्ह गेण्ह । चिट्ठ चिट्ठ । दूरात्पदिट्ठोसि । [अरे भट्टारक ! दशसुवर्णस्य रुद्धो द्यूतकरः प्रपलायितः प्रपलायितः । तद्गृहाण गृहाण । तिष्ठ तिष्ठ, दूरात्प्रदृष्टोऽसि ।]

द्यूतकरः—

जइ वज्जसि पादालं इंदं शलणं च संपदं जासि ।
सहिअं वज्जिअ एकं रुद्दो वि ण रक्खिदुं तरइ ॥ ३ ॥
[यदि व्रजसि पातालमिन्द्रं शरणं च सांप्रतं यासि ।
सभिकं वर्जयित्वैकं रुद्रोऽपि न रक्षितुं तरति ॥]

अर्थः-तो जब तक जुआरियों का अगुआ (सभिक) और जुआरी मुझे दूसरी ओर ढूँडते है तब तक मैं उलटे पैरों से चलकर (अर्थात् पीठ की बल चलकर, जैसे दक्षिण की ओर जाना है तो उत्तर की ओर मुख करके) इस सूने देव-मन्दिर में घुस कर देवता की मूर्ति बन जाऊँ । (बहुत प्रकार का अभिनय करके देवता की मूर्ति बन कर बैठ जाता है) ।

[इसके पश्चात् 'माथुर' और जुआरी प्रवेश करते हैं ।]

टीका—अन्यतः=अन्यस्याम् दिशि ; विपरीताभ्याम् = विप्रतीपाभ्याम् ; पादाभ्याम्=चरणाभ्याम् ; देवकुलम्=देवालयम् ; देवीभविष्यामि – न देवः अदेवः= देवेतरः देवः=मूर्तिरूपः सम्पद्यमानः भविष्यामि इति देवीभविष्यामि=देवमूर्तिं धृत्वा स्थितः भविष्यामि इत्यर्थः । माथुरः=तन्नामा सभिकः द्यूतसभाकारकः इत्यर्थः ; द्यूतकरः=तन्नामकः पलायमानस्य संवाहकस्य विजेता अन्यः द्यूतकर्ता ॥

टिप्पणी—देवीभविष्यामि = देवप्रतिमा बन जाऊँगा ; देव + च्वि + भविष्यामि, 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः' इस सूत्र के अनुसार अभूततद्भाव में 'च्वि' प्रत्यय करके 'अस्य च्वौ' सूत्र से अकार को ईकार होकर 'देवी' रूप बनता है ।

अर्थः--माथुर—अरे स्वामी ! दश सुवर्ण (तत्कालीन सोने का सिक्का) के लिये रोका ((बाँधा अथवा बैठाया) हुआ जुआरी भाग गया, भाग गया । तो (उसे) पकड़ो, पकड़ो । ठहरो, ठहरो । दूर से ही दिखलायी पड़ गया है ।

यदि व्रजसि इति--

अन्वयः--यदि, पातालम्, व्रजसि, इन्द्रम्, शरणम्, च, यासि, (किन्तु), एकम्, सभिकम्, वर्जयित्वा, रुद्रः, अपि, (त्वाम्) रक्षितुम्, न, तरति ॥ ३ ॥

माथुरः—

कहिं कहिं सुसहिअवप्पलंभआ
पलासि ले भअपलिवेविदंगआ।
पदे पदे समविसमं खलंतआ
कुलं जसं अइकसणं कलेंतआ ॥ ४ ॥

[कुत्र कुत्र सुसभिकविप्रलम्भक! पलायसे रे भयपरिवेपिताङ्गक!। पदे पदे समविषमं स्खलन्कुलं यशोऽतिकृष्णं कुर्वन्।]

शब्दार्थः—यदि=यदि, पातालम् = पातालको (में), व्रजसि=जाते हो, इन्द्रम्=इन्द्र की, शरणम्=शरण को (में), यासि=जाते हो, (किन्तु) एकम्=केवलम्, सभिकम्=सभिक को, जुआरियों के अध्यक्षको, वर्जयित्वा=छोड़कर, रुद्रः=शिव, अपि=भी, (त्वाम्=तुमको), रक्षितुम्=बचाने में, न=नहीं तरति=समर्थ हैं।

अर्थः—जुआरी—यदि (अपने बचाव के लिये तुम) जमीन के नीचे के लोक (पाताल लोक) में जाते हो अथवा (देवताओं के मालिक) इन्द्र की शरण में चले जाते हैं तो (भी) इस समय केवल सभिक को छोड़ कर शिव भी तुम्हें नही बचा सकते ॥ ३ ॥

टीका—यदि=चेत्; पातालम्=पृथिव्याः अधस्तलमित्यर्थः; व्रजसि=गच्छसि; इन्द्रम्=देवराजम् वा; शरणम्=रक्षकम्, यासि=गच्छसि; किन्तु एकम् = केवलम्; सभिकम् = द्यूतकराध्यक्षम् माथुरम्; वर्जयित्वा=परित्यज्य; रुद्रः=शिवोऽपि; त्वाम् = संवाहकम्; रक्षितुम्=त्रातुम्; न तरति=न समर्थः भवति इति भावः ॥ ३ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में आर्या छन्द है। लक्षण—

"यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या॥" ३ ॥

कुत्र कुत्र सुसभिकविप्रलम्भक! इति—

अन्वयः—हे सुसभिकविप्रलम्भक! भयपरिवेपिताङ्गक! कुलम्, यशः, अतिकृष्णम्, कुर्वन्, पदे, पदे, समविषमम्, स्खलन्, कुत्र, कुत्र, पलायसे ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—हे सुसभिकविप्रलम्भक—हे सच्चे और सीधे जुआरियों के अगुआ को ठगने वाले!, भयपरिवेपिताङ्गक=डर के मारे काँपती हुई शरीर वाले!

द्यूतकरः—(पदं वीक्ष्य) एसो वज्जदि। इअं पणट्ठा पदवी। [एष व्रजति। इयं प्रनष्टा पदवी।]

माथुरः—(आलोक्य, सवितर्कम्) अले, विप्पदीवु पादु। पडिमाशुण्णु

कुलम् = खान-दान को (और) यशः = यशको, अतिकृष्णम् = अत्यन्त काला कुर्वन् = करते हुए, पदे पदे = पग पग पर, समविषमम् = उँचे-नीचे, स्खलन् = लड़खड़ाते हुए, कुत्र कुत्र = कहाँ कहाँ, पलायसे = भाग रहे हो ॥

अर्थः—माथुर—अरे ! (मुझे जैसे) सच्चे और सीधे जुआरियों के अगुआ (सुसभिक) को भी धोखा देने वाले ! डर के मारे काँपती हुई शरीरवाले ! अपने खान-दान (कुल) एवं कीर्ति को अत्यन्त काली करते हुए, पग-पग पर ऊँचे-नीचे लड़खड़ाते हुए तू कहाँ कहाँ भाग रहा है ॥ ४ ॥

टीका—सुसभिकम् = सरलव्यवहारकारिणम् सभिकं मामित्यर्थः विप्रलम्भयति = प्रतारयति इति सुसभिकविप्रलम्भकः तत्सम्बुद्धौ; भयेन = भीत्या परिवेपितानि = कम्पितानि अङ्गानि = शरीरावयवाः यस्य तत्सम्बुद्धौ:; कुलम् = वंशम्, यशः = कीर्तिञ्च स्वकीयमिति शेषः; अतिकृष्णम् = मलीमसम् मलिनमित्यर्थः, कुर्वन् = विदधत् ; पदे पदे = प्रतिपादन्यासम् इत्यर्थः, समविषमम् = उच्चावचस्थानम् समविषमं यथा स्यात्तथा वा; स्खलन्=गमने भ्रश्यन् ; कुत्र कुत्र=कस्मिन् कस्मिन् स्थाने; पलायसे = पलाय्य गच्छसि ॥ ४ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक के छन्द का नाम है—रुचिरा। इसका लक्षण इस प्रकार है—"जभौ सजौ गिति रुचिरा चतुर्ग्रहैः ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—पदम् = पैरों के चिह्न को। पदवी = पैरों के चिह्नों की पंक्ति, पदपंक्ति, प्रनष्टा = गायब हो गयी। विप्रतीपौ = उलटे, देवकुलम् = मन्दिर, प्रतिमाशून्यम् = मूर्ति से रहित। संज्ञाप्य = इशारा करके। शैलप्रतिमा=पत्थर की मूर्ति। द्यूतेच्छाविकारसंवरणं कृत्वा = जुआ खेलने की इच्छा की चञ्चलता को रोक कर॥

अर्थः—जुआरी—(पैरों के चिह्न को देख कर) यह जा रहा है (अर्थात् यहाँ से गया है)। यहाँ पैर के चिह्न गायब हो गये (अर्थात् जाने के पैर के चिह्न गायब हो गये किन्तु आने के हैं)।

माथुर—(देखकर तर्कपूर्वक) अरे ! पैर (पैरों के चिह्न) उलटे (आने

देउलु। (विचिन्त्य) धुत्तु जूदकरु विप्पदीवेहिं पादेहिं देउलं पविट्ठो। (अरे, विप्रतीपौ पादौ। प्रतिमाशून्यं देवकुलम्। धूर्तो द्यूतकरो विप्रतीपाभ्यां पादाभ्यां देवकुलं प्रविष्टः।]

द्यूतकरः— ता अणुसरेम्ह। [ततोऽनुसरावः।]

माथुरः— एव्वं भोदु। [एवं भवतु।]

(उभौ देवकुलप्रवेशं निरूपयतः, दृष्ट्वाऽन्योन्यं संज्ञाप्य)

द्यूतकरः—कधं कट्ठमयी पडिमा ?। [कथं काष्ठमयी प्रतिमा ?।]

माथुरः—अले, ण हु ण हु, शैलपडिमा। (इति बहुविधं चालियति संज्ञाप्य च) | एव्वं भोदु। एहि, जूदं किलेम्ह। [अरे, न खलु न खलु, शैलप्रतिमा। एवं भवतु। एहि, द्यूतेन क्रीडावः। (इति बहुविधं द्यूतं क्रीडति)

के) हैं। देवता का यह मन्दिर मूर्ति से रहित है (सोच कर) ठग जुआरी उलटे पाँवों से मन्दिर में घुस गया है।

जुआरी—तो (उसका) पीछा करते हैं।

माथुर—ऐसा ही हो।

(दोनों मन्दिर में घुसने का अभिनय करते हैं। देख कर और एक दूसरे को इशारा करके)

जुआरी—क्या (यह) काठ की मूर्ति है ?

माथुर—अरे ? नहीं, नहीं, पत्थर की मूर्ति है। (ऐसा कह कर (उसे) बहुत भाँति से हिलाता डुलाता है और इशारा करके) अच्छा, ऐसा हो। आओ जुआ खेलें। (ऐसा कहकर बहुत तरह से जुआ खेलता है)

टीका—पदम् = पदचिह्नम् इत्यर्थः। पदवी = पदपंक्तिः, मार्गः वा; ('अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः' इत्यमरः); प्रनष्टा = लुप्ता; गमनपदचिह्नाभावात् अतः परं मार्गः न अवलोक्यते इति भावः। विप्रतीपौ = विपरीतौ; आगच्छतः जनस्य पदचिह्नानि अवलोक्यन्ते न तु गच्छतः इति आशयः; देवकुलम् = देवमन्दिरम्; प्रतिमाशून्यम् = मूर्तिरहितम्। संज्ञाप्य = संकेतं दत्वा। शैलप्रतिमा—शिलायाः = पाषाणखण्डस्य इयं शैली = पाषाणमयी सा चासौ प्रतिमा च शैलप्रतिमा = पाषाणमूर्तिः। द्यूतेच्छायाः=द्यूतक्रीडाभिलाषायाः विकारस्य = चाञ्चल्यस्य संवरणम् = गोपनम्॥

संवाहकः—(द्यूतेच्छाविकारसंवरणं बहुविधं कृत्वा, स्वगतम्) अले,
कत्ताशद्दे णिण्णाणअश्श हलइ हडकं मनुश्शश्श ।
ढक्काशद्दे व्व णडाधिवश्श पब्भट्टलज्जश्श ॥ ५ ॥
जाणामि ण कीलिश्शं शुमेलुशिहलपधणशण्णिहं जूअं ।
तह वि हु कोइलमहुले कत्ताशद्दे मणं हलदि ॥ ६ ॥
[अरे, कत्ताशब्दो निर्नाणकस्य हरति हृदयं मनुष्यस्य ।
ढक्काशब्द इव नराधिपस्य प्रभ्रष्टराज्यस्य ॥

अरे कत्ताशब्दः इति—

अन्वयः—अरे ! कत्ताशब्दः, निर्नाणकस्य, मनुष्यस्य, प्रभ्रष्टराज्यस्य, नराधिपस्य, ढक्काशब्दः, इव, हृदयम्, हरति ॥ ५ ॥

शब्दार्थ :—अरे = ओह ! कत्ताशब्दः = कौड़ी की खनखनाहट, निर्नाणकस्य=निर्धन, मनुष्यस्य = मनुष्य के ; प्रभ्रष्टराज्यस्य = राज्य से वञ्चित, नराधिपस्य= राजा के, (हृदय को), ढक्काशब्दः = भेरी के शब्द (की), इव=तरह, हृदयम्= हृदय को, हरति=लुभाता है, आकृष्ट करता है ॥

अर्थः संवाहक—(जुआ खेलने की इच्छा को जैसे तैसे रोक कर अपने आप)—

अरे, यह कौड़ी अथवा पासा की (खन-खनाहट की) आवाज निर्धन (जुआरी) मनुष्य के हृदय को उसी तरह लुभाती है जिस तरह कि हाथ से राज्य निकल जाने वाले किसी राजा को ढक्का = भेरी का शब्द (लड़ाई आदि के लिए ललचाता है) ॥ ५ ॥

टीका—अरे=अहो ! कत्ता=यया द्यूतकरणं सा कत्ता, 'कौड़ी' संज्ञकं द्यूतसाधनमित्यर्थः तस्याः शब्दः=ध्वनिविशेषः ; नास्ति नाणकम्=धनम् यस्य तस्य निर्नाणकस्य = निर्धनस्य ; मनुष्यस्य=जनस्य ; प्रभ्रष्टम्=शत्रुभिः स्वायत्तीकृतम् राज्यम्=राज्यश्रीः यस्य तस्य ; राज्यच्युतस्येत्यर्थः ; नराधिपस्य=राज्ञः ; ढक्काशब्दः= भेरीध्वनिः इव ; हृदयम् = चेतः ; हरति = आकृष्टं करोति । द्यूतव्यसनी द्यूतक्रीडां विलोक्य स्वम् अवरोद्धुं न शक्नोतीति भावः ॥ ५ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा विपुला छन्द है । छन्द का लक्षण—

"उल्लङ्घ्य गणत्रयमादिमं, शकलयोर्द्वयो र्भवति पादः ।
यस्यास्तां पिङ्गलनागो, विपुलामिति समाख्याति" ॥ ५ ॥

जानामि न क्रीडिष्यामि सुमेरुशिखरपतनसंनिभं द्यूतम् ।
तथापि खलु कोकिलमधुरः कत्ताशब्दो मनो हरति ॥

द्यूतकरः—मम पाठे, मम पाठे । [मम पाठे, मम पाठे ।]

जानामि न क्रीडिष्यामि इति—

अन्वयः—द्यूतम्, सुमेरुशिखरपतनसन्निभम्, जानामि, (अतः) न, क्रीडिष्यामि, तथापि, कोकिलमधुरः, कत्ताशब्दः, खलु, मनः, हरति ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—द्यूतम्=जुआ को, सुमेरुशिखरपतनसन्निभम्=सुमेरु पर्वत की चोटी से गिरने के समान, जानामि=जानता हूँ, (अतः=इसलिये), न=नहीं, क्रीडिष्यामि=खेलूँगा, तथापि=तो भी, कोकिलमधुरः=कोयल की आवाज के समान मधुर, कत्ताशब्दः=कौड़ी की खन-खनाहट, खलु=निश्चय ही, मनः=मन को, हरति= लुभा लेती है ।

अर्थः–जुआ (खेलना) 'सुमेरु' पर्वत की चोटी से गिरने के समान (हानि-कारक) है; (मैं यह) जानता हूँ । अतः नहीं खेलूँगा । तथापि कोयल के गले से निकली हुई मीठी कूक के समान कौड़ी की खन-खनाहट मनको लुभा ही लेती है ॥ ६ ॥

टीका—द्यूतम्=द्यूतक्रीडनम् ; सुमेरोः=तन्नामकपर्वतस्य शिखरात्=शृङ्गात् पतनम्=भ्रंशनम् तेन सन्निभम्=तुल्यम् ; तत्पतनवत् विनाशकमिति भावः ; जानामि= अवबोधयामि, अतः न क्रीडिष्यामि तथापि कोकिल इव=कोकिलकूजनमिवेत्यर्थः, मधुरः=श्रवणसुभगः (कोकिले मधुरत्वाभावात् कोकिलपदेन कोकिलरवः लक्षणया बोध्यः) ; कत्तायाः=द्यूते प्रयुज्यमानायाः लोके 'कौड़ी' इति प्रसिद्धायाः ; शब्दः= रवः ; खलु = अवश्यम् ; मनः=चेतः ; हरति = आकर्षति । बहुशः अनुचिन्त्यते मया हानिकरः द्यूतपरिणामः अतः प्रतिज्ञायतेऽपि यन्न पुनः द्यूतं क्रीडिष्यामि । परञ्च यदा श्रूयते श्रवणसुभगः कत्ताशब्दः तदा बलात् तत्रैव प्रवर्तितः भवामि इति भावः ॥६॥

टिप्पणी—यहाँ पर भी उपमा अलङ्कार एवं विपुला छन्द है । छन्द के लक्षण के लिये देखिये श्लोक पाँच की टिप्पणी ॥ ६ ॥

शब्दार्थः–पाठे=पारी, दाँव । लुप्तदण्ड = हारा हुआ धन न देने वाले ! पतति=चक्कर खा रहा है ।

अर्थः- जुआरी—मेरा दाँव है मेरा ।

माथुरः—ण हु; मम पाठे मम पाठे। [न खलु; मम पाठे मम पाठे।]

संवाहकः—(अन्यतः सहसोपसृत्य) णं मम पाठे। [ननु मम पाठे।]

द्यूतकरः—लद्धे गोहे। [लब्धः पुरुषः।]

माथुरः—(गृहीत्वा) अले पेदंडा ! गहीदोसि। पअच्छ तं दशसुवण्णं। [अरे लुप्तदण्ड ! गृहीतोऽसि। प्रयच्छ तद्दशसुवर्णम्।]

संवाहकः—अज्ज दइश्शं। [अद्य दास्यामि।]

माथुरः—अहुणा पअच्छ। [अधुना प्रयच्छ।]

संवाहकः—दइश्शं। पशादं कलेहि। [दास्यामि। प्रसादं कुरु।]

माथुरः—अले, णं संपदं पअच्छ। [अरे, ननु सांप्रतं प्रयच्छ।]

संवाहकः—शिलु पडदि। [शिरः पतति।] (इति भूमौ पतति)

(उभौ बहुविधं ताडयतः)

माथुरः—एसु तुमं हु जूदिअरमंडलीए बद्धोसि। [एष त्वं खलु द्यूतकर-मण्डल्या बद्धोऽसि।]

माथुर—नहीं, मेरा दाँव है, मेरा दाँव है।

संवाहक—(दूसरी ओर से अचानक पास आकर) दाँव तो मेरा है।

जुआरी—(भागा हुआ) पुरुष मिल गया।

माथुर—(पकड़ कर) अरे ! दण्ड (हारा हुआ धन) न देने वाले, पकड़ लिये गये हो। तो वह दस सुवर्ण (सोने का दस सिक्का) दो।

संवाहक—आज दूँगा।

माथुर—अभी दो।

संवाहक—दूँगा। दया करो।

माथुर—अरे ! इसी समय दो।

संवाहक—शिर चक्कर खा रहा है (भूमि पर गिर पड़ता है)

(दोनों बहुत भाँति पीटते हैं)

माथुर—लो, अब तुम जुआरियों की टोली के द्वारा पकड़ लिये गये हो।

टीका—पाठे=पर्यायार्थे द्यूतकरैः शब्दोऽयं प्रयुज्यते। लुप्तः=अपहृतः न दत्तः इति यावत् दण्डः=पणीकृतः धनराशिः येन तत्सम्बुद्धौ ! पतति=चक्रवद्भ्रमति इत्यर्थः।

संवाहकः—(उत्थाय, सविषादम्) कधं जूदिअलमंडलीए बद्धो म्हि । ही, एशे अम्हाणं जूदिअलाणं अलंघणीए शमए । ता कुदो दइश्शं ? । [कथं द्यूतकर-मण्डल्या बद्धोऽस्मि । कष्टम्, एषोऽस्माकं द्यूतकराणामलङ्घनीयः समयः । तस्मात्कुतो दास्यामि ? ।]

माथुरः—अले, गंधु कुलु कुलु । [अरे, गण्डः क्रियतां क्रियताम् ।]

संवाहकः—एव्वं कलेमि । (द्यूतकरमुपस्पृश्य) अद्धं ते देमि, अद्धं मे मुंचदु । [एवं करोमि । अर्धं तुभ्यं ददामि, अर्धं मे मुञ्चतु ।]

द्यूतकरः– एव्वं भोदु । [एवं भवतु ।]

संवाहकः—(सभिकमुपगम्य) अद्धश्श गंधु कलेमि । अद्धं पि मे अज्जो मुंचदु । [अर्धस्य गण्डं करोमि । अर्धमपि मे आर्यो मुञ्चतु ।]

माथुरः—को दोसु ? ।एव्वं भोदु । [को दोषः ? एवं भवतु ।]

संवाहकः- (प्रकाशम्) अज्ज ! अद्धे तुए मुक्के ? । [आर्य ! अर्धं त्वया मुक्तम् ? ।]

माथुरः—मुक्के । [मुक्तम् ।]

संवाहकः—(द्यूतकरं प्रति) अद्धे तुए वि मुक्के ? । [अर्धं त्वयापि मुक्तम् ? ।]

शब्दार्थः—अलङ्घनीयः = उल्लङ्घन न करने लायक, समयः=नियम । गण्डः=बन्दोवस्त, प्रबन्ध ।

अर्थः संवाहक (उठकर, दुःख के साथ) क्या जुआरियों की टोली के द्वारा पकड़ लिया गया हूँ ? खेद है, यह हम जुआरियों का न उल्लङ्घन करने के लायक नियम है । तो कहाँ से दूं ।

माथुर—अरे, बन्दोवस्त (प्रबन्ध) करो अथवा शर्त मानलो ।

संवाहक—ऐसा ही करता हूँ । (जुआरी को छूकर) आधा तुम्हें दिये देता हूँ । आधा तुम मेरे लिए छोड़ दो ।

जुआरी—ऐसा ही सही ।

संवाहक—(सभिक के पास जाकर) आधे की शर्त मानता हूँ (अर्थात् आधा देने का वायदा करता हूँ) । और आधा आप भी मेरे लिये छोड़ दें ।

माथुर –क्या हर्ज है ? ऐसा ही सही ।

संवाहक—(प्रकट रूप में) आर्य ! आधा आपने छोड़ दिया ?

माथुर –छोड़ दिया ।

संवाहक—(जुआरी से) आधा तुमने भी छोड़ दिया ?

द्यूतकरः—मुक्के। [मुक्तम्।]

संवाहकः—संपदं गमिश्शं। [सांप्रतं गमिष्यामि।]

माथुरः—पअच्छ तं दशसुवरुणं, कहिं गच्छसि ?। [प्रयच्छ तं दशसुवर्णम्। कुत्र गच्छसि ?]।

संवाहकः—पेक्खध पेक्खध भट्टालआ ! हा, संपदं जेव्व एक्काह अद्धे गंथु कडे, अवलाह अद्धे मुक्के। तहवि मं अबलं शंपदं जेव्व मग्गदि। [प्रेक्षध्वं प्रेक्षध्वं भाट्टारकाः ! हा, सांप्रतमेव एकस्यार्धे गण्डः कृतः, अपरस्यार्धं मुक्तम्। तथापि मामबलं सांप्रतमेव याचते।]

माथुरः—(गृहीत्वा) धुत्तु ! माथुरु अहं णिउणु। एत्थ तुए ण अहं धुत्तिज्जामि। ता पअच्छ तं पेदंडआ ! सव्वं सुवण्णं संपदं। [धूर्त ! माथुरोऽहं निपुणः। अत्र नाहं धूर्तयामि। तत्प्रयच्छ तं लुतदण्डक, सर्वं सुवर्णं सांप्रतम्।]

संवाहकः—कुदो दइश्शं ?। [कुतो दास्यामि ?।]

टीका—अलङ्घनीयः=लङ्घितुम् अयोग्यः अवश्यपालनीयः इत्यर्थः। समयः=नियमः आचारः ('समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः)। गण्डः=प्रबन्धः शपथः वा।

शब्दार्थः— साम्प्रतम्=अब ; गमिष्यामि = जाता हूँ। अबलम् = कमजोर से। निपुणः = चालाक। धूर्तयामि = धूर्तता का कार्य कर रहा हूँ। प्रसर= चलो। आकाशे=आकाश की ओर, दृष्ट्वा=देखकर। कर्मकरः=नौकर। प्रतिवचनम्= उत्तर। अवधीर्य=उपेक्षा करके। विघटिते=नष्ट हो जाने पर, मन्दभाग्यः=अभागा, वर्ते=हो गया हूँ। असिंहासनम्=विना सिंहासन का।

अर्थः— जुआरी—हाँ, छोड़ दिया।

संवाहक—(अच्छा तो) अब जाता हूँ।

माथुर—कहाँ जाते हो ? दस सोने की मोहर (मुद्रा) दो।

संवाहक—महानुभाओं ! देखिये, देखिये। हाय ! अभी अभी एक के आधे की शर्त की है और दूसरे ने भी आधा (जो बाकी था उसको भी) छोड़ दिया है। फिर भी मुझ कमजोर से इसी समय ही माँग रहे हैं।

माथुर—(पकड़ कर) धूर्त ! मैं चालक 'माथुर' हूँ। यहाँ मैं धूर्तता नहीं कर रहा हूं। इसलिये दण्ड न देनें वाले (ठग) ! वह सभी सोना इसी समय दो।

संवाहक—कहाँ से दूंगा ?

माथुरः—पिदरु विक्किणिअ पअच्छ। [पितरं विक्रीय प्रयच्छ।]

संवाहकः—कुदो मे पिदा ?। [कुतो मे पिता ?।]

माथुरः—मादरु विक्किणिअ पअच्छ। [मातरं विक्रीय प्रयच्छ।]

संवाहकः—कुदो मे मादा ?। [कुतो मे माता ?।]

माथुरः—अप्पाणं विक्किणिअ पअच्छ। [आत्मानं विक्रीय प्रयच्छ।]

संवाहकः—कलेध पशादं। णेध मं लाजमग्गं। [कुरुत प्रसादम्। नयत मां राजमार्गम्।]

माथुरः—पसरु। [प्रसर।]

संवाहकः—एव्वं भोदु। (परिक्रामति) अज्जा ! क्किणिध मं इमश्श शहिअश्श हत्थादो दशेहिं शुवण्णकेहिं। (दृष्ट्वा आकाशे) किं भणाध—'किं कलइश्शशि' त्ति ?। गेहे दे कम्मकले हुविश्शं। कधं ? अदइअ पडिवअणं गदे ?। भोदु एव्वं। इमं अण्णं भणइश्शं। (पुनस्तदेव पठति) कधं एशे वि मं अवधीलिअ गदे। हा, अज्जचालुदत्तस्स विहवे विहडिदे एशे वड्ढामि मंदभाए। [एवं भवतु। आर्याः ! क्रीणीध्वं मामस्य सभिकस्य हस्ताद्दशभिः सुवर्णकैः। किं भणत—'किं करिष्यसि' इति ?। गेहे ते कर्मकरो भविष्यामि। कथं अदत्त्वा प्रतिवचनं

माथुर—अपने बाप को बेंच कर दो।

संवाहक—मेरे पिता कहाँ हैं ?

माथुर—(तो फिर) माता को बेंच कर दो।

संवाहक—मेरी माता कहाँ हैं ?

माथुर—(तो) अपने को बेंच कर दो।

संवाहक—मेरे ऊपर दया करें। मुझे (बेचने के लिये) सड़क पर ले चलिए।

माथुर चलो।

संवाहक—ऐसा ही हो। (घूमता है) आर्यों ! मुझको इस सभिक (जुआरिओं के सरदार) के हाथ से दश सोने की मोहर देकर खरीद लीजिए। (आकाश की ओर देखकर) क्या कहते हो कि—'कौन सा काम करोगे ?' तुम्हारे घर में काम करने वाला (अर्थात् नौकर) होऊँगा। क्या बिना उत्तर दिये ही चला गया ? अच्छा जाने दो। इस दूसरे (आदमी) से कहूंगा। [फिर वही (आर्यों ! मुझको इस सभिक के हाथ से दस सोने की मोहर देकर खरीद लीजिए)

गतः ? । भवत्वेवम्, इममन्यं भणिष्यामि । कथं एषोऽपि मामवधीर्य गतः ? ; हा, आर्यचारुदत्तस्य विभवे विघटिते एष वर्ते मन्दभाग्यः ।]

माथुरः - णं देहि । [ननु देहि ।]

संवाहकः - कुदो दइश्शं ? । [कुतो दास्यामि ? ।] (इति पतति)

(माथुरः कर्षति)

संवाहकः—आज्जा ! पलित्ताअध पलित्ताअध । [आर्याः ! परित्रायध्वं परित्रायध्वम् ।]

(ततः प्रविशति दर्दुरकः)

दर्दुरकः—भोः ! द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम् ।

पढ़ता है] क्यों ? यह भी मेरा अनादर (उपेक्षा) करके चला गया ? हाय ! आर्य 'चारुदत्त' के धन के नाश हो जाने पर मैं अभागा होकर जी रहा हूँ ।

माथुर—दो न !

संसाहक—कहाँ से दूं ? (ऐसा कह कर गिर पड़ता है) ।

(माथुर घसीटता है)

संवाहक—आर्यो ! रक्षा करो, रक्षा करो ।

(इसके बाद दर्दुरक प्रवेश करता है)

दर्दुरक—अरे ! जुआ भी मनुष्य का विना राजगद्दी (सिंहासन) का राज्य है ।

टीका—साम्प्रतम्=अधुना; गमिष्यामि = अर्द्धक्रमेण युवाभ्यां निखिलः धनराशिः एव मुक्तः अतः देयविमुक्तः अहं निर्भयं गमिष्यामीति भावः । उभाभ्यां राशिरेव मुक्तः इति मुक्तदेयत्वात् यामि इति ब्रूते (पृथ्वीधरः) । अबलम्=अशक्तम् । निपुणः=प्रवीणः । धर्तयामि=धूर्तकार्यं करोमि । प्रसर=प्रचल । आकाशे दृष्ट्वा= पात्राभावे आकाशं विलोक्य यदुच्यते तदाकाशभाषितं नाम नाट्योक्तिः । तस्या लक्षणं कथितं साहित्यदर्पणकारेण—

"किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत् स्यादाकाशभाषितम् ॥"

कर्म=कार्यं करोति इति कर्मकरः=भृत्यः । प्रतिवचनम्=उत्तरम् । अवधीर्य=तिरस्कृत्य । विघटिते = विनाशं गते सति । मन्दभाग्यः=भाग्यहीनः सन् ; वर्ते=प्राणान्

न गणयति पराभवं कुतश्चिद्धरति ददाति च नित्यमर्थजातम् ।
नृपतिरिव निकाममायदर्शी विभववता समुपास्यते जनेन ।। ७ ।।

धारयामि । नास्ति सिंहासनम्=राजासनम् यस्मिन् तत् असिंहानम्=केवलं सिंहासनादिविरहितम् ।।

टिप्पणी—धूर्तयामि—धूर्तं करोति आचष्टे वा इस अर्थ में "तत्करोति तदाचष्टे" इस सूत्र से 'णिच्' होकर 'धूर्तयामि' यह क्रिया शब्द सिद्ध होता है। आकाशे दृष्ट्वा—देखिये संस्कृत टीका ।।

न गणयति पराभवम् इति—

अन्वयः—(द्यूतम्), कुतश्चित्, पराभवम्, न, गणयति, नित्यम्, अर्थजातम्, हरति, ददाति, च, निकामम्, आयदर्शी, राजा, इव, विभावता, जनेन, समुपास्यते ।। ७ ।।

शब्दार्थ : द्यूतम्=जुआ, कुतश्चित्=किसी से अथवा कहीं से, पराभवम् = अपमान को, न गणयति=नहीं गिनता है, नित्यम्=नित्य ही, अर्थजातम्=धनको, हरति=लेता है, च = और, ददाति=देता है, निकामम्=काफी. आयदर्शी=लाभ दिखाने वाले, राजा इव=राजा की तरह, विभववता=धनी, जनेन=व्यक्ति के द्वारा, समुपास्यते=सेवित होता है ।।

अर्थः—(जुआ) किसी से अपमान की परवाह नहीं करता है। (यह) नित्य ही धन लेता (पैदा करता) और देता है। राजा की भाँति काफी लाभ दिखलाने वाला जुआ बड़े-बड़े धनी आदमियों के द्वारा भी सेवित होता है (अर्थात् खेला जाता है) ।। ७ ।।

टीका—द्यूतम्, कुतश्चित्=कस्मादपि ; पराभवम्=तिरस्कारम् ; पराजयम् वा ; न गणयति=किञ्चित्कर्तृत्वेन न जानाति ; नित्यम्=सर्वदा ; अर्थजातम्= सम्पत्तिसमूहम् ; हरति=उपार्जयति ; ददाति=विजयशालिने अर्पयति च ; निकामम्=पर्याप्तम् ; आयम्=धनप्राप्तिम् दर्शयति=उपस्थापयतीत्यर्थः ; राजा द्यूतञ्च उद्दामधनोपार्जनं कुरुते ; राजा इव=नृपतिरिव ; विभववता=ऐश्वर्यशालिना ; अपि जनेन=लोकेन ; समुपास्यते=सेव्यते ।। ७ ।।

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा पुष्पिताग्रा छन्द प्रयुक्त है। छन्द का लक्षण—

"अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा" ।। ७ ।।

अपि च,—

द्रव्यं लब्धं द्यूतेनैव दारा मित्रं द्यूतेनैव।
दत्तं भुक्तं द्यूतेनैव सर्वं नष्टं द्यूतेनैव ॥ ८ ॥

अपि च,—

त्रेताहृतसर्वस्वः पावरपतनाच्च शोषितशरीरः।
नर्दितदर्शितमार्गः कटेन विनिपातितो यामि ॥ ९ ॥

(अग्रतोऽवलोक्य) अयमस्माकं पूर्वसभिको माथुर इत एवाभिवर्तते। भवतु, अपक्रमितुं न शक्यते। तदवगुण्ठयाम्यात्मानम्। (बहुविधं नाट्यं कृत्वा स्थितः, उत्तरीयं निरीक्ष्य)

द्रव्यं लब्धम् इति

अन्वय :– द्यूतेन, एव, द्रव्यम्, लब्धम्, द्यूतेन, एव, दाराः, मित्रम्, (लब्धम्), द्यूतेन, एव दत्तम्, भुक्तम्, द्यूतेन, एव, सर्वम्, नष्टम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थः— द्यूतेन=जुआ से, एव=ही, द्रव्यम्=धन, लब्धम् = प्राप्त हुआ, द्यूतेन=जुआ से, एव=ही, दाराः = स्त्री (प्राप्त हुई), मित्रम्=मित्र (प्राप्त हुआ), द्यूतेन=जुआ से, एव=ही, दत्तम्=दिया गया भुक्तम्=खाया गया, द्यूतेन=जुआ से, एव=ही, सर्वम्=सब कुछ, नष्टम्=खतम हो गया ॥

और भी—

अर्थः—जुआ से ही (मैंने) धन कमाया। स्त्री और मित्र जुए से ही प्राप्त किया। जुए से ही (किसी को कुछ) दिया और खाया। और जुए से ही (अपना) सब कुछ गवाँ दिया ॥ ८ ॥

टीका – द्यूतेन=द्यूतक्रीडया एव ; द्रव्यम्=धनम् ; लब्धम्=उपार्जितम् ; द्यूतेनैव दाराः=पत्नी ; 'दार' शब्दे बहुत्वं पुंस्त्वं च भवति ; लब्धा इति विभक्ति—विपरिणामेन अन्वयः। मित्रम् = सुहृत्, लब्धम्। द्यूतेनैव दत्तम् = अन्यजनाय समर्पितम् ; भुक्तम् = उपभुक्तम् ; द्यूतेनैव सर्वम् = निखिलम् वस्तु; नष्टम् = नाशं गतम् ॥८॥

टिप्पणी इस श्लोक में विषम अलङ्कार एवम् विद्युन्माला छन्द है। छन्द का लक्षण—"मो मो गो गो विन्द्युन्माला ॥८॥"

त्रेताहृतसर्वस्वः इति—

अन्वयः—त्रेताहृतसर्वस्वः, पावरपतनात्, शोषितशरीरः, नर्दितदर्शितमार्गः, कटेन, विनिपातितः, यामि ॥९॥

शब्दार्थः—त्रेताहृतसर्वस्वः=त्रेता ('तीया' नामक एक खास चाल) के द्वारा सब कुछ छीन लिया जाने वाला, पावरपतनात्=पावर ('दूआ' नामक एक प्रकार का दाँव) के गिरने से, शोषितशरीरः = सन्न (शुष्क) शरीरवाला, नर्दितदर्शितमार्गः = नर्दित ('नक्का' नामक एक तरह का दाँव) के द्वारा रास्ता दिखाया गया, कटेन = कट ('पूरा' नामक एक ढंग का दाँव) के द्वारा, विनिपातितः = विनष्ट किया गया, (मैं), यामि = जा रहा हूँ ॥

और भी—

अर्थः—त्रेता ('तीया' नामक एक खास चाल=दाँव) के कारण सब कुछ छीन लिया जाने वाला, पावर ('दूआ' नाम एक प्रकार का दाँव) के द्वारा सन्न (शुष्क) शरीर वाला, नर्दित ('नक्का' नामक एक तरह का दाँव) के द्वारा (घरका रास्ता दिखाया जाने वाला, कट ('पूरा' नामक एक ढंग का दाँव) के द्वारा मारा हुआ (मैं) जारहा हूँ (अर्थात् 'तीया' 'दूआ' और 'नक्का' के चक्कर में मैं पूरे रूप से मिट चुका हूँ) ॥ ६ ॥

टीका—त्रेतया = त्रेतापातेन हृतम् = अपहृतम् सर्वस्वम् = निखिलम् धनं यस्य सः; पावरस्य = 'दूआ' इति प्रसिद्धस्य पतनात् = पातात्; शोषितम् = शुष्कीकृतं शरीरम् = कायः यस्य सः; नर्दितेन = 'नान्दी' (नक्का) इति प्रसिद्धेन दर्शितः = निर्दिष्टः मार्गः = पन्थाः यस्य असौ; कटेन = 'पूरा' इति ख्यातेन; विनिपातितः = विध्वंसितः; अहमिति शेषः; यामि = गच्छामि। अत्रेदं बोध्यम्—त्रेता-पावर-नर्दित-कटशब्दाः द्यूतक्रीडकानां साङ्केतिकशब्दविशेषाः सन्ति। एतेषां यथासंख्यं पर्यायवाचिनः लोके "तीया-दूआ-नक्का-पूराशब्दाः प्रसिद्धा वर्तन्ते। द्यूतेन सर्वथा विनष्टः कृतः अस्मीति भावः ॥६॥

टिप्पणी—यहाँ त्रेता, पावर, नर्दित और कट—इन चार जुए के विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया गया है। व्याख्याकारों ने इन्हें चार प्रकार का दाँव बतलाया है। लोक में इनके नाम हैं—(१) त्रेता = तीया (तीन, सात, ग्यारह, पन्द्रह) (२) पावर = दूआ (दो, छः, दस, चौदह) (३) नर्दित = नक्का (एक, पाँच, नौ, तेरह) (४) कट = पूरा (चार, आठ, बारह, सोलह)।

इस श्लोक में आर्या छन्द है। छन्द का लक्षण—

"यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ ६ ॥"

अर्थः–(सामने की ओर देखकर) यह हमारा पहले का सभिक (जुआ कराने

अयं पटः सूत्रदरिद्रतां गतो ह्ययं पटश्छिद्रशतैरलंकृतः।
अयं पटः प्रावरितुं न शक्यते ह्ययं पटः संवृत एव शोभते ॥ १० ॥

अथवा किमयं तपस्वी करिष्यति ?। यो हि

वाला) माथुर इसी ओर आ रहा है। अच्छा, भागा तो नहीं जा सकता। इसलिए अपने शरीर को ढक लेता हूँ। (कई तरह से शरीर ढकने का नाटक करके खड़ा हो जाता है, अपने दुपट्टे को देख कर)

अयं पटः इति--

अन्वयः – अयम्, पटः, सुत्रदरिद्रताम्, गतः, अयम्, पटः, हि, छिद्रशतैः, अलंकृत., अयम्, पटः, प्रावरितुम्, न, शक्यते, अयम्, पटः, हि, संवृतः, एव, शोभते ॥ १० ॥

शब्दार्थः – अयम्=यह, पटः=कपड़ा, सूत्रदरिद्रताम्=सूतों की जीर्णता को, गतः = प्राप्त हो गया है, अयम्=यह, पटः=वस्त्र, हि = निश्चय ही, छिद्रशतैः = सैकड़ों छेदों से, अलंकृतः=परिपूर्ण है, अयम् = यह, पटः = वस्त्र, प्रावरितुम् = (शरीर) ढकने के लिये अर्थात् ढकने में, न = नहीं, शक्यते = समर्थ है, अयम्= यह, पटः = वस्त्र, हि=निश्चत ही, संवृतः = लपेटा हुआ, एव=ही, शोभते = अच्छा लगता है।

अर्थः—यह कपड़ा (दुपट्टा) झिलंगा = झांझर (अर्थात् टूटे फटे सूत वाला) हो गया है, यह कपड़ा बहुत से छेदों से परिपूर्ण है। यह वस्त्र शरीर ढकने लायक नहीं है। यह कपड़ा लपेटा हुआ रहने पर ही अच्छा लगता है।

टीका—अयम् = उत्तरीयाख्यः; पटः = वस्त्रम्; सूत्राणाम् = तन्तूनाम्, दरिद्रताम्=न्यूनताम् जीर्णताम् वा; गतः=प्राप्तः; अयम्=गृहीतः, पटः=दुकूलाख्यं वस्त्रम्, हि = निश्चितम्, छिद्राणाम् = विवराणाम्, शतैः=बहुत्वैः इत्यर्थः, अलंकृतः=परिपूर्ण; इति भावः, अयं पटः; प्रावरितुम्=आच्छादयितु, न शक्यते= न समर्थ्यते; अयं पटः; हि=निश्चतम्; संवृतः=वेष्टितः एव शोभते = भाति। 'अयं पटः' इत्यंशस्य बहुवारं पाठेन अनवीकृतत्वदोषः अत्र सुस्पष्टः एव। अथवा अशिक्षितवचनत्वात् दोषः समाधेयः ॥१०॥

टिप्पणीः—'अयं पटः' इन शब्दों का चार बार प्रयोग होने से इस श्लोक में 'अनवीकृतत्व' दोष है। कुछ लोग मूर्ख की उक्ति मान कर इस दोष का समाधान करते हैं।

पादेनैकेन गगने द्वितीयेन च भूतले ।
तिष्ठाम्युल्लम्बितस्तावद्यावत्तिष्ठति भास्करः ॥ ११ ॥

माथुरः—दापय दापय । [दापय दापय ।]
संवाहकः—कुदो दइश्शं ? । [कुतो दास्यामि ? ।]

इस श्लोक में वंशस्थ छन्द है । लक्षण—

"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" ॥१०॥

अर्थः—अथवा यह तुच्छ (माथुर मेरा) कर ही क्या सकता है ! जो कि (मैं)—

पादेनैकेन इति--

अन्वयः—एकेन, पादेन, गगने, द्वितीयेन, च, भूतले, उल्लम्बितः, तावत्, तिष्ठामि, यावत्, भास्करः, तिष्ठति ॥११॥

शब्दार्थः—एकेन=एक, पादेन = पैर से, गगने = आकाश में, द्वितीयेन = दूसरे (पैर) से, भूतले = जमीन पर, उल्लम्बितः = लटका हुआ, तावत् = तब तक, तिष्ठामि = ठहरा हूँ, ठहर सकता हूँ, यावत् = जब तक, भास्करः = सूर्य, तिष्ठति = रहा है ॥

अर्थः—एक पैर आसमान में करके और दूसरा पैर जमीन पर रखकर तब तक लटका हुआ रह सकता हूँ जब तक सूरज रहता है। (अर्थात् जब मैं समूचे दिन इतने दुःखदायी काम को भी कर सकता हूँ, तो 'माथुर' से डरने की क्या जरूरत ? वह इससे और कठोर दण्ड क्या देगा ?) ॥ ११ ॥

टीका—ऐकेन पादेन = चरणेन; गगने = आकाशे; द्वितीयेन = अन्येन; चकारः चरणस्मारकः; भूतले = पृथिव्याम्; उल्लम्बितः = उर्ध्वं लम्बमानः सन् इत्यर्थः ; तावत् = तावत्कालम् ; तिष्ठामि = स्थितः भवितुं शक्नोमि इत्यर्थः; यावत् = यावत्कालम् ; भास्करः = सूर्यः; तिष्ठति = अस्तं न गच्छति इत्यर्थः : अतः मम माथुरसकाशात् भयं नास्ति इति भावः ॥११॥

टिप्पणी—इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है । लक्षण—

"युजोश्तुर्थतो येन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ।। ११ ।।

अर्थः—माथुर—दिलाओ, दिलाओ ।
संवाहक—कहाँ से दूं ?

(माथुरः कर्षति)

दर्दुरकः—अये, किमेतदग्रतः ?। (आकाशे) किं भवानाह—'अयं द्यूतकरः सभिकेन खलीक्रियते, न कश्चिन्मोचयति' इति ?। नन्वयं दर्दुरो मोचयति। (उपसृत्य) अन्तरमन्तरम्। (दृष्ट्वा) अये, कथं माथुरो धूर्तः ?। अयमपि तपस्वी संवाहकः,—

यः स्तब्धं दिवसान्तमानतशिरा नास्ते समुल्लम्बितो
यस्योद्धर्षणलोष्टकैरपि सदा पृष्ठे न जातः किणः।
यस्यैतच्च न कुक्कुरैरहरहर्जङ्घान्तरं चर्व्यते।
तस्यात्यायतकोमलस्य सततं द्यूतप्रसङ्गेन किम् ? ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—अग्रतः=सामने, खलीक्रियते=सताया जा रहा है, पीटा जा रहा है। अन्तरमन्तरम् = अवकाश, अवकाश, हटो-हटो। तपस्वी = बेचारा॥

(माथुर घसीटता है)

अर्थः—दुर्दुरक - अरे ! यह सामने क्या (हो रहा) है ? (आकाश की ओर) क्या कहा आपने कि 'यह जुआरी जुआ करानेवाले (सभिक) के द्वारा मार-पीट कर अपमानित किया जा रहा है, और कोई छुड़ाता भी नहीं है।' तो लो यह 'दुर्दुरक' छुड़ाता है। (समीप जाकर) बस, बस हटो, हटो। (देखकर) ! अरे क्या यह धूर्त 'माथुर' है ? और यह (दूसरा) बेचारा 'संवाहक' है,—

टीका—अग्रतः = पुरतः; खलीक्रियते = ताडनादिना तिरस्क्रियते इति यावत्। अन्तरमन्तरम् = अपसरत, अपसरत; अन्तरमन्तरमिति जनसंमर्दे प्रवेशायावकाशप्रार्थना इति पृथ्वीधरः। तपस्वी = वराकः, निःसहायः इत्यर्थः।
यः स्तब्धमिति—

अन्वयः—यः, दिवसान्तम्, आनतशिराः, (सन्), स्तब्धम्, समुल्लम्बितः, न, आस्ते, यस्य, पृष्ठे, उद्घर्षणलोष्ठकैः, अपि, सदा, किणः, न, जातः, यस्य, च, एतत्, जङ्घान्तरम्, कुक्कुरैः, अहः अहः, न, चर्व्यते, अत्यायतकोमलस्य, तस्य, सततम्, द्यूतप्रसङ्गेन, किम् ? ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—यः = जो व्यक्ति, दिवसान्तम् = दिन भर, आनतशिराः = नीचे शिरवाला, सन् = होता हुआ, स्तब्धम् = चुपचाप, समुल्लम्बितः = लटका हुआ, न = नहीं, आस्ते = रहता, यस्य = जिसकी, पृष्ठे = पीठ में, उद्घर्षणलोष्ठकैः = घसीटने पर ढेलों के द्वारा, अपि = भी, सदा = हमेशा, किणः=घठ्ठा, न = नहीं,

जातः = पड़ा है, यस्य = जिसका, एतत् = यह, जङ्घान्तरम् = जाँघ का भीतरी भाग, कुक्कुरैः = कुत्तों के द्वारा, अहः अहः = प्रतिदिन, न चर्व्यते = नहीं काटा जाता, अत्यायतकोमलस्य = अत्यन्त कोमल, तस्य = उस व्यक्ति के, द्यूतप्रसङ्गेन = जुआ खेलने से, किम् = क्या प्रयोजन ? ॥

अर्थः—जो व्यक्ति (मेरे समान) दिन भर नीचे शिर करके (और ऊपर पैर करके) चुपचाप लटका हुआ नहीं रह सकता। जिसकी पीठ पर (पैसा न दे सकने पर दूसरे जुआरिओं के द्वारा) नित्य घसीटने से ढेलो के द्वारा घट्ठा (चोट का चिह्न) भी नहीं पड़ा है। (पैसा न दे सकने के कारण भागने पर जुआरियों के द्वारा दौड़ाए गये) कुत्तों से जिसकी जांघ का यह भीतरी हिस्सा प्रतिदिन काटा नहीं जाता। ऐसे अत्यन्त कोमल व्यक्ति का निरन्तर जुआ खेलने से क्या प्रयोजन ? (अर्थात् जुआ खेलना आसान काम नहीं है। इसमें कठिन से कठिन दुःख भोगने पड़ते हैं। अतः कोमल आदमियों को इधर नहीं आना चाहिए) ॥१२॥

टीका—यः = द्यूतकरः जनः ; दिवसान्तम् = दिनावसानपर्यन्तम् ; सन्ध्यां यावदित्यर्थः ; आनतम् = अधोलम्बितम् शिरः = मस्तकम् यस्य सः, तादृशः सन् ; स्तब्धम् = निश्चलं यथा तथा, समुल्लम्बितः = उच्चस्थानात् अधोलम्बितः; न आस्ते = न तिष्ठति, न स्थातुं शक्नोति इत्यर्थः ; यस्य = जनस्य च, एतत् = इदम् ; जङ्घान्तरम् = जङ्घयोः अन्तरालम् ; कुक्कुरैः = श्वभिः ; अहरहः = प्रतिदिनम्, न चर्व्यते = न खाद्यते ; अत्यायतकोमलस्य = अतिशयकोमलस्य ; तस्य = द्यूतकरस्य ; द्यूतप्रसङ्गेन = द्यूतक्रीडनेन ; किम् = किं प्रयोजनम् ? तादृशेन जनेन द्यूतकरेण न भाव्यमिति भावः ॥ १२ ॥

टिप्पणी—स्तब्धम्—√स्तम्भ् + क्त ॥

इस श्लोक में काव्यलिङ्गालङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

छन्द का लक्षण—

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—सान्त्वयामि = शान्त करता हूँ। कल्यवर्तम् = कलेवा (है) अर्थात् कलेवा जैसा तुच्छ है। कक्षातलखुण्ठीकृतम् = काँख के नीचे लपेटा हुआ। जर्जरपटप्रावृतः = फटे-पुराने कपड़े से ढका हुआ। कटकरणेन = 'पूरा' नामक दाँव से। क्रोडे = गोदी में ॥

भवतु, माथुरं तावत्सान्त्वयामि । (उपगम्य) माथुर ! अभिवादये ।

(माथुरः प्रत्यभिवादयते)

दर्दुरकः--किमेतत् ? ।

माथुरः --अअं दशसुवण्णं धालेदि । [अयं दशसुवर्णं धारयति ।]

दर्दुरकः --ननु कल्यवर्तमेतत् ।

माथुरः—(दर्दुरस्य कक्षातललुण्ठीकृतं पटमाकृष्य) भट्टा ! पश्शत पश्शत । जज्जरपडप्पावुदो अअं पुलिसो दशसुवण्णं कल्लवत्तं भणादि । [भर्तारः ! पश्यत पश्यत । जर्जरपटप्रावृतोऽयं पुरुषो दशसुवर्णं कल्यवर्तं भणति ।]

दर्दुरकः—अरे मूर्ख ! नन्वहं दशसुवर्णान्कटकरणेन प्रयच्छामि । तत्किं यस्यास्ति धनं स किं क्रोडे कृत्वा दर्शयति ? । अरे,

दुर्वर्णोऽसि विनष्टोऽसि दशस्वर्णस्य कारणात् ।
पञ्चेन्द्रियसमायुक्तो नरो व्यापाद्यते त्वया ॥ १३ ॥

अर्थः—अच्छा, तो 'माथुर' को शान्त करता हूँ । (पास में जाकर) माथुर प्रमाण करता हूँ ।

(माथुर भी बदले में प्रणाम करता है)

दर्दुरक—यह क्या है ?

माथुर—इसके (संवाहक के) यहाँ मेरी सोने की दस मोहरें चाहिए।

दर्दुरक – अरे ! इतना धन तो कलेवा की भाँति (तुच्छ) है ।

माथुर—(दर्दुरक की काँख (कक्ष) में लपेट कर दबाए हुए कपड़े को खींच कर) महानुभावों ! देखिए, देखिए । फटे-पुराने कपड़े से ढका हुआ यह व्यक्ति सोने की दस मोहरों को कलेवा की तरह (तुच्छ) बतला रहा है ।

दर्दुरक—अरे मूर्ख ! सोने की दस मुहरे तो मैं एक दाँव से (एकवार कौड़ी अथवा पाशा फेंक कर) दे सकता हूँ । तो जिसके पास धन होता है क्या वह उसको (धन को) गोदी में रख कर (संसार को) दिखलाता फिरता है ?

टीका—सान्त्वयामि = शान्तं करोमि । कल्यवर्तम् = प्रातर्भोजनम्, तद्वत् स्वल्पमिति भावः । कक्षातले = बाहुमूलाभ्यन्तरे लुण्ठीकृतम् = वेष्टितम् । जर्जरपटेन = जीर्णवस्त्रेण प्रावृतः = आच्छादितः । कटकरणेन = 'पूरा' पातनेन, अनायासमिति तात्पर्यम् । क्रोडे = उत्सङ्गे ॥

दुर्वर्णोऽसि इति—

अन्वयः—(हे माथुर ! त्वम्), दुर्वर्णः, असि, विनष्टः, असि, (यत्) त्वया, दशस्वर्णस्य, कारणात् , पञ्चेन्द्रियसमायुक्तः, नरः, व्यापाद्यते ॥ १३ ॥

माथुरः—भट्टा! तुए दशसुवण्णु कल्लवत्तु। मए एसु विहवु। [भर्तः! तव दशसुवर्णः कल्यवर्तः। ममैष विभवः]

दर्दुरकः—यद्येवम्, श्रूयतां तर्हि। अन्यांस्तावद्दशसुवर्णानस्यैव प्रयच्छ। अयमपि द्यूतं शीलयतु।

शब्दार्थः—(हे माथुर! त्वम् = तुम), दुर्वर्णः = नीच, असि = हो, विनष्टः = पतित, असि = हो, (यत् = जो कि) त्वया = तुम्हारे द्वारा, दशस्वर्णस्य = सोने की दश मोहरों के, कारणात् = कारण से, पञ्चेन्द्रियसमायुक्तः= पाँच इन्द्रियों से युक्त, नरः=मनुष्य, व्यापाद्यते=मारा जा रहा है॥

अरे,—

अर्थः—माथुर! तुम नीच एवं पतित हो (जो कि) सोने की दस मोहरों के लिए पाँच इन्द्रियों (कान, त्वक्, आँख, जीभ तथा नाक) से युक्त (भरी पूरी शरीरवाले) मनुष्य को मार रहे हो॥ १३॥

टीका—हे माथुर! त्वं दुर्वर्णः—दुष्टः=अधमः वर्णः=जातिः यस्य सः; हीनजातिः इत्यर्थः; असि=वर्तसे; विनष्टः=पतितः; असि; यत् त्वया=माथुरेण; दशस्वर्णस्य = दशानां स्वर्णानां समाहारः तस्य; कारणात् = निमित्तात्; पञ्चभिः इन्द्रियैः=नेत्रादिभिः करणैः समायुक्तः = संयुक्तः; नरः=पुरुषः; व्यापाद्यते= हन्यते। तुच्छधनार्थं तव प्राणिपीडनम् अतीव गर्हणीयमिति सारांशः॥ १३॥

टिप्पणी—इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा अनुष्टुप् छन्द है। छन्द का लक्षण—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥ १३॥

अर्थः—माथुर—महाराज! सोने की दस मोहरें आप के लिए तुच्छ हैं। (किन्तु) मेरे लिये तो यही धन है।

शब्दार्थः—शीलयतु=फिर खेले। जल्पितुम् = बकवाद करना। एवम्=दश-सुवर्ण को कलेवा के समान तुच्छ, आचक्षाणः=कहने वाला। खण्डितवृत्तः= चरित्रहीन, बेईमान।

अर्थः—दर्दुरक—यदि ऐसी बात है तो सुनो। सोने की दस मोहरें इसको और दो। यह भी फिर जुआ खेले।

माथुरः—तत्किं भोदु ?। [तत्किं भवतु ?।]

दर्दुरकः—यदि जेष्यति तदा दास्यति।

माथुरः—अह ण जिणादि ?। [अथ न जयति ?।]

दर्दुरकः – तदा न दास्यति।

माथुरः—अह ण जुत्तं जप्पिदुं। एव्वं अक्खंतो तुमं पअच्छ धुत्तआ !। अहं पि णाम माथुरु धुत्तु जूदं मित्था आदंसआमि। अण्णस्स वि अहं ण बिभेमि। धुत्ता ! खंडिअवुत्तोसि तुमं। [अथ न युक्तं जल्पितुम्। एवमाचक्षाणस्त्वं प्रयच्छ धूर्तक !। अहमपि नाम माथुरो धूर्तो द्यूतं मिथ्या दर्शयामि। अन्यस्मादप्यहं न बिभेमि। धूर्त ! खण्डितवृत्तोऽसि त्वम्।]

दर्दुरकः—अरे, कः खण्डितवृत्तः ?।

माथुरः—तुमं हु खंडिअवुत्तो। [त्वं खलु खण्डितवृत्तः।]

माथुर—उससे क्या होगा।

दर्दुरक—यदि जीतेगा तो दे देगा।

माथुर—यदि नहीं जीतेगा ?

दर्दुरक—तब नहीं देगा।

माथुर—और बकवाद करना ठीक नहीं है। रे धूर्त ! ऐसा कहते हो तो तुम्हीं दे दो। मैं भी धूर्त माथुर हूँ। छल से जुआ खेलता हूँ। दूसरे किसी से भी नहीं डरता हूँ। धूर्त ! तुम बेईमान (खण्डितचरित्र) हो।

टीका—शीलयतु = द्यूतक्रीडां पुनः करोतु। जल्पितुम्=मिथ्या वक्तुम्। एवम् = दशसुवर्णं कल्यवर्तम्, आचक्षाणः = कथयन्। खण्डितम् = दूषितम् वृत्तम्= चरित्रम् यस्य सः; चरित्रहीनः इत्यर्थः।

टिप्पणी—शीलयतु—√ शील् (चुरादि) + लोट्। आचक्षाणः— आ + चक्ष् + शानच्।

शब्दार्थः— संज्ञाम्=इशारा को। परोक्षे=अनुपस्थिति में, खलीकर्तुं शक्यते= सताया जा सकता है। घोणायाम् = नाक पर, सशोणितम = खून के साथ। अन्तरयति=बीच-बचाव करता है। विप्रतीपम्=बदले में, उल्टा। पुंश्चलीपुत्रक= छिनार के बच्चे।

अर्थः--दर्दुरक – अरे ! कौन बेईमान है ?

माथुर—तुम्हीं बेईमान (चरित्रहीन) हो।

दर्दुरकः—पिता ते खण्डितवृत्तः। [संवाहकस्यापक्रमितुं संज्ञां ददाति)

माथुरः—गोसाविश्रापुत्ता ! णं एव्वं जेव जूदं तुए सेविदं ?। [विश्यापुत्र ! नन्वेवमेव द्यूतं त्वया सेवितम् ?।]

दर्दुरकः—मयैवं द्यूतमासेवितम्।

माथुरः—अले संवाहश्रा ! पश्रच्छ तं दशसुवण्णं। [अरे संवाहक ! प्रयच्छ तद्दशसुवर्णम्।]

संवाहकः—अज्ज दइश्शं, दाव दइश्शं,। [अद्य दास्यामि, तावद्दास्यामि।]

[माथुरः कर्षति)

दर्दुरकः—मूर्ख ! परोक्षे खलीकर्तुं शक्यते, न ममाग्रतः खलीकर्तुम्।

(माथुरः संवाहकमाकृष्य घोणायां मुष्टिप्रहारं ददाति, संवाहकः सशोणितं मूर्च्छां नाटयन्भूमौ पतति, दर्दुरक उपसृत्यान्तरयति; माथुरो दर्दुरकं ताडयति दर्दुरको विप्रतीपं ताडयति)

माथुरः—अले अले दुट्ठ छिण्णालिश्रापुत्तश्र ! फलं पि पाविहसि। [अरे अरे दुष्ट पुंश्चलीपुत्रक ! फलमपि प्राप्स्यसि।]

दर्दुरक—तेरा बाप वेईमान है। ('संवाहक' को भागने के लिये इशारा करता है)।

माथुर—रण्डी के बच्चे ! क्या तुमने इसी तरह से जुश्रा खेला है ?

दर्दुरक—हाँ, मैंने इसी तरह से जुश्रा खेला है।

माथुर—अरे संवाहक ! सोने की दस मोहरों को दो।

संवाहक—आज दूँगा। तब तक देदूँगा।

(माथुर घसीटता है)

दर्दुरक—मूर्ख ! मेरे न रहने पर ही तुम इसको सता (पीट) सकते हो, मेरे सामने नहीं।

('माथुर' 'संवाहक' को खींचकर उसकी नाक पर मुक्का मारता है। 'संवाहक' खून से लथपथ होकर के मूर्च्छा का अभिनय करता हुश्रा भूमि पर गिर पड़ता है। 'दर्दुरक आगे बढ़कर बीच-बचाव करता है। 'माथुर' 'दर्दुरक' को मारता है। बदले में 'दर्दुरक' भी पीटता है)

माथुर—अरे रे दुष्ट ! छिनार के बच्चे (कुलटापुत्र) ! (इसका) फल भी पाश्रोगे।

दर्दुरकः—अरे मूर्ख ! अहं त्वया मार्गगत एव ताडितः। श्वो यदि राजकुले ताडयिष्यसि, तदा द्रक्ष्यसि।

माथुरः—एसु पेक्खिस्सं। [एष प्रेक्षिष्ये।]

दर्दुरकः—कथं द्रक्ष्यसि ?।

माथुरः—(प्रसार्य चक्षुषी) एव्वं पेक्खिस्सं। [एवं प्रेक्षिष्ये।]

(दर्दुरको माथुरस्य पांशुना चक्षुषी पूरयित्वा संवाहकस्यापक्रमितुं संज्ञां ददाति, माथुरोऽक्षिणी निगृह्य भूमौ पतति, संवाहकोऽपक्रामति)

टीका—संज्ञाम्=संकेतम्। अक्ष्णः परं परोक्षं तस्मिन् परोक्षे=असम्मुखे; खलीकर्तुम्=पीडयितुं शक्यते। घोणायाम्=नासिकायाम्। ('घोणा नासा च नासिका' इत्यमरः)। शोणितेन=रक्तेन सहितं सशोणितम् यथा तथा। अन्तरयति=द्वयोः मध्ये स्थित्वा निवारयतीत्यर्थः। विप्रतीपम्=विपरीतम्, ताडयति माथुरमिति शेषः। पुंश्चलीपुत्रक—पुंसः=स्वपुरुषात् चलति=पुरुषान्तरं गच्छति इति पुंश्चली तस्याः पुत्रकः=सुतः तत्सम्बुद्धौ ॥

टिप्पणी—प्रतीपम्—इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जलप्रवाह के विरुद्ध, प्रतिगता आपः यस्मिन्—प्रति + अप् + अच्, अप् के अकार को 'ईकार' (द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् ६।३।९७) हो जाता है।

अर्थः—दर्दुरक—अरे मूर्ख ! तुमने (बिना कसूर) मुझे रास्ते चलते मारा है। कल यदि राजदरबार में मारोगे तो देखना।

माथुर—अच्छा, देख लूँगा।

दर्दुरक—कैसे देखोगे ?

माथुर—(आँखें फाड़कर) ऐसे देखूँगा।

शब्दार्थः—पांशुना = धूल से, निगृह्य = थाम कर, पकड़कर, अपक्रामति = भागता है। विरोधितः = विरोधी कर लिया गया है। सिद्धादेशेन=सिद्ध के निर्देश अथवा भविष्यवाणी से, समादिष्टः=निर्दिष्ट। अनपावृतपक्षद्वारकम्=खुली हुई खिड़की वाला। पिधेहि = बन्द कर दो। अपावृणु = खोल दो। तुलितम् = समान (है) ॥

अर्थः—('दर्दुरक' धूल से 'माथुर' की आँखों को भर कर 'संवाहक' को भागने का इशारा करता है। 'माथुर' आँखें थाम कर जमीन पर गिरता है। 'संवाहक' भागता है)

दर्दुरकः—(स्वगतम्) प्रधानसभिको माथुरो मया विरोधितः। तन्नात्र युज्यते स्थातुम्। कथितं च मम प्रियवयस्येन शर्विलकेन, यथा किल—'आर्यकनामा गोपालदारकः सिद्धादेशेन समादिष्टो राजा भविष्यति।' इति। सर्वश्चास्मद्विधो जनस्तमनुसरति। तदहमपि तत्समीपमेव गच्छामि। (इति निष्क्रान्तः)

संवाहकः—(सत्रासं परिक्रम्य, दृष्ट्वा) एशे कश्श वि अणावावुदपक्खदुआलके गुहे। ता एत्थ पविशिश्शं। (प्रवेशं रूपयित्वा, वसन्तसेनामालोक्य) अज्जे! शलणागदे म्हि। [एतत्कस्याप्यनपावृतपक्षद्वारकं गेहम्। तदत्र प्रविशामि। आर्ये! शरणागतोऽस्मि।]

वसन्तसेना—अभअं सरणागदस्स। हञ्जे! ढक्केहि पक्खदुआरअं। [अभयं शरणागतस्य। चेटि! पिधेहि पक्षद्वारकम्।]

(चेटी तथा करोति)

वसन्तसेना—कुदो दे भअं ?। [कुतस्ते भयम् ?।]

संवाहकः—अज्जे! धणिकादो। [आर्ये! धनिकात्।]

दर्दुरक—(अपने आप) मैंने प्रधान सभिक (जुआ कराने वाले) 'माथुर' से विरोध कर लिया है। इसलिये यहाँ ठहरना ठीक नहीं है। मेरे प्रिय मित्र 'शर्विलक' ने कहा भी है कि—'सिद्ध के आशीर्वाद अथवा भविष्य-वाणी से 'आर्यक' नाम वाला अहीर का पुत्र (गोपपुत्र) राजा होगा।' और हमारे जैसे सभी व्यक्ति उसके पीछे हैं। तो मैं भी उसके पास ही चलूँगा। (ऐसा विचार कर चला जाता है)।

संवाहक- (भयपूर्वक घूमकर और देखकर) यह किसी का घर है जिसकी खिड़की (बगल का दरवाजा) खुली हुई है। तो इसमें घुसता हूँ। (घुसने का अभिनय करके 'वसन्तसेना' को देख कर) आर्ये! आप की शरण में आया हुआ हूँ।

वसन्तसेना—शरण में आये हुए तुम्हारे लिए किसी बात का डर नहीं है। चेटी! खिड़की की किवाड़ बन्द कर दो।

(चेटी वैसा ही करती है अर्थात् किवाड़ बन्द करती है)

वसन्तसेना—किससे तुम्हें डर है ?

संवाहक—श्रीमती जी! धनी से।

वसन्तसेना—हञ्जे ! संपदं अवावुणु पक्खदुआरअं। [चेटि ! सांप्रतमपावृणु पक्षद्वारकम्।]

संवाहक:—(आत्मगतम्) कधं धणिकादो तुलिदं शे भअकालणं ?। शुट्ठु खु एवं वुच्चदि,—

जे अत्तबलं जाणिअ भालं तुलिदं वहेइ माणुश्शे।
ताहं खलणं ण जायदि ण अ कंतालगडे विवज्जदि ॥ १४ ॥

एत्थ लक्खिदम्हि। [कथं धनिकात्तुलितमस्या भयकारणम् ? सुष्ठु खल्वेतदुच्यते,—

य आत्मबलं ज्ञात्वा भारं तुलितं वहति मनुष्यः।
तस्य स्खलनं न जायते न च कान्तारगतो विपद्यते ॥

अत्र लक्षितोऽस्मि।

वसन्तसेना—चेटी ! अब किवाड़ खोल दो।

संवाहक—(अपने आप) क्या मेरे ही समान इसको भी धनी व्यक्ति से भय लग रहा है ? वास्तव में यह ठीक ही कहा जाता है।

टीका—पांशुना = धूलिसमूहेन इत्यर्थः ; निगृह्य = नितराम् गृहीत्वा ; अपक्रामति=पलायते। विरोधितः=कलहेन क्रुद्धः कृतः इत्यर्थः। सिद्धस्य=सिद्धिमतः आदेशेन = निर्देशेन भविष्यकथनेन वा ; समादिष्टः = निर्दिष्टः। अनपावृतम् = उद्घाटितम्, पक्षद्वारम् एव पक्षद्वारकम्=पार्श्वस्थाभ्यन्तरपथः यस्य तत् ; गेहमित्यस्य विशेषणमेतत्। विधेहि = आवृणु। अपावृणु = उद्घाटय। तुलितम् = सदृशम्, ममेति शेषः ॥

टिप्पणी—अपावृणु—वसन्तसेना सोचती है कि यदि इस आदमी को किसी ऋणदाता (धनिक) से डर है तो किवाड़ बन्द करने की आवश्यकता नहीं है ; क्योंकि उसे तो धन देकर आसानी से टाला जा सकता है ॥

य आत्मबलमिति—

अन्वयः—यः : मनुष्यः, आत्मबलम्, ज्ञात्वा, तुलितम्, भारम्, वहति, तस्य, स्खलनम्, न, जायते, कान्तारगत. ; च, (सः) न, विपद्यते ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—यः=जो, मनुष्यः=मनुष्य, आत्मबलम्=अपने बल को, ज्ञात्वा=समझ कर, तुलितम्=(उसके) अनुसार, भारम्=बोझको, वहति=ढोता है, तस्य=उसका, स्खलनम्=पतन, न=नहीं, जायते=होता, कान्तारगतः=गहनवन अथवा दुर्गम मार्ग में गया हुआ, च=भी, (सः=वह) न=नहीं, विपद्यते=नष्ट होता है ॥

अर्थः—जो मनुष्य अपनी ताकत का अन्दाज (अनुभव) करके (अर्थात्

माथुरः—(अक्षिणी प्रमृज्य, द्यूतकरं प्रति) अले, देहि देहि। [अरे, देहि देहि।]

द्यूतकरः—भट्टा ! जावदेव अम्हे दद्दुरेण कलहायिदा तावदेव सो गोहो अवक्कंतो । [भर्तः ! यावदेव वयं दर्दुरेण कलहायितास्तावदेव स पुरुषोऽपक्रान्तः ।]

ताकत के अनुसार) बोझ उठाता है, वह कभी भी गड्ढे में नहीं गिरता है। और न तो दुर्गम रास्ते पर चलने से नष्ट ही होता है । अर्थात् यदि मैंने अपने धन का ख्याल करके जुआ खेला होता तो यह हालत न होती) ॥ १४ ॥

टीका—यः मनुष्य : = पुरुषः ; आत्मनः = स्वस्य बलम् = सामर्थ्यम् ; ज्ञात्वा = विचार्य ; स्वशक्त्यनुरूपमिति यावत् ; तुलितम् = स्वानुरूपम् ; भारम् = गुरुद्रव्यमित्यर्थः ; वहति = धारयति ; तस्य = जनस्य ; स्खलनम् = पतनम्, न जायते = न भवति ; कान्तारे = दुर्गममार्गे, गहने वने वा ('कान्तारं वर्त्म दुर्गमम्' इति अमरः) ; गतः = प्राप्तः ; च = अपि ; सः न विपद्यते = न विपत्तिमवाप्नोति । स्वशक्तिं विस्मृत्य अविमृश्यकारिणा मयैवैतादृशी शोचनीया अवस्था आनीता इति भाव : ॥ १४ ।

टिप्पणी—इस श्लोक में अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार तथा आर्या छन्द है। छन्द का लक्षण—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—अत्र = इस विषय में, इस उक्तिका, लक्षितः = उदाहरण। कलहायिताः = झगड़ा करने में उलझे हुए। सुवर्णानि = सोने की मुहरें, भूतानि = गयीं, नष्ट हुईं। तत् = तो, उपरोधेन = घेरने से अर्थात् घेर कर। संज्ञाम् = इशारा को। वृत्तिम् = जीविका को, व्यवसाय को, उपजीवति = आश्रित करते हैं। पाटलिपुत्रम् = पटना। गृहपतिदारकः = गृहस्थ का लड़का। संवाहकस्य = देह दबाने वाले की। सुकुमारा = कोमल, कला = विद्याविशेष। कला इति = कला मानकर। इदानीम् = इस समय, आजीविका = जीविका, संवृत्ता = हो गयी है। अतिनिर्विण्णम् = खेदयुक्त ॥

अर्थः—माथुर—(आँखें पोछकर, जुआरी से) अरे ! दो, दो।

जुआरी— स्वामिन् ! जैसे ही हम लोग 'दर्दुरक' के साथ गड़ा करने झमें उलझे हुए थे, तभी वह आदमी भाग गया।

माथुरः—तस्स जूदकलस्स मुट्ठिप्पहालेण णासिका भग्गा आसि। ता यहि, रुहिरपहं अणुसरेम्ह। [तस्य द्यूतकरस्य मुष्टिप्रहारेण नासिका भग्नासीत्। तदेहि, रुधिरपथमनुसरावः।]

(अनुसृत्य)

द्यूतकरः—भट्टा ! वसंतसेणागेहं पविट्टो सो। [भर्तः ! वसन्तसेनागृहं प्रविष्टः सः।]

माथुरः—भूदाइं सुवण्णाइं। [भूतानि सुवर्णानि।]

द्यूतकरः—लाअउलं गदुअ णिवेदेम्ह। [राजकुलं गत्वा निवेदयावः।]

माथुरः—एसो धुत्तो अदो णिक्कमिअ अण्णत्त गमिस्सदि। ता उअरोधेणेव्व गेण्हेम्ह। [एष धूर्तोऽतो निष्क्रम्यान्यत्र गमिष्यति। तदुपरोधेनैव गृह्णीवः।]

(वसन्तसेना मदनिकायाः संज्ञा ददाति)

मदनिकाः—कुदो अज्जो ? को वा अज्जो ? कस्स वा अज्जो ?। किं वा वित्तिं अज्जो उवजीअदि ? कुदो वा भअं ?। [कुत आर्यः ? को वार्यः ? कां वा वृत्तिमार्य उपजीवति ? कुतो वा भयम् ?।]

माथुर—उस जुआरी की नाक घूँसे के प्रहार से टूट गयी थी। तो आओ, खून गिरने के रास्ते का पीछा (अनुसरण) करें।

(अनुसरण करके)

जुआरी—स्वामिन् ! वह 'वसन्तसेना' के घर में घुस गया है।

माथुर—(तब तो) मोहरें गयीं (अर्थात् अब मोहरों का मिलना कठिन है)।

जुआरी—तो राजकुल (कोतवाली) में चलकर रिपोर्ट कर देते हैं।

माथुर—यह धूर्त (संवाहक) यहाँ से निकलकर दूसरी जगह भाग जायगा। इसलिये घेरकर ही पकड़ लें।

('वसन्तसेना' 'मदनिका' को इशारा करती है)

मदनिका—आप कहाँ से आ रहे हैं ? अथवा आप कौन हैं ? आप किसके पुत्र हैं ? आप कौन सा रोजगार (व्यवसाय) करके जीवन-यापन करते हैं ? आप को किससे डर है ?।

संवाहकः—शुणादु अज्जआ। अज्जए! पाडलिउत्ते मे जन्मभूमी। गहव-इदालके हग्गे। संवाहअश्श वित्तिं उवजीआमि। [शृणोत्वार्या। आर्ये! पाटलिपुत्रं मे जन्मभूमिः। गृहपतिदारकोऽहम्। संवाहकस्य वृत्तिमुपजीवामि।]

वसन्तसेना—सुउमारा खु कला सिक्खिदा अज्जेण। [सुकुमारा खलु कला शिक्षितार्येण।]

संवाहकः—अज्जए! कलेत्ति शिक्खिदा, आजीमिआ दाणिं संवुत्ता। [आर्ये! कलेति शिक्षिता, आजीविकेदानीं संवृत्ता।]

चेटी—अदिणिव्विण्णं अज्जेण पडिवअणं दिण्णं। तदो तदो ?। [अतिनिर्विण्णमार्येण प्रतिवचनं दत्तम्। ततस्ततः ?।]

संवाहक—आर्या सुनें। आर्ये! पटना मेरी जन्म-भूमि है। मैं एक गृहस्थ का लड़का हूँ। देह दबा-दबा कर मैं अपना खर्च-बर्च (जीविका) चलाता हूँ।

वसन्तसेना—वास्तव में आपने बड़ी ही कोमल कला सीखी है।

संवाहक—आर्ये! पहले तो मैंने इसे कला मान कर ही सीखा था। किन्तु अब तो यह खाने-कमाने (जीविका) का सहारा बन गयी है।

चेटी—आपने बहुत उदास जवाब दिया है। इसके बाद ?

टीका—अत्र श्लोकवर्णिते अस्मिन् विषये इत्यर्थः; लक्षितः = उदाहरण-भूतः। कलहायिताः = कलहायमानाः। सुवर्णानि = पूर्वोक्तदशसुवर्णानि; भूतानि = भूतकालिकानि इव गतानि इति भावः: संवाहकेन कृतेन अन्यगृहप्रवेशेन विफलीभूता अस्माकं धनावाप्त्याशा। केचित्तु—'भूतानि = प्राप्तानीति भावः, शरणागतवत्सला वसन्तसेना दास्यतीति तात्पर्यम्। परञ्चेयं सिद्ध्यति कुव्याख्यैव "राजकुलं गत्वा निवेदयावः" इत्यनन्तरमेव विजयिद्यूतकरोक्तेः, इति सूधीभिः विभावनीयम्। तत् उपरोधेन = निरोधेन, मार्गमवरुध्येत्यर्थः। संज्ञाम् = 'अस्य नामादिकं पृच्छ' इति नेत्रसंकेतेन निर्दिशति। वृत्तिम् = व्यवसायम्, जीविका-मित्यर्थः; उपजीवति = आश्रयति। पाटलिपुत्रम् = अधुना 'पटना' इति प्रसिद्धं नगरम्। गृहपतेः = गृहस्थस्य दारकः = पुत्रः; संवाहयति = शरीरं मर्दयति इति संवाहकः = शरीरमर्दकः इत्यर्थः। सुकुमारा = अतीव कोमला; कला = विशिष्टा विद्या। कला इति = कलेति मत्वा इयं कला अभ्यस्ता आसीदिति भावः। इदानीम् = अधुना; आजिविका = भरण-पोषणोपायः; संवृत्ता = संजाता। अतिनिर्विण्णम् = अतिनिर्वेदसंबलितम्। भवतः प्रतिवचनेन हार्दिकी वेदना अभिव्यज्यते इति भावः॥

संवाहकः—तदो अज्जए! एशे णिजगेहे आहिंडकाणं मुहादो शुणिअ अपुव्वदेशदंशणकुदूहलेण इह आगदे। इह वि मए पविशिअ उज्जइणिं एक्के अज्जे शुश्शूशिदे। जे तालिशे पिअडंशणे पिअवादी, दइअ ण कित्तेदि, अवकिदं विशुमलेदि। किं बहुणा पलंतेण। दक्खिण्णदाए पलकेलअं विअ अत्ताणअं अवगच्छदि, शलणागअवच्छले अ। [तत आर्ये! एष निजगृह आहिण्डकानां मुखाच्छ्रुत्वाऽपूर्वदेशदर्शनकुतूहलेनेहागतः। इहापि मया प्रविश्योज्जयिनीमेक आर्यः शुश्रूषितः। यस्तादृशः प्रियदर्शनः प्रियवादी, दत्त्वा न कीर्तयति, अपकृतं विस्मरति। किं बहुना प्रलपितेन। दक्षिणतया परकीयमिवात्मानमवगच्छति, शरणागतवत्सलश्च।]

टिप्पणी—'भूतानि सुवर्णानि', कुछ लोग इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं,—"सुवर्ण-प्राप्त हो गये; वसन्तसेना अत्यन्त उदार है, अतः वह शरणागत का ऋण चुका देगी, यह भाव है।" किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं। देखिये संस्कृत टीका। संवाहयति = सम् + √वह् + ण्वुल्॥

शब्दार्थः— आहिण्डकानाम् = घूमने वालों के, अपूर्वदेशदर्शनकुतूहलेन = अद्भुत देश देखने की इच्छा से। दत्त्वा = देकर, न कीर्तयति = नहीं कहता है, नहीं प्रकट करता है; अपकृतम् = अपकारको, विस्मरति = भुला देता है। दक्षिणतया = उदारता के कारण, सज्जनता के कारण, आत्मानम् = अपने को, परकीयमिव = दूसरों का सा, अवगच्छति = समझता है। मनोरथाभिमुखस्य = अभिलषित के। मन्त्रितम् = सोचा है। अनुक्रोशकृतैः = दयावश किये गये। उपरतविभवः = निर्धन।

अर्थः—संवाहक—इसके बाद आर्ये! अपने घर पर (देश-विदेश में) घूमने वालों के मुँह से (इस देश के बारे में) सुनकर अद्भुत देश देखने की इच्छा से यहाँ आया। यहाँ भी 'उज्जैन' में आकर मैंने एक सज्जन व्यक्ति की सेवा की। जो (अर्थात् वे व्यक्ति) बड़े ही सुन्दर, मीठा बोलनेवाले, किसी को कुछ देकर भी उसके (दान के) बारे में न कहने वाले तथा अपने साथ किये गये बुरे बर्ताव को भुला देने वाले हैं। अधिक कहने से क्या लाभ? सज्जनता के कारण वे अपने आपको भी दूसरों का सा समझते हैं। और शरण में आये हुए लोगों को प्रेम करते हैं।

चेटी:- को दाणिं अज्जआए मणोरहाहुत्तस्स गुणाइं चोरिअ उज्जइणिं अलंकरेदि ?। [क इदानीमार्याया मनोरथाभिमुखस्य गुणांश्चोरयित्वोज्जयिनीमलंकरोति ? ।]

वसन्तसेना—साहु हञ्जे ! साहु ; मए वि एव्वं जेव्व हिअएण मंतिदं। [साधु चेटि ! साधु। मयाप्येवमेव हृदयेन मन्त्रितम् ।]

चेटी – अज्ज ! तदो तदो ? । [आर्य ! ततस्ततः ? ।]

संवाहकः—अज्जए ! शे दाणिं अणुक्कोशकिदेहिं पदाणेहिं.........। [आर्ये ! स इदानीमनुक्रोशकृतैः प्रदानैः......।]

वसन्तसेना – किं उवरदविहवो संवुत्तो ? । [किमुपरतविभवः संवृत्तः ? ।]

चेटी— ऐसा) कौन है जो आजकल आर्या (वसन्तसेना) के अभिलषित (प्रिय आर्य चारुदत्त) के गुणों को चुरा कर 'उज्जयिनी' (उज्जैन) को सुशोभित कर रहा है ? (अर्थात् आर्य 'चारुदत्त' के समान यहाँ दूसरा सज्जन कौन है) ?।

वसन्तसेना—वाह दासी ! वाह ! मैं भी यही मन में सोच रही थी।

चेटी—आर्य ! उसके बाद ?

संवाहक—आर्ये ! वे इस समय दयावश किये गये दान से.....।

वसन्तसेना – क्या (वे इस समय) निर्धन हो गये हैं ? ।

टीका—आहिण्डन्ते इति आहिण्डकाः = पर्यटनशीलाः तेषाम् ; अपूर्वाः = अदृष्टपूर्वाः अद्भुताः वा च ते देशाः = प्रदेशाः तेषाम् दर्शनस्य = अवलोकनस्य कुतूहलेन = उत्कण्ठया ; विविधप्रदेशभ्रमणेच्छया इत्यर्थः। दत्त्वा = याचकेभ्यः इच्छापूरकं धनं प्रदाय इति भावः ; न कीर्तयति = न प्रकाशयति ; अपकृतम् = अपकारम् ; अन्यसम्पादितं स्वसंबन्धि अपकारमित्यर्थः ; विस्मरति = न स्मरति। दक्षिणतया = औदार्येण ; आत्मानम् = स्वम् ; परकीयम् = अन्यदीयमिव ; अवगच्छति = जानाति। मनोरथस्य = अभिलाषायाः अभिमुखः = लक्ष्यभूतः इत्यर्थः तस्य। मन्त्रितम्—मनसि चिन्तितम्। अनुक्रोशः = दया ('कारुण्यं करुणा घृणा कृपा दयानुकम्पा स्यादनुक्रोशः' इत्यमरः) तेन कृतानि = विहितानि तैः उपरतः=विनष्टः विभवः=धनम् यस्य असौ निर्धनः इति यावत् ॥

टिप्पणी—आहिण्डकानाम्—घूमने वालों के, आ + √ हिण्ड + ण्वुल् ॥

संवाहकः—अणाचक्खिदे ज्जेव्व कधं अज्जआए विण्णादं ?। [अनाख्यातमेव कथमार्यया विज्ञातम् ? ।]

वसन्तसेना—किं एत्थ जाणीअदि ?। दुल्लहा गुणा विहवा अ। अपेएसु तडाएसु बहुदरं उदअं भोदि। [किमत्र ज्ञातव्यम् ?। दुर्लभा गुणा विभवाश्च। अपेयेषु तडागेषु बहुतरमुदकं भवति ।]

चेटी—अज्ज ! किंणामधेओ खु सो ? । [आर्य ! किंनामधेयः खलु सः ?।]

संवाहकः—अज्जे ! के दाणिं तश्श भूदलमिअंकश्श णामं ण जाणादि। शो खु शेट्ठिचत्तले पडिवशदि। शलाहणिज्जणामधेए अज्जचालुदत्ते णाम। [आर्ये ! क इदानीं तस्य भूतलमृगाङ्कस्य नाम न जानाति। स खलु श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति। श्लाघनीयनामधेय आर्यचारुदत्तो नाम।]

वसन्तसेना—(सहर्षमासनादवतीर्य) अज्जस्स अत्तणकेरकं एदं गेहं ?। हञ्जे ! देहि से आसणं। तालवेंटअं गेण्ह। परिस्समो अज्जस्स बाधेदि।

शब्दार्थः अनाख्यातम् = बिना कहा हुआ। गुणाः=दया, उदारता आदि गुण, विभवाः = सम्पत्तियाँ, दुर्लभाः = (एक जगह) दुष्प्राप्य (हैं)। अपेयेषु=न पीने योग्य, तडागेषु=तालाबों में, बहुतरम्=अधिक, उदकम्=जल, भवति=होता है। भूतलमृगाङ्कस्य=पृथिवी के चन्द्रमा का। श्रेष्ठिचत्वरे=सेठों के चौक मे। श्लाघनीयनामधेयः=प्रशंसनीयनामवाले। नामसंकीर्तनेन=नाम लेने से। श्वसिति=साँस लेते हैं। सः = वह (चारुदत्त), कुतः = कहाँ से, धनिकः = धनी (हों) ?॥

अर्थः—संवाहक—बिना कहे ही आप कैसे समझ गयीं ?

वसन्तसेना—इसमें जानना ही क्या है ? गुणों एवं धन का (एक स्थान पर) मिलना कठिन है। जिन तालाबों का पानी पीने लायक नहीं होता उनमें जल अधिक रहता है।

चेटी—आर्य ! उनका नाम क्या है ?

संवाहक—आर्ये ! इस समय उस पृथिवी के चन्द्रमा (अर्थात् चन्द्रमा की भाँति अपने गुणों से पृथिवी पर प्रकाशित होने वाले 'चारुदत्त') का नाम कौन नहीं जानता ? वे सेठों के मुहल्ले (चौक) में रहते हैं। वे सराहनीय नाम वाले आर्य 'चारुदत्त' हैं।

वसन्तसेना—(बड़ी प्रसन्नता के साथ आसन से उतर कर) यह आप

[आर्यस्यात्मीयमेतन्देहम् । चेटि ! देह्यस्यासनम् । तालवृन्तकं गृहाण । परिश्रम आर्यस्य बाधते ।]

(चेटी तथा करोति)

संवाहक—(स्वगतम्) कधं अज्जचालुदत्तस्स णामशंकित्तणेण ईदिने मे आदले । शाहु अज्जचालुदत्तो ! शाहु, पुहवीए तुमं एक्के जीवशि ; शेषे उण जणे शशदि । (इति पादयोर्निपत्य) भोदु अज्जए ! भोदु ; आशणे णिशीददु अज्जआ । [कथमार्यचारुदत्तस्य नामसंकीर्तनेनेदृशो म आदरः ? । साधु आर्यचारुदत्त ! साधु, पृथिव्यां त्वमेको जीवसि । शेषः पुनर्जनः श्वसिति । भवत्वार्ये ! भवतु ; आसने निषीदत्वार्या ।]

वसन्तसेना—(आसने समुपविश्य) अज्ज ! कुदो सो धणिओ ? । [आर्य ! कुतः स धनिकः ? ।]

का अपना घर है । चेटी ! बैठने के लिए आसन दो । (डुलाने के लिए) पंखा ले लो । आर्य को थकावट परेशान कर रही है ।

(चेटी वैसा ही करती है)

संवाहक—(अपने आप) क्या आर्य 'चारुदत्त' का नाम लेने भर से ही मेरा इतना आदर हो रहा है ? धन्य हो आर्य 'चारुदत्त' ! इस पृथिवी पर (वास्तव में) तुम अकेले जी रहे हो । बाकी मनुष्य तो केवल साँस (भर) लेते हैं । (पैरों पर गिर कर) बस करो आर्ये ! बस । आर्ये ! (आप) आसन पर बैठें ।

वसन्तसेना—(आसन पर बैठकर) श्रीमान् जी ! वह (आर्य चारुदत्त) धनी कैसे हों ?

टीका—अनाख्यातम् = अकथितम् । गुणाः = दयादाक्षिण्यादयः गुणाः ; विभवाः = सम्पत्तयः ; दुर्लभाः = एकत्र दुष्प्रापाः भवन्तीति शेषः । लोके दृश्यते धनिनः गुणहीनाः, गुणिनः धनविरहिताः प्रायशः भवन्ति । एतदेव समर्थयन् कथयति—अपेयेषु—पातुमयोग्येषु ; तडागेषु = जलाशयेषु ; बहुतरम्=अधिकम् ; उदकम् =जलम् भवति । कृपणानामेव समीपे सम्पत्तिराशिः तिष्ठतीति भावः । भूतलस्य=पृथिव्याः मृगः=छाया अङ्के यस्य सः=चन्द्रः तस्य । चन्द्रवल्लोकानन्द-जनकस्येति भावः । श्रेष्ठिचत्वरे=श्रेष्ठिप्रतोल्याम् । श्लाघनीयम्=प्रशंसार्हं नामधेयम्= नाम यस्य सः । नाम्नः सङ्कीर्तनेन = उच्चारणेन ; नामकथनेनेत्यर्थः ; श्वसिति = भस्त्रावत् श्वसिति ; वृथा जीवति इति अभिप्रायः । सः=शौण्डीर्यतया प्रसिद्धः

संवाहकः--

शक्कालधणे खु शज्जणे काह ण होइ चलाचले धणे।
जे पूइदुं पि ण जाणादि शे पूआविशेशं पि जाणादि ॥१५॥
[सत्कारधनः खलु सज्जनः कस्य न भवति चलाचलं धनम्।
यः पूजयितुमपि न जानाति स पूजाविशेषमपि जानाति ॥]

चारुदत्तः ; कुतः = कस्मात् ; धनिकः=धनसम्पन्नः भवितुं शक्नोति इति शेषः। केचन टीकाकाराः—"स धनिकः—यस्य समीपे दशसुवर्णं धारयसि, सः तव उत्तमर्णः, कुतः=कुत्र ? अधुना वर्तते इति शेषः।" इति व्याख्यां कुर्वन्ति। परञ्चेयं व्याख्या असमीचीना प्रतिभाति ; एतत्प्रश्नानन्तरमेव "सत्कारधनः खलु सज्जनः" इति संवाहकोक्तेः ॥

सत्कारधनः इति —

अन्वयः—सत्कारधनः, सज्जनः, (भवति), खलु, कस्य, धनम्, चलाचलम, न, भवति ?, यः, पूजयितुम्, अपि, न, जानाति, अपि, सः, पूजाविशेषम्, जानाति ? ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—सत्कारधनः=दूसरों का आदर करना ही है धन जिसका ऐसा, सज्जनः=सज्जन, (भवति=होता है), खलु=निश्चय ही, कस्य=किसका, धनम्=धन, चलाचलम्=चञ्चल, नाशवान्, न=नहीं, भवति=होता है ?, यः=जो, पूजयितुम्= (दूसरों का) सम्मान करना, अपि=भी, न=नहीं, जानाति=जानता है, अपि=क्या, सः=वह, पूजाविशेषम्=आदर विशेष को, जानाति=जानता है ? ॥

अर्थ :—संवाहक—दूसरों का आदर करना ही सज्जनों का धन होता है ? किसका धन नाशवान् नहीं होता है ? (अर्थात् सभी लोगों का धन नश्वर होता है)। जो आदमी दूसरों का आदर भी करना नहीं जानता है, वह क्या आदर के विशेष तरीके को जानता है ? (अर्थात् नहीं जानता है) ॥ १५ ॥

टीका—सत्कारः = अन्येषां सम्मानम् एव धनम् = सम्पत्तिः यस्य सः ; सज्जनः = सत्पुरुषः ; भवतीति शेषः ; खलु = निश्चितम् ; कस्य = जनस्य ; धनम् ; चलाचलम् = चञ्चलम्, नाशशालि इत्यर्थः ; न भवति = नास्ति ; यः = जनः ; पूजयितुम् = अन्यजनं सत्कर्तुमपि, न जानाति=न अवबोधयति ; अपि=किम् ; अपि शब्दः अत्र प्रश्नार्थे वर्तते ; सः=जनः ; पूजायाः=सत्कारस्य विशेषम् = प्रकारभेदम् ; जानाति = अवगच्छति ? न जानाति इत्यर्थः। अतः जनानां

वसन्तसेना—तदो तदो ?। [ततस्ततः ?।]

संवाहकः—तदो तेण अज्जेण शवित्ती पलिचालके किदो म्हि। चालित्ता-वशेशे अ तस्सिं जूदोवजीवी म्हि शंवुत्तो। तदो भाअधेअविशमदाए दशशुवण्णअं जूदे हालिदं। [ततस्तेनार्येण सवृत्तिः परिचारकः कृतोऽस्मि। चारित्र्यावशेषे च तस्मिन्द्यूतोपजीव्यस्मि संवृत्तः। ततो भागधेयविषमतया दशसुवर्णं द्यूते हारितम्।]

माथुरः—उच्छादिदो म्हि, मुसिदो म्हि। [उत्सादितोऽस्मि, मुषितोऽस्मि।]

संवाहकः—एदे दे शहिअजूदिअलां मं अणुशंधअति। शंपदं शुणिअ अज्जआ पमाणं। [एतौ तौ सभिकद्यूतकरौ मामनुसंधत्तः। सांप्रतं श्रुत्वार्या प्रमाणम्।]

सत्कारे परोपकरणे च कृतनिखिलधनव्ययः चारुदत्तः न शोचनीयः इति भावः॥ १५॥

टिप्पणी—इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार तथा वैतालीय छन्द है। छन्द का लक्षण—

षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः।
न समाऽत्र पराश्रिता कला, वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः॥

पृथ्वीधर इसमें मात्रासमक छन्द मानते हैं। इसका सामान्य लक्षण यह है—"मात्रासमकं नवमो ल्गान्त्यः" ॥ १५ ॥

अर्थः—वसन्तसेना—उसके बाद ?

शब्दार्थः—सवृत्तिः=वेतन के साथ, वैतनिक। चारित्र्यावशेषे=केवल चरित्र से अवशिष्ट रहने पर अर्थात् निर्धन हो जाने पर, द्यूतोपजीवी=जुआ से अपना खर्च चलाने वाला। भागधेयविषमतया=भाग्य के साथ न देने के कारण, भाग्य की विषमता से। उत्सादितः=मर गया, मुषितः=लूट लिया गया। अनुसन्धत्तः= ढूँढ रहे हैं। प्रमाणम्=निर्णायक (हैं)।

अर्थः—संवाहक—उसके बाद उन आर्य ने मुझे तनख्वाह (वेतन) पर नौकर रख लिया। (कुछ समय के बाद) उनके निर्धन हो जाने पर मैं जुआ खेलकर अपना खर्च (जीविका) चलाने वाला हो गया। इसके बाद भाग्य के साथ न देने के कारण जुए में दस सोने की मोहरें हार गया।

माथुर—(मैं तो) मर गया, लूट लिया गया।

संवाहक—ये दोनों सभिक (जुआ खेलाने वाला) और जुआरी मुझे ढूँढ रहे हैं। अब मेरी कहानी सुनकर आप ही निर्णायक हैं (जैसा कहें वैसा हो)।

वसन्तसेना—मदणिए ! वासपादवविसंठुलदाए पक्खिणो इदो तदो वि आहिंडंति । हञ्जे ! ता गच्छ । एदाणं सहिअजूदिअराणं, अअं अज्जो जेव पडिवादेत्ति, इमं हत्थाभरणअं तुमं देहि । [मदनिके ! वासपादपविसंष्ठुलतया पक्षिण इतस्ततोऽप्याहिण्डन्ते । चेटि ! तद्गच्छ । एतयोः सभिकद्यूतकरयोः, अयमार्य एव प्रतिपादयतीति, इदं हस्ताभरणं त्वं देहि ।]

(इति हस्तात्कटकमाकृष्य चेट्याः प्रयच्छति)

चेटी—(गृहीत्वा) जं अज्जआ आणवेदि । [यदार्याज्ञापयति ।] (इति निष्क्रान्ता)

माथुरः—उच्छादिदो म्हि, मुसिदो म्हि ।[उत्सादितोऽस्मि, मुषितोऽस्मि ।]

टीका—वृत्या=वेतनेन सहितः सवृत्तिः=सवर्तनः सवेतनः ('वृत्तिर्वर्तनजीवने' इत्यमरः) । चरित्रस्य भावः चारित्र्यम्, चारित्र्यम् एव अवशेषः यस्य तस्मिन् चारित्र्यावशेषे = सच्चरित्रतामात्रशेषे, धनरहिते जाते सति इति भावः ; द्यूतमुपजीवति इति द्यूतोपजीवी = द्यूतेन जीविकानिर्वाहकः । भागधेयस्य = भाग्यस्य विषमतया = विपरीततया । उत्सादितः = विनष्टः कृतः ; मुषितः = लुण्ठितः ; प्रतारितः इत्यर्थः । अनुसन्धत्तः = अन्वेषणं विधत्तः । प्रमाणम् = निर्णयकर्त्री ॥

टिप्पणी—मुषितः = लूटा गया, ठगा गया, √मुष् + क्त ॥

शब्दार्थः—वासपादपविसंष्ठुलतया = वसेरावाले पेड़ के ठूठा हो जाने पर ; आहिण्डन्ते = घूमते हैं । प्रतिपादयति = दे रहा है । अभिलपतः = बात कर रहे हैं, द्वारनिहितलोचनौ = दरवाजे पर आँख लगाने वाले ; तर्कयामि = अनुमान करती हूँ; अन्दाज करती हूँ ॥

अर्थः—वसन्तसेना—मदनिके ! वसेरावाले पेड़ के ठूठा हो जाने पर (उस पर रहनेवाली = निवास करने वाली) चिड़ियाँ (वसेरा के लिये) इधर-उधर भटकती ही हैं । चेटी ! तो जाओ । इन दोनों सभिक (जुआ खेलाने वाले) और जुआरी को हाथ का यह कंगन (यह कह कर) तुम दे दो कि इसे आर्य (संवाहक) ही दे रहे हैं ।

(ऐसा कहकर हाथ से कंगन उतार कर चेटी को देती है)

चेटी—(लेकरके) जो आर्या आज्ञा देती हैं । (निकल जाती है)

माथुर—मैं तो मर गया, लुट गया ।

चेटी – जधा एदे उद्धं पेक्खंति, दीहं णीससंति, विसूरअंति अहिलहंति अ दुआरणिहिदलोअणा, तधा तक्केमि, एदे दे सहिअजूदिअरा हुविस्सति। (उपगम्य) अज्ज ! वंदामि। [यथैतावूर्ध्वं प्रेक्षेते, दीर्घं निश्वसतः विचारयत अभिलपतश्च द्वारनिहितलोचनौ, तथा तर्कयामि, एतौ तौ सभिकद्यूतकरौ भविष्यतः। आर्य ! वन्दे।]

माथुरः—सुहं तुए होदु। [सुखं तव भवतु।]

चेटी—अज्ज ! कदमो तुम्हाणं सहिओ ? [आर्य ! कतरो युवयोः सभिकः ?]

माथुरः—

कस्स तुहुं तणुमज्झे अहरेण रददट्ठदुव्विणीदेण।
जम्पसि मणोहलवअणं आलोअंती कडक्खेण ॥१६॥

णत्थि मम विहवो, अण्णत्त व्वज।

[कस्य त्वं तनुमध्ये अधरेण रतदष्टदुर्विनीतेन।
जल्पसि मनोहरवचनमालोकयन्ती कटाक्षेण ॥

नास्ति मम विभवः, अन्यत्र व्रज।]

चेटी—जिस तरह ये दोनों ऊपर की ओर देखते हैं, लम्बी आहें भर रहे हैं, (मेरे) दरवाजे पर आँखे गड़ाये आपस में बातें कर रहे हैं, इससे अन्दाज करती हूँ कि ये दोनों वे ही सभिक और जुआरी होंगे। (समीप जाकर) आर्य ! प्रणाम करती हूँ।

टीका – वासपादपस्य = निवासवृक्षस्य विसंष्ठुलस्य भावः विसंष्ठुलता तया विसंष्ठुलतया = विशृङ्खलतया ; आहिण्डन्ते = इतस्ततः भ्रमन्ति। प्रतिपादयति = समर्पयति। अभिलपतः = परस्परं वार्ता कुरुतः ; द्वारे = प्रवेशमार्गे निहिते = प्रेरिते लोचने = नेत्रे ययोः तौ। तर्कयामि = अनुमिनोमि ॥

अर्थः—माथुर—तुम्हारा भला हो।

चेटी—आर्य ! आप दोनों में कौन सभिक है ?

कस्य त्वं तनुमध्ये इति—

अन्वयः—हे तनुमध्ये ! कटाक्षेण, आलोकयन्ती, त्वम्, रतदष्टदुर्विनीतेन, अधरेण, मनोहरवचनम्, कस्य, जल्पसि ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—हे तनुमध्ये = हे पतली कमर वाली स्त्री ! कटाक्षेण = टेढ़ी आँखों से, आलोकयन्ती = देखती हुई, त्वम् = तुम, रतदष्टदुर्विनीतेन = सम्भोग

चेटी—जइ ईदिसाइं णं मंतेसि, ता ण होसि जूदिअरो। अत्थि को वि तुम्हाणं धारओ ? । [यदीदृशानि ननु मन्त्रयसि, तदा न भवसि द्यूतकरः। अस्ति कोऽपि युष्माकं धारकः ? ।]

के समय में काटे गये एवं ढीठ (धृष्ट), अधरेण = ओठ से, मनोहरवचनम् = मनको लुभाने वाले वचन, कस्य = किसको (से), जल्पसि = बोल रही हो ॥

अर्थः— माथुर— हे पतली कमर वाली स्त्री ? टेढ़ी आखों (कटाक्ष) से देखती हुई तुम सम्भोग के समय में काटे गये, ढीठ (धृष्ट) ओठ से मन को लुभाने वाले वचन किससे बोल रही हो ? ॥ १६ ॥

मेरे पास धन नहीं है। दूसरी जगह जाओ।

टीका—"आर्य ! कतरः युवयोः सभिकः ?" इति मदनिकायाः वचनं श्रुत्वा माथुरः पृच्छति—तनु = क्षामम् मध्यम् = उदरम् यस्याः तत्सम्बुद्धौ ; कटाक्षेण = वक्रावलोकनेन ; आलोकयन्ती=पश्यन्ती ; त्वम् ; रते = सम्भोगे दष्टः = कृतदन्तक्षतः, अधरस्तु रतिसर्वस्वभूतः , अतः तत्पानं तत्र दंशनञ्च विधीयते कामकलाकोविदैः ; (कालिदासेनापि समर्थितम्—'पिबसि रतिसर्वस्वमधरम्। शा० १। २०।३), अतएव दुर्विनीतः = धृष्टः रतिसूचकत्वात् तेन ; अधरेण = निम्नौष्ठेन ; मनोहरवचनम् = हृदयाकर्षकं वाक्यम्, कस्य = कम् प्रतीत्यर्थः; जल्पसि= वदसि ॥ १६ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में विरोधालङ्कार एवं आर्या छन्द है। छन्द का लक्षण—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥" १६ ॥

शब्दार्थ :—मन्त्रयसि = कहते हो, द्यूतकरः = जुआरी। धारकः = ऋणी। सः = वह, संवाहक, एव = ही, प्रतिपादयति = दे रहा है। कुलपुत्रम् = कुलीन पुत्र को। भूतः = पूर्ण हो गया, गण्डः = वायदा ! रमस्व = खेलो। बन्धुजनः = सम्बद्ध व्यक्ति, भाई-परिवार। इयम् = यह, कला = विशेष विद्या, परिजनहस्तगता = अपनी सेविका के हाथों में गयी हुई, अर्थात् अपनी सेविका को मुझसे सिखलवा दें। निपुणम् = चतुराई से, प्रत्यादिष्टः = अस्वीकृत कर दिया गया, इन्कार कर दिया गया। शाक्यश्रमणकः = बौद्ध संन्यासी, बौद्ध भिक्षु।

अर्थः—चेटी—यदि ऐसी बातें करते हो तो तुम जुआरी नहीं हो। क्या तुम लोगों का कोई ऋणी भी है ? ।

माथुरः—अत्थि, दशसुवण्णं धालेदि। किं तस्स ?। [अस्ति, दशसुवर्णं धारयति। किं तस्य ?।]

चेटी—तस्स कारणादो अज्जआ इमं हत्थाभरणं पडिवादेदि। णहि णहि, सो ज्जेव पडिवादेदि। [तस्य कारणादार्येदं हस्ताभरणं प्रतिपादयति। नहि नहि, स एव प्रतिपादयति।]

माथुरः—(सहर्षं गृहीत्वा) अले, भणेशि तं कुलपुत्तं 'भूदं तुए गंथु। आअच्छ, पुणो जूदं रमह'। [अरे, भणसि तं कुलपुत्रम्—'भूतस्तव गण्डः। आगच्छ, पुनर्द्यूतं रमस्व'।]

(इति निष्क्रान्तौ)

चेटी—(वसन्तनामुपसृत्य) अज्जए! पडितुट्टा गदा सहिअजूदिअरा। [आर्ये! परितुष्टौ गतौ सभिकद्यूतकरौ।]

वसन्तसेना—ता गच्छदु अज्ज बंधुअणो समस्ससदु। [तद्गच्छतु, अद्य बन्धुजनः समाश्वसितु।]

संवाहकः—अज्जए! जइ एव्वं ता इअं कला पलिअणहत्थगदा कलीअदु। [आर्ये! अद्येवं तदियं कला परिजनहस्तगता क्रियताम्।]

माथुर—हाँ है। दश सोने की मोहरों का कर्जदार (ऋणी) है। उसका क्या ?।

चेटी—उसके कारण से आर्या (वसन्तसेना) ने यह हाथ का कंगन दिया है। नहीं, नहीं वही (आपका ऋणी) दे रहा है।

माथुर—(बड़ी प्रसन्नता के साथ लेकर) अरी, उस कुलीनपुत्र से कह देना तुम्हारा वायदा पूरा हो गया। आओ, फिर जुआ खेलो)

(ऐसा कह कर वे दोनों चले जाते हैं)

चेटी—(वसन्तसेना के पास जाकर) आर्ये! वे दोनों सभिक और जुआरी खुश होकर चले गये।

वसन्तसेना—तो आप भी जायँ और आज अपने परिवारवालों एवं भाई-बन्धुओं को ढाँढस (सान्त्वना) दें।

संवाहक—आर्ये! यदि ऐसा है तो यह (शरीर दबाने की) कला अपनी सेविका को मुझसे सिखलवा दें (आर्थात् आप कहें तो मैं मदनिकाको देह दबाने की कला सिखलादूँ)।

वसन्तसेना—अज्ज ! जस्स कारणादो इअं कला सिक्खीअदि, सो ज्जेव अज्जेण सुस्सूसिदपुव्वो सुस्सूसिदव्वो । [आर्य ! यस्य कारणादियं कला शिक्ष्यते, स एवार्येण शुश्रूषितपूर्वः शुश्रूषितव्यः ।]

संवाहकः—(स्वगतम्) अज्जआए णिउअं पच्चादिट्ठो म्हि । कधं पच्चुवकलिश्शं । (प्रकाशम्) अज्जए ! अहं एदिणा जूदिअलावमाणेण शक्कशमणके हुविश्शं । ता शंवाहके जूदिअले शक्कशमणके शंवुत्तेति शुमलिदव्वा अज्जआए एदे अक्खलु । [आर्यया निपुणं प्रत्यादिष्टोऽस्मि । कथं प्रत्युपकरिष्ये ? । आर्ये ! अहमेतेन द्यूतकरापमानेन शाक्यश्रमणको भविष्यामि । तत्संवाहको द्यूतकरः शाक्यश्रमणकः संवृत्त इति स्मर्तव्यान्यार्ययैतान्यक्षराणि ।]

वसन्तसेना—अज्ज ! अलं साहसेण । [आर्य ! अलं साहसेन ।]

वसन्तसेना—आर्य ! जिस (चारुदत्त) के कारण आपने यह कला सीखी है, और जिस की आपने पहले सेवा भी की है, उन्हीं की (अब भी आपको) सेवा करनी चाहिए ।

संवाहक—(अपने आप) आर्या (वसन्तसेना) ने बड़ी चतुराई के साथ मेरी बात टाल (अस्वीकृत कर) दी । तो मैं कैसे इनके उपकार का बदला चुकाऊँगा ? (प्रकट रूप में) आर्ये जुआरी के द्वारा किये गये इस अपमान के कारण मैं बौद्ध (बुद्ध के धर्म को मानने वाला) संन्यासी होऊँगा । तो 'जुआरी संवाहक बौद्ध संन्यासी हो गया है' इन अक्षरों को आप याद रखना ।

टीका—मन्त्रयसि = कथयसि ; द्यूतकरः=द्यूतखेलकः ; अनायासम् उपार्जितधनाः द्यूतकराः वेश्याभ्यः प्रभूतं धनं ददति, यतस्ते तासां नियतनायकाः कथिताः । विपरीतोक्त्या त्वं न द्यूतकरः इति भावः । धारयति इति धारकः = ऋणी, अधमर्णः । स एव=तव धारकः संवाहकः एव न तु आर्या वसन्तसेना इति भावः ; प्रतिपादयति = ददाति । कुलपुत्रम् = कुलीनम्, सद्वंशोत्पन्नमित्यर्थः । भूतः=पूर्णः, सञ्जातः ; गण्डः=समयः । रमस्व=खेलस्व । बन्धुजनः=परिवारः, सम्बन्धिसमूहः इत्यर्थः । इयम्=सम्वाहनरूपा ; कला=विशिष्टविद्या ; परिजनस्य=सेविकाजनस्य हस्तगता=शिक्षिता । निपुणम्=सकौशलम् ; प्रत्यादिष्टः=प्रत्याख्यातः ; अस्वीकृतः इत्यर्थः । शाक्यश्रमणकः=बौद्धभिक्षुः ॥

टिप्पणी—निपुणम्=(अव्यय) नि + √पुण् + क । प्रत्यादिष्टः=प्रति + आ + √दिश् + क्त ॥

अर्थ :— वसन्तसेना—आर्य ! इतना साहस मत करना ।

संवाहकः—अज्जए ! कले णिच्चए, (इति परिक्रम्य)

जूदेण तं कदं मे जं वीहत्थं जणश्श शव्वश्श ।
एणहिं पाअडशीशे णलिन्दमग्गेण विहलिश्शं ॥१७।

[आर्ये ! कृतो निश्चयः,

द्यूतेन तत्कृतं मम यद्विहस्तं जनस्य सर्वस्य ।
इदानीं प्रकटशीर्षो नरेन्द्रमार्गेण विहरिष्यामि ॥]

(नेपथ्ये कलकलः)

संवाहकः—(आकर्ण्य) अले, किं एणेदं ? । (आकाशे) किं भणाध—

द्यूतेन तत्कृतमिति—

अन्वय :—द्यूतेन, मम, तत्, कृतम्, यत्, सर्वस्य, जनस्य, (समक्षम्) विहस्तम् , इदानीम् , प्रकटशीर्षः, नरेन्द्रमार्गेण, विहरिष्यामि ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—द्यूतेन=जुए के द्वारा, मम=मेरा, तत्=वह, कृतम्=किया गया, यत्=जो, सर्वस्य=सब, जनस्य=जनों के (समक्षम्=सामने) विहस्तम्=अपमान (हुआ), इदानीम्=अब, प्रकटशीर्षः=ऊँचा शिरवाला (होकर), नरेन्द्रमार्गेण=सड़कों से, विहरिष्यामि=घूमूँगा ॥

अर्थ :—संवाहक—आर्ये ! (मैंने) निश्चय कर लिया है। (घूम कर)

जुए के कारण मैं सभी आदमियों के सामने वेइज्जत (अपमानित) हुआ। अब (कर्ज चुक जाने के बाद) मैं सड़कों पर शिर ऊँचा करके (अर्थात् निर्भय होकर) घूमूँगा ॥ १७ ॥

टीका—द्यूतेन=द्यूतक्रीडया इत्यर्थः ; मम=द्यूतव्यसनिनः संवाहकस्य ; तत् कृतम्=विहितम् ; यत् सर्वस्य=निखिलस्य ; जनस्य=लोकस्य समक्षमिति शेषः : विगतः=किञ्चित्कर्तुमशक्तः हस्तः=करः यस्मिन् तत् विहस्तम्=पराभूतम् ; अवमाननमिति यावत् ; इदानीम्=द्यूतदेयदशसुवर्णे दत्ते सतीत्यर्थः ; प्रकटम्=उन्नमितम् शीर्षम्=शिरः यस्य सः, निर्भयः सन् इति भावः; नरेन्द्रमार्गेण=राजमार्गेण : विहरिष्यामि=भ्रमिष्यामि । द्यूतदेयाभावे जनसमूहेऽपि निर्भयः सन् सञ्चरिष्यामीति यावत् ॥ १७ ॥

टिप्पणी—'विहस्तम्' का सामान्य अर्थ है—जिसमें हाथ का प्रयोग न हो सके। इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द है आर्या । देखिये श्लोक १६ की टिप्पणी ॥१७॥

'एशे खु वशंतशेणआए खुंटमोडके णाम दुट्टहत्थी विअलेदि' त्ति ? । अहो, अज्जआए गंधगअं पेक्खिश्शं गदुअ । अहवा किं मम एदिणा ? । जधाववशिदं अणुचिट्ठिश्शं । [अरे, किं न्विदम् ? । किं भणत—'एष खलु वसन्तसेनायाः खुण्टमोडको नाम दुष्टहस्ती विचरति' इति ? । अहो, आर्याया गन्धगजं प्रेक्षिष्ये गत्वा । अथवा किं ममैतेन ? यथाव्यवसितमनुष्ठास्यामि ।] (इति निष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशत्यपटीक्षेपेण प्रहृष्टो विकटोज्ज्वलवेषः कर्णपूरकः)

कर्णपूरकः—कहिं कहिं अज्जआ ? । [कुत्र कुत्रार्या ? ।]

शब्दार्थ :—खुण्टमोडकः=खुण्टमोटक नामवाला अथवा खूँटा को तोड़ने वाला । गन्धगजम्=मतवाले हाथी को । यथाव्यवसितम्=निश्चित किये गये को, निश्चयानुरूप को । अपटीक्षेपेण = बिना पर्दा गिराये ही । परितुष्टमुखः = प्रसन्नमुख । वञ्चिता = चूक गयी । आलानस्तम्भम् = हाथी बाँधने के खम्भा को, महामात्रम् = महावत को । उद्घुष्टम् = चिल्लाकर कहा गया ॥

(पर्दे के पीछे कोलाहल)

अर्थः—संवाहक— (सुनकर) अरे ! यह क्या है ? (आकाश की ओर अर्थात् आकाश की ओर देख कर) क्या कहते हो—'वसन्तसेना' का यह 'खुण्टमोडक' (खूटा को तोड़नेवाला) नामक मतवाला (दुष्ट) हाथी घूम रहा है । अतः जाकर आर्या (वसन्तसेना) के मतवाले (मदवाले) हाथी को देखूँगा । अथवा मेरा इससे क्या मतलब ? मैंने तो जो सोचा है (संन्यास लेना) वही करूँगा । (ऐसा कह कर चला जाता है) ।

टीका—खुण्टम् = बन्धनस्तम्भम् मोडयति = उत्पाटयति इति खुण्टमोडकः, स्तम्भभञ्जकः इत्यर्थः । गन्धप्रधानः गजः गन्धगजः = मत्तहस्ती । व्यवसितम् = चिन्तितम् निश्चितम् वा अनतिक्रम्य यथाव्यसितम् = निश्चयानुसारमित्यर्थः । अपटीक्षेपेण = जवनिकापातं विना इत्यर्थः । परितुष्टम् = प्रसन्नम् मुखम् = आननम् यस्य सः । वञ्चिता = प्रतारिता । आलानस्तम्भम् = हस्तीनां बन्धनार्थं स्तम्भम् । महामात्रम् = प्रधानहस्तिपकम् । ("महामात्रः समृद्धे चामात्ये हस्तिपकाधिपे" इति मेदिनी) । उद्घुष्टम् = तारस्वरेण कथितम् ॥

(इसके बाद बिना पर्दा गिराये ही प्रसन्न एवं खूब सफेद वेष वाला 'कर्णपूरक' प्रवेश करता है ।)

अर्थ :—कर्णपूरक—आर्या (वसन्तसेना) कहाँ हैं, कहाँ हैं ? ।

चेटी—दुम्मणुस्स किं ते उव्वेअकालणं, जं अग्गदो वट्ठिदं अज्जअं ण पेक्खसि। [दुर्मनुष्य! किं त उद्वेगकारणम्! यदग्रतोऽवस्थितामार्यां न प्रेक्षसे।]

कर्णपूरकः—(दृष्ट्वा) अज्जए! वंदामि। [आर्ये! वन्दे।]

वसन्तसेना—कण्णऊरअ परितुट्ठमुहो लक्खीअसि। ता किं ण्णेदं ?। [कर्णपूरक! परितुष्टमुखो लक्ष्यसे। तत्किं न्विदम्?।]

कर्णपूरकः—(सविस्मयम्) अज्जए! वंचिदासि, जाए अज्ज कण्णऊरअस्स परक्कमो ण दिट्ठो। [आर्ये! वञ्चितासि, ययाद्य कर्णपूरकस्य पराक्रमो न दृष्टः।]

वसन्तसेना—कण्णऊरअ! किं किं ? [कर्णपूरक! किं किम्?।]

कर्णपूरकः—सुणादु अज्जआ जो सो अज्जआए खुंटमोडओ णाम दुट्ठहत्थी, सो आलाणत्थंभं भंजिअ महमेत्थं वावादिअ महंतं संखोहं करंतो राअमग्गं ओदिण्णो। तदो एत्थंतरे उग्घुट्टं जणेण—

अवणेध वालअजणं तुरिदं आरुहध वुक्खपासादं।
किं ण हु पेक्खध पुरदो दुट्ठो हत्थी इदो एदि ॥१८॥

अवि अ—

विचलइ णेउरजुअलं छिज्जंति अ मेहला मणिक्खइआ।
वलआ अ सुन्दरदरा रअणंकुरजालपडिबद्धा॥१९।

तदो तेण दुट्ठहत्थिणा कलचरणरदणेहिं फुल्लणलिणिं विअ णअरिं उज्जइणिं अवगाहमाणेण समासादिदो परिव्वाजओ। तच्च परिब्भट्टदंडकुंडिआभाअणं सीअरेहिं सिंचिअ दंतंतरे क्खित्तं पेक्खिअ पुणो वि उग्घुट्टं जणेण—'हा परिव्वा-

---

चेटी—रे दुर्जन! तुम्हारी घबराहट का क्या कारण है जो (अपने) सामने ही बैठी हुई आर्या को नहीं देख रहे हो ?

कर्णपूरक—(देखकर) आर्ये प्रणाम करता हूँ।

वसन्तसेना—कर्णपूरक! तुम बड़े प्रसन्न बदन दिखाई पड़ते हो ? तो यह क्या (बात) है ?

कर्णपूरक—(अचम्भा के साथ) आर्या वञ्चित रह गयीं (क्योंकि) तुमने आज मेरा (कर्णपूरक का) पराक्रम नहीं देखा।

वसन्तसेना—कर्णपूरक क्या बात है ? क्या बात ?

कर्णपूरक—आर्या सुनें। वह जो आपका 'खुण्ट मोडक' नाम का बदमाश

जओ वावादीअदि' त्ति। [शृणोत्वार्या। यः स आर्यायाः खुण्टमोटको नाम दुष्टहस्ती स आलानस्तम्भं भङ्क्त्वा महामात्रं व्यापाद्य महान्तं संक्षोभं कुर्वन् राजमार्गमवतीर्णः। ततोऽत्रान्तरे उद्घुष्टं जनेन –

'अपनयत बालकजनं त्वरितमारोहत वृक्षप्रासादम्।
किं न खलु प्रेक्षध्वं पुरतो दुष्टो हस्तीत एति ॥

अपि च,—

विचलति नूपुरयुगलं छिद्यन्ते च मेखला मणिखचिताः।
वलयाश्च सुन्दरतरा रत्नाङ्कुरजालप्रतिबद्धाः ॥

हाथी है वह हाथी बाँधने के खूँटे (बन्धनस्तम्भ) को तोड़ कर महावत को मार कर घोर उपद्रव को मचाते हुए सड़क पर उतर आया। उसके बाद लोग चिल्लाने लगे—

अपनयत बालकजनमिति –

अन्वयः—बालकजनम्, अपनयत, वृक्षप्रासादम्, त्वरितम्, आरोहत, किम्, न, खलु, प्रेक्षध्वम् , पुरतः, दुष्टः, हस्ती, इतः, एति ॥ १८।

शब्दार्थ :—बालकजनम्=बच्चों को, अपनयत=हटालो, वृक्षप्रासादम्=पेड़ों एवम् घरों पर, त्वरितम्=जल्द, आरोहत=चढ़ जाओ, किम्=क्या, न खलु=नहीं, प्रेक्षध्वम्=देख रहे हो, पुरतः=सामने से, दुष्टः=बदमाश, हस्ती=हाथी, इतः=इधर, एति=आ रहा है।

अर्थ :—बच्चों को (रास्ते से) हटा लो, जल्दी ही पेड़ों एवं घरो पर चढ़ जाओ। क्या नहीं देख रहे हो कि बदमाश हाथी सामने से इधर ही आ रहा है। ॥ १८ ॥

टीका—बालकजनम्=शिशुजनम् ; अपनयत=दूरं नयत ; राजमार्गादिति शेषः ; वृक्षश्च प्रासादश्च इति वृक्षप्रासादम्=वृक्षोर्ध्वम् गृहाग्रञ्च ; त्वरितम्=झटिति ; आरोहत ; किम् न खलु प्रेक्षध्वम् ?=पश्यथ ? यूयमिति शेषः ; पुरतः=अग्रतः ; दुष्टः= मत्तः ; हस्ती=गजः ; इतः=एतस्यां दिशि ; एति=आगच्छति ॥ १८ ॥

टिप्पणी —इस श्लोक में आर्या छन्द है। लक्षण के लिये देखिये श्लोक १६ की टिप्पणी ॥ १८ ॥

विचलति नूपुरयुगलमिति—

अन्वयः—नूपुरयुगलम्, विचलति, मणिखचिताः, मेखलाः, रत्नाङ्कुरजाल-प्रतिबद्धाः, सुन्दरतराः, बलयाः, च, छिद्यन्ते ॥ १६ ॥

ततस्तेन दुष्टहस्तिना करचरणरदनैः फुल्लनलिनीमिव नगरीमुज्जयिनीमवगाहमानेन समासादितः परिव्राजकः। तं च परिभ्रष्टदण्डकुण्डिकाभाजनं शीकरैः सिक्त्वा

शब्दार्थः— नूपुरयुगलम्=पायजेब का जोड़ा, विचलित=गिर रहा है, मणिखचिताः=मणियों से जड़ी हुई, मेखलाः=करधनियाँ, रत्नाङ्कुरजालप्रतिबद्धाः=छोटे-छोटे रत्नों से मढ़े हुए, सुन्दरतराः=अच्छे-अच्छे, वलयाः=कंगन, च=भी, छिद्यन्ते=टूट रहे हैं ।

और भी—

अर्थ :—(हाथी के डर से भागती हुई स्त्रियों के) पावजेब (नूपुर) का जोड़ा गिर रहा है, मणियों से जड़ी हुई करधनियाँ (मेखलाएँ) तथा छोटे-छोटे रत्नों से मढ़े हुए अच्छे-अच्छे कंगन (भागने से आपसी धक्का-धुक्की के कारण) टूट रहे हैं ॥ १६ ॥

टीका— (गजभयात् पलायनपराणां नारीणां गमनवेगात्) नूपुरयुगलम्=चरणकटकयुगलम् ; (चरणेभ्यः) विचलति=भ्रंशते ; मणिभिः=रत्नैः खचिताः=जटिताः ; मेखलाः=काञ्च्यः ; रत्नाङ्कुराणाम्=लघुरत्नानाम् जालैः=समूहैः प्रतिबद्धाः=अनुबद्धाः, विभूषिताः इत्यर्थः ; सुन्दरतराः=रमणीयाः ; वलयाः=कटकाः च ; छिद्यन्ते=विशीर्यन्ते; सर्वाः नार्यः भयविह्वलाः यत्र तत्र धावन्ति, तासामङ्गेभ्योऽलङ्काराः विशीर्यन्ते इति भावः ॥ १६ ॥

टिप्पणी— यहाँ भी आर्या छन्द है। देखिये श्लोक १६ की टिप्पणी ॥१६॥

शब्दार्थः—फुल्लकमलिनीमिव=फूले हुए कमलों वाली लता की तरह, अवगाहमानेन=मथने वाले, रौंदने वाले, समासादितः=पकड़ लिया गया ; शीकरैः=जल की बूँदों से, दन्तान्तरे=दाँतों के बीच में, व्यापाद्यते=मारा जा रहा है। संभ्रमेण=घबराहट से, अलम् = बस । विच्छिन्नविसंष्टुलशृङ्खलाकलापम्=टूटी-फूटी एवं अस्त-व्यस्त जञ्जीरों को। अन्नपिण्डपुष्टेन = अन्न के कौर से पले हुए, वामचलनेन = पैतरा बदल करके, वक्रचाल से, द्यूतखेलकम् = जुआरी (संवाहक को; आकरितः = ललकारा गया ॥

अर्थः-इसके बाद (अपने) सूंड, पैर और दाँतों से, फूली हुई कमल की लता की भाँति, 'उज्जयिनी' नगरी को रौंदते हुए उस दुष्ट हाथी ने एक संन्यासी को पकड़ लिया। संन्यासी का डण्डा (संन्यासियों के द्वारा लिया गया दण्ड) कमण्डलु और खाने का खप्पड़ (जिसमें भोजन खाते हैं) जमीन पर गिर गया। जल

दन्तान्तरे क्षिप्तं प्रेक्ष्य पुनरप्युद्घुष्टं जनेन 'हा, परिव्राजको व्यापाद्यते' इति ।]

वसन्तसेना—(ससंभ्रमम्) अहो पमादो, अहो पमादो । [अहो प्रमादः, अहो प्रमादः ।]

कर्णपूरकः—अलं संभमेण; सुणादु दाव अज्जआ । तदो विच्छिण्णविसंठुलसिंखलाकलावअं उव्वहंतं दंतंतरपरिग्गहिदं परिव्वाजअं उव्वहंतं तं पेक्खिअ कण्णऊरएण मए, णहि णहि, अज्जआए अण्णपिंडउट्ठेण दासेण, वामचलणेण जूदलेक्खअं उग्घुसिअ उग्घुसिअ तुरिदं आवणादो लोहदंडं गेण्हिअ आआरिदो सो दुट्ठहत्थी । [अलं संभ्रमेण; श्रृणोतु तावदार्या । ततो विच्छिन्नविसष्ठुलश्रृङ्खलाकलापमुद्वहन्तं दन्तान्तरपरिगृहीतं परिव्राजकमुद्वहन्तं तं प्रेक्ष्य कर्णपूरकेण मया—नहि नहि, आर्याया अन्नपिण्डपुष्टेन दासेन, वामचलनेन द्यूतखेलकमुद्घुष्योद्घुष्य त्वरितमापणाल्लोहदण्डं गृहीत्वाकारितः स दुष्टहस्ती ।]

की बूँदों से उस संन्यासी को खींच कर हाथी ने उसको अपने दाँतों के बीच दबा लिया । संन्यासी को हाथी के मुँह में फँसा हुआ देख कर फिर लोगों ने चिल्लाना शुरू किया—हाय ! संन्यासी मारा जा रहा है ।

वसन्तसेना—(घबराहट के साथ) अहो ! अनर्थ हुआ ।

कर्णपूरक घबराएँ नहीं । आप सुनें तो । तब टूटी-फूटी एवं अस्त-व्यस्त जञ्जीरों को बाँधे हुए और दाँतों के बीच में पकड़े गये संन्यासी को उठाए हुए उस हाथी को देख कर मुझ 'कर्णपूरक' ने—नहीं नहीं, आपके अन्न के कौर से पले हुए इस सेवक ने जुआरी (संवाहक, जो संन्यासी होकर हाथी के दाँत में दबा है) को बार बार ढाढ़स बँधा कर तुरन्त बाजार से लोहे का एक छड़ लेकर बांई ओर पैतरा बदल करके उस दुष्ट हाथी को ललकारा ।

टीका - फुल्ला चासौ नलिनी ताम् = विकसितकमलिनीमिव अथवा फुल्लानि = विकसितानि नलिनानि = कमलानि यस्याम् ताम्, सरसीमिवेत्यर्थः ; अवगाहमानेन = विलोडयता, मन्थनं विदधता इत्यर्थः ; समासादितः = गृहीतः ; शीकरैः = जलकणैः ; दन्तान्तरे = दशनमध्ये ; व्यापाद्यते = हन्यते । संभ्रमेण = उद्वेगेन ; अलम् = पर्याप्तम् व्यर्थमुद्वेगः न कर्तव्यः इति अभिप्रायः । विच्छिन्नः = त्रुटितः अतएव विसंष्ठुलः = इतस्ततः स्खलितः, श्रृङ्खलाकलापः = श्रृङ्खलासमूहः तमुद्वहन्तम् = धारयन्तम् । अन्नपिण्डेन = अन्नकवलेन पुष्टः = पालितः इत्यर्थः तेन ; वसन्तसेनां प्रति सम्मानं सूचयितुं कथनमेतत् । वाम-

वसन्तसेना—तदो तदो ? । [ततस्ततः ? ।]

कर्णपूरकः—

आहणिऊण सरोसं तं हत्थि विञ्भसैलसिहराभं ।
मोआविओ मए सो दंतंतरसंठिओ परिव्वाजओ ॥२०॥

[आहत्य सरोषं तं हस्तिनं विन्ध्यशैलशिखराभम् ।
मोचितो मया स दन्तान्तरसंस्थितः परिव्राजकः ॥]

चलनेन = वक्रगत्या ; द्यूतखेलकम् = द्यूतकरम् संवाहकमित्यर्थः । आकारितः = युद्धार्थम् इर्ष्यया वा आहूतः ("हूतिराकरणाऽऽह्वानम्" इत्यमरः) ॥

टिप्पणी—द्यूतखेलकम् = यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि कर्णपूरक ने उस घुटे-मुण्डे बौद्ध भिक्षु को कैसे जान लिया कि यह जुआरी है ? क्योंकि वसन्तसेना एवं संवाहक के वार्तालाप के समय तो वह उपस्थित था नहीं। इसका समाधान यही है कि तबतक संवाहक जुआरी के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था ॥

अर्थ :—वसन्तसेना—उसके बाद ? उसके बाद ?

आहत्य सरोषमिति—

अन्वय :—विन्ध्यशैलशिखराभम्, तम्, हस्तिनम्, सरोषम्, आहत्य, मया, दन्तान्तरसंस्थितः, सः, परिव्राजकः, मोचितः ॥ २० ॥

शब्दार्थ—विन्ध्यशैलशिखराभम् = विन्ध्याचल पहाड़ की चोटी की भाँति आकारवाले, तम् = उस, हस्तिनम् = हाथी को, सरोषम् = क्रोधपूर्वक, आहत्य = मारकर, मया = मेरे द्वारा, दन्तान्तरसंस्थितः = दाँतों के बीच में दबा हुआ, सः = वह, परिव्राजकः = बौद्धसंन्यासी, मोचितः = छुड़ाया गया ॥

अर्थ :—कर्णपूरक—विन्ध्याचल पहाड़ की चोटी की भाँति आकार वाले उस हाथी पर क्रोधपूर्वक प्रहार करके मैंने हाथी के दाँतों के बीच दबे हुए उस संन्यासी को छुड़ा लिया ॥ २० ॥

टीका—विन्ध्यशैलस्य = विन्ध्यपर्वतस्य शिखरस्य = शृङ्गस्य आभा = कान्तिः आकृतिः इति भावः, इव आभा यस्य तम् ; तम् = पूर्वकथितं मदमत्तम्, हस्तिनम् = गजम् ; सरोषम् = सकोपम् यथा तथा ; आहत्य = लोहदण्डेन प्रहृत्य, मया = कर्णपूरकेण ; दन्तान्तरे = दन्तमध्ये संस्थितः = वर्तमानः गृहीतः इत्यर्थः; सः = पूर्वं निर्दिष्टः बराकः ; परिव्राजकः = बौद्धभिक्षुः, मोचितः=मुक्तः कृतः ॥२०॥

वसन्तसेना—सुट्ठु दे किदं; तदो तदो? । [सुष्ठु त्वया कृतम् ; ततस्ततः ? ।]

कर्णपूरकः—तदो अज्जए ! 'साहु रे कण्णऊरअ ! साहु' त्ति एत्तिअमेत्तं भणंती, विसमभरक्कंता विअ णावा, एक्कदो पल्हत्था सअला उज्जइणी आसि । तदो अज्जए ! एक्केण सुण्णाइं आहरणट्ठाणाइं परामुसिअ उद्धं पेक्खिअ दीहं णीससिअ अअं पावारओ मम उवरि क्खित्तो । [तत आर्ये ! 'साधु रे कर्णपूरक ! साधु' इत्येतावन्मात्रं भणन्ती, विषमभराक्रान्ता इव नौः एकतः पर्यस्ता सकलोज्जयिन्यासीत् । तत आर्ये ! एकेन शून्यान्याभरणस्थानानि परामृश्य ऊर्ध्वं प्रेक्ष्य दीर्घं निःश्वस्यायं प्रावारको ममोपरि क्षिप्तः ।]

वसन्तसेना—कण्णऊरअ ! जाणीहि दाव किं एसो जादीकुसुमवासिदो

टिप्पणी—इस श्लोक में आर्या छन्द का ही एक प्रकार गीति छन्द है,—

लक्षण—

आर्यापूर्वार्धसमं द्वितीयमपि भवति यत्र हंसगते ।
छन्दोविदस्तदानीं गीतिंताममृतवाणि भाषन्ते ॥ २० ॥

शब्दार्थ :—सुष्ठु=सुन्दर, अच्छा । विषमभराक्रान्ता = अधिक बोझ से एक तरफ दबी हुई, ऐसी नैया जिसमें एक ओर अधिक भार लदा हो एक ओर कम अर्थात् भार का सन्तुलन ठीक न हो ; एकतः=एक ओर, पर्यस्ता=झुक गयी, इकठी हो गयी । एकेन=एक अपरिचित व्यक्ति के द्वारा, शून्यानि=खाली, आभरणस्थानानि= प्रेक्ष्य=देखकर, जेवर पहनने के अङ्गों को, परामृश्य=टटोल कर, छू कर, ऊर्ध्वम्= ऊपर, दीर्घं निःश्वस्य = लम्बी साँस लेकर, अयम्=यह, प्रावारकः=दुपट्टा, क्षिप्तः=फेंका गया ।

अर्थ :—वसन्तसेना—तुमने बड़ा अच्छा किया । उसके बाद ?

कर्णपूरक—इसके बाद आर्ये ! 'वाह कर्णपूरक ! वाह !' केवल यही कहती हुई, काफी बोझ से एक तरफ दबी हुई नौका की भाँति, समूची 'उज्जयिनी' (उज्जयिनी की जनता) एक ओर ही एकठी हो गयी (अर्थात् मुझको घेर लिया) । तब आर्ये ! एक (नागरिक 'चारुदत्त') ने अपने जेवर (अँगूठी, सिकड़ी आदि) पहनने के खाली अङ्गों को छूकर ऊपर देखकर, लम्बी साँस लेकर यह दुपट्टा मेरे ऊपर फेंक दिया ।

पावारओ ण वेत्ति। [कर्णपूरक ! जानीहि तावत्किमेष जातीकुसुमवासितः प्रावारको न वेति।]

कर्णपूरकः—अज्जए ! मदगंधेण सुट्ठु तं गंधं ण जाणामि। [आर्ये ! मदगन्धेन सुष्ठु तं गन्धं न जानामि।]

वसन्तसेना -णामं पि दाव पेक्ख। [नामापि तावत्प्रेक्षस्व।]

कर्णपूरकः—इमं णामं, अज्जआ एव्व वाएदु। [इदं नाम, आर्यैव वाचयतु।] (इति प्रावारकमुपनयति)

टीका—सुष्ठु=साधु। विषमभरेण=असमभारेण, असन्तुलितभारेण; एकतः= एकस्यां दिशि ; पर्यस्ता=आनता, एकत्रिता इत्यर्थः। एकेन=केनचित् अज्ञातेन जनेन ; चारुदत्तेनेति भावः। शून्यानि=रिक्तानि ; आभरणानाम्=आभूषणानाम् स्थानानि ; परामृश्य=स्पृष्ट्वा ; पारितोषिकरूपेण आभूषणं दातुं अभ्यासवशात् तत्स्थानं स्पृष्ट्वा इत्यर्थः। ऊर्ध्वम्=आकाशे, प्रेक्ष्य=अवलोक्य. दीर्घं निःश्वस्य= निःश्वासं गृहीत्वा इत्यर्थः ; निर्धनत्वात् समुचितपारितोषिकप्रदाने असामर्थ्यादिति भावः। अयम् =मम हस्ते वर्तमानः ; प्रावारकः=उत्तरीयवस्त्रम् ; क्षिप्तः=प्रक्षिप्तः।

टिप्पणी—सुष्ठु=अच्छा, उत्तमता के साथ, सुन्दरता से। 'सुष्ठु' अव्यय है। सु+ √स्था + कु।

शब्दार्थः जातीकुसुमवासितः=चमेली के फूलों से सुवासित। मदगन्धेन= मद की गन्ध के कारण। सस्पृहम् = लालसापूर्वक, प्रावृणोति = ओढ़ती है। पारितोषिकम्=पुरस्कार। प्रवृत्तः=प्रवृत्त हुए हैं, जा रहे हैं। अलिन्दकम्=अटारी पर, छत पर, (किन्तु यह शब्द बरान्दा के छत के लिये प्रयुक्त होता है)।

अर्थः—वसन्तसेना—कर्णपूरक ! देखो तो, क्या यह दुपट्टा चमेली के फूलों से सुवासित है अथवा नहीं ?

कर्णपूरक—आर्ये ! (अपनी शरीर में लिपटे हुए हाथी के) मद की गन्ध के कारण चमेली की महक को ठीक से नहीं जान पा रहा हूँ।

वसन्तसेना—तो (इस पर लिखा हुआ) नाम ही देखो।

कर्णपूरक—इस नाम को आर्या ही पढ़ें (ऐसा कह कर दुपट्टा दे देता है)

वसन्तसेना—अज्जचारुदत्तस्स। [आर्यचारुदत्तस्य।] (इति वाचयित्वा सस्पृहं गृहीत्वा प्रावृणोति।)

चेटी - कण्णऊरअ ! सोहदि अज्जआए पावारओ। [कर्णपूरक ! शोभते आर्यायाः प्रावारकः।]

कर्णपूरकः—आं, सोहदि अज्जआए पावारओ। [आं, शोभत आर्यायाः प्रावारकः।]

वसन्तसेना—कण्णऊरअ ! इदं दे पारितोसिअं। [कर्णपूरक ! इदं ते पारितोषिकम्।] (इत्याभरणं प्रयच्छति)

कर्णपूरकः—(शिरसा गृहीत्वा प्रणम्य च) संपदं सुट्ठु सोहदि अज्जआए पावारओ। [सांप्रतं सुष्ठु शोभत आर्यायाः प्रावारकः।]

वसन्तसेना कण्णऊरअ ! एदाए वेलाए कहिं अज्जचारुदत्तो ?। [कर्णपूरक ! एतस्यां वेलायां कुत्रार्यचारुदत्तः ?।]

कर्णपूरकः - एदेण ज्जेव मग्गेण पवुत्तो गेहं। [एतेनैव मार्गेण प्रवृत्तो गेहम्।]

वसन्तसेना—आर्य 'चारुदत्त' का (नाम है)। (यह पढ़कर लालसा पूर्वक लेकर ओढ़ लेती है)।

चेटी—कर्णपूरक ! आर्या को (आर्या के शरीर पर) यह दुपट्टा अच्छा लग रहा है ?

कर्णपूरक—हाँ यह दुपट्टा आर्या के शरीर पर अच्छा लगता है।

वसन्तसेना—कर्णपूरक ! यह तुम्हें ईनाम है। (ऐसा कह कर आभूषण देती है)।

कर्णपूरक - (झुके शिर से लेकर और प्रणाम करके) अब आपका (शरीर पर ओढ़ा गया) दुपट्टा बहुत अच्छा लग रहा है।

वसन्तसेना कर्णपूरक ! इस समय आर्य 'चारुदत्त' कहाँ होंगे ?

कर्णपूरक—इसी रास्ते से घर जा रहे हैं।

वसन्तसेना—हञ्जे ! उवरिदणं अलिदअं आरुहिअ अज्जचारुदत्तं पेक्खेम्ह। [चेटि ! उपरितनमलिन्दकमारुह्यार्यचारुदत्तं पश्यामः।]

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति द्यूतकरसंवाहको नाम द्वितीयोऽङ्कः।

वसन्तसेना—चेटी ! (आओ) ऊपर वाली अटारी (छत) पर चढ़कर आर्य 'चारुदत्त' को देखें।

(सब निकल जाते हैं)।

❀ द्यूतकरसंवाहक नामवाला दूसरा अङ्क समाप्त ❀

टीका—जातीकुसुमैः=जातीपुष्पैः वासितः=सुवासितः सुगन्धितः इत्यर्थः। मदस्य=दानस्य गन्धेन=सुगन्धेन। स्पृहया=लालसया सहितं सस्पृहं यथा तथा; प्रावृणोति=आच्छादयति, आत्मानमिति शेषः। पारितोषिकम् = पुरस्कारः ('गजवृत्तान्तेन चारुदत्तप्रदत्तप्रावारकव्यतिरेकेन च परितोषः' इति पृथ्वीधरः) प्रवृत्तः = चलितः; गन्तुं प्रवृत्तः इत्यर्थः। आलिन्दकम् = बहिर्द्वारप्रकोष्ठम् ('प्राघाणप्रघणालिन्दा बहिर्द्वारप्रकोष्ठके' इत्यमरः)।

❀ इति मृच्छकटिकटीकायां द्वितीयोऽङ्कः ❀

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चेटः)

चेटः—

सुअणे खु भिच्चाणुकंपके शामिए णिद्धणके वि शोहदि।
पिशुणे उण दव्वगव्विदे दुक्कले क्खु पलिणामदालुणे ।१॥

अवि अ,—

शश्शपलक्कबलद्दे ण शक्कि वालिदुं
अण्णपशत्तकलत्ते ण शक्कि वालिदुं।
जूदपशत्तमणुश्शे ण शक्कि वालिदुं
जे वि शहाविअदोशे ण शक्कि वालिदुं॥ २।

का वि वेला अज्जचारुदत्तश्श गंधव्वं शुणिदुं गदश्श। अदिक्कमदि अद्धलअणी। अज्ज वि ण आअच्छदि। ता जाव बाहिलदुआलशालाए गदुअ शुविश्शं।

[सुजनः खलु भृत्यानुकम्पकः स्वामी निर्धकोऽपि शोभते।
पिशुनः पुनर्द्रव्यगर्वितो दुष्करः खलु परिणामदारुणः॥

सुजनः खलु इति—

अन्वयः—भृत्यानुकम्पकः, सुजनः, स्वामी, निर्धनकः, अपि, (सन्), खलु, शोभते, पुनः, द्रव्यगर्वितः, पिशुनः, दुष्करः, परिणामदारुणः, खलु, (भवति) ॥१॥

शब्दार्थः—भृत्यानुकम्पकः=नौकरों पर दया करने वाला, सुजनः = सज्जन, स्वामी=मालिक, निर्धनकः=निर्धन, अपि=भी, (सन् = होता हुआ), खलु=निश्चय ही, शोभते=शोभित होता है, पुनः = किन्तु, द्रव्यगर्वितः=धन के मद में चूर, पिशुनः=खल, दुष्ट, दुष्करः=दुःख से सेवा करने के योग्य, परिणामदारुणः=अन्त में भयङ्कर, खलु=अवश्य ही, (भवति=होता है)।

(इसके बाद चेट='वर्धमानक' प्रवेश करता है)

अर्थः—चेट—नौकरों पर दया करने वाला सज्जन मालिक निर्धन रहने पर भी सुखदायी (शोभित) होता है। किन्तु धन के मद में चूर दुष्ट मालिक दुःख से सेवा करने योग्य तथा अन्त में भयंकर होता है ॥ १ ॥

अपि च,—

सस्यलम्पटबलीवर्दो न शक्यो वारयितु-
मन्य-कलत्र-प्रसक्तो न शक्यो वारयितुम्।
द्यूतप्रसक्तमनुष्यो न शक्यो वारयितुं
योऽपि स्वाभाविकदोषो न शक्यो वारयितुम् ॥

टीका—भृत्यानाम् = सेवकानाम् अनुकम्पकः=दयावान् ; सुजनः=सज्जनः ; स्वामी=प्रभुः ; निर्धनकः=धनहीनः, अपि सन् ; खलु=निश्चितम् ; शोभते=राजते ; पुनः=किन्तु ; द्रव्येण=धनेन, धनाधिक्येन इत्यर्थः गर्वितः=दर्पयुक्तः ; पिशुनः=खलः ('पिशुनो दुर्जनः खलः' इत्यमरः) ; दुःखेन = आयासेन क्रियते=सेव्यते इति दुष्करः, परिश्रमसेवनीयः इत्यर्थः ; तथा परिणामे=अन्तकाले दारुणः=भयङ्करः; खलु= अवश्यं भवतीति शेषः। अत्र प्रथमार्द्धेन सेवकदयापरवशः साधुः निर्धनः चारुदत्तः निर्दिष्टः। उत्तरार्द्धेन द्रव्यगर्वितः खलः शकारः कटाक्षितः ॥ १ ॥

टिप्पणी—दुष्करः—दुष् + √कृ + खल् ।

इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार एवं वैतालीय छन्द है। छन्द का लक्षण —

षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः।
न समाऽत्र पराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः ॥१॥

सस्यलम्पटबलीवर्दः इति—

अन्वयः—सस्यलम्पटबलीवर्दः, वारयितुम्, न, शक्यः, अन्यकलत्रप्रसक्तः, वारयितुम्, न, शक्यः, द्यूतप्रसक्तमनुष्यः, वारयितुम्, न, शक्यः, यः, अपि, स्वाभाविकदोषः (अस्ति, सः) वारयितुम्, न, शक्यः ॥ २ ॥

शब्दार्थः—सस्यलम्पटबलीवर्दः = हरे धान का लोभी सांड़, वारयितुम् = रोकने के लिए, न = नहीं, शक्यः = सम्भव है, अर्थात् नहीं रोका जा सकता है, अन्यकलत्रप्रसक्तः = दूसरे की स्त्री में प्रेम करने वाला, वारयितुं न शक्यः = रोका नहीं जा सकता, द्यूतप्रसक्तमनुष्यः = जुआ खेलने का आदती मनुष्य, वारयितुं न शक्यः = रोका नहीं जा सकता, यः = जो, अपि = भी, स्वाभाविकदोषः = स्वाभाविक बुराई, (अस्ति = है, सः = वह) वारयितुं न शक्यः = छोड़ी नहीं जा सकती है ॥

और भी—

अर्थः—हरे धान का लोभी साँड़, दूसरे की स्त्री में प्रेम करनेवाला (आसक्त) पुरुष, जुआ खेलने का आदती मनुष्य (इन सब) को रोका नहीं

कापि वेलार्यचारुदत्तस्य गान्धर्वं श्रोतुं गतस्य। अतिक्रामत्यर्धरजनी। अद्यापि नागच्छति। तद्यावद्बहिर्द्वारशालायां गत्वा स्वप्स्यामि।]

(इति तथा करोति)

(ततः प्रविशति चारुदत्तो विदूषकश्च)

चारुदत्तः—अहो अहो! साधु साधु, रेभिलेन गीतम्। वीणा हि नामासमुद्रोत्थितं रत्नम्। कुतः,—

जा सकता। और जो भी स्वाभाविक बुराई होती है वह भी छोड़ी नहीं जा सकती है॥ २॥

टीका--सस्यलम्पटः = सस्यभक्षणे लोलुपः प्रसक्तः वा बलीवर्दः = वृषभः; वारयितुम् = अवरोद्धुम्; न शक्यः; अन्येषाम् = परेषाम् कलत्रेषु=स्त्रीषु प्रसक्तः= प्रेमपरः, पराङ्गनासम्भोगे सुखातिशयं मन्यमानः जनः इति भावः; वारयितुं न शक्यः; द्यूते = द्यूतक्रीडने प्रसक्तः = संलग्नः; मनुष्यः = जनः; निवारयितुं न शक्यते; योऽपि स्वाभाविकः = प्रकृतिदत्तः दोषः दूषणम्; अस्ति सः अपि वारयितुं न शक्यः। "ईदृग्दशायां दातृत्वं दोषः, तं च मम स्वामी न त्यजति इति व्यज्यते" इति पृथ्वीधरः। परश्चात्र गान्धर्वस्य अमुद्रितं सेवनमेव चारुदत्तदोषः; येन परिश्रान्तः चेटः श्लोकमिमं पठति। अनन्तरमेव कथितेन खेदाभिव्यञ्जकेन गद्येनाप्यस्यैव समर्थनं भवति॥ २॥

टिप्पणी--इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा एवम् दृष्टान्त अलङ्कार की संसृष्टि है। प्रयुक्त छन्द का नाम है शक्वरी जाति॥ २॥

शब्दार्थः--गान्धर्वम् = गीत को, अर्धरजनी = आधीरात, अतिक्रामति = बीत रही है, अद्य = अब, अपि = भी, स्वप्स्यामि = सोऊँगा। असमुद्रोत्थितम् = समुद्र से बिना निकला हुआ, रत्नम् = मणि।

अर्थः—गाना सुनने के लिए गए हुए आर्य 'चारुदत्त' को कितनी देर हो गई! आधी रात बीत रही है। अब भी नहीं आये। तो तब तक बाहरी दरवाजे वाली कोठरी में सोऊँगा।

(वैसा ही करता है।)

(इसके बाद 'चारुदत्त' और 'विदूषक' प्रवेश करते हैं)

चारुदत्त—वाह! वाह!! 'रेभिल' ने बहुत अच्छा गाया। वीणा तो, सही में, समुद्र से बिना निकला हुआ रत्न है। क्योंकि—

उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या
संकेतके चिरयति प्रवरो विनोदः।
संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां
रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः ॥ ३ ॥

टीका—गन्धर्वाणामिदं गाधर्वम् = गीतमित्यर्थः ; अर्द्धरजनी = अर्द्ध-रात्रिः ; अतिक्रामति = व्यतीता भवति ; अद्यापि = अधुनापि ; स्वप्स्यामि = शयनं करिष्यामि। समुद्रात् = सागरात् उत्थितम् = निःसृतम् इति समुद्रोत्थितम् न समुद्रोत्थितमसमुद्रोत्थितम् = सागरादप्रादुर्भूतम्। रत्नम् = मणिरित्यर्थः ॥

उत्कण्ठितस्य इति—

अन्वयः—(वीणा), उत्कण्ठितस्य, हृदयानुगुणा, वयस्या, सङ्केतके, चिरयति, प्रवरः, विनोदः, विरहातुराणाम्, प्रियतमा, संस्थापना, रक्तस्य, रागपरि-वृद्धिकरः प्रमोदः, (अस्ति) ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—(वीणा=वीणा नामक वाद्य), उत्कण्ठितस्य=विरह पीडा से व्याकुल व्यक्ति की, हृदयानुगुणा=मनपसन्द, वयस्या=सखी (है), सङ्केतके=सङ्केत करने वाले प्रेमी के, चिरयति=देर करने पर, प्रवरः=श्रेष्ठ, विनोदः=मनबहलाव का साधन, (है), विरहातुराणाम्=विरह से पीडित व्यक्तियों की, प्रियतमा=प्रिय, मनो-नुकूल, संस्थापना=ढाढस बँधाने वाली (है), रक्तस्य=प्रेमी का, रागपरिवृद्धिकरः= राग को बढ़ाने वाला, प्रमोदः=मनोरञ्जन, (अस्ति=है) ॥

अर्थः—(वीणा) अत्यन्त विरह पीडा से व्याकुल व्यक्ति के लिए मनपसन्द सखी है। इशारा किये गये स्थान पर आने में प्रेमी के देर करने पर (यह वीणा) मनबहलाव का अच्छा साधन है। विरह से पीडित की प्रिय ढाढस बँधाने वाली (प्रेमिका) है। और प्रेमी जनों के राग (दूसरे के प्रति कामपूर्ण प्रेम) को बढ़ाने वाला मनोरञ्जन है ॥ ३ ॥

टीका—(वीणा=तन्त्री) ; उत्कण्ठा=विरहवेदना सञ्जाता=उत्पन्ना अस्य इति उत्कण्ठितस्य=विरहवेदनाविह्वलस्य जनस्य ; हृदयानुगुणा=हृदयानु-रूपा ; वयस्या=प्रियसखीरूपा ('अलिः सखी वयस्या च' इत्यमरः) ; सङ्केतयति यः सः सङ्केतकः तस्मिन् सङ्केतके=दत्तसङ्केते ; चिरयति=विलम्बं कुर्वाणे सति ; प्रवरः=उत्तमः ; विनोदः=मनोरञ्जनम् ; विरहेण=प्रियवियोगेन आतुराणाम्=व्याकु-लानाम् ; प्रियतमा=चित्तानुरूपा ; संस्थापना=धैर्यदायिनी ; रक्तस्य=अनुरागवतः

विदूषकः—भो, एहि । गेहं गच्छेम्ह । [भोः, एहि । गृहं गच्छावः ।]

चारुत्तः—अहो, सुष्ठु भावरेभिलेन गीतम् ।

विदूषकः—मम दाव दुवेहिं जेव्व हस्सं जाअदि । इत्थिआए सक्अं पठंतीए, मणुस्सेण अ काअलीं गाअंतेण । इत्थिआ दाव सक्अं पठंती, दिण्णणवणस्सा विअ गिट्टी, अहिअं सुसुआअदि । मणुस्सो वि काअलीं गाअंतो, सुक्खसुमणोदामवेट्टिदो बुड्ढपुरोहिदो विअ मंतं जवंतो, दिढं मे ण रोअदि । [मम तावद्वाभ्यामेव हास्यं जायते । स्त्रिया संस्कृतं पठन्त्या, मनुष्येण च काकलीं गायता । स्त्री तावत्संस्कृतं पठन्ती, दत्तनवनस्येव गृष्टिः, अधिकं सूसूशब्दं करोति । मनुष्योऽपि काकलीं गायन्, शुष्कसुमनोदामवेष्टितो वृद्धपुरोहित इव मन्त्रं जपन्, दृढं मे न रोचते ।]

जनस्य ; रागस्य=अनुरागस्य परिवृद्धिकरः=संवर्धकः ; प्रमोदः=विनोदः ; अस्तीति ...षः । वीणेतिपदं सर्वत्र संयोज्यम् ।। ३ ।।

टिप्पणी—विनोदः=मनोरञ्जन, दिलबहलाव, वि + √नुद् + घञ् । इस श्लोक में एक ही वीणा का 'वयस्या' आदि अनेक रूपों से उल्लेख किया गया है, अतः उल्लेख अलङ्कार है । इसमें प्रयुक्त छन्द है वसन्ततिलका । छन्द का लक्षण—

'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' ।। ३ ।।

शब्दार्थः—भावरेभिलेन=विद्वान् रेभिल के द्वारा । काकलीम्=धीमी राग को (से) । दत्तनवनस्या=नाक में पहली बार नाथी गयी, गृष्टिः=पहले पहल ब्याई हुई (प्रसूता) गाय । शुष्कसुमनोदामवेष्टितः=सूखे फूलों की माला पहने हुए । दृढम्=पूरी तरह से ।

अर्थः—विदूषक—अजी, आइए, घर चलें ।

चारुदत्त—अहा ! 'रेभिल' महोदय ने अच्छा गाया ।

विदूषक—मुझे तो संस्कृत पढ़ती हुई स्त्री तथा धीमी राग (काकली) से गाते हुए मनुष्य—इन दोनों पर ही हँसी आती है । संस्कृत पढ़ती हुई स्त्री, पहले पहल ब्याई हुई (प्रसूता) अतः नाक में नाथी गयी गाय के समान बहुत अधिक सू, सू, शब्द करती है । मद्धिम स्वर से गाता हुआ मनुष्य भी, सूखे फूलों की माला पहने मन्त्र जपते हुए बूढ़े पुरोहित की भाँति मुझे तनिक भी अच्छा नहीं लगता ।

चारुदत्तः—वयस्य ! सुष्ठु खल्वद्य गीतं भावरेभिलेन । न च भवान्परितुष्टः ।

रक्तं च नाम मधुरं च समं स्फुटं च
भावान्वितं च ललितं च मनोहरं च ।
किंवा प्रसस्तवचनैर्बहुभिर्मदुक्तै-
रन्तर्हिता यदि भवेद्वनितेति मन्ये ॥ ४ ॥

टीका—भावः=विद्वान्, संगीतकलानिपुणः इत्यर्थः, स चासौ रेभिलश्च भावरेभिलः तेन । काकलीम्=क्षीणमधुरध्वनिम् ; ("काकली तु कले सूक्ष्मे ध्वनौ" इत्यमरः) । दत्ता=परिधापिता नवा=नूतना नसः इयं नस्या=नासिकाछिद्ररज्जुः यस्यै सा ; गृष्टिः=सकृत्प्रसूता गौः ; शुष्कम् = विरसम् यत् सुमनसाम् = पुष्पाणाम् ; दाम = माला तेन वेष्टितः = सुसज्जितः । एतेन चिरकालजपप्रवणत्वमभिव्यज्यते । यथा शुष्कपुष्पमालाधारी जपपरः वृद्धपुरोहितः मह्यं न रोचते तथैव काकलीं गायन् गायकः अपि ॥

रक्तं च नाम इति—

अन्वयः—(गीतम्), नाम, रक्तम्, च, मधुरम्, च, समम्, स्फुटम्, च, भावान्वितम्, च, ललितम्, च, मनोहरम्, च, (आसीत्), वा, मदुक्तैः, बहुभिः, प्रशस्तवचनैः, किम् ?, यदि, वनिता, अन्तर्हिता, भवेत्, इति, मन्ये ॥ ४ ॥

शब्दार्थ :—(गीतम् = गाना), नाम = निश्चय ही, रक्तम् = रागपूर्ण, मधुरम् = मीठा लगने वाला, समम् = (स्वर तथा लय आदि की) समतावाला, स्फुटम् = स्पष्ट, भावान्वितम् = भावपूर्ण, ललितम् = ललित, कोमल, च = एवम्, मनोहरम् = मन को लुभाने वाला, च = भी, (आसीत् = था), वा = अथवा, मदुक्तैः = मेरे द्वारा कहे गये, बहुभिः = बहुत से, प्रशस्तवचनैः = प्रशंसा के वाक्यों से, किम् = क्या (लाभ) ? यदि = शायद, कदाचित्, वनिता = स्त्री, अन्तर्हिता = छिपी हुई, भवेत् = हो, इति = ऐसा, मन्ये = मानता हूँ ॥

अर्थ :—**चारुदत्त**—मित्र ! 'रेभिल' महोदय ने आज वास्तव में बहुत अच्छा गाना गाया । फिर भी आप प्रसन्न नहीं हुए ।

('रेभिल' का वह गाना) रागपूर्ण, सुनने में मीठा लगनेवाला, (स्वर तथा लय आदि की) समतावाला, स्पष्ट, भावपूर्ण, ललित एवं मनोहर था । अथवा हमारे बहुत बढ़ाई करने से क्या (लाभ) ? मुझे तो ऐसा लगता था कि ('रेभिल' के रूप में) मानो स्त्री छिपी हुई हो (अर्थात् 'रेभिल' स्त्रियों की भाँति सब प्रकार की निपुणता के साथ गा रहा था) ॥ ४ ॥

अपि च,—

तं तस्य स्वरसंक्रमं मृदुगिरः श्लिष्टं च तन्त्रीस्वनं
वर्णानामपि मूर्च्छनान्तरगतं तारं विरामे मृदुम् ।
हेलासंयमितं पुनश्च ललितं रागद्विरुच्चारितं
यत्सत्यं विरतेऽपि गीतसमये गच्छामि शृण्वन्निव ॥ ५ ॥

टीका—गीतमिति गद्यस्थपदं सर्वत्र योज्यम् । नाम = निश्चयवाचकमिदमव्ययपदम् । रक्तम् = विभिन्नरागसंवलितम् ; मधुरम् = श्रवणसुभगम् ; माधुर्यगुणोपेतमित्यर्थः ; समम् = स्वराणां सामञ्जस्यसमन्वितम् ; स्फुटम् = सुस्पष्टम् ; भावैः = सदभिप्रायैः अन्वितम् = युक्तम् ; ललितम् = लालित्याख्यधर्मविशेषविशिष्टम् ; च = तथा ; मनोहरम् = चित्ताकर्षकञ्च आसीदिति शेषः । गीतं सर्वतोभावेन परिपूर्णं मानवमनहारि च आसीदिति भावः । वा = अथवा ; मदुक्तैः = मया कथितैः ; बहुभिः = अनेकैः ; प्रशस्तवचनैः = प्रशंसावाक्यैः ; किम् = किं प्रयोजनम् ?, न किमपीत्यर्थः ; यदि = कदाचित् ; वनिता = स्त्री ; अन्तर्हिता = रेभिलरूपेण आच्छान्ना ; भवेत् = स्यात् ; इति = इत्थम्, मन्ये = तर्कयामीत्यर्थः । प्रच्छन्ना भूत्वा काचित् स्त्री एव रेभिलरूपेण गायति न तु यथार्थः रेभिलः इति प्रतीयते । अनेन गीतस्य माधुर्यातिशयः अभिव्यज्यते ॥ ४ ॥

टिप्पणी—नाम (अव्यय)=संभवतः, कदाचित् ; √नम् + णिच् + ड । रक्तं च०=यहाँ 'रक्त' आदि सङ्गीतशास्त्र के पारिभाषिक शब्द है । तत्र रक्तं नाम वेणुवीणास्वराणामेकीभावे रक्तमित्युच्यते । मधुरं नाम स्वरभावोपनीतललितपदाक्षरगुणसमृद्धम् । व्यक्तं (स्फुटं) नाम पदपदार्थविकारागमलोपकृत्तद्धित··· विभक्त्यर्थवचनानां सम्यगुपपादनम् । (नारदशिक्षा, काले द्वारा उद्धृत) अर्थात् वाद्य–स्वरों के पूर्णतया मेल को रक्त कहते हैं । 'मधुर' का अर्थ है—स्वर तथा भाव के अनुकूल ललित पदों तथा वर्णों से युक्त तथा 'व्यक्त' (स्फुट) का अर्थ है—व्याकरण की शुद्धता ।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है । छन्द का लक्षण—'उक्ता वसन्तलिका तभजा जगौ गः' ॥ ४ ॥

तं तस्य स्वरसंक्रममिति—

अन्वय :—सत्यम्, यत्, गीतसमये, विरते, अपि, वर्णानाम्, मूर्च्छनान्तरगतम्, अपि, तारम्, विरामे, मृदुम्, पुनः, च, हेलासंयमितम्, रागद्विरुच्चारि-

तम्, तस्य, मधुरगिरः, तम्, स्वरसंक्रमम्, श्लिष्टम्, तन्त्रीस्वनम्, च, शृण्वन्, इव, अहम्, गच्छामि ॥ ५ ॥

शब्दार्थ :—सत्यम्=सचमुच, सत्य है, यत्=कि, गीतसमये=गानेका समय, विरते=बीत जाने पर, अपि=भी, वर्णानाम् = अक्षरों की, मूर्च्छनान्तर्गतम् = मूर्च्छना (स्वरों का क्रम से आरोह तथा अवरोह) के अन्तर्गत, अपि = भी, तारम्=अति ऊँचा, विरामे=विराम के समय, मृदुम्=कोमल, पुनः=फिर, हेलासंयमितम्=लीला पूर्वक नियन्त्रित, रागद्विरुच्चारितम्=रागों में दो बार उच्चारण की हुई, तस्य= उस (रेभिल) की मधुरगिरः=कोमल वाणी की, तम्=उस, स्वरसंक्रमम्=स्वर-योजना को, श्लिष्टम्=मिली हुई, तन्त्रीस्वनम्=वीणा की ध्वनि को, शृण्वन्=सुनता हुआ, इव=सा, अहम्=मैं, गच्छामि=जा रहा हूँ ॥

और भी—

अर्थ :—यह सत्य है कि गाने का समय बीत जाने पर भी अक्षरों की मूर्च्छना (स्वरों का क्रमशः चढ़ाना और उतारना) के अन्तर्गत (चढ़ाने के समय) काफी ऊँचा, विराम के समय कोमल; और पुनः लीलापूर्वक नियन्त्रित, रागों में दो बार उच्चारण की हुई उस (रेभिल) की कोमल वाणी की उस स्वरयोजना को तथा (उससे) मिली हुई वीणा की आवाज को, मैं सुनता हुआ सा जा रहा हूं (अर्थात् सब प्रकार से सुन्दर 'रेभिल' का गाना अब भी हमारे कानों में (ठीक ठीक गूँज रहा है) ॥ ५ ॥

टीका - सत्यम्=वस्तुतः ; यत् गीतस्य = सङ्गीतस्य समये=काले ; विरते= व्यतीते ; सति, अपि ; वर्णानाम्=गानाक्षराणाम् ; मूर्च्छना=स्वरारोहावरोहक्रमः,— "क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् । सा मूर्च्छेत्युच्यते ग्रामस्था एताः सप्त सप्त च ॥" अथवा—"यथा कुटुम्बिनः सर्वे एकीभूताः भवन्ति, तथा स्वराणां संदोहो मूर्च्छनेत्यभिधीयते" इति पृथ्वीधरः । तस्याः अन्तरगतम्=मध्ये वर्तमानम्, अपि ; तारम्=उच्चैः ; विरामे=अवसाने ; मृदुम् = कोमलम् ; पुनः=मुहुश्च ; हेलया=लीलया संयमितम्=नियमितम् ; रागेषु=रागविशेषेषु द्विरुच्चारितम्=द्विरुक्तम् ; तस्य = रेभिलस्य ; मधुरगिरः = मधुरवाण्याः ; तम्=श्रुतपूर्वम् ; स्वराणाम्= निषदादीनाम् संक्रमम्=आरोहावरोहरूपं शोभनं क्रमम् ; श्लिष्टम् = गानाक्षरैः अभिन्नं गानाक्षरमिलितमित्यर्थः ; तन्त्र्याः=वीणायाः स्वनम्=ध्वनिम् ; शृण्वन्= श्रवणं कुर्वन् ; इव अहम् = चारुदत्तः ; गच्छामि=व्रजामि ; गृहमिति शेषः ॥५॥

विदूषकः—भो वअस्स ! आवणंतररच्छाविभाएसु सुहं कुक्कुरा वि सुत्ता । ता गेहं गच्छेम्ह । (अग्रतोऽवलोक्य) वअस्स ! पेक्ख पेक्ख । एसो वि अंधआरस्स विअ अवआसं देंतो अंतरिक्खपासादादो ओदरदि भअवं चंदो । [भो वयस्य ! आपणान्तररथ्याविभागेषु सुखं कुक्कुरा अपि सुप्ताः । तद्गृहं गच्छावः । वयस्य ! पश्य पश्य । एषोऽप्यन्धकारस्येवावकाशं ददन्तरिक्षप्रासादादवतरति भगवांश्चन्द्रः ।]

चारुदत्तः—सम्यगाह भवान्

असौ हि दत्त्वा तिमिरावकाशमस्तं व्रजत्युन्नतकोटिरिन्दुः ।
जलावगाढस्य वनद्विपस्य तीक्ष्णं विषाणाग्रमिवावशिष्टम् ॥ ६ ॥

टीप्पणी—इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है । छन्द का लक्षण—

"सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्" ॥ ५ ॥

शब्दार्थ :—आपणान्तररथ्याविभागेषु = बाजार की गलियों में, सुखम् = सुख से । अवकाशम् = जगह को, अन्तरिक्षप्रासादात् = आकाशरूपी महल से, अवतरति = उतर रहे हैं ।

अर्थ :—विदूषक—हे मित्र ! बाजार की गलियों में जगह-जगह पर कुत्ते भी सुख से सो गये हैं । तो घर चलें । (सामने देखकर) मित्र ! देखो, देखो । अंधेरे को (फैलने के लिए) जगह (अवकाश) सा देते हुए भगवान् चन्द्रमा भी आकाश रूपी महल से ढल (उतर) रहे हैं ।

टीका—आपणस्य = हट्टस्य अन्तरे = अभ्यन्तरे रथ्यानाम् = प्रतोलीनाम् विभागेषु = तत्तत्स्थानेषु ; सुखम् = सानन्दम् । अवकाशम् = स्थानम् ; अन्तः = स्वर्गपृथिव्यो मध्ये = अभ्यन्तरे ईक्ष्यते इति अन्तरिक्षम् = द्यावापृथिव्योर्मध्यभागः, तदेव प्रासादः = अट्टालिका तस्मात् ; अवतरति = अधो गच्छतीत्यर्थः ॥

टिप्पणी—अन्तरि (री) क्षम् - अन्तर् + √ईक्ष + घञ् (पृषोदरादित्वात् वैकल्पिकः ह्रस्वः) । अवकाशम् = अवसर, मौका ; अव + √काश् + घञ् ॥

असौ हि दत्त्वा इति—

अन्वयः—जलावगाढस्य, वनद्विपस्य, अवशिष्टम्, तीक्ष्णम्, विषाणाग्रम्, इव, हि, उन्नतकोटिः, असौ, इन्दुः, तिमिरावकाशम्, दत्त्वा, अस्तम्, व्रजति ॥६॥

विदूषकः भो, एदं अम्हाणं गेहं। वड्ढमाणअ, वड्ढमाणअ! उग्घाटेहि दुआरअं। [भोः, इदमस्माकं गेहम्। वधमानक, वर्धमानक! उद्घाटय द्वारम्।]

चेटः - अज्जमित्तेअस्स शलशंजोए शुणीअदि। आगदे अज्जचालुदत्ते। ता जाव दुआलअं शे उग्घाटेमि। (तथा कृत्वा) अज्ज! वंदामि। मित्तेअ! तुमं पि वंदामि। एत्थ वित्थिण्णे आशणे णिशीदद अज्जा। [आर्यमैत्रेयस्य स्वरसंयोगः

शब्दार्थ :--जलावगाढस्य = जल में डूबे हुए, वनद्विपस्य = जङ्गली हाथी के, अवशिष्टम् = (जल में डूबने से) बचे हुए, तीक्ष्णम् = तीखे, नुकीले, विषाणाग्रमिव = दाँत के अगले हिस्से की तरह, हि = निश्चय ही, उन्नतकोटिः = टेढ़ा (उठा हुआ) किनारे वाला, असौ = यह, इन्दुः = चन्द्रमा, तिमिरावकाशम्=अँधेरे के लिए स्थान को, दत्त्वा = देकर, अस्तम् = अस्ताचल को, व्रजति = जा रहा है॥

अर्थ :—**चारुदत्त** - आपने ठीक कहा—

जल में डूबे हुए जङ्गली हाथी के (जल में डूबने से) बचे हुए दाँत के तीखे अगले हिस्से की तरह उन्नत अग्रभागवाला यह चन्द्रमा अँधेरे को (फैलने के लिए) मौका देकर अस्ताचल को जा रहा है॥ ६॥

टीका—जले = सलिले अवगाढस्य = मग्नस्य; वनद्विपस्य = वनगजस्य; अवशिष्टम् = सलिलावगाहनात् अवशेषीभूतम्; तीक्ष्णम् = तीव्रम्; विषाणस्य = दन्तस्य अग्रम् = अग्रभागमिव, हि = खलु; उन्नता = उच्छ्रिता कोटिः = अग्रभागः यस्य सः; असौ दृश्यमानः; इन्दुः चन्द्रः; तिमिरेभ्यः = अन्धकारेभ्यः अवकाशम् = प्रसरणावसरमित्यर्थः; दत्त्वा = प्रदाय; अस्तम् = अस्ताचलम्; व्रजति= गच्छति। यथा यथा चन्द्रः पश्चिमायां दिशि अस्तोन्मुखः भवति, तथा तथा पूर्वदिशः अन्धकारः चतुर्दिक्षु प्रसरतीत्यर्थः॥ ६॥

टिप्पणी—अवगाढः--अव + √गाह् + क्त। इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं उपजाति छन्द है। छन्द का लक्षण—

"स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ॥
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः" ॥ ६॥

अर्थ :—**विदूषक**—श्रीमान् जी यह हमारा घर है। वर्धमानक! बर्धमानक! दरवाजा खोलो।

शब्दार्थ :—स्वरसंयोगः = ध्वनि या स्वरों का मेल—अर्थात् आवाज।

श्रूयते। आगत आर्यचारुदत्तः। तद्यावद्द्वारमस्योद्घाटयामि। आर्य! वन्दे। मैत्रेय! त्वामपि वन्दे। अत्र विस्तीर्ण आसने निसीदतमार्यौ।

(उभौ नाट्येन प्रविश्योपविशतः)

विदूषक.—वड्ढमाणअ! रदणिअं सद्दावेहि पादाइं धोइदुं। [वर्धमानक! रदनिकामाकारय पादौ धावितुम्।]

चारुदत्तः—(सानुकम्पम्) अलं सुप्तजनं प्रबोधयितुम्।

चेटः—अज्जमित्तेअ! अहं पाणिअं गेण्हे। तुमं पादाइं धोवेहि। [आर्यमैत्रेय! अहं पानीयं गृह्णामि। त्वं पादौ धाव।]

विदूषकः—(सक्रोधम्) भो वअस्स! एसो दाणिं दासीए पुत्तो भविअ पाणिअं गेण्हेदि। मं उण बम्हणं पादाइं धोवावेदि। [भो वयस्य! एष इदानीं दास्याः पुत्रो भूत्वा पानीयं गृह्णाति। मां पुनर्ब्राह्मणं पादौ धावयति।]

चारुदत्तः वयस्य मैत्रेय! त्वमुदकं गृहाण। वर्धमानकः पादौ प्रक्षालयतु।

विस्तीर्णे = बिछे हुए। प्रबोधयितुम् = जगाने से। धाव = धोओ। धावयति = धुलवाता है। अपसरति = हटता है। पादोदकम् = पैर धोने के लिए पानी। लोठितव्यम् = लोटना है। डुण्डुभः = डोड़हा (जल में रहने वाला विषहीन साँप)। धाविस्यामि धुलाऊँगा। अभ्यन्तरचतुःशालम् = भीतरी चौपाल में; एनम् = सोने की जेवरों के डिब्बे को।

अर्थ :—चेट - आर्य मैत्रेय की आवाज सुनाई पड़ती है। 'चारुदत्त' आगए। तो अब इनके लिए किवाड़ों को खोल दूँ। (खोलकर) आर्य! प्रणाम करता हूँ। मैत्रेय! तुम्हें भी नमस्कार करता हूँ। इस बिछे हुए बिछौने (आसन) पर आप दोनों बैठें।

दोनों अभिनय के द्वारा प्रवेश करके बैठ जाते हैं।)

विदूषक—वर्धमानक! पैर धुलवाने के लिए 'रदनिका' को बुलाओ।

चारुदत्त—(कृपापूर्वक) सोए हुए को मत जगाओ।

चेट—आर्य मैत्रेय! मैं पानी लेता हूँ। तुम (चारुदत्त के) पैर को धोओ।

विदूषक—(क्रोध के साथ) हे मित्र यह नीच जाति का होकर इस समय पानी लेता है और मुझ ब्राह्मण से पैर धोने के लिये कहता है।

चारुदत्त —मित्र मैत्रेय! तुम पानी लो। वर्धमानक पैरों को धोवे।

चेटः - अज्जमित्तेअ ! देहि उदअं । [आर्यमैत्रेय ! देह्युदकम् ।]

(विदूषकस्तथा करोति, चेटश्चारुदत्तस्य पादौ प्रक्षाल्यापसरति)

चारुदत्तः—दीयतां ब्राह्मणस्य पादोदकम् ।

विदूषकः—किं मम पादोदएहिं ? भूमीए जेव्व मए ताडिदगद्दहेण विअ पुणो वि लोट्ठिदव्वं । [किं मम पादोदकैः ? भूम्यामेव मया ताडितगर्दभेनेव पुनरपि लोठितव्यम् ।]

चेटः—अज्जमित्तेअ । बम्हणे खु तुमं । [आर्यमैत्रेय ! ब्राह्मणः खलु त्वम् ।]

विदूषकः— जधा सव्वणागाणं मज्झे डुंडुहो, तधा सव्वबम्हणाणं मज्झे अहं बम्हणो । [यथा सर्वनागानां मध्ये डुण्डुभः तथा सर्वब्राह्मणानां मध्येऽहं ब्राह्मणः ।]

चेटः—अज्जमित्तेअ ! तधा वि धोइश्शं । (तथा कृत्वा) अज्जमित्तेअ ! एदं तं शुवण्णभंडअं मम दिवा तुह लत्तिं च । ता गेण्ह । [आर्यमैत्रेय ! तथापि धाविष्यामि । आर्यमैत्रेय ! एतत्तत्सुवर्णभाण्डं मम दिवा, तव रात्रौ च, तद्गृहाण ।] (इति दत्त्वा निष्क्रान्तः)

चेट—आर्य मैत्रेय ! जल दीजिए ।

(विदूषक जल देता है । चेट 'चारुदत्त' का पैर धोकर हट जाता है)

चारुदत्त ब्राह्मण (विदूषक) को पैर धोने के लिए पानी दो ।

विदूषक मुझे पैर धोने के लिए जल से क्या मतलब ? पीटे गये गधे की भाँति मुझे तो फिर जमीन पर ही लोटना (सोना) है ।

चेट—आर्य मैत्रेय ! तुम तो ब्राह्मण हो ।

विदूषक—जैसे सभी साँपों में डोड़हा (जल में रहने वाला साँप) (नाम-भर के लिए साँप) होता है । उसी प्रकार सब ब्राह्मणों के बीच में मैं भी (नाम-मात्र का) ब्राह्मण हूँ । (साँप की सार्थकता जहरीला होने में है । जहर से हीन डोड़हा नाम भर के लिए साँप है । उसी प्रकार विद्या, तप आदि से रहित 'मैत्रेय' भी नाममात्र का ब्राह्मण है) ।

चेट आर्य मैत्रेय ! तो भी धुलाऊँगा । (पैर धुलवा कर) आर्य मैत्रेय ! यह सोने के गहना (आभूषण) का बक्स दिन में मेरा और रात में तुम्हारा (है), (अर्थात् मुझे दिन में तथा तुमको रात्रि में इसकी रक्षा करनी है) तो लो । (देकर चला जाता है) ।

विदूषकः—(गृहीत्वा) अज्ज वि एदं चिट्ठदि किं एत्थ उज्जइणीए चोरो वि णत्थि, जो एदं दासीए पुत्तं णिद्दाचोरं ण अवहरदि। भो वअस्स ! अब्भंतरचतुस्सालअं पवेसआमि णं। [अद्याप्येतत्तिष्ठति। किमत्रोजयिन्यां चौरोऽपि नास्ति, य एतं दास्याःपुत्रं निद्राचौरं नापहरति। भो वयस्य ! अभ्यन्तरचतुःशालकं प्रवेशयाम्येनम्।]

चारुदत्तः—

अलं चतुःशालमिमं प्रवेश्य प्रकाशनारीधृत एष यस्मात्।
तस्मात्स्वयं धारय विप्र ! तावद्यावन्न तस्याः खलु भोः समर्प्यते ॥ ७ ॥

(निद्रां नाटयन्, 'तं तस्य स्वरसंक्रमम्–' (३।५) इति पुनः पठति)

विदूषक – (लेकर के) यह आज भी मौजूद है। क्या इस 'उज्जयिनी' में कोई चोर भी नहीं है जो नींद में बाधा डालने वाले, अधम, सोने के गहनों (आभूषणों) के इस बक्स को नहीं चुरा लेता है। हे मित्र ! इसको (बक्स को) भीतरी चौपाल (चतुःशाला) में भेजता हूँ।

टीका – स्वरसंयोगः=कण्ठध्वनिः। विस्तीर्णे=विस्तार्यमाणे। प्रबोधयितुम्=उत्थापयितुम्। धाव = प्रक्षालय। धावयति = प्रक्षालनं कारयति। अपसरति = प्रक्षालनात् निवृत्तः दूरे तिष्ठति इत्यर्थः। पादप्रक्षालनार्थमुदकं पादोदकम्=पादप्रक्षालनजलम्। लोठितव्यम्=लोठनं विधातव्यम्, पृथिव्यामेव शतितव्यमित्यर्थः। डुण्डुभः=जलसर्पः ('अलगर्दो जलव्यालः समौ राजिलडुण्डुभौ' इत्यमरः)। सर्पेषु यथा डुण्डुभः नामधारकः विषविहीनत्वात्; तथैव अहमपि नाम्नैव ब्राह्मणः ब्रह्मतेजोहीनत्वात् इतिभावः। धाविष्यामि=प्रक्षालनं कारयिष्यामि अभ्यन्तरस्य=गृहान्तरस्य चतुःशालकम्=चतुष्कक्षसमन्वितं भवनमित्यर्थः। एनम्=सुवर्णभाण्डम् ॥

अलं चतुःशालमिममिति—

अन्वय :—इमम्, चतुशालम्, प्रवेश्य, अलम्, यस्मात्, एषः, प्रकाशनारीधृतः, तस्मात्, भोःविप्र ! तावत्, स्वयम्, धारय, यावत्, खलु, तस्याः, (हस्ते), न समर्प्यते ॥ ७ ॥

शब्दार्थ :—इमम् = इसको, चतुःशालम् = चौपाल में, प्रवेश्य=भेजने से, अलम्=बस (करो), यस्मात्=क्योंकि, एषः=यह, प्रकाशनारीधृतः=वेश्या के द्वारा रखा गया है, तस्मात्=तो, भोः विप्र=हे ब्राह्मण !, तावत्=तब तक, स्वयम्=स्वयं

विदूषकः – अवि णिद्दाअदि भवं ?। [अपि निद्राति भवान् ?।]

चारुदत्तः – अथ किम्।

इयं हि निद्रा नयनावलम्बिनी ललाटदेशादुपसर्पतीव माम्।
अदृश्यरूपा चपला जरेव या मनुष्यसत्त्वं परिभूय वर्धते ॥ ८ ॥

तुम, धारय=रक्खो, रखवाली करो, यावत्=जबतक, खलु=निश्चय ही, तस्याः=उसके, (हस्ते=हाथ में), न=नहीं, समर्प्यते=समर्पित कर दिया जाता, लौटा दिया जाता ॥

अर्थः–चारुदत्त—इसे (बचाव के लिए) चौपाल (चतुःशाला) में भेजना ठीक नहीं है, क्यों कि यह वेश्या की धरोहर है। इसलिए हे ब्राह्मण ! जब तक यह 'वसन्तसेना' को लौटा नहीं दिया जाता, तब तक इसकी रखवाली तुम स्वयं करो। ७।

(निद्रा का अभिनय करता हुआ,—'उसका वह स्वर का उतार चढ़ाव'— (३।५) यह फिर पढ़ता है)

टीका–इमम्=सुवर्णभाण्डमित्यर्थः; चतस्रः शालाः यस्मिन् तम् चतुःशालम्= चतुःप्रकोष्ठयुक्तं गृहमित्यर्थः; प्रवेश्य=प्रापय्य; अलम्=व्यर्थम्, गृहाभ्यन्तरे प्रवेशयितव्यं न इत्यर्थः; यस्मात्=यतः, यस्मात्कारणादित्यर्थः; एषः=आभूषणसमूहः; प्रकाशनार्या= वेश्यया, वसन्तसेनया इत्यर्थः, धृतः=न्यासरूपेण स्थापितः, परिहितः इति केचन, तस्मात्=ततः, तस्मात्कारणादित्यर्थः; भोः विप्र=हे ब्राह्मण ! तावत्=तावत्कालपर्यन्तं स्वयं धारय=स्वसमीपे स्थापय, त्वं स्वयमेव रक्ष इत्यर्थः; यावत्=यावत्कालपर्यन्तम्; खलु = अवश्यम् ; तस्याः=वेश्यायाः वसन्तसेनायाः ; हस्ते इति शेषः; न समर्प्यते= न दीयते ॥ ७ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपजाति छन्द है। लक्षण के लिये देखिये पीछे श्लोक छः की टिप्पणी ॥ ७ ॥

अर्थ :—विदूषक—क्या आप सो रहे हैं ?

इयं हि निद्रा इति—

अन्वयः—हि, ललाटदेशात्, नयनावलम्बिनी, इयम्, निद्रा, माम्, उपसर्पति, इव, अदृश्यरूपा, चपला, जरा, इव, या मनुष्यसत्त्वम्, परिभूय, वर्धते। ८ ॥

शब्दार्थः—हि=क्योंकि, ललाटदेशात्=माथे से, नयनावलम्बिनी=आँखों में उतरी हुई, आँखों का आश्रयण की हुई, इयम्=यह, निद्रा=नींद, माम्=मुझको,

विदूषकः—ता सुवेम्ह । [तत्स्वपिवः ।] (नाट्येन स्वपिति)

(ततः प्रविशति शर्विलकः)

शर्विलकः—

कृत्वा शरीरपरिणाहसुखप्रवेशं
शिक्षाबलेन च बलेन च कर्ममार्गम् ।
गच्छामि भूमिपरिसर्पणघृष्टपार्श्वो
निर्मुच्यमान इव जीर्णतनुर्भुजङ्गः ॥ ६ ॥

(नभोऽवलोक्य सहर्षम्) अये, कथमस्तमुपगच्छति स भगवान्मृगाङ्कः ।

मेरी ओर, उपसर्पति इव=आ सी रही है, अदृश्यरूपा=न दीख पड़ने वाली, चपला=चञ्चल, जरा इव=बुढ़ौती की भाँति, या=जो (नींद), मनुष्यसत्त्वम्=मनुष्यों के बल को, परिभूय=तिरस्कृत करके, वर्धते=बढ़ती है ॥

अर्थ :—चारुदत्त—और क्या ?

माथे से (मस्तक से) आँखों में उतरती हुई यह नींद मेरी ओर आ रही है (अर्थात् धीरे-धीरे मुझे वश में कर रही है) । न दीख पड़ने वाली चञ्चल बुढ़ौती की भाँति यह नींद भी मनुष्यों के बल को अभिभूत (तिरस्कृत) करके बढ़ती है ॥ ८ ॥

टीका—हि=यतः ; ललाटदेशात्=भालप्रदेशात् ; नयने=नेत्रे अवलम्बते=आश्रयते इति नयनावलम्बिनी=कृतनेत्राश्रया इत्यर्थः ; इयम्=अनुभूयमाना ; निद्रा=स्वापः ; माम्=चारुदत्तम् ; उपसर्पति=आगच्छति, इव, अदृश्यम्=अन्तर्हितम् रूपम्=आकृतिः यस्याः सा ; चपला=चञ्चला ; जरा=वृद्धावस्था ; इव ; या=निद्रा ; मनुष्याणाम्=मानवानाम् , सत्त्वम्=बलम् ; परिभूय=तिरस्कृत्य, वर्धते=वृद्धिं गच्छति ॥ ८ ॥

टिप्पणी—वस्तुतः ललाट से नीचे की ओर न आनेवाली भी निद्रा का नीचे आना कल्पित किया गया है ; अतः श्लोक के पूर्वार्द्ध में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । उत्तरार्द्ध में वृद्धावस्था से निद्रा की समानता बतलाने के कारण उपमा अलङ्कार है । इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—वंशस्थ, छन्द का लक्षण—'वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ" ॥ ८ ।

अर्थः—विदूषक—तो सोते हैं । (अभिनय के द्वारा सो जाता है) ।

(इसके बाद अर्थात् आधीरात में 'शर्विलक' प्रवेश करता है)

कृत्वा शरीरपरिणाहसुखप्रवेशमिति—

अन्वयः—शिक्षाबलेन, च, बलेन, च, शरीरपरिणाहसुखप्रवेशम्, कर्ममार्गम्, कृत्वा, भूमिपरिसर्पणघृष्टपार्श्वः, (सन्, अहम्), निर्मुच्यमानः, जीर्णतनुः, भुजङ्गः, इव, गच्छामि ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—शिक्षाबलेन = (चोरी करने की) शिक्षा के जोर से, च=और, बलेन = (शरीर के) बल से, च = भी, शरीरपरिणाहसुखप्रवेशम् = देह की लम्बाई-चौड़ाई के सुख से घुसने के लायक, कर्ममार्गम् = सेंध को (कर्मणः = चोरी के मार्गम् = रास्ताको = सेंध को), कृत्वा = करके भूमिपरिसर्पणघृष्टपार्श्वः = जमीन पर घिसकने से छिले हुए पार्श्वभागवाला, (सन् = होता हुआ, अहम् = मैं), निर्मुच्यमानः = केंचुल छोड़ते हुए, जीर्णतनुः = जर्जर देहवाले भुजङ्गः इव = साँप के समान, गच्छामि = जा रहा हूँ ।

अर्थः—शर्विलक—अपनी शिक्षा के जोर तथा बल के प्रभाव से (अपने) देह की लम्बाई चौड़ाई (विशालता) के सुख से घुसने के लायक सेंध लगा करके, जमीन पर घिसकने से छिले हुए पार्श्वभागवाला मैं (शर्विलक), केंचुल छोड़ते हुए जर्जर देहवाले साँप के समान; सेंध में जाता हूँ ॥ ६ ॥

टीका—शिक्षायाः = चौर्यशिक्षायाः चौर्यज्ञानस्य वा बलेन = सामर्थ्येन ; च = तथा ; बलेन = शरीरशक्त्या ; च = अपि ; शरीरस्य = देहस्य परिणाहः = विशालता ('परिणाहो विशालता' इत्यमरः) तस्य सुखेन = अनायासेन प्रवेशः = गमनमित्यर्थः यत्र तम् ; कर्मणः = चौर्यस्य मार्गम् = पन्थानम्, सन्धिमित्यर्थः ; कृत्वा = विधाय ; भूमौ = पृथिव्याम् परिसर्पणेन = लगुडाकारे पतित्वा चलनेन घृष्टौ = सञ्जातघर्षणौ पार्श्वौ = शरीरस्य वामदक्षिणभागौ यस्य तथाभूतः ; सन् अहम् ; निर्मुच्यमानः = कञ्चुकात् परिहीयमानः ; जीर्णा = प्राचीना तनुः = वपुः यस्य सः ; भुजङ्गः = सर्पः, इव ; गच्छामि = गृहाभ्यन्तरम् यामि इत्यर्थः ॥६॥

टिप्पणी—निर्मुच्यमानः = निर् + √मुच् + शानच् (कर्मणि) । यहाँ पर छिल रहा है बगल का भाग जिसका ऐसे शर्विलक की केंचुल छोड़नेवाले सर्प के साथ समानता बतलाने के कारण उपमा अलङ्कार है । इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका । छन्द का लक्षण—

'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ॥ ६ ॥

तथा हि,—

नृपतिपुरुषशङ्कितप्रचारं परगृहदूषणनिश्चितैकवीरम् ।
घनपटलतमोनिरुद्धतारा रजनिरियं जननीव संवृणोति ॥ १० ॥

वृक्षवाटिकापरिसरे संधि कृत्वा प्रविष्टोऽस्मि मध्यमकम्। तद्यावदिदानीं चतुःशालकमपि दूषयामि ।

अर्थः—(आकाश की ओर देख कर प्रसन्नता के साथ) अरे ! क्या यह भगवान् चन्द्रमा डूबने जा रहे हैं। जैसे कि—

नृपतिपुरुषशङ्कितप्रचारमिति—

अन्वयः—घनपटलतमोनिरुद्धतारा, इयम्, रजनी, जननी, इव, नृपतिपुरुषशङ्कितप्रचारम्ः परगृहदूषणनिश्चितैकवीरम्, (माम्), संवृणोति ॥ १० ॥

शब्दार्थः—घनपटलतमोनिरुद्धतारा = बादलों के समूह की भाँति गाढ़े अँधेरे से ताराओं को ढकनेवाली, इयम् = यह, रजनी = रात, जननी = माता (के), इव = समान, नृपतिपुरुषशङ्कितप्रचारम् = राजा के सिपाहियों के द्वारा आने-जाने के विषय में शङ्का किये जाने वाले, परगृहदूषणनिश्चितैकवीरम् = दूसरे के घरों में सेंध लगाने में माने हुए सबसे बड़े वीर, माम् = मुझको, संवृणोति = ढक रही है ।

अर्थः—बादलों के समूह की भाँति गाढ़े अँधेरे से ताराओं को ढकने वाली यह रात माता के समान, राजा के सिपाही जिसके आने-जाने को शङ्का की निगाह से देखते हैं, तथा जो दूसरे के घरों में सेंध लगाने में माना हुआ सबसे बड़ा वीर है। ऐसे मुझको ढक रही है। (अँधेरी रात चोरों को छिपाकर उसी प्रकार उनकी रक्षा करती है, जैसे माता अपने बालक की) ॥ १० ॥

टीका—घनानाम् = मेघानाम् पटलेनेव = समूहेनेव तमसा = अन्धकारेण निरुद्धाः = आवृताः ताराः = नक्षत्राणि यया यस्याम् वा सा ; (घनतिमिरनिरुद्धसर्वभावा इति पाठान्तरे तु घनतिमिरेण = घनान्धकारेण निरुद्धाः सर्वे भावाः = पदार्थाः यया यस्याम् वा सा इति बोध्यम्) इयम् = वर्तमाना ; रजनी = रात्रिः ; जननी = माता ; इव, नृपतिपुरुषैः = राजपुरुषैः शङ्कितः = शङ्कया सह विचारितः प्रचारः = सञ्चारः यस्य तम् ; तथा परेषाम् = अन्येषाम् गृहेषु = भवनेषु दूषणे = सन्धिकरणे निश्चितः = मान्यः एकः = प्रधानः वीरः शूरः तम् ; मामिति शेषः ; संवृणोति = आच्छादयति। यथा माता सर्वदा स्वपुत्रं स्नेहपरवशा सती आच्छा-

भोः,

कामं नीचमिदं वदन्तु पुरुषाः स्वप्ने च यद्वर्धते
विश्वस्तेषु च वञ्चनापरिभवश्चौर्यं न शौर्यं हि तत्।
स्वाधीना वचनीयतापि हि वरं बद्धो न सेवाञ्जलि-
र्मार्गो ह्येष नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्रौणिना ॥ ११ ॥

तत्कस्मिन्नुद्देशे संधिमुत्पादयामि।

दयति तथैव रजनिः अपि माम् आच्छादयति अन्धकारेणायं भावः। अत्र टीकाकाराः 'घनपटलतमोनिरुद्धतारा' इति रजनीविशेषणं घनं यत् पटलम् = रोगविशेषः तस्य तमसा निरुद्धा तारा = कनीनिका यस्याः सा, इति समासं विधाय जननी पक्षेऽपि संयोजयन्ति ॥ १० ॥

टिप्पणी—एकवीरः = पाणिनिव्याकरण के नियमानुसार 'वीरैकः' समस्त पद होना चाहिए। सिद्धान्त कौमुदीकार ने 'एकवीरः' शब्द को भी किसी प्रकार साधु बतलाया है। देखिये—सिद्धान्त० "पूर्वापरप्रथम·······मध्यमवीराश्च (पाणि० २। १। ५८)। कथम् 'एकवीरः' इतिः।·······बहुलग्रहणाद्भविष्यति॥ रजनी को जननी के समान बतलाने के कारण इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा पुष्पिताग्रा छन्द है। छन्द का लक्षण—

'अयुजि नयुगरेफतो युजि तु नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' ॥१०॥

शब्दार्थः—वृक्षवाटिकापरिसरे=फुलवाड़ी के समीप के स्थान (दीवाल) में, चतुःशालकम्=चौपाल को, दूषयामि = हानि पहुँचाता हूँ, सेंध लगाता हूँ।

अर्थः—फुलवाड़ी के पास की बहार दीवारी में सेंध लगाकर (चारुदत्त के) घर में घुस आया हूँ। तो अब इस चौपाल (चतुःशाला) में भी सेंध लगाता हूँ।

टीका—वृक्षवाटिकायाः=आरामस्य इत्यर्थः परिसरे=सन्निहितस्थाने ('पर्यन्तभूः परिसरः' इति अमरः) ; चतुःशालकम्=चतुष्कक्षयुक्तम् भवनमित्यर्थः ; दूषयामि=सन्धिना छिनद्मि॥

कामं नीचमिदमिति—

अन्वयः—यत् स्वप्ने, वर्धते, विश्वस्तेषु, वञ्चनापरिभवः, च, हि, तत् चौर्यम्, शौर्यम्, न, (अतः), पुरुषाः, इदम्, कामम्, नीचम्, वदन्तु; स्वाधीना वचनीयता, अपि, हि, वरम्, बद्धः, सेवाञ्जलिः, न, हि, एषः, मार्गः, पूर्वम्, द्रौणिना, नरेन्द्रसौप्तिकवधे, कृतः॥ ११ ॥

शब्दार्थ :—यत्=जो, स्वप्ने=सोने पर, वर्धते=बढ़ती है, विश्वस्तेषु=विश्वास किये हुए लोगों में (लोगों के साथ), वञ्चनापरिभवः=छीनना (वञ्चना) रूप अपमान (है), हि=निश्चय ही, तत्=वह, चौर्यम्=चोरी है, शौर्यम्=शूरता, न=नहीं है, (अतः) पुरुषाः=मनुष्य लोग, इदम्=इसको, कामम्=भले ही, नीचम्=अधम, वदन्तु=कहें, स्वाधीना=अपने आधीन, वचनीयता=निन्दनीय कार्य करना, अपि=भी, हि=अवश्य ही, वरम्=श्रेष्ठ है, बद्धः=जोड़ी गयी, सेवाञ्जलिः= सेवा की अञ्जली, न=नहीं (श्रेष्ठ है), हि=इसी बात को समझ कर, एषः=यह (चोरीरूप), मार्गः=मार्ग, पूर्वम्=पहले, द्रौणिना=अश्वत्थामा के द्वारा, नरेन्द्र-सौप्तिकवधे=राजा (पाण्डव) के सोये हुए (पुत्रों) की हत्या में, कृतः = किया गया है ।

अजी !

अर्थः—जो (चोरी) मनुष्यों के सो जाने पर होती है तथा जिसमें (चोरी में)विश्वास के साथ सोये हुए लोगों के धन का छिनना (अपहरण) रूप अपमान होता है वह चोरी है, शूरता नहीं। (अतः) मनुष्य लोग उस चोरी को भले ही अधम कहें (किन्तु फिर भी मेरा तो यही मत है कि) किसी के भी अधीन न होने के कारण यह चोरी रूप निन्दित काम भी अच्छा है। (किसी की) सेवा में हाथ जोड़ना अच्छा नही। और यह (चोरी का) रास्ता तो पहले ही राजा (पाण्डव) के सोये हुए (पुत्रों) की हत्या में 'द्रोणाचार्य' के पुत्र (अश्वत्थामा) ने दिखा दिया है ॥ ११ ॥

टीका—यत् चौरकार्यम्, स्वप्ने = निद्रादशायाम्, न तु जाग्रद्दशायामिति भावः ; वर्धते = प्रसरति ; विश्वस्तेषु=शङ्काविहीनेषु जनेषु इत्यर्थः ; सविश्रम्भं सुप्तेषु इति भावः ; वञ्चनया = द्रव्याद्यपहरणरूपया प्रतारणया परिभवः = तिरस्कारः ; अस्तीति शेषः ; हि = निश्चितम्, तत् चौर्यम् = चौरकर्म, तस्करता, अस्ति निगद्यते वा, शौर्यम्=शूरता नास्ति ; अतः ; पुरुषाः = जनाः ; इदम् = कार्यम् ; कामम् = यथेष्टम् ; नीचम् = अधमं कर्म ; वदन्तु = कथयन्तु ; तत्र मम नास्ति काचित् विप्रतिपत्तिः, परञ्च मदीयं मतं त्विदम् अस्ति—स्वाधीना = स्वाश्रया ; वचनीयता = परीवादः ; अपि ; हि = अवश्यम् ; वरम् = श्रेष्ठम् ; बद्धः = सम्पुटितः सेवायाः = धनिकजनशुश्रूषायाः अञ्जलिः, न = न वरमित्यर्थः ; हि = इदमेव मत्वा ; एषः = चौर्यकर्मरूपः, मार्गः = पन्थाः ; पूर्वम् = पुरा, महाभारतकाले इति भावः ; द्रौणिना = द्रोणपुत्रेण अश्वत्थाम्ना ; नरेन्द्राणाम् = शासकानां युधिष्ठिरपुत्रादीनाम्, सुप्ते = शयने भवः सौप्तिकः = शयनावस्थायाम्

देशः को नु जलावसेकशिथिलो यस्मिन्न शब्दो भवे-
द्भित्तीनां च न दर्शनान्तरगतः संधिः करालो भवेत् ।
क्षारक्षीणतया च लोष्टककृशं जीर्णं क्व हर्म्यं भवे-
त्कस्मिन्स्त्रीजनदर्शनं च न भवेत्स्यादर्थसिद्धिश्च मे ॥ १२ ॥

सम्पन्नः सः चासौ वधः = विनाशः तस्मिन् ; कृतः=निर्मितः । पुरा किल पितृवधामर्षोद्दीपितः अश्वत्थामा महाभारतसंग्रामावसाने एकस्यां रात्रौ पाण्डवशिविरे प्रविश्य द्रौपदीपुत्रान् अन्यानपि पाण्डवयोधान् जघानेति महाभारतीया कथाऽत्र अनुसन्धेया ॥ ११ ॥

टिप्पणी—सौप्तिकः = निद्रासम्बन्धी, √ स्वप् + क्त = सुप्त + ठञ् (इक्) ।

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग एवं अर्थान्तरन्यास अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है । छन्द का लक्षण—

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ११ ॥

अर्थः—तो किस स्थान पर सेंध लगाऊँ ।

देशः को नु इति—

अन्वयः—कः, नु, भित्तीनाम्, देशः, जलावसेकशिथिलः, भवेत्, यस्मिन्, शब्दः, न, भवेत् ; सन्धिः, च, करालः, भवेत् ; न, च, दर्शनान्तरगतः; क्व, च, हर्म्यम्, क्षारक्षीणतया, लोष्टककृशम्, जीर्णम्, च, भवेत् ; कस्मिन्, स्त्रीजनदर्शनम्, च, न, भवेत्, मे, अर्थसिद्धिः, च, स्यात् ॥१२॥

शब्दार्थः—कः=कौन, नु = यह प्रश्नवाचकता का द्योतक अव्यय है, भित्तीनाम्=भीतों का, दीवालों का, देशः=स्थान, जलावसेकशिथिलः=पानी पड़ने से ढीला (गीला), भवेत्=होगा, यस्मिन्=जिस स्थान में, शब्दः=आवाज, न=नहीं, भवेत्=होगी, सन्धिः=सेंध, च=भी, करालः=भयङ्कर, बड़ी, भवेत्=होगी (और) न=न, दर्शनान्तरगतः=दिखलायी पड़े, क्व=कहाँ, हर्म्यम्=महल (दीवाल), क्षारक्षीणतया=लोनख से पतली हो जाने के कारण, लोष्टककृशम्=कम ईंटों वाली, जीर्णम्=जर्जर, च = भी, भवेत् = होगी, कस्मिन्=किस स्थान में, स्त्रीजनदर्शनम्= स्त्रियों का सामना, च=भी, न भवेत्=न हो, मे = मेरी, अर्थसिद्धिः = काम में सफलता, च = भी, स्यात् = हो ॥

(भित्तिं परामृश्य) नित्यादित्यदर्शनोदकसेचनेन दूषितेयं भूमिः क्षारक्षीणा। मूषिकोत्करश्चेह। हन्त, सिद्धोऽयमर्थः। प्रथममेतत्स्कन्दपुत्राणां सिद्धिलक्षणम्। अत्र कर्मप्रारम्भे कीदृशमिदानीं संधिमुत्पादयामि। इह खलु भगवता कनकशक्तिना चतुर्विधः संध्युपायो दर्शितः। तद्यथा—पक्वेष्टकानामाकर्षणम्, आमेष्टकानां छेदनम्, पिण्डमयानां सेचनम्, काष्ठमयानां पाटनमिति। तदत्र पक्वेष्टके इष्टिकाकर्षणम्। तत्र—

अर्थः—हमेशा पानी पड़ने से गीला अतः कमजोर हुआ दिवारों का कौन सा ऐसा स्थान होगा, जिसमें (सेंध लगाते समय) आवाज न हो, सेंध बड़ी हो, किन्तु (बगल से भी आने जाने वालों को) दिखलायी न पड़े। और कहाँ की दीवाल लोनख (क्षार) लगजाने से पतली हो जाने के कारण कम ईंटों वाली एवं जर्जर होगी ? किस जगह (सेंध करने से) स्त्रियों का सामना न होगा और मेरे चोरी के काम में सफलता भी मिलेगी॥ १२॥

टीका—कः नु = वितर्के; भित्तीनाम्=कुड्यानाम्; देशः=भागः; जलानाम्= सलिलानाम्; अवसेकेन = सेचनेन शिथिलः=अकठिनः; भवेत् = स्यात्, यस्मिन् = देशे, शब्दः = सन्धिच्छेदस्य ध्वनिः; न भवेत्; सन्धिः = सुरङ्गा; च करालः = भयङ्करः विशालः इत्यर्थः; भवेत्, न च दर्शनान्तरगतः = दृष्टिविषयं प्राप्तः भवेत्; रक्षिणां जनानां वेति शेषः; क्व च = कुत्र च; हर्म्यम् = गृहम्, भित्ति इत्यर्थः; क्षारेण = लवणेन क्षीणतया = कृशतया; कृशानि = दुर्बलानि क्षीणानि इत्यर्थः लोष्टकानि=इष्टकादिखण्डानि यत्र तत् आहिताग्न्यादित्वात् कृशशब्दस्य परनिपातः; जीर्णम् = दुर्बलम्, प्राचीनमित्यर्थः; च भवेत्; कस्मिन् = देशे; स्त्रीजनानाम्= स्त्रीणाम् दर्शनम् = साक्षात्कारः; न भवेत्; चौरशास्त्रे प्रथमं स्त्रीजनसाक्षात्कारः तस्कराणां कार्यविघातकः कथितः अस्ति। मे = मम; अर्थस्य = कार्यस्य सिद्धिः = सफलता च स्यात्॥१२॥

टिप्पणी—जीर्णम्=पुराना, प्राचीन, √जॄ+क्त।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है। छन्द का लक्षण श्लोक ११ की टिप्पणी में दे दिया गया है॥ १२॥

शब्दार्थः—परामृश्य=टटोल कर, छूकर, नित्यादित्यदर्शनोदकसेचनेन= सर्वदा सूर्य के दिखलायी पड़ने पर जल देने से, दूषिता=भ्रष्ट, विकृत, गीली, मूषिकोत्करः=चूहों के द्वारा खने गये मिट्टी के टुकड़ों का ढेर। हन्त=वाह ! प्रथमम् = पहला, स्कन्दपुत्राणाम्=स्कन्द के पुत्रों की, चोरों की, सिद्धिलक्षम्=सफलता का चिन्ह (है), कर्मप्रारम्भे=काम के प्रारम्भ करने पर। कनकशक्तिना=

पद्मव्याकोशं भास्करं बालचन्द्रं
वापी विस्तीर्णं स्वस्तिकं पूर्णकुम्भम् ।
तत्कस्मिन्देशे दर्शयाम्यात्मशिल्पं
दृष्ट्वा श्वो यं यद्विस्मयं यान्ति पौराः ॥ १३ ॥

तदत्र पक्वेष्टके पूर्णकुम्भ एव शोभते । तमुत्पादयामि ।

चोरी के शास्त्र के प्रारम्भकर्ता कनकशक्ति के द्वारा । आमेष्टकानाम्=कच्चे ईंटों का, छेदनम्=काटना; पाटनम्=विदीर्ण करना, तोड़ना ॥

अर्थः—(भीत को टटोल कर) रोज (सबेरे) सूर्य के दिखलायी पड़ने पर जल देने से यह भूमि (दीवार) गीली एवं लोनख लगने से कटी हुई है । यहाँ चूहों के द्वारा (खने गये छोटे-छोटे मिट्टी के टुकड़ों का) ढेर भी है । वाह ! काम बन गया । 'कार्तिकेय' के पुत्रों (चोरों) का यह (आसानी से सेंध फोड़ने का उपाय मिलना) काम सिद्ध होने का पहला चिह्न है । अब काम शुरू करने पर यहाँ कैसी सेंध बनाऊँ ? वास्तव में इस सम्बन्ध में तो भगवान् 'कनकशक्ति' (चोरी का उपाय बतलाने वाले एक आचार्य) ने चार प्रकार का सेंध फोड़ने का उपाय बतलाया है । जैसे कि पक्की ईंटों (के मकान में ईंटों) का बाहर खींचना, कच्ची ईंटों (के घरों में ईंटों) का काटना, माटी के लोंदों (पिण्डों) (से बनी हुई दीवारों) को पानी से सींचना, काठ (से बनी दिवारों के काठों) को उखाड़ना । तो यहाँ पक्की ईंटों (के मकान में ईंटों) का खींचना (ही ठीक होगा) । वहाँ—

टीका—परामृश्य=स्पृष्ट्वा । नित्यम्=सर्वदा आदित्यस्य=सूर्यस्य दर्शने=अवलोकने उदकस्य=जलस्य सेचनेन=सिञ्चनेन दानेनेत्यर्थः, दूषिता=विकृता । मूषिकैः=आखुभिः उत्कीर्यते=खन्यते इति मूषिकोत्करः=मूषिकोद्धृतमृत्तिकाराशिः । हन्तः=हर्षसूचकमव्ययमिदम् । प्रथमम्=अद्वितीयम्, स्कन्दस्य=कार्तिकेयस्य पुत्राणाम्=सुतानामनुयायिनामिति भावः, सिद्धेः=सफलतायाः लक्षणम्=चिह्नम् । कर्मणः=कार्यस्य सन्धिच्छेदस्य इति भावः प्रारम्भे=आरम्भे । कनकशक्तिना=कनकशक्तिनाम्ना प्रसिद्धेन चौर्यशास्त्रप्रवर्तकेन । आमेष्टकानाम्—आमानाम्=अपक्वानाम्, इष्टकानाम्, छेदनम्=कर्तनम्, विदारणम् ॥

पद्मव्याकोशमिति—

अन्वयः—पद्मव्याकोशम्, भास्करम्, बालचन्द्रम्, वापी, विस्तीर्णम्, स्वस्तिकम्, पूर्णकुम्भम्, (एते, सप्त, सन्धिप्रकाराः, सन्ति,), तत्, कस्मिन्, देशे आत्मशिल्पम्, दर्शयामि, यत्, यम्, दृष्ट्वा, श्वः, पौराः, विस्मयम्, यान्ति ॥१३॥

शब्दार्थः—'पद्मव्याकोशम्'—आदि सात प्रकार की सेंधों के नाम हैं। इन नामों से ही इन सेंधों का आकार-प्रकार भी प्रकट हो जाता है; जैसे—पद्मव्याकोशम् = खिले हुए कमल के समान आकारवाली, भास्करम् = सूर्य के समान गोल, बालचन्द्रम् = द्वितीया के चन्द्रमा के समान तिरछी, वापी = बावड़ी जैसी, विस्तीर्णम् = चौड़ी, स्वस्तिकम् = 卐 इस प्रकार के आकार जैसी, पूर्णकुम्भम् = नीचे-ऊपर कुछ सकरी तथा बीच में चौड़ी। (एते = ये, सप्त = सात, सन्धिप्रकाराः = सेंधों के प्रकार, सन्ति = हैं), तत् = तो, कस्मिन् = किस, देशे = स्थान में, आत्मशिल्पम् = अपनी कला को, दर्शयामि = दिखलाऊँ, यत् = जिससे, यम् = जिसको, दृष्ट्वा = देखकर, श्वः = सुबह, पौराः = नगरी के लोग, विस्मयम् = आश्चर्य को, यान्ति = जायेंगे॥

अर्थः—खिले हुए कमल, सूर्य (गोल), द्वितीया के चन्द्रमा (अर्द्धचन्द्राकार) बावड़ी, विस्तृत, स्वस्तिक (卐इसप्रकार के चिह्नवाला), पूर्ण घड़ा (ये सात सेंध के प्रकार हैं) तो किस जगह अपनी (सेंध फोड़ने की) चतुराई दिखलाऊँ? जिसे सबेरे देखकर नगरी के लोग आश्चर्य चकित हो जाँय॥ १३॥

टीका—पद्मवत् = कमलवत् व्याकोशम् = उत्फुल्लम्, विकसितकमलसमानमित्यर्थः; भास्करम् = सूर्यमण्डलसन्निभम्; गोलाकारमित्यर्थः; बालचन्द्रम् = शुक्लद्वितीयाचन्द्राकारम्, वक्रमित्यर्थः; वापी = दीर्घिकासदृशम्, चतुष्कोणमित्यर्थः; विस्तीर्णम् = विस्तृतम्; स्वस्तिकम् = स्वस्तिकाकारतुल्यम्; पूर्णकुम्भम् = पूर्णघटाकारमधः उर्ध्वं च कृशं मध्ये स्थूलमिति भावः। (एते = पूर्वकथिताः; सप्त = सप्तसंख्याकाः सन्धिप्रकाराः = सन्धिभेदाः सन्ति)। तत् = तस्मात् कस्मिन् देशे = कस्मिन् भित्तिस्थाने; आत्मनः = स्वस्य शिल्पम् = कलाकारिताम्; दर्शयामि = प्रदर्शयामि; यत् = यस्मात्; यम् = सन्धिम्; दृष्ट्वा = अवलोक्य; श्वः = प्रातःकाले; पौराः = पुरवासिनः; विस्मयम् = आश्चर्यम्; यान्ति = प्राप्नुवन्ति॥१३॥

टिप्पणी—विस्मयम्— आश्चर्य को, ताज्जुब को, वि + √स्म + अच्।

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है वैश्वदेवी। लक्षण—

'बाणाश्वैश्छिन्ना वैश्वदेवी ममौ यौ'॥ १३॥

अर्थ :—तो इस पक्के ईंटों (वाले मकान) में पूर्ण घड़े के आकार की सेंध ही अच्छी लगती है (अतः) उसी को बनाता हूँ।

अन्यासु भित्तिषु मया निशि पाटितासु
क्षारक्षतासु विषमासु च कल्पनासु।
दृष्ट्वा प्रभातसमये प्रतिवेशिवर्गो
दोषांश्च मे वदति कर्मणि कौशलं च ॥ १४ ॥

नमो वरदाय कुमारकार्तिकेयाय, नमः कनकशक्तये ब्रह्मण्यदेवाय देवव्रताय, नमो भास्करनन्दिने, नमो योगाचार्याय यस्याहं प्रथमः शिष्यः। तेन च परितुष्टेन योगरोचना मे दत्ता।

अन्यासु भित्तिषु इति—

अन्वय :—निशि, अन्यासु, क्षारक्षतासु, भित्तिषु, विषमासु, कल्पनासु, मया, पाटितासु, प्रभातसमये, प्रतिवेशिवर्गः, दृष्ट्वा, मे, दोषान्, कर्मणि, कौशलम्, च, वदति ॥ १४ ॥

शब्दार्थ :—निशि=रात में, अन्यासु=दूसरी, क्षारक्षतासु=लोनख से कटी हुई, भित्तिषु=दीवारों में (के), विषमासु=विचित्र, कल्पनासु=सूझ-बूझ में (के साथ), मया=मेरे द्वारा, पाटितासु=फोड़ी जाने पर, प्रभातसमये=प्रातःकाल, प्रतिवेशिवर्गः=पड़ोसी लोग, दृष्ट्वा=देखकर, मे=मेरे, दोषान्=दोषों को, कर्मणि=काम में, कौशलम्=चतुराई को, च=भी, वदति=कहेंगे ॥

अर्थ :—रात के समय दूसरी, लोनख से कटी हुई दीवारों के, विचित्र सूझ-बूझ के साथ मेरे द्वारा, फोड़ी जाने पर प्रातःकाल पड़ोसी लोग (सेंध को) देखकर मेरे अपराध (दोष) एवं (सेंध बनाने के) काम की चतुराई को कहेंगे ॥ १४ ॥

टीका—निशि=रात्रौ; अन्यासु=अपरासु; क्षारेण=लवणेन; क्षतासु=दूषितासु; भित्तिषु=कुड्येषु; एवं विषमासु=विलक्षणासु; कल्पनासु=सन्धिरचनोत्प्रेक्षासु; विलक्षणया कल्पनया इति भावः; मया=शर्विलकेन; पाटितासु=विदारितासु सतीषु; प्रभातसमये=प्रातःकाले; प्रतिवेशिनाम्=तत्पल्लीस्थानाम् वर्गः=समूहः; दृष्ट्वा=अवलोक्य; सन्धिमिति शेषः; मे=मम चौरस्येतिभावः; दोषान्=अपराधान्; कर्मणि=कार्ये, चौरकार्ये इत्यर्थः; कौशलम्=नैपुण्यम्, च=अपि, वदति=कथयिष्यति इत्यर्थः ॥ १४ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में तुल्ययोगिता अलङ्कार एवं वसन्ततिलका छन्द है। छन्द का लक्षण—

'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' । १४ ॥

अनया हि समालब्धं न मां द्रक्ष्यन्ति रक्षिणः ।
शस्त्रं च पतितं गात्रे रुजं नोत्पादयिष्यति ॥१५॥

अर्थः– वरदानी 'कुमार कार्तिकेय (शङ्कर के पुत्र) को नमस्कार है । 'कनकशक्ति' 'ब्रह्मण्यदेव' एवं 'देवव्रत' के लिए नमस्कार है । 'भास्करनन्दी' के लिए नमस्कार है । 'योगाचार्य' को नमस्कार है, जिनका मैं पहला शिष्य हूँ । मेरे ऊपर खुश हुए उन्होंने (योगाचार्य ने) योगरोचना (एक ऐसा मलहम जिसके लगा लेने से मनुष्य दिखलायी नहीं पड़ता और न तो शस्त्र आदि के मारने से चोट ही लगती है) मुझे दी है ।

अनया हि समालब्धमिति—

अन्वयः अनया, समालब्धम्, माम्, रक्षिणः, हि, न, द्रक्ष्यन्ति, (तथा) गात्रे, पतितम्, शस्त्रम्, च, रुजम्, न, उत्पादयिष्यति ॥१५॥

शब्दार्थः—अनया = इस योगरोचना के द्वारा, समालब्धम् = लेपन किये गये, माम् = मुझको, रक्षिणः = सिपाही, हि = अवश्य, न = नहीं, द्रक्ष्यन्ति = देखेंगे, (तथा = और) गात्रे = शरीर पर, पतितम् = पड़ा हुआ, शस्त्रम् = शस्त्र, च=भी, रुजम् = पीडा को, न = नहीं, उत्पादयिष्यति = उत्पन्न करेगा ।

अर्थः- (शरीर में) इस (योगरोचना) के लेपन कर लेने पर मुझको पहरा में घूमने वाले सिपाही नहीं देख सकेंगे । और शरीर पर पड़ा हुआ शस्त्र (लाठी आदि) पीड़ा नहीं उत्पन्न करेगा ॥ १५ ॥

टीका—अनया = योगरोचनया; समालब्धम् = कृतसमालम्भनम्; आलिप्त-शरीरमित्यर्थः; माम् = शर्विलकम्; रक्षिणः = रक्षणे नियुक्ताः राजपुरुषाः; हि = निश्चितम्; न द्रक्ष्यन्ति = नावलोकयिष्यन्ति; तथा गात्रे = शरीरे; पतितम् = प्रक्षिप्तम्; शस्त्रम् = आयुधम्; च=अपि; रुमम्=पीडाम्; न उत्पादयिष्यति = जनयिष्यति ॥१५॥

टिप्पणी—समालब्धम्— लेपन किये गये को, सम् + आ + √लभ् + क्त ॥

इस श्लोक में समुच्चय अलङ्कार एवं अनुष्टुप् छन्द है । छन्द का लक्षण—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥

कुछ टीकाकार इसमें पथ्यावक्त्र छन्द मानते हैं ॥१५॥

(तथा करोति) धिक्कष्टम् । प्रमाणसूत्रं मे विस्मृतम् । (विचिन्त्य) आं, इदं यज्ञोपवीतं प्रमाणसूत्रं भविष्यति । यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यम्, विशेषतोऽस्मद्विधस्य । कुतः,—

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्ग-
मेतेन मोचयति भूषणसंप्रयोगान् ।
उद्घाटनं भवति यन्त्रदृढे कपाटे
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च ॥१६॥

शब्दार्थः—प्रमाणसूत्रम् = नापने का धागा, विस्मृतम् = भूल गया । यज्ञोपवीतम्=जनेऊ । उपकरणद्रव्यम्=काम की चीज (है) । विशेषतः=खास तौर से, अस्मद्विधस्य=हम जैसे लोगों के लिये ॥

अर्थः—(शरीर में लेप करता है) हाय, खेद है । अपना नापने का धागा भूल आया । (सोचकर) हाँ, यह (मेरा) जनेऊ नापने का धागा बन जायेगा । ब्राह्मण के लिये जनेऊ (यज्ञोपवीत) बड़े काम की चीज हैं, खास तौर पर हम जैसों के लिये, क्योंकि—

टीका—प्रमाणसूत्रम्=सन्धिमापकसूत्रम्; विस्मृतम्=न आनीतमित्यर्थः । यज्ञोपवीतम्=उपनयनसूत्रम् । उपकरणद्रव्यम्=उपकारकः पदार्थः । विशेषतः = मुख्यतः; अस्माकम् विधा = प्रकारः इव विधा यस्य तस्य=अस्मत्तुल्यस्य ॥

एतेन मापयति इति—

अन्वयः—(मादृशः, चौरः) एतेन, भित्तिषु, कर्ममार्गम्, मापयति, एतेन, भूषणसम्प्रयोगान्, मोचयति, यन्त्रदृढे, कपाटे, (एतेन), उद्घाटनम्, भवति, कीटभुजगैः, दष्टस्य, परिवेष्टनम्, च (भवति) ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—(मादृशः = मेरे जैसा, चौरः = चोर व्यक्ति) एतेन = इस जनेऊ से, भित्तिषु = दीवारों में, कर्ममार्गम् = सेंध को, मापयति = नापता है । एतेन = इससे भूषणसम्प्रयोगान् = जेवरों के जोड़ों को, मोचयति = खोलता है, यन्त्रदृढे = किल्ली से कसकर बन्द की गयी, कपाटे = किवाड़ में, (एतेन = इससे), उद्घाटनम् = खोलना, भवति = होता है, कीटभुजगैः = कीड़ों तथा सर्पों के द्वारा, दष्टस्य = काटे गये व्यक्ति का, (यह), परिवेष्टनम् = लपेटना, बन्धन, च = भी, (भवति = होता है) ॥

अर्थः—(चोर) इससे दीवारो में सेंध नापता है । इससे (अर्थात् इसकी मदद

मापयित्वा कर्म समारभे। (तथा कृत्वावलोक्य च) एकलोष्टावशेषोऽयं संधिः। धिक्कष्टम्, अहिना दष्टोऽस्मि। (यज्ञोपवीतेनाङ्गुलीं बद्ध्वा विषवेगं नाटयति; चिकित्सां कृत्वा) स्वस्थोऽस्मि। (पुनः कर्म कृत्वा दृष्ट्वा च) अये, ज्वलति प्रदीपः। तथा हि,—

से) पहने गये जेवरों के जोड़ (हुक) खोलता है। इससे किल्ली से कस कर बन्द की गयी किवाड़ खोली जाती है। (विषैले) कीड़ों तथा सर्पों के द्वारा काट खाये गये व्यक्ति के लिये (यह) बन्धन (परिवेष्टन) हो जाती है। (जिस जगह सर्प आदि काटते हैं, उसके ऊपर कस कर बाँध देने से विष का दौर दूसरे अङ्गों में नहीं होता है) ॥ १६ ॥

टीका—मादृशः चौरः एतेन = यज्ञोपवीतेन ; भित्तिषु = कुड्येषु ; कर्मणः= तस्करतारूपकार्यस्य मार्गम् = सन्धिरूपं पन्थानम् ; मापयति = मितं विदधाति ; एतेन = यज्ञोपवीतेनैव ; भूषणानाम = परिहितालङ्काराणाम् संप्रयोगान् = श्लिष्ट-बन्धान् ; मोचयति = शिथिलीकरोति इति भाव ; यन्त्रेण = अर्गलादिना दृढे = संयमिते, कपाटे, उद्घाटनम् = मोचनम् ; भवति = जायते ; कीटैः = वृश्चिकादिभिः सर्पैः = भुजगैः च ; दष्टस्य = सञ्जातदंशनस्य जनस्य ; परिवेष्टनम् = परितः बन्धनञ्च भवतीति शेषः ॥ १६ ॥

टिप्पणी—उद्घाटनम्—उद् + √घट् + णिच्। परिवेष्टनम्– परि + √वेष्ट् + ल्युट् ॥

इस श्लोक में समुच्चय अलङ्कार एवं वसन्ततिलका छन्द है। छन्द का लक्षण—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—मापयित्वा = नाप कर, कर्म = सेंध खनना रूप कार्य को। एकलोष्टावशेषः=एक ईंट है बाकी जिसमें ऐसी, सन्धिः = सेंध। अहिना= सर्प के द्वारा, दष्टः = काटा गया। स्वस्थः = ठीक, पहले जैसा।

अर्थः—नाप कर सेंध लगाना प्रारम्भ करता हूँ। (वैसा करके और देखकर) अब इस सेंध में एक ही ईंट निकालना बाकी रह गया है। हाय! हाय!! बड़ा कष्ट है। साँप ने काँट खाया (जनेऊ से अँगुली को बांध कर विष चढ़ने का अभिनय करता है। दवा करके) स्वस्थ हो गया। (फिर सेंध फोड़कर और देखकर) अरे! दीपक जल रहा है। जैसे कि —

टीका—मापयित्वा = परिमितिं विधाय ; कर्म = सन्धिच्छेदनमित्यर्थः। एकः = केवलः लोष्टः=ईष्टिका, अवशेषः = अवशिष्ट यत्र सः ; सन्धिः = चौरकर्म-

शिखा प्रदीपस्य सुवर्णपिञ्जरा महीतले संधिमुखेन निर्गता।
विभाति पर्यन्ततमःसमावृता सुवर्णरेखेव कषे निवेशिता ॥१७॥

(पुनः कर्म कृत्वा) समाप्तोऽयं संधिः । भवतु, प्रविशामि । अथवा न तावत्प्रविशामि । प्रतिपुरुषं निवेशयामि । (तथा कृत्वा) अये, न कश्चित् । नमः कार्तिकेयाय । (प्रविश्य, दृष्ट्वा च) अये, पुरुषद्वयं सुप्तम् । भवतु, आत्मरक्षार्थं द्वारमुद्धाटयामि । कथं जीर्णत्वाद्गृहस्य विरौति कपाटम् ? । तद्यावत्सलिलमन्वेषयामि । क्व नु खलु सलिलं भविष्यति ? । (इतस्ततो दृष्ट्वा सलिलं गृहीत्वा क्षिपन्, सशङ्कम्) मा तावद्भूमौ पतच्छब्दमुत्पादयेत् । भवतु एवं तावत् । (पृष्ठेन प्रतीक्ष्य कपाटमुद्घाट्य च) भवतु एवं तावत् । इदानीं परीक्षे किं लक्ष्यसुप्तम्, उत परमार्थसुप्तमिदं द्वयम् । (त्रासयित्वा परीक्ष्य च) अये, परमार्थसुप्तेनानेन भवितव्यम् । तथा हि,—

मार्गः । अहिना=सर्पेण ; दष्टः = कृतदंशनः । स्वस्थः—स्वस्मिन् = स्वरूपे तिष्ठतीति स्वस्थः = विषवेगशून्यः ॥

शिखा प्रदीपस्य इति

अन्वयः—सुवर्णपिञ्जरा, सन्धिमुखेन, महीतले, निर्गता, पर्यन्ततमःसमावृता, प्रदीपस्य, शिखा, कषे निवेशिता, सुवर्णरेखा, इव, विभाति । १७ ॥

शब्दार्थः—सुवर्णपिञ्जरा=सोना जैसी पीली, सन्धिमुखेन=सेंध की राह से, सेंध के छेद से, महीतले=जमीन पर, निर्गता=निकली हुई, पर्यन्ततमःसमावृता=चारों ओर अँधेरे से घिरी हुई, प्रदीपस्य=दीपक की, शिखा=लौ, कषे=कसौटी पर, निवेशिता=खींची गयी, सुवर्णरेखा=सोने की रेखा, इव=जैसी, विभाति=शोभित हो रही है ।

अर्थः—सोना जैसी पीली, सेंध की राह से (बाहर) जमीन पर निकली हुई, चारों ओर अँधेरे से घिरी हुई दीपक की लौ (चमक) ऐसी शोभित हो रही है जैसी कसौटी पर खींची गई सोने की रेखा (पतली लाइन) ॥ १७ ॥

टीका—सुवर्णवत्=कनकमिव पिञ्जरा=पिङ्गलवर्णा ; सन्धिमुखेन=सन्धिछिद्रेण ; महीतले=भूतले ; निर्गता=निःसृता ; पर्यन्तेषु=परितः, चतुर्भागेषु इत्यर्थः तमसा=अन्धकारेण समावृता=समाच्छन्ना ; प्रदीपस्य=दीपकस्य ; शिखा=कान्तिः ; कषे=शाणे ; निवेशिता=दत्ता, सुवर्णस्य=कनकस्य रेखा=लेखा, इव=यथा ; विभाति=शोभते ॥१७॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं वंशस्थ छन्द है । छन्द का लक्षण—"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" ॥१७॥

निःश्वासोऽस्य न शङ्कितः सुविशदस्तुल्यान्तरं वर्तते
दृष्टिर्गाढनिमीलिता न विकला नाभ्यन्तरे चञ्चला।
गात्रं स्रस्तशरीरसंधिशिथिलं शय्याप्रमाणाधिकं
दीपं चापि न मर्षयेदभिमुखं स्याल्लक्ष्यसुप्तं यदि ॥१८॥

शब्दार्थः—प्रतिपुरुषम्=काठ आदि से बना हुआ मनुष्य का पुतला। पुरुषद्वयम्=दो पुरुष, सुप्तम्=सोये हैं। आत्मरक्षार्थम्=अपनी रक्षा के लिये, द्वारम्=दरवाजा को। विरौति=मरमरता है। लक्ष्यसुप्तम्=छल से सोये हुए, परमार्थसुप्तम्=सही में सोए हुए॥

अर्थः—(फिर सेंध फोड़ कर) यह सेंध पूरी हो गई। अच्छा अब प्रवेश करूँ। अथवा पहले मैं स्वयं न घुस कर मनुष्य के बनावटी पुतले (प्रतिपुरुष) को घुसाता हूँ। (वैसा करके) अरे! कोई नहीं है। 'कार्तिकेय' के लिए नमस्कार है। (घुस कर और देख कर) अरे! दो मनुष्य सोये हुए हैं। अच्छा, तो अपनी रक्षा के लिए दरवाजा खोलता हूँ। क्यों? घर के पुराना होने के कारण किवाड़ें मरमराती (शब्द करती) हैं? तो जब तक पानी ढूढता हूँ। पानी कहाँ होगा? (इधर-उधर देखकर पानी को लेकर किवाड़ पर डालता हुआ शङ्का पूर्वक) जमीन पर गिरता हुआ (यह पानी) शब्द पैदा न करे। अच्छा तो ऐसा करूँ। (पीठ के सहारे किवाड़ उतार कर) अच्छा, तो ऐसा (करूँ)। अब परीक्षा करूँगा कि यह दोनों छल से (बनावटी रूप से) सो रहे हैं अथवा वास्तव में सोये हुए हैं। (डरा कर और परीक्षा करके) अरे ये दोनो सचमुच सोये हुए हैं। क्यों कि—

टीका—प्रतिपुरुषम् = काष्ठादिविहितां पुरुषप्रतिकृतिम्। पुरुषद्वयम्= चारुदत्तविदूषकावित्यर्थः, सुप्तम् = शयनं गतम्। आत्मनः = स्वस्य रक्षार्थम् = त्राणार्थम्; द्वारम् = कपाटमित्यर्थः। विरौति = शब्दायते। लक्ष्येण=व्याजेन सुप्तम्= शयितम्। परमार्थेन=यथार्थेन सुप्तम् (इदम् = पुरुषद्वयमित्यर्थः)॥

निश्वासोऽस्य इति—

अन्वयः—अस्य, निःश्वासः, शङ्कितः, न, (अपि तु), सुविशदः, तुल्यान्तरम्, वर्तते, दृष्टिः, गाढनिमीलिता (अस्ति, सा) न, विकला, अभ्यन्तरे, न, चञ्चला, (वर्तते), गात्रम्, स्रस्तशरीरसंधिशिथिलम्, शय्याप्रमाणाधिकम् (च, वर्तते), यदि, लक्ष्यसुप्तम्, स्यात्, (तदा), अभिमुखम्, दीपम्, च, अपि, न, मर्षयेत्॥१८।

शब्दार्थः—अस्य=सोये हुए इन दोनों पुरुषों की, निःश्वासः=साँस, शङ्कितः = शङ्कायुक्त, न = नहीं है, (अपि तु = किन्तु) सुविशदः = स्पष्ट, सरल, तुल्यान्तरम्=समान अन्तर के साथ (चालवाली), वर्तते = है, दृष्टिः = आँख, गाढनिमीलिता = भली-भाँति बन्द, (अस्ति = है, सा=वह आँख), न विकला= न बेचैन, (और) अभ्यन्तरे=भीतर में, न चञ्चला=न तो चञ्चल, (वर्तते=है), गात्रम्=शरीर, स्रस्तशरीरसंधिशिथिलम् = जोड़ों के ढीली होने के कारण शिथिल, शय्याप्रमाणाधिकम्=खाट के आकार से अधिक, (वर्तते=है), यदि, लक्ष्यसुप्तम्=छल से सोये हुए, स्यात्=होते, (तदा=तब), अभिमुखम्=सामने, दीपम्=दीपक को, अपि=भी, न मर्षयेत्=न सहन करते ॥

अर्थः—सोये हुए इन दोनों (पुरुषों) की साँस शङ्का युक्त नहीं है (अर्थात् स्वाभाविक रीति से चल रही है)। (उनकी यह साँस) स्पष्ट तथा समान अन्तर वाली (अर्थात् एक रूप से चलने वाली) है। आँख भली भाँति बन्द है। वह (आँख) न तो बेचैन है और न तो (पुतली) ही चञ्चल है। देह के जोड़ों (सन्धियों) के ढीली होने के कारण शरीर शिथिल तथा खाट के आकार से अधिक है। (अर्थात् गाढ़ी नींद के कारण शरीर के अङ्ग खाट के नीचे भी लटक रहे हैं)। यदि (ये) छल से सोये होते तो सामने दीपक (के प्रकाश) को भी नहीं सहन करते (अर्थात् दीपक के प्रकाश से इनकी आँखें चौंधिया जाती) ॥ १८ ॥

टीका—अस्य = सुप्तपुरुषद्वयस्य ; निःश्वासः = प्राणवायुः इति अर्थः ; शङ्का सञ्जाता अस्य इति शङ्कितः = शङ्कायुक्तः ; नास्ति ; अपि तु ; सुविशदः= स्पष्टः, सरलः इत्यर्थः ; तुल्यम्=एकरूपम् अन्तरम् = व्यवधानम् यथा स्यात्तथा ; वर्तते = अस्ति ; दृष्टिः = नेत्रम् गाढम् = सुदृढम् निमीलिता = मुद्रिता ; अस्तीति शेषः ; सा न विकला विक्लवा ; तथा अभ्यन्तरे = नेत्राभ्यन्तरे ; न चञ्चला = न च चाञ्चल्ययुक्ता ; वर्तते इति शेषः ; गात्रम् = शरीरम् ; स्रस्ताः = शिथिलाः ये शरीरसन्धयः = अवयवग्रन्थयः तैः शिथिलम् = स्रस्तम् पतितम् वा ; शय्यायाः = खट्वायाः प्रमाणात् = परिमाणात् अधिकम् = अतिरिक्तम् ; वर्तते इति शेषः ; कृत्रिमनिद्रायाम् अङ्गानां शय्यातः विस्रंशनं न सम्भाव्यते, अतः ज्ञायते यथार्थसुप्तं पुरुषद्वयमितिभावः । यदि = चेत् ; लक्ष्येण=छलेन सुप्तम् = शयितम् स्यात् = भवेत्, तदा अभिमुखम् = समक्षम् ; दीपम् = दीपकम् ; चापि ; न मर्षयेत् = न सहेत ॥ १८ ॥

(समन्तादवलोक्य) अये ! कथं मृदङ्गः, अयं दर्दुरः, अयं पणवः, इयमपि वीणा, एते वंशाः, अमी पुस्तकाः, कथं नाट्याचार्यस्य गृहमिदम्। अथवा भवनप्रत्ययात्प्रविष्टोऽस्मि। तत्किं परमार्थदरिद्रोऽयम्, उत राजभयाच्चौरभयाद्वा भूमिष्ठं द्रव्यं धारयति। तन्ममापि नाम शर्विलकस्य भूमिष्ठं द्रव्यम्। भवतु, बीजं प्रक्षिपामि। (तथा कृत्वा) निक्षिप्तं बीजं न क्वचित्स्फारीभवति। अये, परमार्थदरिद्रोऽयम्। भवतु गच्छामि।

विदूषकः—(उत्स्वप्नायते) भो वअस्स ! संधी विअ दिस्सदि, चोरं विअ पेक्खामि, ता गेण्हदु भवं एदं सुवण्णभंडअं। [भो वयस्य ! संधिरिव दृश्यते, चौरमिव पश्यामि, तद्गृह्णातु भवानिदं सुवर्णभाण्डम्।]

टिप्पणी—इस श्लोक में सोये हुए पुरुषों का स्वाभाविक वर्णन किया गया है, अतः स्वभावोक्ति अलङ्कार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित। छन्द का लक्षण—

"सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्" ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—भवनप्रत्ययात् = घर के विश्वास से। भूमिष्ठम् = जमीन में गडा हुआ। बीजम्=बीज को। निक्षिप्तम् = फेंका गया ; स्फारीभवति = फैल रहा है। उत्स्वप्नायते = स्वप्न में बड़बड़ाता है। उपहसति = उपहास कर रहा है। व्यापादयामि = मार डालूँ, उत = अथवा, लघुत्वात् = हल्का होने से, कमजोर मन का होने के कारण। जर्जरस्नानशाटीनिबद्धम् = नहाने की फटी-पुरानी धोती मे बँधा हुआ, दीपप्रभया = दीपक के प्रकाश से, उद्दीपितम् = चमकने वाला। तुल्यावस्थम् = समान हालत वाले, कुलपुत्रम्=अच्छे कुल में पैदा हुए व्यक्ति को।

अर्थः—(चारों ओर देख कर) अरे ! क्या (यह) मृदङ्ग (ढोलक जैसा एक बाजा) है। यह दर्दुर (एक प्रकार का बाजा) है ? यह पणव है, यह वीणा है, ये बासुरियाँ हैं और ये पुस्तके हैं। क्या यह मकान नाच-गाना आदि सिखलानेवाले किसी नाट्याचार्य का है ? अथवा घर के विश्वास से घुस आया हूँ। (अर्थात् महल बड़ा है। अतः धन से भरा होगा। इस विश्वास से घुस आया हूँ।) तो क्या यह वास्तव में दरिद्र है ? अथवा राजा एवं चोरों के डर के मारे जमीन में गाड़ कर अपना धन रखता है। तो क्या मुझ 'शर्विलक' के लिए भी जमीन में छिपा हुआ धन (अप्राप्य) है ? अच्छा बीज फेंकता हूं। (बीज फेंक कर) फेंका गया बीज कहीं नहीं फैल रहा है। अरे यह तो सचमुच दरिद्र है। अच्छा, (यहाँ से) जाता हूँ।

शर्विलकः—किं नु खल्वयमिह मां प्रविष्टं ज्ञात्वा दरिद्रोऽस्मीत्युपहसति ? । तत्किं व्यापादयामि उत लघुत्वादुत्स्वप्नायते ? । (दृष्ट्वा) अये, जर्जरस्नानशाटीनिबद्धं दीपप्रभयोद्दीपितं सत्यमेवैतदलंकरणभाण्डम् । भवतु, गृह्णामि । अथवा न युक्तं तुल्यावस्थं कुलपुत्रजनं पीडयितुम, तद्गच्छामि ।

विदूषकः—भो वअस्स ! साविदोसि गोबम्हणकामाए, जइ एदं सुवण्ण-भंडअं ण गेण्हसि । [भो वयस्य ! शापितोऽसि गोब्राह्मणकाम्यया,

---

विदूषक—(स्वप्न में बड़बड़ाता है) हे मित्र ! सेंध सी दिखाई दे रही है । चोर सा देख रहा हूँ । अतः आप इस सोने के बक्स (स्वर्ण-भाण्ड) को लें ।

शर्विलक—क्या यह सचमुच मुझे इस घर में घुसा हुआ जान कर "मैं दरिद्र हूं" ऐसा (सूचित कर) मेरी हँसी उड़ा रहा है ? तो क्या मार डालूँ ? अथवा चञ्चल (या कमजोर मनका) होने के कारण स्वप्न देखता हुआ बड़बड़ा रहा है । (देख कर) अरे ! नहाने की फटी पुरानी धोती में बँधा हुआ, दीपक के प्रकाश से चमकनेवाला सचमुच ही यह आभूषणों का डिब्बा है । अच्छा, लेता हूँ । अथवा अपनी ही तरह (निर्धन) हालत वाले अच्छे कुल में पैदा हुए व्यक्ति को दुःख देना ठीक नहीं है । तो जाता हूँ ।

टीका—भवनस्य=विशालगृहस्य प्रत्ययात् = विश्वासात् ; भवनमिदं विशालम्, अतोऽत्र धनमपि अधिकं भविष्यति इति विश्वासादिति भावः । भूमिष्ठम्=भूमौ निखातम् । बीजम्=अभिमन्त्रितम् बीजविशेषम् । एतादृशं बीजं भूमौ क्षिप्तं बहुलीभवतीति प्रसिद्धिः । निक्षिप्तम् = प्रक्षिप्तम् ; स्फारीभवति = बहुलीभवति । उत्स्वप्नायते = स्वप्ने जल्पति । उपहसति=उपहासं करोति, मिथ्यासुवर्णभाण्डकथनेनेति शेषः । व्यापादयामि=मारयामि; उत=अथवा; लघुत्वात् =क्षुद्रत्वात्, मनसः दौर्बल्यादित्यर्थः । जर्जरा=जीर्णा या स्नानशाटी=स्नानवस्त्र-मित्यर्थः तया निबद्धम्=बद्धम् ; दीपस्य=दीपकस्य प्रभया=कान्त्या. उद्दीपितम्= प्रकाशितम् । तुल्या=समाना निर्धनरूपा इत्यर्थः अवस्था=परिस्थितिः यस्य तम्, कुलपुत्रम्=सत्कुले उत्पन्नम् जनमिति भावः ॥

टिप्पणी—बीजम्=वि + √जन् + ड, उपसर्गस्य दीर्घः बवयोरभेदः ॥

यद्येतत्सु-वर्णभाण्डं न गृह्णासि ।]

शर्विलकः--अनतिक्रमणीया भगवती गोकाम्या ब्राह्मणकाम्या च तद्गृह्णामि। अथवा ज्वलति प्रदीपः । अस्ति च मया प्रदीपनिर्वापणार्थमाग्नेयः कीटो धार्यते। तं तावत्प्रवेशयामि । तस्यायं देशकालः । एष मुक्तो मया कीटो यात्वेवास्य दीपस्योपरि मण्डलैर्विचित्रैर्विचरितुम्। एष पक्षद्वयानिलेन निर्वापितो भद्रपीठेन। धिक्कृतमन्धकारम् । अथवा मयाप्यस्मद्ब्राह्मणकुले न धिक्कृतमन्धकारम् ? । अहं हि चतुर्वेदविदोऽप्रतिग्राहकस्य पुत्रः शर्विलको नाम ब्राह्मणो गणिकामदनिकार्थमकार्यमनुतिष्ठामि । इदानीं करोमि ब्राह्मणस्य प्रणयम् । (इति जिघृक्षति)

शब्दार्थ :--गोब्राह्मणकाम्यया=गो और ब्राह्मण की अभिलाषा के द्वारा, शापितः=सौगन्ध दिलाये गये। अनतिक्रमणीया=अनुल्लङ्घनीय, जिसका उल्लङ्घन न किया जा सके, ऐसी । प्रदीपनिर्वापणार्थम्=दीपक बुझाने के लिये, आग्नेयः= अग्नि सम्बन्धी अर्थात् आग को बुझाने वाला । पक्षद्वयानिलेन=दोनों पंखों की हवा से, निर्वापितः=बुझा दिया गया । चतुर्वेदविदः=चारों वेदों के जानने वाले, अप्रतिग्राहकस्य=दान न लेने वाले का, अकार्यम् = कुकृत्य को। जिघृक्षति=लेना चाहता है । विक्रीतपण्यः=सामान बेंच देने वाले।

अर्थः—विदूषक– हे मित्र गाय और ब्राह्मण की अभिलाषा के द्वारा तुम्हें शपथ दिलाता हूँ (अर्थात् तुम्हें गाय और ब्राह्मण की सौगन्ध है), यदि तुम आभूषण के इस डिब्बे को नहीं लेते हो ।

शर्विलक—भगवती गाय और ब्राह्मण की अभिलाषा उल्लंघन करने लायक नहीं होती (अर्थात् गाय और ब्राह्मण की सौगन्ध टालने लायक नहीं होती, तो ले लेता हूँ । किन्तु दीपक जल रहा है। दीपक बुझाने के लिए मैं आग का कीड़ा रखता हूं । तब तक उसको छोड़ता हूँ । उसको छोड़ने के लिए यही (उचित) समय और स्थान है । मेरे द्वारा छोड़ा गया यह कीड़ा इस दीपक के ऊपर विचित्र (रूप) से मडराने के लिये उड़े । 'भद्रपीठ' (कीड़े) ने अपने पंखो की हवा से इस (दीपक) को बुझा दिया । हाय ! अँधेरा कर दिया, अथवा, हाय ! मैंने भी अपने ब्राह्मण कुल में अँधेरा नहीं कर दिया ? (अर्थात् कर दिया) । मैं चारों वेदों के जानने वाले तथा दान न लेने वाले का पुत्र 'शर्विलक' नाम का ब्राह्मण वेश्या मदनिका के लिए अनुचित कार्य कर रहा हूं । अब ब्राह्मण का प्रणय करता हूँ । (अर्थात् ब्राह्मण विदूषक की प्रार्थना स्वीकार करता हूँ) । (ऐसा कह कर लेना चाहता है) ।

विदूषकः—भो वअस्स ! सीदलो दे अग्गहत्थो। [भो वयस्य ! शीतलस्तेऽग्रहस्तः ।]

शर्विलकः—धिक्प्रमादः। सलिलसंपर्काच्छीतलो मेऽग्रहस्तः। भवतु, कक्षयोर्हस्तं प्रक्षिपामि। (नाट्येन सव्यहस्तमुष्णीकृत्य गृह्णाति)

विदूषकः—गहिदं। [गृहीतम् ।]

शर्विलकः—अनतिक्रमणीयोऽयं ब्राह्मणप्रणयः, तद्गृहीतम्।

विदूषकः—दाणिं विक्किणिदपण्णो विअ वाणिओ, अहं सुहं सुविस्सं। [इदानीं विक्रीतपण्य इव वणिक्, अहं सुखं स्वप्स्यामि ।]

शर्विलकः—महाब्राह्मण ! स्वपिहि वर्षशतम्। कष्टमेवं मदनिकागणिकार्थे ब्राह्मणकुलं तमसि पातितम्, अथवा आत्मा पातितः ?।

विदूषक—हे मित्र ! तुम्हारी अँगुलियाँ ठण्डी हैं।

शर्विलक—दुःख है। बड़ी असावधानी हो गयी। जल के छूने से मेरी अँगुलियाँ ठण्डी हो गई हैं। अच्छा, अँगुलियों को काँख के भीतर रखता हूँ (अर्थात् रख कर गरम करता हूं)। (अभिनयपूर्वक दाहिने हाथ को गर्म करके सोने के जेवरों के डिब्बे को लेता है)।

विदूषक—ले लिया ?

शर्विलक—ब्राह्मण का आग्रह (हठ के साथ कहना) टालने लायक नहीं है। इसलिए ले लिया।

विदूषक—अब मैं समान बेंच कर खाली हुए बनिये की भाँति सुख के साथ सोऊँगा।

शर्विलक—महाब्राह्मण ! सौ वर्ष सोते रहो। अफसोस है कि 'मदनिका' वेश्या के लिये (मैंने अपने पिता आदि के गोत्रवाले) ब्राह्मण कुल को अन्धकार में डाल दिया। अथवा अपने आपको (अन्धकार में अथवा नीचे) गिरा दिया ?

टीका—गोब्रह्मणकाम्यया—गवाम् = धेनूनाम् ब्राह्मणानाञ्च = द्विजानाञ्च काम्यया=अभिलाषया, शापितः=सपथं कारितः, मया इति शेषः। अनतिक्रमणीया= अनुल्लङ्घनीया। प्रदीपस्य=दीपकस्य निर्वापणार्थम्=शान्त्यर्थम्, आग्नेयः=अग्नि-सम्बन्धी। पक्षद्वयानिलेन=पक्षद्वयवायुना, निर्वापितः=शान्तिं प्रापितः। चतुर्वेद-विदः=चतुर्वेदज्ञस्य, अप्रतिग्राहकस्य = परदानाग्राहिणः, अकार्यम्=गर्हितं कर्म। जिघृक्षति=ग्रहीतुमिच्छति। अग्रश्चासौ हस्तश्च अग्रहस्तः=कराग्रभागः। विक्रीतम्= मूल्येन। दत्तम् पण्यम्=विक्रेयवस्तु येन सः॥

धिगस्तु खलु दारिद्र्यमनिर्वेदितपौरुषम्।
यदेतद्गर्हितं कर्म निन्दामि च करोमि च ॥१६॥

तद्यावन्मदनिकाया निष्क्रयणार्थं वसन्तसेनागृहं गच्छामि।

धिगस्तु इति

अन्वयः—अनिर्वेदितपौरुषम्, दारिद्र्यम्, खलु, धिक्, अस्तु, यत्, एतत्, गर्हितम्, कर्म, निन्दामि, च, करोमि च ॥१६।

शब्दार्थः—अनिर्वेदितपौरुषम्=जिसमें आदमी का पुरुषार्थ कुछ भी नहीं कर पाता अथवा जिसमें मनुष्य का पुरुषार्थ खिन्न नहीं होता, ऐसी, दारिद्र्यम्=गरीबी को, खलु=निश्चय ही, धिक्=धिक्कार, अस्तु=हो (है), यत्=जिससे, एतत्=यह, गर्हितम्=निन्दनीय, कर्म=काम को, निन्दामि=अनुचित बतला रहा हूँ, च = और, करोमि च=कर भी रहा हूँ ॥

अर्थः—जिसमें आदमी का पुरुषार्थ कुछ भी नहीं कर पाता अथवा जिसमें (खराब काम करने पर भी) मनुष्य का पुरुषार्थ खिन्न नहीं होता, ऐसी गरीबी को धिक्कार है। जिसके कारण इस खराब काम (चोरी) की निन्दा कर रहा हूँ और (फिर) भी कर रहा हूँ। (अर्थात् गरीबी कठिन होती है। इसी के कारण मैं चोरी को बुरा काम समझते हुए भी कर रहा हूँ) ॥ १६ ॥

टीका—अनिर्वेदितपौरुषम्—निर्वेदः सञ्जातः अस्य इति निर्वेदितं न निर्वेदितम् अनिर्वेदितम्=अखिन्नम् वा अनिश्चितम् अगणितमित्यर्थः ('प्रकरण-निश्चयो निर्वेदः' इति पृथ्वीधरः) पौरुषम्=पुरुषस्य भावः कर्म वा यस्मिन् तत्; दारिद्र्यम्=निर्धनत्वं; खलु=निश्चितम्; धिक्; अस्तु=वर्तताम्। यत्=यस्मात्, अहमितिशेषः, एतत्=प्रारभ्यमाणम्; गर्हितम्=निन्दितम्, कर्म = कार्यम् तस्करता-मित्यर्थः, निन्दामि च=निर्भर्त्सयामि च, करोमि च=विवशतया सम्पादयामि च ॥१६॥

टिप्पणी—इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार एवं अनुष्टुप् छन्द है। छन्द का लक्षण—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—निष्क्रयणार्थम् = दासीपन से छुड़ाने के लिए। पदशब्दः = पैरों की आवाज, पैरों की आहट।

अर्थः—तो अब मैं (धन देकर) 'मदनिका' को (दासीपन से) छुड़ाने के लिए 'वसन्तसेना' के घर को जाता हूँ।

(परिक्रम्यावलोक्य च) अये, पदशब्द इव । मा नाम रक्षिणः । भवतु, स्तम्भीभूत्वा तिष्ठामि । अथवा ममापि नाम शर्विलकस्य रक्षिणः । योऽहं

मार्जारः क्रमणे मृगः प्रसरणे श्येनो ग्रहालुञ्चने
सुप्तासुप्तमनुष्यवीर्यतुलने श्वा सर्पणे पन्नगः
माया रूपशरीरवेशरचने वाग्देशभाषान्तरे
दीपो रात्रिषु संकटेषु डुडुमो वाजी स्थले नौर्जले ॥२०॥

(घूमकर और देखकर) अरे ! पैरों की आहट-सी है । पहरेदार न हो ? अच्छा, खम्भा की खाँति (निश्चल) होकर खड़ा हो जाता हूं । अथवा मुझ 'शर्विलक' के लिए भी पहरेदार (डर की चीज हैं) !

टीका—निष्क्रयणार्थम् = दासीभावात् मोचनार्थमित्यर्थः । पदस्य = चरणस्य शब्दः = ध्वनिः ॥

मार्जारः क्रमणे इति—

अन्वयः—('यः अहम्' अनेन गद्यस्थेन अन्वयः), क्रमणे, मार्जारः ; प्रसरणे, मृगः; ग्रहालुञ्चने, श्येनः; सुप्तासुप्तमनुष्यवीर्यतुलने, श्वा; सर्पणे, पन्नगः; रूपशरीरवेशरचने, माया; देशभाषान्तरे, वाक्; रात्रिषु, दीपः; सङ्कटेषु, डुडुमः; स्थले, वाजी; जले, नौ (अस्मि) ॥ २० ॥

शब्दार्थः—(यः = जो, अहम् = मैं), क्रमणे = उछलने में, मार्जारः = बिलाव; प्रसरणे = जल्द भागने में, मृगः = हरिण; ग्रहालुञ्चने = झपटकर पकड़ने और छीनने में, श्येनः = बाज; सुप्तासुप्तमनुष्यवीर्यतुलने = सोये हुए एवं बिना सोये हुए मनुष्य का बल जाँचने में, श्वा = कुत्ता; सर्पणे = सरकने में, पन्नगः = साँप; रूपशरीरवेशरचने = आकार, शरीर एवं वेश बनाने में, माया = इन्द्रजाल; देशभाषान्तरे = दूसरे देश की भाषा बोलने में, वाक् = सरस्वती; रात्रिषु = रातों में, दीपः = दीपक; सङ्कटेषु = सङ्कटों में, डुडुमः = भेड़िया; स्थले = जमीन पर, वाजी = घोड़ा; जले = जल में, नौ = नैया (अस्मि = हूँ) ॥

अर्थः—झपटने अथवा उछलने में बिलाव, जल्द भाग निकलने में हरिण, झपट कर पकड़ने और छीनने में बाज, सोये हुए एवं बिना सोये हुए मनुष्य का बल जाचने में कुत्ता, सरकने में साँप, (विचित्र-विचित्र) आकार, शरीर एवं वेश बनाने में माया, अनेक देशों की भाषा बोलने में (साक्षात्) सरस्वती, रातों में दीपक, सङ्कट के समय भेड़िया, जमीन पर घोड़ा और जल में नौका (की तरह हूँ) (अर्थात् किसी भी हालत में मुझे कोई पकड़ नहीं सकता) ॥ २० ॥

अपि च,—

भुजग इव गतौ गिरिः स्थिरत्वे पतगपतेः परिसर्पणे च तुल्यः।
शश इव भुवनावलोकनेऽहं वृक इव च ग्रहणे बले च सिंहः ॥२१॥

टीका—'यः अहम् = शर्विलकः' क्रमणे = उच्छलने ; मार्जारः = विडालः ('ओतुर्विडालमार्जार' इत्यमरः) ; प्रसरणे = उत्प्लुत्य धावने ; मृगः = हरिणः ; ग्रहश्च = ग्रहणञ्च आलुञ्चनञ्च = आच्छिद्य हरणञ्च इति ग्रहालुञ्चनम् तस्मिन् ; श्येनः = पक्षिविशेषः ; सुप्तस्य = कृतशयनस्य असुप्तस्य = जागरितस्य च मनुष्यस्य=नरस्य यत् वीर्यम् = सामर्थ्यम् तस्य तुलने = परिज्ञाने निर्धारणे इत्यर्थः ; श्वा = कुक्कुरः ; सर्पणे = भूतलपरिसर्पणे ; पन्नगः=सर्पः ; रूपस्य = आकारस्य शरीरस्य = विभिन्नजीवानां गात्रस्य वेशस्य = अलङ्करादियोजनायाः च रचने = निर्माणे ; माया = इन्द्रजालम् ; अन्या = इतरा देशभाषा = प्रदेशवाणी इति देशभाषान्तरम् तस्मिन् ; अन्यदेशभाषाया परिज्ञाने, परिभाषणे च, वाक् = साक्षात् सरस्वती ; रात्रिषु = रजनीषु ; दीपः = दीपकः ; सङ्कटेषु = विपत्तिषु ; डुडुमः = वृकः ; स्थले = भूमौ ; वाजी = अश्वः ; जले = सलिले ; नौ=तरणिः ; अस्मि इति शेषः। एतादृशस्य मम शर्विलकस्य रक्षिणः किं करिष्यन्ति ? ॥२०॥

टिप्पणी—क्रमणे = पग रखने में, आगे बढ़ने में, √क्रम+ल्युट्। प्रसरणे = वेग से जाने में, प्र + √सृ + ल्युट् ॥

यहाँ पर एक ही शर्विलक में विडाल आदि का अभेद रूप से आरोप करने के कारण मालारूपक अलङ्कार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित। छन्द का लक्षण—

"सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्" ॥२०॥

भुजग इव इति—

अन्वयः—अहम्, गतौ, भुजगः, इव, स्थिरत्वे, गिरिः, परिसर्पणे, पतगपतेः, तुल्यः, भुवनावलोकने, शशः, इव, ग्रहणे, वृकः, इव, बले, च, सिंहः, (अस्मि) ॥२१॥

शब्दार्थः—अहम् = मैं, गतौ = चाल में, भुजगः = सर्प, इव = जैसा, स्थिरत्वे = अडिग होने में, गिरिः = पर्वत, परिसर्पणे = जल्दी चलने में, पतगपतेः= पक्षिराज गरुड़ के, तुल्यः = समान, भुवनावलोकने = संसार को देखने में, शशः =

(प्रविश्य)

रदनिका—हद्धी हद्धी, बाहिरदुआरसालाए पसुत्तो वड्ढमाणओ। सोवि एत्थ ण दीसइ। भोदु। अज्जमित्तेअं सद्दावेमि। [हा धिक् हा धिक्, बहिर्द्वारशालायां प्रसुप्तो वर्धमानकः। सोऽप्यत्र न दृश्यते। भवतु, आर्यमैत्रेयमाह्वयामि।] (इति परिक्रामति)

शर्विलकः—(रदनिकां हन्तुमिच्छति, निरूप्य) कथं स्त्री। भवतु, गच्छामि। (इति निष्क्रान्तः)

खरगोश, इव = जैसा, ग्रहणे = पकड़ने में, वृकः = भेड़िया, इव = जैसा, बले = बल में, च = भी, सिंहः = सिंह, (अस्मि = हूँ) ॥

अर्थः—मैं चाल में साँप के समान, अडिग होने में (स्थिरता में) पर्वत एवं जल्दी चलने में पक्षियों के राजा गरुड़ के तुल्य, संसार को देखने में खरगोश जैसा पकड़ने में भेड़िया की भाँति एवं बल में सिंह के तुल्य हूँ ॥ २१ ॥

टीका—अहम्=शर्विलकः; गर्वोक्तिः इयम्; गतौ=गमने; भुजगः=सर्पः इव=यथा; स्थिरत्वे=दृढतायाम्; गिरिः=पर्वतः; परिसर्पणे=वेगेन गमने च; पतगपतेः= पक्षिराजस्य गरुडस्येत्यर्थः; तुल्यः=सदृशः; भुवनस्य = संसारस्य अवलोकने=दर्शने; शशः=शशकः इव; ग्रहणे = ग्रहे; वृकः इव; बले=वीर्ये च, सिंहः = मृगराजः; अस्मीति शेषः ॥२१॥

टिप्पणी—यहाँ पर एक ही उपमेय शर्विलक की बहुत से उपमानों के साथ समानता बतलाने के कारण मालोपमा अलङ्कार है। इस श्लोक के छन्द का नाम है पुष्पिताग्रा,-लक्षण—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ॥२१॥

(प्रवेश करके)

अर्थः—**रदनिका**—हाय ! हाय !! वर्धमानक बाहर के दरवाजे वाली कोठरी में (बाहर बैठक में) सोया हुआ था। वह भी यहाँ नहीं दिखाई दे रहा है। अच्छा, आर्य 'मैत्रेय' को पुकारती हूँ।

(ऐसा कह कर घूमती है)

शर्विलक—(रदनिका को मारना चाहता है। देखकर) क्या स्त्री है ? अच्छा तो जाता हूँ। (ऐसा कहकर निकल जाता है)

रदनिका—(गत्वा, सत्रासम्) हद्धी हद्धी, अम्हाणं गेहे सन्धिं कप्पिअ चोरो णिक्कमति । भोदु, मित्तेअं गदुअ पबोधेमि । (विदूषकमुपगम्य) अज्जमित्तेअ ! उट्ठेहि उट्ठेहि । अम्हाणं गेहे संधि कप्पिअ चोरो णिक्कंतो । [हा धिक् हा धिक्, अस्माकं गृहे संधिं कल्पयित्वा चौरो निष्क्रामति । भवतु मैत्रेयं गत्वा प्रबोधयामि । आर्यमैत्रेय ! उत्तिष्ठोत्तिष्ठ । अस्माकं गेहे संधिं कल्पयित्वा चौरो निष्क्रान्तः ।]

विदूषकः—(उत्थाय) आः दासीए धीए ! किं भणासि – 'चोरं कप्पिअ संधी णिक्कंतो' ? । [आः दास्याःपुत्रिके ! किं भणसि 'चौरं कल्पयित्वा संधिर्निष्क्रातः ?' ।]

रदनिका—हदास ! अलं परिहासेण । किं ण पेक्खसि एणं ? । [हताश ! अलं परिहासेन । किं न प्रेक्षस एनम् ? ।]

विदूषकः—आः दासीए धीए ! किं भणासि—'दुदिअं विअ दुआरअं उग्घाडिदं' त्ति ? । भो वअस्स चारुदत्त ! उट्ठेहि उट्ठेहि । अम्हाणं गेहे संधि दइअ चोरो णिक्कंतो । [आ दास्याःपुत्रिके ! किं भणसि—'द्वितीयमिव द्वारमुद्घाटितम्' इति ? । भो वयस्य चारुदत्त ! उत्तिष्ठोत्तिष्ठ, अस्माकं गेहे संधिं दत्त्वा चौरो निष्क्रान्तः ।]

चारुदत्तः - भवतु, भोः ! अलं परिहासेन ।

शब्दार्थः—कल्पयित्वा=करके, निष्क्रामति=निकल रहा है, भाग रहा है । प्रबोधयामि=जगाती हूँ । उद्देशे=स्थान में । दर्शनीयः=देखने लायक ॥

अर्थः—**रदनिका**—(जाकर डर के साथ) हाय ! हाय !! हमारे घर में सेंध लगाकर चोर निकल रहा ह । अच्छा जाकर 'मैत्रेय' को जगाती हूँ । (विदूषक के पास जाकर) आर्य मैत्रेय ! उठिए, उठिए । हमारे घर में सेंध लगाकर चोर निकल गया !

विदूषक—(उठकर) अरी दासी की लड़की ! क्या कह रही हो—चोर को फोड़ कर सेंध निकल गई ?'

रदनिका—अरे शरारती ! हँसी मत करो । क्या इसे नहीं देखते हो ?

विदूषक—अरी दासी की लड़की ! क्या कह रही हो कि 'दूसरा दरवाजा सा खोल दिया है ।' हे मित्र चारुदत्त ! उठो, उठो । हमारे घर में सेंध लगाकर चोर निकल गया ।

चारुदत्त—अच्छा, अरे हँसी मत करो ।

विदूषकः—भो ! ण परिहासो । पेक्खदु भवं । [भोः ! न परिहासः, प्रेक्षतां भवान् ।]

चारुदत्तः—कस्मिन्नुद्देशे ? ।

विदूषकः—भो ! एसो । [भोः ! एषः ।]

चारुदत्तः—(विलोक्य) अहो, दर्शनीयोऽयं संधिः, —

उपरितलनिपातितेष्टकोऽयं
शिरसि तनुर्विपुलश्च मध्यदेशे ।
असदृशजनसंप्रयोगभीरो-
र्हृदयमिव स्फुटितं महागृहस्य ॥२२॥

कथमस्मिन्नपि कर्मणि कुशलता ? ।

विदूषक—अजी, हँसी नहीं है । आप देख लीजिए ।

चारुदत्त—किस जगह पर ?

विदूषक—अरे, यह है ।

चारुदत्त—(देख कर) अहा ! यह सेंध देखने लायक है ।

टीका—कल्पयित्वा=कृत्वा, निर्माय इत्यर्थः; निष्क्रामति=निर्गच्छति । प्रबोधयामि=जागरितं करोमि । उद्देशे=स्थाने । दर्शनीयः=अवलोकनीयः, **सुन्दरः** इति यावत् ॥

उपरितलेति—

अन्वयः—उपरितलनिपातितेष्टकः, शिरसि, तनुः, मध्यदेशे, विपुलः, च, अयम्, (सन्धिः), असदृशजनसम्प्रयोगभीरोः, महागृहस्य, स्फुटितम्, हृदयम्, इव, (दृश्यते) ॥२२॥

शब्दार्थः—उपरितलनिपातितेष्टकः = जिसमें ऊपर के हिस्से से खींचकर ईंटें हटाई गयी हैं, ऐसी, शिरसि = शिर में, प्रारम्भ में, तनुः=सँकरी, मध्यदेशे = बीच के स्थान में, विपुलः = चौड़ी, विशाल, अयम्=यह (सेंध), असदृशजन-सम्प्रयोगभीरोः=अनुचित व्यक्ति, चोर आदि के घुसने से डरे हुए, महागृहस्य= विशाल घर के, स्फुटितम्=फटे हुए, हृदयमिव=कलेजा के समान, (दृश्यते= दिखलायी पड़ती है) ॥

अर्थः—जिसमें ऊपर के हिस्से से खींचकर ईंटे हटाई गई हैं, जो ऊपरी हिस्से (प्रारंभ) में सँकरी और बीच के स्थान में चौड़ी है (अर्थात् जो घड़े के

विदूषकः—भो वअस्स ! अअं संधी दुवेहिं जेव दिएणो भवे—आदु आगंतुएण, सिक्खिदुकामेण वा ? अएणधा इध उज्जइणीए को अम्हाणं घरविहवं ण जाणादि ? । [भो वयस्य ! एष संधिर्द्वाभ्यामेव दत्तो भवेत्—अथवाऽऽगन्तुकेन, शिक्षितुकामेन वा । अन्यथात्रोज्जयिन्यां कोऽस्माकं गृहविभवं न जानाति ? ।]

चारुदत्तः—

वैदेश्येन कृतो भवेन्मम गृहे व्यापारमभ्यस्यता
नासौ वेदितवान् धनैर्विरहितं विस्रब्धमुप्तं जनम् ।
दृष्ट्वा प्राङ्महतीं निवासरचनामस्माकमाशान्वितः
सन्धिच्छेदनखिन्न एव सुचिरं पश्चान्निराशो गतः ॥२३॥

आकार वाली है) ऐसी यह सेंध, अयोग्य (चोर) मनुष्य के घुसने से डरे हुए (इस) विशाल घर के फटे हुए कलेजा के समान दिखाई पड़ती है ।

टीका —उपरितलात् = उद्ध्र्वभागात् निपातिताः = आकृष्टाः इष्टकाः यस्य तादृशः ; शिरसि = मुखभागे इत्यर्थः ; तनुः = क्षीणः ; मध्यदेशे = मध्यभागे ; विपुलः = विस्तीर्णः ; अयम् = सन्धिः ; असदृशजनस्य = अयोग्यजनस्य चौरादेः इत्यर्थः, सम्प्रयोगात् = प्रवेशात् भीरोः = भीतस्य ; महागृहस्य = विशालप्रासादस्य ; स्फुटितम् = विदीर्णम् ; हृदयमिव = वक्षःस्थलमिव ; दृश्यते इतिशेषः ॥२२॥

टिप्पणी—यहाँ पर अचेतन घर में की गयी सेंध की फटे हुए वक्षःस्थल के रूप में कल्पना करने के कारण उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । प्रयुक्त छन्द का नाम है -पुष्पिताग्रा । छन्द का लक्षण पीछे श्लोक २१ की टिप्पणी में देखिये ॥२२॥

अर्थ : —क्या इस काम में भी कुशलता (की आवश्यक है) ?

विदूषक—हे मित्र ! यह सेंध दो (तरह के आदमियों) के द्वारा ही लगायी हुई हो सकती है । या तो यहाँ नये आये हुए परदेशी के द्वारा, अथवा चोरी सीखने वाले किसी मनुष्य के द्वारा । नहीं तो, इस 'उज्जयिनी' नगरी में कौन हमारे घर के धन को नहीं जानता है ? (अर्थात् सभी जानते हैं कि 'चारुदत्त' का घर गरीब है) ।

वैदेश्येन कृतो भवेदिति —

अन्वयः—वैदेश्येन, व्यापारम्, अभ्यस्यता, मम, गृहे, (सन्धिः) कृतः, भवेत्, असौ, धनैः, विरहितम्, विश्रब्धसुप्तम्, जनम्, न, वेदितवान्, प्राक्, महतीम्, अस्माकम्, निवासरचनाम्, दृष्ट्वाऽऽशान्वितः, सुचिरम्, सन्धिच्छेदनखिन्नः, पश्चात्, निराशः, एव, गतः ॥२३॥

शब्दार्थः - वैदेश्येन = परदेशी के द्वारा, व्यापारम् = व्यापार को, चोरी को, अभ्यस्यता = सीखने वाले के द्वारा, मम = मेरे, गृहे = घर में (सन्धिः = सेंध), कृतः = की गयी, भवेत् = हो, (किन्तु), असौ = यह चोरी करने वाला, धनैः = धनों से, विरहितम् = हीन, विश्रब्धसुप्तम् = निश्चिन्त सोये हुए, जनम् = जन को, हम दोनों को, न = नहीं, वेदितवान् = जान पाया, प्राक् = पहले, महतीम् = भारी, निवासरचनाम् = घर की बनावट को, दृष्ट्वा = देखकर, आशान्वितः = आशावान् होकर, सुचिरम् = देर तक, सन्धिच्छेदनखिन्नः= सेंध फोड़ने के कारण परेशान, पश्चात् = बाद में, निराशः = निराश, एव = ही, गतः = चला गया।

अर्थः—चारुदत्त—चाहे नये नये आये हुए किसी परदेशी ने अथवा चोरी सीखने वाले किसी पुरुष ने मेरे घर में यह सेंध लगायी हो। (परन्तु) वह, गरीब अतः निश्चिन्त सोये हुए जन (हम दोनों) को नहीं जान पाया (अर्थात् हमारी हालत उसे नहीं मालूम थी)। हमारे इस मकान की भारी बनावट को देखकर पहले वह आशा करके देर तक सेंध फोड़ने के कारण परेशान हुआ (और) बाद में निराश ही चला गया (अर्थात् बेचारा कितनी आशा से मेहनत करके घुसा, परन्तु एक कौड़ी भी हाथ नहीं लगी) ॥ २३ ॥

टीका—विदेशे = परदेशे भवः = उत्पन्नः वैदेश्यः तेन ; गृहस्य निर्धनतायाः अपरिचितेन इति यावत् ; व्यापारम् = सन्धिविच्छेदनरूपम् कार्यम् ; अभ्यस्यता = शिक्षमाणेन वा ; मम = चारुदत्तस्य ; गृहे = भवने ; सन्धिः कृतः= कल्पितः ; भवेत् = स्यात् ; परञ्च असौ = सन्धिविच्छेदकर्ता ; धनैः = द्रविणैः ; विरहितम् = विहीनम् ; अत एव, विश्रब्धम् = निशङ्कम् यथा स्यात् तथा सुप्तम् = शयानम् ; जनम् = पुरुषम् ; मामिति यवत् ; न वेदितवान् = न ज्ञातवान् ; प्राक् = पूर्वम् ; महतीम् = विशालाम् ; अस्माकम् निवासस्य = गृहस्य रचनाम् = निर्मितिम् ; दृष्ट्वा = विलोक्य ; आशया अन्वितः आशान्वितः = आशायुक्तः सन् ; सुचिरम् = बहुकालम् ; सन्धिच्छेदेनेन = सन्धिखननेन खिन्नः = श्रान्तः ; भूत्वा पश्चात् = अन्ते गृहावलोकनानन्तरमित्यर्थः ; निराशः = छिन्नाशः एव ; गतः = प्रयातः ॥ २३ ॥

टिप्पणी—वैदेश्यः = विदेश में उत्पन्न, विदेशी, विदेश + ष्यञ् वेदितवान्—'विदितवान्' रूप शुद्ध है। अथवा 'विद्' धातु से स्वार्थिक णिच करके यह रूप होता है।

ततः सुहृद्भ्यः किमसौ कथयिष्यति तपस्वी—'सार्थवाहसुतस्य गृहं प्रविश्य न किंचिन्मया समासादितम्' इति ? ।

विदूषकः—भो ! कधं तं जेव चोरहदअं अणुसोचसि ? । तेण चिंतिदं महंतं एदं गेहं । इदो रअणभंडअं सुअण्णभंडअं वा णिक्कामिस्सं । (स्मृत्वा, सविषादमात्मगतम्) कहिं तं सुवण्णभंडअं । (पुनरनुस्मृत्य, प्रकाशम्) भो वअस्स ! तुमं सव्वकाल भणासि—'मुक्खो मित्तेअओ, अपंडिदो मित्तेअओ' त्ति । सुट्ठु मए किदं तं सुवण्णभंडअं भवदो हत्थे समप्पअंतेण । अण्णधा दासीए पुत्तेण अवहिदं भवे । [भोः ! कथं तमेव चोरहतकमनुशोचसि ? । तेन चिन्तितं महदेतद्गृहम् । इतो रत्नभाण्डं सुवर्णभाण्डं वा निष्क्रामयिष्यामि । कुत्र तत्सुवर्णभाण्डम् । भो वयस्य ! त्वं सर्वकालं भणसि—'मूर्खो मैत्रेयः, अपण्डितो मैत्रेयः' इति । सुष्ठु मया कृतं तत्सुवर्णभाण्डं भवतो हस्ते समर्पयता । अन्यथा दास्याःपुत्रेणापहृतं भवेत् ।]

इस श्लोक में पहले पाद के प्रति द्वितीय पाद का कारण के रूप में निर्देश करने के कारण कव्यलिङ्ग अलङ्कार है। प्रयुक्त छन्द का नाम है शार्दूल विक्रीडित । छन्द का लक्षण—

"अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च न नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा" ॥ २३ ॥

शब्दार्थः—ततः = खाली हाथ जाने से, तब, तपस्वी=बेचारा, समासादितम्=पाया गया। चौरहतकम्=दुष्ट चोर को। दिष्ट्या=भाग्य से । कृतार्थः=सन्तुष्ट, सफल । न्यासः=धरोहर । मोहम्=बेहोशी को, मूर्च्छा को ॥

अर्थ :—तब (खाली हाथ यहाँ से जाने पर) यह बेचारा (अपने) मित्रों से क्या कहेगा कि "सार्थवाह के पुत्र (चारुदत्त) के घर में घुस कर मैंने कुछ भी नहीं पाया ।'

विदूषक—अरे, (तुम) क्यों उस दुष्ट चोर का ही सोच कर रहे हो ? उसने सोचा होगा कि यह बड़ा घर है । इसमें से रत्नों का वक्स अथवा सोने के जेवरों का वक्स निकाल लूँगा। (याद करके दुःख के साथ अपने आप) वह सोने के जेवरों का डिब्बा कहाँ हैं ? (फिर याद करके, प्रकट रूप में) हे मित्र ! तुम हर समय यह कहते हो कि 'मैत्रेय मूर्ख है, मैत्रेय' बुद्धू है ' सोने के जेवरों के उस (अर्थात् वसन्त सेना के द्वारा दिये गये) डिब्बे को आपके हाथ में देकर के मैंने बड़ा अच्छा किया। नहीं तो दासा के लड़के (उस चोर) ने चुरा लिया होता ।

चारुदत्तः—अलं परिहासेन।

विदूषकः—भो! जह णाम अहं मुक्खो ता किं परिहासस्स वि देशआलं ण जाणामि?। [भोः! यथा नामाहं मूर्खस्तत्किं परिहासस्यापि देशकालं न जानामि?।]

चारुदत्तः—कस्यां वेलायाम्?।

विदूषकः—भो! जदा तुमं मए भणिदोसि—'शीदलो दे अग्गहत्थो'। [भोः! यदा त्वं मया भणितोऽसि—'शीतलस्तेऽग्रहस्तः'।]

चारुदत्तः—कदाचिदेवमपि स्यात्। (सर्वतो निरूप्य, सहर्षम्) वयस्य! दिष्ट्या ते प्रियं निवेदयामि।

विदूषकः—किं ण अवहिदं?। [किं नापहृतम्?।]

चारुदत्तः—हृतम्।

विदूषकः—तधा वि किं पिअं?। [तथापि किं प्रियम्?।]

चारुदत्तः—यदसौ कृतार्थो गतः।

विदूषकः—णासो खु सो। [न्यासः खलु सः।]

चारुदत्तः—कथं न्यासः?। (मोहमुपगतः)

चारुदत्त—हँसी मत करो।

विदूषक—अरे! यद्यपि मैं मूर्ख हूँ, तो क्या हँसी करने की जगह और समय भी नहीं जानता हूँ?

चारुदत्त—किस समय (अर्थात् किस समय तुमने दिया था)?

विदूषक—अरे! जिस समय मैंने आप से कहा था कि 'आपकी उँगलियाँ ठण्डी हैं।'

चारुदत्त—शायद ऐसा भी हुआ हो (चारों ओर देखकर खुशी के साथ मित्र! भाग्य से तुम्हें प्रिय (बात) सुनाता हूँ।

विदूषक—क्या (वह आभूषण का डिब्बा) चोरी नहीं गया?

चारुदत्त—(चोरी) चला गया।

विदूषक—तो क्या प्रिय है?

चारुदत्त—कि वह सफल होकर गया।

विदूषक—वह तो धरोहर था।

चारुदत्त—क्या धरोहर? (बेहोश हो गया)।

विदूषकः—समस्ससदु भवं। जइ णासो चोरेण अवहिदो तुमं किं मोहं उवगदो ?। [समाश्वसितु भवान्। यदि न्यासश्चौरेणापहृतस्त्वं किं मोहमुपगतः ?।]

चारुदत्तः–(समाश्वस्य) वयस्य !

कः श्रद्धास्यति भूतार्थं सर्वो मां तुलयिष्यति।
शङ्कनीया हि लोकेऽस्मिन्निष्प्रतापा दरिद्रता ॥२४॥

टीका– ततः=यतो रिक्तहस्तः एव गतः तस्मादिति भावः ; तपस्वी=वराकः ! ('तपस्वी तापसे चानुकम्प्ये त्रिष्वथ योषिति' इति मेदिनी); समासादितम्=लब्धम्। चौरश्चासौ हतकश्च चौरहतकः=दुष्टचौरः। दिष्टया=भाग्येन। कृतार्थः=सन्तुष्टः सफलः इति यावत्। न्यस्यते, न्यसनम् वा न्यासः=उपनिधिः, निक्षेपः। मोहम्=मूर्च्छाम् ॥

अर्थ:– विदूषक – आप धीरज रखें। यदि चोर ने धरोहर चुरा ली (तो) तुम क्यों बेहोश हो गये।

कः श्रद्धास्यति इति—

अन्वयः–कः, भूतार्थम्, श्रद्धास्यति, सर्वः, माम्, तुलयिष्यति, हि, अस्मिन्, लोके, निष्प्रतापा, दरिद्रता, शङ्कनीया, (भवति) ॥२४॥

शब्दार्थः—कः=कौन, भूतार्थम्=सच्ची बात को, यथार्थ को, श्रद्धास्यति=मानेगा, सर्वः=सब, माम्=मुझको, तुलयिष्यति=तोलेंगे, सन्देह करेंगे, हि=क्योंकि, अस्मिन्=इस, लोके=लोक में, निष्प्रतापा=तेजहीन, दरिद्रता=निर्धनता, शङ्कनीया=सन्देह के योग्य, (भवति=होती है) ॥

अर्थ:—चारुदत्त—(धीरज धारण करके) मित्र।

कौन सच्ची बात (सोने के गहनों का चोर के द्वारा चुराने) पर विश्वास करेगा ? सब मुझ पर ही सन्देह करेंगे। क्यों कि इस संसार में तेजहीन दरिद्रता सन्देह का कारण होता है। (अर्थात् लोग गरीब को ही दोषी ठहराते हैं)। हाय बड़ा दुःख है।

टीका—कः=जनः, भूतम्=यथार्थतया घटितम् अर्थम्=तथ्यम्, सुवर्णभाण्डं चौरेणापहृतमित्येवं रूपमिति भावः; श्रद्धास्यति=विश्वासं करिष्यति; सर्वः=निखिलः लोकः; माम्=दरिद्रमृचारुदत्तम्; तुलयिष्यति=अवज्ञास्यति। हि–यतः; अस्मिन्=एतस्मिन्; लोके=संसारे; निर्=नास्ति प्रतापः=तेजः पौरुषम् वा यस्याम् सा; दरिद्रता=निर्धनता; शङ्कनीया=शङ्कायोग्या; भवतीति शेषः। तद्दरिद्रचारुदत्तेनैव

भोः ! कष्टम् ,—

यदि तावत्कृतान्तेन प्रणायोऽर्थेषु मे कृतः ।
किमिदानीं नृशंसेन चारित्रमपि दूषितम् ? ॥२५ ॥

स्वकीये गृहे सुवर्णभाण्डं धृतं भवेत्, कथितञ्च चौरेणापहृतमिति लोकः **कथयिष्यति** इतिभावः ॥ २४ ॥

टिप्पणी—'दरिद्रता शङ्का के योग्य होती है' इस सामान्य वचन से 'अतः सभी मुझे तौलेंगे।' इस विशेष बात का समर्थन होने के कारण यहाँ **अर्थान्तरन्यास** अलङ्कार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—अनुष्टुप्। छन्द का **लक्षण—**

"श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः" ॥२४॥

यदि तावत्कृतान्तेन इति—

अन्वयः—यदि, तावत्, कृतान्तेन, मे, अर्थेषु, प्रणयः, कृतः, (तर्हि), नृशंसेन, इदानीम्, चारित्रम्, अपि, किम्, दूषितम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थः—यदि तावत् = यदि, कृतान्तेन = भाग्य के द्वारा, मे = मेरे, अर्थेषु = धन में, प्रणयः = प्रेम, कृतः = किया गया, (तर्हि = तो), नृशंसेन = (उस) निष्ठुर के द्वारा, इदानीम् = अब, चारित्रम् = चरित्र को, अपि = भी, किम् = क्यों, दूषितम् = गन्दा किया गया ? ॥

अर्थः—यदि भाग्य ने मेरा धन छीन लिया तो क्यों उस निष्ठुर ने अब मेरे चरित्र पर भी धब्बा लगा दिया ? ॥ २५ ॥

टीका—यदि तावत्, कृतान्तेन = दैवेन ('कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवाकुशलकर्मसु' इत्यमरः) ; मे = मम चारुदत्तस्य ; अर्थेषु = धनेषु ; प्रणयः = प्रीतिः ; कृतः = विहितः ; तर्हि ; नॄन् = जनान् शंसति = हन्ति इति नृशंसः तेन नृशंसेन= क्रूरेण ; इदानीम् = सम्प्रति, निर्धनावस्थायामित्यर्थः ; चारित्रम् = चरित्रताम् अपि ; किम् = कथम् ; दूषितम् = निन्दनीयं कृतम् ? ॥ २५ ॥

टिप्पणी—प्रणयः—प्रेम, अभिरुचि, प्र + √नी + अच्। नृशंसः—निष्ठुर, नृ + √शस् + अण् ॥

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है अनुष्टुप्। लक्षण के लिए देखिये पीछे के श्लोक की टिप्पणी ॥ २५ ॥

विदूषकः—अहं खु अवलविस्सं—'केण दिण्णं, केण गहिदं, को वा सक्खि' त्ति। [अहं खल्वपलपिष्यामि—'केन दत्तम्, केन गृहीतम्, को वा साक्षी' इति।]

चारुदत्तः—अहमिदानीमनृतमभिधास्ये ?।

भैक्ष्येणाप्यर्जयिष्यामि पुनर्न्यासप्रतिक्रियाम्।
अनृतं नाभिधास्यामि चारित्रभ्रंशकारणम् ॥२६॥

शब्दार्थः—अपलपिष्यामि—झूठा कह दूँगा, टालमटोल कर दूँगा। साक्षी–गवाह (प्रमाण)। अनृतम्=असत्य, अभिधास्ये=कहूँगा ?।

अर्थ :—विदूषक–मैं झूठे ही कह दूँगा कि—किसने दिया ? किसने लिया ? और कौन गवाह है ?

चारुदत्त - क्या मैं इस समय झूठ बोलूँगा ?

टीका—अपलपिष्यामि=अपलापं करिष्यामि, धूर्ततां करिष्यामीत्यर्थः। साक्षी=प्रमाणभूतः। अनृतम्=असत्यम्। अभिधास्ये=कथयिष्यामि ? ॥

भैक्ष्येण इति ---

अन्वयः—भैक्ष्येण, अपि, न्यासप्रतिक्रियाम्, पुनः, अर्जयिष्यामि, चारित्रभ्रंशकारणम्, अनृतम्, न, अभिधास्यामि ॥२६॥

शब्दार्थः—भैक्ष्येण = भीख से, अपि = भी, न्यासप्रतिक्रियाम्=धरोहर के बदले का धन, न्यास—प्रतिशोध का उपाय, पुनः = फिर, अर्जयिष्यामि = एकत्र करूँगा, चारित्रभ्रंशकारणम्=चरित्र को बिगाड़ देने का कारण, अनृतम्=झूठ, न= नहीं, अभिधास्यामि=बोलूँगा ॥

अर्थः—(मैं) भीख माँगकर भी धरोहर लौटाऊँगा। किन्तु चरित को बिगाड़ देने वाले झूठ को नहीं बोलूँगा॥ २६ ॥

टीका—भैक्ष्येण=भिक्षाप्राप्तान्नेन भिक्षया वा, अपि; न्यासस्य = निक्षेपस्य प्रतिक्रियाम्=परिशोधम्, तद्योग्यसम्पत्तिमिति यावत्; पुनः=मुहुः, अर्जयिष्यामि= एकत्रीकरिष्यामि; किन्तु, चारित्रस्य=सच्चरित्रस्य भ्रंशकारणम्=च्युतिकारम्;अनृतम्= असत्यम्; न अभिधास्यामि=न कथयिष्यामि। न्यासप्रतिशोधाय वरं भीक्षाटनं न चासत्यकथनमिति भावः ॥२६॥

टिप्पणी—भैक्षेण—√भिक्ष् + अ + टाप्=भिक्षा, भिक्षा + ष्यञ् + तृतीया एकवचनम् ॥

रदनिका—ता जाव अज्जा धूदाए गदुअ णिवेदेमि। [तद्यावदार्याधूतायै गत्वा निवेदयामि।] (इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

(ततः प्रविशति चेट्या सह चारुदत्तवधूः)

वधूः—(ससंभ्रमम्) अइ, सच्चं अवरिक्खदसरीरो अज्जउत्तो अज्जमित्तेएण सह। [अयि ! सत्यमपरिक्षतशरीर आर्यपुत्र आर्यमैत्रेण सह।]

चेटी—भट्टिणि ! सच्चं, किं तु जो सो वेस्साजणकेरको अलंकारओ सो अवहिदो। [भर्त्रि ! सत्यम्, किं तु यः स वेश्याजनस्यालंकारकः सोऽपहृतः।]

(वधूर्मोहं नाटयति)

चेटी—समस्ससदु अज्जा धूदा। [समाश्वसित्वार्या धूता।]

वधूः—(समाश्वस्य) हञ्जे ! किं भणासि—'अवरिक्खदसरीरो अज्जउत्तो' त्ति ?। वरं दाणिं सो सरीरेण परिक्खदो, ण उण चारित्तेण। संपदं उज्जइणीए

इस श्लोक में अनुष्टुप् छन्द है। लक्षण के लिये देखिये श्लोक २४ की टिप्पणी ॥२६॥

शब्दार्थः—धूतायै = धूता के लिये (से), 'धूता' चारुदत्त की पत्नी का नाम है। अपरिक्षतशरीरः=शरीर में बिना चोट लगे हुए, सकुशल। अपहृतः= चुरा लिया गया।

अर्थः—रदनिका—तब तक जाकर आर्या 'धूता' (चारुदत्त की स्त्री) से (सारी बातें) कहती हूँ। (सभी चले जाते हैं)।

(इसके बाद चेटी के साथ 'चारुदत्त' की स्त्री प्रवेश करती है)

वधू—(चारुदत्त की बहू=स्त्री)—(घबराहट के साथ) अरी ! सचमुच आर्य 'मैत्रेय' के साथ आर्यपुत्र (चारुदत्त) कुशल पूर्वक तो हैं ? (अर्थात् उन लोगों को कोई चोट तो नहीं लगी ?)

चेटी—स्वामिनि ! सचमुच। किन्तु जो वेश्या का आभूषण था वह चुरा लिया गया।

टीका—धूतायै = चारुदत्तस्य भार्यायै, 'धूता' इति चारुदत्तस्य भार्यायाः नाम। न परिक्षतम् = चौरादिप्रहारैः न आहतमित्यर्थः शरीरम् = कायम् यस्य तथाभूतः। अपहृतः = चोरितः।

('चारुदत्त' की स्त्री मूर्च्छा का अभिनय करती है।)

अर्थः—चेटी—आर्या धूता ! धीरज रक्खें।

जणो एव्वं मंतइस्सदि—दलिद्ददाए अज्जउत्तेण ज्जेव ईदिसं अकज्जं अणुचिट्ठिदं' त्ति। (ऊर्ध्वमवलोक्य, निःश्वस्य च) भअवं कअंत! पोक्खरवत्तपडिदजलबिंदु-चंचलेहिं कीलसि दलिद्दपुरिसभाअधेएहिं। इअं च मे एक्का मादुघरलद्धा रअणावली चिट्ठदि। एदं पि अदिसोंडीरदाए अज्जउत्तो ण गेण्हिस्सदि। हञ्जे! अज्जमित्तेअं दाव सद्दावेहि। [चेटि! किं भणसि—'अपरिक्षतशरीर आर्यपुत्र, इति ? वरमिदानीं स शरीरेण परिक्षतः, न पुनश्चारित्र्येण। सांप्रतमुज्जयिन्यां जन एवं मन्त्रयिष्यति—'दरिद्रतयार्यपुत्रेणैवेदृशमकार्यमनुष्ठितम्' इति। भगवन्कृतान्त! पुष्करपत्रपतितजलबिन्दुचञ्चलैः क्रीडसि दरिद्रपुरुषभागधेयैः। इयं च मे एका मातृगृहलब्धा रत्नावली तिष्ठति। एतामप्यतिशौण्डीरतयार्यपुत्रो न ग्रहीष्यति। चेटि! आर्यमैत्रेयं तावदाह्वय।]

शब्दार्थ :—परिक्षतः=घायल। अकार्यम् = अनुचित काम। पुष्करपत्रपतित-जलबिन्दुचञ्चलैः = कमल के पत्ते पर पड़ी हुई पानी की बूँदों के समान चञ्चल, दरिद्रपुरुषभागधेयैः = गरीब पुरुषों के भाग्यों से। अतिशौण्डीरतया = अत्यधिक उदारता के कारण।

अर्थ :-वधू—(धीरज धारण करके) चेटी क्या कह रही हो कि—'आर्यपुत्र (चारुदत्त) के शरीर में कोई चोट नहीं लगी है ?'। चरित्र में क्षत (कलङ्क) लगने की वनिस्पत (अपेक्षा) उनका शरीर से घायल हो जाना इस समय अच्छा था। अब 'उज्जयिनी' में लोग यह कहेंगे कि—'गरीबी के कारण आर्य (चारुदत्त) ने ही ऐसा अनुचित काम किया है।' (ऊपर देखकर और लम्बी साँस लेकर) भगवन् दैव! कमल के पत्तों पर पड़ी हुई पानी की बूँदों के समान गरीब पुरुषों के चञ्चल भाग्यों से खिलवाड़ करते हो। मेरे नैहर (माता के घर) से मिली हुई रत्नों की एक माला है। बहुत उदारचित्त होने के कारण आर्यपुत्र (चारुदत्त) इसको भी नहीं लेंगे। चेटी! तनिक आर्य मैत्रेय को बुलाओ।

टीका—परिक्षतः = परिभ्रष्टः। अकार्यम् = अनुचितं कार्यम्, चौर्यमिति यावत्। पुष्करस्य = कमलस्य पत्रे पतिताः=निपतिताः ये जलबिन्दवः = जलकणाः तद्वत् चञ्चलैः = चपलैः; दरिद्रपुरुषाणाम् = निर्धनजनानाम् भागधेयैः = भाग्यैः। अतिशौण्डीरतया = अत्युदारतया।

टिप्पणी—परिक्षतम् = घायल, आहत, परि + √क्षण् + क्त + सु विभक्तिः।

रदनिका—ता जाव अज्जा धूदाए गदुअ णिवेदेमि। [तद्यावदार्याधूतायै गत्वा निवेदयामि।] (इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

(ततः प्रविशति चेट्या सह चारुदत्तवधूः)

वधूः—(ससंभ्रमम्) अइ, सच्चं अवरिक्खदसरीरो अज्जउत्तो अज्जमित्तेएण सह। [अयि ! सत्यमपरिक्षतशरीर आर्यपुत्र आर्यमैत्रेण सह।]

चेटी—भट्टिणि ! सच्चं, किं तु जो सो वेस्साजणकेरको अलंकारओ सो अवहिदो। [भर्त्रि ! सत्यम्, किं तु यः स वेश्याजनस्यालंकारकः सोऽपहृतः।]

(वधूर्मोहं नाटयति)

चेटी—समस्ससदु अज्जा धूदा। [समाश्वसित्वार्या धूता।]

वधूः—(समाश्वस्य) हञ्जे ! किं भणासि—'अवरिक्खदसरीरो अज्जउत्तो' त्ति ?। वरं दाणिं सो सरीरेण परिक्खदो, ण उण चारित्तेण। संपदं उज्जइणीए

इस श्लोक में अनुष्टुप् छन्द है। लक्षण के लिये देखिये श्लोक २४ की टिप्पणी ॥२६॥

शब्दार्थः—धूतायै = धूता के लिये (से), 'धूता' चारुदत्त की पत्नी का नाम है। अपरिक्षतशरीरः=शरीर में बिना चोट लगे हुए, सकुशल। अपहृतः= चुरा लिया गया।

अर्थः—रदनिका—तब तक जाकर आर्या 'धूता' (चारुदत्त की स्त्री) से (सारी बातें) कहती हूँ। (सभी चले जाते हैं)।

(इसके बाद चेटी के साथ 'चारुदत्त' की स्त्री प्रवेश करती है)

वधू—(चारुदत्त की बहू=स्त्री)—(घबराहट के साथ) अरी ! सचमुच आर्य 'मैत्रेय' के साथ आर्यपुत्र (चारुदत्त) कुशल पूर्वक तो हैं ? (अर्थात् उन लोगों को कोई चोट तो नहीं लगी ?)

चेटी—स्वामिनि ! सचमुच। किन्तु जो वेश्या का आभूषण था वह चुरा लिया गया।

टीका—धूतायै = चारुदत्तस्य भार्यायै, 'धूता' इति चारुदत्तस्य भार्यायाः नाम। न परिक्षतम् = चौरादिप्रहारैः न आहतमित्यर्थः शरीरम् = कायम् यस्य तथाभूतः। अपहृतः = चोरितः।

('चारुदत्त' की स्त्री मूर्च्छा का अभिनय करती है।)

अर्थः—चेटी—आर्या धूता ! धीरज रक्खें।

जणो एव्वं मंतइस्सदि—दलिद्ददाए अज्जउत्तेण ज्जेव ईदिसं अकज्जं अणुचिट्ठिदं' त्ति। (ऊर्ध्वमवलोक्य, निःश्वस्य च) भअवं कअंत! पोक्खरवत्तपडिदजलबिंदु-चंचलेहिं कीलसि दलिद्दपुरिसभाअधेएहिं। इअं च मे एक्का मादुघरलद्धा रअणा-वली चिट्ठदि। एदं पि अदिसोंडीरदाए अज्जउत्तो ण गेण्हिस्सदि। हञ्जे! अज्जमित्तेअं दाव सद्दावेहि। [चेटि! किं भणसि—'अपरिक्षतशरीर आर्यपुत्र, इति? वरमिदानीं स शरीरेण परिक्षतः, न पुनश्चारित्र्येण। सांप्रतमुज्जयिन्यां जन एवं मन्त्रयिष्यति—'दरिद्रतयार्यपुत्रेणैवेदृशमकार्यमनुष्ठितम्' इति। भगवन्कृतान्त! पुष्करपत्रपतितजलबिन्दुचञ्चलैः क्रीडसि दरिद्रपुरुषभागधेयैः। इयं च मे एका मातृगृहलब्धा रत्नावली तिष्ठति। एतामप्यतिशौण्डीरतयार्यपुत्रो न ग्रहीष्यति। चेटि! आर्यमैत्रेयं तावदाह्वय।]

शब्दार्थ :—परिक्षतः=घायल। अकार्यम् = अनुचित काम। पुष्करपत्रपतित-जलबिन्दुचञ्चलैः = कमल के पत्ते पर पड़ी हुई पानी की बूदों के समान चञ्चल, दरिद्रपुरुषभागधेयैः = गरीब पुरुषों के भाग्यों से। अतिशौण्डीरतया = अत्यधिक उदारता के कारण।

अर्थ :-वधू—(धीरज धारण करके) चेटी क्या कह रही हो कि—'आर्यपुत्र (चारुदत्त) के शरीर में कोई चोट नहीं लगी है?'। चरित्र में क्षत (कलङ्क) लगने की बनिस्बत (अपेक्षा) उनका शरीर से घायल हो जाना इस समय अच्छा था। अब 'उज्जयिनी' में लोग यह कहेंगे कि—'गरीबी के कारण आर्य (चारुदत्त) ने ही ऐसा अनुचित काम किया है।' (ऊपर देखकर और लम्बी साँस लेकर) भगवन् दैव! कमल के पत्तों पर पड़ी हुई पानी की बूँदों के समान गरीब पुरुषों के चञ्चल भाग्यों से खिलवाड़ करते हो। मेरे नैहर (माता के घर) से मिली हुई रत्नों की एक माला है। बहुत उदारचित्त होने के कारण आर्यपुत्र (चारुदत्त) इसको भी नहीं लेंगे। चेटी! तनिक आर्य मैत्रेय को बुलाओ।

टीका—परिक्षतः = परिभ्रष्टः। अकार्यम् = अनुचितं कार्यम्, चौर्यमिति यावत्। पुष्करस्य = कमलस्य पत्रे पतिताः=निपतिताः ये जलबिन्दवः = जलकणाः तद्वत् चञ्चलैः = चपलैः; दरिद्रपुरुषाणाम् = निर्धनजनानाम् भागधेयैः = भाग्यैः। अतिशौण्डीरतया = अत्युदारतया।

टिप्पणी—परिक्षतम् = घायल, आहत, परि + √क्षण् + क्त + सु विभक्तिः।

चेटी—जं अज्जा धूदा आणवेदि। (विदूषकमुपगम्य) अज्जमित्तेअ ! धूदा दे सद्दावेदि। [यदार्या धूताज्ञापयति। आर्यमैत्रेय ! धूता त्वामाह्वयति।]

विदूषकः—कहिं सा ?। [कुत्र सा ?।]

चेटी—एसा चिट्ठदि, उवसप्प। [एषा तिष्ठति, उपसर्प।]

विदूषकः—(उपसृत्य) सोत्थि भोदीए। [स्वस्ति भवत्याः।]

वधूः—अज्ज ! वंदामि। अज्ज ! पौरत्थिमामुहो होहि। [आर्य ! वन्दे। आर्य ! पुरस्तान्मुखो भव।]

विदूषकः—एसो भोदि ! पौरत्थिमामुहो संवुत्तो म्हि। [एष भवति ! पुरस्तान्मुखः संवृत्तोऽस्मि।]

वधूः—अज्ज ! पडिच्छ इमं। [आर्य ! प्रतीच्छेमाम्।]

विदूषकः—किं एणेदं ?। [किं न्विदम् ?।]

वधूः—अहं खु रअणसट्ठिं उववसिदा आसि। तहिं जधाविहवाणुसारेण बम्हणो पडिग्गाहिदव्वो। सो अ ण पडिग्गाहिदो, ता तस्स किदे पडिच्छ इमं रअणमालिअं। [अहं खलु रत्नषष्ठीमुपोषितासम्। तत्र यथाविभवानुसारेण ब्राह्मणः प्रतिग्राहितव्यः। स च न प्रतिग्राहितः, तत्तस्य कृते प्रतीच्छेमां रत्नमालिकाम्।]

अर्थ :—चेटी—जैसी आर्या 'धूता' की आज्ञा। (विदूषक के पास जाकर) आर्य मैत्रेय ! 'धूता' तुम्हें बुला रही हैं।

विदूषक—वह कहाँ हैं ?

चेटी—यह हैं। (उनके) पास जाइए।

विदूषक—(जाकर) आपका भला हो।

शब्दार्थ :—पुरस्तान्मुखः = सामने मुँहवाला, भव = होओ, अर्थात् सामने मुँह करो। प्रतीच्छ = लीजिए। यथाविभवानुसारेण = अपने धन के अनुसार, प्रतिग्राहितव्यः = दान दिया जाना चाहिये।

अर्थ :—वधू—आर्य ! प्रणाम करती हूँ। आर्य ! जरा (इधर) सामने मुँह कीजिए।

विदूषक—श्रीमती जी यह मैं (आपके) सम्मुख हो गया।

वधू—आर्य ! इसे लीजिए।

विदूषक—यह क्या है ?

वधू—मैंने 'रत्नषष्ठी' का व्रत किया था। उसमें अपने धन के अनुसार ब्राह्मण को दान देना चाहिए। किन्तु (मैंने) वह दान नहीं दिया था। अतः उसके लिए यह रत्नावली ले लो।

विदूषकः—(गृहीत्वा) सोत्थि, गमिस्सं ; पिअवअस्सस्स णिवेदेमि। [स्वस्ति, गमिष्यामि ; प्रियवयस्यस्य निवेदयामि ।]

वधूः—अज्जमित्तेअ ! मा खु मं लज्जावेहि। [आर्यमैत्रेय ! मा खलु मां लज्जितां कुरु ।]

(इति निष्क्रान्ता)

विदूषकः—(सविस्मयम्) अहो, से महाणुभावदा। [अहो, अस्या महानुभावता ।]

चारुदत्तः—अये, चिरयति मैत्रेयः। मा नाम वैक्लव्यादकार्यं कुर्यात्। मैत्रेय, मैत्रेय ! ।

विदूषकः—(उपसृत्य) एसो म्हि। गेण्ह एदं। (रत्नावलीं दर्शयति) [एषोऽस्मि, गृहाणैताम् ।]

टीका—पुरस्तान्मुखः पुरस्तात् = सम्मुखे अथवा पूर्वदिशायाम्, यतः दान-ग्रहणकर्ता पूर्वाभिमुखः भाव्यः, मुखम् = आननम् यस्य सः ; भव। प्रतीच्छ = गृहाण। यथाविभवानुसारेण = सम्पत्त्यनुरूपमित्यर्थः ; प्रतिग्राहितव्यः = दातव्यः।

टिप्पणी यथाविभवानुसारेण='विभवमनतिक्रम्य 'यथाविभवम्' (सम्पत्ति के अनुसार) इस शब्द से ही आशय प्रकट हो जाता है। ऐसी अवस्था में 'अनुसारेण' इस अधिक पद के जोड़ने का अभिप्राय विचारणीय है।

अर्थ :—विदूषक—(ले करके) (आपका) कल्याण हो। मैं जा रहा हूँ। प्रिय मित्र (चारुदत्त) से कहूँगा।

वधू—आर्य 'मैत्रेय' ! मुझे लजवाओ मत।

(ऐसा कहकर निकल जाती है।)

शब्दार्थ:—अस्याः=इसकी, चारुदत्त की स्त्री की, महानुभावता=उदारता। वैक्लव्यात् = विकलता से। सदृशदारसंग्रहस्य = योग्य स्त्री के ग्रहण का ॥

अर्थः—विदूषक—(ताज्जुब के साथ) धन्य है इसकी (चारुदत्त के स्त्री की) उदारता !

चारुदत्त—अरे, 'मैत्रेय' देर कर रहा है। कहीं विकलता के कारण अनुचित काम (आत्म-हत्या) न कर डाले। 'मैत्रेय' ! मैत्रेय !! (कहकर पुकारता है)।

विदूषक—(समीप में जाकर) यह (आ गया) हूँ। इसे लो (रत्नावली दिखलाता हैं)।

चारुदत्तः—किमेतत् ? ।

विदूषकः—भो, जं दे सरिसदारसंगहस्स फलं । [भोः, यत्ते सदृशदारसंग्रहस्य फलम् ।]

चारुदत्तः—कथं ब्राह्मणी मामनुकम्पते ? । कष्टम्, इदानीमस्मि दरिद्रः,—

आत्मभाग्यक्षतद्रव्यः स्त्रीद्रव्येणानुकम्पितः ।
अर्थतः पुरुषो नारी या नारी साऽर्थतः पुमान् ॥२७॥

अथवा, नाहं दरिद्रः ; यस्य मम

चारुदत्त—यह क्या है ?

विदूषक—अरे तुम्हारे लायक (गुणी) स्त्री से विवाह करने का जो फल है ।

टीका—अस्याः=चारुदत्तपत्न्याः इत्यर्थः ; महानुभावता=उदारातिशयता । वैक्लब्यात् = व्यग्रभावात् । सदृशदाराणाम् = योग्यस्त्रीणाम् संग्रहस्य = ग्रहणस्य ; फलमिति अग्रे ॥

आत्मभाग्यक्षतद्रव्यः इति—

अन्वयः—आत्मभाग्यक्षतद्रव्यः, स्त्रीद्रव्येण, अनुकम्पितः, पुरुषः, अर्थतः, नारी, (भवति, तथा) या, नारी, सा, अर्थतः, पुमान् (भवति) ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—आत्मभाग्यक्षतद्रव्यः=अपने भाग्य के कारण नष्ट धनवाला, स्त्रीद्रव्येण=स्त्री के धन से, अनुकम्पितः = अनुगृहीत, पुरुषः = पुरुष, अर्थतः=धन (न होने) से, नारी = स्त्री, (भवति=होता है, तथा = और) या=जो, नारी = स्त्री (है), सा = वह अर्थतः=धन से, पुमान् = पुरुष, भवति=होती है ॥

अर्थः—चारुदत्त—क्या ब्राह्मणी (मेरी स्त्री) मुझ पर दया कर रही हैं ? हाय ? इस समय मैं दरिद्र हो गया हूँ; ।

अपने खराब भाग्य के कारण नष्ट धन वाला तथा स्त्री के धन से अनुगृहीत पुरुष धन (न होने) से स्त्री (के तुल्य) है और जो नारी है वह धन (हो जाने) से पुरुष (के समान) है ॥ २७ ॥

टीका—आत्मनः=स्वस्य भाग्येन=दुर्दवेन क्षतम्=विनष्टम् द्रव्यम् = धनम् यस्य सः; स्त्रियाः = पत्न्याः द्रव्येण=दत्तेन धनेन; अनुकम्पितः=अनुगृहीतः; पुरुषः=जनः; अर्थतः = धनात्, धनाभावादिति यावत् ; नारी = स्त्री; पोष्यत्वसाम्यादिति भावः; भवतीति शेषः; तथा या नारी = स्त्री अस्ति; सा अर्थतः = धनेनेत्यर्थः=पुमान्

विभवानुगता भार्या सुखदुःखसुहृद्भवान् ।
सत्यं च न परिभ्रष्टं यद्दरिद्रेषु दुर्लभम् ॥२८॥

मैत्रेय ! गच्छ रत्नावलीमादाय वसन्तसेनायाः सकाशम् । वक्तव्या च सा मद्वचनात्—'यत्खल्वस्माभिः सुवर्णभाण्डमात्मीयमिति कृत्वा विश्रम्भाद्द्यूते हारितम्; तस्य कृते गृह्यतामियं रत्नावली' इति ।

पुरुषः; रत्नकत्वसाधर्म्यादिति भावः; भवतीति शेषः । धनदानात् धूता पुंस्त्वमाचरति तथा तद्द्रव्येण कृतसाहाय्यः अहं स्त्रीपदवीमधिरोहामीत्यर्थः । २७॥

टिप्पणी—इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा अनुष्टुप् छन्द है । छन्द का लक्षण—

"श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥२७॥"

विभवानुगता इति—

अन्वयः–('यस्य, मम,' इति गद्यस्थेन पदेन सर्वत्र अन्वयः) स्त्री, विभवानुगता, भवान्, सुखदुःखसुहृत्, सत्यम्, च, न, परिभ्रष्टम्, यत्, दरिद्रेषु, दुर्लभम् ॥२८॥

शब्दार्थः—(यस्य = जिस, मम = मेरी) स्त्री = पत्नी, विभवानुगता= धन के अनुसार चलने वाली है), भवान्=आप, सुखदुःखसुहृत्=सुख एवं दुःख के मित्र (हैं), सत्यम्=सत्य, च=भी, न=नहीं, परिभ्रष्टम्=छूटा, यत्=जो, (ये तीनों) दरिद्रेषु=निर्धनों में, दुर्लभम्=मुश्किल हैं ॥

अर्थः—अथवा मैं दरिद्र नहीं हूँ । जिस मेरी—

पत्नी धन के अनुसार चलने वाली है (अर्थात् कम अथवा अधिक धन के अनुसार घर के खर्च का इन्तजाम करने वाली पत्नी है । कभी धन रहने पर एक हजार में घर खर्च चलाती थी और अब गरीबी में तीस रुपये में चला लेती है । इसके लिये मुझे परेशान नहीं करती) । आप सुख तथा दुख में एक भाव से साथ देने वाले मित्र हैं । और सच बोलना भी नहीं छूटा है—जो कि (ये तीनों बातें) निर्धनों के पास बड़ी मुश्किल से मिलती हैं ॥ २८ ॥

टीका – यस्य ममेति सर्वत्र गद्यस्थेन अन्वयः । स्त्री=भार्या; विभवस्य= धनस्य अनुगता=अनुसारिणी; सम्पत्त्यनुरूपं गृहकार्यं धैर्येण सञ्चालयति, न कस्यामपि अवस्थायां विमनायते इति भावः; भवान्=त्वम्; सुखदुःखयोः=सम्पत्तिविपत्त्योः सुहृत्=सखा; अस्तीति शेषः; सत्यम्=सत्यवचनम्; च न परिभ्रष्टम्=नष्टम्; यत्=

विदूषकः—मा दाव अक्खाइदस्स अभुत्तस्स अप्पमुल्लस्स चोरेहिं अवहिदस्स कारणादो चतुःसमुद्दसारभूदा रअणावली दीअदि। [मा तावदखादितस्याभुक्तस्याल्पमूल्यस्य चौरैरपहृतस्य कारणाच्चतुःसमुद्रसारभूता रत्नावली दीयते।]

चारुदत्तः—वयस्य ! मा मैवम्,—

यं समालम्ब्य विश्वासं न्यासोऽस्मासु तया कृतः।
तस्यैतन्महतो मूल्यं प्रत्ययस्यैव दीयते ॥२९॥

त्रयम्; दरिद्रेपु=निर्धनेषु; दुर्लभम्=दुष्प्राप्यम् भवतीति शेषः। भार्यायाः भवतश्च सर्वदा समभावेन व्यवहारात् तथा सत्यस्य रक्षणात् नाहं दरिद्रः। एतत्त्रयाभावे एव जनः वस्तुतः दरिद्रः कथ्यते, न तु धनविरहितः कश्चिदिति ।।२८।।

टिप्पणी—परिभ्रष्टम्=पतित, विचलित, परि + √भ्रंश् + क्त। दरिद्रता के अभाव के समर्थन के लिये अनेक कारणों का वर्णन होने से इसमें समुच्चय अलङ्कार है। प्रयुक्त छन्द का नाम है—अनुष्टुप्। छन्द के लक्षण के लिये देखिये श्लोक २७ की टिप्पणी ।।२८।।

शब्दार्थः—विश्रम्भात्=विश्वास से, हारितम्=हरा दिया गया। अखादितस्य=न खाये गये, अभुक्तस्य=काम में न लाये गये, न भोगे गये। चतुःसमुद्रसारभूता=चारों सागरों की सार भूत ।।

अर्थः—मैत्रेय ! रत्नावली को लेकर 'वसन्तसेना' के पास जाओ। और मेरी ओर से उससे यह कहो कि—(आपके द्वारा रक्खे गये) सोने के बक्स को (अर्थात् सोने के सभी गहनों को) विश्वास पूर्वक अपना समझ कर जुए में हरा दिया। उसके बदले में आप यह रत्नावली ले लें।

विदूषक—जिसे (बेंच कर) खाया नहीं है, जिसे काम में नहीं लाया है, (उपयोग जिसका नहीं किया है), जो कम कीमत की (चीज) है, जिसे चोरों ने चुरा लिया है, (उस वस्तु) के बदले में चारों सागरों की सारभूत यह रत्नावली मत दीजिए।

टीका—विश्रम्भात् = विश्वासात्; हारितम् = पराजितम्। अखादितस्य= अभक्षितस्य, अभुक्तस्य=अननुभूतस्य, व्यवहारे अनुपनीतस्य इत्यर्थः। चतुःसमुद्राणाम्=चतुःसागराणाम् सारभूताम्=तत्त्वभूताम् ।।

यं समालम्ब्य इति—

अन्वयः—तया, यम्, विश्वासम्, समालम्ब्य, अस्मासु, न्यासः, कृतः, तस्य, महतः, प्रत्ययस्य, एव, एतत्, मूल्यम्, प्रदीयते ।।२९।।

तद्वयस्य ! अस्मच्छरीरस्पृष्टिकया शापितोऽसि, नैनामग्राहयित्वात्रागन्तव्यम्। वर्धमानक !

एताभिरिष्टिकाभिः संधिः क्रियतां सुसंहतः शीघ्रम् ।
परिवादबहलदोषान्न यस्य रक्षां परिहरामि ॥३०॥

शब्दार्थः—तया=उसके द्वारा, यम्=जिस, विश्वासम्=विश्वास को, समालम्ब्य=पकड़कर, सहारा बनाकर, अस्मासु=हम लोगों में, न्यासः=धरोहर, कृतः = की गयी, रक्खी गयी, तस्य=उस, महतः=बहुत बड़े, प्रत्ययस्य=विश्वास की, एव=ही, एतत्=यह, मूल्यम्=कीमत, प्रदीयते=दी जा रही है ॥

अर्थः—चारुदत्त—मित्र ! ऐसा मत (कहो) मत—

उस (वसन्तसेना) ने जिस विश्वास के सहारे हमारे पास धरोहर रक्खी है, उस बहुत बड़े विश्वास की ही यह कीमत दी जा रही है (न की उस सोने के बक्स की) ॥ २६ ॥

टीका—तया = वसन्तसेनयेत्यर्थः ; यम्, विश्वासम् = प्रत्ययम् ; समालम्ब्य= आश्रित्य ; अस्मासु = मादृशनिर्धनेषु इति भावः ; न्यासः = निक्षेपः ; कृतः = सम्पादितः ; तस्य महतः = अगाधस्येत्यर्थः ; प्रत्ययस्यैव = विश्वासस्यैव, एतत् = रत्नावलीरूपम् ; मूल्यम्=निष्क्रयः ; दीयते = समर्प्यते । विश्वासस्य एतत् रत्नावली—रूपं मूल्यं प्रदीयते न तु सुवर्णभाण्डस्येत्यर्थः ॥२६॥

टिप्पणी– इस श्लोक में अतिशयोक्ति अलङ्कार एवं अनुष्टुप् छन्द है । छन्द के लिये देखिये श्लोक २७ की टिप्पणी ॥२६॥

शब्दार्थः—अस्मच्छरीरस्पृष्टिकया = हमारे शरीर के स्पर्श से, शापितः = सौगन्ध दिलाये गये, असि = हो । अग्राहयित्वा = विना दिये ।

अर्थः—इसलिए मित्र ! तुम्हें हमारे शरीर की सौगन्ध है, तुम उसे विना दिए हुए यहाँ मत आना । वर्धमानक !

टीका—अस्मच्छरीरस्य = मदीयशरीरस्य स्पृष्टिः = स्पर्शः एव स्पृष्टिका तया, मम शरीरसंस्पर्शेनेत्यर्थः ; शापितः = शपथं प्रापितः असि । अग्राहयित्वा = अदत्त्वा ॥

एताभिः इति—

अन्वयः—एताभिः, इष्टिकाभिः, सन्धिः, शीघ्रम् , सुसंहतः, क्रियताम् , परिवादबहलदोषात् , यस्य, रक्षाम् , न, परिहरामि ॥३०॥

वयस्य मैत्रेय ! भवताप्यकृपणशौण्डीर्यमभिधातव्यम् ।

विदूषकः—भो, दलिद्दो किं अकिवणं मंतेदि ?। [भोः, दरिद्रः किमकृपणं मन्त्रयति ? ।]

शब्दार्थः—एताभिः = इन, इष्टिकाभिः = ईंटों से, सन्धिः = सेंध, शीघ्रम् = जल्द, सुसंहतः = भरी हुई, जोड़ी हुई, क्रियताम् = की जाय, परिवाद-बहलदोषात् = अपयश में महान् दोष होने के कारण, यस्य = जिस सेंध की, रक्षाम् = मरम्मत को, न = नहीं, परिहरामि = उपेक्षित करूँगा ॥

अर्थः—इन ईंटों से इस सेंध को जल्द ही अच्छी तरह भर दो। लोगों में फैलने वाले अपयश में महान् दोष होने के कारण जिस (सेंध की) मरम्मत (रक्षा) की उपेक्षा नहीं करूँगा (अर्थात् यदि यह सेंध इसी प्रकार फूटी रहेगी तो जनता में मेरे बारे में अनेक तरह की बुरी बातें फैलेंगी) ॥ ३० ॥

टीका—एताभिः = बहिर्निर्गताभिः ; इष्टिकाभिः = पक्वमृत्खण्डैः; सन्धिः = चौरकृतं विवरम् , शीघ्रम् = झटिति ; सुसंहतः = सम्यक् पूर्णः ; क्रियताम् = विधीयताम् ; परिवादे = लोकापवादे, अस्य भवने चौरः प्रविष्टः आसीदेवंरूपे बहलः = अधिकः दोषः = दूषणम् तस्मात् ; यस्य = सन्धेः ; रक्षाम् = रक्षणम् , यथावस्थानमित्यर्थः ; न परिहरामि = न उपेक्षे ॥३०॥

टिप्पणी—इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार एवं आर्या छन्द है। छन्द का लक्षण—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ॥३०॥

शब्दार्थः—अकृपणशौण्डीर्यम् = अत्यन्त उदारता के साथ। अकृपणम् = उदारता के साथ, मन्त्रयति = कहता है। सन्ध्याम् = प्रातःकालीन सन्ध्या को।

अर्थ:—मित्र मैत्रेय ! तुम भी अत्यन्त उदारता के साथ (वसन्तसेना से सारी बातें) कहना।

विदूषक—अरे क्या दरिद्र भी उदारता के साथ कहता है !

चारुदत्तः— अदरिद्रोऽस्मि सखे !। (यस्य मम 'विभवानुगता भार्या—' [३।२८] इत्यादि पुनः पठति) तद्गच्छतु भवान् ; अहमपि कृतशौचः सध्यामुपासे।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति संधिच्छेदो नाम तृतीयोऽङ्कः।

चारुदत्त— मित्र ! मैं दरिद्र (गरीब) नहीं हूँ। ('जिस मेरी धन के अनुसार चलने वाली स्त्री है'। ३।२८ इत्यादि फिर पढ़ता है) तो आप जायँ। मैं भी निबट-नहा करके (शौच करके) सन्ध्या-पूजा करता हूँ।

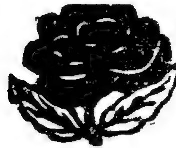
(सब निकल जाते हैं)

सन्धिच्छेद (सेंध लगाना) नामक तीसरा अङ्क (समाप्त)

टीका—अकृपणम्=अमन्दम् शौण्डीर्यम् = औदार्यम् यत्र तद् यथा तथा। अकृपणम् = कार्पण्यहीनम् ; मन्त्रयति = वदति ? अर्थात् कृपणमेव मन्त्रयति। सन्ध्याम् = प्रातःसन्ध्यामित्यर्थः ॥

टिप्पणी—सन्ध्याम् = सन्ध्यायन्ति जनाः परब्रह्म अस्यामिति सन्ध्या ताम् ; सन्धि + यत् + टाप् , अथवा सम् + ध्यै + अङ् + टाप् + विभक्तिकार्यम् ॥

॥ इति सन्धिच्छेदो नाम तृतीयोऽङ्कः ॥



चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चेटी)

चेटी—आणत्तम्हि अत्ताए अज्जआए सआसं गंतुं। एसा अज्जआ चित्तफलअणिसण्णदिट्ठी मदणिआए सह किंपि मंतअंती चिट्ठदि। ता जाव उवसप्पामि। [आज्ञप्तास्मि मात्रार्यायाः सकाशं गन्तुम्। एषार्या चित्रफलकनिषण्णदृष्टिर्मदनिकया सह किमपि मन्त्रयन्ती तिष्ठति। तद्यावदुपसर्पामि।]
(इति परिक्रामति)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा वसन्तसेना मदनिका च)

वसन्तसेना—हञ्जे मदणिए! अवि सुसदिसी इअं चित्ताकिदी अज्जचारुदत्तस्स। [चेटि मदनिके! अपि सुसदृशीयं चित्राकृतिरार्यचारुदत्तस्य।]

शब्दार्थः—चेटी=दासी। मात्रा = (वसन्तसेना की) माता जी के द्वारा। चित्रफलकनिषण्णदृष्टिः = तस्वीर (चित्र-पट) पर आँख गड़ाए हुए, मन्त्रयन्ती = बात-चीत करती हुई। यथानिर्दिष्टा = पहले बतलाये हुए ढंग वाली अर्थात् तस्वीर पर आँख गड़ाये हुई। सुसदृशी = पूर्ण योग्य, चित्राकृतिः = चित्र में बनी हुई आकृति। सुस्निग्धा = प्यारभरी ; अनुलग्ना = लगी हुई। वेशवासदाक्षिण्येन = वेश्यालय में रहने से चतुरता के कारण। वेशे = वेश्या के घर में, अलीकदक्षिणः = झूठ बोलने में चतुर॥

(इसके बाद चेटी प्रवेश करती है)

अर्थ:-चेटी (वसन्तसेना की एक दासी)-माता जी ने (वसन्तसेना की माता जी ने) मुझे आर्या (वसन्तसेना) के पास जाने की आज्ञा दी है। तस्वीर (चित्र-पट) पर आँख गड़ाए हुए यह आर्या (वसन्तसेना) 'मदनिका' के साथ कुछ बात-चीत कर रही हैं। तो (उनके) पास चलूँ। (ऐसा कहकर घूमती है)।

(इसके बाद ऊपर बतलाये हुए ढंग से 'वसन्तसेना' और 'मदनिका' प्रवेश करती हैं)

वसन्तसेना—चेटी मदनिका! चित्र (फोटो) में बनी हुई, आर्य 'चारुदत्त' की यह आकृति (आकार) क्या (मेरी शरीर की सुन्दरता आदि के) लायक (योग्य) है?

मदनिका—सुसदिसी। [सुसदृशी।]

वसन्तसेना—कधं तुमं जाणासि ?। [कथं त्वं जानासि ?।]

मदनिका—जेण अज्जआए सुसिणिद्धा दिट्ठी अणुलग्गा। [येनार्यायाः सुस्निग्धा दृष्टिरनुलग्ना।]

वसन्तसेना—हञ्जे ! किं वेसवासदाक्खिण्णेण मदणिए ! एव्वं भणासि ?। [चेटि ! किं वेशवासदाक्षिण्येन मदनिके ! एवं भणसि ?।]

मदनिका—अज्जए ! किं जो जेव जणो वेसे पडिवसदि, सो जेव अलीअदक्खिणो भोदि ?। [आर्ये ! किं य एव जनो वेशे प्रतिवसति, स एवालीकदक्षिणो भवति ?।]

वसन्तसेना—हञ्जे ! णाणापुरिससंगेण वेस्साजणो अलीअदक्खिणो भोदि। [चेटि ! नानापुरुषसङ्गेन वेश्याजनोऽलीकदक्षिणो भवति।]

मदनिका—(हाँ) अनुरूप (लायक) है।

वसन्तसेना—तुम कैसे जानती हो ?

मदनिका—क्योंकि आर्या (आप) की प्यारभरी आँख (इसमें) लगी हुई है।

वसन्तसेना—चेटी मदनिका ! क्या वेश्या के घर (वेश्यालय) में रहने से चतुरता (सीख लेने) के कारण ऐसा कह रही हो ?

मदनिका—आर्ये ! क्या जो ही आदमी वेश्या के घर में रहता हैं वही झूठ बोलने में चतुर होता है ?

वसन्तसेना—चेटी ! बहुत से पुरुषों का साथ होने के कारण वेश्यायें झूठ बोलने में चतुर हो जाती हैं।

टीका—चेटी = इयं काचन वसन्तसेनायाः दासी। माता = वसन्तसेनाजनन्या। चित्रफलके = चित्रपटे निषण्णा = संलग्ना, दृष्टिः = नेत्रम् यस्याः सा ; मन्त्रयन्ती = आलपन्ती। यथा निर्दिष्टा = यथावर्णिता, चित्रफलकदत्तदृष्टिः इत्यर्थः। सुसदृशी = ममाकृतियोग्या, मम सौन्दर्यानुरूपसौन्दर्यवतीत्यर्थः ; चित्रे = लेख्ये आकृतिः = सर्वावयवसंस्थानम् चित्राकृतिरित्यर्थः। सुस्निग्धा = प्रेमपूर्णा ; अनुलग्ना = आसक्ता। वेशे = वेश्यालये ('वेशो वेश्याजनाश्रयः' इत्यमरः) वासः = निवासः तेन यद् दाक्षिण्यम् = नैपुण्यम् तेन। वेशे = वेश्यागृहे ;

मदनिका—जदो दाव अज्जआए दिट्ठी इध अभिरमदि हिअअं च, तस्स कारणं किं पुच्छीअदि ?। [यतस्तावदार्याया दृष्टिरिहाभिरमते हृदयं च, तस्य कारणं किं पृच्छयते ?।]

वसन्तसेना—हञ्जे ! सहीजणादो उवहसणीअदां रक्खामि। [चेटि ! सखीजनादुपहसनीयतां रक्षामि।]

मदनिका—अज्जए ! एव्वं णेदं। सहीजणचित्ताणुवत्ती अबलाजणो भोदि। [आर्ये ! एवं नेदम्। सखीजनचित्तानुवर्त्यबलाजनो भवति]

प्रथमा चेटी—(उपसृत्य) अज्जए ! अत्ता आणवेदि—'गहिदावगुंठणं पक्खदुआरए सज्जं पवहणं। ता गच्च' त्ति। [आर्ये ! माताज्ञापयति—'गृहीतावगुण्ठनं पक्षद्वारे सज्जं प्रवहणम्। तद्गच्छ' इति।]

अलीके = असत्ये, दक्षिणः = प्रवीणः ; अथवा अलीकम् = मिथ्या दक्षिणः = कुशलः ॥

शब्दार्थः—पृच्छयते = पूछा जा रहा है। उपहसनीयताम् = हँसी को, रक्षामि=बचा रही हूँ। अबलाजनः = स्त्री, सखीजनचित्तानुवर्ती = सखियों के चित्त के अनुसार बर्तने वाला। गृहीतावगुण्ठनम् = पर्दे से ढका हुआ, प्रवहणम् = रथ, बैलगाड़ी। सुवर्णदशसाहस्रिकः = दश हजार सोने की मोहरों की मूल्य वाला। सन्देशेन = सन्देश से, सन्देश के साथ ॥

अर्थ :-**मदनिका**—जब आपकी दृष्टि (आँख) तथा हृदय (दोनों ही) इसमें (चित्र वाले व्यक्ति में) अनुरक्त हो गया है (तो फिर) उसका कारण क्यों पूछती हैं ? (अर्थात् सुन्दर पुरुष के प्रति प्रेम होने पर शीघ्र उससे मिलना चाहिये, देर करना व्यर्थ है।)

वसन्तसेना—चेटी ! सखियों की हँसी से बचना चाहती हूँ। (अर्थात् अयोग्य पुरुष से नाता जोड़ने पर सखियाँ हँसी लेंगी। अतः उससे बचना चाहती हूँ)।

मदनिका—आर्ये ! ऐसी बात नहीं है। स्त्रियाँ (अपनी) सखियों के चित्त के अनुसार बर्तने (व्यवहार करने) वाली होती हैं।

पहली चेटी—(पास में जाकर) आर्ये (आप की) माता जी यह आज्ञा देती हैं कि बगल के दरवाजे पर (खिड़की पर) पर्दे से ढका हुआ रथ तैयार है। इसलिए जाओ।

वसन्तसेना—हञ्जे ! किं अज्जचारुदत्तो मं णइस्सदि । [चेटि ! किमार्य-चारुदत्तो मां नेष्यति ? ।]

चेटी—अज्जए ! जेण पवहणेण सह सुवण्णदससाहस्सिओ अलंकारओ अणुप्पेसिदो । [आर्ये ! येन प्रवहणेन सह सुवर्णदशसाहस्तिकोऽलंकारोऽनुप्रेषितः ।]

वसन्तसेना—को उण सो ? । [कः पुनः सः ? ।]

चेटी—एसो जेव राअस्सालो संठाणओ । [एष एव राजश्यालः संस्थानकः ।]

वसन्तसेना—(सक्रोधम्) अवेहि मा पुणो एव्वं भणिस्ससि । [अपेहि, मा पुनरेवं भणिष्यसि ।]

चेटी—पसीददु पसीददु अज्जआ । संदेसेण म्हि पेसिदा । [प्रसीदतु प्रसीदत्वार्या । संदेशेनास्मि प्रेषिता ।]

वसन्तसेना—अहं संदेसस्स जेव कुप्पामि । [अहं संदेशस्यैव कुप्यामि ।]

चेटी—ता किंति अत्तं विण्णविस्सं ? । [तत्किमिति मातरं विज्ञापयिष्यामि ? ।]

वसन्तसेना—एव्वं विण्णाविदव्वा—'जइ मं जीअंतीं इच्छसि, ता एव्वं ण पुणो अहं अत्ताए अण्णाविदव्वा' । [एवं विज्ञापयितव्या—'यदि मां जीवन्तीमिच्छसि, तदैवं न पुनरहं मात्राऽऽज्ञापयितव्या' ।]

वसन्तसेना चेटी ! क्या आर्य चारुदत्त' मुझे ले जायेंगे ?

चेटी—आर्ये ! जिसने रथ के साथ दस हजार सोने की मोहरों के मूल्य का (अलङ्कार) भेजा है ।

वसन्तसेना—कौन है फिर वह ?

चेटी—यही राजा का साला 'संस्थानक' ।

वसन्तसेना—(कोप के साथ) दूर हटो । फिर कभी ऐसा मत कहना ।

चेटी—आर्या (आप) प्रसन्न हों, प्रसन्न हों । (मैं तो केवल) सन्देश लाई हूँ ।

वसन्तसेना—मैं सन्देश पर ही कोप कर रही हूँ ।

चेटी—तो (जाकर) माता जी से क्या कहूँगी ?

वसन्तसेना—इस प्रकार कहना—'यदि मुझे जीवित चाहती हो, तो मुझे माता जी के द्वारा फिर ऐसी आज्ञा नहीं मिलनी चाहिए ।'

चेटी—जधा दे रोअदि। [यथा ते रोचते।] (इति निष्क्रान्ता)

(प्रविश्य)

शर्विलकः—

दत्त्वा निशाया वचनीयदोषं निद्रां च जित्वा नृपतेश्च रक्ष्यान्।
स एष सूर्योदयमन्दरश्मिः क्षपाक्षयाच्चन्द्र इवास्मि जातः ॥ १ ॥

चेटी—जैसी आप की इच्छा। (निकल जाती है)।

टीका—पृच्छ्यते = प्रश्नः क्रियते ; ईदृशि चित्ताकर्षके व्यक्तौ सत्यामासक्तौ अलं विलम्बेनेति भावः। उपहसनीयताम् = वसन्तसेनया अयोग्यः नायकः वृतः इत्येवं रूपामुपहासस्थितिमिति भावः। रक्षामि = निवारयामि। अबलाजनः = स्त्रीजनः ; सखीजनस्य = सख्युः चित्तम् = भावनामित्यर्थः अनुवर्तते = अनुसरति इति सखीजनचित्तानुवर्ती = सखीजनभावनानुसारी। गृहीतम् = स्वीकृतम् अवगुण्ठनम् = वस्त्राच्छादनम् येन तत् ; प्रवहणम् = रथः, शकटः ('कर्णीरथः प्रवहणं हयनञ्च समं त्रयम्' इत्यमरः)। सुवर्णानाम् = लोके 'मोहर' इति प्रसिद्धानाम् दशसहस्रं तेन लभ्यः सुवर्णदशसाहस्रिकः = दशसहस्रसुवर्णमूल्यलभ्यः इत्यर्थः। सन्देशेन = सन्देशं दत्त्वा इत्यर्थः ॥

टिप्पणी—प्रवहणम्—बन्द गाड़ी, प्र + √वह् + ल्युट्। ०साहस्रिकः = सहस्र + ठञ् (इक्) ॥

दत्त्वा निशायाः इति—

अन्वय :—निशायाः, वचनीयदोषम्, दत्त्वा, निद्राम्, च, नृपतेः, रक्ष्यान्, च, जित्वा, सः, एषः, (अहम्), क्षपाक्षयात्, सूर्योदयमन्दरश्मिः, चन्द्रः, इव, जातः, अस्मि ॥१॥

शब्दार्थः—निशायाः = रात्रि को, वचनीयदोषम् = निन्दा के दोष को, दत्त्वा = देकर, निद्राम् = नींद को, च = और, नृपतेः = राजा के, रक्ष्यान् = पहरेदारों को, च = भी, जित्वा = जीतकर, सः = वह, एषः = यह, (अहम्=मैं), क्षपाक्षयात् = रात के बीत जाने से, सूर्योदयमन्दरश्मिः = सूर्योदय के कारण मन्द तेज वाले, चन्द्रः = चन्द्रमा ; इव = जैसा, जातः = हो गया, अस्मि = हूँ ॥

(प्रवेश करके)

अर्थः—शर्विलक—रात्रि को निन्दाका दोष देकर (अर्थात् 'रात में ही

अपि च,—

य: कश्चित्त्वरितगतिर्निरीक्षते मां
संभ्रान्तं द्रुतमुपसर्पति स्थितं वा।
तं सर्वं तुलयति दूषितोऽन्तरात्मा
स्वैर्दोषैर्भवति हि शङ्कितो मनुष्य: ।। २ ।।

चोरी जैसे खराब काम होते हैं। इस प्रकार का दोष लगाकर)' नींद तथा राजा के पहरेदारों को जीत कर, यह (मैं) रात के बीत जाने पर सूर्योदय के कारण मन्द तेजवाले चन्द्रमा के समान हो गया हूँ। (सूर्य के निकलने पर चन्द्रमा और चोर—दोनों का ही तेज समाप्त हो जाता है) ।। १ ।।

टीका निशायाः = रात्रेः (सम्बन्धेऽत्र षष्ठी); वचनीयदोषम् = बहुदोषा हि शर्वरीति अपवादरूपं दूषणम्, दत्त्वा = समर्प्य, चौर्येण दूषयित्वेत्यर्थः; निद्राञ्च = आत्मनः स्वापञ्च ; नृपतेः = राज्ञः ; रक्ष्यान् = नगररक्षकान् च ; जित्वा = तिरस्कृत्य, अगणय्य इत्यर्थः ; सः = रात्रौ कर्मलीनः ; एषः = गच्छन् ; अहमिति शेषः ; क्षपायाः = रात्रेः क्षयात् = नाशात् ; सूर्योदयेन = प्रभाकरप्रकाशेन मन्दाः = कान्तिहीनाः रश्मयः = कराः यस्य सः ; चन्द्रः = शशिः ; इव = यथा ; जातः = संवृत्तः, अस्मि = वर्ते। यथा निशाकरः निशायामेव प्रकाशते न तु दिने, तथैव निशापुत्राः चौराः अपि निशायामेव प्रभवन्ति। दिने तेषु भयात् प्रभावशून्यता दृश्यते ।। १ ।।

टिप्पणी—यहाँ पर दिन के कारण प्रभाव शून्य शर्विलक एवं सूर्य की किरणों से निष्प्रभ चन्द्रमा में समानता बतलाने के कारण उपमा अलङ्कार है। इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है उपजाति। छन्द का लक्षण—

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ।।
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ।। १ ।।

यः कश्चिदिति—

अन्वय—यः, कश्चित्, त्वरितगतिः, (सन्), संभ्रान्तम्, माम्, निरीक्षते ; वा, स्थितम्, (माम्), द्रुतम्, उपसर्पति ; दूषितः, अन्तरात्मा, तम्, सर्वम्, तुलयति ; हि, मनुष्यः, स्वैः, दोषैः, शङ्कितः, भवति ।। २ ।।

शब्दार्थः—यः = जो, कश्चित् = कोई, त्वरितगतिः = जल्दी चलने वाला, (सन् = होता हुआ), सम्भ्रान्तम् = भयभीत, माम् = मुझको, निरीक्षते =

देखता है ; वा = अथवा, स्थितम् = खड़े हुए, (माम् = मेरे पास), द्रुतम् = शीघ्र उपसर्पति = आता है ; दूषितः = दोषी, अन्तरात्मा = अन्तःकरण, तम् = उन, सर्वम् = सबको, तुलयति = तौलता है, सन्देह के साथ देखता है, हि = इसलिए कि, मनुष्यः = मनुष्य, स्वैः = अपने, दोषैः = दोषों से, शङ्कितः = शङ्कावाला, भवति = होता है।

और भी—

अर्थः—जल्दी-जल्दी चलने वाला जो कोई मनुष्य मुझ भयभीत को देखता है, अथवा खड़े हुए मेरे पास वेग से आता है ; दोषी मेरा अन्तःकरण उन सब को सन्देह के साथ देखने लगता है (अर्थात् यह सोचता है कि मुझे पकड़ने के लिये तो नहीं आ रहे हैं ?) । सचमुच मनुष्य अपने दोषों के कारण (ही) शङ्का करता है ।। २ ।।

टीका—यः कश्चित् = यः कोऽपि जनः इति शेषः ; त्वरिता = वेगवती गतिः = गमनम् यस्य तादृशः सन् ; संभ्रान्तम् = अनुचितकार्यानुष्ठानात् चकितम्, माम् = शर्विलकम् ; निरीक्षते = पश्यति ; वा = अथवा ; स्थितम् = गतिनिवृत्तम्; मामिति शेषः ; द्रुतम् = शीघ्रम् ; उपसर्पति = समीपमागच्छति ; दूषितः = दोषयुक्तः ; कृतापराधः इत्यर्थः ; अन्तरात्मा = अन्तःकरणम् ; ममेति शेषः ; तम् = पूर्वोक्तम् ; सर्वम् = निखिलम् जनम् ; तुलयति=आशङ्कते परीक्षते वा, अहं तस्करः इति किमनेन ज्ञातम् ? इत्थमाशङ्कते इति यावत् ; हि = तथा हि ; मनुष्यः = कृतापराधः जनः ; स्वैः = स्वकृतैः ; दोषैः = अपराधैः ; शङ्का = सन्देहः सञ्जाता = उत्पन्ना अस्य इति शङ्कितः = शङ्कायुक्तः ; भवति = जायते ।। २ ।।

टिप्पणी—दूषितः = अपराधी, भ्रष्ट, √दूष + णिच् + क्त । शङ्कितः = आशंकायुक्त, त्रस्त, √शङ्क् + क्त ।।

यहाँ पर पास में आये हुए पुरुष आदि के देखने से उत्पन्न हुई शर्विलक की शङ्का का चौथे चरण से समर्थन होने से—सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है । श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—प्रहर्षिणी ।

छन्द का लक्षण—

"म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्" ।। २ ।।

मया खलु मदनिकायाः कृते साहसमनुष्ठितम् ।

परिजनकथासक्तः कश्चिन्नरः समुपेक्षितः
क्वचिदपि गृहं नारीनाथं निरीक्ष्य विवर्जितम् ।
नरपतिबले पार्श्वायाते स्थितं गृहदारुव-
द्व्यवसितशतैरेवंप्रायैर्निशा दिवसीकृता ॥ ३ ॥

(इति परिक्रामति)

अर्थः—वास्तव में 'मदनिका' के लिए मैंने यह हिम्मत (चोरी का काम) किया है ।

परिजनकथासक्तः इति—

अन्वयः—(मया), परिजनकथासक्तः, कश्चित्, नरः, समुपेक्षितः ; क्वचित्, अपि, गृहम्, नारीनाथम्, निरीक्ष्य, विवर्जितम् ; नरपतिबले, पार्श्वायाते, गृहदारुवत्, स्थितम् ; एवंप्रायैः, व्यवसितशतैः, निशा, दिवसीकृता ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—(मया = मेरे द्वारा), परिजनकथासक्तः = परिवार के साथ बात करने में लगा हुआ, कश्चित् = कोई, नरः = मनुष्य, समुपेक्षितः = उपेक्षित कर दिया गया ; क्वचित् = कुछ स्थानों पर, अपि = भी, गृहम् = घर, नारीनाथम् = स्त्री है रक्षक जिसकी ऐसा, निरीक्ष्य = देखकर, विवर्जितम् = छोड़ दिया गया ; नरपतिबले = राजा के पहरेदारों के, पार्श्वायाते = बगल में आने पर, गृहदारुवत् = घर के खम्भे के समान, स्थितम् = खड़ा हुआ गया, एवंप्रायैः = इस प्रकार वाले, व्यवसितशतैः=सैकड़ों कार्यों से, निशा = रात, दिवसीकृता = दिन बना दी गयी ॥

अर्थः—परिवार के साथ बात करने में लगे हुए किसी पुरुष की उपेक्षा कर दी (अर्थात् उसके घर में नहीं घुसा) । और किसी घर को (इसलिए भी) छोड़ दिया कि उस घर में केवल स्त्रियाँ ही थीं । (यदि) राजा के पहरेदार बगल में आगए तो घर में लगे हुए काठ के खम्भे के समान (चुपचाप) खड़ा हो गया । इस प्रकार के सैकड़ों कार्यों से (मैंने) रात को दिन बना दिया (अर्थात् रात जागते ही जागते एवं काम करते करते बिता दी) ॥ ३ ॥

(ऐसा कह कर घूमता है)

टीका—मया = शर्विलकेन ; परिजनैः = परिवारसदस्यैः भृत्यजनैः वा सह कथायाम् = वार्तायाम् आसक्तः = संलग्नः ; कश्चित् = कोऽपि ; नरः = मनुष्यः ; समुपेक्षितः = उपेक्षाविषयीकृतः, परित्यक्तः इति भावः ; क्वचिदपि = कुत्रचिदपि ;

वसन्तसेना—हञ्जे ! इमं दाव चित्तफलश्रं मम सश्रणीए टाविश्र तालवेंटश्रं गेण्हिश्र लहु श्राश्रच्छ। [चेटि ! इमं तावच्चित्रफलकं मम शयनीये स्थापयित्वा तालवृन्तं गृहीत्वा लघ्वागच्छ।]

मदनिका— जं श्रज्जश्रा श्राणवेदि। [यदार्याज्ञापयति।] (इति फलकं गृहीत्वा निष्क्रान्ता)

शर्विलकः—इदं वसन्तसेनाया गृहम्। तद्यावत्प्रविशामि। (प्रविश्य) क्व नु मया मदनिका द्रष्टव्या ?

(ततः प्रविशति तालवृन्तहस्ता मदनिका)

गृहम् = भवनम् ; नारी = स्त्री नाथः = प्रभुः यस्य तत्, स्त्रीमात्रसहायमित्यर्थः ; निरीक्ष्य = दृष्ट्वा ; विवर्जितम् = परित्यक्तम् ; नरपतेः = राज्ञः बले = रक्षकसमूहे ; पार्श्वायाते = समीपम् आगते सति ; गृहस्य = भवनस्य दारुवत् = स्तम्भकाष्ठवत् ; स्थितम् = अवस्थितम् ; एवंप्रायैः = ईदृशैः ; व्यवसितशतैः = कार्यैः ; निशा = रात्रिः ; अदिवसः दिवसः सम्पद्यमानः कृतः इति दिवसीकृता = दिनवत् कृता। जाग्रता विविधानि कार्याणि कुर्वता एव रात्रिः गमितेति भावः ॥ ३ ॥

टिप्पणी—दिवसीकृता — दिवस + च्वि + कृता ॥

इस श्लोक में स्वभावोक्ति अलङ्कार एवं हरिणी छन्द है। छन्द का लक्षण—

'नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—चित्रफलकम् = चित्रपट को, शयनीये = बिस्तर पर, शय्या पर, तालवृन्तम् = ताड़ के पंखा को, लघु = शीघ्र ॥

अर्थः— **वसन्तसेना**— चेटी, इस तस्वीर (चित्रपट) को मेरे बिस्तर पर रख कर और पंखा (ताड़ का पंखा) लेकर जल्द आओ तो।

टीका— चित्रफलकम् = चित्रपटम्, शयनीये = शय्यायाम्। तालस्य इव वृन्तमस्य, ताले = करतले वृन्तमिव बन्धनमस्येति वा तालवृन्तम् = व्यजनम् (कर्मात्र बोध्यम्)। लघु = शीघ्रम् यथा स्यात् तथा ॥

अथः—**मदनिका**—जैसी आप की आज्ञा। (ऐसा कह कर फोटो को लेकर निकल जाती है)।

शर्विलक— यह वसन्तसेना का घर है। तो (इस में) घुसता हूँ। (घुस कर) मुझे मदनिका को कहाँ देखना (खोजना) चाहिए !

(इसके बाद ताड़ का पंखा हाथ में लिये 'मदनिका' प्रवेश करती है)।

शर्विलकः—(दृष्ट्वा) अये इयं मदनिका !

मदनमपि गुणैर्विशेषयन्ती रतिरिव मूर्तिमती विभाति येयम् ।
मम हृदयमनङ्गवह्नितप्तं भृशमिव चन्दनशीतलं करोति ॥ ४ ॥

मदनिके ! ।

मदनमपि इति—

अन्वयः—या, इयम्, गुणैः, मदनम्, अपि, विशेषयन्ती, मूर्तिमती, रतिः, इव, विभाति ; (सा), अनङ्गवह्नितप्तम्, मम, हृदयम्, भृशम्, चन्दनशीतलम्, इव, करोति ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—या = जो, इयम् = यह मदनिका, गुणैः = गुणों के द्वारा, मदनम्=कामदेव को, अपि=भी, विशेषयन्ती=लांघती हुई, जीतती हुई, मूर्तिमती= आकार को धारण करने वाली, रतिः=कामदेवकी स्त्री रति, इव=जैसी, विभाति= शोभित हो रही है ; सा=वह, अनङ्गवह्नितप्तम्=कामाग्नि से झुलसे हुए, मम=मेरे, हृदयम्=हृदय को, भृषम् = अत्यधिक, चन्दन शीतलम्=चन्दन की भाँति शीतल, इव = सा, करोति = कर रही है ॥

अर्थः - शर्विलक—(देख कर) अरे ! यह मदनिका !

जो यह (मदनिका) (चित्त को उन्मत्त बना देने वाले) गुणों के द्वारा कामदेव को भी लाँघती (अतिक्रमित करती) हुई, शरीर को धारण करने वाली कामदेव की स्त्री रति के समान सुशोभित हो रही है। (वह) कामाग्नि से झुलसे हुए मेरे हृदय को चन्दन की भाँति अत्यधिक शीतल कर रही है ॥ ४ ॥
मदनिका !

टीका—या इयम्=मदनिका ; गुणैः = चित्तोन्मादनादिभिः गुणैः ; मदनम् =कामदेवम् ; अपि, विशेषयन्ती=अतिक्रामन्ती, जयन्ती इत्यर्थः ; मूर्तिमती-आकार धारिणी ; रतिः=मदनस्त्री ; इव=यथा ; विभाति = शोभते ; सा = पूर्वोक्तगुण- विशिष्टा ; अनङ्गवह्निना=कामाग्निना तप्तम्=सन्तप्तम् ; मम=शर्विलकस्य ; ह्रियते विषयैः, हरति=आहरति विषयानिति वा हृदयम्=मानसम् ; भृशम्=अत्यधिकम् ; चन्दनशीतलम्= चन्दनानुलेपनेन शैत्ययुक्तमिव ; करोति=विदधाति अस्याः दर्शनेन मम हृदयं महान्तं सन्तोषमनुभवतीति भावार्थः ॥ ४ ॥

टिप्पणी—यहाँ पर पूर्वार्द्ध में मदनिका की मूर्तिमती रति के रूप में सम्भावना करने के कारण एवम् उत्तरार्द्ध में विना चन्दन के भी शीतल हृदय में

मदनिका—(दृष्ट्वा) अम्मो, कधं सव्विलओ। सव्विलअ ! साअदं दे, कहिं तुमं ?। [आश्चर्यम् , कथं शर्विलकः। शर्विलक ! स्वागतं ते। कुत्र त्वम् ?।]

शर्विलकः—कथयिष्यामि।

(इति सानुरागमन्योन्यं पश्यतः)

वसन्तसेना—चिरअदि मदणिआ। ता कहिं णु खु सा ?। (गवाक्षकेन दृष्ट्वा) कथं एषा केनावि पुरिसकेण सह मंतअंती चिट्ठदि। जधा अदिसिणिद्धाए णिच्चलदिट्ठीए आपिबंती विअ एदं णिज्झाअदि तधा तक्केमि, एसो सो जणो एदं इच्छदि अभुजिस्सं कादुं। ता रमदु रमदु, मा कस्सावि पीदिच्छेदो भोदु। ण खु सद्दाविस्सं। [चिरयति मदनिका। तत्कुत्र नु खलु सा ? कथमेषा केनापि पुरुषकेण सह मन्त्रयन्ती तिष्ठति ?। यथातिस्निग्धया निश्चलदृष्ट्या पिबन्तीवैतं निध्यायति तथा तर्कयामि, एष स जन एनामिच्छत्यभुजिष्यां कर्तुम्। तद्रमतां रमताम्, मा कस्यापि प्रीतिच्छेदो भवतु। न खल्वाकारयिष्यामि।]

चन्दन की शीतलतता की सम्भावना करने से उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—पुष्पिताग्रा। छन्द का लक्षण—

"अयुजि नयुगरेफतो यकारो।
युजि तु नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा" ॥ ४ ॥

अर्थ :—मदनिका—(देखकर) आश्चर्य, क्या शर्विलक है ? शर्विलक तुम्हारा स्वागत है। तुम कहाँ ?

शर्विलक—बताऊँगा।

[इस प्रकार बात करके वे दोनों प्रेमपूर्वक एक दूसरे को देखते हैं]

शब्दार्थः—एषा=यह मदननिका। अतिस्निग्धया=अत्यन्त प्रेम भरी हुई, निश्चलदृष्ट्या=अपलक आँखों से, पिबन्ती=पीती हुई, एतम्=इस पुरुष को, निध्यायति=विशेष ध्यान से देख रही है। अभुजिष्याम्=दासीपन से रहित, अदासी। आकारयिष्यामि=बुलाऊँगी।

अर्थ :-वसन्तसेना—'मदनिका' देर कर रही है। तो फिर वह कहाँ चली गई ? (खिड़की से देखकर) क्या ? यह किसी पुरुष के साथ बातचीत करती हुई खड़ी है। जिस प्रकार अन्यन्त प्रेम भरी अपलक आँखों से इस आदमी को पीती हुई सी ध्यान के साथ देख रही है, उससे अन्दाज करती हूं कि यह वह आदमी है जो इस मदनिका को दासीपन से छुड़ाना चाहता है। तो रमण करे, रमण करे। किसी का भी (आपस का) प्रेम न टूटे। (अतः मैं) बुलाऊँगी नहीं।

मदनिका—सलिव्वअ ! कधेहि । [शर्विलक ! कथय ।]

(शर्विलकः सशङ्कं दिशोऽवलोकयति)

मदनिका—सव्विलअ ! किं एणेदं ससंको विअ लक्खीअसि ? । [शर्विलक ! किं न्विदं सशङ्क इव लक्ष्यसे ? ।]

शर्विलकः—वक्ष्ये त्वां किंचिद्रहस्यम् । तद्विविक्तमिदम् ।

मदनिका—अध इं । [अथ किम् ।]

वसन्तसेना—कधं परमरहस्सं ? । ता ण सुणिस्सं । [कथं परमरहस्यम् ? । तन्न श्रोष्यामि ।]

शर्विलकः—मदनिके ! किं वसन्तसेना मोक्ष्यति त्वां निष्क्रयेण ? ।

टीका—एषा इयम् मदनिका । अतिस्निग्धया = अतिशयस्नेहपूरितया ; निश्चलदृष्ट्या = निर्निमेषलोचनेन ; पिबन्ती = पानं कुर्वती, सतृष्णमवलोकयन्ती इत्यर्थः ; एतम् = आगतं जनम् ; निध्यायति = निरीक्षते, ('निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः) । भुङ्क्ते स्वाम्युच्छिष्टम् या सा भुजिष्या = दासी-न भुजिष्या अभुजिष्या ताम् अभुजिष्याम् = दासीभावविरहिताम् । आकारयिष्यामि = शब्दापयिष्यामि ।

अर्थः—मदनिका— शर्विलक ! बतलाओ ।

(शर्विलक शङ्कापूर्वक चारों ओर देखता है)

मदनिका—शर्विलक ! क्या बात है ? तुम शङ्कायुक्त से दिखलाई पड़ रहे हो ।

शब्दार्थः—रहस्यम्=गुप्त बात को । इदम्=यह स्थान, विविक्तम् निर्जन, सूना । निष्क्रयेण=छुड़ाने के लिये दिये गये धन से ।

अर्थः—शर्विलक—तुम से कुछ गुप्त बात बताऊँगा । तो क्या यह जगह निर्जन है ?

मदनिका—और क्या ?

वसन्तसेना—क्या बिलकुल गुप्त बात है ? तो नहीं सुनूँगी ।

शर्विलक—मदनिका ! तो क्या 'वसन्तसेना' धन देने से तुम्हें अपने बन्धन (दासीपन) से छोड़ देगी ?

टीका—रहो भवम् रहस्यम् = विविक्तवक्तव्यम् । इदम् = एतत् स्थानम्, विविञ्चन्ति जनाः अत्रेति विविक्तम् = जनसञ्चाररहितम् । निष्क्रयेण = द्रव्यविनिमयेन ।

वसन्तसेना—कधं मम संबंधिणी कधा ? । ता सुणिस्सं इमिणा गवक्खेण ओवारिदसरीरा । [कथं मम संबन्धिनी कथा ? । तच्छ्रोष्याम्यनेन गवाक्षेणापवारितशरीरा ।]

मदनिका—सव्विलअ ! भणिदा मए अज्जआ । तदो भणादि—'जइ मम छंदो तदा विणा अत्थं सव्वं परिजणं अभुजिस्सं करइस्सं' । अध सव्विलअ ! कुदो दे एत्तिओ विहवो, जेण मं अज्जआसआदो मोआइस्ससि ? । [शर्विलक ! भणिता मयार्या । तदा भणति—'यदि मम छन्दस्तदा विनाऽर्थं सर्वं परिजनमभुजिष्यं करिष्यामि । अथ शर्विलक ! कुतस्त एतावान्विभवः, येन मामार्यासकाशान्मोचयिष्यसि ? ।]

शर्विलकः—

दारिद्र्येणाभिभूतेन त्वत्स्नेहानुगतेन च ।
अद्य रात्रौ मया भीरु ! त्वदर्थे साहसं कृतम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—अपवारितशरीरा=छिपी हुई शरीर वाली (मैं), गवाक्षेण=झरोखे से । छन्दः=वश, कामना, अभुजिष्यम्=दासभाव से रहित ॥

अर्थः वसन्तसेना—क्या ! मेरे विषय की बात है ? तो शरीर छिपाकर (अर्थात् छिपकर) इस झरोखे से सुनूँगी ।

मदनिका—शर्विलक ! मैंने आर्या (वसन्तसेना) से कहा था । तो (उन्होंने) कहा कि—'यदि मेरा वश हो तो विना धन के (लिये) ही सब सेवकों को स्वतन्त्र कर दूँ ।' फिर शर्विलक ! तुम्हारे पास इतना धन कहाँ है, जिससे मुझको आर्या (वसन्तसेना) के पास से छुड़ा लोगे !

टीका—अपवारितम् = गोपितम् शरीरम् यया सा ; आच्छन्ना भूत्वेत्यर्थः ; गवामक्षीव, गावः = जलानि किरणाः वाक्षन्ति = व्याप्नुवन्ति एतम् अनेन वा गवाक्षः = वातायनम् तेन । छन्दः = कामचारः, इच्छा ; अभुजिष्यम् = अदासम् ॥

टिप्पणी—गवाक्षेण = गो + अक्षि + अ (अक्ष्णोऽदर्शनात्) । अभुजिष्यम्—(नञ्तत्पुरुषसमासः) न + √भुज् + किष्यन् ॥

दारिद्र्येण इति—

अन्वयः—हे भीरु ! दारिद्र्येण, अभिभूतेन, च, त्वत्स्नेहानुगतेन, मया, अद्य, रात्रौ, त्वदर्थे, साहसम्, कृतम् ॥ ५ ॥

वसन्तसेना—पसण्णा से आकिदी, साहसकम्मदाए उण उव्वेअणीआ। [प्रसन्नास्याकृतिः साहसकर्मतया पुनरुद्वेजनीया]

मदनिका—सव्विलअ ! इत्थीकल्लवत्तस्स कारणेण उहअं पि संसए विणिक्खित्तं। [शर्विलक ! स्त्रीकल्यवर्तस्य कारणेनोभयमपि संशये विनिक्षिप्तम्।]

शर्विलकः—किं किम्।

शब्दार्थः—हे भीरु ! = हे डरपोक स्त्री !, दारिद्रयेण = गरीबी से, अभिभूतेन = परेशान, च = एवं, त्वत्स्नेहानुगतेन = तुम्हारे प्रेम में फँसे हुए, मया = मेरे द्वारा, अद्य = आज, रात्रौ = रात में, त्वदर्थे = तुम्हारे लिए, साहसम् = हिम्मत (हिम्मत का काम = चोरी), कृतम् = की गयी है ॥

अर्थः—शर्विलक—हे भीरु (डरने वाली स्त्री) ! गरीबीसे परेशान एवं तुम्हारे प्रेम में फँसे हुए मैंने आज रात में तुम्हारे लिए (अर्थात् तुमको छुड़ाने के लिये) हिम्मत (चोरी) की है। ॥ ५ ॥

टीकाः—हे भीरु = हे भयशीले ! दारिद्रयेण = निर्धनतया ; अभिभूतेत = पीडितेन निर्जितेन वा ; च = तथा ; त्वयि = मदनिकायाम् स्नेहः = अनुरागः त्वत्स्नेहः तेन अनुगतः = युक्तः इत्यर्थः तेन ; त्वत्प्रेमप्रवणेनेति यावत् ; मया = शर्विलकेन ; अद्य रात्रौ = रजन्याम् ; त्वदर्थे = तव निमित्तम्, त्वामभुजिष्याम् कर्तुमिति यावत् ; सहसि = बले भवं साहसम् = दुष्करकर्म चौर्यमिति भावः ; ("साहसं तु दमे दुष्करकर्मणि अविमृष्य कृतौ धार्ष्टये" इति हैमः) ; कृतम् = अनुष्ठितम् ॥ ५ ॥

टिप्पणी—दारिद्रयम् = दरिद्रा + क = दरिद्र, दरिद्र + ष्यञ् ॥

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है। लक्षण—

'युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्' ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—उद्वेजनीया = क्षोभ पैदा करने वाली (आकृति)। स्त्रीकल्यवर्तस्य = कलेवा के समान स्त्री के। निक्षिप्तम् = डाल दिया।

अर्थः—वसन्तसेना—इसका आकार (चेहरा) तो सुन्दर है, किन्तु हिम्मत का काम (चोरी) करने के कारण क्षोभ पैदा करने वाला है (अर्थात् इसका सुन्दर चेहरा भी चोरी करने के कारण डरावना मालूम पड़ता है)।

मदनिका—शर्विलक ! कलेवा के समान (तुच्छ) स्त्री के (अर्थात् मेरे) कारण (तुमने) दोनों ही सन्देह में डाल दिया।

शर्विलक—क्या, क्या ?

मदनिका—सरीरं चारित्तं च। [शरीरं चारित्र्यं च।]

शर्विलकः—अपण्डिते ! साहसे श्रीः प्रतिवसति।

मदनिका—सव्विलअ ! अखंडिदचारित्तो सि। ता ण खु दे मम कारणादो साहसं करंतेण अच्चंतविरुद्धं आचरिदं ?। [शर्विलक ! अखण्डितचारित्र्योऽसि। तन्न खलु त्वया मम कारणात्साहसं कुर्वतात्यन्तविरुद्धमाचरितम्।]

शर्विलकः—

नो मुष्णाम्यबलां विभूषणवतीं फुल्लामिवाहं लतां
विप्रस्वं न हरामि काञ्चनमथो यज्ञार्थमभ्युद्धृतम्।
धात्र्युत्सङ्गगतं हरामि न तथा बालं धनार्थी क्वचि
त्कार्याकार्यविचारिणी मम मतिश्चौर्येऽपि नित्यं स्थिता॥ ६॥

तद्विज्ञाप्यतां वसन्तसेना,—

टीका—उद्वेजनीया = उद्वेगजनयित्री। स्त्रीकल्यवर्तस्य = कामिनीरूपप्रातर्भोज्यस्य ; नगण्यस्य इति भावः ; निक्षिप्तम् = पातितम्।

शब्दार्थः—चारित्र्यम् = चरित। अपण्डिते = भोली-भाली स्त्री ! साहसे= हिम्मत में, श्रीः = लक्ष्मी। अखण्डितचारित्र्यः = निर्दोष चरित्र वाला। विरुद्धम् = विपरीत, अर्थात् अपने पवित्र चरित्र के विपरीत अथवा नैतिकता के विपरीत अथवा लोक और शास्त्र के विपरीत॥

अर्थः—**मदनिका**—(अपना) शरीर और चरित।

शर्विलक—भोली भाली स्त्री ! हिम्मत में लक्ष्मी निवास करती है।

मदनिका—शर्विलक ! तुम्हारा चरित निर्दोष है। तो मेरे लिये हिम्मत (चोरी) करते हुए तुमने नितान्त विरुद्ध आचरण नहीं किया है ? (मदनिका का यह कथन वक्रोक्तिपूर्ण है। अतः इसका भावार्थ होगा कि—तुम्हारा चरित खराब है। तुमने एकदम खराब कार्य किया है)।

टीका—चारित्र्यम् = चरितम्। अपण्डिते=मुग्धे, साहसे=जीवितानपेक्षकर्मणि ; लक्ष्मीः = श्रीः। अखण्डम् = अदूषितम् चारित्र्यम् = चरितम् यस्य सः। वक्रोक्ति गर्भितमिदम् भाषणम्। विरुद्धम् = लोकशास्त्रमर्यादाविपरीतम्॥

न मुष्णामि इति—

अन्वयः—धनार्थी, अहम्, फुल्लाम्, लताम्, इव, विभूषणवतीम्, अबलाम्, नो, मुष्णामि ; विप्रस्वम्, अथो, यज्ञार्थम्, अभ्युद्धृतम्, काञ्चनम्, न,

हरामि ; तथा क्वचित्, धात्र्युत्सङ्गगतम्, बालम्, न, हरामि ; चौर्ये, अपि, मम, मतिः, नित्यम्, कार्याकार्यविचारिणी, (सती), स्थिता ॥ ६ ॥

शब्दार्थ:—धनार्थी = धनको चाहनेवाला, अहम् = मैं, शर्विलक, फुल्लाम् = फूली हुई, लताम् = लता, इव = जैसी, विभूषणवतीम् = जेवरों से सजी हुई, अबलाम् = स्त्री को, नो = नहीं, मुष्णामि = लूटता हूँ ; विप्रस्वम् - ब्राह्मण के धन को, अथो = तथा, यज्ञार्थम् = यज्ञ के लिए, अभ्युद्धृतम् = निकाले गये, काञ्चनम् = सोना को, न = नहीं, हरामि = चुराता हूँ ; तथा = और, क्वचित् = कहीं, धात्र्युत्सङ्गगतम् = धाय की गोद में स्थित, बालम् = बच्चे को, न = नहीं, हरामि = छीनता हूँ ; चौर्ये = चोरी में, अपि = भी, मम = मेरी, मतिः = बुद्धि, नित्यम् = हमेशा, कार्याकार्यविचारिणी = उचित और अनुचित काम का विचार करनेवाली, स्थिता = है ॥

अर्थः—शर्विलक—धन को चाहने वाला मैं, फूली हुई लता के समान जेवरों से सजी हुई स्त्री को नहीं लूटता हूँ। ब्राह्मण के धन एवं यज्ञ के लिये निकाल कर रक्खे हुए सोना को भी नहीं चुराता हूँ। और मैं कहीं धाय की गोद में स्थित बच्चे को भी (उसका जेवर लेने के लिये) छीनकर नहीं ले जाता हूँ। चोरी में भी मेरी बुद्धि हमेशा उचित और अनुचित का विचार करती है।

तो 'वसन्तसेना' से कहो—

टीका—धानार्थी = धनलिप्सुः ; अहम् = शर्विलकः, फुल्लाम् = विकसितपुष्पाम् ; लताम् = वल्लरीम् ; इव = यथा ; विभूषणवतीम् = अलङ्कारयुक्ताम् ; अबलाम् = स्त्रियम् ; नो = नहि ; मुष्णामि = चोरयामि ; विप्रस्वम् = ब्राह्मणसम्पत्तिम् ; अथो = तथा ; यज्ञार्थम् = यज्ञसम्पादननिमित्तिमित्यर्थः ; अभ्युद्धृतम् = निःसार्य स्थापितम् एकत्रीकृतम् वा ; काञ्चनम् = सुवर्णम् ; न हरामि = न चोरयामि। तथा = अपि च ; क्वचित् = कुत्रचित् ; धात्र्याः = उपमातुः उत्सङ्गे = क्रोडे गतम् = वर्तमानम् ; बालम् = बालकम् ; न हरामि = तच्छरीरात् अलङ्कारादिकम् न आच्छिनद्मि इति भावः। चौर्ये = चौरकर्मणि ; अपि मम = शर्विलकस्य ; मतिः = बुद्धि ; नित्यम् = सर्वदा ; कार्यम् = कर्त्तव्यम् अकार्यम् = अकर्त्तव्य च विचारयति = तच्छीला इति ; कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकिनी इत्यर्थः सती ; स्थिता = तिष्ठति। यद्यपि परिस्थितिविवशः अहम् चौर्य्ये प्रवृत्तः भवामि। परञ्च मदीया बुद्धिः सर्वदा इदमेव विचारयति यत् मम कर्मणा कश्चित् दुखितः जनः पीडितः न भवेत्, न च भवेत् सम्पादितं महत् अनुचितं कार्यमिति भावः ॥ ६ ॥

'अयं तव शरीरस्य प्रमाणादिव निर्मितः।
अप्रकाशो ह्यलंकारो मत्स्नेहाद्धार्यतामिति, ॥ ७ ॥

टिप्पणी—अभ्युद्धृतम = निकाला हुआ, अभि + उद् + √हृ (धृ) + क्त ॥

इस श्लोक में पहले के तीन चरण के वाक्यार्थ के प्रति चौथे चरण के वाक्यार्थ के हेतुरूप से निर्देश करने के कारण काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। यहाँ पर प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित। छन्द का लक्षण—

'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ६ ॥

अयं तव इति—

अन्वयः—अयम्, अलङ्कारः, तव, शरीरस्य, प्रमाणात्, इव, निर्मितः (अस्ति, तथा), अप्रकाशः, (अस्ति), हि, मत्स्नेहात्, धार्यतम्, इति ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—अयम् = यह, अलङ्कारः = जेवर, तव = तुम्हारे, शरीरस्य = शरीर की, प्रमाणात् = नाप से, इव = मानों, निर्मितः = बनाया गया, (अस्ति = है, तथा = एवं), अप्रकाशः = न दिखाने लायक, (अस्ति = है), हि = अवश्य ही, मत्स्नेहात् = मेरे ऊपर प्रेम करने के कारण धार्यताम् = पहना जाय ; इति = ऐसा (कहना) ॥

अर्थः—यह जेवर (अलङ्कार) मानों तुम्हारे शरीर की ही नाप से बनाया गया है। यह (दूसरों को) दिखाने के लायक भी नहीं है। मेरे ऊपर प्रेम करके (आप) इसे ले लें ॥ ७ ॥

टीका—अयम् = दीयमानः ; अलंक्रियते अनेन इति अलङ्कारः = आभरणम् ; तव = भवत्याः वसन्तसेनायाः इत्यर्थः ; शरीरस्य = गात्रस्य ; प्रमाणात् = परिमाणात् ; इव निर्मितः = घटितः ; अस्तीति शेषः ; तथा = अनुचितः प्रकाशः यस्य सः अप्रकाशः = अप्रदर्शनीयः अस्ति ; हि = अवश्यम् ; मयि = मदनिकायामित्यर्थः, स्नेहात् = अनुरागात् ; धार्यताम् = गृह्यताम् ॥ ७ ॥

टिप्पणी—शरीर के नाप से न बनने पर भी आभूषण में शरीर की नाप की सम्भाना करने से यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है पथ्यावक्त्र। छन्द का लक्षण—

'युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्' ॥७॥

मदनिका—सव्विलअ ! अप्पकाशो अलंकारओ। अअं च जणो त्ति दुवेवि ण जुज्जदि । ता उवणेहि दाव । पेक्खामि एदं अलंकारअं । [शर्विलक ! अप्रकाशोऽलंकारः । अयं च जन इति द्वयमपि न युज्यते । तदुपनय तावत् । पश्यामि एनमलंकारम् ।]

शर्विलकः—इदमलंकरणम् ! (इति साशङ्कं समर्पयति)

मदनिका—(निरूप्य) दिट्ठपुरुव्वो विअ अअं अलंकारओ । ता भणेहि कुदो दे एसो । [दृष्टपूर्व इवायमलंकारः । तद्भण कुतस्त एषः ।]

शर्विलकः—मदनिके ! किं तवानेन ? गृह्यताम् ।

मदनिका—(सरोषम्) जइ मे पच्चअं ण गच्छसि, ता किंणिमित्तं मं णिक्किणासि ? । [यदि मे प्रत्ययं न गच्छसि, तत्किंनिमित्तं मां निष्क्रीणासि ? ।]

शर्विलकः—अयि, प्रभाते मया श्रुतं श्रेष्ठिचत्वरे, यथा—'सार्थवाहस्य चारुदत्तस्य' इति ।

(वसन्तसेना मदनिका च मूर्छां नाटयतः)

अर्थः—मदनिका—शर्विलक ! प्रकट रूप से न पहनने लायक जेवर और यह जन (अर्थात् वेश्या 'वसन्तसेना'); दोनों की संगति नहीं बैठती (अर्थात् दिखावे के लिये वेश्या जेवर पहन कर लोगों के सामने जाती ही है। अतः तुम्हारा कहना माना न जायगा)। फिर भी दो, इस जेवर को देखूँ ।

शब्दार्थः—अलङ्करणम् = आभूषण । साशङ्कम् = भय के साथ । दृष्टपूर्वः = पहले का देखा हुआ । कुतः = कहाँ से, प्रत्ययम् = विश्वास को, निष्क्रीणासि = मूल्य देकर छुड़ा रहे हो ।

अर्थः-शर्विलक—यह है जेवर । (ऐसा कह कर शङ्का पूर्वक दे देता है) ।

मदनिका—(देखकर) यह जेवर पहले से देखा हुआ सा लगता है । तो बतलाओ कि यह तुम्हें कहाँ से मिला ?

शर्विलक—मदनिका ! तुम्हें इससे क्या ? (तुम इसको) ले लो ।

मदनिका—(क्रोध के साथ) यदि तुम्हें मेरा विश्वास नहीं है तो किस लिए धन देकर मुझे छुड़ाते हो ?

शर्विलक—अरे ! सुबह मैंने सेठों के चौक में यह सुना था कि—'सार्थवाह 'चारुदत्त' का है ।'

('वसन्तसेना' और 'मदनिका' मूर्छा का अभिनय करती हैं) ।

टीका—अलङ्करणम् = आभूषणम् । आशङ्कया=भयेन सहितम् साशङ्कम् यथा तथा । पूर्वम् = पुरा दृष्टः = प्रत्यक्षीकृतः इति दृष्टपूर्वः = पूर्वपरिचितः

शर्विलकः—मदनिके ! समाश्वसिहि । किमिदानीं त्वं

विषादस्रस्तसर्वाङ्गी संभ्रमभ्रान्तलोचना ।
नीयमानाऽभुजिष्यात्वं कम्पसे नानुकम्पसे ॥ ८ ॥

मदनिका—(समाश्वस्य) साहसिअ ! ण खु तुए मम कारणादो इमं अकज्जं करंतेण तस्सिं गेहे को वि वावादिदो परिक्खदो वा ? । [साहसिक ! न खलु त्वया मम कारणादिदमकार्यं कुर्वता तस्मिन्गेहे कोऽपि व्यापादितः परिक्षतो वा ? ।]

इत्यर्थः । प्रतीयते अनेन इति प्रत्ययः = विश्वासः तम् । निष्क्रीणासि = धनम् दत्वा मोचयसि इत्यर्थः ॥

विषादस्रस्तसर्वाङ्गी इति—

अन्वयः - विषादस्रस्तसर्वाङ्गी, संभ्रमभ्रान्तलोचना, कम्पसे ; अभुजिष्यात्वम् नीयमाना, (अपि, किम् , मयि), न, अनुकम्पसे ॥ ८ ॥

शब्दार्थः - विषादस्रस्तसर्वाङ्गी = दुःख से शिथिल सब अङ्गों वाली, संभ्रमभ्रान्तलोचना = घबराहट से चचल आँखों वाली, कम्पसे = काँप रही हो । अभुजिष्यात्वम् = स्वाधीनता को, नीयमाना = प्राप्त कराई जाती हुई (अपि = भी, किम् = क्यों, मयि = मेरे ऊपर), न = नहीं, अनुकम्पसे = कृपा कर रही हो ॥

अर्थः शर्विलक—मदनिका ! धीरज धरो । इस समय तुम क्यों—

दुःख से शिथिल सब अङ्गोंवाली, घबड़ाहट से चञ्चल आँखों वाली काँप रही हो ? दासीपन से छुड़ाई जाती हुई (भी तुम मेरे ऊपर) कृपा क्यों नहीं कर रही हो ? । ('मदनिका' का खुश होना ही उसकी 'शर्विलक' पर कृपा समझनी चाहिए) ॥ ८ ॥

टीका — विषादेन = दुःखेन स्रस्तानि = शिथिलानि सर्वाणि = सम्पूर्णानि अङ्गानि = अवयवाः यस्याः सा ; सम्भ्रमेण = भयेन भ्रान्ते घूर्णिते लोचने = नेत्रे यस्याः सा ; कम्पसे = वेपसे ; भुङ्क्ते स्वाम्युच्छिष्टम् या सा भुजिष्या = दासी, तस्याः भावः भुजिष्यात्वम न भुजिष्यात्वम् अभुजिष्यात्वम् = अकिङ्करीत्वम्, नीयमाना = प्राप्यमाणा अपि किं मयि शर्विलके न अनुकम्पसे = न दयसे ? श्लोकस्य भावः किमिदानीं त्वम् इति गद्येन सह पूर्णतां याति ॥ ८ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में विभावना एवं विशेषोक्ति अलङ्कार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है । छन्द के लक्षण के लिए देखिये श्लोक ७ की टिप्पणी ॥ ८ ॥

शर्विलकः—मदनिके ! भीते सुते न शर्विलकः प्रहरति; तन्मया न कश्चिद्व्यापादितो नापि परिक्षतः।

मनिदका—सच्चं सच्चं। [सत्यं सत्यम् ? ।]

शर्विलकः—सत्यम्।

वसन्तसेना—(संज्ञां लब्ध्वा) अम्महे, पच्चुवजीविदम्हि। [आश्चर्यम्, प्रत्युपजीवितास्मि।]

मदनिका—पिअं पिअं। [प्रियं प्रियम्।]

शर्विलकः—(सेर्ष्यम्) मदनिके ! किं नाम प्रियमिति ?।

त्वत्स्नेहबद्धहृदयो हि करोम्यकार्यं
सद्वृत्तपूर्वपुरुषेऽपि कुले प्रसूतः।
रक्षामि मन्मथविपन्नगुणोऽपि मानं
मित्रं च मां व्यपदिशस्यपरं च यासि ॥ ९ ॥

(साकूतम्)

शब्दार्थः—व्यापादितः = जान से मारा गया, परिक्षतः = घायल किया गया। भीते = डरे हुए पर, सुते = सोये हुए पर। संज्ञाम् = चेतना को, होश को। सेर्ष्यम् = ईर्ष्या के साथ ॥

अर्थः—मदनिका—(धीरज धारण कर) हे साहसी ! मेरे लिए इस बुरे काम को करते हुए तुमने उस घर में किसी को जान से मारा तो नहीं ! अथवा किसी को घायल तो नहीं किया ?

शर्विलक—मदनिका ! डरे हुए और सोये हुए पर 'शर्विलक' वार (प्रहार) नहीं करता है। इस लिए मैंने न तो किसी को मारा है और नहीं किसी को घायल ही किया है।

मदनिका—सच ?

शर्विलक—सच।

वसन्तसेना—(होश में आकर) आश्चर्य है, कि मैं फिर जीवित हो गई।

मदनिका—प्रिय हुआ।

टीका व्यापादितः = हतः ; परिक्षतः = क्षतं प्रापितः। भीते = भय-विह्वले ; सुप्ते = निद्रिते। संज्ञाम् = चेतनाम्। ईर्ष्यया = असूयया सहितम् सेर्ष्यम् यथा स्यात् तथा ; परेषां गुणेषु असहिष्णुता इर्ष्या कथ्यते। शर्विलकः विचारयति, यत् मदनिका चारुदत्तमपि स्निह्यति। अतः तेन सेर्ष्यं निगद्यते इति भावः ॥

त्वत्स्नेहबद्धहृदयः इति—

अन्वयः—सद्वृत्तपूर्वपुरुषे, कुले, प्रसूतः, अपि, (अहम्) त्वत्स्नेहबद्धहृदयः, (सन्), हि, अकार्यम्, करोमि ; मन्मथविपन्नगुणः, (सन्), अपि, मानम्, रक्षामि ; (किन्तु, त्वम्) माम्, मित्रम्, व्यपदिशसि, च, अपरम् , च, यासि ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—सद्वृत्तपूर्वपुरुषे = सदाचारी पुरुषों वाले, कुले = कुल में, प्रसूतः = पैदा हुआ, अपि = भी, अहम् = मैं, त्वत्स्नेहबद्धहृदयः = तुम्हारे प्रेम से बँधा हुआ हृदय वाला अर्थात् तुम्हारे प्रेम के आधीन, सन् = होता हुआ, हि = निश्चय, अकार्यम् = कुकर्म को, करोमि = करता हूँ ; मन्मथविपन्नगुणः = कामदेव के कारण गुणहीन, सन् = होता हुआ, अपि = भी, मानम् = मान को, रक्षामि = बचाता हूँ ; (किन्तु = परन्तु, त्वम् = तुम) माम् = मुझको, मित्रम् = मित्र, व्यपदिशसि = कहती हो, च = और, अपरम् = दूसरे को, दूसरे के पास, च = भी, यासि = जाती हो ॥

अर्थः—शर्विलक – (डाह=ईर्ष्या के साथ) मदनिका ! क्या प्रिय हुआ ?

सदाचारी पुरखों के कुल में पैदा हुआ भी मैं तेरे प्रेम के अधीन होकर ऐसा कुकर्म करता हूँ (चोरी करता हूँ) । कामदेव के प्रभाव के कारण गुणहीन होकर भी (जैसे तैसे अपने) सम्मान की रक्षा करता हूँ । (इतने पर भी तू ऊपर से तो) मुझको अपना मित्र बतलाती है, और दूसरे (प्रेमी) के पीछे जाती है (अर्थात् हृदय से किसी और को चाहती है) ॥ ६ ॥

टीका—सद् = समीचीनम् वृत्तम्=कर्म येषाम् ते सद्वृत्ताः=सदाचारपालन-पत्पराः पूर्वपुरुषाः = पूर्वजाः यत्र तस्मिन् ; कुले = वंशे ; प्रसूतः= उत्पन्नः = अपि अहम् = शर्विलकः ; त्वत्स्नेहेन = तव प्रेम्णा बद्धम् = वशीकृतम् हरति, हृयते वा हृदयम् = चेतः यस्य तादृशः सन् हि = निश्चितम् ; अकार्यम् = अनुचितम् कर्म ; करोमि = सम्पादयामि । मननं मत् = चेतना मथतीति मथः मतः = चेतनायाः मथः = मन्थनकर्ता कामदेवः इत्यर्थः तेन विपन्नाः = विनष्टाः गुणाः = सदाचारादयः यस्य तादृशः सन् ; अपि ; मानम् = आत्मसम्मानम् ; रक्षामि = न त्यजामि इत्यर्थः ; किन्तु त्वं माम् = शर्विलकमित्यर्थः ; मित्रम् = प्रियम् ; व्यपदिशसि = कथयसि ; च = तथा ; अन्यम् = अपरम् पुरुषम्, चारुदत्तमित्याशयः ; च = अपि ; यासि = सम्भोगार्थम् व्रजसि इति भावः । यदि चारुदत्ते नानुरक्ता त्वं तर्हि "न कश्चिद् व्यापादितो नापि परिक्षतः" इति श्रुत्वा कथं 'प्रियं प्रियम्' इत्युक्तं त्वया ? इति शर्विलकस्यभावः ॥ ६ ॥

इह सर्वस्वफलिनः कुलपुत्रमहाद्रुमाः ।
निष्फलत्वमलं यान्ति वेश्याविहगभक्षिताः ॥ १० ॥
अयं च सुरतज्वालः कामाग्निः प्रणयेन्धनः ।
नराणां यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च ॥ ११ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक के छन्द का नाम है वसन्ततिलका ।

लक्षण—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ ९ ॥

इह सर्वस्वफलिन इति—

अन्वयः—इह, सर्वस्वफलिनः, कुलपुत्रमहाद्रुमाः, वेश्याविहगभक्षिताः, अलम्, निष्फलत्वम्, यान्ति ॥ १० ॥

शब्दार्थः—इह=इस संसार में, सर्वस्वफलिनः=सारा धन ही जिनका फल है, ऐसे कुलपुत्रमहाद्रुमाः=कुलीन पुत्र रूपी बड़े पेड़, वेश्याविहगभक्षिताः= वेश्यारूपी चिड़ियों के द्वारा खाये जाकर, अलम्=पूर्ण रूप से, निष्फलत्वम्=फल हीनता को, यान्ति=प्राप्त होते हैं ।

(अभिप्राय पूर्वक अर्थात् किसी बात को मन में लेकर)

अर्थः—इस संसार में अपना सारा धन ही जिनका फल है ऐसे कुलीन पुत्र रूपी बड़े पेड़ वेश्या रूपी चिड़ियों के द्वारा खाये जाकर एकदम निष्फल (पुत्र के पक्ष में धनहीन ; पेड़ के पक्ष में फलहीन) कर दिये जाते हैं । (अर्थात् जिस प्रकार चिड़ियाँ फल खाकर पेड़ को फलहीन कर देती हैं, उसी प्रकार वेश्याएँ धन खाकर पुरुषों को गरीब कर देती हैं) ॥१०॥

टीका:—इह=अस्मिन् जगति ; सर्व=निखिलम् स्वम्=धनमेव फलम्= प्रसवः इति सर्वस्वफलम्, तदस्ति एषामिति सर्वस्वफलिनः=समग्रधनरूपफल-युक्ताः ; कुलपुत्राः=सद्वंशोत्पन्नाः जनाः एव महाद्रुमाः=महावृक्षाः ; वेश्याः= गणिकाः एव विहगाः=पक्षिणः तैः भक्षिताः=खादिताः सन्तः ; अलम्=पर्याप्तम् ; निष्फलत्वम्=फलराहित्यम् ; यान्ति=गच्छन्ति ॥ १० ॥

टिप्पणी—यहाँ पर धन—कुलपुत्र आदि में फल—द्रुम आदि का अभेद रूप से आरोप करने के कारण रूपक अलङ्कार है । प्रयुक्त छन्द का नाम है— पथ्यावक्त्र । छन्द का लक्षण—"युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्" ॥१०॥

अयं च इति—

अन्वयः—सुरतज्वालः, प्रणयेन्धनः, अयम्, कामाग्निः, (अस्ति), यत्र, नराणाम्, यौवनानि, धनानि, च, हूयन्ते ॥ ११ ॥

वसन्तसेना--(सस्मितम्) अहो से अत्थाणे आवेओ। [अहो, अस्यास्थान आवेगः ।]

शर्विलकः--सर्वथा--

अपण्डितास्ते पुरुषा मता मे ये स्त्रीषु च श्रीषु च विश्वसन्ति ।
श्रियो हि कुर्वन्ति तथैव नार्यो भुजङ्गकन्यापरिसर्पणानि ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—सुरतज्वालः = सम्भोग रूपी लपट वाली, प्रणयेन्धनः = प्रेम रूपी ईंधनवाली, अयम् = यह, कामाग्निः = काम वासना रूपी आग, (अस्ति=है) यत्र = जिसमें, नराणाम् = मनुष्यों की, यौवनानि=जवानियाँ, च=और, धनानि = सम्पत्तियाँ, हूयन्ते = होम की जाती हैं ॥

अर्थः- सम्भोग जिसकी लपटें हैं, प्रेम जिसका ईंधन है, ऐसी काम-वासना रूपी आग में मनुष्यों की जवानी और सम्पत्ति--दोनों ही-होम (भस्म=नष्ट) की जाती हैं ॥ ११ ॥

टीका—सुरतम् = सम्भोगक्रीडा एव ज्वाला = शिखा यस्य सः ; प्रणयः = अनुरागः एव इन्धनम् = दारु यस्य सः ('काष्ठम् दार्विन्धनम्' इत्यमरः). अयम् = अनुभूयमानः, कामः = कामदेवः एव अग्निः = वह्निः अस्तीति शेषः ; यत्र=यस्मिन् कामाग्नौ ; नराणाम् = मानवानाम् ; यौवनानि = तारुण्यानि ; धनानि = सम्पत्तयश्च ; हूयन्ते = भस्मसात् क्रियन्ते, आहुतयः इव प्रक्षिप्यन्ते इत्यर्थः ॥ ११ ॥

टिप्पणी :—यहाँ 'काम' को अग्नि के रूप में, प्रणय को इन्धन के रूप में और रतिक्रीडा को ज्वाला के रूप में कहा गया है। इस प्रकार यहाँ साङ्गरूपक अलङ्कार है। श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है पथ्यावक्त्र। लक्षण के लिये देखिये पीछे के श्लोक की टिप्पणी ॥ ११ ॥

शब्दार्थ :—अस्य - इसका, शर्विलक का, अस्थाने=गलत जगह पर, आवेगः = रोष, विक्षोभ ॥

वसन्तसेना—(मुस्कराकर) अहो ! इसका रोष गलत जगह पर है (अर्थात् इसका रोष बिना कारण के ही है)।

टीका :—अस्य=शर्विलकस्य ; अस्थाने=अनुचिते स्थाने ; आवेगः = विक्षोभः। अनुचिते विषये अस्य चित्तोद्वेगः इति भावः ॥

स्त्रीषु न रागः कार्यो रक्तं पुरुषं स्त्रियः परिभवन्ति।
रक्तैव हि रन्तव्या विरक्तभावा तु हातव्या ॥ १३ ॥

अपण्डितास्ते इति—

अन्वयः—ये, पुरुषाः, स्त्रीषु, च, श्रीषु, च, विश्वसन्ति, ते, अपण्डिताः, मे, मताः, हिं, श्रियः, तथैव, नार्यः, भुजङ्गकन्यापरिसर्पणानि, कुर्वन्ति ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—ये = जो, पुरुषाः=पुरुष, स्त्रीषु=स्त्रियों पर, च=और, श्रीषु= धन पर, विश्वसन्ति=भरोसा रखते हैं ; ते = वे पुरुष, अपण्डिताः=बेवकूफ (अज्ञ), मे = मुझे, मताः = लगते हैं ; हि=क्योंकि, श्रियः=सम्पत्तियाँ, तथैव = उसी तरह, नार्यः = स्त्रियाँ, भुजङ्गकन्यापरिसर्पणानि=सापिन के समान (टेढ़ी) चाल, कुर्वन्ति = करती हैं, चलती हैं ॥

शर्विलक —हर प्रकार से—

अर्थ :—जो आदमी स्त्रियों एवं धन पर भरोसा रखते हैं ; वे (आदमी) मुझे बेवकूफ लगते हैं। धन (सम्पत्ति) तथा स्त्रियाँ सापिन के समान (टेढ़ी) चाल चला करती हैं ॥ १२ ॥

टीका :—ये पुरुषाः=जनाः ; स्त्रीषु=रामासु ; च = तथा ; श्रीषु = सम्पत्तिषु च ; विश्वसन्ति=विश्वासं कुर्वन्ति ; ते पुरुषाः ; अपण्डिताः = अप्रवीणाः, अज्ञाः इति यावत् ; मे=मम, शर्विलकस्य इत्यर्थः ; मताः=अभीष्टाः ; मम बुद्धया ते मूर्खाः सन्ति इति भावः ; हि=यतः ; श्रियः=सम्पत्तयः ; तथैव=तद्वदेव ; नार्यः=स्त्रियः अपि ; भुजङ्गकन्यानाम् = सर्पिणीनाम्, इव इत्यर्थः ; परिसर्पणानि = कुटिल-गमनानि ; कुर्वन्ति=सम्पादयन्ति । अतः तासाम् विश्वासः न कर्तव्यः इति भावः ॥ १२ ॥

टिप्पणी :—परिसर्पणानि = चलना, रेंगना ; परि + √सृप् + ल्युट् + विभक्तिकार्यम् ॥

इस श्लोक में दीपक एवं उपमा के परस्पर अङ्गाङ्गिभाव के कारण सङ्कर अलङ्कार तथा उपजाति छन्द है। छन्द का लक्षण—

(स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।
उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ॥)

अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥ १२ ॥

सुष्ठु खल्विदमुच्यते—

एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतो-
र्विश्वासयन्ति पुरुषं न तु विश्वसन्ति।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन
वेश्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः ॥ १४ ॥

स्त्रीषु न रागः इति—

अन्वय :—स्त्रीषु, रागः, न कार्यः ; स्त्रियः, रक्तम्, पुरुषम्, परिभवन्ति ; हि, रक्ता, एव, रन्तव्या, विरक्तभावा, तु, हातव्या ॥ १३ ॥

शब्दार्थ :—स्त्रीषु=स्त्रियों पर, रागः = प्रेम, न = नहीं, कार्यः = करना चाहिये ; स्त्रियः = स्त्रियाँ, रक्तं = प्रेम करने वाले, पुरुषम् = पुरुष को, परिभवन्ति= अपमानित करती हैं ; हि = केवल, रक्ता = प्रेम करने वाली स्त्री एव=ही, रन्तव्या= रमण करने के योग्य है, विरक्तभावा = उदासीन (स्त्री), तु = तो, हातव्या = त्याग देने लायक (है) ॥

अर्थ : - स्त्रियों पर प्रेम नहीं करना चाहिए। स्त्रियाँ (अपने पर) प्रेम करने वाले पुरुष को अपमानित करती हैं। प्रेम करने वाली स्त्री के साथ ही रमण करना चाहिए। और उदासीन (प्रेम न करने वाली स्त्री) को त्याग देना चाहिए (अर्थात् उससे प्रेम नहीं करना चाहिए) ॥ १३ ॥

टीका : – स्त्रीषु=वनितासु ; रागः=प्रीतिः ; न कार्यः=न कर्तव्यः ; स्त्रियः = वनिताः ; रक्तम्=अनुरागशालिनम् ; पुरुषम् = जनम् ; परिभवन्ति=तिरस्कुर्वन्ति। हि = केवलम् ; रक्ता = अनुरागिणी स्त्री एव ; रन्तव्या = रमणार्हा ; विरक्तः = अनुरागशून्यः भावः यस्याः सा, अननुरागिणीत्यर्थः ; हातव्या = परिवर्जनीया ॥१३॥

टिप्पणी :—रागः = प्रेम, स्नेह, √रञ्ज्+घञ् (भावे) ; नलोपकुत्वे।
इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा आर्या छन्द है। छन्द का लक्षण—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या। १३ ॥

एता हसन्ति इति—

अन्वयः—एताः, वित्तहेतोः, हसन्ति, च, रुदन्ति, च, पुरुषम्, विश्वासयन्ति, तु, न, विश्वसन्ति ; तस्मात्, कुलशीलसमन्वितेन, नरेण, श्मशानसुमनाः, इव, वेश्याः, वर्जनीयाः ॥ १४ ॥

अपि च—

समुद्रवीचीव चलस्वभावाः संध्याभ्रलेखेव मुहूर्तरागाः।
स्त्रियो हृतार्थाः पुरुषं निरर्थं निष्पीडितालक्तकवत्त्यजन्ति ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—एताः=ये (व्यापारी स्त्रियाँ), वित्तहेतोः=धन के लिये, हसन्ति=हँसती हैं, च=और, रुदन्ति=रोती हैं, पुरुषम्=पुरुष को, विश्वासयन्ति=विश्वास दिलाती हैं, तु=किन्तु, न=नहीं, विश्वसन्ति=विश्वास करती हैं ; तस्मात्=इसलिये, कुलशीलसमन्वितेन=(अच्छे) कुल एवम् स्वभाव वाले, नरेण=मनुष्य के द्वारा, श्मशानसुमनाः इव=श्मशान भूमि के फूल की भाँति, वेश्याः=वेश्याएँ, वर्जनीयाः=त्याग देने के योग्य (हैं) ॥

वास्तव में यह ठीक कहा जाता है—

अर्थः—ये (व्यापारी स्त्रियाँ) धन (पाने) के लिए हँसती और रोती हैं। पुरुष को (अपना) विश्वास दिलाती हैं, किन्तु (स्वयं पुरुष का) विश्वास नहीं करती हैं। इसलिए (अच्छे) कुल एवं स्वभाव वाले पुरुष को चाहिए कि वह वेश्याओं को श्मशान (भूमि) के फूल के समान छोड़ दे ॥१४॥

टीका :- एताः=वेश्याः ; वित्तस्य=धनस्य, हेतोः=कारणात् ; हसन्ति=दातुः विनोदार्थं हासम् कुर्वन्ति इत्यर्थः ; च=तथा ; रुदन्ति=विलपन्ति च ; कामुकानाम् हृदयस्य द्रवीकरणार्थं वेश्याः रोदनमपि कुर्वन्ति ; पुरुषम्=कामुकम् जनमित्यर्थः ; विश्वासयन्ति=प्रत्याययन्ति च, तु=किन्तु ; न विश्वसन्ति=न प्रत्ययम् गच्छन्ति ; तस्मात्=ततः ; कुलञ्च=सद्वंशश्च शीलञ्च=स्वभावश्च ताभ्याम् समन्वितेन=युक्तेन, कुलवता शीलवता चेत्यर्थः ; नरेण=पुरुषेण ; श्मशानस्य=पितृवनस्य सुमनाः=पुष्पम् मालतीपुष्पाणि वा ('सुमना मालती जातिः') ; इव वेश्याः=वाराङ्गनाः ; वर्जनीयाः=हातव्याः। यथा सुगन्धावदातानि अपि श्मशानपुष्पाणि जनैः परिह्रियन्ते ; तथा रूपावदाताः अपि वारवनिताः सर्वविधावदातेन पुरुषेण त्यक्तव्याः इति भावः ॥ १४ ॥

टिप्पणी :—पूर्वार्द्ध में वेश्या रूप एक कर्त्ता का हास रोदन आदि अनेक क्रियाओं से सम्बन्ध होने के कारण दीपक अलङ्कार है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में उपमा अलङ्कार है। इस प्रकार यहाँ दीपक एवं उपमा की संसृष्टि है। प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका। छन्द का लक्षण—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥' १४ ॥

स्त्रियो नाम चपलाः--

अन्यं मनुष्यं हृदयेन कृत्वा अन्यं ततो दृष्टिभिराह्वयन्ति ।
अन्यत्र मुञ्चन्ति मदप्रसेकमन्यं शरीरेण च कामयन्ते ॥ १६ ॥

समुद्रवीचीव इति—

अन्वयः—समुद्रवीची, इव, चलस्वभावाः, सन्ध्याभ्रलेखा, इव, मुहूर्तरागाः, स्त्रियः, हृतार्थाः, (सत्यः), निरर्थम्, पुरुषं, निष्पीडितालक्तकवत्, त्यजन्ति ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—समुद्रवीची = सागर की लहरी, इव=जैसी, चलस्वभावाः = चञ्चल स्वभाव वाली; सन्ध्याभ्रलेखा = सायंकालीन बादलों की पाँत, इव = जैसी, मुहूर्तरागाः = क्षण भर के लिये राग (बादलों के पक्ष में लालिमा एवं स्त्रियों के पक्ष में प्रेम) वाली, स्त्रियः = स्त्रियाँ, हृतार्थाः = धन लेने वाली, (सत्यः = होकर), अर्थात् धन लेकरके; निरर्थम् = निर्धन, पुरुषम् = पुरुष को, निष्पीडितालक्तकवत् = निचोड़े गये महावर के समान, त्यजन्ति = छोड़ देती हैं ॥

और भी—

अर्थः—सागर की लहरों के समान चञ्चल स्वभाव वाली, सायंकालीन बादलों की पाँत के समान क्षण भर के लिए राग (बादलों के पक्ष में—लालिमा एवं स्त्रियों के पक्ष में—प्रेम) वाली स्त्रियाँ (वेश्यायें) धन लेकर के (बाद में) निर्धन हुए मनुष्य को, निचोड़े गये महावर (अलक्तक) के समान, छोड़ देती हैं ॥१५॥

टीका—समुद्रस्य = सागरस्य, वीची = तरङ्गः इव; चलः = अस्थिरः स्वभावः = प्रकृतिः यासाम् ताः, अतिचपलाः इत्यर्थः; सन्ध्यायाः = सायङ्कालस्य अभ्राणाम् = मेघानाम् लेखा = रेखा, इव; मुहूर्तम् = क्षणम् स्वल्पकालमित्यर्थः-रागः = अनुरागः (मेघलेखापक्षे रक्तिमा) यासाम् ताः; स्त्रियः = रमण्यः; हृतः = अपहृतः कामुकात् गृहीतः इति यावत्, अर्थः = धनम् याभिः तथाभूताः सत्यः; निर्गतः अर्थः यस्य तम् निरर्थम् = निर्धनम्; पुरुषम् = जनम्; निष्पीडितम् = निःसारितम् अलक्तकम् = लाक्षा तद्वत् त्यजन्ति = परित्यजन्ति ॥१५॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं उपजाति छन्द है। छन्द के लक्षण के लिये देखिये श्लोक १२ की टिप्पणी ॥१५॥

सूक्तं खलु कस्यापि—

न पर्वताग्रे नलिनी प्ररोहति
न गर्दभा वाजिधुरं वहन्ति।

अन्यम् मनुष्यमिति—

अन्वयः—(स्त्रियः), हृदयेन, अन्यम् मनुष्यम्, कृत्वा, ततः, अन्यम् = दृष्टिभिः, आह्वयन्ति, अन्यत्र, मदप्रसेकम्, मुञ्चन्ति, शरीरेण, अन्यम् च, कामयन्ते ॥१६॥

शब्दार्थः—(स्त्रियः = स्त्रियाँ). हृदयेन = हृदय से (में), अन्यम् = दूसरे, मनुष्यम् = पुरुष को, कृत्वा = करके, ततः = उससे, अन्यम् = दूसरे को, दृष्टिभिः = आँखों से, आह्वयन्ति = बुलाती हैं ; अन्यत्र = दूसरे पर, मदप्रसेकम् = मदिरा का कुल्ला, मुञ्चन्ति = छोड़ती हैं, करती हैं ; शरीरेण = शरीर से, अन्यम् = दूसरे को, कामयन्ते = चाहती हैं ॥

चञ्चल स्वभाववाली स्त्रियाँ—

अर्थः—(अपने) हृदय में दूसरे पुरुष को रखकर उससे किसी दूसरे पुरुष को आँख (के इशारों) से बुलाती हैं। उससे भी (किसी) दूसरे पुरुष पर मदिरा का कुल्ला करती हैं और अपनी शरीर से (उससे भी किसी) अन्य पुरुष को चाहती हैं (अर्थात् आलिङ्गन करती हैं) (भाव यह कि स्त्रियाँ मन, बचन, कर्म और शरीर से सब भाँति छलमयी होती हैं) ॥१६॥

टीका—स्त्रियः = वारनार्यः इत्यर्थः ; हृदयेन = चेतसा ; अन्यम् = इतरम् ; मनुष्यम् = पुरुषम् ; कृत्वा = निश्चित्य इत्यर्थः, ततः = तस्मात् पुरुषात् ; अन्यम् = इतरम् जनम् ; दृष्टिभिः = नेत्रेङ्गितैः इत्यर्थः ; आह्वयन्ति = आकारयन्ति ; अन्यम् = तस्मात् अन्यस्मिन् जने ; मदस्य = मदिरायाः, प्रसेकम् = मुखात् प्रक्षेपम्, सेचनमित्यर्थः ; मुञ्चन्ति = त्यजन्ति, कुर्वन्ति, इत्यर्थः ; शरीरेण कायेन, अन्यम् = तदतिरिक्तम् च, कामयन्ते = वाञ्छन्ति, प्रेम्णा आलिङ्गन्ते इत्यर्थः ॥१६॥

टिप्पणी—प्रसेकम्—उद्वमन को, प्र + √सिच् + घञ् + विभक्तिकार्यम् ॥

यहाँ पर एक ही स्त्रीरूप कर्त्ता का आह्वान आदि अनेक क्रियाओं के साथ अन्वय होने से दीपक अलङ्कार है। इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—इन्द्रवज्रा। छन्द का लक्षण—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' ॥१६॥

यवाः प्रकीर्णा न भवन्ति शालयो
न वेशजाताः शुचयस्तथाङ्गनाः ॥ १७ ॥

आः दुरात्मन् चारुदत्तहतक ! अयं न भवसि । (इति कतिचित्पदानि गच्छति)

न पर्वताग्रे इति—

अन्वयः—पर्वताग्रे, नलिनी, न, प्ररोहति, गर्दभाः, वाजिधुरम्, न, वहन्ति ; प्रकीर्णाः, यवाः, शालयः, न, भवन्ति, तथा, वेशजाताः, अङ्गनाः, शुचयः, न, (भवन्ति) ॥१७॥

शब्दार्थ :—पर्वताग्र = पहाड़ की चोटी पर, नलिनी = कमललता, न = नहीं, प्ररोहति = उगती है ; गर्दभाः = गदहे, वाजिधुरम् = घोड़े के भार को, न = नहीं, वहन्ति = ढोते हैं ; प्रकीर्णाः = बोए हुए, यवाः = जौ, शालयः = धान, न भवन्ति = नहीं होते हैं, तथा = और, वेशजाताः = वेश्या के घर में पैदा हुई, अङ्गना. = स्त्रियाँ, शुचयः = पवित्र, न = नहीं, (भवन्ति = होती हैं) ।।

सचमुच किसी का कहा हुआ ठीक ही है—

अर्थः—पहाड़ की चोटी पर कमललता (पुरइन) नहीं उगती है। गधे घोड़े के भार को नहीं ढोते हैं। (खेत में) बोए हुए जौ धान नहीं हो जाते हैं। इसी प्रकार वेश्या के घर में पैदा हुई स्त्रियाँ पवित्र नहीं होती हैं। १७॥

टीका—पर्वतस्य = गिरेः, अग्रे = शृङ्गे ; नलिनी = कमलिनी ; न प्ररोहति= नोत्पद्यते ; गर्दन्ति इति गर्दभाः = रासभाः ; वाजिनाम् = अश्वानाम्, धुरम् = भारम्, अश्ववाह्यम् भारमित्यर्थः, न वहन्ति = वोढुम् न समर्थाः भवन्ति इत्यर्थः, प्रकीर्णाः = क्षेत्रे प्रक्षिप्ताः ; यवाः = सितशूकाः, शालयः = कलमाः ; न भवन्ति = न जायन्ते ; तथा वेशे = वेश्यालये ('वेशो वेश्याजनाश्रयः' इत्यमरः) जाताः = उत्पन्नाः ; अङ्गनाः = स्त्रियः ; शुचयः = पवित्राः ; न भवन्तीति शेषः। पर्वताग्रे कमलोत्पत्तिवत् वेश्यालये जातानां स्त्रीणां पवित्रता असम्भवा इत्यर्थः ।।१७॥

टिप्पणी :—प्रकीर्णाः—इधर-उधर बिखराया हुआ, छितराया हुआ, प्र + √कॄ + क्त ॥

इस श्लोक में दृष्टान्त अलङ्कार एवं वंशस्थ छन्द है। छन्द का लक्षण—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' ॥ १७ ॥

मदनिका--(अञ्चले गृहीत्वा) अइ असंबद्धभासअ असंभावणीए कुप्पसि। [अयि असंबद्धभाषक ! असंभावनीये कुप्यसि ! ।]

शर्विलकः—कथमसंभावनीयं नाम ?

मदनिका—एसो खु अलंकारओ अज्जआकेरवो। [एष खल्वलंकार आर्यासंबन्धी ।]

शर्विलकः--ततः किम् ? ।

मदनिका—स च तस्स अज्जस्स हत्थे विणिक्खित्तो। [स च तस्यार्यस्य हस्ते विनिक्षिप्तः ।]

शर्विलकः--किमर्थम् ? ।

मदनिका—(कर्णे) एव्वं विअ । [एवमिव ।]

शर्विलकः—(सवैलक्ष्यम्) भोः कष्टम्,--

शब्दार्थ :—चारुदत्तहतक ! = दुष्टचारुदत्त ! ; अयम् = यह (तुम) न भवसि = विद्यमान न रहोगे । असम्बद्धभाषक=उटपटाङ्ग बोलने वाले ! असम्भावनीये = असम्भावित, ना उम्मीद पर । आर्यासम्बन्धी=आर्या (वसन्तसेना) का । विनिक्षिप्तः = धरोहर रक्खा गया । एवमिव = इसलिये । सवैलक्ष्यम्=लज्जा के साथ ॥

अर्थः—अरे दुष्ट चारुदत्त ! अब तुम न रहोगे (अर्थात् अभी तुम्हें मारता हूँ) । (ऐसा कह कर कई कदम चलता है)

मदनिका—(आँचल पकड़ कर) हे उटपटाङ्ग बोलने वाले (शर्विलक) ! (तुम ; असम्भावित (जिसकी उम्मीद भी न की जा सके) पर कोप कर रहे हो ?

शर्विलक—असम्भावनीय (ना उम्मीद) कैसे है ?

मदनिका—वास्तव में यह जेवर आर्या (वसन्तसेना) का है ।

शर्विलक—उससे क्या (हुआ) ?

मदनिका—वह जेवर उन आर्य (चारुदत्त) के हाथ (पास) में धरोहर रक्खा गया था ।

शर्विलक—किस लिए ?

मदनिका—(कान में) इस लिए ।

शर्विलक—(लज्जा के साथ) अरे दुःख है !

छायार्थं ग्रीष्मसंतप्तो यामेवाहं समाश्रितः।
अजानता मया सैव पत्रैः शाखा वियोजिता ॥ १८ ॥

टीका :—चारुदत्तहतक ! =दुष्टचारुदत्त ! ; अयम् न भवसि=सम्प्रति एव त्वाम् हन्मि इति भावः। असम्बद्धम्=असङ्गतम् भाषते=वक्ति इति असम्बद्धभाषकः तत्सम्बुद्धौ ! असम्भावनीये=अशक्ये। आर्यायाः=वसन्तसेनायाः सम्बन्धी=सम्बन्धवान्। विनिक्षिप्तः=न्यासीकृतः। एवमिव = "चारुदत्तस्य अकिञ्चनतया भोगस्य भूरिधनसाध्यत्वात् अयमलङ्कारो न्यासमिषेण तस्य हस्ते वसन्तसेनया विनिक्षिप्तः इति भावः" इति पृथ्वीधरः। "चारुदत्तः निर्धनत्वात् न भवेत् लज्जितः। अतः तस्य ह्रियम् दूरीकर्तुम् अनेनैव मिषेण सम्बन्धस्य शनैः शनैः वृद्ध्यर्थम् च वसन्तसेनया तत्समीपे अलङ्कारः न्यासीकृतः" इति अपरे। विलक्षः = लज्जितः तस्य भावः वैलक्ष्यम्, तेन सहितम् सवैलक्ष्यम् यथा तथा।

छायार्थमिति—

अन्वयः—ग्रीष्मसन्तप्तः, अहम्, छायार्थम्, याम्, एव, समाश्रितः, अजानता, मया, सा, एव, शाखा, पत्रैः, वियोजिता ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—ग्रीष्मसन्तप्तः = गर्मी से परेशान, अहम् = मैंने, छायार्थं= छाँह के लिये, याम्=जिस (डाली) को, एव=ही, समाश्रितः = आश्रय बनाया, सहारा बनाया, अजानता = न जानने वाले, मया = मेरे द्वारा, सा=वह, एव=ही, शाखा=डाली, पत्रैः=पत्तों से, वियोजिता=रहित कर दी गयी ॥

अर्थः—गर्मी से परेशान हुए मैंने छाँह के लिए जिस डाली का सहारा (आश्रय) लिया, उसी को अनजाने में मैंने (ही पीट कर) पत्तों से हीन बना दिया। (अर्थात् अपनी कामाग्नि से परेशान होकर मैं जिस 'वसन्तसेना' से 'मदनिका' को छुड़ाना चाहा उसी 'वसन्तसेना' का जेवर चुराया। वास्तव में यह भूल हो गयी।) ॥१८॥

टीका :—ग्रीष्मेण=निदाघेन सन्तप्तः=पीडितः ; अहम्=शर्विलकः ; छायार्थम्=अनातपार्थम् ("छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः" इत्यमरः); याम्=शाखामित्यर्थः ; एव समाश्रितः=आश्रितवान् ; अजानता=अनभिज्ञेन, मया=शर्विलकेन ; सैव=कृताश्रयैव ; शाखा = शाला ; ('स्कन्धशाखाशाले' इत्यमरः) ; पत्रैः=पर्णैः, छायासाधनभूतैः इति भावः ; वियोजिता=पत्रशून्या कृता

वसन्तसेना—कधं एसो वि संतप्पदि ज्जेव ? । ता अजाणंतेण एदिणा एव्वं अणुचिट्ठिदं । [कथमेषोऽपि सन्तप्यत एव । तदजानतैतेनैवमनुष्ठितम्]

शर्विलकः—मदनिके ! किमिदानीं युक्तम् ? ।

मदनिका—इत्थं तुमं ज्जेव्व पंडिओ । [अत्र त्वमेव पण्डितः ।]

शर्विलकः—नैवम् ; पश्य—

स्त्रियो हि नाम खल्वेता निसर्गादेव पण्डिताः ।
पुरुषाणां तु पाण्डित्यं शास्त्रैरेवोपदिश्यते ॥ १९ ॥

इत्यर्थः । कामाग्निसन्तप्तेन मया यया वसन्तसेनया मदनिका प्राप्तव्या अस्ति सैव वसन्तसेना मया अलङ्कारैः वियोजितेति भावः ॥ १८ ॥

टिप्पणी :—इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है । छन्द का लक्षण—

'युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्' ॥ १८ ॥

वसन्तसेना—क्या यह भी अफसोस ही कर रहा है । तो अनजान में ही इसने ऐसा (चोरी) किया ।

शर्विलक—मदनिका—अब क्या (करना) उचित है ?

मदनिका—इस (विषय) में तुम्हीं चतुर हो ।

शर्विलक—ऐसा नहीं । देखो—

स्त्रियो हि इति—

अन्वयः—एताः, स्त्रियः, हि, निसर्गात्, एव पण्डिताः, खलु, नाम, तु, पुरुषाणाम्, पाण्डित्यम्, शास्त्रैः, एव, उपदिश्यते ॥१९॥

शब्दार्थः—एताः = ये, स्त्रियः = स्त्रियाँ, हि = निश्चय ही, निसर्गात् = प्रकृति से, जन्म से, एव = ही, पण्डिताः = चतुर (होती हैं), खलु नाम = ऐसी सम्भावना की जाती है । तु = किन्तु, पुरुषाणाम् = पुरुषों की पाण्डित्यम् = चतुरता, शास्त्रैः = शास्त्रों के द्वारा, एव = ही, उपदिश्यते = सिखाई जाती है ॥

अर्थः—वास्तव में, ये स्त्रियाँ जन्म से ही चतुर होती हैं । पुरुषों की चतुरता तो शास्त्रों के द्वारा ही सिखाई गई होती है (अर्थात् शास्त्र पढ़ने के बाद ही पुरुष चतुर होते हैं ।) ॥१९॥

मदनिका--सव्विलअ ! जइ मम वअणं सुणीअदि, ता तस्स ज्जेव महाणुभावस्स पडिणिज्जादेहि । [शर्विलक ! यदि मम वचनं श्रूयते, तदा तस्यैव महानुभावस्य प्रतिनिर्यातय ।]

शर्विलकः--मदनिके ! यद्यसौ राजकुले मां कथयति ।

मदनिका--ण चंदादो आदवो होदि । [न चन्द्रादातपो भवति ।]

वसन्तसेना--साहु मदणिए ! साहु । [साधु मदनिके ! साधु]

शर्विलकः--मदनिके !

न खलु मम विषादः साहसेऽस्मिन्भयं वा
कथयसि हि किमर्थं तस्य साधोर्गुणांस्त्वम् ? ।

टीका--एताः = इमाः ; स्त्यायन्ति गर्भाः आसु इति स्त्रियः = नार्यः ; हि = निश्चितम् ; निसर्गात् = स्वभावात् ; एव पण्डिताः = चतुराः, प्रवीणाः ; भवन्तीति शेषः ; नामेति सम्भावनायाम् ; तु = किन्तु ; पुरुषाणाम् = पुंसाम् ; पाण्डित्यम् = नैपुण्यम् ; शास्त्रैः = ग्रन्थाध्ययनैः इत्यर्थः ; एव उपदिश्यते = शिक्ष्यते, वा कथ्यते विचक्षणैः इति शेषः । त्वन्नैपुण्यं सहजं मदीयं तु शास्त्राध्ययनसम्पादितमतः त्वमेव प्रतिभाशालिनी युक्तायुक्तविवेचने इति भावः ॥१६॥

टिप्पणीः--इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है - पथ्यावक्त्र । छन्द के लक्षण के लिये देखिये पीछे श्लोक १८ की टिप्पणी ॥ १६ ॥

शब्दार्थः - प्रतिनिर्यातय = लौटा दो । राजकुले = कचहरी, न्यायसभा । आतपः = गर्मी, घाम ।

मदनिका--शर्विलक ! यदि मेरा कहना मानते हो तो उन्हीं महानुभाव (आर्य चारुदत्त) को (इसे) लौटा दो ।

शर्विलक--मदनिका ! यदि ये (चारुदत्त) मेरे विषय में कचहरी (राजकुल) में कह देंगे (तो)

मदनिका--चन्द्रमा से गर्मी नहीं होती (अर्थात् 'चारुदत्त' से ऐसी बात की आशा नहीं है) ।

वसन्तसेना--वाह ! मदनिका वाह !!

टीका--प्रतिनिर्यातय = निवर्तय, परावृत्य गत्वा देहि इत्याशयः, राजकुले= न्यायालये । आतपति, आङ्पूर्वकात्तपतेः कर्तरि 'पचाद्यचि' आतपः = प्रकाशः 'घाम' इति ख्यातो वा ॥

जनयति मम वेदं कुत्सितं कर्म लज्जां
नृपतिरिह शठानां मादृशां किं नु कुर्यात् ? ॥ २० ॥

तथापि नीतिविरुद्धमेतत् । अन्य उपायश्चिन्त्यताम् ।

न खलु मम इति—

अन्वयः—अस्मिन्, साहसे, मम, विषादः, वा, भयम्, न, खलु; (अस्ति), त्वम्, तस्य, साधोः, गुणान्, किमर्थं, कथयसि ? हि, इदम्, कुत्सितम्, कर्म, वा, मम, लज्जाम्, जनयति, इह, नृपतिः, मादृशाम्, शठानाम्, किम्, नु, कुर्यात् ? ॥२०॥

शब्दार्थः—अस्मिन् = इस, साहसे = हिम्मत के साथ किये गये काम में, मम = मुझे, विषादः = पछतावा (खेद), वा = अथवा भयम् = डर, न खलु = नहीं (है), त्वम् = तुम तस्य = उन, साधोः = सज्जन के, गुणान् = गुणों को, किमर्थं = किस लिए, कथयसि = कह रही हो ? हि = अवश्य ही, इदम् = यह, कुत्सितम् = बुरा कर्म = काम, वा = ही, मम = मेरी, लज्जाम् = लज्जा को जनयति = उत्पन्न कर रहा है, इह = इस विषय में, नृपतिः = राजा, मादृशाम् = हम जैसे, शठानाम् = धूर्तों का, किम् = क्या, नु = यह प्रश्नवाचकता का द्योतक अव्यय है ।) कुर्यात् = करेगा ?

शर्विलक—हिम्मत के साथ किये गये इस चोरी के काम में, सचमुच, मुझे न तो पछतावा ही है और न राजा के दण्ड आदि का डर ही। ऐसी हालत में तुम सज्जन उन आर्य 'चारुदत्त' के कृपा आदि गुणों की बात क्यों कह रही हो ? अरे ! मैंने तो चोरी रूप जिस बुरे काम को किया है, वही मुझे लजवा रहा है । नहीं तो इस विषय में राजा हम जैसे धूर्तों का कर ही क्या सकता है ? (अर्थात् कुछ नहीं कर सकता) ॥२०।

फिर भी यह नीति के खिलाफ है । दूसरा तरीका सोचो ।

टीका—अस्मिन् = मया सम्पादिते ; सहसा = बलेन कृतम् = सम्पादितम् साहसम् तस्मिन् बलकृतकार्ये, चौर्ये इति यावत् ; मम = शर्विलकस्य इत्यर्थः ; विषादः = खेदः ; वा = अथवा , भयम् = भीतिः ; न खलु = नैव ; अस्तीति शेषः ; अस्यामवस्थायाम् त्वम् = मदनिका इत्यर्थः ; तस्य = मया लुण्ठितस्य; साधोः= सज्जनस्य, चारुदत्तस्येत्यर्थः; गुणान् = दयादाक्षिण्यादिगुणान् , किमर्थं = कस्मात् हेतोः, कथयसि = वदसि ? भयभीतस्य त्वत्कथनमुपयोगि परञ्च निर्भीकस्य मम नानेन

मदनिका--सो अग्रं अवरो उवाओ। [सोऽयमपर उपायः।]

वसन्तसेना--को खु अवरो उवाओ हुविस्सदि ?। [कः खल्वपर उपायो भविष्यति ?।]

मदनिका--तस्स ज्जेव अज्जस्स केरओ भविअ एदं अलंकारअं अज्जआए उवणेहि। [तस्यैवार्यस्य संबन्धी भूत्वेममलंकारकमार्याया उपनय।]

शर्विलकः--एवं कृते किं भवति ?।

मदनिका--तुमं दाव अचोरो, सो वि अज्जो अरिणो, अज्जआए सकं अलंकरअं उवगदं भोदि। [त्वं तावदचौरः, सोऽप्यार्योऽनृणः, आर्याया स्वकोऽलंकार उपगतो भवति]।

शर्विलकः--नन्वतिसाहसमेतत्।

किमपि प्रयोजनमित्यर्थः तर्हि किमर्थम् न प्रत्यर्पयसि ? इति सम्भावनायां कथति- हि=अवधारणे ; इदम्=मया कृतम् ; कुत्सितम्=निन्दितम्. कर्म=कार्यम्, चौर्यमिति यावत् ; वा=एव ; जनयति=उत्पादयति ; इह=अस्मिन् कार्ये-चौर्ये इति यावत् ; नृपतिः=राजा ; मादृशाम्=मत्सदृशानाम् ; शठानाम्=धूर्तानाम् ; किं नु = प्रश्ने ; कुर्यात् = किं कर्तुं शक्नुयात् ? न किमपि इत्यर्थः ॥ २० ॥

टिप्पणी :—विषादः=खिन्नता, उदासी, वि + √सद् + घञ्। इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलंकार एवं मालिनी छन्द है। छन्द का लक्षण—

'ननमयययुतेय मालिनी भोगिलोकैः' ॥ २० ॥

शब्दार्थ :—तथापि = फिर भी, एतत् = यह (चारुदत्त को भूषण लौटाना)। अन्यः=दूसरा। उपगतः = प्राप्त ।

मदनिका—तो दूसरा तरीका यह है।

वसन्तसेना—और कौन सा दूसरा तरीका होगा ?

मदनिका—उन्हीं आर्य 'चारुदत्त' के आदमी बनकर इस जेवर को आर्या (वसन्तसेना) के पास ले जाओ।

शर्विलक—ऐसा करने पर क्या होगा ?

मदनिका—तुम चोर नहीं समझे जाओगे। वह आर्य (चारुदत्त) भी उऋण हो जायेंगे और आर्या (वसन्तसेना) का जेवर भी उनको मिल जायगा।

शर्विलक—किन्तु यह तो बड़ी हिम्मत का काम है।

मदनिका—अइ ! उवणेहि, अण्णधा अदिसाहसं। [अयि ! उपनय, अन्यथातिसाहसम्।]

वसन्तसेना—साहु मदणिए ! साहु। अभुजिस्सए विअ मंतिदं [साधु मदनिके ! साधु, अभुजिष्ययेव मन्त्रितम्।]

शर्विलकः

मयाप्ता महती बुद्धिर्भवतीमनुगच्छता।
निशायां नष्टचन्द्रायां दुर्लभो मार्गदर्शकः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ :—अतिसाहसम् = बड़ी हिम्मत का काम। अभुजिष्या = विवाहित स्त्री।

मदनिका—अरे ('वसन्तसेना' के पास) ले जाओ। यदि ऐसा नहीं करोगे तभी बड़ी हिम्मत का काम होगा

वसन्तसेना वाह ! मदनिका वाह ! विवाह करके लाई गई अपनी स्त्री की भाँति तुमने सलाह दी

टीका :- तथापि=मम भीतिविषादयोः अभावेऽपि इत्यर्थः ; एतत् = चारुदत्ताय अलङ्कारस्य प्रत्यर्पणमित्यर्थः। अन्यः=भिन्नः, चारुदत्ताय प्रत्यर्पणातिरिक्तः इति यावत्। उपगतः = प्राप्तः। अतिसाहसम् = अतिसाहसयुक्तम् कर्म। अभुजिष्या=अदासी, भार्या इति यावत्।

टिप्पणी :—भुजिष्या = दासी, नौकरानी, √भुज् + किष्यन् + टाप्। अभुजिष्या = भार्या, विवाहिता स्त्री, नञ् + √भुज् + किष्यन् + टाप् ॥

मयाप्ता महतीति—

अन्वय :—भवतीम्, अनुगच्छता, मया, महती, बुद्धिः, आप्ता, नष्टचन्द्रायाम्, निशायाम्, मार्गदर्शकः, दुर्लभः (भवति) ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—भवतीम् = आप को, अनुगच्छता = पछियाने वाले, (अनुसृत करने वाले), मया = मेरे द्वारा, महती = बड़ी, बुद्धिः = बुद्धि, आप्ता = पाई गयी ; नष्टचन्द्रायाम् = चन्द्रमा से रहित, निशायाम् = रात में, मार्गदर्शकः = राह बतलाने वाला, दुर्लभ = दुर्लभ, (भवति = होता है)।

शर्विलक—तुम्हारे अनुसार चलकर मैंने बड़ी बुद्धि पाई है। जिस रात में चन्द्रमा डूब जाता है, उसमें (उस रात में) राह बतलाने वाला (आदमी)

मदनिका—तेण हि तुमं इमस्सि कामदेवगेहे मुहुत्तअं चिट्ठ, जा अज्जआए तुह आगमणं णिवेदेमि। [तेन हि त्वमस्मिन्कामदेवगेहे मुहूर्तकं तिष्ठ, यावदार्यायै तवागमनं निवेदयामि।]

शर्विलकः—एवं भवतु।

मदनिका—(उपसृत्य) अज्जए! एसो खु चारुदत्तस्स सआसादो बम्हणो आअदो। [आर्ये! एष खलु चारुदत्तस्य सकाशाद् ब्राह्मण आगतः।]

वसन्तसेना—हञ्जे! तस्स केरओ त्ति कधं तुम जाणासि?। [चेटि! तस्य संबन्धीति कथं त्वं जानासि?।]

मदनिका—अज्जए! अत्तणकेरअं वि ण जाणामि?। [आर्ये! आत्मसंबन्धिनमपि न जानामि?।]

दुर्लभ होता है (अर्थात् इस समय मुझे कुछ भी नहीं सूझ पड़ता है कि क्या करूँ। ऐसी हालत में तुमने ठीक राह दिखलाकर मेरी बड़ी मदद की है।) ॥२१॥

टीका—भवतीम् = त्वाम्; अनुगच्छता = अनुसरता; मया = शर्विलकेनेत्यर्थः; महती = श्रेष्ठा विशाला वा; बुद्धिः = मतिः; आप्ता = प्राप्ता; नष्टः = अदर्शनं गतः, चन्द्रः = चन्द्रमाः यस्याम् तथाभूतायाम्, अन्धकारपूर्णायामित्यर्थः; निशायाम् = रजन्याम्; मार्गस्य = पथः दर्शकः = निर्देशकः; दुर्लभः = दुष्प्रापः भवतीति शेषः। कर्त्तव्यविवेकशून्यः अहं सन्मार्गनिर्देशिकया त्वया उपकृतः इति भावः ॥२१॥

टिप्पणी:—आप्ता=हासिल की गयी, पाई गई, प्र + √आप् + क्त + टाप्। इस श्लोक में दृष्टान्त अलङ्कार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है। छन्द का लक्षण—
'युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रम् प्रकीर्तितम्' ॥२१॥

शब्दार्थः—कामदेवगेहे = कामदेव के मन्दिर में। सकाशात् = पास से।

मदनिका—अतः कामदेव के इस मन्दिर (घर) में तुम थोड़ी देर बैठो। जबतक (मैं) आर्या (वसन्तसेना) को तुम्हारे आने की खबर दिये देती हूँ।

शर्विलक—ऐसा ही हो।

मदनिका—(पास में जाकर) आर्या! 'चारुदत्त' के यहाँ से यह ब्राह्मण आया हुआ है।

वसन्तसेना—चेटी! तुम्हें कैसे मालूम कि (यह) उनका आदमी है?

मदनिका—आर्या! क्या मैं अपने आदमी को भी नहीं पहचानूँगी?

वसन्तसेना—(स्वगतं सशिरःकम्पं, विहस्य) जुज्जदि, (प्रकाशम्) पविसदु। [युज्यते, प्रविशतु।]

मदनिका—जं अज्जआ आणवेदि। (उपगम्य) पविसदु सव्विलओ! [यदार्याज्ञापयति। प्रविशतु शर्विलकः।]

शर्विलकः—(उपसृत्य, सवैलक्ष्यम्) स्वस्ति भवत्यै।

वसन्तसेना—अज्ज! वंदामि। उववविसदु अज्जो। [आर्य! वन्दे। उपविशत्वार्यः।]

शर्विलकः—सार्थवाहस्त्वां विज्ञापयति—'जर्जरत्वाद्गृहस्य दूरक्ष्यमिदं भाण्डम्; तद्गृह्यताम्'। (इति मदनिकायाः समर्प्य प्रस्थितः)

वसन्तसेना—अज्ज! ममावि दाव पडिसंदेसं तहिं अज्जो णेदु। [आर्य! ममापि तावत्प्रतिसंदेशं तत्रार्यो नयतु।]

सवैलक्ष्यम्=घबड़ाहट के साथ। दूरक्ष्यम्=कठिनता से रक्षा करने के योग्य। प्रतिसंदेशं =जबाब को, उत्तर को। प्रतीच्छतु=स्वीकार करें॥

टीका—कामदेवस्य=मदनस्य गेहे=मन्दिरे; पूर्वं कामुकानां वेश्यानां च गेहेऽपि मदनपूजा प्रचलिता आसीत्। सवैलक्ष्यम्=कृत्रिमतापूर्वकं लज्जापूर्वकं वा। दूरक्ष्यं =रक्षितुं दुःशकम्। प्रतिसंदेशम्=उत्तरमितमर्थः। प्रतीच्छतु=गृह्णातु॥

टिप्पणी—वैलक्ष्यम्=उलझन, गड़बड़ी, लज्जा, विलक्ष=ष्यञ्। दूरक्ष्यम्–दुर्+रक्ष्यम्=दूरक्ष्यम् (पहले र् का लोप होकर उ को दीर्घ हो जाता है)॥

वसन्तसेना—(अपने आप, शिर हिलाती हुई हँसकर) ठीक है। (प्रकट रूपमें) आने दो।

मदनिका—जैसी आपकी आज्ञा। (शर्विलक के पास जाकर) शर्विलक! अन्दर चलिए।

शर्विलक—(पास में जाकर घबड़ाहट के साथ) आपका भला (कल्याण) हो।

वसन्तसेना—आर्य! प्रणाम करती हूँ। आप बैठें।

शर्विलक—सार्थवाह (चारुदत्त) आपको सूचित करते हैं (अर्थात् आपसे कहे हैं) कि—'घर के जर्जर होनेसे सोने के इस डिब्बे को हिफाजत के साथ रखना कठिन है। इसलिए इसको ले लीजिए।' (ऐसा कहकर मदनिका को देकर चल देता है)।

वसन्तसेना—आर्य! मेरा भी जवाब (प्रतिसन्देश) आप वहाँ (चारुदत्त के पास) लेते जायँ।

शर्विलकः—(स्वगतम्) कस्तत्र यास्यति; । (प्रकाशम्) कः प्रतिसंदेशः ? ।

वसन्तसेना—पडिच्छदु अज्जो मदणिअं । [प्रतीच्छत्वार्यो मदनिकाम् ।]

शर्विलकः—भवति ! न खल्ववगच्छम् ।

वसन्तसेना—अहं अवगच्छामि । [अहमवगच्छामि ।]

शर्विलकः—कथमिव ? ।

वसन्तसेना—अहं अज्जचारुदत्तेग भणिदा—'जो इमं अलंकारअं समप्पइस्सदि, तस्स तुए मदणिआ दादव्वा'। ता सो ज्जेव एदं दे देदित्ति एव्वं अज्जेण अवगच्छिदव्वं । [अहमार्यचारुदत्तेन भणिता—'य इममलंकारकं समर्पयिष्यति, तस्य त्वया मदनिका दातव्या । तत्स एवैतां ते ददातीत्येवमार्येणावगन्तव्यम् ।]

शर्विलकः—(स्वगतम्) अये विज्ञातोऽहमनया । (प्रकाशम्) साधु आर्यचारुदत्त ! साधु;

> **गुणेष्वेव हि कर्तव्यः प्रयत्नः पुरुषैः सदा ।**
> **गुणयुक्तो दरिद्रोऽपि नेश्वरैरगुणैः समः ॥२२॥**

शर्विलक—(अपने आप) वहाँ कौन जायगा ? (प्रकट रूप में) क्या जबाब प्रतिसन्देश) है ?

वसन्तसेना—आप 'मदनिका' को स्वीकार करें ।

शर्विलक—आर्या ! मैंने समझा नहीं ।

वसन्तसेना—मैं समझ रही हूँ ।

शर्विलक—किस प्रकार ?

वसन्तसेना—आर्य 'चारुदत्त' ने मुझसे कहा है—'जो आदमी इस जेवर को समर्पित करे उसको तुम मदनिका दे देना । इसलिए वे (चारुदत्त) ही आपको मदनिका दे रहे हैं ऐसा समझना चाहिए ।

शर्विलक—(अपने आप) अरे ! इसने मुझे जान लिया । (प्रकट रूप में) धन्य ! आर्य चारुदत्त धन्य !

गुणेष्वेव हि कर्तव्यः इति—

अन्वय—पुरुषैः सदा, गुणेषु, एव, प्रयत्नः, कर्तव्यः, हि, गुणयुक्तः, दरिद्रः, अपि, अगुणैः, ईश्वरैः, समः, न, (भवति) ॥२२॥

अपि च,—

गुणेषु यत्नः पुरुषेण कार्यो न किंचिदप्राप्यतमं गुणानाम् ।
गुणप्रकर्षादुडुपेन शंभोरलङ्घ्यमुल्लङ्घितमुत्तमाङ्गम् ॥२३॥

शब्दार्थ—पुरुषैः = पुरुषों के द्वारा, सदा = हमेशा, गुणेषु = गुणों में, एव = ही, प्रयत्नः = प्रयत्न, उद्योग, कर्तव्यः = करना चाहिये; हि = क्योंकि, गुणयुक्तः = गुणवान्, दरिद्रः = निर्धन, अपि = भी, अगुणैः = गुणहीन, ईश्वरैः = धनियों के, समः = समान, न = नहीं, भवति = होता है ॥

टीका—पुरुषैः = जनैः; सदा = सर्वदा, गुणेषु = दयादाक्षिण्यादिषु; प्रयत्नः = उद्योगः; कर्तव्यः = विधेयः; हि = यतः; गुणैः = सद्गुणैः युक्तः = संवलितः; दरिद्रः= धनहीनः अपि; गुणैः = गुणविरहितैः; ईश्वरैः = धनसम्पन्नैः, समः=तुल्यः, न, भवतीति शेषः । अगुणेभ्यो धनसम्पन्नेभ्यः निर्धनः अपि गुणवान् श्रेष्ठः, इति भावः ॥२२॥

टिप्पणी—कर्तव्यः = √कृ + तव्यत् ।

इस श्लोक में अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार एवं अनुष्टुप् छन्द है । छन्द का लक्षण—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥२२॥

मनुष्यों को हमेशा अच्छी आदतों (गुणों) को पाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए (क्योंकि) गुणवान् दरिद्र भी गुणहीन धनिकों के समान नहीं (बल्कि उनसे बढ़ कर है) ॥२२॥

गुणेषु यत्नः इति—

अन्वय—पुरुषेण, गुणेषु, यत्नः, कार्यः, गुणानां, किंचित्, अपि, अप्राप्यतमं, न, (अस्ति); उडुपेन, गुणप्रकर्षात्, अलङ्घ्यम्, शम्भोः, उत्तमाङ्गम्, लङ्घितम् ॥३॥

शब्दार्थ—पुरुषेण = मनुष्य के द्वारा, गुणेषु = गुणों में, यत्नः = उपाय,कार्यः = करना चाहिये, गुणानां = गुणों को, किञ्चित् = कुछ, अपि = भी, अप्राप्यतमं=दुर्लभ, न = नहीं, (अस्ति = हैं); उडुपेन = चन्द्रमा के द्वारा; गुणप्रकर्षात् = गुणों की महत्ता के कारण, अलङ्घ्यम् = न लांघे जानेवाले, शम्भोः=शिव के, उत्तमांगम् = शिरको, लङ्घितम् = लांघ लिया गया ॥

वसन्तसेना—को एत्थ पवहणिओ ? । [कोऽत्र प्रवहणिकः ? ।]

(प्रविश्य सप्रवहणः)

टीका—पुरुषेण = नरेण, गुणेषु = दयादाक्षिण्यादिषु, यत्नः = प्रयासः, कार्यः = कर्त्तव्यः, गुणानां = दयादाक्षिण्यादिस्वरूपाणामित्यर्थः, किंचिदपि = किमपि वस्तु; अप्राप्यतमं = दुर्लभं; नास्ति । उडुपेन = चन्द्रमसा; गुणप्रकर्षात् = गुणाधिक्यात्; अलङ्घ्यम् = केनापि लङ्घितुमशक्यं; शम्भोः = शिवस्य; उत्तमाङ्गम् = शिरः; लङ्घितम् = आक्रान्तम्, अधिगतमित्यर्थः ॥२३॥

टिप्पणी—गुणों की अधिकता के कारण चन्द्रमा के द्वारा शिव के मस्तक के लङ्घन रूप विशेष बात से गुणशाली पुरुष की सब कुछ करने की क्षमता रूप सामान्य बात के समर्थन से यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—उपेन्द्रवज्रा, छन्द का लक्षण—

'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' ॥२३॥

और भी—

मनुष्य को हमेशा अच्छे गुणों (दया, परोपकार आदि के पैदा करने) में उपाय करना चाहिए । (क्योंकि) गुणों (अर्थात् गुणी आदमियों) के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है । ताराओं के राजा चन्द्रमा ने (अपनी शीतलता आदि) गुणों की महत्ता के कारण ही किसी भी प्राणी के द्वारा न लांघे जानेवाले भगवान् शिवजी के मस्तक को लांघ लिया (अर्थात् मस्तक पर बैठ गये) ॥२३॥

शब्दार्थ—प्रवहणिकः = गाड़ीवान् । सुदृष्टां = नजर भर (भली प्रकार) देखी गई । दत्ता = दी गई । वन्दनीया = पूजनीय ।

टीका—प्रवहणं = कर्णीरथं वहतीति प्रवहणिकः = सारथिः । सुदृष्टां = सम्यगवलोकितां; यतः त्वं गृहिणी सञ्जाता अहं पुनः वेश्या, अतः आवयोः साक्षात्कारः दुर्लभः भविष्यतीति भावः । दत्ता = विवाहविधिना परहस्तं प्रापिता इत्यर्थः । वन्दनीया = माननीया; वधूभावात् त्वमेव मम माननीया इति भावः ॥

टिप्पणी—सुदृष्टां = सु + √दृश् + टाप् + विभक्तिकार्यम् दत्ता = √दा + क्त + टाप् । वन्दनीया = √वन्द् + अनीयर् + टाप् ॥

वसन्तसेना—कोई गाड़ीवान् है यहाँ ?

(गाड़ी के साथ प्रवेश करके)

चेटः—अज्जए ! सज्जं पवहणं । [आर्ये ! सज्जं प्रवहणम् ।]

वसन्तसेना—हञ्जे मअणिए ! सुदिट्टं मं करेहि । दिण्णासि । आरुह पवहणं सुमरेसि मं । [चेटि मदनिके ! सुदृष्टां मां कुरु । दत्तासि । आरोह प्रवहणम् । स्मरसि माम् ।]

मदनिका—(रुदती) परिच्चत्तम्हि अज्जआए । [परित्यक्तास्म्यार्यया ।] (इति पादयोः पतति)

वसन्तसेना—संपदं तुमं ज्जेव्व वंदणीआ संवुत्ता । ता गच्छ । आरुह पवहणं । सुमरेसि मं [सांप्रतं त्वमेव वन्दनीया संवृत्ता । तद्गच्छ, आरोह प्रवहणम् । स्मरसि माम् ।]

शर्विलकः—स्वस्ति भवत्यै । मदनिके !

सुदृष्टः क्रियतामेष शिरसा वन्द्यतां जनः ।
यत्र ते दुर्लभं प्राप्तं वधूशब्दावगुण्ठनम् ॥ २४ ॥

(इति मदनिकया सह प्रवहणमारुह्य गन्तु प्रवृत्तः)

चेट—आर्या ! गाड़ी (रथ अथवा बहली) तैयार है ।

वसन्तसेना—चेटी मदनिका ! मुझे नजर भर (भलीप्रकार) देख लो । तुम (शर्विलक) को दे दी गई हो । गाड़ी पर सवार होओ । मुझे याद रखना ।

मदनिका—(रोती हुई) आपने मुझे छोड़ दिया (ऐसा कह कर 'वसन्तसेना' के पैरों पर गिरती है) ।

वसन्तसेना—इस समय तो तुम्हीं पूजनीय हो गई हो । जाओ गाड़ी पर सवार होओ । मुझे याद रखना ।

शर्विलक—आपका (वसन्तसेना का) भला हो । मदनिका !

सुदृष्टः क्रियतामिति—

अन्वय—एषः, जनः, सुदृष्टः, क्रियताम्: (तथा), शिरसा, वन्द्यतां; यत्र, ते, दुर्लभं, वधूशब्दावगुण्ठनं, प्राप्तम् ॥२४॥

शब्दार्थ—एषः = यह, जनः = व्यक्ति, (अर्थात् वसन्तसेना), सुदृष्टः = भलीप्रकार देखा गया, क्रियताम् = किया जाय, (तथा=और), शिरसा = शिर से, वन्द्यतां= प्रणाम किया जाय; यत्र = जिसके कारण, ते = तुम्हें (तुम्हारे द्वारा), दुर्लभं=दुर्लभ, वधूशब्दावगुण्ठनं = बहूशब्दरूप घूंघट; प्राप्तं = प्राप्त हुआ ॥

(नेपथ्ये)

कः कोऽत्र भोः ! राष्ट्रियः समाज्ञापयति—'एष खल्वार्यको गोपालदारको राजा भविष्यतीति सिद्धादेशप्रत्ययपरित्रस्तेन पालकेन राज्ञा घोषादानीय घोरे बन्धनागारे बद्धः । ततः स्वेषु स्वेषु स्थानेष्वप्रमत्तैर्भवद्भिर्भवितव्यम्' ।

टीका—एषः = पुरोवर्ती; जनः = वसन्तसेनारूपः जनः; सुदृष्टः = सम्यग् दृष्टः शोभनमवलोकितः वा; क्रियताम् = विधीयताम्; तथा शिरसा = मस्तकेन, शिरः-प्रणामेन इत्यर्थः; वन्द्यतां = प्रणम्यतां; यत्र=यस्मिन् जने यस्य जनस्य कारणाद्वा, ते = तव, त्वया इत्यर्थः; हेतौ आधारविवक्षया 'यत्र' इति सप्तमी । कर्तुः शेषत्वविवक्षया 'ते' इति षष्ठी । इति—पृथ्वीधरः । दुर्लभं = दुष्प्राप्यं; वधूशब्दः = 'वधू' शब्दवाच्यत्व-रूपम्, एव अवगुण्ठनम् = आवरणम्, प्राप्तम् = उपलब्धम् । पूर्वं त्वं दासी आसीः; किन्तु अधुना वसन्तसेनाकृपया मया परिणीता भार्या अभूः इति भावः ॥२४॥

टिप्पणी—श्लोक के पूर्वार्द्ध में आये हुए वाक्यार्थ के प्रति उत्तरार्द्ध के वाक्यार्थ के हेतु होने से यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है । प्रयुक्त छन्द का नाम है—पथ्यावक्त्र । छन्द का लक्षण—

'युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं-प्रकीर्तितम् ॥२४॥

'वसन्तसेना' को भली भाँति देख लो और शिर झुका कर प्रणाम कर लो । जिन (की कृपा) से तुमने दुर्लभ बहू शब्द रूप घूंघट पाया है (अर्थात् जिस 'वसन्तसेना' की कृपा से खुले रूप मे रहनेवाली तुम वेश्या से अब घूंवट में रहने वाली बहू = ब्याहता दुलहिन हो गयी हो) ॥२४॥

(ऐसा कह कर 'मदनिका' के साथ गाड़ी पर चढ़कर जाने लगता है)

शब्दार्थ—राष्ट्रियः = राजा का साला, अथवा नगर की रक्षा में नियुक्त राज-कर्मचारी । गोपालदारकः = अहीर का पुत्र । सिद्धादेशप्रत्ययपरित्रस्तेन = सिद्ध पुरुष की भविष्यवाणी के विश्वास से डरे हुए । घोषाद् = मड़ई से, अहीरों की बस्ती से, घोरे = कठोर । अप्रमत्तैः = सावधान ('भवद्भिः' का विशेषण है) । कलत्रवान् = स्त्रीवाला ॥

टीका—राष्ट्रियः=राजश्यालकः शकारः, अथवा राष्ट्ररक्षायां नियुक्तः अधिकारी । गोपालस्य = गोपस्य दारकः = सुतः, आभीरपुत्रः इत्यर्थः । सिद्धस्य = सिद्धपुरुपस्य आदेशे = कथने प्रत्ययः = विश्वासः तस्मात् परित्रस्तः = भीतः तेन । घोषाद् = आभीरपल्याः (घोषः आभीरपल्ली स्यात्, इत्यमरः); घोरे = भयङ्करे । अप्रमत्तैः = सावधानैः । कलत्रवान्=भार्यावान्, नवपरिणीतया भार्यया युक्तः इत्यर्थः ॥

शर्विलकः—(आकर्ण्य) कथं राज्ञा पालकेन प्रियसुहृदार्यको मे बद्धः ? कलत्रवांश्चास्मि संवृत्तः । आः, कष्टम्; अथवा—

द्वयमिदमतीव लोके प्रियं नराणां सुहृच्च वनिता च ।
संप्रति तु सुन्दरीणां शतादपि सुहृद्विशिष्टतमः ॥ २५ ॥

टिप्पणी—अप्रमत्तः—नञ् + प्र + √मद् + क्त ॥

[पर्दे के पीछे]

अरे ! यहाँ कौन कौन हैं ! राजा के साले (शकार) अथवा राजकर्मचारी आज्ञा देते हैं कि—"यह अहीर का पुत्र 'आर्यक' राजा होगा" इस प्रकार किसी सिद्ध पुरुष के कहने पर (भविष्यवाणी करने पर) विश्वास कर डरे हुए राजा 'पालक' ने उसे मड़ई (घोष = घर) से लाकर कठोर कारागार में बन्द कर दिया है । इसलिये अपनी-अपनी जगहों पर आप सब (पहरेदारो) को सावधान हो जाना चाहिये ।

शर्विलक—(सुनकर) क्या राजा 'पालक' के द्वारा मेरा प्रिय मित्र 'आर्यक' बाँध लिया गया है ? (इधर मैं) स्त्री-वाला हो गया हूँ । हाय ! कष्ट है ।

द्वयमिदमतीव इति—

अन्वयः—लोके, सुहृद्, वनिता च, इदं, द्वयं, नराणाम्, अतीव, प्रियं; तु, सम्प्रति, सुन्दरीणां, शतात्, अपि, सुहृद्, विशिष्टतमः (अस्ति) ॥२५॥

शब्दार्थ—लोके = दुनियाँ में, सुहृद् = मित्र, च = और, वनिता = स्त्री, इदं = यह, द्वयं = जोड़ी, नराणाम् = मनुष्योंको, अतीव = बहुत, प्रियं = प्रिय (है), तु = किन्तु, सम्प्रति = इस समय, सुन्दरीणां = सुन्दर स्त्रियों के, शतात्=सौ से, अपि=भी, सुहृद् = मित्र, विशिष्टतमः = बढ़कर (श्रेष्ठतम) (अस्ति = है) ॥

टीका—लोके = अस्मिन् संसारे; शोभनं हृदयम् अस्य इति सुहृद् = मित्रं; च = तथा; वनिता=भार्या च; इदम् = उक्तप्रकारकं, द्वयम् = उभयम्; नराणाम् = पुरुषाणाम्; अतीव = अधिकं; प्रियं = प्रीतिकरम्; अस्ति इति शेषः; तु = किन्तु; सम्प्रति = अधुना; सुन्दरीणां = स्त्रीणां; शतात्=शतसंख्यायाः; समूहात् इति यावत्; सुहृद्=मित्रं; विशिष्टतमः = श्रेष्ठतम; अधिकप्रियः इत्यर्थः; अस्तीतिशेषः । मित्रे विपत्तिगते सम्प्रति सः सुन्दरीणां समूहादपि श्रेष्ठतमः सिद्ध्यतीतिभावः ॥२५॥

टिप्पणी—यहाँ पर 'आश्रय' नामक नाट्यालङ्कार है । इसका लक्षण साहित्य-दर्पण में इस प्रकार कहा गया है—

"ग्रहणं गुणवत् कार्यहेतोराश्रय उच्यते ।"

भवतु, अवतरामि। (इत्यवतरति)

मदनिका—(सास्रमञ्जलिं बद्ध्वा) एव्वं ण्णेदं। ता परं णेदु मं अज्जउत्तो समीवं गुरुअणाणं।] एवं न्विदम्। तत्परं नयतु मामार्यपुत्रः समीपं गुरुजनानाम्।]

शर्विलकः—साधु प्रिये! साधु; अस्मच्चित्तसदृशमभिहितम्। (चेटमुद्दिश्य) भद्र! जानीपे रेभिलस्य सार्थवाहस्योदवसितम्?।

चेटः—अध इं। [अथ किम्।]

शर्विलकः—तत्र प्रापय प्रियाम्।

इस श्लोक मे प्रयुक्त छन्द का नाम है–आर्या। लक्षण—

"यस्याः, प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या॥२५॥

अथवा—

इस दुनियाँ में मित्र और स्त्री दोनों ही—मनुष्यों को बहुत प्रिय हैं। किन्तु इस समय (जब कि मित्र कारागार में है) सैकड़ों सुन्दर स्त्रियों से भी मित्र बढ़कर है॥२५॥

अच्छा, उतरता हूँ (गाड़ी पर से उतरता है)

शब्दार्थ—तत् = तो, परं = पहले, गुरुजनानाम्=बड़े-बूढ़ों के। अस्मच्चित्तसदृशम् = हमारे मन के अनुसार। उदवसितम् = घरको॥

टीका—तत्=तस्मात्; परं = प्रथमं; गुरुजनानाम्=श्रेष्ठसम्बन्धिजनानामित्यर्थः। अस्मच्चित्तस्य = मम चेतसः सदृशम्=अनुरूपम्; यथाऽहं वाञ्छामि तथा त्वया भणितमित्यर्थः। उद् = ऊर्ध्वम् अवसीयते स्म इति उदवसितम् = गृहम्। 'गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म निकेतनम्' इत्यमरः)॥

मदनिका—(आँखों में आँसू भर कर तथा हाथ जोड़कर) यह ऐसा ही हो। तो आर्यपुत्र (पतिदेव) सबसे पहले मुझे घर के बड़े बूढ़ों (गुरुजनों) के पास पहुँचा दें।

शर्विलक—वाह! प्रिये वाह!! हमारे मन के अनुसार ही कहा। (चेट के प्रति) अच्छे आदमी। व्यापारियों के चौधरी (सार्थवाह) 'रेभिल' का घर जानते हो?

चेट—और क्या?

शर्विलक—प्रिया (मदनिका) को वहाँ पहुँचा दो।

चेटः—जं अज्जो आणवेदि। [यदार्य आज्ञापयति।]

मदनिका—जधा अज्जउत्तो भणादि, अप्पमत्तेण दाव अज्जउत्तेण होदव्वं। [यथार्यपुत्रो भणति, अप्रमत्तेन तावदार्यपुत्रेण भवितव्यम्।]

(इति निष्क्रान्ता)

शर्विलकः—अहमिदानीं

ज्ञातीन्विटान् स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान्
राजापमानकुपितांश्च नरेन्द्रभृत्यान्।
उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय
यौगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञः॥ २६॥

चेट—जैसी आपकी आज्ञा।

मदनिका—जैसा आप कहते हैं। तब आप (आर्यपुत्र) को भी सावधान रहना चाहिए। (ऐसा कहकर निकल जाती है)

शर्विलक—मैं इस समय—

ज्ञातीन्विटानिति—

अन्वयः—उदयनस्य, राज्ञः, यौगन्धरायणः, इव, सुहृदः, परिमोक्षणाय, ज्ञातीन्, विटान्, स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान्, राजापमानकुपितान्, नरेन्द्रभृत्यान्, च, उत्तेजयामि ॥२६॥

शब्दार्थः—उदयनस्य = उदयननामकस्य, राज्ञः = राजा को, (छुड़ाने के लिये), यौगन्धरायणः = यौगन्धरायण (की), इव = तरह, सुहृदः = मित्र के, परिमोक्षणाय = छुड़ाने के लिये, ज्ञातीन् = जाति के आदमियों को, विटान् = विटों को, स्वभुजविक्रम-लब्धवर्णान् = अपनी भुजा के पराक्रम से यश पानेवालों को, राजापमानकुपितान् = राजा के द्वारा किये गये अपमान से गुस्साये, हुए नरेन्द्रभृत्यान् = राजा के कर्मचारियों को, उत्तेजयामि = उकसाता हूँ, उत्तेजित करता हूँ ॥

टीका—उदयनस्य = उदयननाम्ना प्रसिद्धस्य; राज्ञः = वत्सराजस्य इत्यर्थः, (परिमोक्षणाय), यौगन्धरायणः एतन्नाम्ना प्रसिद्धः उदयनस्य प्रधानामात्यः इव; यथा शत्रोः चन्द्रसेनस्य कारागारे बद्धम् उदयनं, तस्य प्रधानामात्यः यौगन्धरायणः चन्द्रसेनस्य प्रजासु कोपमुत्पाद्य मोचयामास तथैवेत्यर्थः। सुहृदः = मित्रस्य, बद्धस्य आर्यकस्य इत्यर्थः, परिमोक्षणाय = मोचनाय; ज्ञातीन् = बान्धवान्; ('सगोत्रबान्धव-ज्ञातिबन्धु स्वस्वजनाः' इत्यमरः); विटान् = धूर्तजनान्; स्वभुजविक्रमेण = स्वबाहु-पराक्रमेण लब्धः = प्राप्तः वर्णः = ख्यातिः, यशः ('वर्णं द्विजादौ शुक्लादौ' इत्यमरः)

अपि च,—

प्रियसुहृदमकारणे गृहीतं
रिपुभिरसाधुभिराहितात्मशङ्कैः।
सरभसमभिपत्य मोचयामि
स्थितमिव राहुमुखे शशाङ्कबिम्बम्॥ २७॥

(इति निष्क्रान्तः)

यैः तान्; राज्ञः = नृपस्य, पालकस्य इत्यर्थः अपमानेन=तिरस्कारेण, राजक 'कावमानेन इत्यर्थः। कुपितान् = क्रुद्धान्; नरेन्द्रय = नृपस्य भृत्यान् = सेवकान् च; उत्तेजयामि = राज्ञः पालकस्य नाशार्थं प्रोत्साहयामि इत्यर्थः ॥२६॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है।

छन्द का लक्षण—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥२६॥

उदयन नामक राजा को छुड़ाने के लिये (मन्त्री) यौगन्धरायण की तरह मैं मित्र (आर्यक) को (कारागार से) छुड़ाने के लिये (अपनी) जाति के आदमियों, विटों, अपनी भुजाओं के पराक्रम से यश पानेवालों, राजा के (द्वारा किये गये) अपमान से गुस्साये हुए राजा के कर्मचारियों को उकसाता हूँ (उत्तेजित करता हूँ) ॥२६॥

प्रिय सुहृदमिति

अन्वयः—अकारणे, आहितात्मशङ्कैः, असाधुभिः, रिपुभिः, गृहीतं, राहुमुखे शशाङ्कबिम्बम्, इव, स्थितं, प्रियसुहृदं, सरभसम्, अभिपत्य, मोचयामि ॥२७॥

शब्दार्थ—अकारणे = कारण के न होने पर (भी), आहितात्मशङ्कैः = अपमन में भय करने वाले, असाधुभिः = दुष्ट, रिपुभिः = शत्रुओं के द्वारा, गृहीतं = पकड़े गये, (अतः) राहुमुखे = राहु के मुख में, शशाङ्कबिम्बम् = चन्द्रमा के मण्डल (के), इव = समान, स्थितं = वर्तमान, प्रियसुहृदं = प्रिय मित्र को, सरभसम् = वेगपूर्वक, अभिपत्य = हमला बोलकर, मोचयामि = छुड़ाता हूँ ॥

टीका—अकारणे = कारणाभावे सत्यपि; आहिता = स्थापिता, कृता इत्यर्थः; आत्मनि = स्वस्मिन् शङ्का = सन्देहः, भीतिः इति यावत्, यैः तैः; असाधुभिः = दुष्टैः; रिपुभिः = शत्रुभिः, पालकादिभिः इत्यर्थः; गृहीतं = कारागारे निवद्धम् अतः; रहति = गृहीत्वा त्यजति चन्द्रार्कौ इति राहुः = विधुन्तुदः तस्य मुखे = आनने; शशाङ्कस्य = चन्द्रमसः बिम्बम् = मण्डलम् इव; स्थितं = वर्तमानं; प्रियसुहृदं = प्रियमित्रं; सरभसं = सवेगं यथा तथा; अभिपत्य = आक्रम्य; मोचयामि = बन्धनरहितं करोमि ॥२७॥

(प्रविश्य)

चेटः—अज्जए ! दिट्ठिआ वड्ढसि । अज्जचारुदत्तस्स सआसादो बम्हणो आअदो । [आर्ये ! दिष्ट्या वर्धसे । आर्यचारुदत्तस्य सकाशाद्ब्राह्मण आगतः ।]

वसन्तसेना—अहो, रमणीअदा अज्ज दिवसस्स । ता हञ्जे ! सादरम् बन्धुलेण समं पवेसेहि णेम् । [अहो, रमणीयताद्य दिवसस्य । तच्चेटि ! सादरम् बन्धुलेन समं प्रवेशयैनम् ।]

चेटी—जं अज्जआ आणवेदि । [यदार्याज्ञापयति ।] (इति निष्क्रान्ता)

(विदूषको बन्धुलेन सह प्रविशति)

टिप्पणी—'राहु के मुख में स्थित चन्द्रबिम्ब के समान शत्रुओं के द्वारा पकड़े गये मित्र को'—यह उपमा अलङ्कार है। श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—पुष्पिताग्रा। छन्द का लक्षण—

अयुजि नयुगरेफतो यकारो; युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ॥२७॥

और भी—

विना कारण के ही अपने मन में भय करनेवाले, दुष्ट शत्रुओं के द्वारा पकड़ कर बन्द किये गये, (अतएव) राहु के मुँह में वर्तमान चन्द्रमा के मण्डल के समान प्रिय मित्र ' आर्यक' को (सिपाहियों पर) अचानक हमला बोल कर छुड़ाता हूँ ॥२७॥

(ऐसा कह कर निकल जाता है)

[प्रवेश करके]

चेट—आर्या ! सौभाग्य से बढ़ रही है (अर्थात् शुभ समाचार है)। आर्य 'चारुदत्त' के पास से एक ब्राह्मण आया हुआ है।

शब्दार्थ—बन्धुलेन = कुलटापुत्र अथवा परगृहललिताः (४।२८) में बतलाये गये व्यक्ति के, सह = साथ। विदूषकः = मैत्रेय ॥

टीका—बन्धुलेन = कुलटापुत्रेण अथवा 'परगृहललिता' (४।२८) इति वक्ष्यमाणलक्षितेन पुरुषेण; सह = साकम्। विदूषकः = मैत्रेयः; विदूषकः अयं मैत्रेय एव रत्नावलीं दातुमागतः इति बोध्यम् ॥

वसन्तसेना—अहा ! आज का दिन कितना भला है। तो चेटी ! बन्धुल के साथ आदरपूर्वक इनको अन्दर ले आओ।

चेटी—जैसी आर्या (आप) की आज्ञा। ऐसा कह कर निकल जाती है)।

(बन्धुल के साथ विदूषक=मैत्रेय प्रवेश करता है)

विदूषकः—ही ही भो, तवच्चरणकिलेसविणिज्जिदेण रक्खसराआ रावणो पुप्फकेण विमाणेण गच्छदि। अहं उण बम्हणो अकिदतवच्चरणकिलेसो वि णरणारीजणेण गच्छामि। [आश्चर्यं भोः, तपश्चरणक्लेशविनिर्जितेन राक्षसराजो रावणः पुष्पकेण विमानेन गच्छति। अहं पुनर्ब्राह्मणोऽकृततपश्चरणक्लेशोऽपि नरनारीजनेन गच्छामि।]

चेटी—पेक्खदु अज्जो अम्हकेरकम् गेहदुआरम्। [प्रेक्षतामार्योऽस्मदीयम् गेहद्वारम्।]

विदूषकः—(अवलोक्य, सविस्मयम्) अहो सलिलसित्तमज्जिदकिदहरिदोवलेवणस्स विविहसुअंधिकुसुमोवहारचित्तलिहिदभूमिभाअस्स गअणतलाअलोअणकोदूहलदूरुण्णामिदसीसस्स दोलाअमाणावलंबिदैरावणहत्थब्भमाइदमल्लिआदामगुणालंकिदस्स समुच्छिददंतिदंततोरणावभासिदस्स महारअणोवराओवसोहिणा पवणबलंदोलणाललंतचंचलग्गहत्थेण 'इदो एहि' त्ति वाहरंतेण विअ मं सोहग्गपडाआणिवहेणोवसोहिदस्स तोरणधरणत्थंभवेदिअणिक्खित्तसमुल्लसंतहरिदचूदपल्लवललामफटिहमंगलकलसाभिरामोहअपा-

---

शब्दार्थ—तपश्चरणक्लेशविनिर्जितेन = तपस्या के कष्टों से प्राप्त, पुष्पकेण = पुष्पक नामवाले, विमानेन = विमान से। अकृततपश्चरणक्लेशः = जिसने तपस्या की तकलीफ नहीं उठाई है, ऐसा। नरनारीजनेन = वेश्याजनों के साथ।

टीका—तपश्चरणस्य = तपस्यायाः क्लेशेन = दुःखेन; विनिर्जितः = अधिगतः तेन; पुष्पकेण = पुष्पकाख्येन; विशिष्टं मानयन्त्यनेन, विशेषेण मान्त्यस्मिन्निति, विगतं मानं = उपमानम् अस्येति वा विमानः = व्योमयानं तेन; ('व्योमयानं विमानोऽस्त्री' इत्यमरः)। न कृतः = न विहितः तपश्चरणस्य = तपस्यायाः क्लेशः = दुःखं येन तादृशः। नराणां = जनानां जनः नारीजनः = सामान्यस्त्रीजनः तेन वेश्याजनेन इत्यर्थः॥

विदूषक—अरे आश्चर्य है! राक्षसों का राजा रावण तपस्या करने में होनेवाले कष्टों से पाये हुए 'पुष्पक' विमान से चला करता था। किन्तु मैं ब्राह्मण तपस्या की तकलीफ उठाये बिना ही वेश्या के साथ चल रहा हूँ (अर्थात् मैं रावण से अधिक भाग्यवान् हूँ)।

चेटी—आर्य! हमारे घर के दरवाजे को देखें।

शब्दार्थ—सलिलसिक्तमार्जितकृतहरितोपलेपनस्य = पानी छिड़क कर, झाड़ूलगाकर, हरे रङ्ग (के गोबर) से पुते हुए, विविधसुगन्धिकुसुमोपहारचित्रलिखितभूमिभागस्य = बहुत तरह के सुगन्धित फूलों के चढ़ाने से फोटोमें बनी हुई सी जमीन वाले, गगनतलावलोकनकौतूहलदूरोन्नामितशीर्षस्य = आकाश को देखने के लिये उत्सुकता के

स्सस्स महासुरवक्खत्थलदुब्भेज्जवज्जणिरंतरपडिबद्धकणअकवाडस्स दुग्गदजणमणोरहाआसकरस्स वसंतसेणाभवणदुआरस्स सस्सिरीअदा। जं सच्चं मज्झत्थस्स वि जणस्स बलाद्दिट्ठिं आआरेदि। [अहो सलिलसिक्तमार्जितकृतहरितोपलेपनस्य विविधसुगन्धिकुसुमोपहारचित्रलिखितभूमिभागस्य गगनतलावलोकनकौतूहलदूरोन्नामितशीर्षस्य दोलायमानावलम्बितैरावणहस्तभ्रमागतमल्लिकादामगुणालंकृतस्य समुच्छ्रितदन्तिदन्ततोरणावभासितस्य महारत्नोपरागोपशोभिना पवनबलान्दोलनाललच्चञ्चलाग्रहस्तेन 'इतइत एहि'

कारण काफी ऊँचाई तक शिर उठाने वाले, दोलायमनावलम्बितैरावणहस्तभ्रमागतमल्लिकादामगुणालङ्कृतस्य=हिलने वाली एवं लटकी हुई, ऐरावत हाथी के सूड़ के भ्रम को पैदा करने वाली 'मल्लिका' फूल की माला से सजे हुए, समुच्छ्रितदन्तिदन्ततोरणावभासितस्य = काफी ऊँचे, हाथी के दाँत के तोरण से सुशोभित; महारत्नोपरागोपशोभिना = श्रेष्ठ रत्नों की आभा से सुन्दर लगने वाले, पवनबलान्दोलनाललच्चञ्चलाग्रहस्तेन = हवा के झोंकों से हिलने के कारण काँप रहे एवं चंचल अगले हिस्से रूपी हाथ से, इतः = इधर, एहि = आओ, इति = ऐसा, मां = मुझको, व्याहरता = बुलाते हुए, इव = से, सौभाग्यपताकानिवहेन = शुभसूचक पताका के झुण्ड से; उपशोभितस्य = सुशोभित, तोरणधरणस्तम्भवेदिकानिक्षिप्तसमुल्लसद्धरितचूतपल्लवललामस्फटिकमङ्गलकलशाभिरामोभयपार्श्वस्य = तोरण (वाहर के दरवाजा) को धारण करने के लिये वनाये गये खम्भों की चौकियों पर (वेदिकाओं पर) रक्खे हुए, लहलहाते हरे-हरे आम के पत्तों से सुन्दर, स्फटिकमणि से बने हुए मंगल कलशों से सुशोभित दोनों वगल वाले, महासुरवक्षःस्थलदुर्भेद्यवज्रनिरन्तरप्रतिबद्धकनककपाटस्य=महान् असुर (हिरण्यकशिपु) की छाती के समान फाड़ने में मुश्किल तथा हीरा (की बनी हुई कीलों) से घने रूप से जड़ी हुई सोने की किवाड़ों वाले, दुर्गतजनमनोरथायासकरस्य = गरीब आदमियों के मन की चाहों के लिये पीडा देने वाले, वसन्तसेनाभवनद्वारस्य = वसन्तसेना के महलके दरवाजे को, सश्रीकता = शोभासम्पन्नता। मध्यस्थस्य = तटस्थ, निस्पृह, जनस्य = व्यक्ति की। आकारयति = खींचता है॥

टीका—पूर्वं सलिलेन = जलेन सिक्तम् = आर्द्रीकृतं ततः मार्जितं = मार्जन्या परिष्कृतं तत्पश्चात् कृतं = विहितं हरितेन = हरितवर्णेन गोमयादिना रञ्जनविशेषेण वा उपलेपनं यत्र तादृशस्य; विविधानां = बहुवर्णानां सुगन्धीनां = सुगन्धियुक्तानां कुसुमानां = पुष्पाणाम् उपहारैः = उपायनैः ('उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः) चित्रलिखितः इव = आलेख्याङ्कित इव भूमिभागः = भूप्रदेशः यस्य तस्य; गगनतलस्य= आकाशस्य अवलोकनाय = दर्शनाय यत् कौतूहलम् = कौतुकं तेन दूरं = दूरपर्यन्तम्

हिदा ण भक्खंति वायसा बलिं सुधासवण्णदाए। आदिसदु भोदी। [आश्चर्यं भोः, अत्रापि प्रथमे प्रकोष्ठे शशिशङ्खमृणालसच्छाया विनिहितचूर्णमुष्टिपाण्डुरा विविधरत्न-प्रतिबद्धकाञ्चनसोपानशोभिताः प्रासादपङ्क्तयोऽवलम्बितमुक्तादामभिः स्फटिकवातायन-मुखचन्द्रैर्निर्ध्यायन्तीवोज्जयिनीम्। श्रोत्रिय इव सुखोपविष्टो निद्राति दौवारिकः। सदध्ना कलमोदनेन प्रलोभिता न भक्षयन्ति वायसा बलिं सुधासवर्णतया। आदिशतु भवती।]

से जड़ी गयी सोने की सीढ़ियों से शोभित, प्रासादपङ्क्तयः = महलों की कतारें, अव-लम्बितमुक्तादामभिः = लटकनेवाली मोती की मालाओं से युक्त, स्फटिकवातायनमुख-चन्द्रैः = स्फटिकमणि से बने हुए झरोखे रूपी मुखचन्द्रों से, उज्जयिनीम् = उज्जयिनी नगरी को, निर्ध्यायन्ति इव = ध्यान से देख सी रही हैं। श्रोत्रियः = वेद का पाठ करने वाला, सदध्ना = दही से सने हुए, कलमोदनेन = अगहनी धान के भात से। सुधास-वर्णतया = चूने के समान रंग के कारण ॥

टीका—शशिशङ्खमृणालैः = चन्द्रकम्बुविसैः समाना छाया = कान्तिः यासां ताः (प्रासादपङ्क्तयः); विनिहितैः = अर्पितैः लिप्तैः इति यावत्, चूर्णस्य = सुधाचूर्णस्य तण्डुलादिचूर्णस्य वा मुष्टिभिः = बद्धहस्ततलैः इत्यर्थः पाण्डुराः = धवलाः; विविधरत्नैः = बहुप्रकारैः मणिभिः प्रतिबद्धानि = खचितानि यानि कांचनानि = सुवर्णनिर्मितानि सोपा-नानि = आरोहणानि ('आरोहणं स्यात् सोपानम्' इत्यमरः) तैः शोभिताः = विराजिताः; प्रासादानां = सौधानां पंक्तयः = श्रेणयः (कर्त्र्यः); अवलम्बितानि = अधोलम्बाय-मानानि मुक्तादामानि = मौक्तिकहाराः येषु तैः; स्फटिकस्य = स्फटिकमणेः वातायनानि = गवाक्षाः एव मुखचन्द्राः तैः; उज्जयिनीं नगरीं निर्ध्यायन्ति = वेदपाठपरायणः ब्राह्मणः इत्यर्थः। सदध्ना = दधिमिश्रितेन; कलमस्य = उत्तमधान्यस्य ओदनेन = भक्तेन। सुधासवर्णतया = चूर्णतुल्यवर्णतया ॥

चेटी—आइये, आइये! इस पहले खण्ड (प्रकोष्ठ) में आप घुसिए।

विदूषक—(घुस कर और देखकर) अरे! आश्चर्य! यहाँ पहले खण्ड (प्रकोष्ठ) में भी चन्द्रमा, शङ्ख एवं भिसाड़ (मृणाल = कमलनाल) के समान चमकवाली, जगह-जगह पर रक्खी गयी (पीसे गये चावल अथवा गेहूँ के) चूर्ण (पिसान) लगी हुई मुट्ठी (हथेली के छापों) से सफेद; अनेक प्रकार के रत्नों से जड़ी गयीं सोने की सीढ़ियों से शोभित, महलों की कतारें, स्फटिक मणि से बने हुए तथा लटकने वाली मोती की 'मालाओं से युक्त भरोखे (वातायन) रूपी मुखचन्द्रों से मानों उज्जयिनी

चेटी—एदु एदु अज्जो। इमं दुदिअं पओट्ठं पविसदु अज्जो। [एत्वेत्वार्यः। इमं द्वितीयं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।]

विदूषकः—(प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भो, इदो वि दुदिए पओट्ठे पज्जंतोवणीदजवसवुसकवलसुपुट्ठा तेलब्भंगिदविसाणा बद्धा पवहणबइल्ला। अअं अण्णदरो अवमाणिदो विअ कुलीणो दीहं णीससदि सेरिहो। इदो अ अवणीदजुज्झस्स मल्लस्स विअ मद्दीअदि गीवा सेसस्स। इदो इदो अवराणं अस्साणं केसकप्पणा करीअदि। अअं अवरो पाडच्चरो विअ दिढबद्धो मंदुराए साहामिओ। (अन्यतोऽवलोक्य च) इदो अ कूरच्चुअतेल्लमिस्सं पिंडं हत्थी पडिच्छावीअदि मेत्थपुरिसेहिं। आदिसदु भोदी। [आश्चर्यं भोः, इहापि द्वितीये प्रकोष्ठे पर्यन्तोपनीतयवसबुसकवलसुपुष्टास्तैलाभ्यक्तविषाणा बद्धाः प्रवहणबलीवर्दाः। अयमन्यतरोऽवमानित इव कुलीनो दीर्घं निःश्वसिति सैरिभः। इतश्चापनीतयुद्धस्य मल्लस्येव मर्द्यते ग्रीवा मेषस्य। इत इतोऽपरेषामश्वानां केशकल्पना क्रियते। अयमपरः पाटच्चर इव दृढबद्धो मन्दुरायां शाखामृगः। इतश्च कूरच्युततैलमिश्रं पिण्डं हस्ती प्रतिग्राह्यते मात्रपुरुषैः। आदिशतु भवती।]

को ध्यान से देख रही है। आनन्द के साथ बैठा हुआ डचोढ़ीदार (द्वारपाल) वेदों का पाठ करनेवाले ब्राह्मण के समान नींद ले रहा है। दही से सने हुए जड़हन (अगहनी धान) के भात से ललचाये गये भी कौवे बलि (देवताओं एवं पितरों को चढ़ाये गये दही-भात अथवा कौवों को ही दिये गये दही-भात) को चूने के समान सफेद रङ्ग का होने की वजह से, नहीं खा रहे हैं (अर्थात् उन्हें दही-भात में चूने का भ्रम हो गया है, अतः नहीं खा रहे हैं।) श्रीमती, (अब आगे का रास्ता) बतावें।

टिप्पणी—'प्रासादपंक्तयः उज्जयिनीं निर्घ्यायन्ति इव' यह मुख्य वाक्य हैं। 'प्रासादपंक्तयः' कर्त्ता हैं॥

अर्थः—

चेटी—आर्य ! आइये, आइये। इस दूसरे खण्ड (प्रकोष्ठ) में प्रवेश कीजिए।

शब्दार्थः—पर्यन्तोपनीतयवसबुसकवलसुपुष्टाः=पास में डाली गयी घास एवं भूसा के कौर से (खाने से) तगड़े, तैलाभ्यक्तविषाणाः =तेल से पुती हुई सींगों वाले, प्रवहणबलीवर्दाः =गाड़ी के पुष्ट बैल। अन्यतरः =दो में से एक; अवमानितः = अपमानित, कुलीनः इव = अच्छे कुल में उत्पन्न हुए व्यक्ति की भाँति, सैरिभ; = भैंसा, अपनीतयुद्धस्य =लड़ने से खाली हुए, मल्लस्य = पहलवान की, इव =तरह। केशकल्पना =बालों की काट-छाँट। पाटच्चरः =चोर। मन्दुरायाम् = घुड़साल में।

चेटी—एदु एदु अज्जो । इमं तइअं पओट्ठं पविसदु अज्जो । [एत्वेत्वार्यः । इमं तृतीयं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः ।]

शाखामृगः = बन्दर । कूरच्युततैलमिश्रं = कौर से टपकनेवाले तेल से सना हुआ । मात्रपुरुषैः = महावतों के द्वारा ॥

अर्थः—

विदूषक—(घुसकर और देखकर) अरे ! आश्चर्य । यहाँ दूसरे खण्ड में भी सामने डाली गयी घास एवं भूसा खाने से तगड़े तथा तेल लगी हुई सीगों वाले गाड़ी (रथ) के बैल बँधे हुए हैं । यह एक भैंसा, अपमानित, अच्छे खानदान में पैदा हुए (आदमी) की भाँति लम्बी-लम्बी साँसें ले रहा है । इस तरफ लड़कर के आये हुए पहलवान की भाँति भेंड़े की गर्दन मली जा रही है । इधर कुछ घोड़ों के बाल काट-छाँटकर ठीक किये जा रहे हैं । यहाँ घुड़साल में, चोर की भाँति, यह बन्दर कसकर बँधा हुआ है । (दूसरी तरफ देख कर) इस ओर महावत हाथी को कौर से टपकने वाले तेल से सना हुआ पिण्ड खिला रहा है । (अब आगे का रास्ता) श्रीमती जी बतावें ।

टीका—पर्यन्तेषु = पार्श्वभागेषु उपनीतानि=भक्षणाय क्षिप्तानि यानि यवसानि = तृणानि बुसानि = धान्यत्वचश्च ('घासो यवसं तृणमर्जुनम्, इति 'कडङ्गरो बुषं क्लीबे' इति चामरः) तेषां कवलैः = ग्रासैः, भक्षणैः इत्यर्थः सुपुष्टाः = प्रपुष्टाः; तैलेन = स्नेहेन अभ्यक्तानि = लिप्तानि विषाणानि = श्रृंगाणि येषां ते; प्रवहणस्य = शकटस्य बलीवर्दाः= वृषाः बद्धाः सन्ति । अन्यतरः = द्वयोर्मध्ये एकः; अवमानितः = कृतावमानः कुलीनः = सत्कुलोत्पन्नः पुरुषः इव; सैरिभः = महिषः निश्वसिति = श्वासं मुञ्चति । अपनीतं = सम्पादितं युद्धं = मल्लयुद्धं येन तस्य; मल्लस्य = बाहुयुद्धनिपुणस्य जनस्य इव । केशानां = कचानां कल्पना = कर्त्तनादिना संस्कारः । पाटच्चरः = तस्करः ('प्रतिरोधि-परास्कन्दिपाटच्चरमलिम्लुचाः' इत्यमरः) । मन्दुरायाम् = वाजिशालायाम् ('वाजिशाला तु मन्दुरा' इत्यमरः) । शाखामृगः = वानरः । कूरात् = द्रव्यविशेषात् च्युतेन = निष्ठ्यूतेन निःसृतेन वा तैलेन = स्नेहेन मिश्रं = संयुक्तम् । मात्रपुरुषैः = हस्तिपकैः ('आधोरणा हस्तिपकाः हस्त्यारोहानिषादिनः' इत्यमरः) ॥

टिप्पणी—अन्य ग्रंथों से भी मालूम होता है कि प्राचीन समय में घुड़शाला के अन्दर बन्दर रखे जाते थेः–मन्दुरान्ते तथा धार्यो रक्तवक्त्रो महाकपिः । सर्वोपद्रवनाशाय वाजीनां च विवृद्धये ॥ (शालिहोत्र) । कूर०–कुछ लोगों ने 'कूर' का अर्थ भात किया है और कुछ लोगों ने इसका अर्थ 'एक प्रकार का बीज' बतलाया है ॥

विदूषकः—(प्रविश्य, दृष्ट्वा च) ही ही भो, इदो वि तइए पओट्ठे इमाइं दाव कुलउत्तजणोववेसणणिमित्तं विरचिदाइं आसणाइं। अद्धवाचिदो पासअपीठे चिट्ठइ पोत्थओ। एसो अ साहीणमणिमअसारिआसहिदो पासअपीठो। इमे अ अवरे मअण-संधिविग्गहचदुरा विविहवण्णिआविलित्तचित्तफलअग्गहत्था इदो तदो परिब्भमंति गणिआ वुड्ढविडा अ। आदिसदु भोदी। [आश्चर्यं भोः। इहापि तृतीये प्रकोष्ठे इमानि तावत्कुलपुत्रजनोपवेशननिमित्तं विरचितान्यासनानि। अर्धवाचितं पाशकपीठे तिष्ठति पुस्तकम्। एतच्च स्वाधीनमणिमयसारिकासहितं पाशकपीठम्। इमे चापरे मदनसंधि-विग्रहचतुरा विविधवर्णिकाविलिप्तचित्रफलकाग्रहस्ता इतस्ततः परिभ्रमन्ति गणिका वृद्ध-विटाश्च। आदिशतु भवती।]

अर्थः—

चेटी—आइये, आइये श्रीमान् जी। श्रीमान् जी इस तीसरे खण्ड में प्रवेश करें।

शब्दार्थः—कुलपुत्रजनोपवेशननिमित्तं = बड़े लोगों के (कुलीन व्यक्तियों के) बैठने के लिये। पाशकपीठे = पाशा खेलने की चौकी पर, अर्धवाचितं = आधी पढ़ी हुई। स्वाधीनमणिमयसारिकासहितं = असली मणि से बनी हुई मैनाओं से व्याप्त। मदनसन्धिविग्रहचतुराः = कामसम्बन्धी मिलाप तथा कलह कराने में चतुर, विविध-वर्णिकाविलिप्तचित्रफलकाग्रहस्ताः = अनेक रंगों से रंगी हुई फोटो (चित्रफलक) हाथों में लिये हुए, इतस्ततः = इधर-उधर, परिभ्रमन्ति = घूम रहे हैं।

अर्थः—

विदूषक—(घुसकर और देखकर) अरे! आश्चर्य है। इस तीसरे खण्ड में बड़े लोगों (धनी युवकों) के बैठने के लिए ये आसन लगाये गये हैं। पाशा (जुआ का एक प्रकार) खेलने की चौकी पर आधी पढ़ी हुई एक किताब रक्खी है। और यह पाशा खेलने की चौकी असली मणि से बनी हुई मैनाओं (मैना पक्षी के शकल की गोटियों) से व्याप्त है। और ये युवक तथा युवतियों के काम-सम्बन्धी मिलाप (अर्थात् प्रेम-मिलाप) तथा प्रेम-कलह कराने में चतुर वेश्याएँ तथा बुड्ढे विट अनेक रङ्गों से रंगी हुई फोटो हाथों में लिये इधर-उधर घूम रहे हैं। आप (आगे का रास्ता) बतलाइये।

टीका—कुलपुत्रजनानां = सद्वंशोत्पन्नपुरुषाणाम् उपवेशननिमित्तम्=उपवेशनार्थम्। पाशकस्य = पाशक्रीडनस्य पीठम् = आसनं तत्र अथवा पाशकपीठवत् निर्मिते आसन-विशेषे; अर्द्धवाचितम् = अर्द्धपठितं पुस्तकं तिष्ठति; कामशास्त्रस्य इति अर्थतः प्राप्तम्। स्वाधीनमणिमयाभिः=अकृत्रिममणिनिर्मिताभिः सारिकाभिः=गुटिकाभिः सहितं =

चेटी--एदु एदु अज्जो। इमं चउट्ठं पओट्ठं पविसदु अज्जो। (एत्वेत्वार्यः। इमं चतुर्थं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।)

विदूषकः--(प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भो, इदो वि चउट्ठे पओट्ठे जुवदिकरताडिदा जलधरा विअ गंभीरं णदंति मुदंगा, हीणपुण्णाओ विअ गअणादो तारआओ णिवडंति कंसतालआ, महुअरविरुअं विअ महुरं वज्जदि वंसो। इअं अवरा ईसाप्पणअकुविदकामिणी विअ अंकारोविदा कररुहपरामरिसेण सारिज्जदि वीणा। इमाओ अवराओ कुसुमरसमत्ताओ विअ महुअरिओ अदिमहुरं पगीदाओ गणिआदारिआओ णच्चिअंति, णट्टअं पठिअंति, ससिंगारओ। ओवग्गिदा गवक्खेसु वादं गेण्हंति सलिलगग्गरीओ। आदिसदु भोदी। [आश्चर्यं भोः, इहापि चतुर्थे प्रकोष्ठे युवतिकरताडिता जलधरा इव गम्भीरं नदन्ति मृदंगाः, क्षीणपुण्या इव गगनात्तारका निपतन्ति कांस्यतालाः, मधुकरविरुतमिव मधुरं वाद्यते वंशः। इयमपरेर्ष्याप्रणयकुपितकामिनीवाङ्कारोपिता कररुहपरामर्शेन सार्यते वीणा। इमा अपराः कुसुमरसमत्ता इव मधुकर्योऽतिमधुरं प्रगीता गणिकादारिका नर्त्यन्ते, नाटचं पाठयन्ते सश्रृङ्गारम्। अल्पवल्गिता गवाक्षेपु वातं गृह्णन्ति सलिलगर्गर्यः। आदिशतु भवती।]

संयुक्तम्। मदनस्य = कामस्य सन्धिः = मेलनं विग्रहः = कलहश्च तयोः चतुराः = प्रवीणाः; विविधाभिः = बहुप्रकाराभिः वर्णिकाभिः = रञ्जनद्रव्यैः इत्यर्थः विलिप्तानि= चित्रितानि यानि चित्रफलकानि = आलेख्यपटाः अग्रहस्ते = कराग्रे येषां यासां वा तथाभूताः, इतस्ततः परिभ्रमन्ति = गच्छन्ति आगच्छन्ति च ॥

अर्थः—

चेटी—आवें, आवें, श्रीमान्‌जी। इस चौथे खण्ड में श्रीमान् जी प्रवेश करें।

शब्दार्थः—युवतिकरताडिताः = युवतियों के हाथ से बजाये गये मृदङ्गाः = एक प्रकार के ढोल, नदन्ति = शब्द कर रहे हैं। कांस्यतालाः = करताल, क्षीणपुण्याः = जिनके पुण्य समाप्त हो गये हैं ऐसे, तारकाः इव = ताराओं की भाँति, निपतन्ति = गिर रहे हैं। मधुकरविरुतमिव = भौंरों की गुञ्जार की भाँति, वंशः = वंशी। अपरेर्ष्याप्रणयकुपितकामिनी = दूसरी स्त्री की ईर्ष्या के कारण प्रेम में कुपित हुई युवती स्त्री, इव = जैसी, अङ्कारोपिता = गोद में रक्खी हुई, वीणा=वीणा, कररुहपरामर्शेन= उँगलियों के द्वारा सहलाने से, सार्यते = मिलाई जा रही है। कुसुमरसमत्ताः = फूलों के रसों से मतवाली। प्रगीताः = गाती हुई, गणिकादारिकाः = वेश्याओं की लड़कियाँ। अल्पवल्गिताः = थोड़ी टेढ़ी। गवाक्षेपु = झरोखों पर।

चेटी—एदु एदु अज्जो। इमं पंचमं पओट्ठं पविसदु अज्जो। (एत्वेत्वार्यः। इमं पञ्चमं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।)

विदूषकः—(प्रविश्य, दृष्ट्वा च) ही ही भो, इदो वि पंचमे पओट्ठे अअं दलिद्दजणलोहुप्पादणअरो आहरइ उवचिदो हिंगुतेल्लगंधो। विविहसुरहिधूमुग्गारेहिं णिच्चं संताविज्जमाणं णीससदि विअ महाणसं दुवारमुहेहिं। अधिअं उसुसावेदि मं साहिज्जमाणबहुविहभक्खभोअणगंधो। अअं अवरो पडच्चरं विअ पोट्टिं धोअदि रूपिदारओ। बहुविहाहारविआरं उवसाहेदि सूवआरो। बज्झंति मोदआ, पच्चंति अपूवआ। (आत्मगतम्) अवि दाणिं इह वड्ढिअं भुंजसु त्ति पादोदअं लहिस्सं। (अन्यतोऽवलोक्य च) इदो गंधव्वच्छरगणेहिं विअ विविहालंकारसोहिदेहिं गणिआ-

---

अर्थः—

विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे ! आश्चर्य है। इस चौथे खण्ड में भी युवतियों के हाथ से बजाये गये मृदङ्ग, बादलों की भाँति, गम्भीर शब्द कर रहे हैं। पुण्य खतम हो जाने पर आकाश से गिरनेवाले ताराओं के समान मँजीरे (करताल) गिर रही हैं। भौंरों की गुञ्जार की भाँति बाँसुरी मीठी तान से बजाई जा रही है। दूसरी स्त्री की ईर्ष्या के कारण प्रेम में कुपित हुई युवती स्त्री की भाँति, गोद में रक्खी हुई वीणा उँगलियों के द्वारा सहलाने से (बजाने के लिये) मिलाई जा रही है (अर्थात् गोद में रख कर वीणा बजाने के लिये साधी जा रही है।) और वेश्याओं की ये कुछ लड़कियाँ, फूलों के रसों (को पीने) से मतवाली भौंरियों के समान, बड़ी मीठी तान में गाती हुई नचाई जा रही हैं, और शृङ्गार से पूर्ण अभिनय (भी उन्हें) सिखाये जा रहे हैं। थोड़ी टेढ़ी (कर के रक्खी हुई) पानी से भरी हुई गगरियाँ (सुराहियाँ) झरोखों में हवा से ठण्डी हो रही हैं। (आगे का मार्ग) बतलावें श्रीमती जी।

टीका—युवतीनां = तरुणीनां करैः = हस्तैः ताडिताः = आहताः; मृदंगाः = मुरजाः; नदन्ति = शब्दं कुर्वन्ति। कांस्यतालाः = कांस्यनिर्मिताः करतालाः; क्षीणं = भोगेन परिमाप्तं पुण्यं = सुकृतं यासां ताः; तारकाः = नक्षत्राणि इव; निपतन्ति = पतन्ति। ('वैदग्ध्यवादनादेव निपातः।' इति पृथ्वीधरः)। मधुकराणां = भ्रमराणां विरुतमिव = गुंजितमिव; वंशः = वंशी। अपरस्याः = अन्यस्त्रियः ईर्ष्यया = असूयया प्रणये कुपिता = सकोपा या कामिनी = तरुणी स्त्री इव; अङ्के = क्रोडे आरोपिता = स्थापिता; वीणा = विपंची ('वीणा तु वल्लकी। विपंची•••' इत्यमरः); कररुहाणां = नखानां परामर्शेन = संस्पर्शेन; सार्यते = संस्क्रियते। कुसुमरसैः = पुष्परसैः मत्ताः =

जणेहि बंधुलेहिं अ जं सच्चं सग्गीअदि एदं गेहं। भो! के तुम्हे बंधुला णाम?।
[आश्चर्यं भोः, इहापि पञ्चमे प्रकोष्ठेऽयं दरिद्रजनलोभोत्पादनकर अहारत्युपचितो हिङ्गुतैलगन्धः। विविधसुरभिधूमोद्गारैर्नित्यं संताप्यमानं निःश्वसितीव महानसं द्वारमुखैः। अधिकमुत्सुकायते मां साध्यमानबहुविधभक्ष्यभोजनगन्धः। अयमपरः पटच्चरमिव हतपशूदरपेशिं धावति रूपिदारकः। बहुविधाहारविकारमुपसाधयति सूपकारः। बध्यन्ते मोदकाः। पच्यन्तेऽपूपकाः। अपीदानीमिह वर्धितं भुङ्क्ष्व इति पादोदकं लप्स्ये। इह गन्धर्वाप्सरोगणैरिव विविधालंकारशोभितैर्गणिकाजनैर्बन्धुलैश्च यत्सत्यं स्वर्गायित इदं गेहम्। भोः, के यूयं बन्धुला नाम?।]

उद्भ्रान्ताः। प्रकृष्टम् = उत्कृष्टं गीतं = गानं यासां ताः प्रगीताः = गानासक्ताः, गणिका-दारिकाः = वेश्यापुत्र्यः। अल्पवल्गिताः—ईषद्वक्राः। गवाक्षेषु = वातायनेषु॥

अर्थः—

चेटी—आइये, आइये श्रीमान् जी! इस पाँचवें खण्ड में श्रीमान्जी प्रवेश करें।

शब्दार्थः—दरिद्रजनलोभोत्पादनकरः = दरिद्र आदमियों की लालच को पैदा करने वाली, उपचितः = बढ़ी हुई, चारों ओर फैली हुई, हिङ्गुतैलगन्धः = हींग और तेल की महक, आहरति = आकृष्ट कर रही है। महानसं = रसोई घर, विविधसुरभि-धूमोद्गारैः = भाँति-भाँति की महक से भरे हुए धुँए को प्रकट करने वाले, द्वारमुखैः = द्वार रूपी मुखों से, निःश्वसिति इव = उच्छ्वास सा ले रहा है। साध्यमानबहुविध-भक्ष्यभोजनगन्धः = पकाये जाते हुए अनेक प्रकार के भोजनों की महक, उत्सुकायते = उत्सुक बना रही है। पटच्चरम् = पुराना कपड़ा, हतपशूदरपेशिं = मारे गये पशु की अँतड़ी को, रूपिदारकः = कसाई, धावति = धो रहा है। सूपकारः = रसोइयाँ, बहु-विधाहारविकारम् = भाँति-भाँति के भोजनों के प्रकार को, उपसाधयति = बना रहा है, पका रहा है। वर्धितं = तैयार भोजन, यथेष्ट। पादोदकं = पैर धोने के लिये जल। स्वर्गायते = स्वर्ग जैसा मालूम पड़ रहा है॥

अर्थ—

विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे! आश्चर्य! यहाँ पाँचवें खण्ड में भी दरिद्र आदमियों को ललचाने वाली, चारों ओर फैली हुई हींग और तेल की यह महक मुझे आकृष्ट कर रही है। हमेशा जलता हुआ रसोई घर भाँति-भाँति की महक से भरे हुए धुएँ को प्रकट करनेवाले द्वार रूपी मुखों से मानो उच्छ्वास ले रहा है (आह भर रहा है।) पकाये जाते हुए अनेक प्रकार के भोजनों की महक मुझे बहुत उत्सुक बना रही है (अर्थात् ललचा रही है।) दूसरा यह कसाई

बन्धुलाः—वयं खलु

परगृहललिताः परान्नपुष्टाः परपुरुषैर्जनिताः पराङ्गनासु।
परधननिरता गुणेष्ववाच्या गजकलभा इव बन्धुला ललामः ॥२८॥

काटे गये पशु की अँतड़ी को, पुराने कपड़े की भाँति, धो रहा है। रसोइया भाँति-भाँति के भोजनों का प्रकार बना रहा है। लड्डू बाँधे जा रहे हैं। पूए छाने जा रहे हैं। (अपने आप) तो क्या अब यहाँ पर 'आइये! भोजन तैयार है, खाइये!' ऐसी प्रार्थना कर कोई मुझे पैर धोने के लिए बढ़कर जल देगा? (दूसरी ओर देखकर) यहाँ गन्धर्वों एवं अप्सराओं के झुण्डों की भाँति अनेक प्रकार के जेवरों से सुशोभित वेश्याओं तथा बन्धुलों के कारण सचमुच यह घर स्वर्ग जैसा मालूम पड़ रहा है। अरे बन्धुल नाम वाले तुम कौन हो?

टीका—दरिद्राति 'पचाद्यचि' आर्धधातुकत्वात् दरिद्रातेरालोपे च दरिद्रः = दुर्गतः ('निःस्वस्तु दुर्विधो दीनो दरिद्रो दुर्गतोऽपि सः' इत्यमरः) स चासौ जनः तस्य लोभोत्पादनकरः = तृष्णोद्दीपकः; अभावग्रस्ताः दरिद्राः राजोचितभोजनगन्धस्य आघ्राणेन भृशं बुभुक्षापीडिताः लालसान्विताश्च भवन्तीति भावः। उपचितः = वृद्धिङ्गतः; आहरति = आकर्षति अथवा आ = समन्तात् हरति = वहति प्रसरति इत्यर्थः। महानसं = पाकशाला, पाकस्थानं ('रसवत्यान्तु पाकस्थानमहानसे' इत्यमरः); विविधसुरभीणां = नानाप्रकारसुगन्धयुक्तानां धूमानाम् उद्गारैः=उद्गीरणैः; द्वाराणि = प्रतीहाराः ('द्वार्द्वारं प्रतीहारः' इत्यमरः) एव मुखानि = आननानि तैः; निश्वसति = उछ्वासं गृह्णाति इव। नित्यं सन्तप्यमानं महानसं निःश्वसति इव–इति उत्प्रेक्षा। साध्यमानानां = पच्यमानानां बहुविधानाम् = अनेकप्रकाराणां भक्ष्याणां = खाद्यानां भोजनानां = व्यंजनादीनामित्यर्थः गन्धः = सौरभः; उत्सुकायते = उत्सुकं करोति। पटच्चरं = जीर्णवस्त्रम् ('पटच्चरं जीर्णवस्त्रम्' इत्यमरः); हतपशोः = भोजनार्थं मारितजन्तोः, छागस्येति यावत्, उदरपेशिम् = उदारस्थकोमलमांसम्। रूपिणं = पशुं ('रूपं स्वभावे सौन्दर्ये नामगे पशुशब्दयोः' इति मेदिनी) दारयति = विदारयति इति रूपिदारकः = पशुहन्ता; धावति = प्रक्षालयति। सूपकारः = पाककर्ता; बहुविधानां = नानाप्रकाराणाम् आहारणां विकारं = भेदं प्रकारमिति यावत्; उपसाधयति = सम्पादयति। वर्धितं = सम्पन्नम् यथेष्टम् वा। पादोदकम् = चरणप्रक्षालनाय सलिलम्। स्वर्गायते = स्वर्गवत् आचरति। स्वर्गे यथा सर्वाणि भोग्यवस्तूनि उपलब्धानि तथा इहाऽपीति भावः॥

विदूषकः—आदिसदु भोदी। (आदिशतु भवती।)

चेटी—एदु एदु अज्जो। इमं छट्ठं पओट्ठं पविसदु अज्जो। (एत्वेत्वार्यः। इमं षष्ठं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।)

विदूषकः—(प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भो, इदो वि छट्ठे पओट्ठे अमुं दाव सुवण्णरअणाणं कम्मतोरणाइं णीलरअणविणिक्खित्ताइं इंदाउहट्ठाणं विअ दरिसअंति। वेदुरिअमोत्तिअपवालअपुप्फराअइंदणीलकक्केतरअपद्मराअमरगअपहुदिआइं रअणविसेसाइं अण्णोण्णं विचारेंति सिप्पिणो। बज्झंति जादरूवेहिं माणि-

---

परगृहललिताः इति--

अन्वयः—परगृहललिताः, परान्नपुष्टाः, परपुरुषैः, पराङ्गनासु, जनिताः, परधननिरताः, गुणेषु, अवाच्याः, (वयं) बन्धुलाः, गजकलभाः, इव, ललामः ॥२८॥

शब्दार्थः—परगृहललिताः = दूसरे के घर में प्रेम से रहने वाले, परान्नपुष्टाः = दूसरों के दाने से पले हुए, परपुरुषैः = दूसरे पुरुषों के द्वारा, पराङ्गनासु = दूसरे की स्त्रियों में, जनिताः = पैदा किये गये, परधननिरताः = पराये धन में निरत, गुणेषु = गुणों में, अवाच्याः = हीन, (वयं = हम) बन्धुलाः = बन्धुललोग, गजकलभाः = हाथियों के बच्चों, इव = जैसे, ललामः = विहार करते हैं ॥

अर्थः—

बन्धुललोग—वास्तव में दूसरे के घर में प्रेमपूर्वक रहने वाले, दूसरों के दाने से पले हुए, दूसरे पुरुषों के द्वारा दूसरे की स्त्रियों में पैदा किये गये, पराये धन को मौज से खाने वाले, गुणों से हीन (हम) बन्धुल लोग हाथियो के बच्चों के समान विहार करते हैं।

टीका—परगृहम् = अन्यभवनं ललितं = प्रियं येषां ते; परेषाम् = अन्येषाम् अन्नेन = धनेन इत्यर्थः पुष्टाः = पालिताः; परपुरुषैः = अन्यजनैः; परेषाम् = अन्येषाम् अङ्गनासु = स्त्रीसु; जनिताः = उत्पादिताः, वर्णसंकराः इति भावः; परधनेषु = अन्यविभवेषु निरताः = भोगासक्ताः; गुणेषु = सद्गुणेषु अवाच्याः = अवक्तव्याः, शून्याः इति यावत्; बन्धुलाः = उक्तलक्षणाः कुलटापुत्राः वयमिति गद्यस्थेन अन्वयः; गजकलभाः = गजशावकाः इव; ललामः = विहरामः ॥२८॥

टिप्पणी—ललामः—'लल' धातुका चुरादिगण में पाठ होने के कारण 'ललामः' यह पद चिन्तनीय है। कुछ लोग भ्वादिगण में पढ़े 'लड' धातु का रूप इसे मानते हैं उनके अनुसार अनुप्रास के कारण 'ड' को 'ल' हो गया है।

क्काइं। घडिज्जंति सुवण्णालंकारा। रत्तसुत्तेण गत्थीअंति मोत्तिआभरणाइं। घसीअंति धीरं वेदुरिआइं। छेदीअंति संखआ। साणिज्जंति पवालआ। सुक्खविअंति ओल्लविदकुंकुमपत्थरा। सालीअदि सल्लज्जअं। विस्साणीअदि चंदणरसो। संजोईअंति गंधजुत्तीओ। दीअदि गणिआकामुकाणं रसकप्पूरं तंबोलं। अवलोईअदि सकडक्खअं। पअट्टदि हासो। पिबीअदि अ अणवरअं ससिक्कारं मइरा। इमे चेडा, इमा चेडिआओ, इमे अवरे अवधीरिदपुत्तदारवित्ता मणुस्सा आसवकरआपीदमदिरेहिं गणिआजणेहिं जे मुक्का ते पिअंति। आदिसदु भोदी। (आश्चर्यं भोः, इहापि षष्ठे प्रकोष्ठेऽमूनि तावत्सुवर्णरत्नानां कर्मतोरणानि नीलरत्नविनिक्षिप्तानीन्द्रायुधस्थानमिव दर्शयन्ति। वैडूर्यमौक्तिकप्रवालकपुष्परागेन्द्रनीलकर्केतरकपद्मरागमरकतप्रभृतीन्रत्नविशेषानन्योन्यं विचारयन्ति शिल्पिनः। बध्यन्ते जातरूपैर्माणिक्यानि। घटयन्ते सुवर्णालंकाराः। रक्तसूत्रेण ग्रथ्यन्ते मौक्तिकाभरणानि। घृष्यन्ते धीरं वैडूर्याणि। छिद्यन्ते शङ्खाः। शाणैर्घृष्यन्ते प्रवालकाः। शोष्यन्त आर्द्रकुङ्कुम—प्रस्तराः। सार्यते कस्तूरिका। विशेषेण घृष्यते चन्दनरसः। संयोज्यन्ते गन्धयुक्तयः;। दीयते गणिकाकामुकयोः सकर्पूरं ताम्बूलम्। अवलोक्यते सकटाक्षम्। प्रवर्तते हासः। पीयते चानवरतं ससीत्कारं मदिरा। इमे चेटाः, इमाश्चेटिकाः, इमे अपरेऽवधीरितपुत्रदारवित्ता मनुष्या आसवकरकापीतमदिरैर्गणिकाजनैर्ये मुक्तास्ते पिबन्ति। अदिशतु भवति।)

चेटी—एदु एदु अज्जो। इमं सत्तमं पओट्ठं पविसदु अज्जो। (एत्वेत्वार्यः। इमं सप्तमं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।)

इस श्लोकमें उपमा अलङ्कार एवं पुष्पिताग्रा छन्द है। छन्द का लक्षण—

अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ पुष्पिताग्रा॥

अर्थः—

विदूषक—आप (आगे का रास्ता) बतलाइए।

चेटी—आर्य! आइये, आइये। इस छठे खण्ड में आर्य प्रवेश करें।

शब्दार्थः—नीलरत्नविनिक्षिप्तानि = मरकतमणि से जटित, सुवर्णरत्नानां = सोने और रत्नोंके, कर्मतोरणाति = नक्काशीदार तोरण (बाहरी दरवाजे), इन्द्रायुध—स्थानम् = इन्द्रधनुप के स्थान (सौन्दर्य) को। शिल्पिनः = कारीगर लोग, विचारयन्ति=विचार कर रहे है, परख रहे हैं। जातरूपैः=सुवर्णोंसे। घट्यन्ते=गढ़े जा रहे हैं। आर्द्रकुङ्कुमप्रस्तराः = गीली केशरों की तहें। सार्यते = चलायी जा रही है। गन्धयुक्तयः = गन्धोंका योग। अवधीरितपुत्रदारवित्ताः = पुत्र, स्त्री तथा धन छोड़ देने वाले।

विदूषकः—(प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भो ! इदो वि सत्तमे पओट्ठे सुसिलिट्ठविहंगवाडीसुह्णिसण्णाइं अण्णोण्णचुंबणपराइं सुहं अणुभवंति पारावदमिहुणाइं। दहिभत्तपूरिदोदरो बम्हणो विअ सुत्तं पढदि पंजरसुओ। इअं अवरा संमाणणालद्धपसरा विअ घरदासी अधिअं कुरुकुराअदि मदणसारिआ। अणेअफलरसास्सादपहुट्टकंठा कुंभ—

आसवकरकापीतमदिरैः = मदिरा के शकोरों में मदिरा पी चुकने वाली, गणिकाजनैः =वेश्याओं के द्वारा।

अर्थः—

विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे ! आश्चर्य ! इस छठे खण्ड में भी ये मरकत मणि (हरे रंग की मणि) जटित, सोने और रत्नों के (बने हुए) नक्काशीदार तोरण इन्द्रधनुष की सी शोभा दिखा रहे हैं।

कारीगर लोग (शिल्पीगण), वैदूर्य, मोती, मूँगा, पुष्पराग, इन्द्रनील, कर्केतरक, पद्मराग, मरकत आदि विशिष्ट रत्नों का आपस में विचार कर रहे हैं। सोने (के जेवरों) में मणियाँ जड़ी जा रही हैं। सोने के जेवर गढ़े जा रहे हैं। लाल डोरे से मोतियों के आभूषण गूँथे जा रहे हैं। धीरे-धीरे वैदूर्य मणियाँ घिसी जा रही हैं। शङ्ख काटे (छेदे) जा रहे हैं। मूँगे सान से खरादे जा रहे हैं। गीली केशरों की तहे सुखाई जा रही हैं। कस्तूरी चलाई जा रही है (सूखने के लिये धूप में फैलाकर बार-बार डुलाई जा रही है)। चन्दनरस विशेष रूप से (अर्थात् सुगन्धित चीज मिला करके) घिसा जा रहा है। (कई प्रकार के) गन्ध मिलाये जा रहे हैं। वेश्या और कामुक को कपूर मिला हुआ पान दिया जा रहा है। कटाक्षपूर्वक देखा जा रहा है। हँसी चल रही है। बराबर सी-सी करके मदिरा पी जा रही है। ये चेट है। ये चेटिकायें हैं। अपना पुत्र, स्त्री तथा धन (सब कुछ) छोड़ देने वाले, शकोरों में मदिरा पी चुकने वाली वेश्याओं के द्वारा जो छोड़ दिये गये हैं ऐसे ये दूसरे लोग मदिरा पी रहे है (अर्थात् मदिरा पीकर वेश्याएँ उन्हे अकेला छोड़ कर चली गयी हैं।) आप आगे निर्देश कीजिये।

टीका—नीलरत्नैः = मरकतमणिभिः विनिक्षिप्तानि = खचितानि; सुवर्णरत्नानां = सुवर्णयुक्तरत्नानां; कर्मणा = शिल्पक्रियाविशेषेण रचितानि तोरणानि = बहिर्द्वाराणि ('तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्' इत्यमरः); इन्द्रायुधस्य = इन्द्रधनुषः स्थानं = साम्यं सौन्दर्यमिति भावः। शिल्पिनः = शिल्पकाराः; विचारयन्ति = परीक्षन्ते। जातरूपैः = काञ्चनैः ('चामीकरं जातरूपं महारजतकाञ्चने' इत्यमरः)। घट्यन्ते = निर्मीयन्ते।

दासी विअ कूअदि परपुट्ठा। आलंबिदा णागदंतेसु पंजरपरंपराओ। जोधीअंति लावआ। आलवीअंति कविंजला। पेसीअंति पंजरकवोदा। इदो तदो विविहमणिचित्तलिदो विअ अअं सहरिसं णच्चंतो रविकिरणसंतत्तं पक्खुक्खेवेहिं विधुवेदि विअ पासादं घरमोरो। (अन्यतोऽवलोक्य च) इदो पिंडीकिदा विअ चंदपादा पदगदिं सिक्खंता विअ कामिणीणं पच्छादो परिब्भमंति राअहंसमिहुणा। एदे अवरे वुड्ढमहल्लका विअ इदो तदो संचरंति घरसारसा। ही ही भो, पसारणअं किदं गणिआए णाणापक्खिसमूहेहिं। जं सच्चं खु णंदणवणं विअ मे गणिआघरं पडिभासदि। आदिसदु भोदी। (आश्चर्यं भोः, इहापि सप्तमे प्रकोष्ठे सुश्लिष्टविहंगवाटीसुखनिपण्णान्यन्योन्यचुम्बनपराणि सुखमनुभवन्ति पारावतमिथुनानि। दधिभक्तपूरितोदरो ब्राह्मण इव सूक्तं पठति पंजरशुकः। इयमपरा संमाननालब्धप्रसरेव गृहदासी अधिकं कुरकुरायते मदनसारिका। अनेकफल-

---

आर्द्राः = सजलाः अशुष्काः इति यावत् कुङ्कुमानां = कश्मीरजानां प्रस्तराः = स्तराः ('तहें' इति भाषायाम्)। सार्यते = इतस्ततः चाल्यते परिष्क्रियते वा, आर्द्रीक्रियते इति पृथ्वीधरः। गन्धयुक्तयः = गन्धयोगाः। अवधीरितानि=तिरस्कृतानि परित्यक्तानि इति यावत् पुत्रदारवित्तानि = सुतस्त्रीधनानि यैः ते। आसवकरकाभिः = मदिराचषकैः पीता = आस्वादिता मदिरा=मद्यं यैः तादृशैः; गणिकाजनैः = वेश्याजनैः ॥

अर्थः—

चेटी—आर्य ! आइये, आइये। इस सातवें खण्ड में आप प्रवेश कीजिए।

शब्दार्थः—सुश्लिष्टविहङ्गवाटीसुखनिषण्णानि = सुन्दर बने हुए चिड़ियाघर में सुख के साथ बैठे हुए, अन्योन्यचुम्बनपराणि = आपस के चुम्बन में लगे हुए, पारावतमिथुनानि = कबूतरों के जोड़े। दधिभक्तपूरितोदरः=दही-भात से भरा हुआ पेट वाला। सूक्तं = वेदमन्त्र को, सुन्दर वचन को। संमाननालब्धप्रसरा = आदर पाने से शिर-चढ़ी या मुँहलगी, गृहदासी = घर की नौकरानी (की) इव = भाँति, कुरकुरायते = कुर-कुरा रही है। अनेकफलारसास्वादप्रहृष्टकण्ठा = अनेक फलों के रस को चखने से प्रसन्न कण्ठ वाली, परपुष्टा = कोयल, कुम्भदासी = कुट्टिनी (व्यभिचारिणी) स्त्री। नागदन्तेषु = खूँटियों में, विधुवति = हवा कर रहा है। पिण्डीकृताः = इकट्ठी की गयी, चन्द्रपादाः = चन्द्रमा की किरणें। पदगतिं = पैर की चाल को। वृद्धमल्लकाः=बूढ़े व्यक्ति। नन्दनवनम् इव = देवताओं के वन की तरह ॥

अर्थः—

विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे ! आश्चर्य ! यहाँ सातवें खण्ड में भी सुन्दर चिड़िया-घर (कपोतपालिका) पर आनन्द के साथ बैठे हुए आपस

रसास्वादप्रहृष्टकण्ठा कुम्भदासीव कूजति परपुष्टा। आलम्बिता नागदन्तेषु पंजरपरंपरा:। योध्यन्ते लावका:। आलाप्यन्ते कपिञ्जला:। प्रेष्यन्ते पंजरकपोता:। इतस्ततो विविधमणिचित्रित इवायं सहर्षं नृत्यन्रविकिरणसंतप्तं पक्षोत्क्षेपैर्विधुवतीव प्रासादं गृहमयूर:। इत: पिण्डीकृता इव चन्द्रपादा: पदगतिं शिक्षमाणानीव कामिनीनां पश्चात्परिभ्रमन्ति राजहंसमिथुनानि। एतेऽपरे वृद्धमहल्लका इव इतस्तत: संचरन्ति गृहसारसा:। आश्चर्यं भो, प्रसारणं कृतं गणिकया नानापक्षिसमूहै:। यत्सत्यं खलु नन्दनवनमिव मे गणिकागृहं प्रतिभासते, आदिशतु भवती।)

के चुम्बन में लगे हुए कबूतरों के जोड़े सुख का अनुभव कर रहे हैं। दही-भात से भरे हुए पेटवाले ब्राह्मण की भाँति, (दही-भात खाकर अघाया हुआ) पिंजरे में बैठा तोता वेद के मन्त्रों को पढ़ रहा है। दूसरी यह मैना, (घर के मालिक या मालकिन के) आदर पाने से शिरचढ़ी या मुँहलगी (अर्थात् प्रभाव प्राप्त करने वाली) घर की नौकरानी के समान, अधिक कुर-कुर शब्द कर रही है। अनेक फलों के रस को चखने (आस्वादित करने) से प्रसन्न कण्ठ वाली कोयल कुट्टिनी स्त्री के समान कूक रही है। खूँटियों में पिंजरों की कतारें लटक रही हैं। बटेर लड़ाये जा रहे हैं। पिंजड़ों के कबूतर भेजे जा रहे हैं (अर्थात् आकाश में उड़ाए जा रहे हैं)।

खुशी के मारे नाचता हुआ, रङ्ग-विरङ्गी मणियों से चित्रित सा यह पालतू मोर (अपने) पङ्खों के फड़फड़ाने से सूरज की किरणों से गरम हुए महल को मानों हवा कर रहा है। (दूसरी ओर देख कर) इधर इकट्ठी की गयी चन्द्रमा की कीरणों के समान (सफेद) ऊँची जाति के हंसों के जोड़े सुन्दरी स्त्रियों के पीछे-पीछे अच्छी चाल (सुन्दर गति) को सीखते हुए से इधर-उधर घूम रहे हैं।

दूसरे ये पालतू सारस पक्षी बहुत बूढ़े व्यक्तियों की तरह इधर-उधर घूम रहे हैं। ओह ! आश्चर्य है ! इस वेश्या ने भाँति-भाँति की चिड़ियों के झुण्डों को (पालकर) फैला रक्खा है। सच तो यह है कि वेश्या का यह घर मुझे देवताओं के वन की तरह मालूम पड़ रहा है। आप (आगे का रास्ता) बतलाइए।

टीका—सुश्लिष्टा = सुनिर्मिता या विहङ्गवाटी = विहगशाला तस्यां सुखेन = आनन्देन निषण्णानि = स्थितानि; अन्योन्यं = परस्परं चुम्बनपराणि = चुम्बनासक्तानि; पारावतानां = कपोतानां मिथुनानि = युगलानि। दधिभक्तेन = दधिमिश्रितौदनेन पूरितं = तृप्तम् उदरं = जठरं यस्य असौ। सूक्तं = वेदमन्त्रं, सुन्दरं वचनं वा। संमाननया = संमानेन लब्ध: = अधिगत: प्रसर: = प्रभाव: यया तादृशी; गृहदासी = गृहसेविका इव; कुरकुरायते = 'कुर-कुर' इति अव्यक्तं शब्दं करोति, अन्यत्र मुखरायते। अनेकेषां =

चेटी—एदु एदु अज्जो। इमं अट्ठमं पओट्ठं पविसदु अज्जो। (एत्वेत्वार्यः। इममष्टमं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।)

विदूषकः—(प्रविश्यावलोक्य च) भोदि ! को एसो पट्टपावारअपाउदो अधिअदरं अच्चब्भुदपुणरुत्तालंकारालंकिदो अंगभंगेहिं परिक्खलंतो इदो तदो परिब्भमदि ?। (भवति ! क एष पट्टप्रावारकप्रावृतोऽधिकतरमत्यद्भुतपुनरुक्तालंकारालंकृतोऽङ्गभङ्गैः परिस्खलन्नितस्ततः परिभ्रमति ?।)

चेटी—अज्ज ! एसो अज्जआए भादा भोदि। (आर्य ! एष आर्याया भ्राता भवति।)

विदूषकः—केत्तिअं तवच्चरणं कदुअ वसंतसेणाए भादा भोदि ?। अधवा

मा दाव जइ वि एसो उज्जलो
सिणिद्धो ल सुअंधो अ।
तह वि मसाणवीधीए जादो विअ
चंपअरुक्खो अणहिगमणीओ लोअस्स ॥ २९ ॥

(अन्यतोऽवलोक्य) भोदि ! एसा उण का फुल्लपावारअपाउदा उवाणहजुअलणिक्खित्ततेल्लचिक्कणेहिं पादेहिं उच्चासणे उवविट्ठा चिट्ठदि ?। (कियत्तपश्चरणं कृत्वा वसन्तसेनाया भ्राता भवति ?।

बहूनां फलानाम् रसास्वादेन = रसपानेन प्रहृष्टः = प्रसन्नःकण्ठः = गलप्रदेशः यस्याः सा; परपुष्टा = कोकिला; कुम्भस्य = वेश्यागामिनः ('कुम्भः स्यात् कुम्भकर्णस्य सुते वेश्यापतौ घटे' इति विश्वः) दासी = सम्भोगार्थं स्थापिता सेविका अर्थात् कुट्टिनी ('कुम्भदासी तु कुट्टिनी' इति शब्दरत्नावली)। नागदन्तेषु = भित्तिप्रोथितकाष्ठदण्डेषु। विधुवति = वीजयति इव इत्युत्प्रेक्षा। पिण्डीकृताः = एकत्रीकृताः; चन्द्रपादाः = चन्द्रकिरणाः। पदगतिं = चरणगमनं मन्दगमनमित्यर्थः। वृद्धमल्लकाः = अतिवृद्धाः। नन्दनवनं = देववनम् इव ॥

टिप्पणी—सूक्तम्–सु + √वच् + क्त। प्रहृष्टः = प्र + √हृष् + क्त ॥

कुम्भदासी—कुछ व्याख्याकार इसका अर्थ करते हैं—'जल का धड़ा ले जाने वाली दासी ॥

अर्थः—

चेटी—आर्य ! आइए, आइए। आप इस आठवें खण्ड में प्रवेश करें।

अथवा—

मा तावद्यद्यप्येष उज्ज्वलः
स्निग्धश्च सुगन्धश्च ।
तथापि श्मशानवीथ्यां जात इव
चम्पकवृक्षोऽनभिगमनीयो लोकस्य ॥२९॥

शब्दार्थः—पट्टप्रावारकप्रावृतः = रेशमीवस्त्र ओढ़े हुए । अत्यद्भुतपुनरुक्तालंकारालंकृतः = अत्यन्तविलक्षण लगने वाले दोहरे आभूषणों से सजा हुआ; अंगभंगै = अंगों को लचकाकर, परिस्खलन् = डगमगाता हुआ । कियत् = कितनी, तपश्चरणम् = तपस्या को ॥

अर्थः—

विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) श्रीमती जी ! यह कौन है, जो रेशमी दुपट्टे को ओढ़े हुए, अधिक रूप से अत्यन्त विलक्षण लगने वाले एक ही जेवर को दो-तीन की संख्या में पहने अङ्गों को लचका कर डगमगाता हुआ इधर-उधर घूम रहा है ?

चेटी—श्रीमान् जी ! ये आर्या (वसन्तसेना) के भाई होते हैं ।

विदूषक—कितनी तपस्या करके यह 'वसन्तसेना' का भाई हुआ है ?

टीका—पट्टप्रावारकेण = कौशेयोत्तरीयवस्त्रेण, प्रावृतः=आच्छादितः । अत्यद्भुतैः= अत्यन्तविचित्रैः पुनरुक्तैः = द्विगुणितैः अलङ्कारैः = आभूषणैः अलङ्कृतः = सज्जः; अंगानाम् = अवयवानां भंगैः = चालनैः; परिस्खलन् = इतस्ततः दोलयन् । कियत् = कियन्मात्रम् तपश्चरणं = तपस्याम् ॥

मा तावदिति—

अन्वयः—मा, तावत्, यद्यपि, एषः, उज्ज्वलः, स्निग्धः, च, सुगन्धः, च, (अस्ति), तथापि, श्मशानवीथ्याम्, जातः, चम्पकवृक्षः, इव, लोकस्य, अनभिगमनीयः, (अस्ति) ॥२९॥

शब्दार्थः—मा तावत् = ऐसी वात नहीं है, यद्यपि = यद्यपि, एषः = यह, उज्ज्वलः = उजला, सुघड़, स्निग्धः=चिकना–चुपड़ा, च = और, सुगन्धः = सुगन्धित, (अस्ति = है), तथापि = तो भी, श्मशानवीथ्याम् = मरघट की गली में, जातः = उगे हुए, चम्पकवृक्षः = चम्पा के पेड़, इव = जैसा, लोकस्य = लोगों के लिये, अनभिगमनीयः = त्याज्य, (अस्ति = है) ॥

भवति ! एषा पुनः का पुष्पप्रावारकप्रावृतोपानद्युगलनिक्षिप्ततैलचिक्कणाभ्यां पादाभ्यामुच्चासन उज्वविष्टा तिष्ठति ? ।)

चेटी—अज्ज ! एसा खु अम्हाणं अज्जआए अत्तिआ । (आर्य ? एषा खल्वस्माकमार्याया माता ।)

विदूषकः—अहो से कवड्डडाइणीए पोट्टवित्थारो । ता किं एदं पवेसिअ महादेवं विअ दुआरसोहा इह घरे णिम्मिदा ? । (अहो अस्याः कपर्दकडाकिन्या उदरविस्तारः । तत्किमेतां प्रवेश्य महादेवमिव द्वारशोभा इह गृहे निर्मिता ? ।)

चेटी—हदास ! मा एव्वं उवहस अम्हाणं अत्तिअं; एसा खु चाउत्थिएण पीडीअदि । (हताश ! मैवमुपहसास्माकं मातरम्; एषा खलु चातुर्थिकेन पीडचते ।)

अर्थः—

ऐसी बात नहीं । यद्यपि यह सुघड़ (सुन्दर = उजला) तथा चिकना-चुपड़ा एवं सुगन्धित है । किन्तु फिर भी मरघट (श्मशान) की गली में उगे हुए चम्पा के पेड़ की तरह यह लोगों के लिये त्याज्य है । ॥२९॥

टीका—मा तावत् = 'कियत्तपश्चरणं कृत्वा वसन्तसेनायाः भ्राता भवति ? इति कथनं न समीचीनम्; यद्यपि एषः = वसन्तसेनायाः भ्राता; उज्जवलः = धवलः, सौन्दर्ययुक्तः इति यावत्; स्निग्धः = प्रसाधनद्रव्यैः चिक्कणः; च = तथा; सुगन्धः = आमोदयुक्तः च अस्तीतिशेषः । तथापि; श्मशानवीथ्यां = श्मशानमार्गे; जातः = उत्पन्नः; चम्पकवृक्षः = चम्पकपादपः इव; लोकस्य = जनस्य; अनभिगमनीयः = अस्पृश्यः इत्यर्थः, गणिकाजातत्वादिति भावः; अस्तीति शेषः ॥२९॥

टिप्पणी—कुछ पुस्तकों में इसे गद्यांश के रूप में ही दिया गया है । इसे पद्य मानने पर इसमें पाँच चरण होते हैं । पाँचवाँ चरण (अणहिगमणीओ लोअस्स) को छोड़ देने पर यह आर्या छन्द के रूप में ही शेष रह जाता है ॥ (काले)

शब्दार्थः—पुष्पप्रावारकप्रावृता = फूलकढ़ी ओढ़नी (दुशाला) ओढ़े हुई, उपानद्युगलनिक्षिप्ततैलचिक्कणाभ्यां = दोनों जूतों में डाले गये तेल से चिकने, पादाभ्याम् = पैरों से, (उपलक्षिता = युक्त) । कपर्दकडाकिन्याः = गन्दी डायन का, उदरविस्तारः = पेट का फैलाव । चातुर्थिकेन = चौथिया बुखार से । शूनपीनजठरः = बढ़ा हुआ, एवं मोटा पेट वाला (शून=फूला हुआ, बढ़ा हुआ, पीन = मोटा, जठर = उदर ॥)

विदूषकः—(सपरिहासम्) भअवं चाउत्थिअ ! एदिणा उवआरेण मं पि बम्हणं आलोएहि [भगवंश्चातुर्थिक ! एतेनोपकारेण मामपि ब्राह्मणमवलोकय ।]

चेटी—हदास ! मरिस्ससि । [हताश ! मरिष्यसि ।]

विदूषकः—(सपरिहासम्) दासीए धीए ! वरं ईदिसो शूणपीण जठरो मुदो ज्जेव ।

सीधु सुरासवमत्तिआ एआवत्थं गदा हि अत्तिआ ।
जइ मरइ एत्थ अत्तिआ भोदि सिआलसहस्सपज्जत्तिआ ।।३०।।

अर्थः—

(दूसरी ओर देखकर) श्रीमती जी ! अच्छा यह कौन हैं जो फूल गढ़ी हुई (अर्थात् बेल-बूटे वाली) ओढ़नी को ओढ़े, दोनों जूतों में तेल से चिकने पैरों को डाले ऊँचे आसन पर बैठी हैं ?

चेटी—श्रीमान् जी ! यह हमारी आर्या (वसन्तसेना)की माता हैं ।

विदूषक—इस गन्दी डायन के पेट का फैलाव आश्चर्यजनक है ! तो क्या महादेव के समान (भारी पेटवाली) इसको (पहले) यहाँ (घर के भीतर) घुसाकर (तब) इस घर में सुन्दर दरवाजों को बनाया गया था ? (नहीं तो इन दरवाजों से इस बुढ़िया के भीतर आने के समय सड़स जाने से इनकी (दरवाजों की) शोभा बिगड़ जाती) ।

चेटी—दुष्ट । हमारी माता जी की इस प्रकार हँसी मत लो । यह तो चौथिया बुखार से परेशान हैं ।

विदूषक—भगवान् चौथिया बुखार ! इसी उपकार (आँख) से मुझ ब्राह्मण को भी देख लीजिए (अर्थात् यदि आपके आने से यह मोटी होरही है तो इसी प्रकार आकर मुझे भी मोटा कर दीजिए) ।

चेटी—दुष्ट ! मर जाओगे ।

टीका—पुष्पप्रावारकेण = पुष्पपटेन (सूक्ष्मतन्तुनिर्मितैः पुष्पैः युक्तः पटः पुष्पपटः निगद्यते); उपानद्युगले=चर्मपदत्राणद्वये निक्षिप्तौ तैलचिक्कणौ=तैललेपस्निग्धौ ताभ्याम्; पादाभ्याम् = चरणाभ्याम्, उपलक्षिता इति शेषः । कपर्दकडाकिन्याः = अपवित्र-पिशाचिन्याः; उदरस्य = कुक्षेः विस्तारः = विस्तरः । चातुर्थिकेन = चतुर्थे अहनि भवेन ज्वरेण । शूनम् = उच्छूनं पीनं = स्थूलं जठरम्=उदरं यस्य तादृशः ।।

भोदि ! किं तुम्हाणं जाणवत्ता वहंति ?। [दास्याःपुत्रि ! वरमीदृशः शूनपीनजठरो मृत एव।

सीधुसुरासवमत्ता एवावदवस्थां गता हि माता।
यदि म्रियतेऽत्र माता भवति शृगालसहस्रपर्याप्तिका ॥

भवति ! किं युष्माकं यानपात्राणि वहन्ति ?।]

चेटी—अज्ज ! णहि णहि । [आर्य ! नहि नहि ।]

विदूषकः—किं वा एत्थ पुच्छीअदि ? तुम्हाणं खु पेम्मणिम्मलजले मअणसमुद्दे

अर्थ—विदूषक—(हँसी लेते हुए) बढ़ा हुआ एवं मोटा पेट वाला ऐसा आदमी मरा हुआ ही अच्छा है (अर्थात् जीने से तो इनका मरना ही अच्छा है)।

सीधुसुरासवमत्ता इति—

अन्वयः—सीधुसुरासवमत्ता, माता, एतावदवस्थाम्, गता, हि, यदि, अत्र, माता म्रियते, (तु), शृगालसहस्रपर्याप्तिका, भवति ॥३०॥

शब्दार्थः—सीधुसुरासवमत्ता=सीधु, सुरा एवं आसव (ये तीनों भिन्न-भिन्न मदिराओं के नाम हैं) से मतवाली, माता=जननी, एतावदवस्थाम्=इस हालत को, गता=प्राप्त हुई है, यदि=यदि, अत्र=इस समय, माता=जननी, म्रियते= मर जाती है, (तु=तो), शृगालसहस्रपर्याप्तिका=हजारों सियारों की पूर्ति, भवति =होती है ॥

अर्थः—सीधु, सुरा एवं आसव (ये तीनों भिन्न-भिन्न मदिराओं के नाम हैं) से मत-वाली (यह तुमलोगों की) माता इस हालत (अर्थात् भारी मोटापन) को प्राप्त हो गयी है। यदि इस समय यह माता मर जाती है तो हजारों सियारों की (पेट-) पूर्ति होती ॥३०॥

टीका—सीधुसुरासवैः=विविधैः मदिराविशेषैः मत्ता=प्राप्तमदा; माता= वसन्तसेनाजननी; एतावदवस्थाम्=एतादृशीं दशां; गता=प्राप्ता; यदि=यदि, अत्र= अस्मिन् समये, माता=जननी, म्रियते=मृत्युं गच्छति; तदा; शृगालसहस्रस्य= शृगालसमुदायस्य इत्यर्थः पर्याप्तिका=पूर्तिः तृप्तिः इत्यर्थः, भवति=जायते ॥३०॥

टिप्पणी—इस श्लोक मे काव्यलिङ्ग अलङ्कार एवं आर्या छन्द है। छन्द का लक्षण—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पंचदश साऽऽर्या ॥३०॥

त्थणणिअंबजहरणा ज्जेव जाणवत्ता मणहरणा। एव्वं वसंतसेणाए बहुवुत्तंतं अट्टपओट्टं भवणं पेक्खिअ जं सच्चं जाणामि, एकत्थं विअ तिविट्ठअं दिट्टं। पसंसिदुं णत्थि मे वाआविहवो। किं दाव गणिआघरो, अहवा कुबेरभवणपरिच्छेदो त्ति। कहिं तुम्हाणं अज्जआ?। [किं वात्र पृच्छ्यते ?। युष्माकं खलु प्रेमनिर्मलजले मदनसमुद्रे स्तननितम्ब जघनान्येव यानपात्राणि मनोहराणि। एवं वसन्तसेनाया बहुवृत्तान्तमष्टप्रकोष्ठं भवनं प्रेक्ष्य यत्सत्यं जानामि, एकस्थमिव त्रिविष्टपं दृष्टम्। प्रशंसितु नास्ति मे वाग्विभवः। किं तावद्गणिकागृहं,अथवा कुबेरभवनपरिच्छेद इति। कुत्र युष्माकमार्या ?]

चेटी—अज्ज! एसा रुक्खवाडिआए चिट्ठदि। ता पविसदु अज्जो। [आर्य ! एषा वृक्षवाटिकायां तिष्ठति। तत्प्रविशत्वार्यः।]

अर्थः—श्रीमती जी! (व्यापार के लिये) क्या आप की गाड़ी अथवा नैया आदि चलती हैं?

चेटीः—आर्य! नहीं, नहीं (चलती हैं)।

शब्दार्थः—यानपात्राणि = जहाज अथवा नाव, वहन्ति = चलती हैं? प्रेमनिर्मल-जले = प्रेम रूपी निर्मल जलवाले, मदनसमुद्रे = काम रूपी सागर में, स्तननितम्ब-जघनानि = स्तन, चूतड़ और जाँघे। एकस्थम् = इकचित, त्रिविष्टपं = स्वर्गलोक। वाग्विभवः = वाणी में बल, कुबेरभवनपरिच्छेदः = कुबेर के महल का एक हिस्सा॥

अर्थ-विदूषक—अथवा इस विषय में पूछने की क्या बात है? वास्तव में प्रेम-रूपी निर्मल जलवाले कामरूपी सागर में तुमलोगों के स्तन, चूतड़ (नितम्ब) और जाँघें ही मनोहर यानपात्र (गाड़ी एवं नौका आदि) हैं। इस प्रकार विभिन्न चरित्रों वाले एवं आठ आँगन से युक्त 'वसन्तसेना' के महल को देखकर सचमुच मुझे लगता है कि मानो (मैंने) एक जगह पर इकट्ठा हुए स्वर्ग-लोक को देख लिया है। प्रशंसा करने के लिए मेरी वाणी में बल नहीं है। तो क्या (यह) वेश्या का घर है? अथवा 'कुबेर' के महल का एक हिस्सा है? तुम्हारी आर्या (वसन्तसेना) कहाँ हैं?।

टीका—यानपात्राणि = व्यापारपोताः; वहन्ति = चलन्ति? व्यापारं विना एतादृशस्य विभवस्य कुतः प्राप्तिः? इति विदूषकस्य आशयः। प्रेम = प्रणयः एव निर्मलं = मलरहितं जलं = सलिलं यत्र तादृशे; मदनः = कामः एव समुद्रः = सागरः तस्मिन्; स्तनौ = पयोधरौ नितम्बः = स्त्रीकट्याः पश्चाद्भागः जघनं = स्त्रीकट्याः पुरोभागः ('पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः क्लीबे तु जघनं पुरः' इत्यमरः) यथा वणिजां व्यापारेण धनप्राप्तिसाधनं पोताः भवन्ति तथैव स्तनादिभिः भवतीनां धनोपार्जनं जायते इति भावः। एकस्थम् = एकस्मिन् स्थाने स्थितं; त्रिविष्टपं = सुरलोकः। वाचः = वाण्याः विभवः = सामर्थ्यमित्यर्थः। कुबेरभवनस्य=कुबेरगृहस्य परिच्छेदः=भागः॥

विदूषकः—(प्रविश्य, दृष्ट्वा च) ही ही भो, अहो रुक्खवाडिआए एस्सिरीअदा। अच्छरीदिकुसुमपत्थारा रोविदाअणेअपादवा, णिरंतरपादवतलणिम्मिदा जुवदिजहणप्पमाणा पट्टदोला, सुवण्णजूधिआसेहालिआमालईमल्लिआणोमालिआकुरबआअदिमोत्तअप्पहुदिकुसुमेहिं सअं णिवडिदेहिं जं सच्चं लहुकरेदि विअ णंदणवणस्स सस्सिरीअदं। (अन्यतोऽवलोक्य) इदो अ उदअंतसूरसमप्पहेहिं कमलरत्तोत्पलेहिं संझाअदि विअ दीहिआ। अवि अ,—

एसो असोअवुच्छो णवणिग्गमकुसुमपल्लवो भादि।
सुभडो व्व समरमज्झे घणलोहिद्पंकचच्चिक्को ॥ ३१ ॥

भोदु, ता कहिं तुम्हाणं अज्जआ ? । [आश्चर्य भोः, अहो वृक्षवाटिकायाः सश्रीकता। अच्छरीतिकुसुमप्रस्तारा रोपिता अनेकपादपाः, निरन्तरपादपतलनिर्मिता युवतिजघनप्रमाणाः पट्टदोलाः, सुवर्णयूथिकाशेफालिकामालतीमल्लिकानवमल्लिकाकुरवकातिमुक्तकप्रभृतिकुसुमैः स्वयं निपतितैर्यत्सत्यं लघूकरोतीव नन्दनवनस्य सश्रीकताम्। इतश्च उदयत्सूर्यसमप्रभैः कमलरक्तोत्पलैः संध्यायते इव दीर्घिका। अपि च,—

अर्थः—चेटी—आर्य ? यह बगीचे मे बैठी हैं। तो आप प्रवेश करें।

शब्दार्थः—अच्छरीतिकुसुमप्रस्तारा: = जिन पर भली-भाँति फूलों का फैलाव होता है ऐसे, पादपाः = बहुत से पौधे, रोपिताः = लगाये गये (हैं)। निरन्तरपादपतलनिर्मिताः = सघन पेड़ों के नीचे बने हुए, युवतिजघनप्रमाणाः = युवतियों के चूतड़ की नापवाली। उद्यत्सूर्यसमप्रभैः = निकलते हुए सूर्य के समान कान्ति वाले। दीर्घिका = बावड़ी, संध्यायते = सन्ध्या का दृश्य उपस्थित कर रही है।

अर्थः—विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे आश्चर्य ! बगीचे की सुन्दरता आश्चर्यजनक है। जिनपर भली भाँति फूलों का फैलाव होता है (अर्थात् जिन पर फैलकर फूल खिलते हैं) ऐसे बहुत से पौधे लगाये गये हैं। युवतियों के चूतड़ (जघन-स्थल) की नाप वाली पटरियों के झूले सघन पेड़ों के नीचे बने हुए हैं। सोनजूही, शेफालिका, मालती, बेला, चमेली, कुरबक तथा मोगरा आदि अपने आप गिरे हुए फूलों से (यह बगीचा) सचमुच ही नन्दन वन (देवताओं के बगीचे) की शोभा को तुच्छ कर रहा है।

(दूसरी ओर देखकर) और इधर निकलते हुए सूर्य के समान कान्ति वाले साधारण एवं लाल वर्ण वाले कमलों से (यह) बावड़ी संन्ध्या का दृश्य उपस्थितसा कर रही है। और भी;—

एषोऽशोकवृक्षो नवनिर्गमकुसुमपल्लवो भाति ।
सुभट इव समरमध्ये घनलोहितपङ्कचर्चिकः ।

भवतु, तत्कुत्र युष्माकमार्या ? ।]

टीका—अच्छरीत्या = शोभनप्रकारेण कुसुमानां = पुष्पाणां प्रस्तारः = विस्तारः येषु ते; अनेकपादपाः = बहवः वृक्षाः; रोपिताः = आरोपिताः सन्तीति शेषः । निरन्तराः = सघनाः; ये पादपाः = वृक्षाः तेषां तले = अधस्तले निर्मिता = रचिता, युवतिजनस्य = तरुणीजनस्य जघनं = कटिपुरोभागः प्रमाणं = परिमितिः यस्या तादृशी । उद्यन् = उदयं गच्छन् यः सूर्यः तेन समा = सदृशी प्रभा = कान्तिः येषां तथोक्तैः । दीर्घिका = वापी ('वेशन्तः पल्वलं चाल्पसरो वापी तु दीर्घिका' इत्यमरः) सन्ध्यायते = सन्धा इव आचरति, रक्तवर्णा भवतीति भावः ॥

एषोऽशोकवृक्षः इतिः—

अन्वयः—नवनिर्गतकुसुमपल्लवः, एषः, अशोकवृक्षः, समरमध्ये, घनलोहितपङ्कचर्चिकः, सुभटः, इव, भाति ॥ ३१ ॥

शब्दार्थः—नवनिर्गतकुसुमपल्लवः = नये निकले हुए फूलों एवं पत्तों वाला, एषः = यह, अशोकवृक्षः = अशोक का पेड़, समरमध्ये = लड़ाई के बीच में, घनलोहितपङ्कचर्चिकः = गाढ़े खून रूपी कीचड़ से लथपथ हुए, सुभटः = बहादुर (की), इव = भाँति, भाति = शोभायमान हो रहा है ॥

अर्थः—नये निकले हुए फूलों एवं पत्तों (कोपलों) वाला यह अशोक का पेड़, लड़ाई के मैदान में गाढ़े खून रूपी कीचड़ से लथपथ हुए बहादुर की भाँति, शोभायमान हो रहा है ॥ ३१ ॥

टीका—नवनिर्गताः = नूतनोत्पन्ना कुसुमपल्लवाः = पुष्पपत्राणि यस्य सः; एषः = पुरोवर्तमानः; अशोकवृक्षः = अशोकपादपः; समरमध्ये = समराङ्गणे; घनैः = सान्द्रैः लोहितैः = रक्तैः एव पङ्कैः = कर्दमैः चर्चिकः = चर्चितः कृतलेपनः इत्यर्थः; सुभटः = शूरः इव; भाति = शोभते ॥ ३१ ॥

टिप्पणीः—फूले हुए अशोक वृक्ष की घायल योद्धा से समानता बतलाने के कारण यहाँ उपमा अलङ्कार है । प्रयुक्त छन्द का नाम है—आर्या । छन्द के लक्षण के लिए श्लोक ३० की टिप्पणी देखिए ॥ ३१ ॥

अर्थः—अच्छा, तो तुम्हारी आर्या (वसन्तसेना) कहाँ है ?

चेटी—अज्ज ! ओणामेहि दिट्ठिं, पेक्ख अज्जअं। [आर्य ! अवनमय दृष्टिम्, पश्यार्याम् ।]

विदूषकः—(दृष्ट्वा, उपसृत्य) सोत्थि भोदीए। [स्वस्ति भवत्यै ।]

वसन्तसेना—(संस्कृतमाश्रित्य) अये, मैत्रेयः। (उत्थाय) स्वागतम्, इदमासनम्; अत्रोपविश्यताम् ।

विदूषकः—उपविसदु भोदी। [उपविशतु भवती ।]

(उभावुपविशतः)

वसन्तसेना—अपि कुशलं सार्थवाहपुत्रस्य ? ।

विदूषकः—भोदि ! कुशलं । [भवति ! कुशलम् ।]

वसन्तसेना—आर्य मैत्रेय ! अपीदानीं

गुणप्रवालं विनयप्रशाखं विश्रम्भमूलं महनीयपुष्पम्।
तं साधुवृक्षं स्वगुणैः फलाढ्यं सुहृद्विहङ्गाः सुखमाश्रयन्ति ? ॥३२॥

चेटी—आर्य। निगाह नीची कीजिए। आर्या को देखिए ।

विदूषक—(देखकर और समीप आकर) आपका भला हो ।

वसन्तसेना—(संस्कृत के माध्यम से) अरे। मैत्रेय है। (उठकर) स्वागत है। यह आसन है। यहाँ बैठिए ।

विदूषक—आप बैठें ।

(दोनों बैठते हैं)

वसन्तसेना—सार्थवाह के पुत्र (आर्य 'चारुदत्त') कुशल से तो हैं ?

विदूषकः—श्रीमती जी। कुशल से हैं ।

गुणप्रवालमिति—

अन्वयः—गुणप्रवालं, विनयप्रशाखं, विश्रम्भमूलं, महनीयपुष्पम्, स्वगुणैः, फलाढ्यं, तं, साधुवृक्षं, सुहृद्विहङ्गाः, सुखम्, आश्रयन्ति ? ॥३२॥

शब्दार्थः—गुणप्रवालं=गुण रूपी कोपलों वाले, विनयप्रशाखम् = नम्रता रूपी डालियों वाले, विश्रम्भमूलम् = विश्वासरूपी जड़ वाले, महनीयपुष्पम् = बड़प्पन रूपी फूल वाले, स्वगुणैः = अपने गुणों के द्वारा, फलाढ्यम् = फल-परिपूर्ण, तम् = उस, साधुवृक्षम् = सज्जन रूपी पेड़ पर, सुहृद्विहङ्गाः = मित्र रूपी पक्षियाँ, सुखम् = सुखपूर्वक, आश्रयन्ति=आश्रय लेती हैं ? ॥

अर्थ—वसन्तसेना—आर्य मैत्रेय ! क्या इस समय,

जिसके गुण ही कोपले हैं, नम्रता ही डालियाँ हैं, विश्वस ही जड़ है, बड़प्पन ही फूल है ऐसे अपने गुणों के द्वारा फलपरिपूर्ण उस सज्जन (चारुदत्त) रूपी पेड़ पर मित्र रूपी पक्षियाँ सुखपूर्वक आश्रय लेती हैं ? ॥३२॥

विदूषकः—(स्वगतम्) सुट्ठु उवलक्खिदं दुट्ठविलासिणीए। (प्रकाशम्) अध इं। [सुष्ठूपलक्षितं दुष्टविलासिन्या। अथ किम्।]

वसन्तसेना—अये ! किमागमनप्रयोजनम् ?।

विदूषकः—सुणादु भोदी। तत्तभवं चारुदत्तो सीसे अंजलिं कदुअ भोदिं विण्णवेदि [शृणोतु भवती। तत्रभवांश्चारुदत्तः शीर्षेऽञ्जलिं कृत्वा भवतीं विज्ञापयति।]

वसन्तसेना—(अञ्जलिं बद्ध्वा) किमाज्ञापयति ?।

विदूषकः—मए तं सुवण्णभंडअं विस्संभादो अत्तणकेरकेति कदुअ जूदे हारिदं। सो अ सहिओ राअवत्थहारी ण जाणीअदि कहिं गदो त्ति। [मया तत्सुवर्णभाण्डं विश्रम्भादात्मीयमिति कृत्वा द्यूते हारितम्। स च सभिको राजवार्ताहारो न ज्ञायते कुत्र गत इति।]

टीका—गुणाः = दयादाक्षिण्यादिगुणाः एव प्रवालाः = किसलयाः यस्य तम्, विनयः = विनम्रता एव प्रशाखा = उत्कृष्टा शाखा यस्य तम्; विश्रम्भः = विश्वासः एव मूलं यस्य तम्; महनीयम् = श्रेष्ठं पूजनीयम् वा, पूजनीयचरितमेवेति भावः, पुष्पम् = प्रसूनं यस्य तम्; स्वगुणैः = स्वक्षमादिगुणैः; फलाढ्यम् = फलसम्पन्नम्; श्रेष्ठगुणफलयुक्तमित्यर्थः; तम् = चारुदत्तरूपम्; साधुवृक्षम् = सज्जनपादपम्; सुहृदः = मित्राणि एव विहङ्गाः = पक्षिणः; सुखम् = सानन्दम् आश्रयन्ति = अवलम्बन्ते किम् ? ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में रूपक अलङ्कार एवं उपजाति छन्द है। छन्द का लक्षण—

अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ,
पादौ यदीपावुपजातयस्ताः ॥३२॥

शब्दार्थः—उपलक्षितम् = जाना गया। विश्रम्भात् = विश्वास के कारण। राजवार्ताहारी = राजाओं का सन्देश पहुँचाने वाला। शौण्डीरतया = उदारता के कारण, हीनकुसुमात् = बौर से हीन, सहकारपादपात् = आम के पेड़ से, मकरन्दबिन्दवः = फूलों के रस की बूँदे। अन्यत् = और कुछ। गणिकाप्रसंगात् = वेश्या के संसर्ग से। अकालदुर्दिनम् = विना समय के ही मेघों से युक्त दिन॥

अर्थः—विदूषक—(अपने आप) ठीक जाना इस दुष्ट वेश्या ने। (प्रकट रूप में) और क्या ? (अर्थात् आश्रय लेती हैं)।

वसन्तसेना—जी। आप के आने का कारण क्या है ?

विदूषक—श्रीमती जी सुने। आदरणीय 'चारुदत्त' शिर पर णाथ जोड़कर आपको सूचित करते हैं।

वसन्तसेना—(हाथ जोड़कर) क्या आज्ञा देते हैं ?

विदूषक—आप के द्वारा रक्खे गये उस सोने के डिब्बे को विश्वासपूर्वक अपना

चेटी—अज्जए। दिट्ठिआ वड्ढसि। अज्जो जूदिअरो संवुत्तो। [आर्ये ! दिष्ट्या वर्धसे। आर्यो द्यूतकरः संवृत्तः।]

वसन्तसेना—(स्वगतम्) कधं चोरेण अवहिदं पि सोंडीरदाए जूदे हारिदं त्ति भणादि ?। अदो ज्जेव कामीअदि। [कथं चौरेणापहृतमपि शौण्डीरतया द्यूते हारितमिति भणति ?। अत एव काम्यते।)

विदूषकः—ता तस्स कारणादो गेण्हदु भोदी इमं रअणावलिं। [तत्तस्य कारणाद् गृह्णातु भवतीमां रत्नावलीम्।]

वसन्तसेना—(आत्मगतम्) किं दंसेमि तं अलंकारअं ?। (विचिन्त्य) अधवा ण दाव। [किं दर्शयामि तमलंकारम् ?। अथवा न तावत्।]

विदूषकः—किं दाव ण गेण्हदि भोदी एदं रअणावलिं ?। [किं तावन्न गृह्णाति भवतीमां रत्नावलीम् ?।]

वसन्तसेना—(विहस्य, सखीमुखं पश्यन्ती) मित्तेअ ! कधं ण गेण्हिस्सं रअणावलिं ?। (इति गृहीत्वा पार्श्वे स्थापयति, स्वगतम्) कधं झीणकुसुमादो वि सहआरपादवादो मअरंदबिंदओ णिवडंति ?। (प्रकाशम्) अज्ज ! विण्णवेहि तं जूदिअरं मम वअणेण अज्जचारुदत्तं—'अहं पि पदोसे अज्जं पेक्खिदुं आअच्छामि' त्ति। [मैत्रेय ! कथं न ग्रहीष्यामि रत्नावलीम् ?। कथं हीनकुसुमादपि सहकारपादपान्मकरन्दबिन्दवो निपतन्ति ?। आर्य ! विज्ञापय तं द्यूतकरं मम वचनेनार्यचारुदत्तम्—'अहमपि प्रदोष आर्यं प्रेक्षितुमागच्छामि' इति।]

मान कर मैं जुए में हार गया। और राजाओं का हरकारा (सन्देश पहुँचाने वाला) वह सभिक (जुआ खेलाने वाला) न जाने कहाँ चला गया।

चेटी—आर्या ! भाग्य से बढ़ रही हो (अर्थात् तुम्हारा भाग्य बलवान् है)। आर्य 'चारुदत्त' जुआरी हो गये।

वसन्तसेना—(अपने आप) क्या चोर के द्वारा चुराये गये (सोने के डिब्बे) को भी, उदारता के कारण, 'जुए में हरा दिया' ऐसा कह रहे हैं ? इसीलिए (उदारता के कारण ही) तो मैं उनको चाहती हूँ।

विदूषक—तो उसके बदले मे आप इस रत्नों की माला (रत्नावली) को लीजिए।

वसन्तसेना—(अपने आप) क्या उस जेवर को दिखला दूँ ? (विचार कर) या अभी नहीं।

विदूषक—तो क्या आप इस रत्नावली को नहीं ले रही हैं ?

विदूषकः—(स्वगतम्) किं अण्णं तहिं गदुअ गेण्हिस्सदि ? । (प्रकाशम्) भोदि ! भणामि—(स्वागतम्) 'णिअत्तीअदु इमादो गणिआपसंगादो' त्ति । [किमन्यत्तत्र गत्वा ग्रहीष्यति ? । भवति ! भणामि—'निवर्ततामस्माद्‌गणिकाप्रसङ्गात्' इति ।]

(इति निष्क्रान्तः)

वसन्तसेना—हञ्जे ! गेण्ह एदं अलंकारअं । चारुदत्तं अहिरमिदुं गच्छम्ह । [चेटि ! गृहाणैतमलंकारम् । चारुदत्तमभिरन्तु गच्छावः ।]

चेटी—अज्जए ! पेक्ख पेक्ख । उण्णमदि अकालदुद्दिणं । [आर्ये ! पश्य पश्य, उन्नमत्यकालदुर्दिनम् ।]

वसन्तसेना—

बसन्तसेना—(हँसकर सखी के मुँह को देखती हुई) मैत्रेय ! रत्नावली को क्यों नहीं लूँगी ? (लेकर पास में रखती हुई अपने आप) क्या बौर (मञ्जरी) से हीन भी आम के पेड से फूलों के रस की बूंदे गिरती हैं ?

(प्रकट रूप में) श्रीमान् जी ! मेरी तरफ से उन जुआरी आर्य 'चारुदत्त' से कहना कि—'मैं भी आज रात के पहले पहर (प्रदोष) में आर्य (आप) को देखने के लिये आऊँगी ।'

विदूषक—(अपने आप) क्या वहाँ जाकर दूसरी कोई चीज लेगी ? (प्रकट रूप में) श्रीमती जी ! कहूँगा—(अपने आप) 'कि इस वेश्या का साथ छोड़ दो ।'

(ऐसा कहकर चला जाता है)

वसन्तसेना—चेटी ! इस जेवर को लो । 'चारुदत्त' से काम-क्रीड़ा करने चलेंगी ।

चेटी—आर्या ! देखिये, बिना समय के ही, दुर्दिन (पानी की फुहार छोड़ने वाली काली घटाएँ) उमड़ रही हैं ।

टीका—उपलक्षितं = परिज्ञातम् । विश्रम्भात्=त्वयि विश्वासात् । राज्ञः वार्ता = संदेशं हरति = एकस्थानात् अन्यत्र प्रापयति इति राजवार्ताहारी = राजसन्देशवद्दः । शौण्डीरतया=औदार्येण । हीनानि = अपगतानि कुसुमानि = पुष्पाणि यस्य तस्मात्; सहकारपादपात् = आम्रवृक्षात्; मकरन्दबिन्दवः = पुष्परसकणाः । अन्यत्=अधिकम् किमपि इत्यर्थः ! गणिकायाः=वेश्यायाः प्रसंगात् = कार्यात् संसर्गात् वा । अकाले = असमये दुर्दिनम् = मेघसमूहः इत्यर्थः ॥

टिप्पणी—'अकालदुर्दिनम्'—इसके और 'उदयन्तु नाम' इस श्लोक के कथन से पंचम अङ्क की वर्षा की सूचना दी गयी है ॥

उदयन्तु नाम मेघा भवतु निशा वर्षमविरतं पततु ।
गणयामि नैव सर्वं दयिताभिमुखेन हृदयेन ॥३३॥

हञ्जे ! हारं गेण्हिअ लहुं आअच्छ । [चेटि ! हारं गृहीत्वा शीघ्रमागच्छ ।]

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

मदनिकाशर्विलको नाम चतुर्थोऽङ्कः ॥

उदयन्तु नाम इतिः—

अन्वयः—मेघाः, उदयन्तु, नाम; निशा, भवतु; अविरतम् वर्षं, पततु; (अहं) दयिताभिमुखेन, हृदयेन, सर्वं, नैव, गणयामि ॥३३॥

शब्दार्थः—मेघाः =घटाएँ, उदयन्तु =घिर आये, नाम = यह स्वीकारसूचक अव्यय हैं, निशा =रात, भवतु =हो जाय, अविरतम् =लगातार, वर्षं =वर्षा, पततु =पड़े; (अहं = मैं), दयिताभिमुखेन=प्रियतम् के लिए उमड़ने वाले अथवा तड़पने वाले, हृदयेन =हृदय के कारण, सर्वं=यह सब, नैव = नहीं, गणयामि= गिनती हूँ ॥

अर्थः—वसन्तसेना—घटाएँ भले ही घिर आयें, रात हो जाय, लगातार पानी पड़ता रहे, (फिर भी मैं) प्रियतम से मिलने के लिए तड़पने वाले हृदय के कारण इन सबकी कुछ भी परवाह नहीं करती ॥३३॥

(सब निकल जाते हैं)

'मदनिका' और शर्विलक नामक चौथा अङ्क समाप्त ।

टीका—मेघाः = जलदाः; उदयन्तु =आविर्भवन्तुः नामेति स्वीकारे; निशा = रात्रिः; भवतु =अस्तु; अविरतम् =अनवरतम्; वर्षं =वृष्टिः; पततु =भवतु इत्यर्थः; अहं दयिताभिमुखेन = प्रियतममिलनोत्सुकेन इत्यर्थः; हृदयेन=चेतसा, सर्वं=निखिलमेतत्; नैव गणयामि =नैव शोचामि, बाधाकरं नैव मन्ये इति भावः ॥३३॥

(अत्राङ्के तावत् आसमाप्ति वर्षर्तुवर्णनं क्रियते । तच्च वसन्तसेना–चारुदत्तयोरन्योन्यानुरागोद्दीपनविभावनत्वेनावतरति इति ज्ञेयम्)

टिप्पणी—वर्षम् =वर्षा, √वृष्+अच् (पु० नपु०) ॥

इस श्लोक के छन्द का नाम है—आर्या । लक्षण—यस्याः प्रथमे पादे द्वादश–मात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादशद्वितीये चतुर्थके पंचदश सार्या ॥३३॥

॥ इति मदनिका-शर्विलको नाम चतुर्थोऽङ्कः ॥

—:❀:—

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्यासनस्थः सोत्कण्ठश्चारुदत्तः)

चारुदत्तः—(ऊर्ध्वमवलोक्य) उन्नमत्यकालदुर्दिनम् । यदेतत्

आलोकितं गृहशिखण्डिभिरुत्कलापै-
हंसैर्यियासुभिरपाकृतमुन्मनस्कैः ।
आकालिकं सपदि दुर्दिनमन्तरीक्ष-
मुत्कण्ठितस्य हृदयं च समं रुणद्धि ॥१॥

आलोकितमिति—

अन्वयः—उत्कलापैः, गृहशिखण्डिभिः, आलोकितं; यियासुभिः, उन्मनस्कैः; हंसैः, अपाकृतम्; आकालिकम्, दुर्दिनम्, सपदि, अन्तरिक्षम्, उत्कण्ठितस्य, हृदयम्, च, समम्, रुणद्धि ॥१॥

शब्दार्थः—उत्कलापैः=ऊपर को ओर पंख किये हुए, गृहशिखण्डिभिः= पालतू मोरों के द्वारा, आलोकितम्=देखा गया; यियासुभिः=जाने की इच्छा वाले, उन्मनस्कैः=खिन्न मन वाले, हंसैः=हंसों के द्वारा, अपाकृतन्=तिरस्कृत किया गया; आकालिकम्=कुसमय में होने वाला, दुर्दिनम्=बादलों से ढका हुआ दिन, सपदि= शीघ्र ही, अन्तरिक्षम्=आसमान को, उत्कण्ठितस्य=विरही के, हृदयम्=हृदय को, समं=साथ ही, रुणद्धि=ढँक रहा है ॥

पाँचवा अङ्क

अर्थः—(इसके बाद आसन पर बैठा हुआ बेचैन (उत्कण्ठित=विरहातुर) चारुदत्त प्रवेश करता है)

चारुदत्त—(ऊपर की ओर देखकर) कुसमय में ही दुर्दिन (झड़ी लगाने वाला काला-काला मेघ) उमड़ रहा है । जो यह—

ऊपर की ओर पंख छितराए हुए पालतू मोरों के द्वारा (आनन्द के साथ) देखा गया, (मानसरोवर को) जानने की इच्छा वाले खिन्न-मन हंसों के द्वारा तिरस्कृत किया गया कुसमय का यह दुर्दिन (मेघों से युक्त दिन) शीघ्र ही आसमान तथा विरही आदमी के हृदय को साथ साथ ढँक (आच्छन्न कर) रहा है ॥१॥

टीका—उद्गतः कलापः=पिच्छं यैः तैः, ऊर्ध्वप्रसारितपुच्छैः इत्यर्थः; गृहस्य= भवनस्य, शिखण्डः=बर्हं ('शिखण्डस्तु पिच्छबर्हे' इत्यमरः) एषामस्तीति शिखण्डिनः मयूराः, गृहपालितमयूराः इत्यर्थः, आलोकितम्=प्रसन्नतया अवलोकितम्; यियासुभिः=

अपि च,—

मेघो जलार्द्रमहिषोदरभृङ्गनीलो
विद्युत्प्रभारचितपीतपटोत्तरीयः।
आभाति संहतबलाकगृहीतशङ्खः
खं केशवोऽपर इवाक्रमितुं प्रवृत्तः ॥ २ ॥

गन्तुमिच्छुभिः मानसरोवरमिति शेषः; उद्गतं=खिन्नमित्यर्थः मनः=चेतः येषां तैः; हंसैः=मरालैः; अपाकृतम्=तिरस्कृतम्; आकालिकम्=अनवसरोत्पन्नम्; दुर्दिनम्=मेघाच्छन्नं दिनम्; लक्षणया मेघः इत्यर्थः; सपदि=झटिति; अन्तरिक्षम्=आकाशम्; उत्कण्ठितस्य=विरहातुरस्य; हृदयम्=चेतश्च; समम्=साकम्; रुणद्धि=आच्छादयति। 'आलोकितम्' तथा 'अपाकृतम्' इति पदद्वयं दुर्दिनमित्यस्य विशेषणम् ॥ १ ॥

टिप्पणी—यियासुभिः = + या + सन् + उ ॥ अपाकृतम् = अप + आ√कृ + क्त ॥

इस श्लोक में 'सहोक्ति' अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है। छन्द का लक्षण—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥१॥

मेघः इति—

अन्वयः–जलार्द्रमहिषोदरभृङ्गनीलः, विद्युत्प्रभारचितपीतपटोत्तरीयः, संहतबलाकगृहीतशङ्खः, अपरः, केशवः, इव, खम्, आक्रमितुं, प्रवृत्तः, मेघः आभाति ॥१॥

शब्दार्थः—जलार्द्रमहिषोदरभृंगनीलः=पानी से भीगे हुए भैंसे के पेट एवं भौंरे के समान नीला, विद्युत्प्रभारचितपीतपटोत्तरीयः=बिजली की चमक रूपी बने हुए पीताम्बर का दुपट्टा धारण करने वाला (विष्णु के पक्ष में–बिजली की चमक के समान बना हुआ पीताम्बर ही है दुपट्टा जिसका), संहतबलाकगृहीतशङ्खः–इकट्ठी हुई बगुलों की पाँत रूपी शङ्ख को लेने वाला (विष्णु के पक्ष में—इकट्ठी हुई बगुलों की पाँत की भाँति लिया है 'पाञ्चजन्य' नामक शङ्ख जिसने), अपरः=दूसरे, केशवः= विष्णु (की), इव=तरह, आकाश को, आक्रमितुं=लांघने के लिये, प्रवृत्तः=तैयार, मेघः=बादल, आभाति=शोभित हो रहा है ॥

और भी—

अर्थ—पानी से भीगे हुए भैंसे के पेट (उदर) एवं भौंरे के समान नीला, बिजली की चमक रूपी बने हुए पीताम्बर का दुपट्टा धारण करनेवाला (विष्णु के पक्ष में–बिजली

अपि च,—

केशवगात्रश्यामः कुटिलबलाकावलीरचितशङ्खः ।

विद्युद्गुणकौशेयश्चक्रधर इवोन्नतो मेघः ॥ ३ ॥

की चमक के समान बना हुआ पीताम्बर ही है दुपट्टा जिसका), इकट्ठी हुई बगुलों की पाँत रूपी शङ्ख को लेनेवाला (विष्णु के पक्ष में—इकट्ठी हुई बगुलों की पाँत की भाँति लिया है 'पाञ्चजन्य' नामक शङ्ख जिसने), वामनरूपधारी दूसरे विष्णु के समान आकाश को लांघने (व्याप्त करने) के लिये तैयार मेघ शोभित हो रहा है । (अर्थात् मेघ का स्वरूप तथा कार्य विष्णु की भाँति लग रहा है) ॥२॥

टीका—जलेन = सलिलेन आर्द्रः = सिक्तदेहः यः महिषः = सैरिभः ('लुलापो महिषो वाहद्विषत्कासरसैरिभाः' इत्यमरः) तस्य उदरं = कुक्षिः (सहजश्यामस्य महिषस्य श्यामत्वाधिकं जलोत्थितावस्थायां द्रष्टुं शक्यते) तथा भृंगः द्विरेफश्च तद्वत् नीलः = श्यामः (मेघः विष्णुश्च); विद्युदः = तडिदः ('तडित्सौदामनी विद्युच्चंचला चपला अपि' इत्यमरः) प्रभा = कान्तिः एव रचितम् = निर्मितम् पीतपटोत्तरीयम् = पीताम्बरोत्तरीयम् यद्वा पीतपटम् उत्तरीयं च यस्य येन वा सः) संहताः = सुसम्बद्धाः बलाकाः = बकपंक्तयः एव गृहीतः = धृतः शङ्खः येन तथोक्तः (विष्णुपक्षे—संहतबलाकावत् गृहीतशंखः = पाञ्चजन्यशङ्खः येन सः), अपरः = अन्यः; केशवः = विष्णुः इव; खम् = आकाशम्; आक्रमितुम् = आक्रान्तं कर्तुं; प्रवृत्तः = उद्युक्तः; मेघः = जलदः; आभाति = शोभते । पुरा हि वामनरूपः केशवः आकाशमपि एकेन पदा आचक्रामेति पुराणप्रसिद्धा कथा ॥

टिप्पणीः—श्लोक के प्रथम चरण में उपमा दूसरे चरण में विद्युत्प्रभा में पीतपटोत्तरीय एवं तीसरे चरण में बलाका में शङ्ख का अभेद रूप से आरोप करने के कारण रूपक तथा मेघ में दूसरे केशव का संशय होने से उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । इस प्रकार इन अलङ्कारों के परस्पर सापेक्ष होने से इस श्लोक में सङ्कर अलङ्कार एवं वसन्ततिलका छन्द है । छन्द के लक्षण के लिये देखिये पीछे श्लोक १ की टिप्पणी ॥२॥

केशवगात्रश्यामः इति—

अन्वयः—केशवगात्रश्यामः, कुटिलबलाकावलीरचितशङ्खः, विद्युद्गुणकौशेयः, मेघः, चक्रधरः, इव, उन्नतः ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—केशवगात्रश्यामः=विष्णु के शरीर के समान साँवला, कुटिलबलाकावलीरचितशङ्खः = बगुलों की टेढ़ी पाँत रूपी शङ्ख को धारण करने वाला, विद्युद्गुणकौशेयः = बिजली रूपी धागों का पीताम्बर पहनने वाला, मेघः = बादल, चक्रधरः इव = विष्णु के समान, उन्नतः = उमड़ रहा है ॥

एता निषिक्तरजतद्रवसंनिकाशा
धारा जवेन पतिता जलदोदरेभ्यः ।
विद्युत्प्रदीपशिखया क्षणदृष्टनष्टा-
श्छिन्ना इवाम्बरपटस्य दशाः पतन्ति ॥ ४ ॥

और भी—

अर्थ—विष्णु के शरीर के समान साँवला, बगुलों की टेढ़ी पाँत रूपी शंख को धारण करने वाला, बिजली रूपी धागे का (बना हुआ) पीताम्बर पहनने वाला यह बादल विष्णु (वामन) के समान उमड़ रहा है ॥ ३ ॥

टीका—केशवस्य = विष्णोः गात्रम् = शरीरम् इव श्यामः = नीलः; कुटिला = वक्रा बलाकावली=बकपंक्तिसमूहः बकपंक्तिः सा एव रचितः=धृतः शङ्खः येन तथोक्तः विद्युदः = तडिदः एव गुणाः = तन्तवः तेषां कौशेयं यस्य सः तथोक्तः अथवा विद्युद्-गुणः = विद्युल्लेखा एव कौशेयं यस्य सः तथोक्तः; मेघः = जलदः; चक्रधरः = विष्णुः इव; उन्नतः = उद्गतः । मेघः सर्वात्मना विष्णुम् अनुकरोतीति भावार्थः ॥३॥

टिप्पणी—यहाँ पर मेघ की चक्रधर के साथ समानता बतलाने से उपमा अलङ्कार है । श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—आर्या । छन्द का लक्षण—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पंचदश साऽर्या ॥३॥

एता इति—

अन्वयः—निषिक्तरजतद्रवसंनिकाशाः, जलदोदरेभ्यः, जवेन, पतिताः, विद्युत्प्रदीपशिखयाक्षणदृष्टनष्टाः, एताः, धाराः, अम्बरपटस्य, छिन्नाः, दशाः, इव, पतन्ति ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—निषिक्तरजतद्रवसंनिकाशाः = छिड़के हुए चाँदी के घोल (द्रव) जैसी, जलदोदरेभ्यः=बादलों के पेट से, जवेन = वेग से, पतिताः = गिरती हुई, विद्युत्प्रदीपशिखया = बिजली रूपी दीपक की लौ के कारण, क्षणदृष्टनष्टाः=क्षणभर के लिए दिखलायी पड़कर अदृश्य हो जाने वाली, एताः = ये, धाराः = धाराएँ, अम्बरपटस्य = आकाशरूपी कपड़े के, छिन्नाः = टूटे हुए, दशाः = छोर (के), इव = समान, पतन्ति = गिर रही हैं ॥

अर्थ—छिड़के हुए चाँदी के रस (द्रव) जैसी, बादलों के पेट से वेग के साथ गिरती हुई बिजली रूपी दीपक की लौ (चमक) के कारण क्षण भर के लिए दिखलायी पड़कर अदृश्य हो जानेवाली, ये जल की धाराएँ आकाशरूपी कपड़े के टूटे हुए छोर (धागा) के समान गिर रही हैं (अर्थात् ये धाराएँ ऐसी मालूम पड़ती हैं मानो आकाश रूपी फटे कपड़े के सूत गिर रहे हों) ॥४॥

संसक्तैरिव चक्रवाकमिथुनैर्हंसैः प्रडीनैरिव
व्याविद्धैरिव मीनचक्रमकरैर्हर्म्यैरिव प्रोच्छ्रितैः ।
तैस्तैराकृतिविस्तरैरनुगतैर्मेघैः समभ्युन्नतैः
पत्रच्छेद्यमिवेह भाति गगनं विश्लेषितैर्वायुना ॥ ५ ॥

टीका—निषिक्ताः=क्षरिताः ये रजतस्य द्रवाः तेषां संनिकाशाः=तुल्याः, रजतद्रववत् धवलाः इति यावत्; जलदोदरेभ्यः=मेघजठरेभ्यः; जवेन=वेगेन; पतिताः=भ्रष्टाः; विद्युदेव=तडिदेव दीपशिखा=प्रदीपार्चिः तया; क्षणं=किञ्चित्कालमित्यर्थः दृष्टः=दर्शनं गताः ततः नष्टाः=अदर्शनं गताः; एताः=अवलोक्यमानाः; धारा=जलधारा; अम्बरमेव=आकाशमेव पटं=वस्त्रं तस्य; दशाः=प्रान्तभागाः; इव पतन्ति=क्षरन्ति इत्यर्थः ॥ ४ ॥

टिप्पणी—निषिक्तम्=छिड़का हुआ, उँड़ेला हुआ, नि+√सिच+क्त ॥

इस श्लोक में रूपक एवं उत्प्रेक्षा अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है। छन्द का लक्षण—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ ४ ॥

संसक्तैरिव इति—

अन्वयः—संसक्तैः, चक्रवाकमिथुनैः, इव; प्रडीनैः, हंसैः, इव; व्याविद्धैः, मीनचक्रमकरैः, इव; प्रोच्छ्रितैः, हर्म्यैः, इव; तैः, तैः, आकृतिविस्तरैः, वायुना, विश्लेषितैः, अनुगतैः, समुन्नतैः, मेघैः; इह, गगनं, पत्रच्छेद्यम्, इव, भाति ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—संसक्तैः=आपस में मिले हुए, चक्रवाकमिथुनैः=चकई-चकवा के जोड़ों से (के), इव=समान; प्रडीनैः=उड़ते हुए, हंसैः=हंसों से (के) इव=समान; व्याविद्धैः=इधर-उधर फेंके गये, मीनचक्रमिथुनैः=मछलियों के झुण्ड तथा मकरों से (के), इव=तुल्य; प्रोच्छ्रितैः=अत्यन्त ऊँचे, हर्म्यैः=महलों से (के) इव=समान तैः तैः=उन-उन, आकृतिविस्तरैः=आकार से फैलने वाले, वायुना=हवा से, विश्लेषितैः=छिन्न-भिन्न, अनुगतैः=एक दूसरे के पीछे चलने वाले, मेघैः=बादलों के द्वारा, इह=यहाँ, गगनम्=आकाश, पत्रच्छेद्यम्=चित्र (की), इव=भाँति, भाति=सुशोभित हो रहा है ॥

अर्थः—आपस में मिले हुए चकई-चकवा (चक्रवाक) के जोड़ों के समान उड़ते हुए हंसों की भाँति, (मथने के समय सागर की लहरियों से इधर-उधर) फेंके हुए मछलियों के झुण्ड तथा मगरों की तरह, ऊँचे-ऊँचे महलों जैसे, भिन्न-भिन्न आकार से फैलने वाले; हवा के झोंको से छिन्न-भिन्न, एक दूसरों के पीछे चलने वाले, उमड़ते हुए बादल के द्वारा यहाँ आकाश चित्र की भाँति सुशोभित हो रहा है ॥५॥

एतत्तद्धृतराष्ट्रवक्त्रसदृशं मेघान्धकारं नभो
हृष्टो गर्जति चातिदर्पितबलो दुर्योधनो वा शिखी ।
अक्षद्यूतजितो युधिष्ठिर इवाध्वानं गतः कोकिलो
हंसाः संप्रति पाण्डवा इव वनादज्ञातचर्यां गताः ॥ ६ ॥

टीका—(क्वचित्) संसक्तैः = संगतैः चक्रवाकमिथुनैः = कोकयुगलैः ('कोकश्चक्रश्चक्रवाको रथाङ्गाह्वयनामकः' इत्यमरः) इव; (क्वचित्) प्रडीनैः = उड्डीनैः हंसैः = मरालैः इव; (क्वचित् व्याविद्धैः = प्रक्षिप्तैः भ्रान्तैः वा; मीनचक्रैः = मत्स्यसमूहैः; मकरैः = हिंस्रैः जलजन्तुविशेषैश्च इव; प्रोच्छ्रितैः = अभ्युन्नतैः; हर्म्यैः = प्रासादैः इव; इत्थं तैः तैः = तादृशैः इत्यर्थः, आकृतिभिः = आकारैः विस्तरैः = विस्तृतैः बहुलैः वा; वायुना = पवनेन पवनवेगेनेतिभावः; विश्लेषितैः = भेदं प्रापितैः इतस्ततः चालितैः वा; अनुगतैः = युक्तैः, समभ्युन्नतैः = अत्युन्नतैः; मेघैः = जलदैः, इह = अस्मिन् स्थाने, गगनम् = नभः; पत्रच्छेद्यं = चित्रम् इव; भाति = राजते । नभः चित्रमिव शोभते इति भावः ॥ ५ ॥

टिप्पणी—प्रडीनैः = हर दिशा में उड़ने वाले, प्र + √डी + क्त ॥ इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं शार्दूलविक्रीडित छन्द है । छन्द का लक्षण—

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ५ ॥

एतदिति—

अन्वयः—मेघान्धकारम्, एतत्, नभः, तद्धृतराष्ट्रवक्त्रसदृशं (वर्तते); अतिदर्पितबलः, शिखी, दुर्योधनः वा, हृष्टः, (सन्), गर्जति; कोकिलः, अक्षद्यूतजितः, युधिष्ठिरः, इव, अध्वानं, गतः, सम्प्रति, हंसाः पाण्डवा, इव, वनात्, अज्ञातचर्यां, गताः ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—मेघान्धकारम् = बादलों के कारण अँधेरा, एतत् = यह, नभः = आकाश, तद्धृतराष्ट्रवक्त्रसदृशं = उस धृतराष्ट्र के मुख के समान, (वर्तते = है); अतिदर्पितबलः = घमण्ड को सूचित कर रहा है रूप जिसका ऐसा (दुर्योधन के पक्ष में अत्यन्त अभिमानी सेना वाला) शिखी = मोर, दुर्योधनः = दुर्योधन की, इव = तरह, हृष्टः = प्रसन्न (सन् = होता हुआ), गर्जति = गरज रहा है । कोकिलः = कोयल, अक्षद्यूतजितः = पाँसे के द्वारा जुए में हारे हुए, युधिष्ठिरः इव = युधिष्ठिर के समान, अध्वानं = मौन को (युधिष्ठिर के पक्ष में = वन मार्ग को) प्राप्त हो गई है । सम्प्रति = इस समय, हंसाः = हंस, पाण्डवाः = पाण्डवों (की), इव = भाँति, वनात् = वन (हंस के पक्ष में वनवास) से अज्ञातचर्याम् = अज्ञातवास को, गताः = चले गये ॥

(विचिन्त्य) चिरं खलु कालो मैत्रेयस्य वसन्तसेनायाः सकाशं गतस्य । नाद्याप्यागच्छति ।

(आगे के इस श्लोक में दुर्योधन के राज्य तथा वर्षाकाल की अवस्था का एक साथ ही वर्णन किया गया है)—

अर्थ—बादलों के कारण अँधेरा यह आकाश उस (प्रसिद्ध) धृतराष्ट्र (दुर्योधन के पिता) के मुख के समान है (धृतराष्ट्र का मुँह भी आँखों के न होने से अन्धकार पूर्ण था और आकाश की भी सूर्य-चन्द्रमा रूपी दोनों आँखे बादलों में नष्ट हो गयी हैं) । अत्यन्त अभिमानी सेना है जिसकी ऐसे प्रसन्न दुर्योधन की भाँति घमण्ड को सूचित कर रहा है रूप जिसका ऐसा मोर प्रसन्न होकर गरज रहा है । कोयल पाँसे के द्वारा जुए में हारे हुए युधिष्ठिर के समान मौन (युधिष्ठिर के पक्ष में—'अध्वान' के माने वन-मार्ग) को प्राप्त हो गयी है । इस समय हंस पाण्डवों के समान वन (हंसों के पक्ष में जल और पाण्डवों के पक्ष में—वनवास) से अज्ञातवास (अर्थात् मानसरोवर) को चले गये हैं ॥ ६ ॥

टीका—मेघैः = जलदैः अन्धकारः = ध्वान्तं यत्र तत्; एतत् = परिदृश्यमानम्;—नभः = गगनम्, तस्य = प्रसिद्धस्य धृतराष्ट्रस्य = दुर्योधनपितुः वक्त्रसदृशम् = मुखतुल्यम्; वर्तते यति शेषः । धृतराष्ट्रमुखं नेत्रशून्यम् अतः अन्धकारपूर्णमासीत् । गगनमपि चन्द्र-सूर्यादर्शनात् तमसाच्छन्नमस्तीति भावः । अतिदर्पितम्ः = अतिगर्वप्रकाशकं बलं = रूपं ('बलं गन्धरूपे' इति मेदिन) यस्य सः, अथवा अतिदर्पितं बलं = शक्तिः यस्य सः, मेघालोके शिखिनः प्रशसन्नाः बलशालिनश्च भवन्ति, अति दर्पितम् = अत्यन्तगर्व-समन्वितं बलं = सैन्यं यस्य असौ, दुर्योधनः वा = इव, (वास्यात् विकल्पोपमयो रेवार्थेऽपि' इति विश्वः) हृष्टः=प्रसन्नः सन्; गर्जति = मुहुः मुहुः शब्दं करोति । कोकिलः=पिकः; अक्षद्यूते = पाशक्रीडायां जितः=पराजितः युधिष्ठिरः = पाण्डवाग्रजः इव, अध्वानं = मौनं (युधिष्ठिरपक्षे—अध्वानं = वनपन्थानम्), गतः = प्राप्तः । सम्प्रति = अधुना, हंसाः = मरालाः, पाण्डवाः = पाण्डुपुत्राः इव; वनात् = जलात्, (पाण्डवपक्षे—वनवासात्) अज्ञातचर्याम् = अज्ञातवासम्, गताः = प्राप्ताः । वर्षाकाले हंसाः मानसरोवरं गच्छन्ति इति प्रसिद्धिः ॥ ६ ॥

टिप्पणी—अध्वानम् = नञ् + √ध्वन् + घञ् + विभक्तिः ॥ यहाँ पर हंस आदि की पाण्डव आदि के साथ समानता बतलाने के कारण उपमा अलङ्कार है । श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित । छन्द के लक्षण के लिये देखिये पीछे के श्लोक की टिप्पणी ॥६॥

(प्रविश्य)

विदूषकः—अहो गणिआए लोभो अदक्खिणदा अ, जदो ण कधा वि किदा अण्णा। अणेकहा सिणेहाणुसारं भणिअ किं पि, एवमेअ गहिदा रअणावली। एत्तिआए ऋद्धीए ण तए अहं भणिदो–'अज्जमित्तेअ! वीसमीअदु। मल्लकेण पाणीअं पि पिबिअ गच्छीअदु' ति। ता मा दाव दासीए धीआए गणिआए मुहं पि पेक्खिस्सं। (सनिर्वेदम्) सुट्ठु खु वुच्चदि—'अकंदसमुत्थिदा पउमिणी, अवंचओ वाणिओ, अचोरो सुवण्णआरो, अकलहो गामसमागमो, अलुद्धा गणिआ त्ति दुक्करं एदे संभावीअंति'। ता पिअवअस्सं गदुअ इमादो गणिआपसंगादो णिवत्तावेमि। (परिक्रम्य, दृष्ट्वा) कधं पिअवअस्सो रुक्खवाडिआए उपविट्टो चिट्ठदि? ता जाव उवसप्पामि। (उपसृत्य) सोत्थि भवदे। वड्ढदु भवं। [अहो गणिकाया लोभोऽदक्षिणता च। यतो न कथापि कृताऽन्या। अनेकधा स्नेहानुसारं भणित्वा किमपि, एवमेव गृहीता रत्नावली। एतावत्या ऋद्धया न तयाहं भणितः–'आर्यमैत्रेय! विश्रम्यताम्, मल्लकेन पानीयमपि पीत्वा गम्यताम्' इति। तन्मा तावद्दास्याःपुत्र्या गणिकाया मुखमपि द्रक्ष्यामि। सुष्ठु खलूच्यते 'अकन्दसमुत्थिता पद्मिनी, अवञ्चको वणिक्, अचौरः सुवर्णकारः, अकलहो ग्रामसमागमः, अलुब्धा गणिकेति दुष्करमेते संभाव्यन्ते। तत्प्रियवयस्यं गत्वास्माद्गणिकाप्रसंगान्निवर्तयामि। कथं प्रियवयस्यो वृक्षवाटिकायामुपविष्टस्तिष्ठति?। तद्यावदुपसर्पामि। स्वस्ति भवते। वर्धतां भवान्।]

चारुदत्तः—(विलोक्य) अये, सुहृन्मे मैत्रेयः प्राप्तः। वयस्य! स्वागतम्, आस्यताम्।

विदूषकः—उवविट्टो म्हि। [उपविष्टोऽस्मि।]

चारुदत्तः—वयस्य! कथय तत्कार्यम्।

विदूषकः—तं खु कज्जं विणट्टं। [तत्खलु कार्यं विनष्टम्।]

चारुदत्तः—किं तया न गृहीता रत्नावली?।

विदूषकः—कुदो अम्हाणं एत्तिअं भाअधेअं?। णवणलिणकोमलं अंजलिं मत्थए कदुअ पडिच्छिआ। [कुतोऽस्माकमेतावद्भागधेयम्?। नवनलिनकोमलमञ्जलिं मस्तके कृत्वा प्रतीष्टा।]

शब्दार्थः—अदक्षिणता = अनुदारता। एवमेव = ऐसे ही। ऋद्धया = धन से। मल्लकेन = एक तरह के वर्तन से, पुरवा से। अकन्दसमुत्थिता = बिना भिसाड़ (जड़) के उगी हुई, पद्मिनी = कमल की लता। अवञ्चकः = न ठगने वाला। अकलहः = बिना झगड़ा वाला, ग्रामसमागमः = ग्राम-सम्मेलन। भागधेयं = भाग्य। प्रतीष्टा = ले ली॥

चारुदत्तः—तत्किं ब्रवीषि विनष्टमिति ? ।

विदूषकः—भो ! कधं ण विणट्ठं ? जं अभुत्तपीदस्स चोरेहिं अवहिदस्स अप्पमुल्लस्य सुवण्णभंडअस्स कारणादो चतुस्समुद्दसारभूदा रअणमाला हारिदा ।

(प्रवेश करके)

अर्थ—विदूषकः—अहो ! वेश्या वसन्तसेना की लालच और अनुदारता (तो देखो) । क्योंकि (जेवर लेने के सिवाय उसने) दूसरी कोई बात तक न की । प्रेम-भरी बहुत सी इधर-उधर जी बातें करके ऐसे ही रत्नावली ले ली । इतना धन रहने पर भी उसने मुझसे कहा तक नहीं कि—'आर्य मैत्रेय ! आराम कीजिए । मल्लक (एक प्रकार का वर्तन) से पानी तो पीकर जाइये ।' तो दासी की लड़की इस वेश्या (वसन्तसेना) का मुँह भी कभी नहीं देखूँगा । (खेद के साथ) ठीक ही कहा जाता है—'विना भिसाड़ (जड़) के उगी हुई कमल-लता, न ठगने वाला वनियाँ, न चुराने वाला सुनार, बिना झगड़ा वाला ग्राम—सम्मेलन, लोभ न करने वाली वेश्या, इनकी उम्मीद करना मुश्किल है (अर्थात् इनका मिलना मुश्किल है) । तो चलकर प्रिय मित्र (चारुदत्त) को वेश्या के इस साथ से अलग करता हूँ । (घूमकर और देखकर) क्या प्रिय मित्र बगीचे में बैठे हुए हैं ? तो उनके पास चलता हूँ । (पास जाकर) आपका भला हो । आप बढ़ें ।

चारुदत्त—(देखकर) अरे ! मेरे मित्र मैत्रेय आ गये । मित्र ! (आपका) स्वागत है । बैठिये ।

विदूषक—वैठ गया हूँ ।

चारुदत्त—मित्र ! उस काम को वतलाओ (जिसके लिये तुम गये थे) ।

विदूषक—वह काम तो बिगड़ गया ।

चारुदत्त—क्या उसने रत्नावली नहीं ली ?

विदूषक—हम लोगों का इतना भाग्य कहाँ ? नये कमल के समान कोमल अंजलि मस्तक पर करके (उसने रत्नावली) ले ली ।

चारुदत्त—तब क्यों कहते हैं—कि विगड़ गया ।

टीका—अदक्षिणता = अनुदारता । एवमेव = एकवारम् अपि अस्वीकारं न कृत्वा इत्यर्थः । ऋद्ध्या = सम्पत्त्या । मल्लकेन = पात्रविशेषेण । न कन्दात् = मूलात् समुत्थिता = निर्गता मूलं विना उत्पन्ना इत्यर्थः, पद्मिनी = कमलिनी । अवञ्चकः = अप्रतारकः । अकलहः = कलहरहितः निर्विवादः इति यावत् । ग्रामसमागमः = ग्रामीणसम्मेलनम् इत्यर्थः । भागधेयं = भाग्यम् । प्रतीष्टा = गृहीता ॥

[भोः ! कथं न विनष्टम् ? यदभुक्तपीतस्य चौरैरपहृतस्याल्पमूल्यस्य सुवर्णभाण्डस्य कारणाच्चतुःसमुद्रसारभूता रत्नमाला हारिता ।]

चारुदत्तः—वयस्य ! मा मैवम्;

यं समालम्ब्य विश्वासं न्यासोऽस्मासु तया कृतः।
तस्यैतन्महतो मूल्यं प्रत्ययस्यैव दीयते ॥ ७ ॥

अर्थः—विदूषक—अजी । क्यों नहीं बिगड़ गया ? जो न खाये-पीये गये, चोरों द्वारा चुराये गये, कम कीमत वाले सोने के कारण चारों समुद्रों की साररूप रत्नावली खो दिया।

यं समालम्ब्य इति—

अन्वयः—तया, यं, विश्वासं, समालम्ब्य, अस्मासु, न्यासः, कृतः, तस्य, महतः, प्रत्ययस्य, एव, एतत्, मूल्यं, प्रदीयते ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—तया = उस वसन्तसेना के द्वारा, यं = जिस, विश्वासं = विश्वासको, समालम्ब्य = पकड़कर, अस्मासु = हमलोगों मे, अर्थात् हमलोगों के पास, न्यासः = धरोहर, कृतः = की गयी, रक्खी गयी, तस्य = उस, महतः = बहुत बड़े, प्रत्ययस्य = विश्वास की, एव = ही, एतत् = यह, मूल्यं = कीमत, प्रदीयते = दी जा रही है, चुकायी जा रही है ।

अर्थः—चारुदत्त—मित्र ! ऐसी बात मत कहो ।

उसने जिस विश्वास के भरोसे हमारे पास धरोहर रक्खी, उस बहुत बड़े विश्वास की ही यह कीमत चुकायी जा रही है ॥७॥

टीका—तया = वेश्यया वसन्तसेनया इत्यर्थः; यं विश्वासं = प्रत्ययम्; समालम्ब्य = आश्रित्य; अस्मासु = मादृशधनरहितेषु सुदृढप्रीतिहीनेषु वा इति भावः; न्यासः = निक्षेपः; कृतः = विहितः; तस्य = पूर्वकृतस्य; महतः = विशालस्य, अगाधस्य इत्यर्थः; प्रत्ययस्य = विश्वासस्य; एव एतत् = रत्नावलीस्वरूपम्; मूल्यं = निष्क्रयः; प्रदीयते = समर्प्यते । अमूल्यस्य विश्वासस्य एतत् मूल्यं दीयते, न तु सुवर्णभाण्डस्य इत्यर्थः ॥ ७ ॥

टिप्पणी—मूल्यम्-मूलेन आनाम्यं मूल्यम्, मूल+यत् ॥ इस श्लोक में अति—शयोक्ति अलङ्कार एवं अनुष्टुप् छन्द है, छन्द का लक्षण—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥ ७ ॥

विदूषकः—भो वअस्स ! एदं पि मे दुदिअं संदावकारणं जं सहीअणदिण्णसण्णाए पडंतोवारिदं मुहं कदुअ अहं उवहसिदो। ता अहं बम्हणो भविअ दाणिं भवंतं सीसेण पडिअ विण्णवेमि—'णिवत्तीअदु अप्पा इमादो बहुपच्चवाआदो गणिआपसंगादो'। गणिआ णाम पादुअंतरप्पविट्टा विअ लेठ्ठुआ दुक्खेण उण णिराकरीअदि। अवि अ, भो वअस्स ! गणिआ हत्थी काअत्थओ भिक्खु चाटो रासहो अ जहिं एदे णिवसंति तहिं दुट्टा वि ण जाअंति। [भो वयस्य ! एतदपि मे द्वितीयं संतापकारणं यत्सखीजन-दत्तसंज्ञया पटान्तापवारितं मुखं कृत्वाऽहमुपहसितः। तदहं ब्राह्मणो भूत्वेदानीं भवन्तं शीर्षेण पतित्वा विज्ञापयामि—'निवर्त्यतामात्मास्माद्बहुप्रत्यवायाद्गणिकाप्रसंगात्'। गणिका नाम पादुकान्तरप्रविष्टेव लेष्टुका दुःखेन पुनर्निराक्रियते। अपि च, भो वयस्य ! गणिका, हस्ती, कायस्थो भिक्षुः, चाटो राजभश्च यत्रैते निवसन्ति तत्र दुष्टा अपि न जायन्ते।]

चारुदत्तः—वयस्य ! अलमिदानीं सर्वं परिवादमुक्त्वा। अवस्थयैवास्मि निवारितः। पश्य;

शब्दार्थः—सन्तापकारणं=सन्तापका कारण, दुःख का कारण। सखीजनदत्तसंज्ञया =सखी लोगों को इशारा करने वाली (वसन्तसेना के द्वारा), पटान्तापवारितम् = आँचल से ढका हुआ। बहुप्रत्यवायाद्गणिकाप्रसङ्गात् = बहुत सी कठिनाइयों से भरे हुए वेश्या के सङ्ग से। लेष्टुका = कङ्कड़ी, चाटः = धूर्त्त, रासभः = गधा। परिवादम् = निन्दा को। अवस्थया = हालत के द्वारा॥

अर्थः-**विदूषक**—हे मित्र ! मेरे सन्ताप का दूसरा कारण यह भी है कि अपनी सखियों को इशारा करके, आँचल से मुंह ढककर उसने (वसन्तसेना ने) मेरी हँसी की। तो मैं ब्राह्मण होकर (भी आप के पैरों पर) शिर रखकर विनती करता हूँ....'आप अपने को बहुत सी कठिनाइयों से भरे हुए, वेश्या के इस संग से हटा लें।" वेश्या तो जूते के भीतर घुसी हुई कङ्कड़ी के समान बाद में दुःख से निकाली जाती है।

और भी, हे मित्र !

वेश्या, हाथी, कायस्थ, भिखारी, धूर्त, गधा, जहाँ ये सब निवास करते हैं वहाँ पर दुष्ट भी नहीं रहते हैं (सज्जनों का तो कहना ही क्या ?)।

चारुदत्त—मित्र ! इस समय इस सब निन्दा को कहना व्यर्थ है। (मैं तो अपनी) हालत के द्वारा ही (वेश्या के संग से) रोक दिया गया हूँ। देखो---

टीका—सन्तापस्य = मानसिकदुःखस्य कारणं = हेतुः। सखीजनाय = वयस्यायै चेट्यै इत्यर्थः दत्ता = कृता संज्ञा = इङ्गितं यया तथोक्तया वसन्तसेनया; पटान्तेन =

वेगं करोति तुरगस्त्वरितं प्रयातुं
प्राणव्ययान्न चरणास्तु तथा वहन्ति।
सर्वत्र यान्ति पुरुषस्य चलाः स्वभावाः
खिन्नास्ततो हृदयमेव पुनर्विशन्ति॥ ८॥

अञ्चलेन अपवारितम् = आच्छादितं, मुखमित्यस्य विशेषणमेतत्। बहवः = अनेके प्रत्यवायाः = पापानि दोषाः वा यस्मिन् तस्मात् बहुप्रत्यवायात् = बहुदोषपूर्णात्, गणिका-प्रसङ्गात् = वेश्याव्यापारात्। अल्पः लेष्टुः लेष्टुका = लघुकठोरमृत्तिकाखण्डः; चाटः = वञ्चकः; रासभः = गर्दभः। परिवादम् = निन्दाम्। अवस्थया = परिस्थित्या, स्वनिर्धनावस्थया इत्यर्थः॥

वेगं करोति इति—

अन्वयः—तुरगः, त्वरितं, प्रयातुं, वेगं, करोति; तु, प्राणव्ययात्, (तस्य), चरणाः, तथा, न, वहन्ति; (इत्थं), पुरुषस्य, चलाः, स्वभावाः, सर्वत्र, यान्ति (किन्तु), ततः, खिन्नाः, पुनः, हृदयम्, एव, विशन्ति॥ ८॥

शब्दार्थः—तुरगः = घोड़ा, त्वरितं = जल्दी, प्रयातुं = जाने के लिये, वेगं = वेग को, करोति = करता है; तु = किन्तु, प्राणव्ययात् = निर्बलता के कारण (तस्य = उसके), चरणाः = पैर; तथा = उस प्रकार, न वहन्ति = नहीं ढोते हैं, नहीं चलते हैं; (इत्थम् = इसी प्रकार), पुरुषस्य = पुरुष के, चलाः = चंचल, स्वभावाः = स्वभाव, सर्वत्र = चारों ओर, यान्ति = जाते हैं, (किन्तु), ततः = वहाँ से, खिन्नाः = उदास होकर, पुनः = फिर, हृदयमेव = हृदय में ही, विशन्ति = घुस जाते हैं, लौट जाते हैं॥

अर्थः—घोड़ा जल्दी जाने के लिये वेग करता है। किन्तु कमजोरी के कारण (उसके) पैर उस प्रकार (वेग से) नहीं चलते हैं। (इसी प्रकार) पुरुष के चंचल स्वभाव (मनोरथ) चारों ओर जाते हैं, किन्तु (सफलता न मिलने पर) उदास होकर फिर हृदय में ही लौट आते हैं (अर्थात् गरीब की सारी इच्छाएँ धन के बिना उसके मन में ही सड़ जाती हैं। इसी तरह वसन्तसेना को पाने की मेरी भी इच्छा मन में ही रह जा रही है)॥ ८॥

टीका—तुरगः=अश्वः; त्वरितं=सत्वरम्; प्रयातुं = गन्तुम्; वेगं = जवम्; करोति= विदधाति; तु = किन्तु; प्राणव्ययात् = बलक्षयात्, निर्बलतया इत्यर्तः; तस्य चरणाः = पादाः; तथा = तेन प्रकारेण, वेगेन इत्यर्थः; न वहन्ति = न चलन्ति; (इत्थम् = अनेनैव प्रकारेण), पुरुषस्य = निर्धनजनस्य इत्यर्थः; चलाः = चपलाः; स्वभावाः =

अपि च, वयस्य !

यस्यार्थास्तस्य सा कान्ता धनहार्यो ह्यसौ जनः ।

(स्वगतम्) न गुणहार्यो ह्यसौ जनः । (प्रकाशम्)

वयमर्थैः परित्यक्ता ननु त्यक्तैव सा मया ॥ ९ ॥

प्रकृतयः; मनोरथाः इत्यर्थः; सर्वत्र = सर्वासु दिक्षु; अर्थात् सर्वविषयेषु; यान्ति = व्रजन्ति; किन्तु ततः = तस्मात् खिन्नाः = दुःखिताः असफलतयेति भावः; पुनः = मुहुः; हृदयमेव = चेतः एव; विशन्ति = विलीयन्ते । धनाभावात् दरिद्राणां मनोरथाः हृदये एव विषीदन्तः नश्यन्ति इति अभिप्रायः ॥७॥

टिप्पणी—त्वरितं--(अव्य०)√त्वर् + क्त + सु ॥

इस श्लोक में दृष्टान्त अलङ्कार एवं वसन्ततिलका छन्द है । छन्द का लक्षण—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥८॥

यस्यार्थाः इति

अन्वयः—यस्य, अर्थाः, (सन्ति), तस्य, सा, कान्ता, (अस्ति), हि, असौ, जनः, धनहार्यः, (अस्ति), वयं, अर्थैः, परित्यक्ताः, (अतः), ननु, सा, मया, त्यक्ता, एव ॥९॥

शब्दार्थः—यस्य = जिसके, अर्थाः = धन, (सन्ति = हैं), तस्य = उसकी; सा = वह, कान्ता = प्रिया, (अस्ति = है), हि = क्योंकि, असौ = यह, जनः = जन, धनहार्यः = धन के द्वारा वश में करने के लायक, (अस्ति = है), वयं = हम लोग, अर्थैः = धन के द्वारा, परित्यक्ताः = छोड़ दिये गये (हैं), (अतः = इसलिये), ननु = अवश्य ही, सा = वह, मया = मेरे द्वारा, त्यक्ता = छोड़ी गयी, एव = ही (है) ॥

अर्थः—और भी मित्र !

जिस आदमी के पास धन है उसी की वह (वसन्तसेना) प्रिया है । क्योंकि यह जन (वेश्या वसन्तसेना) धन के द्वारा ही वश में करने के लायक है (अर्थात् वश में होती है) ।

(अपने आप) नहीं, यह जन (वसन्तसेना) गुणों के द्वारा वश में करने लायक है ।

(स्पष्ट रूप में) धनने हम लोगों को छोड़ दिया है । (इस लिये) मेरे द्वारा तो वह (वसन्तसेना) छोड़ ही दी गयी है ॥ ९ ॥

विदूषकः—(अधोऽवलोक्य, स्वगतम्) जधा एसो उद्धं पेक्खिअ दीहं णिस्ससदि, तधा तक्केमि मए विणिवारिअंतस्य अधिअदरं वड्ढिदा से उक्कंठा। ता सुट्ठु खु एव्वं वुच्चदि—'कामो वामो' त्ति। (प्रकाशम्) भो वअस्स ! भणिदं अ ताए—'भणेहि चारुदत्तं—अज्ज पओसे मए एत्थ आअंतव्वं' त्ति। ता तक्केमि रअणावलीए अपरितुट्ठा अवरं मग्गिदं आअमिस्सदि त्ति। [यथैष ऊर्ध्वं प्रेक्ष्य दीर्घं निःश्वसिति, तथा तर्कयामि मया विनिवार्य्यमाणस्याधिकतरं वृद्धास्योत्कण्ठा। तत्सुष्ठु खल्वेवमुच्यते—'कामो वामः' इति। भो वयस्य ! भणितं च तया—'भण चारुदत्तम्—अद्य प्रदोषे मयात्रागन्तव्यम्' इति। तत्तर्कयामि रत्नावल्या अपरितुष्टाऽपरं याचितुमागमिष्यतीति।

चारुदत्तः—वयस्य ! आगच्छतु, परितुष्टा यास्यति।

टीका—यस्य = जनस्य; अर्थाः = धनानि; सन्तीति शेषः; तस्य = जनस्य, धनवतः इत्यर्थः; सा = वसन्तसेना; कान्ता = प्रिया अस्ति। हि = यतः; असौ जनः = वेश्या वसन्तसेना इत्यर्थः; धनेन = वित्तेन हार्यः = वशीकर्तुं योग्यः अस्ति; वयम् अर्थैः = धनैः; परित्यक्ताः = विरहिताः; अतः ननु = निश्चयमेव; सा = वसन्तसेना; मया = चारुदत्तेन; त्यक्ता = परित्यक्ता एवास्ते धन रहितत्वात् कथं मया सह तस्याः संगमः भवितुम् अर्हतीति भावः ॥९॥

टिप्पणी—चौथे चरण के प्रति तीसरे चरण के हेतु होने के कारण इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—अनुष्टुप्। छन्द का लक्षण—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पंचमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥९॥

शब्दार्थः—विनिवार्यमाणस्य = रोके गये, अस्य = इसकी, उत्कण्ठा = बेचैनी, चिन्तातुरता, वृद्धा = बढ़ी हुई। वामः = उलटा, प्रतिकूल ॥

अर्थः–**विदूषक**–(नीचे की ओर देखकर अपने आप) यह जिस प्रकार ऊपर की ओर देखकर लम्बी आहें भर रहे हैं, इससे मैं अन्दाज करता हूँ कि मेरे द्वारा (वेश्या के संग से) रोके गये इनकी उत्कण्ठा और भी अधिक बढ़ गयी है। तो यह ठीक ही कहा जाता है कि—"काम उलटा होता है (अर्थात् काम मना करने पर बढ़ता ही है)।" (प्रकट रूप में) हे मित्र ! और उसने कहा है कि—"चारुदत्त से कहना—आज सायंकाल (प्रदोप) में मुझे यहाँ (चारुदत्त के घर) आना है।" तो मैं अन्दाज करता हूँ कि रत्नावली से सन्तुष्ट न हुई वह कुछ और माँगने आयेगी।

चारुदत्त—मित्र ! आवे। सन्तुष्ट होकर जायगी।

चेट—(प्रविश्य) अवेध माणहे ।

जधा जधा वश्शदि अब्भखंडे तधा तधा तिम्मदि पुट्ठिचम्मे ।
जधा जधा लग्गदि शीदवादे तधा तधा वेवदि मे हलक्के ॥ १० ॥

(प्रहस्य)

वंशं वाए शत्तच्छिद्दं शुशद्दं वोण वाए शत्ततंतिं णदंतिं ।
गीअं गाए गद्दहश्शाणुलूअं के मे गाणे तुंबुलू णालदे वा ॥ ११ ॥

आणत्तम्हि अज्जआए वशंतशेणाए—'कुंभीलआ ! गच्छ तुमं, मम आगमणं अज्जचारुदत्तश्श णिवेदेहि' त्ति । ता जाव अज्जचारुदत्तश्श गेहं गच्छामि । (परिक्रम्य, प्रविष्टकेन दृष्ट्वा) एशे चालुदत्ते रुक्खवाडिआए चिट्ठदि । एशे वि शे दुट्टवडुके; ता जाव उवशप्पेमि । कधं ढक्किदे दुवाले रुक्खवाडिआए ?। भोदु, एदश्श दुट्टवडुकश्श शण्णं देमि ।

(इति लोष्टगुटिकाः क्षिपति)

[अवेत मानवाः !
यथा यथा वर्षत्यभ्रखण्डं तथा तथा तिम्यति पृष्ठचर्म ।
यथा यथा लगति शीतवातस्तथा तथा वेपते मे हृदयम् ॥

टीका—विनिवार्यमाणस्य=निवारणं क्रियमाणस्य, वर्जितस्य; अस्य = चारुदत्तस्य; उत्कण्ठा = चिन्तातुरता, वसन्तसेनाविषयिणी अभिलाषा इत्यर्थः; वृद्धा = वृद्धिं गता । वामः = प्रतिकूलः; वर्जनात् वृद्धिङ्गतः इति भावः ॥

यथा यथा इति—

अन्वयः—यथा, यथा, अभ्रखण्डं, वर्षति, तथा, तथा, पृष्ठचर्म, तिम्यति, यथा, यथा, शीतवातः, लगति, तथा, तथा, मे हृदयं, वेपते ॥१०॥

शब्दार्थः—यथा=जैसे, यथा = जैसे, अभ्रखण्डं = बादलों का टुकड़ा, वर्षति = बरस रहा है, तथा = वैसे, तथा = वैसे, पृष्टचर्म = पीठ का चमड़ा, तिम्यति = गीला हो रहा है, यथा = जैसे, यथा = जैसे, शीतवातः = ठण्डी हवा, लगति = लग रही है, तथा = वैसे, तथा = वैसे, मे = मेरा, हृदयम् = हृदय, कलेजा, वेपते = काँप रहा है ॥

अर्थः—**चेट**—(प्रवेश करके) मनुष्यों ! समझो (कि)

जैसे जैसे बादलों का टुकड़ा बरस रहा रहा है, वैसे वैसे पीठ का चमड़ा भींग रहा है। जैसे जैसे ठण्डी हवा लग रही है, वैसे वैसे मेरा हृदय काँप रहा है ॥१०॥

वंशं वादयामि सप्तच्छिद्रं सुशब्दं वीणां वादयामि सप्ततन्त्रीं नदन्तीम् ।
गीतं गायामि गर्दभस्यानुरूपं को मे गाने तुम्बुरुर्नारदो वा ॥

टीका—यथा यथा अभ्रखण्डं = जलदशकलम्; वर्षति = जलं मुञ्चति; तथा तथा पृष्ठचर्म = पश्चाद्भागः इत्यर्थः, तिम्यति = आर्द्रीभवति, यथा यथा शीतवातः = शीतल-वायुः, लगति = शरीरस्पर्शं करोति, तथा तथा मे = मम चेटस्य इत्यर्थः, हृदयं = गात्रम्, वेपते = कम्पते ॥१०॥

टिप्पणी—इस श्लोक के छन्द का नाम है—उपेन्द्रवज्रा । लक्षण—

'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ॥१०॥

वंशं वादयामि इति—

अन्वयः—सप्तछिद्रं, सुशब्दं, वंशं, वादयामि; सप्ततन्त्रीं, नदन्तीम्, वीणां, वादयामि, गर्दभस्य, अनुरूपं, गीतं, गायामि, मे, गाने, तुम्बुरुः, वा, नारदः, कः ? ॥११॥

शब्दार्थः—सप्तछिद्रं = सात छेदों वाली, सुशब्दं = सुन्दर शब्द वाली, वंशं = बाँसुरी को, वादयामि = बजाता हूँ । सप्ततन्त्रीं = सात तारों वाली, नदन्तीं = झंकार करती हुई, वीणां = वीणा को, वादयामि = बजाता हूँ । गर्दभस्य = गधा के, अनुरूपं = समान, गीतं = गीत को, गायामि = गाता हूँ, मे = मेरे, गाने = गाने में अर्थात् गाने के समान, तुम्बुरुः = तुम्बुरु नामक गन्धर्व, वा = अथवा, नारदः = नारद मुनि, कः = कौन (हैं) ? ॥

(हँस कर)—

अर्थः—सात छेदों वाली तथा सुन्दर शब्द वाली बाँसुरी बजाता हूं । सात तारों वाली झंकार करती हुई वीणा बजाता हूँ । गधे के समान गाना गाता हूँ । मेरे गाने पर तुम्बुरु (एक गन्धर्व) और नारद कौन हैं ? (अर्थात् मेरे गाने के सामने वे लोग भी कुछ नहीं हैं) ॥११॥

टीका—सप्त छिद्राणि = बिलानि यस्मिन् तम्, सु = शोभनः शब्दः = ध्वनिः यस्य तं, वंशं—वेणुं, वादयामि = ध्वनितं करोमि । सप्ततन्त्र्यः = तन्तवः इत्यर्थः यस्यास्ताम्, नदन्तीम् = शब्दायमानां वीणाञ्च वादयामि । गर्दभस्य = रासभस्य, अनुरूपं = योग्यं, गीतं = गानं, गायामि = करोमि इत्यर्थः । मे = मम, चेटस्य इत्यर्थः, गाने = गीता-राधने, तुम्बुरुः = गानविद्याविशारदः एकः गन्धर्वः, वा = अथवा, नारदः कः ? = कीदृक् गुणयुक्तः ? तुच्छः इत्यर्थः ॥११॥

टिप्पणी—यहाँ पर उपमान तुम्बुरु आदि से उपमेय चेट की श्रेष्ठता बतलाने के

आज्ञप्तोऽस्म्यार्यया वसन्तसेनया—'कुम्भीलक ! गच्छ त्वम् । ममागमनमार्यचारुदत्तस्य निवेदय' इति । तद्यावदार्यचारुदत्तस्य गेहं गच्छामि । एष चारुदत्तो वृक्षवाटिकायां तिष्ठति । एषोऽपि स दुष्टबटुकः, तद्यावदुपसर्पामि । कथमाच्छादितं द्वारं वृक्षवाटिकायाः । भवतु, एतस्य दुष्टबटुकस्य संज्ञां ददामि ।]

विदूषकः—अए, को दाणि एसो पाआरवेट्टिदं विअ कइत्थं मं लोट्टकेहिं ताडेदि ? । [अये ! क इदानीमेष प्राकारवेष्टितमिव कपित्थं मां लोष्टकैस्ताडयति ? ।]

चारुदत्तः—आरामप्रासादवेदिकायां क्रीडद्भिः पारावतैः पातितं भवेत् ।

विदूषकः—दासीए पुत्त दुट्टपारावअ ! चिट्ठ चिट्ठ । जाव एदिणा दंडकट्ठेण सुपक्कं विअ चूअफलं इमादो पासादादो भूमिए पाडइस्सं । [दास्याःपुत्र दुष्टपारावत ! तिष्ठ तिष्ठ यावदेतेन दण्डकाष्ठेन सुपक्वमिव चूतफलमस्मात्प्रासादाद्भूमौ पातयिष्यामि ।] (इति दण्डकाष्ठमुद्यम्य धावति)

के कारण व्यतिरेक अलङ्कार है । श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—उपजाति । छन्द का लक्षण—['स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः । उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ॥] अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—संज्ञां = संकेतको, ददामि = देता हूँ । लोष्टकैः = कंकड़ियों से । आरामप्रासादवेदिकायां = फुलवाड़ी के महल की चौकी पर । पारावतैः = कबूतरों के द्वारा । दयितासहितः = स्त्री के साथ, तपस्वी = बेचारा । लोष्टगुटिकया = मिट्टी के ढेला से । इन्द्रमहकामुकः = इन्द्रोत्सव का इच्छुक कौवा । मुकुलिताः = बौरवाले । रथ्या = गली । परिवर्त्य = उलट कर ॥

अर्थः–आर्या वसन्तसेना ने मुझे आज्ञा दी है–"कुम्भीलक ! जाओ तुम । मेरे आने को आर्य चारुदत्त से नम्रता पूर्वक बतलाओ ।" तो जब तक आर्य चारुदत्त के घर जाता हूँ । (घूमकर, घुमने वाले दरवाजे से देखकर) यह आर्य चारुदत्त फुलवाड़ी में बैठे हैं । यह वह दुष्ट ब्राह्मण भी है । तो जब तक पास चलता हूँ । क्या फुलवाड़ी (वृक्ष-वाटिका) का दरवाजा बन्द है ? अच्छा, इस दुष्ट ब्राह्मण को इशारा करता हूँ । (ऐसा कहकर कङ्कड़ियाँ फेंकता है) ।

विदूषक—अरे ! चहार दीवारी से घिरे हुए कैथ के समान यह कौन मुझे कंकरी से मार रहा है ? ।

चारुदत्त—(हो सकता है) फुलवाड़ी के महल की चौकी पर खेलते हुए कबूतरों ने गिरा दी हो ।

विदूषक–दासी के बच्चे, दुष्ट कबूतर ! ठहर-ठहर जब तक काठ के इस डण्डा से

चारुदत्तः—(यज्ञोपवीतं आकृष्य) वयस्य ! उपविश । किमनेन ?। तिष्ठतु दयितासहितस्तपस्वी पारावतः ।

चेटः—कधं पारावदं पेक्खदि, मं ण पेक्खदि ?। भोदु, अवराए लोट्टगुडिकाए पुणो वि ताडइस्सं । [कथं पारावतं पश्यति, मा न पश्यति ? भवतु, अपरया लोष्टगुटिकया पुनरपि ताडयिष्यामि ।] (तथा करोति)

विदूषकः—(दिशोऽवलोक्य) कधं कुभीलओ ? । ता जाव उवसप्पामि । (उपसृत्य, द्वारमुद्धाट्य) अरे कुभीलअ ! पविश; साअदं दे । [कथं कुम्भीलकः ? तद्यावदुपसर्पामि । अरे कुम्भीलक ! प्रविश; स्वागतं ते ।]

चेटः—(प्रविश्य) अज्ज ! वंदामि । [आर्य ! वन्दे ।]

विदूषकः—अरे, कहिं तुमं ईदिसे दुद्दिणे अंधआरे आअदो ?। [अरे, कुत्र त्वमीदृशे दुर्दिनेऽन्धकार आगतः ? ।]

चेटः—अले, एशा शा । [अरे, एषा सा ।]

विदूषकः—का एसा का ? । [कैषा का ? ।]

चेटः—एशा शा । [एषा सा ।]

विदूषकः—किं दाणिं दासीए पुत्ता ! दुब्भिक्खकाले वुड्ढरंको विअ उद्धकं

तुझे खूब पके हुए आम के फल के समान, इस महल से जमीन पर गिराता हूँ। (ऐसा कहकर लकड़ी का दंडा लेकर दौड़ता है) ।

चारुदत्त—(जनेऊ को खींचकर) मित्र बैठो । इससे क्या बिगड़ गया ? बेचारा कबूतर अपनी स्त्री के साथ बैठे।

चेट—क्या कबूतर को देख रहा है, मुझे नहीं देख रहा है ? अच्छा दूसरी कंकड़ी से फिर मारूँगा। (वैसा ही करता है) ।

विदूषक—(चारों ओर देखकर) क्या कुम्भीलक ! तो जब तक समीप चलता हूँ। (पास में जाकर, दरवाजा खोलकर) अरे कुम्भीलक ! भीतर आओ। तुम्हारा स्वागत है।

चेट—(घुस करके) आर्य ! प्रणाम करता हूँ।

विदूषक—अरे ! ऐसे दुर्दिन अन्धकार में तुम कहाँ आये हो ?

चेट—अरे ! यह वह (है) ।

विदूषक—कौन यह कौन ?

चेटी—यह वह (है) ।

सासाअसि—'एसा सा से' त्ति ? । [किमिदानीं दास्याः-पुत्र ! दुर्भिक्षकाले वृद्धरङ्क इवोर्ध्वकं श्वासायसे 'एषा सा सा' इति ?]

चेटः—अले, तुमं पि दाणि इंदमहकामुको विअ सुट्ठु किं काकाअसि—'का के' त्ति ? । [अरे त्वमपीदानीमिन्द्रमहकामुक इव सुष्ठु किं काकायसे—'का का' इति ? !]

विदूषकः—ता कहेहि । [तत्कथय ।]

चेटः—(स्वगतम्) भोदु एव्वं भणिश्शं । (प्रकाशम्) अले, पण्हं दे दइश्शं । [भवतु, एवं भणिष्यामि । अरे, प्रश्नं ते दास्यामि ।]

विदूषकः—अहं दे मुंडे गोड्डं दइस्सं । [अहं ते मस्तके पादं दास्यामि ।]

चेटः—अले, जाणाहि दाव, तेण हि कश्शि काले चूआ मोलेंति । [अरे, जानीहि तावत्; तेन हि कस्मिन्काले चूता मुकुलिता भवन्ति ।]

विदूषकः—अरे दासीए पुत्ता ! गिम्हे । [अरे दास्याःपुत्र! ग्रीष्मे ।]

चेटः—(सहासम्) अले, णहि णहि । [अरे, नहि नहि ।]

विदूषकः—(स्वगतम्) किं दाणि एत्थ कहिस्सं ? । (विचिन्त्य) भोदु, चारुदत्तं गदुअ पुच्छिस्सं । (प्रकाशम्) अरे, मुहुत्तअं चिट्ठ । (चारुदत्तमुपसृत्य) भो वअस्स ! पुच्छिस्सं दाव, कस्सिं काले चूआ मोलेंति ? । [किमिदानीमत्र कथयिष्यामि ? । भवतु, चारुदत्तं गत्वा प्रक्ष्यामि । अरे, मुहूर्तकं तिष्ठ । भो वयस्य ! प्रक्ष्यामि तावत्, कस्मिन्काले चूता मुकुलिता भवन्ति ? ।]

विदूषक—दासी के बच्चे ! अकाल के समय बूढ़े गरीब के समान, इस समय (तुम) क्यों लम्बी साँस ले रहा है "एषा सा सा" ।

चेट—अरे ! तुम भी तो इस समय इन्द्रोत्सव के इच्छुक कौवे के समान अच्छा का का (कौन कौन) क्यों कर रहे हो ? ।

विदूषक—तो बतलाओ ।

चेट—(अपने आप) अच्छा, इस तरह कहूँगा । (प्रकट रूप में) अरे ! तुम्हें सवाल (प्रश्न) दूँगा (अर्थात् पूछूँगा) ।

विदूषक—मैं तुम्हारे मस्तक पर लात मार दूँगा ।

चेट—अरे ! जानते हो ? किस समय में आम बौराते हैं ?

विदूषक—अरे ! दासी के बच्चे गर्मी में ।

चेट—(हँसकर) अरे, नहीं, नहीं ।

विदूषक—(अपने आप) इस सवाल (प्रश्न) का अब क्या उत्तर दूँ ?

चारुदत्तः—मूर्ख ! वसन्ते ।

विदूषकः—(चेटमुपगम्य) मुक्ख ! वसंते । [मूर्ख ! वसन्ते ।]

चेटः—दुदिअं दे पण्हं दइश्शं । शुशमिद्धाणं गामाणं का लक्खअं कलेदि ? । [द्वितीयं ते प्रश्नं दास्यामि । सुसमृद्धानां ग्रामाणां का रक्षां करोति ? ।]

विदूषकः—अरे, रच्छा । [अरे, रथ्या ।]

चेटः—(सहासम्) अले, णहि णहि । [अरे, नहि नहि ।]

विदूषकः—भोदु, संसए पडिदम्हि । (विचिन्त्य) भोदु, चारुदत्तं पुणो वि पुच्छिस्सं । (पुनर्निवृत्य चारुदत्तं तथैवोदाहरति) [भवतु, संशये पतितोऽस्मि । भवतु, चारुदत्तं पुनरपि प्रक्ष्यामि ।]

चारुदत्तः—वयस्य ! सेना ।

विदूषकः—(चेटमुपगम्य) अरे, दासीए पुत्ता ! सेणा । [अरे दास्याःपुत्र ! सेना ।]

चेटः—अले दुवे वि एक्कश्शि कदुअ शिग्घं भणाहि । [अरे, द्वे अप्येकस्मिन्कृत्वा शीघ्रं भण ।]

विदूषकः—सेणावसंते । [सेनावसन्ते ।]

(विचार कर) अच्छा, चलकर चारुदत्त से पूँछता हूँ । (प्रकट रूप में) अरे ! क्षण भर ठहर । (चारुदत्त के पास जा कर) हे मित्र जरा पूँछता हूँ । किस समय में आम बौराते हैं ?

चारुदत्त—मूढ ! वसन्त में ।

विदूषक—(चेट के पास जा कर) मूढ ! वसन्त में

चेट—दूसरा सवाल (प्रश्न) तुम्हें देता हूँ । धन से भरे-पूरे गाँवों की रखवाली कौन करती है ? ।

विदूषक—अरे गली ।

चेट—(हँसी के साथ) अरे, नहीं, नहीं ।

विदूषक—अच्छा, सन्देह में पड़ गया हूँ । (सोचकर) अच्छा इसबार भी चारुदत्त से पूँछूगा । (फिर लौट कर चारुदत्त से उसी प्रकार कहता है) ।

चारुदत्त—मित्र ! सेना) ।

विदूषक—(चेट के पास जाकर) अरे ! दासी के बच्चे ! सेना ।

चेट—अरे दोनों को एक में मिलाकर जल्द बोलो ।

विदूषक—सेना वसन्त ।

चेटः—णं पलिवत्तिअ भणाहि। [ननु परिवर्त्य भण।]

विदूषकः—(कायेन परिवृत्य) सेणावसंते। [सेनावसन्ते।]

चेटः—अले मुक्ख बडुका! पदाइं पलिवत्तावेहि। [अरे मूर्ख बटुक! पदे परिवर्तय।]

विदूषकः—(पादौ परिवर्त्य) सेणावसंते। [सेनावसन्ते।]

चेटः—अले मुक्ख! अक्खलपदाइं पलिवत्तावेहि। [अरे मूर्ख! अक्षरपदे परिवर्तय।]

विदूषकः—(विचिन्त्य) वसंतसेणा। [वसन्तसेना।]

चेटः—एशा शा आअदा। [एषा सागता।]

विदूषकः—ता जाव चारुदत्तस्स णिवेदेमि। (उपसृत्य) भो चारुदत्त! धणिओ दे आअदो। [तद्यावच्चारुदत्तस्य निवेदयामि। भो चारुदत्त! धनिकस्त आगतः।]

चेट—उरे, उलट कर कहो।

टीका—संज्ञां = सङ्केतम्। लोष्टकैः = स्वल्पमृत्तिकाशकलैः। आरामस्य = उद्यानस्य प्रासादः = भवनं तस्य वेदिकायां = बद्धभूमौ। परावतैः = कपोतैः। दयितया = प्रेमिकया सहितः = संयुक्तः, सभार्यः इत्यर्थः; तपस्वी = वराकः। लोष्टगुटिकया = मृत्तिकायाः लघुखण्डेन। इन्द्रमहस्य = इन्द्रयज्ञस्य, इन्द्रपूजायाः इत्यर्थः, कामुकः = इच्छुकः काकः इत्यर्थः। इन्द्रपूजायां काकेभ्यः बलिः समर्प्यते। अतः काकाः इन्द्रपूजामिच्छन्ति इति भावः। मुकुलिताः = पुष्पिताः। रथ्या = प्रतोली ('रथ्या प्रतोली विशिखा स्यात्' इत्यमरः)। परिवर्त्य = परिवर्तनं विधाय उत्तरपदं पूर्वं निधाय पूर्वपदम् अनन्तरं विधाय इत्यर्थः॥

अर्थः—विदूषक—(शरीर को घुमाकर) सेना वसन्त।

चेट—अरे मूर्ख ब्राह्मण के बच्चे! पदों (शब्दों) को बदलो (अर्थात् बाद वाला पहले और पहला बाद में करके बोलो)।

विदूषक—(पैरों को घुमा कर) सेना वसन्त।

चेट—अरे मूर्ख! अक्षर वाले पद (शब्द) में उलट फेर करो, पैरों में नहीं।

विदूषक—(सोचकर) वसन्त सेना।

चेट—यह वह आ गयी है।

विदूषक—तो जब तक चारुदत्त से निवेदन करता हूँ। (समीप जा कर) हे चारुदत्त! तुम्हारा महाजन (कर्जदेने वाला) आ गया है।

चारुदत्तः—कुतोऽस्मत्कुले धनिकः ?।

विदूषकः—जइ कुले णत्थि, ता दुवारे अत्थि; एसा वसंतसेणा आअदा। [यदि कुले नास्ति, तद्वारेऽस्ति; एषा वसन्तसेनागता।]

चारुदत्तः—वयस्य ! किं मां प्रतारयसि ?।

विदूषकः—जइ मे वअणे ण पत्तिआअसि, ता एदं कुंभीलअं पुच्छ। अरे दासीए पुत्ता कुंभीलअ ! उवसप्प। [यदि मे वचने न प्रत्ययसे, तदिमं कुम्भीलकं पृच्छ। अरे दास्याःपुत्र कुम्भीलक ! उपसर्प।]

चेटः—(उपसृत्य) अज्ज ! वंदामि। [आर्य ! वन्दे।]

चारुदत्तः—भद्र ! स्वागतम्; कथय सत्यं प्राप्ता वसन्तसेना ?।

चेटः—एशा शा आअदा वशंतसेणा। [एषा सागता वसन्तसेना।]

चारुदत्तः—(सहर्षम्) भद्र ! न कदाचित्प्रियवचनं निष्फलीकृतं मया, तद्गृह्यतां पारितोषिकम्। (इत्युत्तरीयं प्रयच्छति)

चेटः—(गृहीत्वा प्रणम्य, सपरितोषम्) जाव अज्जआए णिवेदेमि। [यावदार्याया निवेदयामि।] (इति निष्क्रान्तः)

अर्थः—चारुदत्त—हमारे कुल मे महाजन (धनिक) कहाँ से आया ?।

विदूषक—यदि कुल में नहीं है तो दरवाजे पर है; यह वसन्तसेना आई है।

शब्दार्थः—प्रतारयसि = छल रहे हो ?। अवधारयामि = जानता हूँ। उज्ज्वलाभिसारिकावेशेन = अभिसारिका (काम से पीड़ित होकर प्रेमी के पास जानेवाली स्त्री) के स्वच्छवेश में ॥

अर्थः—चारुदत्त—मित्र ! क्या मुझे छल रहे हो ?

विदूषक—यदि मेरे कहने में विश्वास नहीं कर रहे हो तो इस कुम्भीलक से पूछो। अरे दासी के बच्चे कुम्भीलक ! पास आओ।

चेट—(पास जाकर) आर्य ! प्रणाम कर रहा हूँ।

चारुदत्त—भले मनुष्य ! स्वागत है। बतलाओ क्या सचमुच वसन्तईसेना आई है ?

चेट—यह वसन्तसेना आ गई है।

चारुदत्त—(खुशी के साथ) भले आदमी ! मैंने प्रिय वचन कभी खाली नहीं किया है। तो पुरस्कार ग्रहण करो (ऐसा कह कर दुपट्टा देता है)।

चेट—(लेकर प्रणाम कर के सन्तोष के साथ) जब तक आर्या (वसन्तसेना) से कहता हूँ। (ऐसा कह कर निकल जाता है)।

विदूषकः—भो ! अवि जाणासि, किंणिमित्तं ईदिसे दुद्दिणे आअदे त्ति ? !
[भो ! अपि जानासि, किंनिमित्तमीदृशे दुर्दिन आगतेति ? ।]

चारुदत्तः—वयस्य ! न सम्यगवधारयामि ।

विदूषकः—मए जाणिदं । अप्पमुल्ला रअणावली, बहुमुल्लं सुवण्णभंडअं त्ति ण परितुट्टा अवरं मग्गिदुं आअदा । [मया ज्ञातम् । अल्पमूल्या रत्नावली, बहुमूल्यं सुवर्णभाण्डमिति न परितुष्टाऽपरं याचितुमागता ।]

चारुदत्तः—(स्वगतम्) परितुष्टा यास्यति ।

(ततः प्रविशत्युज्जवलाभिसारिकावेशेन सोत्कण्ठा वसन्तसेना, छत्रधारिणी, विटश्च)

विटः—(वसन्तसेनामुद्दिश्य)

अपद्मा श्रीरेषा प्रहरणमनङ्गस्य ललितं
कुलस्त्रीणां शोको मदनवरवृक्षस्य कुसुमम् ।
सलीलं गच्छन्ती रतिसमयलज्जाप्रणयिनी
रतिक्षेत्रे रङ्गे प्रियपथिकसार्थैरनुगता ॥१२॥

विदूषक—अरे ! क्या जानते हो कि ऐसे दुर्दिन में किसलिए आई है ?

चारुदत्त—मित्र ! भली भाँति नहीं जान पा रहा हूँ ।

विदूषक—मैं जानता हूँ । रत्नावली कम कीमत की है, सोने के जेवरों का डिब्बा अधिक किमत का है; ऐसा सोचकर सन्तुष्ट न हुई वह और कुछ माँगने के लिए आई है ।

चारुदत्त—(अपने आप) सन्तुष्ट हो कर जायगी ।

(इसके बाद अभिसारिका के स्वच्छ वेश में उत्कण्ठित वसन्तसेना, छाता को पकड़ कर चलने वाली स्त्री और विट) प्रविष्ट होते हैं ।

टीका—प्रतारयसि = वञ्चनां करोषि ? अवधारयामि = जानामि, निश्चिनोमि इत्यर्थः । उज्ज्वलः = धवलः, स्वच्छः इत्यर्थः अभिसारिकायाः = अभिसरणोन्मुखायाः वेशः = परिधानं तेन; रन्तु या स्त्री स्वयं प्रियं याति अथवा तं स्वसमीपम् आह्वयति सा अभिसारिका निगद्यते । उक्तञ्च—'अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा । स्वयं वाभिसरत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका ।'

टिप्पणी—अभिसारिका—काम से पीड़ित होकर जो स्त्री स्वयं प्रेमी से मिलने जाती है, अथवा प्रेमीको ही अपने अपने पास बुलाती है, उसे अभिसारिका कहते हैं ॥

अपद्मा इति—

अन्वयः—रतिसमयलज्जाप्रणयिनी, प्रियपथिकसार्थैः, अनुगता, रङ्गे, (इव), रतिक्षेत्रे, सलीलं, गच्छन्ती, एषा, अपद्मा, श्रीः, अनङ्गस्य, ललितं, प्रहरणं, कुलस्त्रीणां, शोकः, मदनवरवृक्षस्य, कुसुमम् (अस्ति) ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—रतिसमयलज्जाप्रणयिनी = सम्भोग के समय लजाने वाली, प्रियपथिकसार्थैः = पथिकों के प्रिय समूहों से, अनुगता = पीछा की गयी, रङ्गे = नाटक घर (की), (इव = भाँति), रतिक्षेत्रे = सम्भोग के स्थान में अर्थात् संकेत के स्थान में, सलीलं = हाव-भाव के साथ, गच्छन्ती = जाती हुई, एषा = यह वसन्तसेना, अपद्मा = विना कमलवाली, श्री : = लक्ष्मी, अनङ्गस्य = कामदेव का, ललितं = सुकुमार, प्रहरणम् = अस्त्र, कुलस्त्रीणां = कुलीन स्त्रीयों का, शोकः = अफसोस, (और) मदनवरवृक्षस्य = कामदेव रूपी सुन्दर वृक्ष का, कुसुमम् = फूल (अस्ति = है) ॥

अर्थः-विट-(वसन्तसेना को उद्देश्य करके) सम्भोग के समय लजानेवाली, पथिकों के प्रिय समूहों से पीछा (अनुगमन) की जाने वाली, नाटकघर की भाँति (आनन्द देनेवाले) सङ्केत-स्थान में हाव-भाव के साथ जाती हुई यह वसन्तसेना विना कमल की लक्ष्मी है, कामदेवका सुकुमार अस्त्र है, कुलीन स्त्रियों का (साक्षात्) शोक है (क्योंकि इसकी सुन्दरता से खिचकर कुलपुत्र वेश्यागामी बन जाते हैं। अतः उनकी स्त्रियाँ शोक करती हैं,) तथा कामरूपी सुन्दर वृक्ष का फूल है ॥ १२ ॥

टीका—रतिसमये = रमणकाले लज्जायां = व्रीडायां प्रणयिनी = प्रीतियुक्ता रमणकाले कुलस्त्रीवत् सलज्जा, न तु गणिका इव निर्लज्जा अतः उद्दामरतिव्यापार इति भावः । लज्जायाम् अप्रणयिनी इति व्याख्या तु न समीचीना; गणिकासु लज्जायाः अभावस्य प्रसिद्धेः प्रशंसाभावस्य असिद्धेश्च । प्रियैः = अभीप्सितैः पथिकसार्थैः = पान्थसमूहैः; अनुगता = अनुसृता; एतेन वसन्तसेनायाः प्रसिद्धिः सूच्यते, रङ्गे = नाट्यशालायाम्, इव, रतिक्षेत्रे = सम्भोगस्थाने, सुरतनिर्दिष्टस्थाने इत्यर्थः; अथवा रङ्गे रतिक्षेत्रे च; सलीलं = सविलासम्; गच्छन्ती = व्रजन्ती; एषा = वसन्तसेना; नास्ति पद्मं = कमलं यस्याः सा अपद्मा = कमलोत्पत्तिरहिता इत्यर्थः; श्रीः = लक्ष्मीः अस्ति । अनङ्गस्य = कामदेवस्य, ललितं = सुकुमारं सुन्दरं वा; प्रहरणम् = आयुधं, कुलस्त्रीणां = कुलवधूनाम्; शोकः = सन्तापः; वसन्तसेना सौन्दर्यातिशयेन कुलपुत्रान् मोहयति; अतः तेषां वध्वः शोकाकुलाः भवन्ति, मदनः = कामः एव वरवृक्षः श्रेष्ठपादपः तस्य, कुसुमं = प्रसूनम् अस्तीति सर्वत्र योज्यम् ॥ १२ ॥

वसन्तसेने ! पश्य पश्य

गर्जन्ति शैलशिखरेषु विलम्बिबिम्बा
मेघा वियुक्तवनिताहृदयानुकाराः ।
येषां रवेण सहसोत्पतितैर्मयूरैः
खं वीज्यते मणिमयैरिव तालवृन्तैः ॥ १३ ॥

टिप्पणी—प्रहरणम् = अस्त्र, शस्त्र; प्र + √हृ + ल्युट् । शोकः = अफसोस, दुःख, वेदना; √शुच् + घञ् ॥

इस श्लोक मे मालारूपक अलङ्कार तथा शिखरिणी छन्द है। छन्द का लक्षण—

रसैः रुद्रैश्छिन्नायमनसभला गः शिखरिणी ॥१२॥

गर्जन्ति इति—

अन्वयः—वियुक्तवनिताहृदयानुकाराः, शैलशिखरेषु, विलम्बिबिम्बाः, मेघाः, गर्जन्ति, येषां, रवेण, सहसा, उत्पतितैः, मयूरैः; मणिमयैः, तालवृन्तैः, खंः वीज्यते, इव ॥१३॥

शब्दार्थः—वियुक्तवनिताहृदयानुकराः = विरहिणी स्त्रियों के हृदय के समान (मलिन), शैलशिखरेषु = पर्वत की चोटियों पर, विलम्बिबिम्बाः = लटकते हुए आकार वाले, मेघाः = बादल, गर्जन्ति = गरज रहे हैं । येषां = जिनके, रवेण = गरज से, सहसा = एकाएक, आचनक, उत्पतितैः = उड़े हुए, मयूरैः = मोरों के द्वारा, मणिमयैः = मणि के बने हुए, तालवृन्तैः = पंखों से, खम् = आकाश, वीज्यते = हवा किया जा रहा है; इव = मानो ॥

अर्थः—वसन्तसेना देखो-देखो—

विरहिणी स्त्रियों के हृदय के समान (मलिन), पर्वत की चोटियों पर लटकते हुए आकार वाले बादल गरज रहे हैं। जिनके गरजने से अचानक उड़े हुए मोरों के द्वारा (अपने पंख रूपी) मणिमय तालवृन्तों (ताड़ के बने पंखों) से मानो आकाश को पंखा झला जा रहा है ॥

टीका—वियुक्ताः = प्रोषितभर्तृकाः विरहिण्यः याः वनिताः = नार्यः तासां हृदयं = चेतः अनुकुर्वन्ति = अनुसरन्ति इति तथाभूताः, मलिनाः इति भावः । शैलानां = पर्वतानां शिखरेषु = शृङ्गेषु, विलम्बि = लम्बमानं बिम्बं = मण्डलं येषां तादृशाः, मेघाः = पयोधराः, गर्जन्ति = नदन्ति । येषां = मेघानां, रवेण = गर्जनेन, सहसा = झटिति, उत्पतितैः = उड्डीनैः, मयूरैः = शिखण्डिभिः, मणिमयैः = नीलरत्नादिनिर्मितैः, तालवृन्तैः = व्यजनैः ('व्यजनं तालवृन्तकम्' इत्यमरः), खम् = आकाशं, वीज्यते इव ॥१२॥

अपि च,—

पङ्कक्लिन्नमुखाः पिबन्ति सलिलं धाराहता दर्दुराः
कण्ठं मुञ्चति बर्हिणः समदनो नीपः प्रदीपायते।
संन्यासः कुलदूषणैरिव जनैर्मेघैर्वृतश्चन्द्रमा
विद्युन्नीचकुलोद्गतेव युवतिर्नैकत्र संतिष्ठते॥ १४॥

टिप्पणी—इस श्लोक में ... वसन्ततिलका छन्द है। छन्द का लक्षण

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः॥१३॥

पङ्कक्लिन्नमुखाः इति—

अन्वयः—धाराहताः, पङ्कक्लिन्नमुखाः, दर्दुराः, सलिलं, पिबन्ति, समदनः, बर्हिणः, कण्ठं, मुञ्चति, नीपः, प्रदीपायते, कुलदूषणैः, जनैः, संन्यासः, इव, मेघैः, चन्द्रमा, वृतः, नीचकुलोद्गता, युवतिः, इव, विद्युत्, एकत्र, न, सन्तिष्ठते॥१४॥

शब्दार्थः—धाराहताः = (पानी की) धारा से ताडित, पङ्कक्लिन्नमुखाः = कीचड़ से लथपथ मुँहवाले, दर्दुराः = मेंढक, सलिलं = पानी को, पिवन्ति = पी रहे हैं। समदनः = कामातुर, बर्हिणः = मोर, कण्ठं = गले की आवाज को, मुञ्चति = छोड़ रहा है। नीपः = कदम्ब, प्रदीपायते = दोपक सा मालूम पड़ रहा है। कुलदूषणैः = कुल को दूषित करने वाले, जनैः = लोगों के द्वारा, संन्यासः इव = संन्यास की भाँति, मेघैः = वादलों के द्वारा, चन्द्रमा = चन्द्र, वृतः = ढँका है, नीचकुलोद्गता = नीच कुल में पैदा हुई, युवतिः = जवान स्त्री, इव = जैसी, विद्युत् = बिजली, एकत्र = एक स्थान पर; न = नहीं, सन्तिष्ठते = ठहर रही है॥

और भी

अर्थः—

(पानी की) धारा से ताडित एवं कीचड़ से लथ-पथ मुंहवाले मेंढक पानी पी रहे हैं। कमातुर मोर मीठी आवाज में बोल रहा है। कदम्ब का पेड़ (सफेद फूलों के कारण) दीपक सा मालूम पड़ रहा है। बादलों के द्वारा चन्द्रमा उसी प्रकार ढँक लिया गया है जिस प्रकार कुल को दूषित करने वाले लोगों के द्वारा संन्यास (कलङ्कित कर दिया जाता है), नीच कुल में पैदा हुई युवती के समान विजली एक स्थान पर नहीं ठहर रही है॥१४॥

टीका—धाराभिः = जलधाराभिः, हताः = ताडिताः, पङ्केन=कर्दमेन क्लिन्नानि= लिप्तानि मुखानि आननानि येषां ते; दर्दुराः = मण्डूकाः; सलिलं = जलं; पिवन्ति =

वसन्तसेना—भाव ! सुट्ठु दे भणिदं। [भाव ! सुष्ठु ते भणितम् ।] एषा हि,—

मूढे ! निरन्तरपयोधरया मयैव
कान्तः सहाभिरमते यदि किं तवात्र ? ।
मां गर्जितैरपि मुहुर्विनिवारयन्ती
मार्गं रुणद्धि कुपितेव निशा सपत्नी ॥ १५ ॥

आचामन्ति; मदनेन = कामेन सहितः समदनः = कामातुरः, बर्हिणः = मयूरः (मयूरो बर्हिणो बर्ही नीलकण्ठो भुजङ्गभुक् । शिखवलः शिखी केकी मेघानुलस्यपि' इत्यमरः); कण्ठं = कण्ठशब्दं ('कण्ठो गले गलध्वाने' इतिकोशः—पृथ्वीधरः); मुञ्चति = त्यजति करोति इत्यर्थः । नीपः = कदम्बः; प्रदीपायते = पुष्पैः प्रदीपवत् आचरति; कुलं = वंशं दूषयन्ति इति कुलदूषणाः = कुलकलङ्ककराः तैः; जनैः = लोकैः; संन्यासः = यतिधर्मः इव; मेघैः = जलधरैः; चन्द्रमा = चन्द्रः; वृतः = आच्छादितः भवति; नीचकुले = पतितवंशे उद्गता = उत्पन्ना; युवतिः = तरुणिः इव; विद्युत् = चपला; एकत्र = एकस्मिन् स्थले; न सन्तिष्ठते = न स्थिरतां गच्छति ॥ १४ ॥

टिप्पणी:-सन्तिष्ठते=ठहरती है, सम् + √स्था + लट् प्र० एक० ('समवप्रविभ्यः स्थः, १।३।२२ पा०, इत्यात्मनेपदम्) । यहाँ पर मेघों की लोगों के साथ तथा चन्द्रमा की संन्यास के साथ समानता बतलाने के कारण उपमा अलङ्कार है । श्लोकमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित । छन्द का लक्षण—सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ १४ ॥

मूढे ! इति—

अन्वयः—कुपिता, सपत्नी, इव, निशा, हे मूढे ! निरन्तरपयोधरया, मया, एव, सह, कान्तः, यदि, अभिरमते, (तदा); अत्र, तव, किम् ?; (ईदृशैः) गर्जितैः अपि, मुहुः, विनिवारयन्ती, (मम), मार्गं, रुणद्धि ॥

शब्दार्थः—कुपिता = कुपित हुई, सपत्नी = सौत, इव = जैसी, निशा = रात; "हे मूढे ! = हे मूर्ख !, निरन्तरपयोधरया = घने पयोधर (रात के पक्ष में—बादल, सौत के पक्ष में—स्तन) वाली, मया = मेरे, एव=ही, सह = साथ, कान्तः = प्रियतम (रात के पक्ष मे चन्द्रमा; सौत के पक्ष में चारुदत्त), यदि = यदि, अभिरमते = रमण करता है, (तदा = तो, तव), अत्र = इसमें, तव=तुम्हारा, किम् ?=क्या ? (ईदृशैः = इस प्रकार वाले), गर्जितैः = बार-बार गरजने से, अपि = भी,

विटः—भवतु एवं तावत्; उपालभ्यतां तावदियम् ।

वसन्तसेना—भाव ! किमनया स्त्रीस्वभावदुर्विदग्धयोपालब्धया ? पश्यतु भावः

मुहुः = वारम्बार, विनिवारयन्ती = मना करती हुई (मम = मेरे), मार्गं = रास्ताको, रुणद्धि = रोक रही है ।

अर्थः-वसन्तसेना-श्रीमान् जी ! आप का कहना ठीक है । यह कुपित हुई **सौत** के समान रात—मूर्ख ! यदि घने पयोधर (रातके पक्ष में-बादल, सौत के पक्ष में—स्तन) वाली मेरे ही साथ प्रियतम (रात के पक्ष में—चन्द्रमा, सौत के पक्ष में—चारुदत्त) रमण करता है तो इस में तुम्हारा क्या ? (इस प्रकार के) बार-बार गरजने से भी वारम्बार मुझे मना करती हुई रास्ता रोक रही है ॥१५॥

टीका—कुपिता = क्रुद्धा; समानः = एकः पतिः = भर्ता यस्याः सा सपत्नी = एकपतिका स्त्री इव; निशा=रात्रिः; हे मूढे ! =हे मूर्खे ! मया सह रमणरतमपि कान्तं यासि अतस्त्वं मूर्खा असि इति भावः; वसन्तसेने ! इति शेषः; निरन्तराः = निविडाः पयोधराः जलदाः यस्यां सा तादृशया मया = निशया (सपत्नीपक्षे-**निरन्तरौ**= स्थूलत्वात् निविडौ पयोधरौ स्तनौ यस्याः तया) एव सह = साकम्; कान्तः = **प्रियः**, यदि = चेत्; अभिरमते = क्रीडति; तदा अत्र = अस्मिन् विषये; तव = वसन्तसेनायाः किम् ? = का हानिः? एतादृशैः गर्जितैः = गर्जनैः; अपि मुहुः = बारम्बारम्; विनिवारयन्ती = निषेधयन्ती; मम मार्गं = पन्थानम्; रुणद्धि = आवृणोति ॥ १५ ॥

टिप्पणी—गर्जितम् = बादलों की गरज या गड़गड़ाहट; √गर्ज + क्त ॥

'यहाँ निरन्तरपयोधरया' का दो अर्थ होने के कारण श्लेष एवं निशा की सपत्नी के साथ समानता बतलाने के कारण उपमा अलङ्कार है । श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है— वसन्ततिलका । छन्द का लक्षण—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—उपालभ्यताम् = उलाहना दी जाय । स्त्रीस्वभावदुर्विदग्धया = **स्त्री** स्वभाव के कारण मूर्ख, अथवा हठी, अनया = इससे, उपालब्धया = उलाहना दी गयी होने से, किम् = क्या ? ॥

अर्थः—विट—अच्छा तो ऐसा हो । इसे उलाहना दिया जाय ।

वसन्तसेना—श्रीमान् जी ! स्त्री स्वभाव के कारण हठी इस को उलाहना देने से क्या (लाभ) ? । आप देखें—

टीका—उपालभ्यताम् = निन्द्यताम् । स्त्रीस्वभावेन = स्त्रीप्रकृत्या दुर्विदग्धा = मूर्खा दुराग्रहयुक्ता वा तया; उपालब्धया = कृतोपलम्भनया, अनादृतया इत्यर्थः;

मेघा वर्षन्तु गर्जन्तु मुञ्चन्त्वशनिमेव वा ।
गणयन्ति न शीतोष्णं रमणाभिमुखाः स्त्रियः ।। १६ ।।

विटः—वसन्तसेने ! पश्य पश्य, अयमपरः

पवनचपलवेगः स्थूलधाराशरौघः
स्तनितपटहनादः स्पष्टविद्युत्पताकः ।
हरति करसमूहं खे शशाङ्कस्य मेघो
नृप इव पुरमध्ये मन्दवीर्यस्य शत्रोः ।। १७ ।।

अनया = निशया; किम् ? किं प्रयोजनम् ? अर्थात् न किमपि प्रयोजनम् । अनया न किमपि कर्तुं शक्यते इति भावः ।।

मेघा वर्षन्तु इति—

अन्वयः—मेघाः, वर्षन्तु, गर्जन्तु, वा, अशनिम्, एव, मुञ्चन्तु; (परन्तु), रमणाभिमुखाः, स्त्रियः, शीतोष्णं, न, गणयन्ति ।। १६ ।।

शब्दार्थः—मेघाः = बादल, वर्षन्तु = बरसें, गर्जन्तु = गरजें, वा = अथवा, अशनिम् = वज्रको, एव = ही, मुञ्चन्तु = छोड़ें, (परन्तु = किन्तु), रमणाभिमुखाः=, रमण करने के लिये जाती हुई, स्त्रियः = स्त्रियाँ, शीतोष्णं=ठण्डक-गर्मीको, न = नहीं गणयन्ति = गिनती हैं ।।

अर्थः—

(चाहे) बादल बरसें, गरजें अथवा वज्र ही गिरा दें। (परन्तु) प्रेमी के साथ रमण करने के लिये जाती हुई स्त्रियाँ ठण्डक-गर्मी की परवाह नहीं करती हैं ।।१६।।

टीका—मेघाः = जलदाः; वर्षन्तु = सलिलं क्षरन्तु; गर्जन्तु = नदन्तु; वा=अथवा; अशनिं = वज्रम् एव; मुञ्चन्तु = पातयन्तु । किन्तु रमणाय = रत्यर्थम् अभिमुखाः = गन्तुं तत्पराः; स्त्रियः = कामिन्यः; शीतोष्णं = शीतम् आतपंच ('शीतोष्णम्' उपलक्षणमेतत्, तेन वर्षणादिकं सर्वं ज्ञेयम्); न गणयन्ति = न किंचित्करं मन्यन्ते इत्यर्थः ।। १६ ।।

टिप्पणी—इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार एवं अनुष्टुप् छन्द है । छन्द का लक्षण—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पंचमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ।। १६ ।।

पवनचपलवेगः इति—

अन्वयः—पवनचपलवेगः, स्थूलधाराशरौघः, स्तनितपटहनादः, स्पष्टविद्युत्पताकः,

मेघः, मन्दवीर्यस्य, शत्रोः, पुरमध्ये, नृपः, इव; खे, शशाङ्कस्य, करसमूहं, हरति ॥१७॥

शब्दार्थः—पवनचपलवेगः = हवा के द्वारा चञ्चल वेग वाला (नृप के पक्ष में हवा की भाँति चञ्चल गति वाला), स्थूलधाराशरौघः = मोटी धारायें ही जिसके वाण के समूह हैं, (नृप के पक्ष में मोटी धाराओं जैसा वाण-समूह वाला), स्तनित-पटहनादः = जिसका गरजना ही नगाड़े की आवाज है। (नृपके पक्ष में—बादलों की गड़गड़ाहट के तुल्य लड़ाई के नगाड़े की आवाज वाला), स्पष्टविद्युत्पताकः = स्पष्ट विजली ही जिसकी पताका है, (नृप के पक्ष में चमकती हुई विजली की भाँति पताका वाला); मेघः = बादल; मन्दवीर्यस्य = मन्दपराक्रम वाले, शत्रोः = शत्रु के, पुरमध्ये = नगर के बीच में, नृपः इव = राजा की भाँति; खे = आकाश में, शशाङ्कस्य = चन्द्रमा के, करसमूहं = किरणों के समूह को, हरति = छीन ले रहा है ॥१७॥

अर्थः—विट—वसन्तसेना ! देखो, देखो। यह दूसरा—

(बादल और विजयी राजा का एक साथ वर्णन)

(पानी की) मोटी धाराएँ ही जिसके वाण के समूह हैं, जिसका गरजना ही नगाड़े की आवाज है, स्पष्ट विजली जिसकी पताका है, ऐसा मेघ आकाश में चन्द्रमा की किरणों को उसी प्रकार से छीन ले रहा है (अर्थात् छिपा दे रहा है) जैसे हवा की भाँति चंचल गति (से बढ़ने) वाला, मोटी मोटी धाराओं जैसा वाण-समूह वाला, बादलों की गड़गड़ाहट के तुल्य लड़ाई के नगाड़े की आवाज वाला, चमकती हुई विजली की भाँति पताका वाला विजयी राजा मन्द पराक्रम वाले शत्रु (राजा) के कर (टैक्स) को छीन लेता है। (हरण कर लेता है) ॥ १७ ॥

टीका—पवनेन = वायुना चपलः = चंचलः वेगः = गतिप्रवाहः यस्य सः; अन्यत्र-पवनः इव चपलः = अप्रतिहततीव्रः वेगः यस्य तादृशः; स्थूलाः = पुष्टाः धाराः = जल-धाराः एव शरौघः = वाणसमूहः यस्य सः; अन्यत्र स्थूलाः धाराः इव शरौघः यस्य तादृशः; स्तनितं = गर्जितम् एव पटहस्य = ढक्कायाः नादः = ध्वनिः यस्य सः; अन्यत्र-स्तनितमिव पटहस्य नादः यस्य तादृशः; स्पष्टा = सुव्यक्ता विद्युत् = चपला एव पताका = ध्वजः यस्य सः; अन्यत्र स्पष्टा विद्युत् इव पताका यस्य तादृशः; मेघः = जलदः; मन्दं = क्षीणं वीर्यं = पराक्रमः यस्य तस्य, क्षीणशक्तेः इत्यर्थः; शत्रोः = रिपोः; पुरमध्ये = राजधानीमध्ये; नृपः = विजयी राजा इव; खे = आकाशे; शशाङ्कस्य = चन्द्रस्य; करसमूहं = किरणजालम्, अन्यत्र—राजग्राह्यं धनम्; हरति = अपहरति,

वसन्तसेना—एव्वं ण्णेदं । ता कधं एसो अवरो ? । [एवं न्विदम् । तत्कथमेपोऽपरः ?]

एतैरेव यदा गजेन्द्रमलिनैराध्मातलम्बोदरै-
गर्जद्भिः सतडिद्बलाकशबलैर्मेघैः सशल्यं मनः ।
तत्किं प्रोषितभर्तृवध्यपटहो हा हा हताशो बकः
प्रावृट् प्रावृडिति ब्रवीति शठधीः क्षारं क्षते प्रक्षिपन् ॥ १८ ॥

आच्छादयति इत्यर्थः; अन्यत्र—बलाद् गृह्णाति । यथा विजेता राजा शत्रोः राजधानीमध्ये राजदेयं धनं हरति; तथैव प्रबलः मेघः अपि आकाशे चन्द्रस्य किरणसमुदायं हरति, आच्छादयति इति भावः ॥ १७ ॥

टिप्पणी—स्थूलधारा आदि में शर आदि का आरोप करने से श्लोक के पूर्वार्द्ध में रूपक अलङ्कार, 'करसमूहम्' में श्लेष एवं मेघ तथा नृप की समानता बतलाने के कारण उपमा अलङ्कार है । इस प्रकार इस श्लोक में श्लेष एवं रूपक से पुष्ट होकर उपमा अलङ्कार तथा मालिनी छन्द है । छन्द का लक्षण—

'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ॥ १७ ॥

एतैरेव इति—

अन्वयः—यदा, गजेन्द्रमलिनैः, आध्मातलम्बोदरैः, सतडिद्बलाकशबलैः, गर्जद्भिः, एतैः, मेघैः, एव, मनः, सशल्यं; भवति, हा, हा, तत्, प्रोषितभर्तृवध्यपटहः, हताशः, शठधीः, बकः, क्षते, क्षारं, प्रक्षिपन्, इव, किं, प्रावृट्, प्रावृट्,इति, ब्रवीति ॥ १९ ॥

शब्दार्थः—यदा=जबकि, गजेन्द्रमलिनैः = गजराजों के समान मलिन, आध्मातलम्बोदरैः = फूले हुए तथा लटकते हुए पेट वाले, सतडिद्बलाकशबलैः = बिजली एवं बगुलों की पाँत से चितकबरे, गर्जद्भिः = गरजते हुए, एतैः = इन्हीं, मेघैः = बादलों के कारण, एव = ही, मनः = मन, सशल्यं = काँटे से युक्त, (भवति = हो रहा है), हा हा = हाय हाय ! तत् = तब, प्रोषितभर्तृवध्यपटहः = परदेश गये हैं पति जिनके ऐसी विरहिनियों के लिए वध के समय बजने वाला नगाड़ा रूप, हताशः = अभागा, शठधीः = धूर्त बुद्धि वाला, बकः = बगुला, क्षते = घाव पर, क्षारं = नमक को, प्रक्षिपन् = छिड़कता हुआ, इव = सा, किं = क्यों, प्रावृट् = वर्षा, प्रावृट्=वर्षा, इति = ऐसा, ब्रवीति = बोल रहा है ॥

अर्थः—वसन्तसेना—ऐसा ही है । तो क्यों यह दूसरा—

जब कि गजराजों के समान मलिन (साँवले), फूले हुए तथा लटकते हुए पेट

विटः—वसन्तसेने ! एवमेतत् । इदमपरं पश्य

बलाकापाण्डुरोष्णीषं विद्युदुत्क्षिप्तचामरम् ।
मत्तवारणसारूप्यं कर्तुकाममिवाम्बरम् ॥ १९ ॥

(बीच का हिस्सा) वाले, बिजली एवं बगुलों की पाँत से चितकबरे, गरजते हुए इन्हीं बादलों के ही कारण (विरहिनियों का) मन काँटे से चुभ रहा है। हाय हाय ! तब, परदेश गये हैं पति जिनके ऐसी विरहिनियों के लिए वध के समय बजने वाले नगाड़े की भाँति अभागा धूर्त बुद्धिवाला बगुला घाव पर नमक छिड़कता हुआ सा क्यों वर्षा, वर्षा—इस प्रकार चिल्ला रहा है । ॥१८॥

टीका—यदा = यस्मिन् काले; गजेन्द्रमलिनैः—गजेन्द्रवत् = गजराजवत् मलिनैः = श्यामवर्णैः; आध्मातानि = उच्छूनानि, जलभरितानि इत्यर्थः, अत एव लम्बानि = अधो लम्बमानानि उदराणि = जठराणि येषां तैः; तडिद्भिः = विद्युद्भिः बलाकाभिः = बकपङ्क्तिभिः ('बलाकाबकपंक्तिः स्यात्' इति कोशः = पृथ्वीधरः) सहिता सतडिद्बलाकाः अतएव शबलाः = विचित्राः तैः, गर्जद्भिः = ध्वनद्भिः; एतैः = आकाशे वर्तमानैः, मेघैः = जलदैः; एव मनः = विरहिणीनां चेतः इत्यर्थः; शल्येन = शङ्कुना सहितं सशल्यम् = विरहवेदनारूपशल्येन विद्धम् इत्यर्थः; भवतीति शेषः; हाहेतिखेदबोधकमव्यम्; तत् = तस्मात् कारणात् तदा वा; प्रोषिताः, = विदेशं गताः भर्तारः = पतयः यासां ताः, वियोगिन्यः इत्यर्थः तासां (कृते) वध्यपटहः = वधकाले वाद्यमानः दुन्दुभिः, हता = विनष्टा आशा यस्य सः हताशः=आशाविहीनः भाग्यरहितः इति भावः; शठा = वञ्चनशीला धीः = बुद्धिः यस्य सः, बकः ० क्षते = व्रणे, क्षारं = लवणं, प्रक्षिपन् = योजयन्, इव किं = कस्मात्, प्रावृट् प्रावृट् = वर्षा वर्षा, इति ब्रवीति = उच्चैः वदति ॥ १८ ॥

टिप्पणी—आध्मातानि = फूले हुए, आ + √ध्मा + क्त + प्र० बहु० ॥

"गजेन्द्रमलिनैः" में उपमा, 'वध्यपटहः' में रूपक एवं 'क्षारं क्षते प्रक्षिपन्' में निदर्शना अलङ्कार है। इस प्रकार इस श्लोक में इन सब अलंकारों की संसृष्टि है। प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित । लक्षणः—

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ १८ ॥

बलाकापाण्डुरोष्णीषमिति—

अन्वयः—बलाकापाण्डुरोष्णीषं, विद्युदुत्क्षिप्तचामरम्, अम्बरम्, मत्तवारणसारूप्यं, कर्तुकामम्, इव, (प्रतिभाति) ॥ १९ ॥

वसन्तसेना—भाव ! पेक्ख पेक्ख । [भाव ! पश्य पश्य ।]

एतैरार्द्रतमालपत्रमलिनैरापीतसूर्यं नभो
वल्मीकाः शरताडिता इव गजाः सीदन्ति धाराहताः ।
विद्युत्काञ्चनदीपिकेव रचिता प्रासादसंचारिणी
ज्योत्स्ना दुर्बलभर्तृकेव वनिता प्रोत्सार्य मेघैर्हृता ॥ २० ॥

शब्दार्थः—बलाकापाण्डुरोष्णीषं = बगुलियाँ अथवा बकपंक्तियाँ ही' जिसकी सफेद 'पगड़ी हैं (वारण = हाथी के पक्ष में—बगुलियों के समान जिसकी सफेद पगड़ी है), विद्युदुत्क्षिप्तचामरम् = बिजली ही जिस का डुलाया जाता हुआ चामर हैं ऐसा (वारण के पक्ष में—बिजली के समान चामर जिस पर डुलाया जा रहा है), अम्बरम् = आकाश, मत्तवारणसारूप्यं = मतवाले हाथी की समानता को, कर्तुकामम् = करने की इच्छावाला, इव = सा, (प्रतिभाति = मालूम पड़ता है) ।

अर्थः विट—वसन्तसेना ! यह ऐसा ही है । इस दूसरे (दृश्य) को देखो—

बगुलियाँ ही जिसकी सफेद पगड़ी हैं, बिजली ही जिसका डुलाया जाता हुआ चामर है, ऐसा यह आकाश, बगुलियों के समान जिसकी सफेद पगड़ी है, बिजली के समान चामर जिस पर डुलाया जा रहा हैं, ऐसे मत्त हाथी की मानों समानता करना चाहता हैं ॥१९॥

टीका—बलाका = बकपङ्क्तिः एव पाण्डुरम् = शुभ्रम् उष्णीषम् = शिरोवस्त्रं यस्य तत्; पक्षान्तरे—बलाकावत् पाण्डुरम् उष्णीषं यस्य तथा; विद्युत् = तडित् एव उत्क्षिप्तम् = ऊर्ध्वं चालितं चामरं = प्रकीर्णकं यस्य तथा भूतम् ('चामरं तु प्रकीर्णकम् इत्यमरः) पक्षान्तरे—विद्युत् इव उत्क्षिप्तं चामरं यस्य तथा; अम्बरम् = आकाशं, मत्तवारणस्य = मत्तहस्तिनः सारूप्यं = सादृश्यं; कर्तुकामम् = कर्तुमिच्छुकमिव; प्रतिभा,-तीति शेषः । यथा हस्तिनः शिरसि श्वेतः उष्णीषः निबध्यते तथा चामरञ्च चाल्यते तथैव अम्बरे बलाका विद्युच्च वर्तते ॥१९॥

टिप्पणी—पहले और दूसरे चरण में रूपक, तीसरे चरण में उपमा और चौथे चरण में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है–अनुष्टुप् । लक्षण—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोः ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥ १९ ॥

एतैः इति—

अन्वयः—आर्द्रतमालपत्रमलिनैः, एतैः, (मेघैः), नभः, आपीतसूर्यं, (जातम्);

धाराहताः, वल्मीकाः, शरताडिताः, गजाः, इव, सीदन्ति; विद्युत्, प्रासादसचंरिणी, कांचनदीपिका, इव, रचिता; दुर्बलभर्तृका, वनिता, इव, ज्योत्स्ना, मेघैः, प्रोत्सार्य, हृता ॥ २० ॥

शब्दार्थः—आर्द्रतमालपत्रमलिनैः = गीले तमाल के पत्तों के समान मलिन, एतैः = इन, (मेघैः = मेघों के द्वारा), नभः = आकाश, आपीतसूर्यं = ढक लिया गया है सूर्य जिसमें ऐसा, (जातम् = हो गया है), धाराहताः = धाराओं से आहत, वल्मीकाः = दीमकों के घर; शरताडिताः = वाण से मारे गये, गजाः इव = हाथियों की भाँति, सीदन्ति = नष्टहो रहे हैं; विद्युत् = बिजली, प्रासादसंचारिणी = महलों पर घूमने वाली, कांचनदीपिका = सोने की दिया (दीपक), इव = जैसी, रचिता = बना ली गयी है । दुर्बलभर्तृका = कमजोर पति वाली, वनिता = स्त्री (की), इव = भाँति, ज्योत्स्ना = चाँदनी, मेघैः = बादलों के द्वारा, प्रोत्सार्य = जबरदस्ती छीनकर, हृता = हरली गयी है ॥

अर्थः—श्रीमान् जी ! देखिये, देखिये—

गीले तमाल के पत्तों के समान मलिन (नीले रंग के) इन बादलों के द्वारा आसमान में सूर्य ढक दिया गया है, (पानी की) धाराओं से आहत वल्मीक (दीमकों के घर), वाण से मारे गये हाथियों के समान, नष्ट हो रहे है, विजली महलों पर घूमने वाली सोने की दिया जैसी बना ली गयी है, कमजोर है पति जिसका ऐसी स्त्री के समान चाँदनी का मेघों ने बल पूर्वक हरण कर लिया है ॥ २० ॥

टीका—आर्द्राणि = जलसिक्तानि यानि तमालस्य = तमालवृक्षस्य पत्राणि = पर्णानि तद्वत् मलिनाः = श्यामवर्णाः तैः; एतैः = दृश्यमानैः मेघैः इति शेषः; नभः = आकाशम्; आपीतः = आच्छादितः सूर्यः = दिनकरः यस्मिन् तत् तादृशं; जातमिति शेषः। यद्यपि 'अद्य प्रदोषे मयात्रागन्तव्यम्' इति वसन्तसेनोक्त्या प्रदोषे एव तस्याः अभिसरणं जातम् । अतः तदा सूर्याभावात् मेघैः तस्य अच्छादनकथनमनुचितमेव । अथवा कवीनां निरङ्कुशत्वं विचार्य समाधेयमिति । धाराभिः = जलधाराभिः हताः = ताडिताः; वल्मीकाः = वामलूराः (वामलूरश्च नाकुश्च वल्मीकं पुन्नपुंसकम्' इत्यमरः), शरैः = वाणैः ताडिताः = कृतप्रहाराः; गजाः = हस्तिनः इव; सीदन्ति = विषादं व्रजन्ति, नश्यन्ति इति भावः; विद्युत् = तडित्; प्रासादसंचारिणी = हर्म्यतले विहरणशीला; कांचनदीपिका = स्वर्णनिर्मितप्रदीपिका इव; रचिता = कल्पिता । दुर्बलः = बलहीनः भर्ता = पतिः यस्याः तादृशी; वनिता = स्त्री इव, ज्योत्स्ना = चन्द्रिका, मेघैः = जलदैः, प्रोत्सार्य = हठादुत्थाप्य, हृता = अपहृता । व्यथा निर्वीर्यस्य जनस्य चन्द्रमुखी स्त्रीलम्पटैः बलान्नीयते तथैव चन्द्रिका मेघैः अपहृता भवतीति भावः ॥ २० ॥

विटः—वसन्तसेने ! पश्य पश्य

एते हि विद्युद्गुणबद्धकक्षा गजा इवान्योन्यमभिद्रवन्तः ।
शक्राज्ञया वारिधराः सधारा गां रूप्यरज्ज्वेव समुद्धरन्ति ॥ २१ ॥

टिप्पणी—आपीतः = भली-भाँति पीया हुआ, आ + √पा + क्त । रचिता = बनाई गयी, √रच् + क्त + टाप् । प्रोत्सार्य = बलपूर्वक छीनकर, प्र + उत् + √सृ + ल्यप् ॥

यहाँ पर 'वल्मीक, विद्युत् और ज्योत्स्ना की गज, कांचनदीपिका एवं वनिता आदि के साथ समानता बतलाने के कारण उपमा अलङ्कार है । श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित । छन्द का लक्षण—

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ २० ॥

एते हि इति—

अन्वयः—विद्युद्गुणबद्धकक्षाः, अन्योन्यम्, अभिद्रवन्तः, गजाः, इव, सधाराः, एते, वारिधराः, शक्राज्ञया, गां, रूप्यरज्ज्वा, इव, समुद्धरन्ति, ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—विद्युद्गुणबद्धकक्षाः = बिजली रूपी रस्सी से बँधी हुई कमर वाले (हाथी के पक्ष में—बिजली की भाँति रस्सी से कसी हुई कमर वाले), अन्योन्यम् = एक दूसरे को, अभिद्रवन्तः = धक्का देते हुए, गजाः = हाथियों (के), इव = समान, सधाराः = धाराओं वाले, एते = ये, वारिधराः = बादल, शक्राज्ञया = इन्द्र की आज्ञा से, गां = पृथिवी को, रूप्यरज्ज्वा = चाँदी की रस्सी से, इव = मानो, समुद्धरन्ति = ऊपर उठा रहे हैं ।

अर्थः—**विट**—वसन्तसेना ! देखो, देखो—

बिजली रूपी रस्सी से बँधी हुई कमर वाले, आपस में एक दूसरे को धक्का देते हुए हाथियों के समान, (पानी की) धाराओं वाले ये बादल इन्द्र की आज्ञा से जमीन को मानो (पानी की धार रूपी) चाँदी की रस्सियों के द्वारा ऊपर उठा रहे हैं ॥ २१ ॥

टीका—विद्युत् = तडित् एव गुणः = रज्जुः तेन बद्धा = संयमिता कक्षा = मध्यभागः येषां ते, गजपक्षे—विद्युद् इव गुणः तेन बद्धा = आबद्धा कक्षा = उदरभागः येषां ते; अन्योन्यं = परस्परम्; अभिद्रवन्तः = अभिगच्छन्तः; गजाः = करिणः इव; धाराभिः सहिताः सधाराः = जलधारायुक्ताः; एते = परिदृश्यमानाः; वारिधराः = जलधराः; शक्रस्यः = इन्द्रस्य आज्ञया=आदेशेन, गां=पृथ्वीं, रूप्यरज्ज्वा=रजतनिर्मित—

अपि च, पश्य

> महावाताध्मातैर्महिषकुलनीलैर्जलधरै-
> श्चलैर्विद्युत्पक्षैर्जलधिभिरिवान्तः प्रचलितैः ।
> इयं गन्धोद्दामा नवहरितशष्पाङ्कुरवती
> धरा धारापातैर्मणिमयशरैर्भिद्यत इव ॥ २२ ॥

रज्ज्वा इव, समुद्धरन्ति = ऊर्ध्वं कर्षन्ति । यथा लोकेऽपि कश्चिज्जनः स्वकक्षप्रदेशं वस्त्रान्तरेण बध्वा रज्ज्वादिभिः किमपि भारवद्वस्तु ऊर्ध्वमाकर्षति तथैव मेघाः अपि पृथ्वीं रजतद्रवसन्निकाशाभिः धाराभिः समुद्धरन्ति इवेति भावः ॥२१॥

टिप्पणी—इस श्लोकमें उपमा एवं उत्प्रेक्षा अलङ्कार तथा उपजाति छन्द है। छन्दका लक्षण— (स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः । उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ॥) अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥२१॥

महावाताध्मातैः इति—

अन्वयः—महावाताध्मातैः, महिषकुलनीलैः, विद्युत्पक्षैः, अन्तःप्रचलितैः, जलधिभिः, इव, चलैः, जलधरैः, नवहरितशष्पाङ्कुरवती, गन्धोद्दामा, इयं, धरा, धारापातैः, मणिमयशरैः, भिद्यते, इव ॥२२॥

शब्दार्थः—महावाताध्मातैः = प्रबल हवा से भरे हुए, महिषकुलनीलैः = भैंसों के झुण्ड की भाँति नीले, विद्युत्पक्षैः = विजलीरूपी पंखवाले, अन्तःप्रचलितैः = आकाश में हिलने वाले, जलधिभिः इव = सागरों के समान, चलैः = चञ्चल, जलधरैः = बादलों के द्वारा, नवहरितशष्पाङ्कुरवती = नयी हरी घासों के अङ्कुरवाली, गन्धोद्दामा = तेज मँहकवाली, इयं = यह, धरा = पृथिवी, धारापातैः=धारापात (रूपी), मणिमयशरैः = मणिमय बाणों से, भिद्यते इव = भेदी सी जा रही है ॥

और भी देखो—

अर्थः—प्रबल हवा से भरे हुए, भैंसों के झुण्डकी भाँति नीले, बिजली रूपी पंख वाले, आकाश में हिलने वाले सागरों की भाँति, इधर-उधर दौड़ने वाले, जल से भरे हुए बादलों के द्वारा, नयी हरी घासों के अङ्कुरवाली तथा तेज (भीनी) मँहक वाली यह पृथ्वी (जल) धारापातरूपी मणिमय वाणों से भेदी सी जा रही है ॥२२॥

टीका—महावातेन = प्रबलवायुना आध्मातैः = पूरितैः; महिषानां = कासराणां ('लुलापो महिषो वाहद्विषत्कासरसैरिभाः, इत्यमरः) कुलानि = समूहाः इव नीलाः = श्यामाः तैः; विद्युत् = तडित् एव पक्षाः = पत्राणि येषां तैः अथवा विद्युद् एव पक्षाः तैः (करणभूतैः); अतः अन्तः = अन्तरिक्षे, प्रचलितैः = प्रसरद्भिः; जलधिभिः = सागरैः

वसन्तसेना—भाव ! एसो अवरो ! । [भाव ! एषोऽपरः ।]

एह्येहीति शिखण्डिनां पटुतरं केकाभिराक्रन्दितः
प्रोड्डीयेव बलाकया सरभसं सोत्कण्ठमालिङ्गितः
हंसैरुज्झितपङ्कजैरतितरां सोद्वेगमुद्वीक्षितः
कुर्वन्नञ्जनमेचका इव दिशो मेघः समुत्तिष्ठति ॥ २३ ॥

इव; चलैः = चञ्चलैः; इतस्ततः = धावनपरैः इत्यर्थः, जलधरैः = मेघैः (कर्तृभिः), नवानां = नूतनानाम् अचिरोद्गतानाम् इत्यर्थः हरितानां=पालाशानां ('पालाशो हरितो हरित्' इत्यमरः) शष्पाणां = बालतृणानां (शष्पं बालतृणं घासो यवसं तृणमर्जुनम्'—अमरः) ये अङ्कुराः = अभिनवोद्भिदः ('अङ्कुरोऽभिनवोद्भिदि' इत्यमरः) तद्वती = शष्पप्ररोहशालिनी इत्यर्थः, गन्धेन = प्रथमवृष्टिजनितमृत्तिकागन्धेन उद्दामा = उत्कटा, इयं = दृश्यमाना, धरा = पृथिवी, धारापातैः = जलधारापातैः, एव मणिमयशरैः = रत्ननिर्मितबाणैः, भिद्यते = विध्यते इव ॥ २२ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा, रूपक एवं उत्प्रेक्षा अलङ्कार तथा शिखरिणी छन्द है । छन्द का लक्षण—

रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी ॥ २२ ॥

एह्येहीति—

अन्वयः—शिखण्डिनां, केकाभिः, एहि एहि, इति, पटुतरम्, आक्रन्दितः, बलाकया, सरभसं, प्रोड्डीय, सोत्कण्ठम्, आलिङ्गितः, इव, उज्झितपङ्कजैः, हंसैः, अतितरां, सोद्वेगम्, उद्वीक्षितः, मेघः, दिशः, अञ्जनमेचकाः, कुर्वन्, इव, समुत्तिष्ठति ॥२३॥

शब्दार्थः—शिखण्डिनां = मोरों की, केकाभिः = पिंहक के द्वारा, एहि एहि = आओ–आओ, इति = इस प्रकार, पटुतरम् = भली-भाँति, आक्रन्दितः = बुलाया गया, बलाकया = बगुलों की पाँतों के द्वारा, सरभसं = वेगपूर्वक, प्रोड्डीय = उड़कर, सोत्कण्ठम् = उत्कण्ठा के साथ, आलिङ्गितः = आलिङ्गन किया गया, इव = सा, उज्झितपङ्कजैः = कमलों को छोड़ने वाले, हंसैः = हंसों के द्वारा, अतितरां = अत्यन्त, सोद्वेगम् = घबड़ाहटपूर्वक, उद्वीक्षितः = देखा गया, मेघः = बादल, दिशः = दिशाओं को, अंजनमेचकाः = काजल से काली, कुर्वन् = करता हुआ, इव = सा, समुत्तिष्ठति = उमड़ रहा है ॥

अर्थः—वसन्तसेना—भाव ! यह दूसरा—

मोरों की पिंहक के द्वारा 'आओ, आओ' इस प्रकार भलीभाँति बुलाया गया,

विटः—एवमेतत्; तथा हि पश्य

निष्पन्दीकृतपद्मषण्डनयनं नष्टक्षपावासरं
विद्युद्भिः क्षणनष्टदृष्टतिमिरं प्रच्छादिताशामुखम् ।
निश्चेष्टं स्वपितीव संप्रति पयोधारागृहान्तर्गतं
स्फीताम्भोधरधामनैकजलदच्छत्रापिधानं जगत् ॥ २४ ॥

बगुलों की पाँतों के द्वारा वेग पूर्वक उड़कर उत्कण्ठा के साथ मानो आलिङ्गन किया गया तथा कमलों को छोड़ने वाले हंसों के द्वारा अत्यन्त घबराहट के साथ देखा गया बादल दिशाओं को काजल के समान काली करता हुआ उमड़ रहा है ॥२३॥

टीका—शिखण्डिनां = मयूराणां, केकाभिः = वचनैः ('केका वाणी मयूरस्य' इत्यमरः), एहि एहि = आगच्छ आगच्छ, इति = इत्थम्, पटुतरम् = उच्चैस्तरम्, आक्रन्दितः = आहूतः, आदरेऽत्र वीप्सा । वलाकया = बकपंक्त्या, सरभसं = सवेगं, प्रोड्डीय = उत्पत्य, सोत्कण्ठं = उत्कण्ठापूर्वकम् अथवा साभिलापम्, आलिङ्गितः = कृतालिङ्गनः इव । उज्झितानि = परित्यक्तानि पङ्कजानि = कमलानि यैः तादृशैः, हंसैः = मरालैः, वर्षाकाले हंसाः कमलवनं जलाशयं वा परित्यज्य मानसं सरः गच्छन्ति इति प्रसिद्धिः, अतितराम् = अत्यधिकं; सोद्वेगं=सोत्कण्ठं यथा तथा, उद्वीक्षितः = अवलोकितः, मेघः = जलदः, दिशः = काष्ठाः, अञ्जनेन = कज्जलेन मेचकाः = मलिनाः, कुर्वन् इव समुत्तिष्ठति = समुज्जृम्भते ॥ २३ ॥

टिप्पणी—आक्रन्दितः = बुलाया हुआ, आ + √क्रन्द + क्त । उद्वीक्षितः = देखा गया, उद् + वि + √ईक्ष् क्त ॥

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार एवं शार्दूलविक्रीडित छन्द है । छन्द का लक्षण—
सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ २३ ॥

निष्पन्दीति—

अन्वयः—निष्पन्दीकृतपद्मषण्डनयनं, नष्टक्षपावासरं, विद्युद्भिः, क्षणनष्टदृष्टतिमिरं, प्रच्छादिताशामुखं, स्फीताम्भोधरधामनैकजलदच्छत्रापिधानं, पयोधारागृहान्तर्गतं, जगत्, सम्प्रति, निश्चेष्टं, स्वपिति, इव ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—निष्पन्दीकृतपद्मषण्डनयनं = कमलों के समूह रूपी नेत्रों को बन्द करने वाला, नष्टक्षपावासरं = जिसके रात-दिन खतम हो गये हैं, ऐसा, विद्युद्भिः=बिजलियों

से; क्षणनष्टदृष्टतिमिरं = क्षण भर में खतम हो जाता है और फिर दिखलाई पड़ने लगता है अन्धकार जिसमें ऐसा, प्रच्छादिताशामुखं = ढँका है दिशारूपी मुँह जिसका ऐसा, स्फीताम्भोधरधामनैकजलदच्छत्रापिधानं—बढ़े हुए बादलों के निवासस्थान (आकाश) में बहुत से बादल ही जिसके ढकनेवाले छाता हैं ऐसा, पयोधारागृहान्तर्गतं = जलधारारूपी घर में स्थित, जगत् = संसार, सम्प्रति = इस समय, निश्चेष्टं = निश्चलतापूर्वक, स्वपिति इव = सो सा रहा है ॥

अर्थः—विट—तुम्हारा कहना ठीक हैं। और देखो—

जिसने कमलों के समूह रूपी नेत्रों को बन्द कर लिया है, जिसके रात-दिन खतम हो गये हैं (अर्थात् जिसके रात-दिन का पता नहीं चल रहा है। जिसमें बिजली की चमक) से क्षण में अन्धकार खतम हो जाता है और पुनः निखलाई पड़ने लगता है, जिसका दिशा रूपी मुँह ढक गया है, बढ़े हुए वादलों के निवास स्थान (आकाश) में बहुत से बादल ही जिसके ढँकने वाले छाता हैं, ऐसा संसार इस समय जलधारा रूपी घरके भीतर मानो निश्चल होकर सोरहा है ॥२४॥

टीका—निष्पन्दीकृतानि = निश्चलीकृतानि, मुकुलितानीत्यर्थः पद्मषण्डानि = कमलसमूहाः एव नयनानि = नेत्राणि येन तत्; निमीलितकमलनेत्रमिति भावः; नष्टौ = अदर्शनं गतौ, मेघैरावृतत्वात् परिचेतुमशक्यौ इत्यर्थः; क्षपावासरौ = निशादिवसौ यस्मिन् तत्; विद्युद्भिः = चंचलाभिः; क्षणं = किंचित्कालं नष्टम् = अदर्शनं प्राप्तं पश्चात् दृष्टम् = अवलोकितं तिमिरम् = अन्धकारः यत्र तथाभूतं; प्रच्छादितानि = आच्छादितानि मेघसमूहैः इति शेषः, आशाः = दिशः एव मुखानि यस्य तत्; स्फीतानां = वृद्धिङ्गतानाम्, बहूनामित्यर्थः अम्भोधराणां = जलधराणां धामनि=स्थाने, आकाशे इत्यर्थः, ये नैकजलदाः—भूरिमेघाः एव छत्राणि = आतपत्राणि तैः अपिधानम् आच्छानं यस्य तत्; पयसां = जलानां धाराः = प्रवाहाः एव गृहाणि = भवनानि तेषाम् अन्तर्गतम् = मध्यस्थितं; जगत् = भुवनं; सम्प्रति = अधुना, निश्चेष्टं = निश्चलं, स्वपिति इव = शयनं करोति इवेत्युप्रेक्षा। अस्मिन् दुर्दिने जगदिदं लोकः इव दिशामुखादिकमाच्छाद्य निद्रातीवेति भावः ॥ २४ ॥

टिप्पणी—'पद्मषण्ड' में नेत्रत्व का, जलद में छत्रत्व का आरोप करने से रूपक और 'जगत् स्वपिति इव' मे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित। छन्द का लक्षण पीछे के श्लोक की टिप्पणी में देखिये ॥२४॥

वसन्तसेना—भाव एव्वं ण्णेदं। ता पेक्ख पेक्ख। [भाव ! एवं न्विदम्; तत्पश्य पश्य।]

गता नाशं तारा उपकृतमसाधाविव जने
वियुक्ताः कान्तेन स्त्रिय इव न राजन्ति ककुभः।
प्रकामान्तस्तप्तं त्रिदशपतिशस्त्रस्य शिखिना
द्रवीभूतं मन्ये पतति जलरूपेण गगनम् ॥ २५ ॥

गता नाशमिति—

अन्वयः—असाधौ, जने, उपकृतम्, इव, ताराः, नाशं, गताः; कान्तेन, वियुक्ताः, स्त्रियः, इव, ककुभः, न, राजन्ति; त्रिदशपतिशस्त्रस्य, शिखिना, प्रकामम्, अन्तस्तप्तम्, (अत एव), द्रवीभूतं, गगनं, जलरूपेण, पतति, (इति, अहम्), मन्ये ॥ २५ ॥

शब्दार्थः—असाधौ=दुष्ट, जने=आदमी पर, उपकृतम् = उपकार (की), इव = तरह, ताराः = तारायें, नाशं = नाश को, गताः = प्राप्त हो गयीं, कान्तेन = प्रेमी के द्वारा, वियुक्ताः = वियुक्त, छोड़ी गयी, स्त्रियः = स्त्रियों, इव = जैसी, ककुभः = दिशायें, न=नहीं, राजन्ति=शोभित हो रही हैं। त्रिदशपतिशस्त्रस्य= देवताओं के स्वामी (इन्द्र) के शस्त्र—वज्र की , शिखिना = आग से, प्रकामम्= अत्यन्त, अन्तस्तप्तं=भीतर तपा हुआ, (अत एव=इसी लिये), द्रवीभूतं = पिघला-हुआ, गगनम् = आकाश, जलरूपेण = जल के रूप से, पतति = गिर रहा है, (इति = ऐसा, अहम्=मैं) मन्ये = मानता हूँ ॥

अर्थः—वसन्तसेना—भाव ! ऐसा ही है। देखो—देखो तो—

दुष्ट आदमी पर किये गये उपकार की भाँति सभी ताराएँ नाश को प्राप्त हो गई हैं (अर्थात् ओझल होगई है), प्रेमीके द्वारा वियुक्त स्त्रियोंके समान, दिशाएँ शोभित नहीं हो रही हैं। देवताओं के स्वामी (इन्द्र) के शस्त्र = वज्रकी आगसे भीतर ही अत्यन्त तपाहुआ आकाश मानो पिघलकर जलके रूपमें गिर रहा है ॥२५॥

टीका—असाधौ=दुष्टे; जने = व्यक्तौ, उपकृतं=विहितोपकारः इव; ताराः = नक्षत्राणि, नाशम् = अदर्शनं, गताः=प्राप्ताः। कान्तेन = प्रियेण, वियुक्ताः=वियोगं प्रापिताः, स्त्रियः = वनिताः इव; ककुभः = दिशः (दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः), न राजन्ति = न शोभन्ते। तृतीया = यौवनाख्या दशा येषां ते त्रिदशाः = देवाः तेषां पतिः = राजा इन्द्रः इत्यर्थः तस्य शस्त्रस्य = आयुधस्य, वज्रस्येत्यर्थः, शिखिना = वह्निना, इन्द्रवज्राग्निना इत्यर्थः, अन्तः = अभ्यन्तरे तप्तं =

अपि च, पश्य

उन्नमति नमति वर्षति गर्जति मेघः करोति तिमिरौघम् ।
प्रथमश्रीरिव पुरुषः करोति रूपाण्यनेकानि ॥ २६ ॥

सन्तप्तम् उष्णतां प्राप्तमित्यर्थः, अत एव द्रवीभूतं = द्रवतां प्राप्तं, गगनम् = आकाशम्, जलरूपेण सलिलरूपेण, पतति = स्रवति, इति अहं मन्ये = सम्भावयामीत्यर्थः ॥२५॥

टिप्पणी—उपकृतम् = उपकार, भलाई, उप + √कृ + क्त । नाशम् = ओझलपन को, अदर्शन को √नश् + घञ् ॥ श्लोकके पूर्वार्द्धमें उपमा और उत्तरार्द्धमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । इस श्लोकके छन्द का नाम है—शिखरिणी । छन्दका लक्षण—
रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी ॥२५॥

उन्नमति इति—

अन्वयः—प्रथमश्रीः, पुरुषः, इव, मेघः, अनेकानि, रूपाणि, करोति, (**सः**, कदाचित्) उन्नमति, नमति, वर्षति, गर्जति, तिमिरौघं, करोति ॥२६॥

शब्दार्थः—प्रथमश्रीः = पहले पहल धन पाये हुए, पुरुषः = पुरुष (**के**), **इव** = समान, मेघः = बादल, अनेकानि = बहुतसे, रूपाणि = रुपोंको, करोति = कररहा है । (सः = वह मेघ, कदाचित् = कभी) उन्नमति = उमड़रहा है, नमति = झुकरहा है, वर्षति = बरसरहा है, गर्जति = गरजरहा है, तिमिरौघं = अन्धकार के समूहको, करोति = कररहा है ॥

और भी देखो—

अर्थः—पहले पहल धन पाये हुए पुरुष के समान बादल बहुतसे रूपोंको (धारण) कर रहा है । (कभी तो वह) उमड़रहा है, (कभी) झुक रहा है, (कभी) बरस रहा है, गरज रहा है तथा (कभी) अँधेरा कर रहा है ॥२६॥

टीका—प्रथमा = अचिरागता श्रीः = सम्पत्तिः यस्य तादृशः, पुरुषः = जनः इव, मेघः = पयोदः, अनेकानि = विविधानि, रूपाणि = आकृतीः, करोति = विदधाति । अचिरं प्राप्तधनः यथा विविधानि रूपाणि धारयति, तथैव मेघः अपि बहुविधं रूपं धत्ते इति भावः । सः = मेघः, कदाचित् उन्नमति = उत्तिष्ठति, कदाचित् नमति = अधः आगच्छति, कदाचित् वर्षति = जलं मुञ्चति, कदाचित् गर्जति = गर्जनं करोति, कदाचित् तिमिरौघम् = अन्धकारसमूहं, करोति = विस्तारयतीत्यर्थः । प्रथमप्राप्तधनः अपि कदाचित् उन्नमति = गर्वमावहति, उर्ध्वशिराः सन् गच्छति, नमति = नम्रः भवति, वर्षति, = पर्याप्तधनं ददाति, गर्जति = क्रोधेन उच्चैः वदति, तिमिरौघं = पाप समूहं, करोति ॥२६॥

विटः—एवमेतत्

विद्युद्भिर्ज्वलतीव संविहसतीवोच्चैर्बलाकाशतै-
र्माहेन्द्रेण विवल्गतीव धनुषा धाराशरोद्गारिणा ।
विस्पष्टाशनिनिस्वनेन रसतीवाघूर्णतीवानिलै-
र्नीलैः सान्द्रमिवाहिभिर्जलधरैर्धूपायतीवाम्बरम् ॥ २७ ॥

टिप्पणी—एकही मेघका उमड़ना आदि अनेक क्रियाओंसे सम्बन्ध होनेके कारण श्लोकके पूर्वार्द्धमें दीपक अलङ्कार और उत्तरार्द्धमें उपमा अलङ्कार है। इसप्रकार इस श्लोकमें दीपक एवं उपमाकी संसृष्टि अलङ्कार एवं आर्या छन्द है। छन्दका लक्षण—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥२६॥

विद्यद्भिर्ज्वलतीति—

अन्वयः—अम्बरम्, विद्युद्भिः, ज्वलति, इव; बलाकाशतैः, उच्चैः, संविहसति, इव; धाराशरोद्गारिणा, माहेन्द्रेण, धनुषा, विवल्गति, इव; विस्पष्टाशनिनिस्वनेन, रसति, इव; अनिलैः, आघूर्णति, इव; अहिभिः, इव, नीलैः, जलधरैः, सान्द्रं, धूपायति, इव ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—अम्बरम्=आकाश, विद्युद्भिः=विजलियों से, ज्वलति इव=जल सा रहा है। बलाकाशतैः=बगुलों की सैकड़ो पातों से, उच्चैः=जोर से, संविहसति इव=हँस सा रहा है। धाराशरोद्गारिणा=धारा रूपी बाणों को बरसानेवाले, माहेन्द्रेण=इन्द्र के, धनुषा=धनुष से, विवल्गति इव=पैतरा बदल सा रहा है। विस्पष्टाशनिनिस्वनेन=स्पष्ट, वज्र के घोष=आवाज से, रसति इव=गरज सा रहा है। अनिलैः=हवाओं के द्वारा, आघूर्णति इव=घूम सा रहा है। अहिभिः=साँपों (की) इव=भाँति, नीलैः=नीले, जलधरैः=बादलों से, सान्द्रं=खूबघने रूपमें, धूपायति इव=धूपित सा हो रहा है, धूपसा दिखाया जा रहा है ॥

अर्थः—**विट**—ऐसा ही है—

आकाश विजलियों से मानो जलरहा है, बगुलों की सैकड़ों पाँतोंसे अत्यधिक हँस सा रहा है, धारा रूपी बाणोंको बरसाने वाले इन्द्रधनुष से मानो पैतरा बदल रहा है; बज्रके स्पष्ट घोषसे गर्जनसा कर रहा है, हवाओं के द्वारा घूमसा रहा है और नीले सर्पो की भाँति (काले) बादलों से खूब घने रूप में धूपितसा होरहा है ॥२७॥

वसन्सेना—

जलधर ! निर्लज्जस्त्वं यन्मां दयितस्य वेश्म गच्छन्तीम्।
स्तनितेन भीषयित्वा धाराहस्तैः परामृशसि ॥ २८॥

टीका—अम्बरम्=आकाशम्, विद्युद्भिः=तडिद्भिः, ज्वलति=उद्भासते इव। बलाकाः=बकपंक्तयः तासां शतैः=शतसंख्याकैः समूहैः इत्यर्थः, उच्चैः=तारं यथा तथा, संविहसति=सम्यक् हासं करोति इव, (साहित्ये हासस्य शुक्लत्वात् साम्यम्)। धाराः=जलधाराः एव शराः=वाणाः तान् उद्गिरति=वर्षति इति तेन, माहेन्द्रेण=इन्द्रसम्बन्धिना, अनुषा=कोदण्डेन, विवलगति इव=प्लुतगतिं करोति इव। विस्पष्टः= सुव्यक्तः यः अशनेः = वज्रस्य स्वनः=ध्वनिः ('शब्दे निनादनिनदध्वनिध्वानरवस्वनाः' इत्यमरः) तेन, विद्युन्निर्घोषेणेत्यर्थः, रसति उच्चैः शब्दं करोति इव। अनिलैः=वायुभिः, आघूर्णति=भ्रमति इव, अहिभिः=सर्पैः इव, नीलैः =श्यामैः, जलधरैः=पयोदैः, सान्द्रम्=अत्यर्थं यथा तथा, धूपायति=धूपितं भवति इव ॥ २७ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में मालारूपक अलङ्कार है। 'केवल अहिभिः इव जलधरैः' में उपमा है। इस में प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित। छन्द का लक्षण—

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ २७ ॥

जलधर इति—

अन्वय—हे जलधर ! त्वं, निर्लज्जः, (असि) यत्, दयितस्य, वेश्म, गच्छन्तीं, मां, स्तनितेन, भीषयित्वा, धाराहस्तैः, परामृशसि ॥ २८ ॥

शब्दार्थः—हे जलधर ! =हे जल से भरे-पूरे बादल ! त्वं=तुम, निर्लज्जः= निर्लज्ज, (असि=हो), यत्=जो कि, दयितस्य=प्रेमी के, वेश्म=घर को, गच्छन्तीं =जाती हुई, मां=मुझको, स्तनितेन=गर्जन से, भीषयित्वा=डरा कर, धाराहस्तैः =धारा रूपी हाथों से, परामृशसि=छू रहे हो ॥

अर्थः—वसन्तसेना—हे जलसे भरे-पूरे बादल ! तुम निर्लज्ज हो, जो कि प्रेमी के घर जाती हुई मुझको गर्जन से डराकर (जल) धारा रूपी हाथों से छूरहे हो ॥२८॥

टीका—हे जलधर—हे पयोधर ! त्वं निर्लज्जः=त्रपाविहीनः, लज्जाशून्यः इति यावत् असीति शेषः, यत्=यस्मात्, दयितस्य=प्रियस्य, वेश्म=भवनं, गच्छन्तीं माँ; स्तनितेन=गर्जितेन, भीषयित्वा=त्रासयित्वा, धाराः=जलधाराः एव हस्ताः=कराः तैः, परामृशसि=स्पृशसि। पराङ्गनास्पर्शनं भयं प्रदर्श्य अभिसारिकायाः अभिसरणनिवारणञ्चेत्युभयमपि मर्यादाविरुद्धं निर्लज्जकामुकस्य कार्यमिति भावः ॥ २८ ॥

भोः शक्र !

किं ते ह्यहं पूर्वरतिप्रसक्ता यत्त्वं नदस्यम्बुदसिंहनादैः ? ।
न युक्तमेतत्प्रियकाङ्क्षिताया मार्गं निरोद्धुं मम वर्षपातैः ॥ २९ ॥

टिप्पणी—स्तनितम्=बिजली की कड़कड़ाहट, बादलों की गरज, √स्तन+ कर्तरि क्त॥

इस श्लोक में समासोक्ति अलङ्कार तथा आर्या छन्द है। छन्द के लक्षण के लिये देखिये श्लोक २६ को टिप्पणी ॥ २८ ॥

किं ते ह्यहमिति—

अन्वयः—भो शक्र ! (इति गद्यस्थेन अन्वयः), अहं, किं, ते, पूर्वरतिप्रसक्ता, (आसम्) ? यत्, त्वम्, अम्बुदसिंहनादैः, नदसि; प्रियकांक्षितायाः, मम, मार्गं, वर्षपातैः, निरोद्धुम्, एतत्, न, युक्तम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थः—भो शक्र !=हे इन्द्र ! अहं=मैं, किं=क्या, ते=तुम्हारे, पूर्वरतिप्रसक्ता=पहले प्रेम में आसक्त, (आसम्=थी) ! यत्=जिससे, त्वम्=तुम, अम्बुदसिंहनादैः=बादलों के सिंहनादों से, नदसि=गरज रहो हो ? प्रियकाङ्क्षितायाः=प्रेमी को चाहने वाली, मम=मेरे, मार्गं=रास्ता को, वर्षपातैः=वर्षा करके, निरोद्धम्=रोकना, एतत्=यह, न युक्तम्=ठीक नहीं है ॥

हे इन्द्र !

अर्थः—मैं क्या कभी पहले तुम्हारे प्रेम में आसक्त थी, जो तुम (मुझे अन्य प्रेमीके पास जाती हुई देखकर) बादलों के सिंहनादों से गरज रहे हो ? प्रेमी को चाहने वाली मेरा, वर्षा करके रास्ता रोकना यह ठीक नही है ॥२९॥

टीका—भो शक्र !=हे इन्द्र ! अहं=वसन्तसेना, किं ते=तव; पूर्वं=पुरा, रतौ=प्रेम्णि सम्भोगे वा प्रसक्ता=आसक्ता, आसमिति शेषः। यत्=यस्मात् कारणात्, त्वम् अम्बुदानां=जलदानां=सिंहनादैः सिंहवद्गर्जनैः क्रोधाभिव्यञ्जकैः शब्दैः इति भावः; नदसि=गर्जसि, तथा प्रियः=प्रेमास्पदः चारुदत्तः इत्यर्थः काङ्क्षितः=वाञ्छितः, सम्भोक्तुमिति शेषः, यया यस्याः वा तस्याः, मम=अभिसरणशीलायाः वसन्तसेनायाः; वर्षपातैः=धारासम्पातैः, निरोद्धुम्=अवरोद्धुं निवारयितुमित्यर्थः, एतत् न युक्तम्=न समीचीनम्। यदि कदाचित् पूर्वं तव मम च अनुरागः अभविष्यत् तदा त्वया मम मार्गावरोधःसम्प्रति उचितः स्यात्, नान्यथा। अतः त्वया सहायकेन भाव्यं नावरोधकेनेति भावः ॥ २९ ॥

अपि च,—

यद्वदहल्याहेतोर्मृषा वदसि शक्र ! गौतमोऽस्मीति ।
तद्वन्ममापि दुःखं निरपेक्ष ! निवार्यतां जलदः ॥ ३० ॥

टिप्पणी—प्रसक्त=अत्यन्त आसक्त, प्र+√सज्ज्+क्त ॥ इस श्लोक में पहले आधे वाक्य के अर्थ को वाण के वाक्यार्थ के प्रति हेतु के रूप में उल्लिखित होने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। यहाँ प्रयुक्त छन्द का नाम है—उपजाति। छन्द का लक्षण—अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥ २९ ॥

यद्वदहल्याहेतोः इति—

अन्वयः—हे शक्र ! यद्वत्, अहल्याहेतोः, गौतमः, अस्मि, इति, (त्वम्) मृषा, वदसि, हे निरपेक्ष ! तद्वत्, मम, अपि, दुःखं (जानीहि, अतः), जलदः, निवार्यताम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थः—हे शक्र = हे इन्द्र ! यद्वत्=जिस प्रकार, अहल्याहेतोः=अहल्या के लिये, गौतमः=गौतम (अहल्या के पति का नाम), अस्मि=हूँ, इति=ऐसा, (त्वम्=तुम), मृषा=असत्य, वदसि=कहते हो, (कहे थे), हे निरपेक्ष !=हे पराई पीडा को न जानने वाले ! तद्वत्=उसी प्रकार, मम=मेरे, अपि=भी, दुःखं=दुःख को, (जानीहि=जानो, अतः=इसलिये) जलदः=बादल, निवार्यताम्=रोका जाय ॥

और भी—

अर्थः—हे इन्द्र ! जिसप्रकार अहल्या के लिये 'मैं गौतम हूँ' यह (तुमने) झूठ कहा था। हे पराई पीडा को न जानने वाले (इन्द्र) ! उसी प्रकार मेरा भी दुःख जानो और बादलों को रोक लो ॥३०॥

टीका—हे शक्र=हे इन्द्र ! यद्वत्=यथा, अहल्या=गौतमपत्नी तस्याः हेतोः=कारणात्, तया सह रन्तुमितिभावः, 'गौतमः अस्मि' इति=इत्थं त्वम्, मृषा=असत्यं, वदसि=कथयसि, हे निरपेक्ष = हे परपीडानभिज्ञ ! तद्वत्=तेनैव प्रकारेण, ममापि=कामपीडितायाः मम वसन्तसेनायाः अपीत्यर्थः, दुःखं=पीडां जानीहि, अतः जलदः=मम प्रियभवनं गमने विघ्नकारकः पयोदः, निवार्यताम्=अपसार्यताम्। अहल्यायाः सौन्दर्येण आकृष्टः इन्द्रः उषसि गौतमे स्नातु गते सति तद्रूपं धृत्वा 'अहं गौतमः' इति मिथ्या उक्त्वा कपटेन तामालिलिङ्ग इति पौराणिकी कथा ॥ ३० ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में आर्या छन्द है। छन्द का लक्षण—

अपि च,—

गर्ज वा वर्ष वा शक्र ! मुञ्च वा शतशोऽशनिम् ।
न शक्या हि स्त्रियो रोद्धुं प्रस्थिता दयितं प्रति ॥ ३१ ॥
यदि गर्जति वारिधरो गर्जतु तन्नाम निष्ठुराः पुरुषाः ।
अयि ! विद्युत्प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि ॥ ३२ ॥

यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पंचदश सा ऽऽर्या ॥ ३० ॥

गर्ज वा वर्ष वा इति—

अन्वयः—हे शक्र ! गर्ज, वा, वर्ष, वा, शतशः, अशनिं, मुञ्च, (किन्तु) दयितं, प्रति, प्रस्थिताः, स्त्रियः, रोद्धुं, न, शक्याः, हि ॥ ३१ ॥

शब्दार्थः—हे शक्र !=हे इन्द्र ! गर्ज=गरजो, वा=अथवा, वर्ष=बरसो, वा=अथवा, शतशः=सैकड़ो वार, अशनिं=वज्र को, मुञ्च=छोड़ो, (किन्तु= परन्तु) दयितं प्रति=प्रेमीके पास, प्रस्थिताः=जातीहुई, स्त्रियः=स्त्रियाँ, रोद्धुं= रोकने, के न शक्याः=योग्य नहीं हैं,=अर्थात् नहीं रोकीजा सकतीं ॥

और भी—

अर्थः—हे इन्द्र ! गरजो चाहे बरसो अथवा सैकड़ों बार वज्र छोड़ो । (किन्तु) प्रेमी के पास जाती हुई स्त्रियाँ नहीं रोकी जा सकतीं ॥३१॥

टीका—हे शक्र = हे देवराज ! गर्ज=गर्जनं कुरु, वा=अथवा, वर्ष=जलवर्षणं कुरु, वा=किं वा, शतशः=अनेकशः इत्यर्थः, अशनिं=वज्रं, मुञ्च=पातय, किन्तु दयितं=प्रणयिनं प्रति, प्रस्थिताः=चलिताः, स्त्रियः=कामिन्यः, रोद्धुम्=निवारयितुम्, न शक्या हि=न सम्भावाः हि, त्वया इति शेषः । रन्तुं प्रणयिनं प्रति चलिताः स्त्रियः दुर्निवार्याः भवन्तीति भावः ॥३१॥

टिप्पणी—रोद्धुम्=रोकनेके लिए,√रुध्+तुमुन् ॥ श्लोकके पूर्वार्द्ध में दीपक एवं उत्तरार्द्धमे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है । इसमें प्रयुक्त छन्दका नामहै—
अनुष्टुप् । छन्दका लक्षण—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पंचमम् ।
द्विचतुष्पादयो र्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥३१॥

यदि गर्जतोति—

अन्वयः—यदि, वारिधरः , गर्जति, तद्, गर्जतु, नाम, (यतः), पुरुषाः ,

विटः—भवति ! अलमलमुपालम्भेन । उपकारिणी तवेयम्,—

ऐरावतोरसि चलेव सुवर्णरज्जुः
शैलस्य मूर्ध्नि निहितेव सिता पताका ।
आखण्डलस्य भवनोदरदीपिकेय-
माख्याति ते प्रियतमस्य हि सन्निवेशम् ।। ३३ ।।

निष्ठुराः , (भवन्ति, किन्तु), अयि, विद्युत् ! त्वम्, अपि, च, प्रमदानां, दुःखं, न, जानासि ? ।।३२।।

शब्दार्थः—यदि, वारिधरः = वादल, गर्जति = गरजता है, तत् = तो, गर्जतुनाम = भलेहीं गरजे, (यतः = क्योंकि) पुरुषाः = पुरुष, निष्ठुराः = निर्दय, भवन्ति = होतेहैं, किन्तु), अयि = हे, विद्युत् = विजली, त्वम् = तुम, अपि = भी, प्रमदानाम् = कामिनियोंकी, दुखं = पीडाको, न जानासि = नहीं जानती हो ? ।।

अर्थः—यदि वादल गरजता है तो वह भले ही गरजे, (क्योंकि) पुरुष निर्दय होते हैं । (किन्तु) हे बिजली ! तुय भी क्या कामिनियों की पीडा को नहीं जानती हो ? ।।३२।।

टीका—यदि = चेत्, वारिधरः = जलदः , गर्जति = ध्वनति, तत् = तु, गर्जतु = नदतु, नामेति स्वीकारे, यतः पुरुषाः = पुमांसः, निष्ठुराः = निर्दयाः , भवन्तीति शेषः , किन्तु अयि विद्युत् ! = हे चपले ! त्वमपि च = त्वं स्त्री भूत्वा अपीत्यर्थः, प्रमदानां = । कामपीडितानां स्त्रीणां, दुःखं = पीड़ाम्, न जानासि = न वेत्सि ? । इति मद्दुःखमेतत् विद्युदपि मुहुर्मुहुः स्फुरणेन भीपयति वसन्तसेनामतः उपालभ्यते ।।३२।।

टिप्पणी—इस श्लोक के छन्द का नाम है—आर्या । लक्षण के लिये देखिये श्लोक ३० की टिप्पणी ।। ३२ ।।

ऐरावतोरसीति—

अन्वयः—ऐरावतोरसि, चला, सुवर्णरज्जुः, इव, शैलस्य, मूर्ध्नि, निहिता, सिता, पतका, इव, आखण्डलस्य, भवनोदरदीपिका, इव, ते, प्रियतमस्य, सन्निवेशम्, आख्याति, हि ।। ३३ ।।

शब्दार्थः—ऐरावतोरसि = इन्द्र के हाथी ऐरावत की छाती पर, चला = चंचल, सुवर्णरज्जुः = सोने की रस्सी, इव = जैसी, शैलस्य = पर्वत की, मूर्ध्नि = चोटी पर,

वसन्तसेना—भाव ! एव्वं तं ज्जेव्व एदं गेहं । [भाव ! एवं तदेवैतद्गेहम् ।]

विटः—सकलकलाभिज्ञाया न किंचिदिह तवोपदेष्टव्यमस्ति । तथापि स्नेहः प्रलापयति । अत्र प्रविश्य कोपोऽन्यन्तं न कर्त्तव्यः ।

निहिता=रक्खी गई, सिता=सफेद, पताका=ध्वजा, इव=जैसी, आखण्डलस्य=इन्द्र के, भवनोदरदीपिका=घर की दीया (दीपिका), इव=जैसी, इयं=यह, विजली, ते=तुम्हारे, प्रियतमस्य=प्रेमी के, सन्निवेशम्=घर को, आख्याति=बतला रही है ॥

अर्थः—विट—श्रीमती जी ! उलाहना देना वन्द कीजिए । यह बिजली तुम्हारा उपकार करने वाली है—

इन्द्र के हाथी ऐरावत की छाती पर चञ्चल सोने की रस्सी के समान, पर्वत की चोटी पर रक्खी गई सफेद पताका की भाँति, इन्द्र के घर की दीया (दीपिका) के तुल्य यह (बिजली) तुम्हारे प्रेमी के घर को वतला रही है ॥३३॥

टीका—इराः=उदकानि सन्ति अस्मिन्निति इरावान्=सागरः तस्मिन् इरावति भवः ऐरावतः तस्य ऐरावतस्य=इन्द्रगजस्य उरसि=वक्षसि, स्थापितेति शेषः, चला चंचला, सुवर्णरज्जुः=सुपर्णनिर्मितं दाम इव शैलस्य=पर्वतस्प, मूर्ध्नि=शिखरे, निहिता=स्थापिता, सिता=धवला, पताका=ध्वजः इव, आखण्डयति=विदारयति पर्वतान् इति आखण्डलः तस्य आखण्डलस्य=इन्द्रस्य, भवनोदरस्य=गृहमध्यस्य दीपिका=प्रदीपिका इव, इयं=विद्युत्, ते=तव, वसन्तसेनायाः इत्यर्थः, प्रियतमस्य=प्रेमपात्रस्य, चारुदत्तस्येत्यर्थः, सन्निवेशं=भवनम्, आख्याति=प्रकाशेन दर्शयति हि । अतः तवेयम् उपकारिणी तस्मान्नोपालम्भनीयेति भावः ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—ऐरावतः=इरा=जल इरावान्=सागर, इरावति भवः ऐरावतः, इरावत् + अण् ॥

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार एवं वसन्ततिलका छन्द है । छन्द का उक्षण—

उक्ता वसन्ततिउका तभजा जगौ गः ॥ ३३ ॥

अर्थः—वसन्तसेना—भाव ऐसी हो बात है । यह वही घर है ।

शब्दार्थः—सकलकलाभिज्ञायाः=सभी कलाओं की जानकार, तव=तुम्हारे लिये । प्रलापयति=कहलवा रहा है । अत्र=चारुदत्त के घर में ।

अर्थः—विट—सभी कलाओं की जानकार तुम्हारे लिये यद्यपि कुछ उपदेश नहीं देना है । तो भी स्नेह कुछ कहने के लिये (मुझे) प्रेरित कर रहा है । यहाँ चारुदत्त के घर में घुसकर (तुम्हें) बहुत अधिक कोप नहीं करना चाहिए ।

यदि कुप्यसि नास्ति रतिः, कोपेन विनाऽथवा कुतः कामः ?।
कुप्य च कोपय च त्वं प्रसीद च त्वं प्रसादय च कान्तम् ॥ ३४ ॥

टीका—सकलासु = सम्पूर्णासु कलासु = नृत्यगानादिविद्यासु अभिज्ञा = प्रवीणा तस्याः, तव = वसन्तसेनायाः। प्रलापयति = वक्तुं प्रेरयति मुखरीकरोति। अत्र = चारुदत्तभवने ॥

यदि कुप्यसि इति—

अन्वयः—यदि, कुप्यसि, रतिः, न, अस्ति, अथवा, कोपेन, विना, कामः, कुतः ? (अतः) त्वं, कुप्य, च, कान्तम्, च, कोपय, त्वं, प्रसीद, च, (कान्तम्) च, प्रसादय, ॥ ३४ ॥

शब्दार्थः—यदि, कुप्यसि = कोपकरती हो, रतिः = प्रेम, न = नहीं, अस्ति = है। अथवा कोपेन = कोप के, विना = अभाव में, कामः = सम्भोग का आनन्द, कुतः = कहाँ ? (अतः = इसलिये) त्वं = तुम, कुप्य = कोप करो, च = और, कान्तम् = प्रेमी को, च = भी, कोपय = कुपित करो, त्वं = तुम, प्रसीद = खुश होओ, च = और, (कान्तम् = प्रेमी को), च = भी, प्रसादय = खुश करो ॥

अर्थः—यदि तुम केवल कोप ही करती हो तो (जानो) अनुराग नहीं है। अथवा कोप के बिना सम्भोग का आनन्द कहाँ ! तुम (स्वयं) कोप करो और प्रेमी को भी कोप कराओं एवं तुम खुश होओ और प्रेमी को भी खुश करो ॥३४॥

टीका—यद्वि कुप्यसि = केवलं कोपम् एव करोसि इत्यर्थः, रतिः = अनुरागः सम्भोगक्रिया वा, नास्ति = न जायते। सततं कोपे सम्भोगसुखानुभवः न जायते। अथवा आत्यन्तिकः कोपः अनुरागाभावसूचकः भवति। अतः अतिकोपः त्वया न कर्त्तव्यः इति भावः। अथवा कोपेन = ईषत्प्रणयकोपेन विना, पूर्णतया कोपाभावे इत्यर्थः, कामः = सम्भोगानन्दप्राप्तिः, कुतः ? अतः त्वं कुप्य = प्रणयकोपम् आवह, च = तथा, कान्तं च = प्रणयिनमपि, कोपय = क्रोधं कारय, पुनः त्वं प्रसीद प्रसन्ना भव, च = तथा, कान्तममि प्रसादय = चुम्बनादिभिः प्रसन्नं कुरु। ईषत्प्रणयकोपे वामतया कामः वर्द्धते, अत्यन्तकोपे नश्यतीति। अतः कोपः सर्वथा न त्याज्यः न च सर्वदा कर्त्तव्यः इति भावः ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में आर्या छन्द है। लक्षण के लिपे देखिये श्लोक ३२ की टिप्पणी ॥ ३४ ॥

भवतु एवं तावत् । भो भोः ! निवेद्यतामार्यचारुदत्ताय

एषा फुल्लकदम्बनीपसुरभौ काले घनोद्भासिते
कान्तस्यालयमागता समदना हृष्टा जलार्द्रालका ।
विद्युद्वारिदगर्जितैः सचकिता त्वद्दर्शनाकाङ्क्षिणी
पादौ नूपुरलग्नकर्दमधरौ प्रक्षालयन्ती स्थिता ॥ ३५ ॥

एषा फुल्लकदम्बेत्यादिः—

अन्वयः—फुल्लकदम्बनीपसुरभौ, घनोद्भासिते, काले, समदना, हृष्टा, जलार्द्रालका, विद्युद्वारिदगर्जितैः, सचकिता, त्वद्दर्शनाकाङ्क्षिणी, कान्तस्य, आलयम्, आगता, एषा, नूपुरलग्नकर्दमधरौ, पादौ प्रक्षालयन्ती, स्थिता ॥३५॥

शब्दार्थः—फुल्लकदम्बनीपसुरभौ=फूलेहुए कदम्ब एवं नीपके कारण सुन्दरगन्धवाले, घनोद्भासिते=बादलोंसे सुशोभित, काले=समयमें, समदना=कामसे पीडित, हृष्टा=प्रसन्न, जलार्द्रालका=पानीसे गीले केशोंवाली, विद्युद्वारिदगर्जितैः=बिदली तथा बादलोंके गरजनेसे, सचकिता=भयभीत, त्वद्दर्शनाकाङ्क्षिणी=तुम्हारे दर्शनको चाहनेवाली, कान्तस्य=प्रियके, आलयम्=घरको, आगता=आईहुई, एषा=यह वसन्तसेना, नूपुरलग्नकर्दमधरौ=नूपुरमें लिपटेहुए कीचड़को धारण करनेवाले, पादौ =पैरोंको, प्रक्षालयन्ती = धोती हुई,स्थिता=खड़ी है ॥

अर्थः—अच्छा । ऐसा ही । हे, हे ! आर्य चारुदत्त से नम्रता के साथ कहो—

फूले हुए कदम्ब एवं नीप के कारण सुन्दर गन्ध वाले, बादलों से सुशोभित समय में काम से पीडित, प्रसन्न, पानी से गीले केशों वाली, बिजली तथा बादलों के गरजने से भयभीत. तुम्हारे दर्शन को चाहने वाली; प्रिय (चारुदत्त) के घर आई हुई यह (वसन्तसेना) नूपुर में लिपटे हुए कीचड़ को धारण करने वाले पैरों को धोती हुई (दरवाजे पर) खड़ी है ॥३५॥

टीका—फुल्लैः=विकसितैः कदम्बैः=प्रियकैः नीपैः=धाराकदम्बैश्च सुरभिः =सुगन्धितः तस्मिन् ('नीपप्रियककदम्बास्तु हलिप्रिये, इत्यमरोक्त्या कदम्बनीपयोः समानार्थकत्वेऽपि पुष्पाकृतिभेदात् भेदो बोध्यः) ; घनैः=मेघैः ऊद्भासिते=सुशोभिते; काले=समये; मदनेन=कामेन सहिता=संयुक्ता समदना=कामविह्वला इत्यर्थः ; हृष्टा=प्रसन्ना, प्रियमिलनाशया प्रसन्ना इतिभावः ; जलैः=मेघमुक्तैः सलीलैः आर्द्राः=सिक्ताः अलकाः=केशाः यस्याः सा ; विद्युद्भिः=तडिद्भिः वारिदानां =

चारुदत्तः—(आकर्ण्य) वयस्य ! ज्ञायतां किमेतदिति ।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि । (वसन्तसेनामुपगम्य; सादरम्) सोत्थि भोदीए । [यद्भवानाज्ञापयति । स्वस्ति भवत्यै ।]

वसन्तसेना—अज्ज ! वंदामि । साअदं अज्जस्स । (विटं प्रति) भाव ! एसा छत्तधारिआ भावस्स ज्जेव्व भोदु । [आर्य ! वन्दे । स्वागतमार्यस्य । भाव ! एषा छत्रधारिका भावस्यैव भवतु ।]

विटः—(स्वगतम्) अनेनोपायेन निपुणं प्रेषितोऽस्मि । (प्रकाशम्) एवं भवतु, भवति वसन्तसेने !

साटोपकूटकपटानृतजन्मभूमेः
शाठ्यात्मकस्य रतिकेलिकृतालयस्य ।
वेश्यापणस्य सुरतोत्सवसंग्रहस्य
दाक्षिण्यपण्यसुखनिष्क्रयसिद्धिरस्तु ॥ ३६ ॥

जलदानां गर्जितैश्च=स्तनितैश्च ; सचकिता = भयभीता ; तव=चारुदत्तस्य दर्शनम् =अवलोकनम् आकाङ्क्षति इति त्वर्शनाकाङ्क्षिणी=तव दर्शनाय उत्काण्ठिता इत्यर्थः कान्तस्य = प्रियस्य, तवेत्यर्थः; आलयम्=भवनम्; आगता=प्राप्ता; एषा=वसन्त सेना; नूपुरयोः=मंजीरयोः (' पादाङ्गदं तुलाकोटिर्मञ्जीरो नूपुरः ' इत्यमरः) कर्दमान्=पङ्कान् धरतः इति नूपुरलग्नकर्दमधरौ, पादौ = चरणौ, प्रक्षालयन्ती= धावयन्ती; स्थिता=वर्तमानास्ति ॥३५॥

टिप्पणी—यद्यपि 'कदम्ब' और 'नीप' पर्यायवाची हैं; किन्तु फूल की जाति के भेद से ये दोनों नाम एक ही वृक्ष की दो जातियों के नाम समझने चाहिये । इस श्लोक के छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित छन्द का लक्षण—

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ३५ ॥

अर्थः—चारुदत्त—(सुनकर) मित्र ! मालूम करो । यह क्या है ?

विदूषक—जैसी आप की आज्ञा । (वसन्तसेना के पास जाकर आदर के साथ) आप का भला हो ।

वसन्तसेना—आर्य ! प्रणाम कर रही हूँ । आपका स्वागत है । (विट से) भाव ! छाता लेकर पीछे-पीछे चलने वाली यह स्त्री आपकी (आप के साथ) ही रहे ।

साटोपेति—

अन्वयः—साटोपकूटकपटानृतजन्मभूमेः, शाठ्यात्मकस्य, रतिकेलिकृतालयस्य,

सुरतोत्सवसंग्रहस्य, वेश्यापणस्य, दाक्षिण्यपण्यसुखनिष्क्रयसिद्धिः, अस्तु ॥ ३६ ॥

शब्दार्थः—(आटोपः;=गर्व, कूटं=माया, जालसाजी) साटोपकूटकपटानृतजन्मभूमे =गर्व के सहित माया छल एवं झूठ के जन्म-स्थान, शाठ्यात्मकस्य, = धूर्तता रूप आत्मा वाले, रतिकेलिकृतालयस्य=सम्भोग – क्रीडा के द्वारा अपना घर बनाया गया, सुरतोत्सवसंग्रहस्य=रमण के सुख के संग्रहवाले, वेश्यापणस्य=वेश्या रूपी बाजार की, दाक्षिण्यपण्यसुखनिष्क्रसिद्धिः=उदारता से (दाक्षिण्य से) बिकनेवाली वस्तु (पण्य) की सुख के साथ लेन-देन अथवा कीमत (निष्क्रय) की सिद्धि, अस्तु = होवे ॥

अर्थः—**विट**—(अपने आप) इस उपाय से बड़ी चतुरता के साथ लौटा दिया गया हूँ। (प्रकट रूप में) ऐसा ही हो। सुश्री वसन्तसेने !

गर्व के सहित माया, छल एवं झूठ का जो जन्मस्थान है (अर्थात् जो गर्व आदि को उत्पन्न करता है), धूर्तता ही जिस की आत्मा है, सम्भोग–क्रीडा ने जिसको अपना घर बनाया है (अर्थात् जिसमें रतिक्रीडा की प्रधानता रहती है)। जहाँ रमण के सुख का संग्रह है, ऐसे वेश्या रूपी बाजार की उदारता से (न कि पैसे से) बिकने वाली वस्तु की (तुम्हारी सुन्दर जवानी की) सुख के साथ लेन-देन (निष्क्रय) होवे (अर्थात् विट आशीर्वाद देता है कि तुम दोनों आनन्द करो। तुमको यहाँ लोभ नहीं करना चाहिए) ॥३६॥

टीका—आटोपः=गर्वः तेन सहितं साटोपं=सगर्वं यत् कूटं = माया कपटं = छलम् अनृतम्=असत्यभाषणं (निह्नवप्राकट्यभेदात् कूटकपटयोः भेदः इति पृथ्वीधरः) एतेषां जन्मभूमेः=प्रादुर्भावस्थानस्य; शाठ्यं = धूर्तता एव आत्मा=स्वभावः यस्य तादृशस्य; रतिकेलिः=कामक्रीडा तेन कृतः यः आलयः=आश्रयः तस्य; कामक्रीडाश्रयभूतस्येत्यर्थः; सुरतमेव=रमणमेव उत्सवः = आनन्दः तस्य संग्रहः=संचयः यस्मिन् तथाभूतस्य; सम्भोगानन्दपूर्णस्येति भावः; वेश्यापणस्य=वेश्याव्यवहारस्य वेश्यारूपविपणेः वा; दाक्षिण्येन = उदारतया; न तु धनविनिमयेन इत्यर्थः, पण्यस्य=विक्रेयवस्तुनः स्वयौवनरूपस्येत्यभिप्रायः; सुखेन=आनन्देन=निष्क्रयः = आदानप्रदाने, विनिमयः इत्यर्थः; अस्तु=भवतु। अथवा दाक्षिण्यमेव=औदार्यमेव पण्यसुखस्य=मूल्यं दत्वा प्राप्तस्य वेश्यासम्भोगानन्दस्य निष्क्रयः=मूल्यं तस्य सिद्धिः=साफल्यम्; अस्तु=भवतु। अन्यथा चारुदत्तस्य दरिद्रतया पूर्णतया सुखानुभूतिः न भविस्यतीति भावः ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—निष्क्रयः=निस्तार, बन्दी का उद्धार-मूल्य, अदला-बदली, विनिमय, निस् + √क्री + अच् ॥

(इति निष्क्रान्तो विटः)

वसन्तसेना—अज्ज मित्तेअ ! कहिं तुम्हाणं जूदिअरो ? । [आर्य मैत्रेय ! कुत्र युष्माकं द्यूतकरः ? ।]

विदूषकः—(स्वगतम्) ही ही भो, जूदिअरो त्ति भणंतीए अलंकिदो पिअवअस्सो । (प्रकाशम्) भोदि ! एसो खु सुक्खरुक्खवाडिआए । [आश्चर्यं भोः !, द्यूतकर इति भणन्त्यालंकृतः प्रियवयस्यः । भवति ! एष खलु शुष्कवृक्षवाटिकायाम् ।]

वसन्तसेना—अज्ज ! का तुम्हाणं सुक्खरुक्खवाडिआ वुच्चदि ? । [आर्य ! का युष्माकं शुष्कवृक्षवाटिकोच्यते ? ।]

विदूषकः—भोदि ! जहिं ण खाईअदि, ण पीईअदि । [भवति ! यत्र न खाद्यते, न पीयते ।]

(वसन्तसेना स्मितं करोति)

विदूषकः—ता पविसदु भोदी । [तस्मात्प्रविशतु भवती ।]

वसन्तसेना—(जनान्तिकम्) एत्थ पविसिअ किं मए भणिदव्वं ? । [अत्र प्रविश्य किं मया भणितव्यम् ? ।]

चेटी—'जूदिअर ! अवि सुहो दे पदोसो ? त्ति । ['द्यूतकर ! अपि सुखस्ते प्रदोषः ?' इति ।]

श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका ।

लक्षण—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ ३६ ॥

(ऐसा कह कर विट निकल जाता है)

अर्थः—**वसन्तसेना**—आर्य मैत्रेय ! आप के जुआरी (चारुदत्त) कहाँ हैं ?

विदूषक—(अपने आप) अरे ! आश्चर्य ! जुआरी यह कहती हुई इस के द्वारा प्रिय मित्र चारुदत्त अलङ्कृत कर दिये गये । (प्रकट रूप में) श्रीमती जी, ! यह सूखे वृक्षों वाली फुलवाड़ी (वाटिका) मे हैं ।

वसन्तसेना—आर्य ! कौन सी सूखे वृक्षों वाली आप की फुलवाड़ी कही जाती है ? ।

विदूषकः—श्रीमती जी ! जहाँ न कुछ खाया जाता है और न कुछ पिया जाता है ।

(वसन्तसेना मुस्कराती है)

विदूषक—तो आप भीतर चलें ।

वसन्तसेना—(अलगसे) यहाँ प्रवेश करके मुझे क्या कहना चाहिए ? ।

वसन्तसेना—अवि पारइस्सं ! । [अपि पारयिष्यामि ? ।]

चेटी—अवसरो ज्जेव्व पारइस्सदि । [अवसर एव पारयिष्यति ।]

विदूषकः—पविसदु भोदी । [प्रविशतु भवती ।]

वसन्तसेना—(प्रवीश्योपसृत्य च, पुष्पैस्ताडयन्ती) अइ जूदिअर ! अवि सुहो दे पदोसो ? । [अयि द्यूतकर ! अपि सुखस्ते प्रदोषः ? ।]

चारुदत्तः—(अवलोक्य) अये, वसन्तसेना प्राप्ता । (सहर्षमुत्थाय) अयि प्रिये !

सदा प्रदोषो मम याति जाग्रतः
सदा च मे निःश्वसतो गता निशा ।
त्वया समेतस्य विशाललोचने !
ममाद्य शोकान्तकरः प्रदोषकः ॥ ३७ ॥

तत्स्वागतं भवत्यै, इदमासनम्; अत्रोपविश्यताम् ।

अर्थः–**चेटी**–जुआरी ! आपका सायङ्काल तो सुखकर है ? ऐसा (कहना चाहिये)।

वसन्तसेना—(ऐसा कहने में) क्या पार पा सकूँगी ? ।

चेटी—अवसर ही पार करदेगा (अर्थात् अवसर ही वैसा कहने में आप को समर्थ बना देगा)।

विदूषक—आप प्रवेश करें ।

वसन्तसेना—(प्रवेश करके और चारुदत्त के पास जाकर फूलों से मारती हुई) हे जुआरी ! आपका सायंकाल तो सुखदायक है ? ।

चारुदत्त—(देखकर) अरे। वसन्तसेना आ गयी ! (प्रसन्नता के साथ उठकर)

सदा प्रदोषः इति—

अन्वयः—सदा, जाग्रतः, (एव) मम, प्रदोषः, याति, सदा निश्वसतः । (एव) मे, निशा, गता, हे विशाललोचने ! अद्य, त्वया, समेतस्य, मम, प्रदोषकः शोकान्तकरः, (भवति) ॥ ३७ ॥

शब्दार्थः—सदा = हमेशा, जाग्रतः = जागते हुए, (एव = ही), मम = मेरा, प्रदोषः = प्रदोष = शायंकाल, याति = बीतता है । सदा = हमेशा, निश्वसतः = आहें भरते हुए, (एव = ही), मे = मेरी, निशा = रात, गता = बीती है । हे विशाल-लोचने = हे बड़ी-बड़ी आँखों वाली ! अद्य = आज, त्वया = तुम से, समेतस्य = मिलने वाले, मम = मेरा, प्रदोषकः = सयंकाल, शोकान्तकरः = दुःखों को खतम करनेवाला, (भवति = हो रहा है) ॥

विदूषकः—इदं आसणं, उवविसदु भोदी। [इदमासनम्, उपविशतु भवती।]

(वसन्तसेना नाटचेनासीना, ततः सर्व उपविशन्ति)

चारुदत्तः—वयस्य ! पश्य वश्य

वर्षोदकमुद्गिरता श्रवणान्तविलम्बिना कदम्बेन।
एकः स्तनोऽभिषिक्तो नृपसुत इव यौवराज्यस्थः॥ ३८॥

अर्थः—हे प्रिये।

हमेशा जागते हुए ही मेरा प्रदोप (रातका पहला पहर = सायं काल) बीतता हैं। ओर सर्वदा आहें भरते हुए ही मेरी रात बीती है। (किन्तु) हे बड़ी-बड़ी आँखों वाली स्त्री। आज तुम्हारे साथ मिलने वाले मेरा प्रदोष दुःखों को खतम करने वाला हो रहा है॥३७॥

तो आंपका स्वागत है। यह आसन है। इस पर बैठें।

टीका—सदा = सर्वदा ! जाग्रतः = अनिद्राणस्य एव, मम = त्वयि बद्धहृदयस्व चारुदत्तस्य इत्यर्थः, प्रदोपः = सन्ध्याकालः, याति = व्यतीतः भवति। सदा = नित्यं निश्वसतः = तव विरहाद्दीर्घं श्वसतः एव, मे = मम, निशा = अखिला रात्रिः; गता व्यतीता; भवतीति शेषः। विशाले दीर्घे लोचने = नेत्रे यस्याः तत्सम्बुद्धौ, अद्य=सम्प्रति, त्वया = प्रियया वसन्तसेनया इत्यर्थः; समेतस्य=सहितस्य, मम = चारुदत्तस्य, प्रदोषकः= सन्ध्यासमयः, शोकान्तकरः = शोकविनाशकः भवतीति शेषः। तवविरहे सर्वदा दुःखी अहम् अधुनैव तव साहचर्ये सुखम् अनुभवामि इत्यर्थः॥ ३७॥

टिप्पणी—दो बार 'सदा' शब्द का प्रयोग करने के कारण इस श्लोक में नयापन न होने का (अनवीकृतत्व) दोप है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—वंशस्थ। लक्षण जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ॥ ३७॥

अर्थः— विदूषक—यह आसन है। आप बैठें !

(वसन्तसेना अभिनय पूर्वक बैठती है, उसके बाद सभी बैठते हैं)

वर्षोकमिति—

अन्वयः—वर्षोदकम्, उद्गिरता, श्रवणान्तविलम्बिना, कदम्बेन, एकः, स्तनः, यौवराज्यस्थः, नृपसुतः, इव, अभिषिक्तः॥३८॥

शब्दार्थः—वर्षोदकम् = वर्षाके जलको, उद्गिरता = गिराते हुए, श्रवणान्त-विलम्बिना=कानके छोरपर लटकनेवाले, कदम्वेनेन = कदम्बके फूलके द्वारा, एकः=एक, स्तनः = स्तन, यौवराज्यस्थः = युवराज-पदपर बैठे हुए, नृपसुतः = राजकुमार (के), इव = समान, अभिषिक्तः = नहलादिया गया, अभिषिक्त कर दियागया॥

तद्वयस्य ! क्लिन्ने वाससी वसन्तसेनायाः । अन्ये प्रधानवाससी समुपनीयेतामिति ।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि । [यद्भवानाज्ञापयति ।]

चेटी—अज्ज मित्तेअ ! तिट्ठ तुमं; अहं ज्जेव्व अज्जअं सुस्सूसइस्सं । (तथा करोति) [आर्य मैत्रेय ! तिष्ठ त्वम्; अहमेवार्यां शुश्रूषयिष्यामि ।]

विदूषकः—(अपवारितकेन) भो वअस्स ! पुच्छामि दाव तत्थभोदिं किं पि । [भो वयस्य ! पृच्छामि तावत्तत्रभवतीं किमपि ।]

चारुदत्तः—एवं क्रियताम् ।

अर्थः—**चारुदत्त**—मित्र ! देखो, देखो—वर्षा के जल को गिराते हुए, कान के छोर पर लटकने वाले कदम्ब के फूल ने एक स्तन का, युवराज-पदपर बैठे हुए राजकुमार के समान, अभिषेक कर दिया है ॥३८॥

टीका—वर्षस्य = वृष्टेः ('वृष्टिर्वर्षणमिति'—अमरः) उदकं = जलम्; उद्गिरता = मुञ्चयता; श्रवणस्य=कर्णस्य अन्ते=अन्तिमे भागे विलम्बते=आलम्बते इति श्रवणान्त—विलम्बितेन; कदम्बेन = नीपकुसुमेनेत्यर्थः; एकः स्तनः = पयोधरः, वसन्तसेनायाः इतिशेषः; यौवराज्यस्थः = युवराजपदवीम् अधिरूढः; नृपस्य = राज्ञः सुतः = पुत्रः इव; अभिसिक्तः = अभिषेकं प्रापितः सिञ्चितः इत्यर्थः ॥३८॥

टिप्पणी—अभिषिक्तः—जिसका अभिषेक हो चुका हो, अभि + √सिच् + क्त ॥

इस श्लोकमें उपमा अलङ्कार एवं आर्या छन्द है । छन्द का लक्षण—यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पंचदश सार्या ॥३८॥

शब्दार्थः—क्लिन्ने = भीगेहुए, वाससी = दोनों वस्त्र । प्रधानवाससी = दो अच्छे वस्त्र । शुश्रूषयिष्यामि = सेवा करूँगी । प्रनष्टचन्द्रालोके = नष्ट होगया है चन्द्रमाका प्रकाश जिसमें ऐसे । ऋजुकः = सीधा, भोला-भाला । निपुणः = चतुर । मन्त्रितम् = कहे गये को । निध्यायति = ध्यानसे देख रहे हैं । शिल्पकुशलतया = अच्छी कारीगरी के कारण । अवबध्नाति = आकृष्ट कर रहा है ॥

अर्थः—तो मित्र । वसन्तसेना के दोनों वस्त्र (धोती एवं ओढ़नी) भीग गये हैं । दूसरे दो अच्छे वस्त्र ले आओ ।

विदूषक—जैसी आप की आज्ञा ।

चेटी—आर्य मैत्रेय । तुम रुको । मैं ही आर्या (वसन्तसेना) की सेवा करूँगी । (वैसा करती है) ।

विदूषक—(अलग से) हे मित्र ! इन श्रीमती वसन्तसेना से कुछ पूंछता हूँ ।

चारुदत्त—ऐसा ही करो ।

विदूषकः—(प्रकाशम्) अध किंणिमित्तं उण ईदिसे पणट्टचंदालोए दुद्दिणअंधआरे आअदा भोदी ?। [अथ किंनिमित्तं पुनरीदृशे प्रनष्टचन्द्रालोके दुर्दिनान्धकार आगता भवती ? ।]

चेटी—अज्जए ! उजुओ बम्हणो । [आर्ये ! ऋजुको ब्राह्मणः ।]

वसन्तसेना—णं णिउणोत्ति भणाहि । [ननु निपुण इति भण ।]

चेटी—एसा खु अज्जआ एव्वं पुच्छिदुं आअदा—'केत्तिअं ताए रअणावलीए मुल्लं' त्ति । [एषा खल्वार्या एवं प्रष्टुमागता—'कियत्तस्या रत्नावल्या मूल्यं' इति ।]

विदूषकः—(जनान्तिकम्) भो ! भणिदं मए—जधा अप्पमुल्ला रअणावली, बहुमुल्लं सुवण्णभंडअं । ण परितुट्टा अवरं मग्गिदुं आअदा । [भोः ! भणितं मया—यथाऽल्पमूल्या रत्नावली, बहुमूल्यं सुवर्णभाण्डम् । न परितुष्टा, अपरं याचितुमागता ।]

चेटी—सा खु अज्जआए अत्तणकेरकेत्ति भणिअ जूदे हारिदा । सो अ सहिओ राअवात्यहारी ण जाणीअदि कहिं गदो त्ति । [सा खल्वार्यया आत्मीयेति भणित्वा द्यूते हारिता । स च सभिको राजवार्ताहारी न ज्ञायते कुत्र गत इति ।]

विदूषकः—भोदि ! मंतिदं ज्जेव मंतीअदि । [भवति ! मन्त्रितमेव मन्त्र्यते ।]

चेटी—जाव सो अण्णेसीअदि ताव एदं ज्जेव्व गेण्ह सुवण्णभंडअं । [यावत्सोऽन्विष्यते तावदिदमेव गृहाण सुवर्णभाण्डम् ।] (इति दर्शयति)

अर्थः—विदूषक—(प्रकट रूप में) चन्द्रमा के प्रकाश से रहित दुर्दिन के कारण ऐसे अँधेरे समय में भला आप किस लिए आयी हैं ? ।

चेटी—आर्ये । यह ब्रह्मण भोला-भाला है ।

वसन्तसेना—नहीं, यह कहो कि चतुर है ।

चेटी—यह आर्या यह पूँछने आई हैं कि उस रत्नावली की कीतनी कीमत है ?

विदूषक—(अलग से) अरे ! मैंने कहा कि रत्नावली कम कीमत की है, सोने के जेवरों का डिब्बा अधिक दाम का है । (अतः उतनेसे) सन्तोष न करके और माँगने आयी है ।

चेटी—आर्या उसे अपनी कहकर (समझ कर) जुए में हरा दीं । वह जुआ खेलाने वाला राजा के सन्देश को जहाँ तहाँ ले जाने वाला है । अतः न जाने कहाँ चला गया ।

विदूषक—श्रीमती जी ! (आप मेरे द्वारा) कही गयी बात को ही कह रही हैं ।

चेटी—जब तक वह (जुआ खेलाने वाला) ढूंढा जा रहा है तब तक इस सोने के जेवरों के डिब्बे को ही आप ले लें । (ऐसा कह कर दिखलाती है)

(विदूषको विचारयति)

चेटी—अदिमेत्तं अज्जो णिज्झाअदि । ता किं दिट्ठपुव्वो दे ? । [अतिमात्रमार्यो निध्यायति । तत्किं दृष्टपूर्वस्ते ? ।]

विदूषकः—भोदि ! सिप्पकुसलदाए ओवंधेदि दिट्ठिं । [भवति ! शिल्पकुशलतयावबध्नाति दृष्टिम् ।]

चेटी—अज्ज ! वंचिदोसि दिट्ठीए । तं ज्जेव्व एदं सुवण्णभंडअं । [आर्य ! वञ्चितोऽसि दृष्ट्या ! तदेवेदं सुवर्णभाण्डम् ।]

विदूषकः—(सहर्षम्) भो वअस्स ! तं ज्जेव्व एदं सुवण्णभंडअं, जं अम्हाणं गेहे चोरेहिं अवहिदं । [भो वयस्य ! तदेवेदं सुवर्णभाण्डम्, यदस्माकं गृहे चौरैरपहृतम् ।]

चारुदत्तः—वयस्य !

योऽस्माभिश्चिन्तितो व्याजः कर्तुं न्यासप्रतिक्रियाम् ।
स एव प्रस्तुतोऽस्माकं किंतु सत्यं विडम्बना ॥ ३९ ॥

(विदूषक सोचता-विचारता है)

चेटी—आर्य बहुत ध्यान से देख रहे हैं । तो क्या (यह) पहले से देखा हुआ है ? ।

विदूषक—श्रीमती जी ! अच्छी कारीगरी के कारण आँखों को आकृष्ट कर रहा है ।

टीका—क्लिन्ने = आर्द्रे; वाससी = परिधेयवस्त्रम् उत्तरीयवस्त्रं च । प्रधाने = वसन्तसेनायोग्ये सुन्दरे इति भावः, वाससी = वस्त्रद्वयमित्यर्थः । शुश्रूषयिष्यामि = शुश्रूषिष्ये इत्यर्थः । प्रनष्टः = अदृष्टः चन्द्रस्य = चन्द्रमसः आलोकः प्रकाशः यस्मिन् तादृशे । ऋजुकः = सरलः व्यवहारानभिज्ञः इतिभावः । निपुणः = चतुरः । मन्त्रितम् = कथितम् , मया इति शेषः । निध्यायति = अतिमात्रं पश्यति, ध्यानेन अवलोकयति । शिल्पस्य = रचनायाः कुशलतया = सुन्दरतया इत्यर्थः । अवबध्नाति = आकर्षति ॥

टिप्पणी—क्लिन्ने = गीले, तर, √क्लिद् + क्त ॥

अर्थः—चेटी—आर्य ! (आप अपनी) आँखों के द्वारा ठगे गये हैं (अर्थात् आखों ने आपको धोखा दिया है) । यह वही सोने के जेवरों का डिब्बा है ।

विदूषक—(खुशी के साथ) हे मित्र ! यह वही सोने के जेवरों का डिब्बा है, जिसका हमारे घर में चोरों ने चुराया था ।

योऽस्माभिः इति—

विदूषकः—भो वअस्स ! सच्चं सवामि बम्हण्णेण। [भो वयस्य ! सत्यं शपे ब्राह्मण्येन।]

चारुदत्तः—प्रियं नः प्रियम्।

अन्वयः—अस्माभिः, न्यासप्रतिक्रियाम्, कर्तुं, यः, व्याजः, चिन्तितः ; सः एव, अस्माकं, प्रस्तुतः, (किन्तु), सत्यम् , (इयं) विडम्बना, (अस्ति) ॥३९॥

शब्दार्थः—अस्माभिः = हमारे द्वारा, न्यासप्रतिक्रियाम् = धरोहरकी क्षतिपूर्ति को, कर्तुं = करनेके लिए, यः = जो, व्याजः=बहाना, चिन्तितः = सोचा गया था, सः= वह, एव = ही, अस्माकं = हमलोगों को, प्रस्तुतः = उपस्थित (है); (किन्तु) सत्यम् = सचमुच, (इयं = यह,) विडम्बना = जालसाजी (अस्ति = है) ॥

अर्थः—**चारुदत्त**—मित्र ! जो बहाना हम लोगों ने धरोहर की क्षति-पूर्ति करने के लिये सोचा था वही (बहाना) हमारे सामने उपस्थित है। किन्तु सचमुच यह जाल साजी (प्रतारणा ही) है (अर्थात् यह वह सुवर्णभाण्ड नहीं है जो हमारे घर से चोरी गया था, किन्तु हम लोगों की ढाँढस के लिये इसने दूसरा आभूषण ला रक्खा है) ॥ ३९ ॥

टीका—अस्माभिः न्यासस्य = निक्षेपस्य प्रतिक्रियां = क्षतिपूर्तिं; कर्तुं = विधातुं; यः व्याजः = कपटः ('कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः); चिन्तितः = विचारितः, कृतः इत्यर्थः ; सः = व्याजः एव अस्माकम् = अस्माकं समक्षमित्यर्थः; प्रस्तुतः = उपस्थितः। यादृशः व्याजः अस्माभिः वसन्तसेनां प्रति कृतः , तादृशः एव तया अस्मान् प्रति विहितः इति भावः। किन्तु सत्यं = वस्तुतः, इयं विडम्बना=कपटाचारः नतु सत्यव्यवहारः अस्तीति शेषः। यद्यपि वसन्तसेनायाः चेटया 'तदेवेदं सुवर्णभाण्डम् 'इत्युच्यते; परञ्च नेदं तदिति भावः ॥३९॥

टिप्पणी—प्रतिक्रिया=क्षतिपूर्ति, प्रतिशोध, बदला, प्रति + √कृ + श, इयङ् + टाप्। विडम्बना = धोखेबाजी, जालसाजी, √विडम्ब् + ल्युट् ॥

इस श्लोक के छन्द का नाम है—पथ्यावक्त्र। लक्षण— युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥३९॥

शब्दार्थः—ब्राह्मण्येन = ब्राह्मणपन से, शपे = सौगन्ध खाता हूँ। प्रियनिवेदनम् = अच्छी बात के कहने को, निष्फलीकृतं = निष्फल किया है। अत एव = इसी लिये, इसी उदारता के कारण।

अर्थः—**विदूषक**—हे मित्र ! मैं ब्राह्मणपन की सौगन्ध खाता हूँ कि यह सत्य है (अर्थात् वही सुवर्णभाण्ड है)।

विदूषकः—(जनान्तिकम्) भो ! पुच्छामि—णं कुदो एदं समासादिदं त्ति । [भोः ! पृच्छामि—ननु कुत इदं समासादितमिति ।]

चारुदत्तः—को दोषः ? ।

विदूषकः—(चेटयाः कर्णे) एव्वं विअ । [एवमिव ।]

चेटी—(विदूषकस्य कर्णे) एव्वं विअ । [एवमिव ।]

चारुदत्तः—किमिदं कथ्यते ? । किं वयं बाह्याः ? ।

विदूषकः—(चारुदत्तस्य कर्णे) एव्वं विअ । [एवमिव ।]

चारुदत्तः—भद्रे ! सत्यं तदेवेदं सुवर्णभाण्डम् ?

चेटी—अज्ज ! अध इं । [आर्य ! अथ किम् ?]

चारुदत्तः—भद्रे ! न कदाचित्प्रियनिवेदनं निष्फलीकृतं मया । तद्गृह्यतां पारितोषिकमिदमङ्गुलीयकम् । (इत्यनङ्गुलीयकं हस्तमवलोक्य लज्जां नाटयति)

वसन्तसेना—(आत्मगतम्) अदो ज्जेव्व कामीअसि । [अतएव काम्यसे ।]

चारुदत्त—प्रिय ! हमारा प्रिय !

बिदूषक—(अलग से) अरे ! पूछता हूँ कि यह कहाँ मिला ?

चारुदत्त—क्या बुराई है ?

विदूषक—(चेटी के कान में) ऐसा ही है ?

चेटी—(विदूषक के कान मे) ऐसा ही है ।

चारुदत्त—यह क्या कह रहे हो ? क्या हम लोग बाहरी हैं ?

विदूषक—(चारुदत्त के कान में) ऐसा ही है ।

चारुदत्त—भद्रे ! सचमुच क्या यह वही सोने की जेवरों का डिब्बा है ?

चेटी—आर्य ! और क्या ! (अर्थात् यह वही है) ।

चारुदत्त—भद्रे ! मैने प्रिय-निवेदन (अर्थात् अच्छी बात के कहने को) कभी निष्फल नहीं किया है । तो इनाम के रूप में इस अँगूठी को ग्रहण करो । (ऐसा कहकर बिना अँगूठी के हाथ को देखकर लज्जा का अभिनय करता है) ।

वसन्तसेना—(अपने आप) इसीलिये (मेरे द्वारा) चाहे जाते हो ।

टीका—ब्राह्मणस्य = विप्रस्य भावः कर्म वा ब्राह्मण्यं तेन, शपे = शपथं करोमि । प्रियनिवेदनम् = प्रियाख्यानं, निष्फलीकृतं = विफलीकृतम् । अत एव = अस्य औदार्यस्य कारणादेवेत्यर्थः ॥

चारुदत्तः—(जनान्तिकम्) भोः ! कष्टम्;

धनैर्वियुक्तस्य नरस्य लोके किं जीवितेनादित एव तावत् ।
यस्य प्रतीकारनिरर्थकत्वात्कोपप्रसादा विफलीभवन्ति ॥ ४० ॥

अपि च,—

पक्षविकलश्च पक्षी शुष्कश्च तरुः सरश्च जलहीनम् ।
सर्पश्चोद्धृतदंष्ट्रस्तुल्यं लोके दरिद्रश्च ॥ ४१ ॥

धनैर्वियुक्तस्य इति—

अन्वयः—लोके, धनैः, वियुक्तस्य, नरस्य, आदितः, एव, जीवितेन, किं तावत्; प्रतिकारनिरर्थकत्वात्, यस्य, कोपप्रसादाः, विफलीभवन्ति ॥ ४० ॥

शब्दार्थः—लोके = संसार में, धनैः = धनों मे, वियुक्तस्य = हीन, नरस्य = मनुष्य के, आदितः = जन्म से, एव = ही, जीवितेन = जीने से, किं तावत्=क्या लाभ । प्रतिकारनिरर्थकत्वात् = बदला चुकाने मे असमर्थता के कारण, यस्य = जिसके, कोपप्रसादाः = कोप और कृपा, विफलीभवन्ति = निष्फल होते हैं ॥

अर्थः—चारुदत्त—(अलग से) अरे ! दुःख है—

संसार में निर्धन मनुष्य के जन्म से ही जीने से क्या लाभ ? बदला चुकाने में असमर्थ होने के कारण जिसके कोप और अनुग्रह (दोनों ही) निष्फल होते हैं (अर्थात् निर्धन किसी पर खुश होकर उसे कुछ दे नहीं सकता है और नाराज होने पर उसका कुछ बिगाड़ भी नहीं सकता है, ॥ ४० ॥

टीका—लोके=संसारे, धनैः = सम्पद्भिः; वियुक्तस्य = विहीनस्य, नरस्य = जनस्य, आदितः एव=जन्मतः एव, जीवितेन = जीवनेन, किं तावत् = किं फलमित्यर्थः, अर्थात् न किमपि फलम् । यस्य=धनरहितस्य जनस्य; कोपप्रसादाः = क्रोधानुग्रहाः; विफलीभवन्ति = निष्फलाः भवन्ति । यतः निर्धनः कोपे प्रतिकर्तुः अनुग्रहे च उपकर्तुः सर्वथा असमथः भवति, अतः तस्य कोपप्रसादाः निष्फलाः जायन्ते इत्यर्थः ॥ ४० ॥

टिप्पणी—श्लोक के पूर्वार्द्ध में अप्रस्तुत प्रशंसा एवं उत्तरार्द्ध में काव्यलिङ्ग अलङ्कार है । श्लोक मे प्रयुक्त छन्द का नाम है—उपजाति । छन्द का लक्षण—

अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥ ४० ॥

पक्षविकलः इति—

अन्वयः—लोके, पक्षविकलः, पक्षी, च, शुष्कः, तरुः, च, जलहीनं, सरः, च, उद्धृतदंष्ट्रः, सर्पः, च, (एतत्, सर्वं) तुल्यम् ॥ ४१ ॥

अपि च,—

शून्यैर्गृहैः खलु समाः पुरुषा दरिद्राः
कूपैश्च तोयरहितैस्तरुभिश्च शीर्णैः ।
यद्दृष्टपूर्वजनसंगमविस्मृताना-
मेवं भवन्ति विफलाः परितोषकालाः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थः—लोके = संसार में, पक्षविकलः = पंख से हीन, पक्षी = चिड़िया, च = और, शुष्कः = सूखा, तरुः = पेड़, च = तथा, जलहीनं = जल से रहित, सरः = तालाब, च = एवं, उद्धृतदंष्ट्रः = दाँत उखाड़ा हुआ, सर्पः = साँप, (एतत् = यह, सर्वं = सब) तुल्यं = समान (हैं)

और भी—

अर्थः—संसार में, बिना पंख की चिड़ियाँ, सूखा पेड़, बिना जल का तालाब तथा दाँत उखाड़ा हुआ साँप एवं दरिद्र मनुष्य (ये सभी) समान होते हैं ॥ ४१ ॥

टीका—लोके = जगति, पक्षाभ्यां = पत्राभ्यां ('गरुत्पक्षच्छदाः पत्त्रं पतत्त्रं च तनूरुहम्' इत्यमरः) विकलः = विहीनः, पक्षी = खगः, शुष्कः = नीरसः, तरुः = वृक्षः, जलेन = सलिलेन हीनं = विरहितं, सरः = जलाशयः; उद्धृताः = उत्पाटिताःदंष्ट्राः = दन्ताः यस्य तथाभूतः, दन्तविहीनः इत्यर्थः; सर्पः = भुजङ्गः; एतत् सर्वं तुल्यं = समानमेव । चिकीर्षितं कर्तुमसामर्थ्यात् व्यर्थमेतेषां जीवनमितिभावः ॥४१॥

टिप्पणी—इस श्लोक में मालोपमा अलङ्कार तथा आर्या छन्द है। छन्द का लक्षण—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥४१॥

शून्यैः गृहैः इति—

अन्वयः—दरिद्राः, पुरुषाः, खलु, शून्यैः, गृहैः, तोयरहितैः, कूपैः, च, शीर्णैः, तरुभिः, च, समाः, (भवन्ति), यत्, दृष्टपूर्वजनसंगमविस्मृतानां, (तेषां), परितोष-कालाः, एवं, विफलाः, भवन्ति ॥ ४२ ॥

शब्दार्थः—दरिद्राः = निर्धन, पुरुषाः = मनुष्य, खलु = वस्तुतः, शून्यैः = सूने, गृहैः = घरों, तोयरहितैः = पानी से रहित, कूपैः = कुओं, च = तथा, शीर्णैः = सूखे, तरुभिः = पेड़ों से (के), समाः = समान, (भवन्ति = होते हैं)। यत् = क्योंकि, दृष्टपूर्वजनसंगमविस्मृतानां = पहले के परिचित जनों के मिलने से (अपनी गरीबी

विदूषकः—भो ! अलं अदिमेत्तं संतप्पिदेण। (प्रकाशं, सपरिहासं) भोदि ! समप्पीअदु ममकेरिआ ण्हाणसाडिआ। [भोः ! अलमतिमात्रं संतापितेन। भवति ! समर्प्यतां मम स्नानशाटिका।]

वसन्तसेना—अज्ज चारुदत्त ! जुत्तं ण्णेदं इमाए रअणावलीए इमं जणं तुलइदुं। [आर्य चारुदत्त ! युक्तं नेदमनया रत्नावल्या इमं जनं तुलयितुम्।]

चारुदत्तः—(सविलक्षस्मितं) वसन्तसेने ! पश्य पश्य

को) भूल जाने वाले, (तेषां = उनके,) परितोषकालाः = प्रसन्नता के समय, एवं = इसी प्रकार, विफलाः = व्यर्थ, भवन्ति = होते हैं ॥

और भी—

अर्थः—दरिद्र मनुष्य वस्तुतः सूने घरों; बिना पानी के कुओं तथा सूखे पेड़ों के समान हैं। क्योंकि पहले के परिचित जनों के मिलने से (खुशी के कारण अपनी दरिद्रता को) भूल जाने वाले (निर्धन) लोगों की प्रसन्नता के समय इसी तरह निष्फल हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

टीका—दरिद्राः = पूर्णतया धनरहिताः; पुरुषाः = मानवाः; खलु = निश्चयेन, शून्यैः = जनरहितैः;, गृहैः = भवनैः; तोयरहितैः = जलहीनैः; कूपैः = उदपानैः ('अन्धुः प्रहिः कूप उदपानम्'–इत्यमरः); शीर्णैः = शुष्कैः इत्यर्थः; तरुभिः = वृक्षैश्च; समाः = तुल्याः भवन्तीति शेषः। यत् = यस्मात्; दृष्टपूर्वस्य = पूर्वपरिचितस्य जनस्य = व्यक्तेः संगमेन = मिलनेन, मिलनजन्यानन्दाधिक्येन हेतुना इत्यर्थः, विस्मृतानां = विस्मृतनिज-दैन्यानां तेषां=निर्धनजनानां; परितोषकालाः = सन्तोषसमयाः, पुरस्कारप्रदानस्य योग्य-कालाः इत्यर्थः; एवं = अनेनैव प्रकारेण, यथा मम तथा इत्यर्थः; विफलाः=निष्फलाः भवन्ति = जायन्ते ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में मालोपमा अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है। छन्द का लक्षण—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ ४२॥

अर्थः—**विदूषक**—अरे ! अधिक सन्ताप करना व्यर्थ है। (प्रकट रूप में, हँसी के साथ) श्रीमती जी ! मेरी नहाने की धोती दे दीजिये।

वसन्तसेना—आर्य चारुदत्त ! इस रत्नावली से इस जन को (अर्थात् मुझको) तौलना ठीक नहीं।

चारुदत्त—(लज्जा पूर्वक मुस्कराकर) वसन्तसेना ! देखो, देखो—

कः श्रद्धास्यति भूतार्थं सर्वो मां तुलयिष्यति ।
शङ्कनीया हि लोकेऽस्मिन्निष्प्रतापा दरिद्रता ॥ ४३ ॥

विदूषकः—हञ्जे ? किं भोदीए इध ज्जेव्व सुविदव्वं ? । [चेटि ! किं भवत्या इहैव सुप्तव्यम् ? ।]

चेटी—(विहस्य) अज्ज मित्तेअ ! अदिमेत्तं दाणिं उजुअं अत्ताणअं दंसेसि । [आर्य मैत्रेय ! अतिमात्रमिदानीमृजुमात्मानं दर्शयसि ।]

कः श्रद्धास्यति इति—

अन्वयः—कः, भूतार्थं, श्रद्धास्यति, सर्वः, मां, तुलयिष्यति, हि, अस्मिन्, लोके, निष्प्रतापा, दरिद्रता, शङ्कनीया, (भवति) ॥ ४३ ॥

शब्दार्थः—कः = कौन, भूतार्थं = सच्ची बात को, यथार्थ को, श्रद्धास्यति = मानेगा, सर्वः = सब, मां = मुझको, तुलयिष्यति = तौलेंगें, हि=क्योंकि, अस्मिन् = इस, लोके = लोक में, निष्प्रतापा = तेजहीन, दरिद्रता = निर्धनता, शङ्कनीया = सन्देह के योग्य (भवति = होती है) ॥

अर्थः—कौन सच्ची बात का विश्वास करेगा ? सभी मुझे तौलेगें (अर्थात् बेइमान सकझेगें) । क्योंकि इस संसार में, निर्बल दरिद्रता निश्चित रूप से शंका के योग्य होती है ॥ ४३ ॥

टीका—कः = जनः, भूतार्थं = सत्यं, सुवर्णभाण्डं चौरैरपहृतमित्येवं रूपमिति भावः; श्रद्धास्यति = विश्वासं करिष्यति ? हि = यतः; अस्मिन् = एतस्मिन्, लोके = संसारे, निष्प्रतापा = तेजशून्या; दरिद्रता = निर्धनता; शङ्कनीया = आशङ्कितुं योग्या भवतीति शेषः । दरिद्रचारुदत्तेन स्वगृहे सुवर्णभाण्डं निक्षिप्य प्रचारितं चौरेणापहृतमिति कथयिष्यति लोकः इति भावः ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—अलङ्कार एवं छन्द के लिये देखिये श्लोक ३।२४ की टिप्पणी ॥४३॥

शब्दार्थः—सुप्तव्यम् = सोया जायगा ? सुखोपविष्टं = सुख से बैठे हुए, जनं = व्यक्ति को, अपसारयन्=हटाता हुआ; पर्जन्यः = बादल, विस्तारिवारिधाराभिः = फैलने वाली पानी की धाराओं से; प्रवृष्टः = आगया ॥

अर्थः—**विदूषक**—चेटी ! क्या आपको (वसन्तसेना को) यहीं सोना है ?

चेटी—(हँसकर) आर्य मैत्रेय ! इस समय आप अपने को बहुत अधिक भोला-भाला दिखला रहे हैं ।

विदूषकः—भो वअस्स ! एसो खु ओसारअंतो विअ सुहोववि‌ट्ठं जणं पुणो वि वित्थारिवारिधाराहिं पविट्ठो पज्जण्णो । [भो वयस्य ! एष खल्वपसारयन्निव सुखोपविष्टं जनं पुनरपि विस्तारिवारिधाराभिः प्रविष्टः पर्जन्यः ।]

चारुदत्तः—सम्यगाह भवान्,—

अमूर्हि भित्त्वा जलदान्तराणि पङ्कान्तराणीव मृणालसूच्यः ।
पतन्ति चन्द्रव्यसनाद्विमुक्ता दिवोऽश्रुधारा इव वारिधाराः ॥ ४४ ॥

विदूषक—हे मित्र ! आनन्द से बैठे हुये लोगों को हटाता हुआ सा यह बादल फैलने वाली पानी की धाराओं के साथ फिर आ गया ।

टीका—सुप्तव्यम् = शयनं कर्तव्यम् ? सुखेन = आनन्देन उपविष्टं = स्थितं वाह्य-प्रदेशे इति शेषः; जनं = प्राणिनम्; अपसारयन् = दूरीकुर्वन्, आत्मरक्षार्थं गृहाभ्यन्तरं गन्तुं प्रेरयन्निति सङ्केतः । पर्जन्यः = पयोदः; विस्तारिभिः=वर्धमानाभिः वारिधाराभिः = जलधाराभिः; प्रविष्टः = आगतः इत्यर्थः ॥

अमूर्हि भित्त्वा इति—

अन्वयः—हि, अमूः, वारिधाराः, मृणालसूच्यः, पङ्कान्तराणि, इव, जलदान्तराणि, भित्त्वा, चन्द्रव्यसनात्, विमुक्ताः, दिवः, अश्रुधाराः, इव, पतन्ति ॥ ४४ ॥

शब्दार्थः—हि = अवश्य ही, अमूः = ये, वारिधाराः = जलकी धाराएँ; मृणाल-सूच्यः = कमललता की जड़ के अङ्कुर, पङ्कान्तराणि = कीचड़ के भीतर (की), इव = तरह, जलदान्तराणि = बादलों के पेटों को, भित्त्वा = चीरकर, चन्द्रव्यसनात् = चन्द्रमा की विपत्ति के कारण, विमुक्ताः = बहायी गयी, दिवः = आकाश की, अश्रु-धाराः = आसुओं की धाराओं (के), इव = समान, पतन्ति = गिर रही हैं ॥

अर्थः—चारुदत्त—आप ने ठीक कहा—

अवश्य ही ये जल की धाराएँ, कीचड़ को फाड़कर निकले हुये कमललता की जड़ (मृणाल) के अंकुर के समान बादलों के पेट को चीर कर (प्रेमी) चन्द्रमा की विपत्ति (गायब हो जाने) के कारण बहायी गयी द्यौ (आकाश) की आँसुओं की धाराओं के समान गिर रही हैं ॥ ४४ ॥

टीका—हि = निश्चितम्; अमूः = एताः पुरो दृश्यमानाः; वारिधाराः = जलधाराः; मृणालानां = विसानां सूच्यः = अङ्कुराः; पङ्कस्य = कर्दमस्य अन्तराणि = अन्तर्भागान् इव; जलदानां = पयोदानाम् अन्तराणि = उदराणि, मध्यभागान् इत्यर्थः; भित्त्वा =

अपि च,—

धाराभिरार्यजनचित्तसुनिर्मलाभि-
श्चण्डाभिरर्जुनशरप्रतिकर्कशाभिः ।
मेघाः स्रवन्ति बलदेवपटप्रकाशाः
शक्रस्य मौक्तिकनिधानमिवोद्गिरन्तः ॥ ४५ ॥

विदार्य; चन्द्रस्य = चन्द्रमसः व्यसनात् = मेघावरणरूपविपत्तेः कारणात्; विमुक्ताः = प्रवाहिताः; दिवः = आकाशस्य; अश्रुधाराः = नेत्राम्बुधाराः इव; पतन्ति = स्रवन्ति । द्यौः प्रियस्य चन्द्रस्य मेघाच्छादनरूपां विपत्तिं विलोक्य धारावपातैः रुदति इवेति भावः ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—चन्द्रमा में नायक के कार्य एवं द्यौ में नायिका के कार्य का आरोप करने के कारण इस श्लोक में समासोक्ति अलङ्कार तथा उपजाति छन्द है। छन्द के लिये देखिये श्लोक ४० की टिप्पणी ॥ ४४ ॥

धाराभिः इति—

अन्वयः—बलदेवपटप्रकाशाः, मेघाः, आर्यजनचित्तसुनिर्मलाभिः, अर्जुनशरप्रतिकर्कशाभिः, चण्डाभिः, धाराभिः, शक्रस्य, मौक्तिकनिधानम्, उद्गिरन्तः, इव, स्रवन्ति ॥ ४५ ॥

शब्दार्थः—बलदेवपटप्रकाशाः = बलदेव जी के वस्त्रों के समान (नीले) आभा-वाले, मेघाः = बादल, आर्यजनचित्तसुनिर्मलाभिः = सज्जनों के चित्त के समान विमल, अर्जुनशरप्रतिकर्कशाभिः = अर्जुन के तीरों के तुल्य कठोर, चण्डाभिः = तीखी, धाराभिः = धाराओं के द्वारा, शक्रस्य = इन्द्र के, मौक्तिकनिधानम् = मोतियों के खजाने को, उद्गिरन्तः = बिखराते हुए, इव = से, स्रवन्ति = झर रहे हैं ॥

और भी—

अर्थः—बलदेव जी के वस्त्रों के समान (नीली) आभा वाले बादल सज्जनों के चित्त के समान विमल, अर्जुन के तीरों के तुल्य कठोर एवं तीखी धाराओं के द्वारा मानों इन्द्र के मोतियों के खजाने को विखराते हुए झर रहे हैं ॥ ४५ ॥

टीका—बलदेवस्य = बलरामस्य पटवत् = वस्त्रवत् प्रकाशः = कान्तिः येषां ते; बलरामवस्त्रवन्नीलाः इत्यर्थः; मेघाः = जलदाः; आर्यजनस्य = सज्जनस्य चित्तवत् = चेतः इव सुनिर्मलाः = विमलाः मालिन्यरहिताः इत्यर्थः, ताभिः; अर्जुनस्य = पार्थस्य

प्रिये ! पश्य पश्य

एतैः पिष्टतमालवर्णकनिभैरालिप्तमम्भोधरैः
संसक्तैरुपवीजितं सुरभिभिः शीतैः प्रदोषानिलैः ।
एषाम्भोदसमागमप्रणयिनी स्वच्छन्दमभ्यागता
रक्ता कान्तमिवाम्बरं प्रियतमा विद्युत्समालिङ्गति ॥ ४६ ॥

शरेण = बाणेन प्रतिकर्कशाः = सदृशकठिनाः ताभिः; अत एव चण्डाभिः = तीक्ष्णाभिः; धाराभिः = जलप्रवाहैः; शक्रस्य = इन्द्रस्य; मौक्तिकनिधानं = मुक्तानिधिम्; उद्गिरन्तः = उद्वमन्तः इव; स्रवन्ति = क्षरन्ति ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में मालोपमा एवं उत्प्रेक्षा अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है। छन्द का लक्षण—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ ४५ ॥

एतैः इति—

अन्वयः—अम्भोदसमागमप्रणयिनी, स्वच्छन्दम्, आगता, रक्ता, प्रियतमा, इव, एषा, विद्युत्, पिष्टतमालवर्णकनिभैः, एतैः, अम्भोधरैः, आलिप्तम्; संसक्तैः, सुरभिभिः, शीतैः, प्रदोषानिलैः, उपवीजितं, च, कान्तम्, इव, अम्बरम्, समालिङ्गति ॥ ४६ ॥

शब्दार्थः—अम्भोदसमागमप्रणयिनी = बादलों के समागम की प्रबल इच्छावाली, बादलों के उदय में प्रेम करने वाली, (प्रियतमा के पक्ष मे—बादलों के उमड़ने से प्रियतम की इच्छावाली), स्वच्छन्दम् = अपनी इच्छा के अनुसार, आगता=आयी हुई, रक्ता = लालरङ्गवाली (प्रियतमा के पक्ष में—अनुरागवाली), प्रियतमा = प्रेयसी, इव = जैसी, एषा = यह, विद्युत् = बिजली; पिष्टतमालवर्णकनिभैः = पिसे हुए तमाल के रङ्ग जैसे, एतैः = इन; अम्भोधरैः = बादलों से, (कान्त-पक्ष मे—अङ्गरागों से) आलिप्तम् = लेपन किये हुए, संसक्तैः = हमेशा बहनेवाली, सुरभिभिः = सुगन्धित शीतैः = ठण्डी, प्रदोषानिलैः = सायंकाल की हवाओं से (कान्त के पक्ष में—शीतल सुगन्धित हवाओं से) उपवीजितं = पंखा झले जाते हुए, कान्तमिव = प्रेमीकी भाँति, अम्बरम् = अकाश को, समालिङ्गति = अपने अङ्गों से लिपटा रही है ॥

अर्थः—प्रिये ! देखो, देखो—

बादलों के समागम की प्रबल इच्छा वाली, अपनी इच्छा से आयी हुई, लाल रङ्ग वाली यह बिजली, पिसे हुये तमाल के रङ्ग जैसे इन बादलों से घिरे हुये हमेशा बहने वाली सुगन्धित एवं ठण्डी सायंकाल की हवाओं से पंखा झले जाते हुये, आकाश का

(वसन्तसेना शृंगारभावं नाटयन्ती चारुदत्तमालिङ्गति)

चारुदत्तः—(स्पर्शं नाटयन्प्रत्यालिङ्ग्य)

भो मेघ! गम्भीरतरं नद त्वं तव प्रसादात्स्मरपीडितं मे
संस्पर्शरोमाञ्चितजातरागं कदम्बपुष्पत्वमुपैति गात्रम् ॥ ४७ ॥

उसी प्रकार से आलिङ्गन कर रही है जैसे बादलों के उमड़ने से प्रियतम की इच्छा वाली, (बिना बुलाये) अपनी इच्छा से आयी हुई, अनुरागिणी कामिनी प्रेमी का आलिङ्गन करती है ॥ ४६ ॥

टीका—अम्भोदस्य = मेघस्य समागमे = उदये प्रणयिनी = प्रेमशालिनी; प्रियतमापक्षे—अम्भोदस्य समागमात् = उदयात् प्रणयिनी = प्रियमिलनस्य अभिलाषिणी; स्वच्छन्दम् = स्वतन्त्रम्; आगता = उदिता; प्रियतमापक्षे—प्राप्ता; रक्ता = रक्तवर्णा, प्रियतमापक्षे—अनुरागिणी; प्रियतमेव = प्रेयसीव; एषा = मेघसमूहे स्फुरन्ती; विद्युत्= तडित्, पिष्टं = चूर्णीकृतं यत् तमालवर्णकं = तमालपत्रस्य विलेपनं (वर्णकं स्याद्विलेपनम् इत्यमरः) तन्निभैः = तत्तुल्यैः, श्यामवर्णैः इतिभावः, एतैः = पुरो दृश्यमानैः; अम्भोधरैः = जलदैः, आलिप्तं = कृतालेपनं; (कान्तपक्षे = कस्तूरिकाद्यङ्गरागैः लिप्ताङ्गं), संसक्तैः = परस्परं मिलितैः; सततप्रवहणशीलैः वा, सुरभिभिः = सुगन्धिभिः, शीतैः = शीतलैः, प्रदोषानिलैः = सान्ध्यपवनैः,उपवीजितं = विहितव्यजनं, कान्तपक्षे—शीतलसुगन्धितपवनैः उपवीजितं, कान्तं = प्रणयिनमिव, अम्बरं = आकाशं, समालिङ्गति = आलिङ्गितं करोति । यथा प्रियतमा प्रणयिनं कान्तम् आलिङ्गति तथैव विद्युत् अम्बरमालिङ्गति इति मुख्यार्थः ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा एवं आकाश में नायक के व्यापार का तथा विजली में नायिका के व्यापार का आरोप करने के कारण समासोक्ति अलङ्कार है। इसमे प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित । छन्द का लक्षण—

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ४६ ॥

अर्थः—(वसन्तसेना शृंगारभाव का अभिनय करती हुई चारुदत्त का आलिङ्गन करती है)।

भो मेघ ! इति—

अन्वयः—भो मेघ ! त्वं, गम्भीरतरं, नद, तव, प्रसादात्; स्मरपीडितं, मे, गात्रम्, स्पर्शरोमाञ्चितजातरागं, (सत्), कदम्बपुष्पत्वम्, उपैति ॥४७॥

विदूषकः—दासीए पुत्त दुद्दिण ! अणज्जो दाणिं सि तुमं, जं अत्तभोदिं विज्जुआए भायावेसि । [दास्याःपुत्र दुर्दिन ! अनार्य इदानीमसि त्वम्, यदत्रभवतीं विद्युता भीषयसि ।]

चारुदत्तः—वयस्य ! नार्हस्युपालब्धुम्,—

वर्षशतमस्तु दुर्दिनमविरतधारं शतह्रदा स्फुरतु ।
अस्मद्विधदुर्लभया यदहं प्रियया परिष्वक्तः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थः—भो मेघ ! = ऐ बादल !त्वं=तू; गंभीरतरं=और अधिक गम्भीरता-पूर्वक, नद = गरज; तव = तेरी, प्रसादात् = कृपा से, स्मरपीडितं = कामदेव के द्वारा सताया गया, मे = मेरा, गात्रम् = शरीर, संस्पर्शरोमाञ्चितजातरागं = स्पर्श से रोमांञ्चित एवं उत्पन्न वासना वाला, (सत् = होता हुआ), कदम्बपुष्पत्वं = कदम्ब के फूल की तुलना को, उपैति = प्राप्त हो रहा है ॥

अर्थः—चारुदत्त—(स्पर्श का अभिनय करते हुये वदले में आलिङ्गन करके)

ऐ बादल ! तू और अधिक गम्भीरता से **गरज**, तेरी ही कृपा से कामदेव के द्वारा सताया गया मेरा शरीर (वशन्तसेना के) स्पर्श से रोमांचित एवं उत्पन्न—वासन वाला (होकर) कदम्ब फूल के समान हो रहा है ॥ ४७ ॥

टीका—भो मेघ = हे जलद ! त्वं गम्भीरतरं = सुगभीरं यथा तथा, गर्ज = नद । तव = भवतः प्रसादात् = अनुरागात्, स्मरेण = कामेन पीडितं = सन्तापितं, मे = मम, गात्रं = शरीरं, स्पर्शेन=प्रियायाः वसन्तसेनायाः आलिङ्गनेन, रोमाञ्चाः संजाताः अस्येति रोमाञ्चितं = पुलकितं, तथा जातः = उत्पन्नः रागः = सम्भोगस्य अभिव्यंजकः अभिलाषः इत्यर्थः यस्मिन् तादृशं, सत् कदम्बस्य नीपस्य पुष्पत्वं = कुसुमभावं कदम्बपुष्पवत्कण्टकितावस्थामित्यर्थः, उपैति—प्राप्नोति ॥४७॥

टिप्पणी—रोमाञ्चितं = जिसके रोंवे खड़े हो गये हों, रोमांच + इतच् । इस श्लोक मे निदर्शना अलङ्कार एवं उपजाति छन्द है । छन्द के लक्षण के लिये देखिये श्लोक ४० की टिप्पणी ॥ ४७ ॥

अर्थः—विदूषक—दासी के वच्चे दुर्दिन ! तुम वड़े अशिष्ट हो जो इस समय श्रीमती (वसन्तसेना) जी को बिजली से डरा रहे हो ।

वर्षशतमस्तु—

अन्वयः—अविरतधारं, दुर्दिनं, वर्षशतम्, अस्तु; शतह्लदा, स्फुरतु; यत्, अहम्, अस्मद्विधदुर्लभया, प्रियया, परिष्वक्तः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थः—अविरतधारं = बिना रुकी धारावाला, दुर्दिनं = दुर्दिन, वर्षशतम् =

अपि च, वयस्य !

धन्यानि तेषां खलु जीवितानि ये कामिनीनां गृहमागतानाम् ।
आर्द्राणि मेघोदकशीतलानि गात्राणि गात्रेषु परिष्वजन्ति ॥ ४९ ॥

सौ वर्ष, अस्तु = होवे; शतह्लदा = बिजली, स्फुरतु = चमके । यत् = क्योंकि, अहम् = मैं, अस्मद्विधदुर्लभया = हमारे जैसे (निर्धनों) के लिये दुर्लभ, प्रियया = प्रिया के द्वारा, परिष्वक्तः = आलिङ्गित किया जा रहा हूँ ॥

अर्थः—चारुदत्त—मित्र ! तुम्हें दुर्दिन को उलाहना नहीं देना चाहिये ।

हमेशा धाराओं से बरसने वाला (यह) यह दुर्दिन सौ वर्ष तक रहे । बिजली चमकती रहे । क्योंकि हमारे जैसे (निर्धनों) के लिये दुर्लभ प्रिया के द्वारा मैं आलिङ्गित किया जा रहा हूँ ॥ ४८ ॥

टीका—अविरताः = विरामरहिताः धाराः = जलधाराः यस्मिन् तादृशं; दुर्दिनं = मेघाच्छन्नः वर्षायुक्तश्च कालः; वर्षशतं = बहुकालव्यापि इत्यर्थः; अस्तु = भवतु, शतह्लदा = विद्युत् ('शतह्लदा···विद्युच्चंचला चपला अपि इत्यमरः); स्फुरतु = प्रकाशिता भवतु; यत् = यस्मात्, अहम् = चारुदत्तः; अस्मद्विधानां =अस्मादृशदरिद्राणां जनानामित्यर्थः, दुर्लभया = दुष्प्रापया, प्रियया = प्रेयस्या, परिष्वक्तः = यथेच्छम् आलिङ्गितः ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—परिष्वक्तः=परिरब्ध, आलिङ्गित या आलिङ्गनबद्ध, परि + √स्वञ्ज + क्त ॥

इस श्लोक के छन्द का नाम है आर्या । लक्षण—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पचंदश साऽऽर्या ॥ ४८ ॥

धन्यानि तेषामिति—

अन्वयः—तेषां, जीवितानि, खलु, धन्यानि, ये, गृहम्, आगतानां, कामिनीनां, मेघोदकशीतलानि, गात्राणि, गात्रेषु, परिष्वजन्ति ॥ ४९ ॥

शब्दार्थः—तेषाम् = उनके, जीवितानि = जीवन, खलु=निश्चय ही, धन्यानि = धन्य हैं, ये = जो लोग, गृहम्=घर में, आगतानाम् = आयी हुयी, कामिनीनां = कामिनियों के, मेघोदकशीतलानि = बादल के जल से ठण्डे, गात्राणि = अङ्गों को, गात्रेषु = अङ्गों में, परिष्वजन्ति = कस कर आलिङ्गित करते हैं ॥

प्रिये वसन्तसेने ?

स्तम्भेषु प्रचलितवेदिसंचयान्तं
शीर्णत्वात्कथमपि धार्यते वितानम् ।
एषा च स्फुटितसुधाद्रवानुलेपा-
त्संक्लिन्ना सलिलभरेण चित्रभित्तिः ॥ ५० ॥

और भी मित्र !

अर्थः—वास्तव में उन्हीं के जीवन धन्य हैं, जो घर में आयी हुई कामिनियों के बादल के जल से ठण्डे हुये गीले अङ्गों का अपने अङ्गों में कसकर आलिङ्गन करते हैं ॥ ४९ ॥

टीका—तेषां=जनानाम्, जीवितानि = जीवनानि, खलु = निश्चयेन, धन्यानि = सफलानि इति भावः, ये = जनाः, गृहम् = भवनं, स्वेच्छया इति शेषः, आगतानां = प्राप्तानां, भूयान् = अधिकः कामः = मदनानुभूतिः यासां ताः तासां कामिनीनां = स्मर-पीडितानां सुन्दरीणां, मेघानां = पयोदानाम् उदकैः = जलैः शीतलानि = शैत्ययुक्तानि, गात्राणि = अङ्गानि, गात्रेषु = स्वाङ्गेषु; परिष्वजन्ति = गाढम् आलिङ्गन्ति ॥ ४९ ॥

टिप्पणी—परिष्वजन्ति = 'ष्वंज्' परिष्वङ्गे, यह धातु आत्मनेपदी है, किन्तु पदविधायक नियमों के अनित्य होने के कारण यहाँ परस्मैपद हो गया है।

इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार एवं इन्द्रवज्रा छन्द है। छन्दका लक्षण—स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः ॥ ४९ ॥

स्तम्भेषु इति—

अन्वयः—प्रचलितवेदिसञ्चयान्तं, वितानम्, शीर्णत्वात्, स्तम्भेषु, कथमपि, धार्यते। एषा, चित्रभित्तिः, च, स्फुटितसुधाद्रवानुलेपात्, सलिलभरेण, संक्लिन्ना, (जाता) ॥ ५० ॥

शब्दार्थः—प्रचलितवेदिसंचयान्तं = हिल रहा है वेदी के समूह में छोर जिसका ऐसा, वितानम् = चँदोवा, शीर्णत्वात् = जर्जरता के कारण, स्तम्भेषु = खम्भों पर, कथमपि = किसी तरह, धार्यते = धारण किया गया है। एषा = यह, चित्रभित्तिः = चित्र बनी हुई भीत, च = भी, स्फुटितसुधाद्रवानुलेपात् = गली हुई चूने की कलई के लिप जाने के कारण, सलिलभरेण = जल की अधिकता अथवा वेग से, संक्लिन्ना = एकदम गीली, (जाता = हो गयी है)।

अर्थः—प्रिये वसन्तसेने !

(ऊर्ध्वमवलोक्य) अये इन्द्रधनुः; प्रिये ! पश्य पश्य

विद्युज्जिह्वेनेदं महेन्द्रचापोच्छ्रितायतभुजेन ।
जलधरविवृद्धहनुना विजृम्भितमिवान्तरिक्षेण ॥५१॥

अर्थः—

(हवा की झोकों से) हिल रहा है वेदी के समूह में (बँधा हुआ) छोर जिसका ऐसा चँदोवा (वितान) जर्जर होने के कारण खम्भों पर बड़ी मुश्किल से ठहरा हुआ है । और यह चित्रित दीवार कहीं-कहीं गली हुई चूने की कलई (सुधा-द्रव) के लिप जाने के कारण जल के वेग से एकदम गीली हो गयी है ॥५०॥

टीका—प्रचलितः = प्रकम्पितः वायुवेगेनेति शेषः वेद्याः = वद्धभूमेः संचये = समूहे, अन्तः = प्रान्तभागः यस्य तादृशं, वितानम्=वस्त्रवेश्म (वितानमुल्लोचो दूष्याद्यं वस्त्रवेश्मनि, इत्यमरः) । जीर्णत्वात् = अतिप्राचीनत्वात्, स्तम्भेषु=स्थूणासु, कथमपि= अतिकठिनतया इत्यर्थः, धार्यते=स्थीयते । वायुवेगेन वितानस्य स्थितिः संशये निक्षिप्ता इति भावः । एषा = पुरोवर्तमाना, चित्रभित्तिः = चित्रैः अलङ्कृतं कुडयञ्च; स्फुटितः= यत्र-तत्र गलितः यः सुधाद्रवः = लिप्ततरलचूर्णः तस्य अनुलेपात् = विलेपनात्, सलिल-भरेण = जलस्य आधिक्येन वेगेन वा; संक्लिन्ना = आर्द्रा जाता, अतः न स्थेयमत्रेति भावः ॥ ५० ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में प्रहर्षिणी छन्द है । छन्दका लक्षण है—त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम् ॥५०॥

विद्युज्जिह्वेन इति—

अन्वयः–विद्युज्जिह्वेन, महेन्द्रचापोच्छ्रितायतभुजेन, जलधरविवृद्धहनुना, अन्तरिक्षेण, विजृम्भितम्, इव ॥५१॥

शब्दार्थः—विद्युज्जिह्वेन = बिजलीरूपी जीभवाले, महेन्द्रचापोच्छ्रितायतभुजेन = इन्द्रधनुषरूपी ऊपर उठी हुई एवं लम्बी भुजावाले, जलधरविवृद्धहनुना = बादलरूपी बढ़ी हुई ठोढ़ी वाले, अन्तरिक्षेण=आकाशके द्वारा, विजृम्भितम् इव = मानो जभाई ली गयी है ॥

अर्थः—(ऊपर की ओर देखकर) अरे ! इन्द्र धनुष ! प्रिये, देखो ! देखो !

बिजली रूपी जिह्वा वाले, इन्द्र धनुप रूपी ऊपर उठी हुई एवं लम्बी भुजावाले, पानी से भरे बादल रूपी बढ़ी हुई ठोढ़ी वाले आकाश ने मानो जँभाई ली है ॥५१॥

टीका—विद्युत् = तडित् एव जिह्वा = रसना यस्य तेन; महेन्द्रस्य चापः = धनुः

तदेहि, अभ्यन्तरमेव प्रविशावः (इत्युत्थाय परिक्रामति)

तालीषु तारं विटपेषु मन्द्रं शिलासु रुक्षं सलिलेषु चण्डम् ।
संगीतवीणा इव ताड्यमानास्तालानुसारेण पतन्ति धाराः ॥५२॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति दुर्दिनो नाम पञ्चमोऽङ्कः ।

('धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम्' इत्यमरः) एव उच्छ्रितौ = उर्ध्वं प्रसारितौ भुजौ = बाहू यस्य तादृशेन; जलधरः = पयोधरः एव विवृद्धः = वृद्धिं प्राप्तः हनुः = चिबुकं ('चिबुकं गण्डकपोलौ तत्परः हनुः' इत्यमरः) यस्य तथोक्तेन; अन्तरिक्षेण = आकाशेन; विजृम्भितमिव = मुखव्यादानमिव विहितमित्यर्थः ॥५१॥

टिप्पणी—'गता नाशं तारा (५।२५), तथा 'पतन्ति चन्द्रव्यसनात् । (५।४४), इत्यादि में ताराओं एवं चन्द्र का वर्णन कर इस श्लोक में इन्द्रधनुष का वर्णन पूर्ण असंगत है क्योंकि इन्द्रधनुष केवल दिन में ही निकलता है ॥

इस श्लोक में रूपक एवं उत्प्रेक्षा अलंकार तथा आर्या छन्द है । छन्दका लक्षण—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥५१॥

तालीषु इति—

अन्वयः—धाराः, तालीषु, तारं, विटपेषु, मन्द्रं, शिलासु, रुक्षं, सलिलेषु, चण्डम्, ताड्यमानाः, संगीतवीणा, इव, तालानुसारेण, पतन्ति ॥५२॥

शब्दार्थः—धाराः = जल की धाराएँ, तालीषु = तालके पत्तों पर, तारं = ऊँचे स्वरसे, विटपेषु = पेड़ोंकी डालियों पर, मन्द्रं = गम्भीर ध्वनिपूर्वक, शिलासु = पत्थर की चट्टानों पर, रुक्षं = कर्कशता के साथ; सलिलेषु = जलमें, चण्डम् = प्रचण्ड रूप से, ताड्यमाना = बजायी जाती हुई, संगीतवीणा = संगीतकी वीणा (की), इव = तरह, तालानुसारेण = ताल के अनुसार, पतन्ति = गिर रही हैं ॥

अर्थः—तो आओ, भीतर ही चलें (ऐसा कह कर उठकर घूमता है)

(पानी की) धाराएँ ताल के पत्तों पर ऊँचे स्वर, पेड़ों की डालियों पर गम्भीर, पत्थर की चट्टानों पर कर्कश तथा जल में प्रचण्ड (ध्वनि) से, बजायी जाती हुई सङ्गीत की वीणा के समान, ताल के अनुसार गिर रही हैं ॥५२॥

(सब निकल जाते हैं)

॥ दुर्दिन नामक पाँचवाँ अङ्क समाप्त ॥

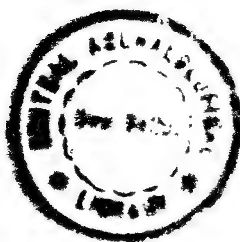
टीका—धाराः = जलधाराः ; तालीषु = तालपत्रेषु; तारम् = उच्चैः ; विटपेषु = वृक्षशाखासु, मन्द्रं = गम्भीरं, शिलासु = प्रस्तरखण्डेषु, रुक्षं = कर्कशं, सलिलेषु = जलेषु, चण्डम् = तीक्ष्णं यथा तथा, ताड्यमाना = वाद्यमाना, संगीतवीणा = संगीततन्त्री इव, तालानुसारेण = यथातालमित्यर्थः, पतन्ति = क्षरन्ति ॥५२॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं उपजाति छन्द है।

छन्द का लक्षण—

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ॥ अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥५२॥

॥ इति दुर्दिनो नाम पञ्चमोऽङ्कः ॥



षष्ठोऽङ्कः

[ततः प्रविशति चेटी ।]

चेटी—कधं अज्ज वि अज्जआ ण विवुज्झदि । भोदु, पविसिअ पडिबोधइस्सं । [कथमद्याप्यार्या न विबुध्यते ! भवतु, प्रविश्य प्रतिबोधयिष्यामि ।]

[इति नाटचेन परिक्रामति ।]

[ततः प्रविशति आच्छादितशरीरा प्रसुप्ता वसन्तसेना ।]

चेटी—(निरूप्य ।) उत्थेदु उत्थेदु अज्जआ, पभादं सवुत्तं । [उत्तिष्ठतूत्तिष्ठत्वार्या । प्रभातं संवृत्तम् ।]

वसन्तसेना—(प्रतिबुध्य ।) कधं रत्ति ज्जेव्व पभादं सवुत्तं ? । [कथं रात्रिरेव प्रभातं संवृत्तम् ?]

चेटी—अम्हाणं एसो पभादो, अज्जआए उण रत्तिज्जेव्व । [अस्माकमेतत् प्रभातम्, आर्यायाः पुना रात्रिरेव ।]

शब्दार्थः—चेटी=चारुदत्त की सेविका । विबुध्यते=सो कर उठ रही हैं । प्रतिबोधयिष्यामि=जगाऊँगी । पुष्पकरण्डकं=यह एक बगीचे का नाम है, इसका अर्थ है फूलों की डलिया, पिटारी । परिष्वज्य=आलिङ्गन करके । निध्यातः=देखे गये (चारुदत्त) । परिजनः=सेवक-सेविका लोग । सन्तप्तव्यम्=दुःखी होना है । गुणनिर्जिता=गुणों से पूरी तरह वश में की गयी । कुपिष्यति=नाराज होंगे ॥

(इसके बाद चेटी प्रवेश करती है)

अर्थः—चेटी—क्या आर्या (वसन्तसेना) अब भी नहीं सोकर उठ रही है ? अच्छा, प्रवेश करके जागाउँगी । (ऐसा कहकर अभिनय से घूमती है ।)

(इसके बाद ढँके हुए शरीरवाली सोई हुई वसन्तसेना प्रवेश करती है)

चेटी—(देखकर) आर्ये ! उठिए, उठिए । सबेरा हो गया ।

वसन्तसेना—(जागकर) क्या रात ही सबेरा हो गयी ? ।

चेटी—हम लोगों का यह सबेरा है । किन्तु आर्या (आप) की तो रात ही है ।

वसन्तसेना—हञ्जे ! कहिं उण तुम्हाणं जूदिअरो ? । [चेटि ! कुतः पुनर्युष्माकं द्यूतकरः ?]

चेटी—अज्जए ! वड्ढमाणअं समादिसिअ, पुप्फकरंडअं जिण्णुज्जाणं गदो अज्जचारुदत्तो । [आर्ये ! वर्धमानकं समादिश्य पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं गत आर्यचारुदत्तः ।]

वसन्तसेना—किं समादिसिअ ? । [किं समादिश्य ?]

चेटी—जोएहि रत्तीए पवहणं, वसन्तसेना गच्छदुत्ति । [योजय रात्रौ प्रवहणम्, वसन्तसेना गच्छत्विति ।]

वसन्तसेना—हञ्जे ! कहिं मए गन्तव्वं ? । [चेटि ! कुत्र मया गन्तव्यम् ?]

चेटी—अज्जए ! जहिं चारुदत्तो । [आर्ये ! यत्र चारुदत्तः ।]

वसन्तसेना—(चेटीं परिष्वज्य ।) हञ्जे सुट्ठु ण णिज्झाइदो रत्तीए, ता अज्ज पच्चक्खं पेक्खिस्सं । हञ्जे ! किं पविट्ठा अहं इह अब्भंतरचदुस्सालअं ? । [चेटि ! सुष्ठु न निध्यातो रात्रौ, तदद्य प्रत्यक्षं प्रेक्षिष्ये । चेटि ! किं प्रविष्टाहमिहाभ्यन्तरचतुःशालकम् ? ।]

वसन्तसेना—चेटी ! तुम लोगों के जुआरी (आर्य चारुदत्त) कहाँ है ? ।

चेटी—आर्ये ! वर्धमानक को आज्ञा देकर आर्य चारुदत्त पुष्पकरण्डक नामक पुराने बगीचे में गये हैं ।

वसन्तसेना—क्या आज्ञा देकर ? ।

चेटी—रात में ही बैलगाड़ी ठीककरो (बहली जोड़लो, जिससे) वसन्तसेना चली जाय ।

वसन्तसेना—चेटि ! मुझे कहाँ जाना होगा ?

चेटी—आर्ये ! जहाँ चारुदत्त हैं ।

वसन्तसेना—(चेटी को अपने शरीर से लिपटा कर) चेटि ! रात में (मैंने चारुदत्त को) ठीक से नहीं देखा था । इसलिए आज आँखभर (अर्थात् भलीभाँति) देखूँगी । चेटि ! क्या मैं यहाँ भीतरी चतुःशाला (चार कमरों वाले खण्ड = अन्तःपुर) में आगई हूँ ?

चेटी—ण केवलं अब्भंतरचदुस्सालअं, सव्वजणस्स वि हिअअं पविट्टा। [न केवलमभ्यन्तरचतुःशालकम्, सर्वजनस्यापि हृदयं प्रविष्टा।]

वसन्तसेना—अवि संतप्पदि चारुदत्तस्स परिअणो ?। [अपि संतप्यते चारुदत्तस्य परिजनः ?।]

चेटी—संतप्पिस्सदि। [संतप्स्यति।]

वसन्तसेना—कदा ?। [कदा ?।]

चेटी—जदो अज्जआ गमिस्सदि। [यदार्या गमिष्यति।]

वसन्तसेना—तदो मए पढमं संतप्पिदव्वं। (सानुनयम्) हञ्जे ! गेण्ह एदं रअणावलिं। मम बहिणीआए अज्जाधूदाए गदुअ समप्पेहि। भणिदव्वं च—'अहं सिरिचारुदत्तस्स गुणणिज्जिदा दासी, तदा तुम्हाणं पि। ता एसा तुह ज्जेव्व कंठाहरणं होदु रअणावली'। [तदा मया प्रथमं संतप्तव्यम्। चेटि ! गृहाणैतां रत्नावलीम्। मम भगिन्या आर्याधूतायै गत्वा समर्पय। वक्तव्यं च—'अहं श्रीचारुदत्तस्य गुणनिर्जिता दासी, तदा युष्माकमपि। तदेषा तवैव कण्ठाभरणं भवतु रत्नावली'।]

चेटी—अज्जए ! कुपिस्सदि चारुदत्तो अज्जाए दाव। [आर्ये ! कुपिष्यति चारुदत्त आर्यायै तावत्।]

चेटी—न केवल भीतरी चतुःशाला में ही। (किन्तु) सभी लोगों के हृदय में भी घुस गई हो।

वसन्तसेना—क्या चारुदत्त का परिवार (मेरे यहाँ आने के कारण) दुःखी है ?

चेटी—दुःखी होगा।

वसन्तसेना—कब ?

चेटी—जब आर्या (आप) जायेंगी।

वसन्तसेना—तब तो मुझेही सबसे पहले दुखी होना है। (विनय के साथ) चेटि ! इस रत्नावली को ले लो। जाकर (इसे) मेरी बहन आर्या धूता (चारुदत्त की स्त्री) को समर्पित कर दो। और कहदो—'मैं गुणों से वश में की गयी श्री चारुदत्त की दासी हूँ, तब आपकी भी दासी ही हूँ। इसलिए यह रत्नावली आपके ही गले का आभूषण होवे।'

चेटी—आर्ये ! तब चारुदत्त आर्या पर नाराज होंगे।

वसन्तसेना—गच्छ; ण कुपिस्सदि। [गच्छ; न कुपिष्यति।]

चेटी—(गृहीत्वा) जं आणवेदि। (इति निष्क्रम्य, पुनः प्रविशति) अज्जए! भणादि अज्जा धूदा—'अज्जउत्तेण तुम्हाणं पसादीकिदा; ण जुत्तं मम एदं गेण्हिदुं। अज्जउत्तो ज्जेव्व मम आहरणविसेसो त्ति जाणादु भोदी'। [यदाज्ञापयति। आर्ये! भणत्यार्या धूता—'आर्यपुत्रेण युष्माकं प्रसादीकृता; न युक्तं ममैतां ग्रहीतुम्। आर्यपुत्र एव ममाभरणविशेष इति जानातु भवती'।]

वसन्तसेना—जाओ, नहीं नाराज होंगे।

टीका—चेटी = चारुदत्तस्य दासी। विबुध्यते = निद्रां त्यजति। प्रतिबोधयिष्यामि = जागरितुं प्रेरयिष्यामि। पुष्पकरण्डकम् = इदम् एकस्य उद्यानस्य नाम, पुष्पाणां = प्रसूनानां, करण्डकं = भाजनं तत्, पुष्पितपादपालङ्कृतमिति भावः। परिष्वज्य = प्रसन्नतायाम् आलिङ्ग्य; अनेन वसन्तसेनायाः अतृप्तकामुकत्वं व्यज्यते। निध्यातः = ध्यानेन निरीक्षितः; चारुदत्तः इति शेषः। अनेन सम्भोगकाले वसन्तसेनायाः सलज्जत्वं सूच्यते। परिजनः = सेवकजनः; वेश्यायाः ममात्र गृहे प्रवेशात् किं चारुदत्तस्य सेवकजनः सेविकावर्गश्च दुःखितः भवति, इति प्रश्नाशयः। सन्तप्तव्यम् = शोचनीयम्। गुणैः = दयादाक्षिण्यादिगुणैः निर्जिता = वशीकृता; अनेन वसन्तसेनायाः परगुणेषु अनुरागप्रवृत्तिः सूचिता भवति। कुपिष्यति = क्रुद्धः भविष्यति॥

टिप्पणी—परिष्वज्य = आलिङ्गन करके, परि + √ष्वञ्ज् + ल्यप्। निध्यातः = ठीक से देखे गये, नि + √ध्यै + क्त। सन्तप्तव्यम् = दुःखी होना, पीडित होना, सम् + √तप् + तव्यत्। निर्जिता = पूरी तरह वश मे की गयी, निर् + √जि + क्त + टाप्॥

शब्दार्थः—प्रसादीकृता = प्रसन्नता के साथ दी गयी। आभरणविशेषः = विशेष अर्थात् उत्तम जेवर। दारकं = बालक को। शकटिकया = गाड़ी से (खिलौने की गाड़ी से)। मृत्तिकाशकटिकया = मिट्टी की गाड़ी से। सौवर्णशकटिकां = सोने की गाड़ी को। सनिर्वेदं = दुःख के साथ। ऋद्धया = धन से, सम्पत्ति से। अनलंकृतशरीरः = आभूषण से रहित शरीर वाला, चन्द्रमुखः = चन्द्रमा जैसा मुँह वाला॥

अर्थः–**चेटी**–(लेकर) जैसी आपकी आज्ञा। (ऐसा कहकर निकल कर फिर प्रवेश करती है) आर्ये! आर्या धूता कह रही हैं—आर्यपुत्र ने प्रसन्न होकर इसे आपको

(ततः प्रविशति दारकं गृहीत्वा रदनिका)

रदनिका—एहि वच्छ ! सअडिआए कोलम्ह । [एहि वत्स ! शकटिकया क्रीडावः ।]

दारकः—(सकरुणम्) रदणिए ! किं मम एदाए मट्टिआसअडिआए ?। तं ज्जेव सोवण्णसअडिअं देहि । [रदनिके ! किं ममैतया मृत्तिकाशकटिकया ?। तामेव सौवर्णशकटिकां देहि ।]

रदनिका—(सनिर्वेदं निःश्वस्य) जाद ! कुदो अम्हाणं सुवण्णववहारो ?। तादस्स पुणो वि रिद्धीए सुवण्णसअडिआए कीलिस्ससि । ता जाव विणोदेमि णं । अज्जआवसंतसेणाए समीवं उवसप्पिस्सं । (उपसृत्य) अज्जए ! पणमामि । [जात ! कुतोऽस्माकं सुवर्णव्यवहारः ?। तातस्य पुनरपि ऋद्धया सुवर्णशकटिकया क्रीडिष्यसि । तद्यावद्विनोदयाम्येनम् । आर्यावसन्तसेनायाः समीपमुपसर्पिष्यामि । आर्ये ! प्रणमामि ।]

वसन्तसेनाः—रदणिए ! साअदं दे; कस्स उण अअं दारओ ?। अणलंकिदसरीरो वि चंदमुहो आणंदेदि मम हिअअं । [रदनिके ! स्वागतं ते; कस्य पुनरयं दारकः ?। अनलंकृतशरीरोऽपि चन्द्रमुख आनन्दयति मम हृदयम् ।]

दिया है, (इसलिए) मेरा लेना ठीक नहीं है । आप यह जानलें कि आर्यपुत्र ही मेरे विशेष जेवर हैं ।'

(उसके बाद बच्चेको लेकर रदनिका प्रवेश करती है)

रदनिका—आओ बेटे ! गाड़ीसे खेलें ।

बच्चा—(करुणा के साथ) रदनिके ! मिट्टी की इस गाड़ी से मुझे क्या ? वही सोने की गाड़ी दो ।

रदनिका—(दुःख के साथ लम्बी साँस लेकर) बेटे ! (आज कल) हमारे यहाँ सोनेका व्यवहार कहाँ (है) ? जब तुम्हारे पिताजी फिर धनी हो जायेंगे तब सोने की गाड़ी से खेलना । तो जबतक इसको बहलाती हूँ । आर्या वसन्तसेना के पास ले चलूँ । (पासमें जाकर) आर्ये ! प्रणाम करती हूँ ।

अर्थः—वसन्तसेना—रदनिके ! तुम्हारा स्वागत है । यह बच्चा किसका है ? आभूषणरहित शरीरवाला भी चन्द्रमा जैसा मुखवाला यह मेरे हृदय को आनन्दित कर रहा है ।

रदनिका—एसो खु अज्जचारुदत्तस्स पुत्तो रोहसेणो णाम । [एष खल्वार्य-चारुदत्तस्य पुत्रो रोहसेनो नाम ।]

वसन्तसेना—(बाहू प्रसार्य) एहि मे पुत्तअ ! आलिंग । (इत्यङ्क उपवेश्य) अणुकिदं अणेण पिदुणो रूवं । [एहि मे पुत्रक ! आलिङ्ग । अनुकृतमनेन पितू रूपम् ।]

रदनिका—ण केवलं रूवं, सीलं पि तक्केमि । एदिणा अज्जचारुदत्तो अत्ताणअं विणोदेदि । [न केवलं रूपम्, शीलमपि तर्कयामि । एतेनार्यचारुदत्त आत्मानं विनोदयति ।]

रदनिका—यह आर्य चारुदत्त का पुत्र है । इसका नाम रोहसेन है ।

टीका—प्रसादीकृता=सानुग्रहं समर्पिता । आभरणविशेषः=श्रेष्ठम् अलङ्करणम्, अत्र भारतीयललनायाः याथार्थः आदर्शः लक्ष्यते । दारकं=बालकम् । शकटिकया = क्षुद्रशकटेन, क्रीडार्थं निर्मितेन शकटेन इत्यर्थः । मृत्तिकाशकटिकया = मृन्निर्मितेन लघुशकटेन । अस्य प्रकारणस्य मृच्छकटिकमिति नाम कर्तुमेव कविनाऽत्र मृत्तिकया निर्मितायाः शकटिकायाः अवतारणं कृतमिति । सौवर्णशकटिकां=सुवर्णमयीं शकटिकाम् । निर्वेदेन = दुःखेन सहितं सनिर्वेदं यथा तथा । ऋद्धया = प्रभूतसम्पत्या । अनलंकृतम्= आभूषणादिशून्यं शरीरं = गात्रं यस्याऽसौ । अनेन चारुदत्तस्य निर्धनतायाः पराकाष्ठा निर्दिश्यते । चन्द्रः = चन्द्रमा इव मुखम् = आननं यस्य असौ, दर्शनीयमुखः इत्यर्थः ॥

टिप्पणी—तद्यावद्विनोदयाम्येनम् । आर्या "वसन्तसेनायाः समीपमुपसर्पिष्यामि" रदनिका के इस कथन के पूर्व "स्वगतम्" पाठ होना चाहिये ॥

शब्दार्थः—अनुकृतम् = नकल किया गया । प्रतिवेशिकगृहपतिदारकस्य = पड़ोसी घरवाले के बच्चे की । अयं = यह बालक, अपि = भी, परसम्पत्त्या = दूसरे की सम्पत्ति से, सन्तप्यते=दुःखी हो रहा है । कृतान्त ! = हे दैव ! पुष्करपत्रपतित— जलबिन्दुसदृशैः = कमलके पत्ते पर गिरी हुई, पानी की बूँदों के समान, पुरुषभाग-धेयैः = पुरुषों के भाग्यों से । अलीकं = झूठ । अलंकृता = जेवरों से सजी हुई । मुग्धेन = भोले-भाले, मुखेन = मुँह से । अपेहि = दूर हटो ॥

अर्थः—वसन्तसेना—(बाहों को फैला कर) आओ मेरे बच्चे ! मेरी शरीर से लिपट जाओ । (गोदी में बैठाकर) इसने पिताके ही रूप की नकलकी है (अर्थात् इसने पूरा पूरा पिता का ही रूप पाया है) ।

रदनिका—न केवल रूप ही । अन्दाज करती हूँ, स्वभाव भी (इसने पिता के समान ही पाया है) । आर्य चारुदत्त इससे अपने को बहलाते हैं ।

वसन्तसेना—अध किंणिमित्तं एसो रोअदि ? । [अथ किंनिमित्तमेष रोदिति ? ।]

रदनिका—एदिणा पडिवेसिअगहवइदारअकेरिआए सुवण्णसअडिआए कीलिदं । तेण अ सा णीदा । तदो उण तं मग्गंतस्स मए इअं मट्टिआसअडिआ कदुअ दिण्णा । तदो भणादि—'रदणिए ! किं मम एदाए मट्टिआसअडिआए ? । तं ज्जेव्व सोवण्णसअडिअं देहि' त्ति । [एतेन प्रतिवेशिकगृहपतिदारकस्य सुवर्णशकटिकया क्रीडितम् । तेन च सा नीता । ततः पुनस्तां याचतो मयेयं मृत्तिकाशकटिका कृत्वा दत्ता । ततो भणति—'रदनिके ! किं ममैतया मृत्तिकाशकटिकया ? । तामेव सौवर्णशकटिकां देहि' इति ।]

वसन्तसेना—हद्धी हद्धी; अअं पि णाम परसंपत्तीए संतप्पदि । भअवं कअंत ! पोक्खरवत्तपडिदजलबिंदुसरिसेहिं कीलसि तुमं पुरिस भाअधेएहिं । (इति सास्रा) जाद ! मा रोद । सुवण्णसअडिआए कीलिस्ससि । [हा धिक् हा धिक्; अयमपि नाम परसम्पत्त्या सन्तप्यते । भगवन्कृतान्त ! पुष्करपत्रपतितजलबिन्दुसदृशैः क्रीडसि त्वं पुरुषभागधेयैः । जात ! मा रुदिहि । सौवर्णशकटिकया क्रीडिष्यसि ।]

दारकः—रदणिए ! का एसा ? । [रदनिके ! कैषा ? ।]

वसन्तसेना—दे पिदुणो गुणणिज्जिदा दासी । [ते पितुर्गुणनिर्जिता दासी ।]

रदनिका—जाद ! अज्जआ दे जणणी भोदि । [जात ! आर्या ते जननी भवति ।]

वसन्तसेना—अच्छा, तो यह क्यों रो रहा है ?

रदनिका—इसने पड़ोसी घर वाले के बच्चे की सोने की गाड़ी से खेला है । वह बच्चा अपनी गाड़ी ले गया । तब फिर उस (सोने की गाड़ी) को माँगने पर मैंने मिट्टी की यह गाड़ी बनाकर दे दी । तभी से यह कह रहा है–'रदनिके ! मुझे इस मिट्टी की गाड़ी से क्या ? वही सोने की गाड़ी दो ।'

वसन्तसेना—हाय ! हाय !! यह भी परायी सम्पत्ति से दुःखी होता है । भगवान् क्रुद्ध दैव ! कमल के पत्ते पर गिरी हुई पानी की बूँदों के समान मनुष्य के भाग्यों से तुम खिलवाड़ करते हो । (ऐसा कह कर आँखों में आँसुओं को भर कर) बेटे ! मत रोओ । सोने की गाड़ी से खेलना ।

बच्चा—रदनिके ! यह कौन है ?

वसन्तसेना—तुम्हारे पिता के गुणों के द्वारा वश में की गयी दासी ।

रदनिका—बेटे । आर्या (वसन्तसेना) आपकी माता होती हैं ।

दारकः—रदणिए ! अलिअं तुमं भणासि; जइ अम्हाणं अज्जआ जणणी, ता कीस अलंकिदा ? । [रदनिके ! अलीकं त्वं भणसि; यद्यस्माकमार्या जननी, तत्किमर्थ—मलंकृता ? ।]

वसन्तसेना—जाद ! मुद्धेण मुहेण अदिकरुणं मंतेसि । (नाट्येनाभरणन्यवतार्य रुदती) एसा दाणिं दे जणणी संवुत्ता; ता गेण्ह एदं अलंकारअं, सोवण्णसअडिअं घडावेहि । [जात ! मुग्धेन मुखेनातिकरुणं मन्त्रयसि । एषेदानीं ते जननी संवृत्ता; तद्गृहाणैतमलंकारम्, सौवर्णशकटिकां कारय ।]

दारकः—अवेहि, ण गेण्हिस्सं, रोदसि तुमं । [अपेहि, न ग्रहिष्यामि, रोदिषि त्वम् ।]

वसन्तसेना—(अश्रूणि प्रमृज्य) जाद ण रोदिस्सं । गच्छ, कील । (अलंकारैर्मृच्छकटिकां पूरयित्वा) जाद ! कारेहि सोवण्णसअडिअं [जात ! न रोदिष्यामि । गच्छ, क्रीड । जात ! कारय सौवर्णशकटिकाम् ।]

बच्चा—रदनिके । तुम झूठ बोल रही हो । यदि हमारी माता हैं, तो किसलिए इतना जेवर पहनी हैं ?

वसन्तसेना—बेटे । भोले-भाले मुँहसे अत्यन्त करुणापूर्वक बोल रहे हो । (अभिनय से जेवरों को उतार कर रोती हुई) लो, यह अब तुम्हारी माता हो गयी । तो इस जेवर को ग्रहण करो । (इससे), सोने की गाड़ी बनवा डालो ।

बच्चा—जाओ नहीं लूँगा । तुम रो रही हो ।

वसन्तसेना—(आँसुओं को पोंछकर) बेटे । रोऊँगी नहीं । जाओ, खेलो । बच्चे ! सोनेकी गाड़ी बनवा लो ।

टीका—अनुकृतम् = प्राप्तम् इति भावः, रूपे पितापुत्रौ सदृशौ इति भावः । पतिवेशिकः = गृहसमीपे निवासकर्ता, स चासौ गृहपतिः = गृहस्वामी तस्य दारकस्य = पुत्रस्य । अयम् = एषः बालकः अपि; परसम्पत्त्या = अन्यस्य धनेन; सन्तप्यते = दुःखितो भवति । कृतान्त ! = दैव ! (कृतान्तो यम-सिद्धान्त-दैवाकुशल कर्मसु' इत्यमरः) । पुष्करपत्रेत्यादि—पुष्करपत्रे = कमलपत्रे पतिताः = वर्तमानाः इत्यर्थः ये जलबिन्दवः = सलिलकणाः तत्सदृशैः = तत्तुल्यैः ; पुरुषाणां = जनानां भागधेयैः = भाग्यैः । अलीकं = मिथ्या । अलंकृता = आभूषणैः सज्जिता । मुग्धेन = मनोहरेण, अनुभवशून्येन मुखेन = आननेन । अपेहि = दूरं गच्छ ॥

(इति दारकमादाय निष्क्रान्ता रदनिका)

(प्रविश्य प्रवहणाधिरूढः)

चेटः—लदणिए लदणिए ! णिवेदेहि अज्जआये वशंतशेणाये—'ओहालिअं पक्ख दुआलए शज्जं पवहणं चिट्ठदि'। [रदनिके रदनिके ! निवेदयार्यायै वसन्तसेनायै—'अपवारितं पक्षद्वारके सज्जं प्रवहणं तिष्ठति'।]

(प्रविश्य)

रदनिका—अज्जए ! एसो वड्ढमाणओ विण्णवेदि—'पक्खदुआरए सज्जं पवहणं' त्ति। [आर्ये ! एप वर्धमानको विज्ञापयति—पक्षद्वारे सज्जं प्रवहणम्' इति।]

वसन्तसेना—हञ्जे ! चिट्ठदु मुहुत्तअं; जाव अहं अत्ताणअं पसाधेमि। [चेटि ! तिष्ठतु मुहूर्तकम्; यावदहमात्मानं प्रसाधयामि।]

रदनिका—(निष्क्रम्य) वड्ढमाणआ ! चिट्ठ मुहुत्तअं; जाव अज्जआ अत्ताणअं पसाधेदि। [वर्धमानक ! तिष्ठ मुहूर्तकम्; यावदार्यात्मानं प्रसाधयति।]

शब्दार्थः—प्रवहणाधिरूढः=गाड़ी पर बैठा हुआ। पक्षद्वारे=बगल के दरवाजे पर, अपवारितं=पर्दों से ढकी हुई, सज्जं=तैयार, प्रवहणं=गाड़ी, तिष्ठति=खड़ी है। प्रसाधयामि=सजा-सँवार रही हूँ। यानास्तरणं=गाड़ी का बिछावन। नासिकारज्जुकटुकौ=नाक में पहनायी गई नाथ के कारण तीखे। गतागतिं=जाने-आने को। निष्क्रान्तः=निकल गया। प्रसाधनम्=सजाने-सँवारने की चीजें, उपनय=लाकर दो॥

(बच्चे को लेकर रदनिका निकल जाती है)

(गाड़ी पर बैठा हुआ प्रवेश करके)

अर्थः—चेट—रदनिके ! रदनिके ! आर्या वसन्तसेना से निवेदन करो—'बगल के दरवाजे (खिड़की) पर पर्दा से ढकी हुई तैयार गाड़ी खड़ी है।'

(प्रवेश करके)

रदनिका—आर्ये ! यह वर्धमानक सूचित करते हैं कि—'बगल के दरवाजे पर तैयार गाड़ी (खड़ी है)।

वसन्तसेना—चेटि। (वह) क्षण भर ठहरे। जब तक मैं अपने को सजा-सँवार लेती हूँ।

रदनिका—(निकलकर) वर्धमानक ! क्षण भर ठहरो। जब तक आर्या अपने को सुसज्जित करती हैं।

चेटः—ही ही भो, मए वि जाणत्थलके विशुमलिदे। ता जाव गेण्हिअ आअच्छामि। एदे णश्शालज्जुकडुआ बइल्ला। भोदु, पवहणेण ज्जेव गदागदिं कलिश्शं। [हीही भोः! मयापि यानास्तरणं विस्मृतम्। तद्यावद्गृहीत्वागच्छामि। एतौ नासिका-रज्जुकटुकौ बलीवर्दौ। भवतु, प्रवहणेनैव गतागतिं करिष्यामि।] (इति निष्क्रान्तश्चेटः)

वसन्तसेना—हञ्जे! उवणेहि मे पसाहणं। अत्ताणअं पसाधइस्सं। [चेटि! उपनय मे प्रसाधनम्। आत्मानं प्रसाधयिष्यामि।] (इति प्रसाधयन्ती स्थिता)

(प्रविश्य प्रवहणाधिरूढः)

स्थावरकश्चेटः—आणत्तम्हि लाअशालअशंठाणेण—'थावलआ! पवहणं गेण्हिअ पुप्फकलंडअं जिण्णुज्जाणं तुलिदं आअच्छेहि, त्ति। भोदु, तहिं ज्जेव गच्छामि। वहध बइल्ला! वहध। (परिक्रम्यावलोक्य च) कधं गामशअलेहिं लुद्धे मग्गे?। किं दाणिं एत्थ कलइश्शं?। (साटोपम्) अले ले, ओशलध ओशलध। (आकर्ण्य) किं भणाध—'एशे कश्शकेलके पवहणे' त्ति?। एशे लाअशालअशंठाणकेलके पवहणे त्ति। ता शिग्घं ओशलध। (अवलोक्य) कधं एशे अवले शहिअं विअ मं पेक्खिअ शहशा ज्जेव जूदपलाइदे

चेट—अरे ताज्जुब! मैं भी गाड़ी का बिछावन (गद्दी) भूल आया। तो जब तक लेकर आता हूँ। नाक में पहनाई गई नाथ के कारण ये दोनों बैल तीखे (तेज) हैं। अच्छा, गाड़ी से ही जाना-आना करूँगा। (ऐसा कहकर चेट निकल जाता है)।

वसन्तसेना—चेटि! सजाने-सँवारने की चीजें लाकर मुझे दो। अपने को सुसज्जित करूँगी। (ऐसा कह कर शृंगार करती हुई स्थित होती है)।

टीका—प्रोह्यते अनेन इति प्रवहणं=कर्णीरथः, कर्णशब्देन स्कन्धः लक्ष्यते, कर्णः=स्कन्धः सोऽस्ति अस्य, वाहकत्वेन स्कन्धवाह्यः इत्यर्थः स चासौ रथश्चेति कर्णीरथः ('कर्णीरथः प्रवहणं डयनम्' इत्यमरः) तत्र अधिरूढः। पक्षस्य=पार्श्वस्य द्वारम् एव द्वारकं तस्मिन्; स्त्रीणां गृहप्रवेशाय बहिर्गन्तुञ्च भवने पार्श्वद्वारस्य व्यवस्था विधीयते। अपवारितम्=आच्छादितं; सज्जं=गन्तुं तत्परमित्यर्थः; प्रवहणं तिष्ठति=स्थितम् अस्ति। प्रसाधयामि=प्रसाधनैः संस्करोमि। यानस्य=प्रवहणस्य आस्तरणं=तूलपूर्णः वस्त्रविशेषः। नासिकायां=घ्राणे रज्वा=गुणेन कटुकौ=तीक्ष्णौ, अति चञ्चलौ इति यावत्। गतागतिं=गमनागमनम्। निष्क्रान्तः=निर्गतः। प्रसाध्यते अनेन इति व्युत्पत्त्या प्रसाधनं=प्रसाधनवस्तु तत्; उपनय=मां देहि इत्यर्थः॥

विअ जूदिअले ओहालिअ अत्ताणअं अण्णदो अवक्कंते ? । ता को उण एशे ? अधवा किं मम एदिणा ? तुलिदलं गमिश्शं । अले ले गामलुआ ! ओशलध ओशलध । (आकर्ण्य) किं भणाध—'मुहुत्तअं चिट्ठ, चक्कपलिवट्टिं देहि' त्ति ? । अले ले, लाअशालअशंठाण-केलके हग्गे शूले चक्कपलिपट्टिं दइश्शं । अधवा एशे एआई तवश्शी । ता एव्वं कलेमि । एदं पवहणं अज्जचालुदत्ताश्श रुक्खवाडिआए पक्खदुआलए थावेमि । (इति प्रवहणं संस्थाप्य) एशे म्हि आअदे । [आज्ञप्तोऽस्मि राजश्यालकसंस्थानेन—'स्थावरक ! प्रवहणं गृहीत्वा पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं त्वरितमागच्छ' इति । भवतु, तत्रैव गच्छामि । वहतं बलीवर्दाः ! वहतम् । कथं ग्रामशकटै रुद्धो मार्गः ? । किमिदानीमत्र करिष्यामि ? अरे रे, अपसरत अपसरत । किं भणथ—'एतत्कस्य प्रवहणम्' इति ? । एतद्राज-श्यालकसंस्थानस्य प्रवहणमिति । तच्छीघ्रमपसरत । कथमेषोऽपरः सभिकमिव मां प्रेक्ष्य सहसैव द्यूतपलायित इव द्यूतकरोऽपवार्यात्मानमन्यतोऽपक्रान्तः ? । तत्कः पुन-

---

शब्दार्थः—द्यूतपलायितः=जुआ से भागा हुआ । अपवार्य=छिपाकर, अपक्रान्तः =भाग गया । चक्रपरिवृत्तिं=पहिये में सहारा को । तपस्वी=बेचारा । नेमिशब्दः =पहिया की हाल, पुट्ठी, का शब्द । दक्षिणाक्षिस्पन्दं=दाहिनी आँख के फड़क को । अनिमित्तं=अनिष्ट को, प्रमार्जयिष्यति=दूर करेगा । भारवत्=बोझिल । प्रतिभासते=मालूम पड़ रही है । अप्रमत्ताः=सावधान । गुल्मस्थानेषु=चौकियों पर । गुप्तिं=कारागार को, भङ्क्त्वा=तोड़कर, गुप्तिपालकं=जेलर को अथवा कारागार के पहरेदार को, व्यापाद्य=मारकर । परिभ्रष्टः=छूटकर, निकल कर, अपक्रामति=भाग रहा है । अपटीक्षेपेण=बिना पर्दा गिरे ही । संभ्रान्तः=घबड़ाया हुआ, एकचरणलग्ननिगडः=एक पैर में पड़ी हुई बेड़ी वाला, अवगुण्ठितः=कपड़े में मुँह छिपाये हुए । संभ्रमः=घबराहट । त्वरितं=शीघ्र ॥

(गाड़ी पर चढ़ा हुआ प्रवेश करके)

अर्थः—राजा के साले संस्थानक के द्वारा मुझे आज्ञा दी गयी है—'स्थावरक ! गाड़ी लेकर पुष्पकरण्डक नामक पुराने बगीचे में जल्द आओ ।' अच्छा, वहीं जाता हूँ । चलो, बैलों ! चलो । (घूमकर और देखकर) क्या गाँव की गाड़ियों से रास्ता रुक गया है ? अब यहाँ क्या करूँ ? (घमण्ड के साथ) अरे रे ! हटो-हटो । (सुनकर) क्या कह रहे हो—'यह किसकी गाड़ी (रथ) है ?' यह राजा के साले संस्थानक की गाड़ी है । तो जल्द (रास्ते से) हटो । (देखकर) जुआ से भागा हुआ जुआरी के समान यह दूसरा (आदमी) जुआ खेलाने वाले (जुआरी के अध्यक्ष) के समान

रेषः ? । अथवा किं ममैतेन ? । त्वरितं गमिष्यामि । अरे रे ग्राम्याः ! अपसरत अपसरत । किं भणथ–'मुहूर्तकं तिष्ठ, चक्रपरिवृत्तिं देहि' इति ? । अरे रे, राजश्यालकसंस्थानस्याहं शूरश्चक्रपरिवृत्तिं दास्यामि । अथवा एष एकाकी तपस्वी । तदेवं करोमि । एतत्प्रवहणमार्यचारुदत्तस्य वृक्षवाटिकायाः पक्षद्वारके स्थापयामि । एषोऽस्म्यागतः ।] (इति निष्क्रान्तः)

चेटी—अज्जए ! णेमिसद्दो विअ सुणीअदि । ता आअदो पवहणो । [आर्ये ! नेमिशब्द इव श्रूयते । तदागतं प्रवहणम् ।]

वसन्तसेना—हञ्जे ! गच्छ तुवरदि मे हिअअं; ता आदेसेहि पक्खदुआलअं । [चेटि ! गच्छ, त्वरयति मे हृदयम्: तदादिश पक्षद्वारम् ।]

चेटी—एदु एदु अज्जआ । [एत्वेत्वार्या ।]

वसन्तसेना—(परिक्रम्य) हञ्जे ! वीसम तुमं । [चेटि ! विश्राम्य त्वम् ।]

चेटी—जं अज्जआ आणवेदि । [यदार्याज्ञापयति ।] (इति निष्क्रान्ता)

वसन्तसेना—(दक्षिणाक्षिस्पन्दं सूचयित्वा, प्रवहणमधिरुह्य च) किं ण्णेदं फुरदि दाहिणं लोअणं ? अथवा चारुदत्तस्स ज्जेव दंसणं अणिमित्तं पमज्जइस्सदि ।

मुझे देखकर अपने को छिपाकर जल्दी से ही दूसरी ओर भाग गया ? तो फिर यह कौन है ? अथवा मुझको इससे क्या ? जल्द चलूँ । अरे रे गाँव के आदमियों ! हटो' हटो । (सुनकर) क्या कह रहे हो—'क्षण भर ठहरो । जरा पहिये में सहारा लगादो ।' अरे ! राजा के साले संस्थानक का शूर (सेवक) मैं पहिये में सहारा लगाऊँगा ? । अथवा यह बेचारा अकेला है । तो ऐसा करता हूँ (अर्थात् सहारा लगा देता हूँ) । इस गाड़ी को आर्य चारुदत्त को फूलवाड़ी (वृक्षवाटिका) की खिड़की पर खड़ी कर देता हूँ । (गाड़ी खड़ी करके) यह मैं आ ही गया । (निकल जाता है) ।

चेटी—गाड़ी की हाल (चक्का के छोर) का शब्द सुनायी पड़ रहा है । इसलिये (मालूम होता है कि) गाड़ी आ गयी है ।

वसन्तसेना—चेटि ! चलो । मेरा हृदय उतावला हो रहा है । अतः खिड़की (पक्षद्वार का रास्ता) वतलाओ ।

चेटी—आर्ये ! आइये, आइये ।

वसन्तसेना—(घूमकर) चेटि ! तुम आराम करो ।

चेटी—जो आर्या आज्ञा देती हैं । (निकल जाती है)

वसन्तसेना—(दाहिनी आँख का फड़कना सूचित करके और रथ पर

[किं न्विदं स्फुरति दक्षिणं लोचनम् ? अथवा चारुदत्तस्यैव दर्शनमनिमित्तं प्रमार्जयिष्यति ।]

(प्रविश्य)

स्थावरकश्चेटः—ओशालिदा मए शअडा । ता जाव गच्छामि । (इति नाटचेनाधिरुह्य चालयित्वा, स्वगतम्) भालिके पवहणे । अधवा चक्कपलिवट्टिआए पलिश्शंतश्श भालिके पवहणे पडिभाशेदि । भोदु, गमिश्शं । जाध गोणा ! जाध । [अपसारिता मया शकटाः । तद्यावद्गच्छामि । भारवत्प्रवहणम् । अथवा चक्रपरिवर्तनेन परिश्रान्तस्य भारवत्प्रवहणं प्रतिभासते । भवतु, गमिष्यामि । यातं गावौ ! यातम् ।]

(नेपथ्ये)

अरे रे दोवारिआ ! अप्पमत्ता सएसु सएसु गुम्मट्ठाणेसु होध । एसो अज्ज गोवालदारओ गुत्तिअं भंजिअ गुत्तिवालअं वावादिअ बंधणं भेदिअ परिब्भट्टो अवक्कमदि, ता गेण्हध गेण्हध । [अरे रे दौवारिकाः ! अप्रमत्ताः स्वेषु स्वेषु गुल्मस्थानेषु भवत । एषोऽद्य गोपालदारको गुप्तिं भङ्क्त्वा गुप्तिपालकं व्यापाद्य बन्धनं भित्वा परिभ्रष्टोऽपक्रामति, तद्गृह्णीत गृह्णीत ।]

(प्रविश्यापटीक्षेपेण सभ्रान्त एकचरणलग्ननिगडोऽवगुण्ठित आर्यकः परिक्रामति)

चढ़कर) क्यों यह दाहिनी आँख फड़क रही है ? अथवा चारुदत्त का दर्शन ही अनिष्ट को दूर करेगा ।

(प्रवेश करके)

स्थावरक चेट—मैंने गाड़ियों को हटा दिया है । इसलिये अब जाता हूँ । (ऐसा कहकर अभिनय के साथ गाड़ी पर चढ़कर, चलाकर, अपने आप) गाड़ी बोझिल (मालूम पड़ती है) । अथवा पहिये में जोर लगाने के कारण थके हुए मुझको गाड़ी बोझिल सी लग रही है । अच्छा, चलूँगा । चलो, बैलों ! चलो ।

(पर्दे के पीछे)

अरे द्वारपालों ! अपनी—अपनी चौकियों पर सावधान हो जाओ । यह अहीर का लड़का कारागार को तोड़कर, कारागार के रखवाले को मारकर, हथकड़ी को तोड़ कर छूटा हुआ भागा जा रहा है । अतः पकड़ो ! पकड़ो !

(बिना पर्दा गिरे ही प्रवश करके घबड़ाया हुआ एक पैर में पड़ी हुई बेड़ी वाला कपड़े से मुंह छिपाये हुए आर्यक घूमता है)

चेटः—(स्वगतम्) महंते णअलीए शंभमे उप्पण्णे । ता तुलिदं तुलिदं गमिश्शं । [महान्नगर्यां सम्भ्रम उत्पन्नः । तत्त्वरितं त्वरितं गमिष्यामि ।]

(इति निष्क्रान्तः)

आर्यकः—

हित्वाऽहं नरपतिबन्धनापदेश-
व्यापत्तिव्यसनमहार्णवं महान्तम् ।
पादाग्रस्थितनिगडैकपाशकर्षी
प्रभ्रष्टो गज इव बन्धनाद्भ्रमामि ॥ १ ॥

चेट—(अपने आप) नगरी में बहुत अधिक घबड़ाहट पैदा हो गई है। इसलिये जल्दी, जल्दी चलूँगा ।

टीका—द्यूतात्=पणात् ('द्यूतोऽस्त्रियामक्षवती कैतवं पण इत्यपि' इत्यमरः) पलायितः=पलाय्य निर्गतः । अपवार्य=आच्छाद्य, अपक्रान्तः=पलायितः । चक्रे= रथाङ्गे ('चक्रं रथाङ्गम्, इत्यमरः) परिवृत्ति=परिवर्तनं, गन्तुं प्रेरणमिति यावत् । तपस्वी=वराकः, असहायः । नयति रथम् इति नेमिः तस्याः नेमेः=चक्रान्तस्य ('चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः' इत्यमरः) शब्दः=ध्वनिः । दक्षिणं=वामेतरत् यत् अक्षि= नेत्रं तस्य स्पन्दं= स्फुरणम् । अनिमित्तम्=अनिष्टं दुर्दैवं वा; प्रमार्जयिष्यति= नाशयिष्यति । भारवत्=सभारम् । प्रतिभासते=परिज्ञायते । अप्रमत्ताः=सावधानाः । गुल्मस्य=सेनायाः स्थानेषु=रक्षणस्थलेषु, नगरे समग्रे राज्ये च रक्षार्थं स्थाने स्थाने सैनिकानां स्वल्पः विशालः वा समूहः नियुज्यते । यत्र सः नियुज्यते तत् गुल्मस्थानं परिभाष्यते । गुप्तिं=कारागृहं, भङ्क्त्वा गुप्तिपालकं=कारागृहरक्षकं; व्यापाद्य= हत्वा । परिभ्रष्टः=बन्धनच्युतः; अपक्रामति=अपगच्छति । अपटीक्षेपेण=पटपरिवर्तनम् अन्तरेणैव, तदुक्तं साहित्यदर्पणे—पटीक्षेपो न कर्तव्यः आर्त्तराजप्रवेशने । सम्भ्रान्तः=भयविह्वलः; एकस्मिन् चरणे=पादाग्रे लग्नः=बद्धः निगडः=बन्धनं यस्य तथाभूतः; अवगुण्ठितः=वस्त्राच्छादितमुखः । संभ्रमः=भयोत्पन्नः गमनवेगः । त्वरितं=शीघ्रम् ॥

टिप्पणी—गुल्मस्थानेषु=चौकियों पर, रक्षास्थानों पर; गुल्म=सेना की टुकड़ी, उसका स्थान । नगर एवं देहात की रक्षा के लिये ऐसी चौकियाँ यत्र-तत्र स्थापित की गयी थीं ॥

हित्वाहम् इति—

भोः, अहं खलु सिद्धादेशजनितपरित्रासेन राज्ञा पालकेन घोषादानीय विशसने गूढागारे बन्धनेन बद्धः। तस्माच्च प्रियसुहृच्छर्विलकप्रसादेन बन्धनात्परिभ्रष्टोऽस्मि। (अश्रूणि विसृज्य)

अन्वयः—महान्तम्, नरपतिबन्धनापदेशव्यापत्तिव्यसनमहार्णवं, हित्वा, पादाग्रस्थितनिगडैकपाशकर्षी, अहं, बन्धनात्, प्रभ्रष्टः, गजः, इव, भ्रमामि ॥ १ ॥

शब्दार्थः—महान्तम् = बहुत बड़े, नरपतिबन्धनापदेशव्यापत्तिव्यसनमहार्णवं = राजा की कैद के बहाने से होने वाली बहुत बड़ी आपत्ति रूप संकट के सागर को, हित्वा = पार कर के, पादाग्रस्थितनिगडैकपाशकर्षी = पैर के निचले हिस्से में लगी बेड़ी रूप एक पाश को खींचने वाला, अहं = मैं; बन्धनात् = बन्धन से, प्रभ्रष्टः = छूटे हुए, गजः इव = हाथी के समान, भ्रमामि = घूम रहा हूँ ॥

(ऐसा कहकर निकल जाता है)

अर्थः—आर्यक—राजा की कैद के बहाने से होने वाली बहुत बड़े आपत्ति रूप संकट के विशाल महासागर को पार करके, पैर के निचले हिस्से में लगी बेड़ी रूप एक पाश को खींचने वाला मैं, बन्धन से छूटे हुए हाथी के समान, घूम रहा हूँ ॥१॥

टीका—महान्तम् = दुस्तरम् इत्यर्थः; नरपतेः = राज्ञः पालकस्य बन्धनं = कारागारावरोधः तदेव व्यपदेशः = व्याजः तेन या व्यापत्तिः, विशाला आपत्तिः ताडनवधादिविपत्तिः तद्रूपं यत् व्यसनं = कष्टं सङ्कटमित्यर्थः तदेव महार्णवः = विशालसागरः तं; हित्वा = कथंचित् परित्यज्य; पादाग्रे = चरणाग्रे स्थितः = संलग्नः यः निगडः = शृङ्खला सः एव एकः = केवलः पाशः = अवरोधकः तं कर्षति इति तथोक्तः; अहम् = आर्यकः; बन्धनात् = शृङ्खलायाः; प्रभ्रष्टः = च्युतः, गजः = हस्ती इव; भ्रमामि = चलामि ॥ १ ॥

टिप्पणी—अपदेशः = बहाना, व्यापत्तिः = बहुत बड़ी आपत्ति, व्यसनं = सङ्कट, दुःख। निगडः = बेड़ी, पाशः = जाल ॥

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं प्रहर्षिणी छन्द है।

छन्द का लक्षण—म्नाशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम् ॥ १ ॥

शब्दार्थः—सिद्धादेशजनितपरित्रासेन = सिद्ध (महात्मा) की भविष्यवाणी से डरे हुए, पालकेन = पालक नाम वाले, राज्ञा = राजा के द्वारा, घोषात् = अहीरों की बस्ती से, आनीय = लाकर, विशसने = मृत्युरूप अर्थात् मार डालने वाले; गूढ़ागारे =

भाग्यानि मे यदि तदा मम कोऽपराधो
यद्वन्यनाग इव संयमितोऽस्मि तेन ।
दैवी च सिद्धिरपि लङ्घयितुं न शक्या,
गम्यो नृपो बलवता सह को विरोधः ? ॥ २ ॥

गुप्त कारागार में। प्रियसुहृच्छर्विलकप्रसादेन = प्रिय मित्र शर्विलक की कृपा से, प्रभ्रष्टः=भाग निकला, अस्मि=हूँ ॥

अर्थः—अरे ! सिद्ध (महात्मा) की भविष्यवाणी से डरे हुए राजा पालक के द्वारामुझे अहीरों की बस्ती (मड़ई) से मँगवाकर मार डालने वाले गुप्त कारागार में बेड़ियों से एवं हथकड़ियों से जकड़ दिया गया था। प्रिय मित्र शर्विलक की कृपा से उस कारागार से छूट गया हूँ। (आँसू बहाकर)

टीका—सिद्धस्य = प्राप्तसिद्धेः महात्मनः आदेशेन = पूर्वनिर्देशनेन जनितः= प्रादुर्भूतः परित्रासः=भयं यस्य तादृशेन, पालकेन = पालकेति राज्ञः नाम। राज्ञा =पृथिवीपालेन; घोषात्=आभीरपल्ल्याः; ('घोशः आभीरपल्ली स्यात्' इत्यमरः) आनीय = गृहीत्वा इत्यर्थः; विशसने=विनाशके मृत्युरूपे वा ('निर्वापणं विशसनं मारणं प्रतिघातनम्' इत्यमरः); गूढागारे = गुप्तकारागारे। प्रियसुहृदः=प्रियमित्रस्य शर्विलकस्य=तृतीयाङ्के वर्णितस्य चारुदत्तगृहे सन्धिकर्तुः; प्रसादेन=कृपया; प्रभ्रष्टः= पलाय्य निर्गतः अस्मि ॥

भाग्यानि मे इति—

अन्वयः—यदि, मे, भाग्यानि, तदा, मम, कः, अपराधः; यत्, तेन, वन्यनागः, इव, संयमितः, अस्मि; दैवी, सिद्धिः, अपि, च, लङ्घयितुं, न, शक्या, (तथापि); नृपः, गम्यः, बलवता, सह, कः, विरोधः ? ॥ २ ॥

शब्दार्थः—यदि = यदि, मे=मेरे, भाग्यानि=भाग्य (हैं), तदा=तब, मम= मेरा, कः=कौन, अपराधः=दोष ? यत्=जिससे, तेन=उस (राजा) के द्वारा, वन्यनागः=जङ्गली हाथी, इव=जैसा, संयमितः=बन्धन में डाल दिया गया, अस्मि =हूँ; दैवी=भाग्यवश होने वाली, सिद्धिः=राज्य की प्राप्ति, अपि=भी, लङ्घयितु =टाली जाने के लिये, न = नहीं, शक्या = योग्य है, (तथापि=तो भी) नृपः= राजा, गम्यः=सेवा करने के योग्य (है), बलवता=बलवान् के साथ, कः = कौन, विरोध ? ॥

तत्कुत्र गच्छामि मन्दभाग्यः ? । (विलोक्य) इदं कस्यापि साधोरनावृतपक्षद्वारं गेहम् ।

अर्थः—यदि (राज्य भोगने के लिये) मेरे भाग्य हैं, तो उसमें मेरा कौन सा दोष ? जिससे उस (राजा पालक) के द्वारा मैं, जंगली हाथी के समान, बन्धन में डाल दिया गया था। भाग्य वश होनेवाली राज्य की)सिद्धि (प्राप्ति) भी टाली नहीं जा सकती। (फिर भी) राजा (सबके लिये) सेवा करने के योग्य है। (क्योंकि) बलशाली के साथ क्या विरोध ? (अर्थात—भाय में यदि राज्य होगा तो वहअवश्य मिलेगा। किन्तु इस समय बलशाली राजा से विरोध करके कष्ट उठाना ठीक नहीं है। उससे मेलकर लेना चाहिए) ॥२॥

टीका—यदि = चेत्, मे = मम आर्यकस्य, भाग्यानि=राज्यभोगप्रदानि पूर्वकर्माणि; तदा = तर्हि; मम = मे, कः = कीदृशः; अपराधः = दोषः ? अर्थात् न कोऽपि मम दोषः। यत् = यस्मात्; तेन = राज्ञा पालकेन; वने = अरण्ये भवः वन्यः = वनोत्पन्नः इत्यर्थः स चासौ गजः = हस्ती, इव; संयमितः=निगडितः, बद्धः; अस्मि = वर्ते। दैवी = भाग्याधीना; सिद्धिः = राज्यलाभः, अपि च, लङ्घयितुम् = अतिक्रामयितुं; न शक्या = न योग्या; भाग्यं यत् ललाटे लिखितं तत् मार्जितुं न शक्यते इत्यर्थः। तथापि नृपः = राजा; गम्यः = आश्रयणीयः भवतीति शेषः; यतः बलवता = बलशालिना जनेन; सह = सार्कं; कः = कीदृशः; विरोधः = विवादः; निर्बलस्येति शेषः। समानशीलव्यसनैः सह एव मैत्री शत्रुता च योग्येति भावः ॥ २ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा एवं अर्थान्तरन्यास अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है। छन्द का लक्षण—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ २ ॥

शब्दार्थः—मन्दभाग्यः = अभागा। साधोः = सज्जन का, अनावृतपक्षद्वारं = खुली हुई खिड़की वाला, गेहं = घर ॥

अर्थः—तो अभागा मैं कहाँ जाऊँ ! (देख कर) यह किसी सज्जन का खुली हुई खिड़की (बगल का दरवाजा) वाला घर है।

टीका—मन्दं, = क्षीणं भाग्यं = पूर्वतपसा कृतं कर्म यस्य असौ मन्दभाग्यः = भाग्यविरहितः इत्यर्थः। साधोः = सज्जनस्य; अनावृतम्=आनाच्छादितम् उद्घारितम् इत्यर्थः पक्षद्वारं = पार्श्वद्वारं यस्य तत्; गेहं = गृहम् अस्ति इति शेषः ॥

इदं गृहं भिन्नमदत्तदण्डो विशीर्णसंधिश्च महाकपाटः ।
ध्रुवं कुटुम्बी व्यसनाभिभूतां दशां प्रपन्नो मम तुल्यभाग्यः ॥३॥

तदत्र तावत्प्रविश्य तिष्ठामि ।

इदं गृहम् इति—

अन्वयः—इदं, गृहं, भिन्नम्, अदत्तदण्डः, विशीर्णसन्धिः, महाकपाटः, च, (अस्ति, अतः, ज्ञायते); मम, तुल्यभाग्यः, कुटुम्बी, ध्रुवं, व्यसनाभिभूतां, दशां, प्रपन्नः, (अस्ति) ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—इदं = यह, गृहं = घर, भिन्नम् = फूटा हुआ (है), अदत्तदण्डः = बिना वेड़ा दी हुई, विशीर्णसन्धिः = फटे हुए जोड़ स्थान वाली, महाकपाटः = विशाल किवाड़, (अस्ति = है, अतः = इसलिये, ज्ञायते = मालूम पड़ता है) मम = मेरे, तुल्यभाग्यः = जैसा भाग्य वाला, कुटुम्बी = घर का मालिक, ध्रुवं = निश्चय ही, व्यसनाभिभूतां = दुःखों से भरी हुई, दशां = हालत को, प्रपन्नः = प्राप्त हुआ (अस्ति = है)।

अर्थः—यह घर फूटा हुआ है। बिना दण्ड (बेड़ा, व्यौड़ा, अर्गला, भीतर की सिकड़ी) लगायी हुई, फटे हुए जोड़-स्थान वाली, किवाड़ है। (अतः मालूम पड़ता है कि)मेरे जैसा (मन्द) भाग्यवाला यह घर का मालिक अवश्य ही दुःखों से भरी हालत को प्राप्त हो गया है ॥३॥

इसलिए इसी में घुसकर बैठता हूँ।

टीका—इदं = पुरोवर्ति; गृहं = भवनं; भिन्नम् = यत्र तत्र स्फुटितम्। न दत्तः = संलग्नः दण्डः = अर्गला, यस्मिन् तादृशः; कपाटस्य उद्घाटितत्वात् गृहे धनशून्यता ज्ञायते इति भावः; विशीर्णः = जीर्णः सन्धि=फलकानां संयोजनं यस्य तादृशश्च अस्तीति शेषः; अतः ज्ञायते; मम तुल्यं = सदृशं भाग्यं यस्य सः; कुटुम्बी = गृहस्वामी; ध्रुवम् = अवश्यं; व्यसनेन = विपत्त्या अभिभूताम् = आक्रान्तां; दशाम् = अवस्थां; प्रपन्नः = प्राप्तः अस्तीति शेषः ॥ ३ ॥

टिप्पणी—भिन्नम् = टूटा हुआ, फटा हुआ, √भिद् + क्त, तस्य नः; विशीर्णः = छिन्न-भिन्न, वि + √शॄ + क्त। प्रपन्नः = युक्त, पहुँचा हुआ, प्र + √पद् + क्त ॥

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं उपेन्द्रवज्रा छन्द है। छन्द का लक्षण—उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ॥ ३ ॥

(नेपथ्ये)

जाध गोणा ! जाध । [यातं गावौ, ! यातम् ।]

आर्यकः—(आकर्ण्य) अये, प्रवहणमित एवाभिवर्तते ।

भवेद्गोष्ठीयानं न च विषमशीलैरधिगतं
वधूसंयानं वा तदभिगमनोपस्थितमिदम् ।
बहिर्नेतव्यं वा प्रवरजनयोग्यं विधिवशा-
द्विविक्तत्वाच्छून्यं मम खलु भवेद्दैवविहितम् ॥४॥

भवेद्गोष्ठीयानमिति—

अन्वयः—इदम्, विषमशीलैः, अधिगतं, गोष्ठीयानं, न, च, भवेत्; वा, वधूसंयानं, (न, भवेत्) ; (यत्) तदभिगमनोपस्थितम् (अस्ति); वा; मम, विधिवशात्, शून्यं, बहिः; नेतव्यं, प्रवरजनयोग्यं, (न भवेत्), विविक्तत्वात्, खलु, (मम), दैवविहितम्, भवेत् ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—इदम् = यह (गाड़ी), विषमशीलैः = खराब आचरणवालों के द्वारा अधिगतं = चढ़ी गयी, गोष्ठीयानं = उत्सव अथवा सभा में जानेवाली सवारी, न भवेत् = न हो ? वा = अथवा, वधूसंयानं = दुलहिन की सवारी, (न भवेत् = न हो ?) (यत् = जो) तदभिगमनोपस्थितम् = उसे ले जाने के लिये आयी हुई (अस्ति = है); वा = अथवा, मम = मेरे, विधिवशात् = भाग्य के कारण; शून्यं = सूनी, बहिः = बाहर, नेतव्यं = ले जानेवाली, प्रवरजनयोग्यं = बड़े लोगों के चढ़ने के लायक, (न भवेत् = न हो ?), (अथवा) विविक्तत्वात् = निर्जन होने के कारण, खलु = निश्चय ही, (मम = मेरे) दैवविहितम् = भाग्य के द्वारा भेजी गयी, भवेत् = हो ? ॥

(पर्दे के पीछे)

बढ़े चलो बैलों ! बढ़े चलो ।

अर्थः—आर्यक—(सुनकर) अरे, गाड़ी इधर ही आ रही है ।

यह गाड़ी (रथ) खराब आचरणवाले आदमियों के द्वारा चढ़ी गयी किसी उत्सव में जाने वाली सवारी न हो अथवा यह किसी दुलहिन की सवारी न हो जो उसे ले जाने के लिये आयी है ? अथवा (मेरे) भाग्य के कारण सूनी (अर्थात् किसी के भी द्वारा न चढ़ी गयी), बाहर ले जानेवाली, बड़े लोगों के चढ़ने के लायक न हो (अर्थात् किसी बडे आदमी की गाड़ी न हो) ? अथवा निर्जन (नौकर आदि से हीन) होने के कारण खाली (मालूम पड़ने वाली) यह गाड़ी निश्चय ही मेरे भाग्य के द्वारा न भेजी गयी हो ? ॥४॥

(ततः प्रवहणेन सह प्रविश्य)

वर्धमानकश्चेटः—हीमाणहे, आणीदे मए जाणत्थलके। लदणिए! णिवेदेहि अज्जआए वशंतशेणाए—'अवत्थिदे शज्जे पवहणे अहिलुहिअ पुप्फकलंडअं जिण्णुज्जाणं गच्छदु अज्जआ'। [आश्चर्यम्, आनीतं मया यानारतरणम्। रदनिके! निवेदयार्यायै वसन्तसेनायै—'अवस्थितं सज्जं प्रवहणमधिरुह्य पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं गच्छत्वार्या'।]

आर्यकः—(आकर्ण्य) गणिकाप्रवहणमिदम्। बहिर्यानं च। भवतु, अधिरोहामि (इति स्वैरमुपसर्पति)

टीका—इदम् = पुरोदृश्यमानं प्रवहणं; विषयमशीलैः = भ्रष्टचरित्रैः; अधिगतम् = अधिष्ठितं; गोष्ठी = विद्वत्परिषत् सभा वा तत्र गमनार्थं यानं = प्रवहणं; न च भवेत् = न च स्यात्; वा = अथवा; वध्वाः = नूतनविवाहितायाः स्त्रियः संयानं = प्रवहणं; न भवेत्, यत्; तस्याः = वध्वाः अभिगमनाय = गन्तुमित्यर्थः, उपस्थितम् = आगतम्, अस्ति; वा = अथवा; मम = आर्यकस्य; विधिवशात् = भाग्यवशात्; शून्यं = रिक्तं; बहिः = बाह्यप्रदेशे; नेतव्यं = नेतु योग्यं; प्रवरजनानां = श्रेष्ठजनानां योग्यम्—अधिरोहणोचितं; न भवेत्? अथवा, विविक्तत्वात् = निर्जनत्वात्, परिजनादिरहितत्वादिति-भावः; खलु = निश्चितं, मम दैवेन = पूर्वपुण्येन विहितं = प्रापितमित्यर्थः; भवेत् = स्यात्। ॥ ४ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में सन्देह नामक अलङ्कार तथा शिखरिणी छन्द है। छन्द का लक्षण—

रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी ॥ ४ ॥

(उसके बाद गाड़ी के साथ प्रवेश करके)

अर्थः— वर्धमानक चेट—आश्चर्य! मैं गाड़ी की बिछावन (बैठने की गद्दी) ले आया। रदनिके! आर्या वसन्तसेना से निवेदन करो—"तैयार गाड़ी खड़ी है, उस पर चढ कर आप पुष्पकरण्डक नामक पुराने बगीचे में जाय।"

शब्दार्थः—आकर्ण्य = सुनकर। गणिकाप्रवहणम् = वेश्या की गाड़ी। बहिर्यानं बाहरजाने वाली। स्वैरम् = धीरे से। नूपुरशब्दः = पायल की झंकार? पृष्ठतः = पीछे की ओर से। पादोत्फालचालितानां—पैरों के उठाने से हिलने वाले। विश्रान्तः = शान्त हो गया। भाराक्रान्तं—बोझिल ॥

अर्थः—**आर्यक**—(सुनकर) यह वेश्या की सवारी है। और बाहर जानेवाली है। अच्छा, चढ़ता हूँ। (ऐसा कह कर धीरे से चढ़ता है)।

चेटः—(श्रुत्वा) कधं णेउलशद्दे ? । ता आअदा खु अज्जआ । अज्जए ! इमे णश्श.कडुआ बइल्ला । ता पिट्ठदो ज्जेव आलुहदु अज्जआ । [कथं नूपुरशब्दः ? । तदागता खल्वार्या । आर्ये ! इमौ नासिकारज्जुकटुकौ बलीवर्दौ । तत्पृष्ठत एवारोहत्वार्या ।]

(आर्यकस्तथा करोति)

चेटः—पादुप्फालचालिदाणं णेउलाणं वीशंतो शद्दो, भलक्कंते अ पवहणे । तथा तक्केमि शंपदं अज्जआए आलूढाए होदव्वं; ता गच्छामि । जाध गोणा ! जाध । [पादोत्फालचालितानां नूपुराणां विश्रान्तः शब्दः, भाराक्रान्तं च प्रवहणम् । तथा तर्कयामि सांप्रतमार्ययारूढया भवितव्यम्; तद्गच्छामि । यातं गावौ ! यातम् ।] (इति परिक्रामति)

(प्रविश्य)

वीरकः—अरे रे, अरे जअ-जअमाण-चंदणअ-मंगल-पुल्लभद्दप्पमुहा !

किं अच्छध वीसद्धा जो सो गोवालदारओ बद्धो ।
भेत्तूण समं वच्चइ णरवइहिअअं अ बंधणं चावि ॥ ५ ॥

अले पुरत्थिमे पदोलीदुआरे चिट्ठ तुमं । तुमं पि पच्छिमे, तुमं पि दक्खिणे, तुमं पि उत्तरे । जो वि एसो पाआरखंडो, एदं अहिरुहिअ चन्दणेण समं गदुअ अवलोएमि । एहि चन्दणअ ! एहि, इदो दाव । [अरे रे, अये जय-जयमान-चन्दनक-मङ्गल-पुष्पभद्र-प्रमुखाः !

अर्थः—चेट—(सुनकर) क्या नूपुर (पायल) का शब्द ? तो निश्चय ही आर्या (वसन्तसेना) आ गयीं । आर्ये ! ये बैल नाक में पहनायी गयी रस्सी के कारण तीखे (इधर-उधर भटकनेवाले) हैं । इसलिए आप पीछे से ही चढ़ें ।

(आर्यक वैसा ही करता है)

चेट—पैरों के उठाने से हिलनेवाले नूपुरों की झङ्कार बन्द हो गयी है । गाड़ी भी बोझिल हो गयी है । इससे अन्दाज करता हूँ कि अब आर्या (वसन्तसेना) चढ़ चुकी होगीं । तो अब चलता हूँ । चलो बैलों ! चलो (ऐसा कह कर घूमता है)।

टीका—आकर्ण्य=श्रुत्वा । गणिकायाः=वेश्यायाः प्रवहणम्=यानम् । बहिः=बाह्यदेशे यानं=गमनम् अस्य इति बहिर्यानम् । स्वैरम्=मन्दम् । नूपुराणां शब्दः नूपुरशब्दः=नूपुरध्वनिः ? पृष्ठतः=यानस्य पृष्ठभागतः । पादयोः=चरणयोः उत्फालेन=ऊर्ध्वं क्षेपणेन चालितानां=प्रेरितानाम् । विश्रान्तः=शान्तः । भारेण=आचितेन ('शाकटो भार आचितः' इत्यमरः) आक्रान्तम्=अभिभूतमित्यर्थः ॥

किं स्थ विश्रब्धा यः स गोपालदारको बद्धः।
भित्त्वा समं व्रजति नरपतिहृदयं च बन्धनं चापि ॥

अरे, पुरस्तात्प्रतोलीद्वारे तिष्ठ त्वम्, त्वमपि पश्चिमे, त्वमपि दक्षिणे, त्वमप्युत्तरे। योऽप्येष प्राकारखण्डः, एनमधिरुह्य चन्दनेन समं गत्वावलोकयामि। एहि चन्दनक! एहि। इतस्तावत्।]

किं स्थ विश्रब्धाः इति—

अन्वयः—विश्रब्धाः, किं, स्थ, यः, गोपालदारकः, रुद्धः, सः, नरपतिहृदयं, च, बन्धनम्, अपि, समं, भित्त्वा, व्रजति ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—विश्रब्धाः = निश्चिन्त, किं = क्यों, स्थ = हो? यः = जो, गोपालदाकः = अहीर का लड़का, रुद्धः = बन्दी था, सः = वह, नरपतिहृदयं = राजा के हृदय को, च = और, बन्धनं = बन्धन को, अपि = भी, समं = एक साथ, भित्त्वा = तोड़ कर, व्रजति = जा रहा है ॥

(प्रवेश करके)

अर्थः—वीरकः—अरे! अरे! जय, जयमान, चन्दनक, मङ्गल एवं पुष्पभद्र आदि प्रधान (रक्षकों)।

तुम लोग निश्चिन्त होकर क्यों खड़े हो? जो अहीर का लड़का बन्दी बनाया गया था, वह राजा के हृदय एवं बन्ध (दोनों) को एक साथ ही तोड़कर भागा जा रहा हैं ॥ ५ ॥

टीका—विश्रब्धाः = विश्वस्ताः; किं = कथं; स्थ = तिष्ठथ। यः गोपालस्य = आभीरस्य दारकः = पुत्रः; रुद्धः = बद्धः आसीत्; सः नरपतेः = राज्ञः हृदयं = चेतः, च = तथा, बन्धनं = कारागारञ्चापि; समं = साकं; भित्त्वा = विदार्य; व्रजति = पलायते इत्यर्थः ॥ ५ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक मे सहोक्तिअलङ्कार एवं आर्या छन्द है। छन्द का लक्षण— यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—पुरस्तात् = पूरब की ओर, प्रतोलीद्वारे = गली के मुँहाने पर। प्राकारखण्डः = चहारदिवारी का खण्ड = हिस्सा ॥

(प्रविश्य संभ्रान्तः)

चन्दनकः—अरे रे वीरअ विसल्ल-भीमंगअ-दंडकालअ-दंड-सूरप्पमुहा !

आअच्छध वीसत्था तुरिअं जत्तेह लहु करेज्जाह
लच्छी जेण ण रण्णोपहवइ गोत्तंतरं गंतुं ॥ ६ ॥

अवि अ,—

उज्जाणेसु सहासु अ मग्गे णअरीअ आवणे घोसे ।
तं तं जोहह तुरिअं संका वा जाअए जत्थ ॥ ७ ॥

रे रे वीरअ ! किं किं दरिसेसि भणादि दाव वीसद्धं ।
भेत्तूण अ बंधणअं को सो गोवालदारअं हरइ ॥ ८ ॥

कस्सट्ठमो दिणअरो कस्स चउत्थो अ वट्टए चंदो ।
छट्ठो अ भग्गवगहो भूमिसुओ पंचमो कस्स ? ॥ ९ ॥

भण कस्स जम्मछट्ठो जीवो णवमो तहेअ सूरसुओ ।
जीअंते चंदणए को सो गोवालदारअं हरइ ॥ १० ॥

[अरे रे वीरक-विशल्य-भीमाङ्गद-दण्डकाल-दण्डशूरप्रमुखाः,

आगच्छथ विश्वस्तास्त्वरितं यतध्वं लघु कुरुत ।
लक्ष्मीर्येन न राज्ञः प्रभवति गोत्रान्तरं गन्तुम् ॥

अर्थः—अरे, तुम पूरब वाली गली के मुँहाने पर खड़े हो जाओ, तुम भी पश्चिम में, तुम दक्षिण में और तुम भी उत्तर में। और मैं चन्दन के साथ जाकर जो यह चहार दीवारी का हिस्सा है उस पर चढ़ कर देखता हूँ। आओ चन्दनक ! आओ। इधर तो आओ।

टीका—पुरस्तात् = पूर्वस्यां दिशि; प्रतोल्याः = रथ्यायाः द्वारे = मुखभागे ('रथ्या प्रतोली विशिखा स्यात्' इत्यमरः)। प्राकारस्य = प्राचीरस्य खण्डः = भागः ॥

(घबड़ाया हुआ प्रवेश करके)

अर्थः—चन्दनक—अरे ! वीरक, विशल्य, भीमाङ्गद, दण्डकाल, दण्डशूर आदि (रक्षकों) !

आगच्छथ इति—

अपि च,—

उद्यानेषु सभासु च मार्गे नगर्यामापणे घोषे ।
तं तमन्वेषयत त्वरितं शङ्का वा जायते यत्र ॥

अन्वयः— हे विश्वस्ताः ! आगच्छथ, त्वरितं, यतध्वं, लघु, कुरुत; येन, राज्ञः, लक्ष्मीः, गोत्रान्तरं, गन्तुम्, न, प्रभवति ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—हे विश्वस्ताः = हेविश्वासपात्रों ! आगच्छथ = आओ, त्वरितं = जल्द, यतध्वं = कोशिश करो, लघु = शीघ्रता, कुरुत = करो, येन = जिससे, राज्ञः = राजा की, लक्ष्मीः = राज्य-लक्ष्मी, गोत्रान्तरं = दूसरे कुल को, गन्तुम् = जाने में, न = नहीं, प्रभवति = समर्थ हो ॥

अर्थः—हे विश्वासपात्रों ! आओ, जल्द (आर्यक को पकड़ने की) कोशिश करो, शीघ्रता करो । जिससे राजा (पालक) की राज्य-लक्ष्मी दूसरे कुल में न जा सके (अर्थात् आर्यक राजा न हो सके) ॥६॥

टीका—हे विश्वस्ताः ! = हे विश्वासपात्राणि ! आगच्छथ = आयात; त्वरितं = शीघ्रं; यतध्वम् = आर्यकं गृहीतु यत्नं कुरुत; लघु = झटिति; कुरुत येन = येन हेतुना; राज्ञः = पालकस्य, लक्ष्मीः = राज्यश्रीः; गोत्रान्तरं = अन्यत् कुलं; गन्तुं = यातुं; न प्रभवति = न समर्था भवति ॥ ६ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक के छन्द का नाम है—गाथा । लक्षण—

विषमाक्षरपादत्त्वात् पादौ रसमञ्जसं धर्मवत् । यच्छन्दसि नोक्तमत्र, गाथेति तत् सूरिभिः कथितम् ॥ ६ ॥

उद्यानेषु इति—

अन्वयः—उद्यानेषु, सभासु, च, मार्गे, नगर्याम्, आपणे, घोषे, वा, यत्र, शङ्का, जायते, तं, तं, त्वरितम्, अन्वेषयत ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—उद्यानेषु = बगीचों में, सभासु = सभाओं में, च = भी, मार्गे = रास्ते में, नगर्याम् = नगरी में, आपणे = बाजार में, घोषे = अहीरों की बस्ती में, वा = अथवा, यत्र = जहाँ, शङ्का = सन्देह, जायते = पैदा हो, तम् = उसको, तम् = उसको, अर्थात् उस उस स्थान को, त्वरितम् = शीघ्र, अन्वेषयत = खोजो ॥

रे रे वीरक ! किं किं दर्शयसि भणसि तावद्विश्रब्धम् ।
भित्त्वा च बन्धनकं कः स गोपालदारकं हरति ॥
कस्याष्टमो दिनकरः कस्य चतुर्थश्च वर्तते चन्द्रः ।
षष्ठश्च भार्गवग्रहो भूमिसुतः पंचमः कस्य ? ॥

और भी—

अर्थः—बागीचों में, सभाओं में, रास्ते में, नगरी, बाजार एवं अहीरों को बस्ती में, जहाँ (कहीं) शङ्का पैदा हो उन उन जगहों को जल्द खोजो ॥७॥

टीका—उद्यानेषु = वाटिकासु, सभासु = समितिषु च; मार्गे = पथि; नगर्याम् = पुरि; आपणे = वस्तुक्रयविक्रयस्थाने; घोषे = आभीरपल्ल्यां; वा = अथवा; यत्र = यस्मिन् स्थाने; शङ्का = सन्देहः; जायते = उत्पद्यते तं तं=तं स्थानमित्यर्थः; त्वरितम्= शीघ्रम्; अन्वेषयत = गवेषयत ॥ ७ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में भी गाथा छन्द है। लक्षण के लिये देखिये पोछेके श्लोक की टिप्पणी ॥ ७ ॥

रे रे वीरक ! इति—

अन्वयः—रे रे वीरक ! किं किं, दर्शयसि, विश्रब्धं, किं, भणसि, तावत् बन्धनकम्, भित्त्वा, सः, कः, (यः), गोपालदारकम्, हरति ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—रे रे वीरक ! = अरे वीरक ! किं किं = क्या क्या, दर्शयसि = दिखला रहे हो, विश्रब्धं = विश्वासपूर्वक, किं भणसि = क्या कह रहे हो ? तावत् = (यह समूह के अर्थ में प्रयुक्त है), बन्धनकम् = बन्धन को, भित्त्वा = तोड़कर, सः = वह, कः = कौन (है), (यः = जो), गोपालदारकम् = अहीर के लड़के को, हरति = छुड़ाये लिये जा रहा है ॥

अर्थः—अरे वीरक ! क्या क्या दिखला रहे हो ? विश्वासपूर्वक क्या कह रहे हो ? बन्धन को तोड़कर वह कौन अहीर के बच्चे को छुड़ाये लिये जा रहा है ? ॥८॥

टीका—रे रे वीरक ! किं किं दर्शयसि = निर्दिशसि इत्यर्थः; विश्रब्धं = विश्वासपूर्वकं यथा तथा; किं भणसि = कथयसि, तावदिति साकल्ये । बन्धनकम् = कारागृहमित्यर्थः, भित्त्वा = भङ्क्त्वा, सः कः = सः कः पुरुषः अस्ति, यः गोपालदारकम् = आभीरपुत्रं, हरति = बलात् आच्छिद्य याति ॥ ८ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में आर्या छन्द का एक भेद गीति छन्द है।

लक्षण—आर्या प्रथमार्द्धसमं यस्याः परार्द्धमपीरिता गीतिः ॥ ८ ॥

भण कस्य जस्मष्ठो जीवो नवमस्तथैव सूरसुतः ।
जीवति चन्दनके कः स गोपालदारकं हरति ॥]

कस्याष्टमो दिनकरः इति—

अन्वयः—कस्य, अष्टमः, दिनकरः, कस्य, चन्द्रः, चतुर्थः, च, वर्तते कस्य, भार्गवग्रहः, षष्ठः, च, भूमिसुतः, पञ्चमः, वर्तते ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—कस्य=किसके, अष्टमः=आठवें, दिनकरः=सूर्य (है), कस्य=किसके, चन्द्रः=चन्द्रमाः, चतुर्थः=चौथे, वर्तते=है । कस्य=किसके भार्गवग्रहः=शुक्रग्रह, षष्ठः=छठे, च=और, भूमिसुतः=मङ्गल, पञ्चमः= पाँचवें है ॥

अर्थः—किसके आठवें स्थान पर सूर्य हैं ? चन्द्रमा किसके चौथे स्थान पर हैं ? किसके छठे स्थान पर शुक्र एवं पाँचवें स्थान पर मङ्गल हैं ? ॥९॥

टीका—कस्य=जनस्य, जन्मराशेः अष्टमः=अष्टमस्थानास्थितः, दिनकरः=सूर्यः, कस्य चन्द्रः=चन्द्रमाः, चतुर्थः=जन्मराशेः चतुर्थराशिस्थः, वर्तते=स्थितः अस्ति । कस्य, भार्गवसुतः=शुक्रः, षष्ठः=षष्ठस्थानस्थितः, च=तथा, भूमिसुतः=मङ्गलः, पञ्चमः=जन्मराशेः पंचमस्थानीयः, वर्तते=अस्ति, एते ग्रहाः तत्तत्स्थाने स्थिताः सन्तः महत् अनिष्टं कुर्वन्ति ॥ ९ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में आर्या छन्द है । लक्षण के लिये देखिये श्लोक ५ की टिप्पणी ॥ ९ ॥

भण कस्य इति—

अन्वयः—भण, जीवः, कस्य; जन्मषष्ठः, तथैव, सूरसुतः, (कस्य), नवमः?, चन्दनके, जीवति, सः, कः, (यः), गोपालदारकम्, हरति ॥ १० ॥

शब्दार्थः—भण=बतलाओ, जीवः=बृहस्पति, कस्य=किसकी, जन्मषष्ठः=जन्मराशि से छठे (है), तथैव=उसी तरह, सूरसुतः=शनि, (कस्य=किसके), नवमः=नवें स्थान पर स्थित है, चन्दनके=चन्दनक के, जीवति=जिन्दा रहने पर, सः=वह, कः=कौन (है), (यः=जो), गोपालदारकम्=अहीर के बच्चे को, हरति=छुड़ाये ले जा रहा है ॥

अर्थः—बतलाओ, बृहस्पति किसकी जन्म—राशि से छठे स्थान पर है ? तथा शनि नवें स्थान पर है ? चन्दनक के जिन्दा रहते हुए वह कौन है जो अहीर के बच्चे को छुड़ाये ले जा रहा है ? ॥१०॥

टीका—भण=ब्रूहि, जीवः=बृहस्पतिः, कस्य जनस्येति शेषः, जन्मनः=जन्मराशेः षष्ठः=षष्ठस्थानस्थितः अस्ति, तथैव, सूरसुतः=सूरस्य=सूर्यस्य सुतः=पुत्रः शनिः इत्यर्थः, कस्य नवमः=जन्मराशितः नवमराशिस्थितः इत्यर्थः। चन्दनके जीवति=वर्तमाने, सः कः अस्ति; यः गोवालस्य=गोपस्य दारकः=सुतः तम्, हरति=बलात् नयति। यथा तत्तद्राशिस्थिताः एते ग्रहाः अशुभा ग्रहाः तथैव राजद्रोहपरस्य तस्य वयमपि महासङ्कटोपस्थापकाः इत्यर्थः॥ १०॥

टिप्पणी—जन्म से आठवीं राशि पर स्थित सूर्य का फल मृत्यु बतलाई गयी है—

हुतवहभयमारश्चन्द्रजः सौख्यमुग्रं
धनहरणमथार्किर्भार्गवश्चार्थलाभम्।
मरणमथ पतङ्गः स्थाननाशं सुरेज्यः
सृजति निधनसंस्थो नेत्ररोगञ्च चन्द्रः॥

जन्म से चौथे चन्द्र का फल है—पेट का रोग

सूक्ष्मां शास्त्रविबोधिकामपि धियं मूढां करोत्यङ्गिरा,
घोरां दुःखपरम्परां दिनकरः **कुक्ष्यामयं चन्द्रमाः**।
सौम्यो रोगविनाशमिच्छति नृणां रोगक्षयं भार्गवो,
भौमः शत्रुभयं चतुर्थभवने सौरिश्च वित्तक्षयम्॥

जन्म से छठे स्थान पर स्थित शुक्र का फल है—
मृत्यु और स्त्री के साथ वैर एवं बृहस्पति का फल है—
शत्रुवृद्धि तथा मानसिक दुःख।

स्थिताः षष्ठे राशौ दिनकरमहीजार्कतनयाः
बुधश्चन्द्रश्चैवं प्रचुरधनधान्यानि ददति।
समृद्धिं शत्रूणां मनसि च विषादं सुरगुरुः
भृगुर्नाशं कुर्याद् युवतिकृतवैरञ्च परमम्॥

जन्म से पाँचवें मङ्गल का फल है—उद्वेग—

दौर्भाग्यं शशलाञ्छनः क्षितिसुतश्चोद्विग्नतां चेतसः॥

जन्म से नवम शनैश्चर का फल है—धननाश—

धर्मस्थाने दिनकरसुतो नाशमर्थस्य कुर्यात्॥

(बादरायण, पृथ्वीधर की टीका से)

भाव यह है कि जिस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थित ये ग्रह अनिष्टकारक होते हैं, उसी प्रकार आर्यक को छुड़ाने वाले का अनिष्ट (मृत्यु) निश्चित है॥१०॥

वीरकः—भड चंदणआ !

अवहरइ कोवि तुरिअं चंदणअ सवामि तुज्झ हिअएण।
जइ अद्धुइददिणअरे गोवालअदारओ खुडिदो ॥ ११ ॥

[भट चन्दनक !

अपहरति कोऽपि त्वरितं चन्दनक शपे तव हृदयेन।
यथार्धोदितदिनकरे गोपालदारकः खुटितः ॥]

चेटः—जाध गोणा ! जाध। [यातं गावौ ! यातम्।]

चन्दनकः—(दृष्ट्वा) अरे रे, पेक्ख पेक्ख

अपहरति कोऽपि इति—

अन्वयः—हे चन्दनक ! तव, हृदयेन, शपे, कोऽपि, त्वरितं, (आर्यकम्) अपहरति; यथा, अर्धोदितदिनकरे, गोपालदारकः, खुटितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—हे चन्दनक ! तव = तुम्हारे, हृदयेन = हृदय से, शपे = सौगन्ध खाता हूँ। कोऽपि = कोई, त्वरितं = जल्दी से, (आर्यकम् = आर्यक को) अपहरति = छुड़ाये लिये जा रहा है। यथा = जैसे कि, अर्धोदितदिनकरे = सूर्य के आधा निकलने पर, गोपालदारकः = गोपाल का पुत्र, खुटितः = बन्धन छोड़कर भगाया गया ॥

वीरक—वीर चन्दनक !

अर्थः—मैं तुम्हारे हृदय की सौगन्ध खाता हूँ। हे चन्दनक ! कोई जल्दी से (आर्यक को) छुड़ाये लिये जा रहा है। क्योंकि सूर्य के आधा निकलने के समय वह गोपाल-पुत्र भाग निकला था ॥११॥

टीका—हे चन्दनक ! तव हृदयेन = हृदयं स्पृष्ट्वा, शपे = शपथं करोमि। कोऽपि = अज्ञातनामा जनः; त्वरितं = शीघ्रम्; आर्यकम् इति शेषः; अपहरति = अचूचुरदित्यर्थः। यथा अर्धोदितदिनकरे = सूर्योदयकाले; गोपालदारकः = आभीरपुत्रः आर्यकः इत्यर्थः; खुटितः = बन्धनं छित्वा मोचितः इत्यर्थः ॥ ११ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में आर्या छन्द है। लक्षण—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ ११ ॥

अर्थः—**चेट**—बढ़े चलो बैलों ! बढ़े चलो।

चन्दनक—(देखकर) अरे रे ! देखो देखो—

ओहारिओ पवहणो वच्चइ मज्झेण राअमग्गस्स ।
एदं दाव विआरह कस्स कहिं पवसिओ पवहणो त्ति ॥ १२ ॥

[अरे रे, पश्य पश्य

अपवारितं प्रवहणं व्रजति मध्येन राजमार्गस्य ।
एतत्तावद्विचारय कस्य कुत्र प्रेषितं प्रवहणमिति ॥]

वीरकः—(अवलोक्य) अरे पवहणवाहआ ! मा दाव एदंपवहणं वाहेहि । कस्सकेरकं एदं पवहणं ? को वा इध आरूढो कहिं वावज्जइ ? । [अरे प्रणहणवाहक ! मा तावदेतत्प्रवहणं वाहय । कस्यैतत्प्रवहणम् ? को वा इहारूढः कुत्र वा व्रजति ? ।]

अपवारितम् इति—

अन्वयः—राजमार्गस्य, मध्येन, अपवारितं, प्रवहणं, व्रजति, एतत्, तावत्, विचारय, कस्य, प्रवहणं, कुत्र, प्रेषितम्, इति ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—राजमार्गस्य=सड़क के, मध्येन=बीच से, अपवारितं=ढकी हुई, प्रवहणं=गाड़ी, व्रजति=जा रही है । एतत्=यह, तावत्=सब कुछ, विचारय= विचार करो, कस्य=किसकी, प्रवहणं=गाड़ी (है), कुत्र=कहाँ, प्रेषितम्= भेजी गयी है, इति=ऐसा ।

अर्थः—सड़क के बीचोबीच कपड़े से ढकी हुई गाड़ी जा रही है । यह सब विचार (पूछताछ) करो कि किसकी गाड़ी है और कहाँ जा रही है ? ॥१२॥

टीका—राजमार्गस्य=सामान्यपथस्य; मध्येन=मध्यभागम् अवलम्ब्य इत्यर्थः; अपवारितम्=आच्छादितं; प्रवहणं=कर्णीरथः; व्रजति=गच्छति; एतत्=इदं; तावत्=साकल्येन, विचारय=जानीहि, कस्य जनस्य एतत् प्रवहणं=रथः; तथा कुत्र=कस्मिन् स्थाने; प्रेषितं=गन्तुं निर्दिष्टम्; इति ॥ १२ ॥

टिप्पणी—अपवारितम्—ढका हुआ, छिपा हुआ, अप+√वृ+णिच्+क्त । प्रवहणम्=बन्द गाड़ी या पालकी (स्त्रियोंके लिये) प्र+√वह+ल्युट् । प्रेषितम्= भेजा हुआ, भेजी हुई, प्र+√इष्+क्त ॥

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—गाथा ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—वाहय=चलाओ । इह=इसमें । आरूढा=बैठी हैं, चढ़ी हैं । क्रीडितुं =क्रीड़ा करने के लिए । रमण करने के लिये नीयते=ले जायी जा रही है । उपसृत्य

चेटः—एशे खु पवहणे अज्जचालुदत्ताह केलके। इध अज्जआ वशंतशेणा आलूढा पुप्फकरंडअं जिण्णुज्जाणं कीलिदुं चालुदत्तश्श णीअदि। [एतत्खलु प्रवहणमार्य चारुदत्तस्य। इहार्या वसन्तसेनारूढा पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं क्रीडितुं चारुदत्तस्य नीयते।]

वीरकः—(चन्दनमुपसृत्य) एसो पवहणवाहओ भणादि—'अज्जचालुदत्तस्स पवहणं वशंतशेणा आलूढा। पुप्फकरंडअं जिण्णुज्जाणं णीअदि' त्ति। [एष प्रवहण-वाहको भणति—'आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणं वसन्तसेनारूढा। पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं नीयते' इति।]

चन्दनकः—ता गच्छदु। [तद्गच्छतु।]

वीरकः—अणवलोइदो ज्जेव्व ?। [अनवलोकित एव ?]

चन्दनकः—अध इं। [अथ किम्।]

वीरकः—कस्स पच्चएण ?। [कस्य प्रत्ययेन ?]

चन्दनकः—अज्जचारुदत्तस्स। [आर्यचारुदत्तस्य।]

=पास जाकर। अनवलोकित: = बिना देखा हुआ। प्रत्ययेन = विश्वास से। ज्योत्स्ना-सहितं=चाँदनी सहित, चन्द्रं = चन्द्रमा को, अपि=भी, त्वं = तुम, न जानासि = नहीं जानते हो॥

अर्थः—वीरक—(देखकर) अरे गाड़ीवान्। इस गाड़ी को आगे मत बढ़ाओ। यह किसकी गाड़ी है ? इस पर कौन चढ़ा है, यह कहाँ जा रही है ?

चेट—यह गाड़ी आर्य चारुदत्त की है। इस पर आर्या वसन्तसेना बैठी हैं। (वह) पुष्पकरण्डक नामक पुराने बगीचे मे चारुदत्त के साथ क्रीडा करने के लिये जा रही हैं।

वीरक—(चन्दनक के पास जाकर) यह गाड़ीवान कहता है कि "आर्य चारुदत्त की गाड़ी है, इस पर वसन्तसेना चढ़ी है। पुष्पकरण्डक नामक पुराने बगीचे में ले जायी जा रही है।"

चन्दनक—तो जाय।

वीरक—बिना देखे ही ?

चन्दनक—और क्या ?

वीरक—किसके विश्वास से ?

चन्दनक—आर्य चारुदत्त के।

वीरकः—को अज्जचारुदत्तो, का वा वसंतशेणा, जेण अणवलोइदं वज्जइ ? । [क आर्यचारुदत्तः, का वा वसन्तसेना, येनानवलोकितं व्रजति ? ।]

चन्दनकः—अरे, अज्जचारुदत्तं ण जाणासि, ण वा वसंतसेणिअं ? । जइ अज्जचारुदत्तं वसंतसेणिअं वा ण जाणासि, ता गअणे जोण्हासहिदं चंदं पि तुमं ण जाणासि ।

को तं गुणारविंदं सीलमिअंकं जणो ण जाणादि ।
आवण्णदुक्खमोक्खं चउसाअरसारअं रअणं ॥ १३ ॥
दो ज्जेव पूअणीआ इह णअरीए तिलअ भूदा अ ।
अज्जा वसंतसेणा धम्मणिही चारुदत्तो अ ॥ १४ ॥

[अरे आर्यचारुदत्तं न जानासि, न वा वसन्तसेनाम् ? । यद्यार्यचारुदत्तं वसन्तसेनां वा न जानासि, तदा गगने ज्योत्स्नासहितं चन्द्रमपि त्वं न जानासि ।

कस्तं गुणारविन्दं शीलमृगाङ्कं जनो न जानाति ।
आपन्नदुःखमोक्षं चतुःसागरसारं रत्नम् ॥

वीरक—आर्य चारुदत्त कौन है और वसन्तसेना कौन है, जिससे बिना देखे ही (यह गाड़ी) चली जाय ?

चन्दनक—अरे ! आर्य चारुदत्त को नहीं जानते हो और न वसन्तसेना को ही ? यदि आर्य चारुदत्त और वसन्तसेना को नहीं जानते हो तो तुम आकाश में चाँदनी के सहित चन्द्रमा को भी नहीं जानते हो ।

टीका—वाहय = चालय, गन्तुं प्रेरय इत्यर्थः । इह = अस्मिन् प्रवहणे । आरूढा = आरुह्य स्थिता । क्रीडितुं = कामक्रीडां कर्तुं, रन्तुम् इत्यर्थः । नोयते = प्राप्यते अस्माभिः इति शेषः । उपसृत्य = समीपम् आगत्य । अनवलोकितः = अदृष्टः, अपरीक्षितः इत्यर्थः । प्रत्ययेन = विश्वासेन ('प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः) । ज्योत्स्नाभिः = चन्द्रिकाभिः सहितं = संयुक्तं; चन्द्रं = चन्द्रमसमपि; त्वं न जानासि = न वेत्सि । चन्द्रिकासहितं चन्द्रमिव वसन्तसेनासहितं चारुदत्तं निर्दिश्य कोऽप्यनिर्वचनीयः, भावः शाश्वतिकः सम्बन्धश्च कविना प्रख्यापितः ॥

टिप्पणी—आरूढा = सवार, चढ़ी हुई, आ + √रुह् + क्त + टाप् ॥

कस्तमिति—

अन्वयः—गुणारविन्दम्, शीलमृगाङ्कम्, आपन्नदुःखमोक्षम्, चतुःसागरसारम्, रत्नम्, तम्, कः, जनः, न, जानाति ॥ १३ ॥

द्वावेव पूजनीयाविह नगर्यां तिलकभूतौ च।
आर्या वसन्तसेना धर्मनिधिश्चारुदत्तश्च ॥]

शब्दार्थः—गुणारविन्दम् = गुणों में कमल के समान, शीलमृगाङ्कम् = स्वभाव में चन्द्रमा के तुल्य, आपन्नदुःखमोक्षम् = विपत्ति में पड़े हुए लोगों के दुःख को दूर करने वाले, चतुःसागरसारम् = चारों सागरों के सार रूप, रत्नम् = रत्न, तम् = उसको, कः = कौन, जनः = आदमी, न = नहीं, जानाति = जानता है ॥

अर्थः—गुणों में कमल के समान (सुन्दर), स्वभाव में चन्द्रमा के तुल्य (प्रिय), विपत्ति में पड़े हुए लोगों के दुःख को दूर करने वाले, चारों सागरों के सारभूत रत्न उस (आर्य चारुदत्त) को कौन आदमी नहीं जानता ? (अर्थात् सभी उनको जानते हैं) ॥१३॥

टीका—गुणेषु = दयापरोपकारादिषु अरविन्दम् इव = कमलम् इव; शीले = स्वभावे मृगाङ्कः=चन्द्रः इव, तम्; आपन्नानाम्=दुःखितानां दुःखस्य = क्लेशस्य मोक्षः = मुक्तिः येन तम्; चतुर्णां सागराणां सारम् = सारभूतम्; रत्नम् = मणिस्वरूपम् इत्यर्थः, तम् = चारुदत्तम्; कः जनः = कः मानवः; न जानाति = न वेत्ति। सर्वजनविदितं निखिलप्राणिसहायकं सच्चरित्रयुक्तं चारुदत्तं न कोऽप्यत्र यः न जानाति ॥१३॥

टिप्पणी—इस श्लोक में रूपक अलङ्कार एवं आर्या छन्द है। छन्द के लक्षण के लिये देखिये श्लोक ११ की टिप्पणी ॥ १३ ॥

द्वावेव इति—

अन्वयः—इह, नगर्याम्, द्वौ, एव, पूजनीयौ, तिलकभूतौ, च, आर्या, वसन्तसेना, धर्मनिधिः, चारुदत्तः, च ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—इह = इस, नगर्याम् = नगरी में, द्वौ = दो, एव = ही, पूजनीयौ = पूजनीय, (एवं), तिलकभूतौ = शिरमौर रूप (हैं), आर्या = आदरणीय, वसन्तसेना = वसन्तसेना नामक वेश्या-पुत्री, (तथा) धर्मनिधिः = धर्मनिधि, चारुदत्तः = चारुदत्त ॥

अर्थः—इस (उज्जयिनी) नगरी में दो ही व्यक्ति पूजनीय एवं सिरमौर रूप हैं—आर्या वसन्तसेना और धर्मनिधि चारुदत्त ॥१४॥

टीका—इह = अस्याम्; नगर्याम् = उज्जयिन्यां नगर्याम् इत्यर्थः; द्वौ = उभौ एव; पूजनीयौ = सन्माननार्हौ, तिलकभूतौ = मुकुटस्वरूपौ इत्यर्थः, स्तः, तयोः एका आर्या= माननीया, वसन्तसेना अस्ति द्वितीयः, धर्मनिधिः = धर्मस्य आकरः, धर्मशीलः इति भावः, चारुदत्तः वर्तते ॥ १४ ॥

वीरकः—अरे चंदणआ !

जाणामि चारुदत्तं वसंतसेणं अ सुट्ठ जाणामि ।
पत्ते अ राअकज्जे पिदरं पि अहं ण जाणामि ॥ १५ ॥

[अरे चन्दनक !

जानामि चारुदत्तं वसन्तसेनां च सुष्ठु जानामि ।
प्राप्ते च राजकार्ये पितरमप्यहं न जानामि ॥

आर्यकः—(स्वगतम्) अयं मे पूर्ववैरी, अयं मे पूर्वबन्धुः, यतः

टिप्पणी—इस श्लोक में आर्या छन्द है । लक्षण—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ १४ ॥

जानामि चारुदत्तमिति—

अन्वयः—चारुदत्तम्, जानामि, वसन्तसेनाम्, च, सुष्ठु, जानामि, च, राजकार्ये, प्राप्ते, अहम्, पितरम्, अपि, **न**, जानामि ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—चारुदत्तम् = चारुदत्त को, जानामि = जानता हूँ, वसन्तसेनाम् = वसन्तसेना को, च = भी, सुष्ठु = भली-भाँति, जानामि = जानता हूँ, (च = पुनः), राजकार्ये = राजकार्य के, प्राप्ते = आ पड़ने पर, अहम् = मैं, पितरम् = पिताको, अपि = भी, न = नहीं, जानामि = जानता हूँ ॥

अर्थः—वीरक—अरे चन्दनक !

चारुदत्त को जानता हूँ, और वसन्तसेना को भी भलीभाँति जानता हूँ । किन्तु राजकार्य के आ पड़ने पर मैं (अपने) पिता को भी नहीं जानता हूँ ॥१५॥

टीका—चारुदत्तं जानामि=वेद्मि; वसन्तसेनाम्=सुन्दरीं वेश्यां वसन्तसेनाञ्च, सुष्ठु=सम्यग् रूपेण, जानामि=वेद्मि, चेति चकारः पुनरर्थे, राजकार्ये=राज्यसम्बन्धिनि प्रयोजने, स्वकर्त्तव्ये इति भावः; प्राप्ते=समुपस्थिते, अहम्=वीरकः, पितरम् = स्वजनकम्, अपि न जानामि=न वेद्मि, न त्यजामि इत्यर्थः, का कथा पुनरन्येषाम् ? ॥ १५ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में आर्या छन्द है । लक्षण के लिये देखिये पीछे के श्लोक की टिप्पणी ॥ १५ ॥

अर्थः—आर्यक—(अपने आप) यह (वीरक) मेरा पूर्व (जन्म) का शत्रु है । यह (चन्दनक) मेरा पूर्व (जन्म) का भाई है । क्योंकि—

एककार्यनियोगेऽपि नानयोस्तुल्यशीलता ।
विवाहे च चितायां च यथा हुतभुजोर्द्वयोः ॥ १६ ॥

चन्दनकः—तुमं तंतिलो सेणावई रण्णो पच्चइदो । एदे धारिदा मए बइल्ला । अवलोएहि । [त्वं तन्त्रिलः सेनापती राज्ञः प्रत्ययितः । एतौ धारितौ मया बलीवर्दौ । अवलोकय ।]

एककार्यनियोगेऽपीति—

अन्वयः—एककार्यनियोगे, अपि, अनयोः, तुल्यशीलता, न, यथा, विवाहे, च, चितायाम्, च, द्वयोः, हुतभुजोः ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—एककार्यनियोगे=एक काम में लगे रहने पर, अपि=भी, अनयोः = इन दोनों (चन्दनक एवं वीरक) के, तुल्यशीलता = स्वभाव में समानता, न = नहीं है, यथा = जैसे, विवाहे = विवाह में, च = और, चितायाम् = चिता में, द्वयोः = दोनों, हुतभुजोः = आग की ॥

अर्थः—एक प्रकार के ही काम में लगे रहने पर भी इन दोनों का स्वभाव एक समान नहीं है। जिस तरह विवाह को अग्नि तथा चिता की अग्नि–दोनों—में समानता नहीं होती । (अर्थात् चन्दनक विवाह की आग के समान सुखदायी है और वीरक चिता की आग की तरह दुःखदायी है) ॥१६॥

टीका—एकस्मिन् = समाने कार्ये = कर्मणि, एकत्र रक्षाकार्ये अपरत्र दहनकर्मणि, नियोगे = नियोजने; अपि; अनयोः = चन्दनक-वीरकयोः; तुल्यशीलता = समानः स्वभावः इत्यर्थः; नास्ति; यथा = येन प्रकारेण; विवाहे = उद्वाहे; च = तथा; चितायाम् = शवदहनकाष्ठपुञ्जे, च = अपि, द्वयोः = द्वयोः स्थानयोः स्थितयोः हुतभुजोः = अग्न्योः । यथा एकस्मिन् दहनकर्मणि प्रवृत्तयोः विवाहस्य चितायाश्च अग्न्योः न समानता । एकस्मिन् शोभनता अपरस्मिन् उद्वेजकता भवति । तथैव एकस्मिन् रक्षाकार्ये संलग्नयोः चन्दनकवीरकयोः तुल्यस्वभावता नास्तीति भावः ॥१६॥

टिप्पणी—इस श्लोक मे पथ्यावक्त्र छन्द है । छन्द का लक्षण—युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥१६॥

शब्दार्थः—तन्त्रिलः = राज्य की चिन्ता करने वाले, प्रत्ययितः = विश्वासपात्र धारितौ = पकड़े गये, रोके गये । बलपतिः = सेनापति । धुरम् = जुआ को, उन्नामय = उठाओ ॥

अर्थः—**चन्दनक**—तुम राज्य की चिन्ता करनेवाले राजा के विश्वासपात्र सेनापति हो । (लो) इन दोनों बैलों को मैंने पकड़ लिया है । देख लो ।

वीरकः—तुमं पि रण्णो पच्चइदो बलवई। ता तुमं ज्जेव अवलोएहि। [त्वमपि राज्ञः प्रत्ययितो बलपतिः। तस्मात्त्वमेवावलोकय।]

चन्दनकः—मए अवलोइदं तुए अवलोइदं भोदि? [मयावलोकितं त्वयावलोकितं भवति?]

वीरकः—जं तुए अवलोइदं तं रण्णा पालएण अवलोइदं। [यत्त्वयाऽवलोकितं तद्राज्ञा पालकेनावलोकितम्।]

चन्दनकः—अरे, उण्णामेहि धुरं। [अरे, उन्नामय धुरम्।]

(चेटस्तथा करोति)

आर्यकः—(स्वगतम्) अपि रक्षिणो मामवलोकयन्ति। अशस्त्रश्चास्मि मन्दभाग्यः। अथवा

भीमस्यानुकरिष्यामि बाहुः शस्त्रं भविष्यति।
वरं व्यायच्छतो मृत्युर्न गृहीतस्य बन्धने॥ १७॥

वीरक—तुम भी राजा के विश्वस्त सेनापति हो। इसलिए तुम्हीं देख लो।

चन्दनक—क्या मेरे देख लेने से तुम्हारा देखना हो जायगा?

वीरक—यदि तुमने देख लिया तो मानो राजा पालक ने देख लिया।

चन्दनक—अरे! जुआ उठाओ।

(चेट वैसा करता है)

अर्थः—**आर्यक**—(अपने आप) क्या सिपाही मुझे देखते हैं और अभागा मैं बिना शस्त्र के हूँ अथवा—

टीका—तन्त्रिलः = राज्यचिन्तापरः ('तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते सूत्रवाये परिच्छदे' इत्यमरः); प्रत्ययितः = विश्वासभाजनम्। धारितौ = गृहीतौ। बलपतिः = सेनापतिः धुरम् = युगम्; उन्नामय = ऊर्ध्वं कुरु॥

टिप्पणी—तन्त्रिलः = 'तन्त्र' शब्द का अर्थ है—शासनसूत्र, प्रधान या सिद्धान्त; तन्त्र + इलच्॥

भीमस्य इति—

अन्वयः—(अहम्), भीमस्य, अनुकरिष्यामि, (मे) बाहुः, शस्त्रम् भविष्यति; व्यायच्छतः, (मम), मृत्युः, वरम्, बन्धने, गृहीतस्य, न॥१७॥

शब्दार्थः—(अहम् = मैं), भीमस्य = भीम की, अनुकरिष्यामि = नकल करूँगा। (मे = मेरी), बाहुः = भुजा, शस्त्रम् = शस्त्र, हथियार, भविष्यति = होगी। व्याय-

अथवा साहसस्य तावदनवसरः ।

(चन्दनको नाटयेन प्रवहणमारुह्यावलोकयति)

आर्यकः—शरणागतोऽस्मि ।

चन्दनकः—(संस्कृतमाश्रित्य) अभयं शरणागतस्य ।

आर्यकः—

त्यजति किल तं जयश्रीर्जहति च मित्राणि बन्धुवर्गश्च ॥
भवति च सदोपहास्यो यः खलु शरणागतं त्यजति ॥ १८ ॥

च्छतः = लड़ते हुए, (मम = मेरा) मृत्यु = मरना, वरम् = अच्छा है, बन्धने = कारागार में, गृहीतस्य = बन्द किये गये का (मरना) न = नहीं ॥

अर्थः-(मैं) भीम की नकल करूँगा। (मेरी) भुजा ही शस्त्र होगी। लड़ते हुए मर जाना अच्छा है, कारागार में पड़े हुए का नहीं (मरना ठीक है) ॥१७॥

टीका—अहम् = आर्यकः; भीमस्य = वृकोदरस्य; अनुकरिष्यामि = अनुकरणं करिष्यामि। मे बाहुः = भुजः, शस्त्रम् = प्रहरणम्; भविष्यति। व्यायच्छतः = युद्धं कुर्वतः, मम इति शेषः, मृत्युः = मरणम्, वरम् = प्रियम्, किन्तु बन्धने = कारागारे, गृहीतस्य = अवरुद्धस्य, मृत्युः न वरम्। बन्धनात् युद्धे मृत्युः अभीप्सितः। अतः युद्धम् एव करिष्यामीति भावः ॥१७॥

टिप्पणी—व्यायच्छतः = हाथ-पैर फैलाकर प्रहार करनेवाले, लड़नेवाले, वि + आ + √यम + शतृ षष्ठी एक० ॥

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है। लक्षण के लिये देखियेश्लोक १६ की टिप्पणी ॥ १७ ॥

अर्थः—अथवा यह हिम्मत करने का समय नहीं है।

(चन्दनक अभिनय के साथ गाड़ी पर चढ़कर देखता है)

आर्यक—मैं आपकी शरण में आ गया हूँ।

चन्दनक—(संस्कृत में) शरण में आये हुए को कोई डर नहीं है।

त्यजति किल इति—

अन्वयः—यः, शरणगतम् त्यजति, तम्, जयश्रीः, खलु त्यजति, मित्राणि, बन्धुवर्गः, च, किल, जहति, (सः) सदा, उपहास्यः, च, भवति ॥१८॥

शब्दार्थः—यः = जो, शरणागतम् = शरण में आये हुए को, त्यजति = छोड़ देता है, तम् = उसको, जयश्रीः = विजयलक्ष्मी, त्यजति = छोड़ देती है। मित्राणि = मित्रवर्ग, बन्धुवर्गः-भाई—बन्धुओं का समूह, च = भी, किल = अवश्य ही, । जहति

चन्दनकः—कधं अज्जओ गोवालदारओ सेणवित्तासिदो विअ पत्तरहो साउणिअस्स हत्थे णिवडिदो । (विचिन्त्य) एसो अणवराधो सरणाअदो अज्जचारुदत्तस्स पवहणं आरूढो, पाणप्पदस्स मे अज्जसव्विलअस्स मित्तं । अण्णदो राअणिओओ । ता किं दाणिं एत्थ जुत्तं अणुचिट्ठिदुं । अधवा जं भोदु तं भोदु, पढमं ज्जेव अभअं दिण्णं ।

भीदाभअप्पदाणं दत्तस्स परोवआररसिअस्स ।
जइ होइ होउ णासो तहवि हु लोए गुणो ज्जेव ॥ १९ ॥

(सभयमवतीर्य) दिट्ठो अज्जो—(इत्यर्धोक्ते) ण, अज्जआ वसंतसेणा । तदो एस भणादि–'जुत्तं णेदं, सरिसं णेदं, जं अहं अज्जचारुदत्तं अहिसारिदुं गच्छन्ती राअमग्गे परिभूदा' । [कथमार्यको गोपालदारकः श्येनवित्रासित इव पत्ररथः शाकुनिकस्य हस्ते निपतितः ? । एषोऽनपराधः शरणागत आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणमारूढः, प्राणप्रदस्य मे आर्यशर्विलकस्य मित्रम् । अन्यतो राजनियोगः । तत्किमिदानीमत्र युक्तमनुष्ठातुम् ? । अथवा यद्भवतु तद्भवतु, प्रथममेवाभयं दत्तम् ।

=छोड़ देता है । (सः=वह) सदा=हमेशा, उपहास्यः=हँसी का पात्र, च= भी, भवति=होता है ॥

अर्थः—आर्यक—जो (व्यक्ति) शरण में आये हुए की रक्षा नहीं करता है, निश्चय ही उसको विजयलक्ष्मी त्याग देती है । मित्र तथा भाई-बन्धु भी उसे छोड़ देते हैं । और वह हमेशा हँसी का पात्र होता है ॥१८॥

टीका—यः जनः इतिशेषः, शरणे=आश्रये आगतम्=प्राप्तं जनम्, त्यजति= जहाति, तम्=जनम्, जयश्रीः=विजयलक्ष्मीः, खलु=निश्चितम्, त्यजति=परित्यज्य गच्छति । मित्राणि=सुहृदः, बन्धुवर्गश्च=सम्बन्धिगणश्च, किल=अवश्यम्, जहति =त्यजन्ति, सः जनः, सदा=सर्वदा, उपहास्यः=उपहसनीयः, च=अपि, भवति= जायते । शरणागतस्य परित्यागः सर्वथा निन्दादायकः असुखकरश्च भवतीति भावः ॥१८॥

टिप्पणी—उपहास्यः=हँसी-मजाक का पात्र, उप+√हस्+ण्यत् ।

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—आर्या । लक्षण—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—श्येनवित्रासितः=बाज से डरे हुए, पत्ररथः=पक्षी, शाकुनिकस्य= बहेलिया के, हस्ते=हाथ में, निपतितः=आ पड़ा ? अनपराधः=निर्दोष । प्राण-

भीताभयप्रदानं ददतः परोपकाररसिकस्य ।
यदि भवति भवतु नाशस्तथापि खलु लोके गुण एव ॥

प्रदस्य = जीवनदाता, शर्विलकस्य=शर्विलक का, मित्रम् = मित्र (है)। राजनियोगः= राजा की आज्ञा । अनुष्ठातुम् = करने के लिये । युक्तम् = ठीक ॥

अर्थः—चन्दनक—क्या ! अहीर-पुत्र आर्यक बाज से डरे हुए पक्षी की भाँति बहेलिया के हाथ में आ पड़ा ? (विचार कर) (एक ओर तो) यह (बेचारा) निर्दोष है, शरण में आया हुआ है तथा आर्य चारुदत्त की गाड़ी पर चढ़ा हुआ है और मेरे जीवन-दाता शर्विलक का मित्र है । दूसरी ओर राजा की आज्ञा है । तो अब इस विषय में क्या करना ठीक है ? अथवा जो हो सो हो, पहले ही अभय दे दिया है ।

टीका—श्येनेन = हिंस्रपक्षिविशेषेण वित्रासितः = भयं प्रापितः, पत्रम् एव रथः यस्य सः पत्ररथः=पक्षी, शाकुनिकस्य = व्याधस्येत्यर्थः ('जीवान्तकः शाकुनिको द्वौ वागुरिकजालिकौ' इत्यमरः) , हस्ते = करे, निपतितः=प्राप्तः इत्यर्थः ? अन-पराधः = निर्दोषः । प्राणप्रदस्य = जीवनदायिनः शर्विलकस्य, मित्रम् = सुहृद् । राज्ञः=शासकस्य नियोगः = आदेशः, राजाज्ञा इत्यर्थः । अनुष्ठातुम् = कर्तुम्, युक्तम् = समीचीनम् ॥

भीताभयप्रदानम् इति—

अन्वयः—भीताभयप्रदानम्, ददतः, परोपकाररसिकस्य, (जनस्य) यदि, नाशः, भवति, भवतु, तथापि, लोके, गुणः, एव, (भवति) ॥ १९ ॥

शब्दार्थः—भीताभयप्रदानम् = डरे हुए के लिये अभय-दानको, ददतः=देने वाले, परोपकाररसिकस्य = परोपकार करने के प्रेमी, (जनस्य = व्यक्ति की), यदि=यदि, नाशः = मृत्यु, भवति = होती है, (तो) भवतु = हो; तथापि = तो भी (मर जाने पर भी), लोके=संसार में, गुणः = प्रशंसा, एव = ही, (भवति = होती है) ॥

अर्थः—डरे हुए को अभयदान देनेवाले परोपकार करने के प्रेमी (आदमी) की यदि मृत्यु हो जाती है तो होने दो । मर जाने पर भी संसार में (उसकी) प्रशंसा ही होती है अर्थात् मुझे आर्यक की रक्षा करनी चाहिए, चाहे इसमें हमारी मृत्यु ही हो जाय) ॥१९॥

दृष्ट आर्यः–। न, आर्या वसन्तसेना। तदेषा भणति,—'युक्तं नेदम्, सदृशं नेदम्, यदहमार्यचारुदत्तमभिसर्तुं गच्छन्ती राजमार्गे परिभूता'।]

वीरकः—चन्दणआ! एत्थ मह संसओ समुप्पण्णो। [चन्दनक! अत्र मे संशयः समुत्पन्नः।]

चन्दनकः—कधं दे संसओ?। [कथं ते संशयः?।]

टीका—भीतेभ्यः = भयचकितेभ्यः; अभयस्य = अभीतेः प्रदानम् = दानम्; ददतः = अर्पयतः; कुर्वतः इत्यर्थः, परेषाम् = अन्येषाम् उपकारे = साहाय्ये रसिकस्य = अनुरागिणः, परोपकारतत्परस्येत्यर्थः, जनस्येति शेषः, यदि = चेत्, नाशः = मृत्युः, भवति = जायते, तर्हि भवतु = अस्तु, तथापि = मरणेऽपि, लोके = संसारे, गुणः = यशः, एव भवति। परोपकारे मृतं जनं लोकः प्रशंसते इतिभावः॥ १९॥

टिप्पणी—'भीताभयप्रदानं ददतः' को 'तण्डुलपाकं पचति' की तरह समझकर 'ददतः' का अर्थ 'करनेवाले' यह अर्थ समझना चाहिये॥

इस श्लोक में आर्या छन्द है॥ १९॥

शब्दार्थः—युक्तम् = ठीक, सदृशम् = योग्य। परिभूता = अपमानित हुई। अत्र = तुम्हारे कहने में, संशयः = सन्देह।

अर्थः—(डर के साथ गाड़ी से उतर कर) देख लिया आर्य........(यह आधा कहने पर) नहीं, आर्या वसन्तसेना। तो यह कहती हैं—'यह उचित नहीं है, यह ठीक नहीं है; जो कि आर्य चारुदत्त से अभिसार (रमण) करने के लिये जाती हुई मेरा सड़क पर अपमान किया गया।'

वीरक—चन्दनक! तुम्हारे कहने में मुझे सन्देह पैदा हो गया है।

चन्दनक—तुझे सन्देह क्यों है?

टीका—युक्तम् = समीचीनम्, सदृशम् = योग्यम्। परिभूता = तिरस्कृता, अपमानिता इत्यर्थः। अत्र = तव कथने, संशयः = सन्देहः॥

टिप्पणी—युक्तम् = ठीक, उचित, √युज् + क्त। परिभूता = अपमानित, अपमान की गयी, परि + √भू + क्त। संशयः = संदेह, अनिश्चित, सम् + √शी + अच्॥

वीरकः—

संभमघग्घरकंठो तुमं पि जादो सि जं तुए भणिदं ।
दिट्ठो मए खु अज्जो पुणो वि अज्जा वसंतसेणेत्ति ॥ २० ॥

एत्थ मे अप्पच्चओ ।

[संभ्रमघर्घरकण्ठस्त्वमपि जातोऽसि यत्त्वया भणितम् ।
दृष्टो मया खल्वार्यः पुनरप्यार्या वसन्तसेनेति ॥

अत्र मेऽप्रत्ययः ।]

संभ्रमघर्घरकण्ठः इति—

अन्वयः—त्वम्, अपि, संभ्रमघर्घरकण्ठः, जातः, असि, यत्, त्वया, (पूर्वम्) भणितम्, मया, खलु, आर्यः, दृष्टः, पुनरपि, आर्या, वसन्तसेना, इति ॥ २० ॥

शब्दार्थः—त्वम् = तुम, अपि = भी, संभ्रमघर्घरकण्ठः = घबराहट के कारण घर्घराहटपूर्ण कण्ठवाले, जातः = हो गये, असि = हो, यत् = जो कि, त्वया = तुम्हारे द्वारा, (पूर्वम् = पहले), भणितम् = कहा गया, मया = मेरे द्वारा, खलुः = निश्चित ही, आर्यः = आर्य, (आर्यक), दृष्टः = देखा गया, पुनरपि = और फिर, आर्या = माननीय, वसन्तसेना = वेश्या (देखी गयी), इति = ऐसा ॥

अर्थः—**वीरक**—घबड़ाहट के कारण तुम्हारी आवाज घर्घरा (लड़खड़ा) रही है। और तुमने (पहले) कहा मैंने आर्य को देख लिया और बाद में कहा आर्या वसन्तसेना को देख लिया। (इससे मुझे संदेह हो गया है) ॥२०॥

इसी (तुम्हारे दो तरह के कहने) में मुझे अविश्वास है।

टीका—त्वम् = चन्दनकः, अपि सम्भ्रमेण = असत्यवचनोद्वेगेन घर्घरः = घर्घरध्वनियुक्तः कण्ठः = गलप्रदेशः यस्य तादृशः, जातः = सम्पन्नः, असि = वर्तसे। यत् = यस्मात्; त्वया = चन्दनकेन, पूर्वं भणितम् = उक्तम्, मया खलु = अवश्यम्, आर्यः = कोऽपि पुरुषः, दृष्टः = अवलोकितः, पुनरपि = आर्यः दृष्टः इत्युक्त्यनन्तरमेव, आर्या = मान्या, वसन्तसेना दृष्टा, इति = इत्थम्। अतः द्विविधवाक्यकथनेन मे संशयः जातः इति भावः ॥ २० ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में गीति छन्द है। छन्द का लक्षण—

आर्याप्रथमार्द्धसमं यस्याः अपरार्द्धमाह तां गीतिम् ॥ २० ॥

चन्दनकः—अरे, को अप्पच्चओ ? तुह । वअं दक्खिणत्ता अवत्तभासिणो। खल-खत्ति-खडो खडट्टोविसअ-कण्णाट-कण्ण-प्पावरणअदविड-चोल-चीण-बर्वर-खेर-खान-मुख मधुघादपहुदाणं मिलिच्छजादीणं अणेअदेसभासाभिण्णा जहेट्ठं मंतआम, दिट्ठो दिट्ठा वा अज्जो अज्जआ वा। [अरे, कोऽप्रत्ययस्तव ?। वयं दाक्षिणात्या अव्यक्त-भाषिणः। खष-खत्ति-कड-कडट्टोबिल-कर्णाट कर्ण-प्रावरण-द्राविड-चोल-चोन-बर्बर-खेर-खान-मुख-मधुघातप्रभृतीनां म्लेच्छजातीनामनेकदेशभाषाभिज्ञा यथेष्टं मन्त्रयामः, दृष्टो दृष्टा वा, आर्य आर्या वा।]

वीरकः—णं अहं पि पलोएमि। राअण्णा एसा। अहं रण्णो पच्चइदो। [नन्वहमपि प्रलोकयामि। राजाज्ञैषा। अहम् राज्ञः प्रत्ययितः।]

चन्दनकः—ता किं अहं अप्पच्चइदो संवुत्तो ?। [तत्किमहमप्रत्ययितः संवृत्तः ?।]

वीरकः—णं सामिणिओओ। [ननु स्वमिनियोगः।]

चन्दनकः—(स्वगतम्) अज्जगोवालदारओ अज्जचारुदत्तस्स पवहणं अहिरुहिअ अवक्कमदि त्ति जइ कहिज्जदि, तदो अज्जचारुदत्तो रण्णा सासिज्जइ। ता को एत्थ उवाओ। (विचिन्त्य) कण्णाटकलहप्पओअं करेमि। (प्रकाशम्) अरे वीरअ ! मए चन्दणकेण पलोइदं पुणो वि तुमं पलोएसि को तुम। [आर्यगोपालदारक आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणमधिरुह्यापक्रामतीति यदि कथ्यते, तदार्यचारुदत्तो राज्ञा शास्यते। तत्कोऽत्रोपायः ?। कर्णाटकलहप्रयोगं करोमि। अरे वीरक ! मया चन्दनकेन प्रलोकितं पुनरपि

शब्दार्थः—अप्रत्ययः=अविश्वास। दाक्षिणात्याः=दक्खिन के निवासी, अव्यक्त-भाषिणः=अस्पष्ट बोलनेवाले। मन्त्रयामः=बोलते हैं। प्रत्ययितः=विश्वासपात्र। संवृत्तः=हो गया। स्वामिनियोगः=स्वामी की आज्ञा। शास्यते=दण्डित होते हैं। कर्णाटकलहप्रयोगम्=कर्णाटक प्रदेश के झगड़ा के प्रारम्भ को अर्थात् बनावटी झगड़ा को॥

अर्थः–**चन्दनक**–अरे ! तुम्हें अविश्वास क्यों है ? हम दक्खिन के निवासी अस्पष्ट बोलनेवाले होते हैं। खष, खत्ति, कड, कडट्टोबिल, कर्नाट, कर्णप्रावरण, द्राविड़, चोल, चीन, बर्वर, खेर, खान, मुख, मधुघात आदि म्लेच्छ जातियों की अनेक देशों की भाषा को जानने वाले (हम लोग) जैसा चाहते हैं वैसा बोलते हैं—'देखा गया' या 'देखी गयी', 'आर्य' या 'आर्या।

वीरक—तो मैं भी देखता हूँ। यह राजा की आज्ञा है। मैं राजा का विश्वास-पात्र हूँ।

चन्दनक—तो क्या मैं अविश्वसनीय हो गया हूँ ?

वीरक—तो भी स्वामी की आज्ञा है।

त्वं प्रलोकयसि ? । कस्त्वम् ? ।]

अर्थः—वीरकः—अरे, तुमं पि को ? । [अरे, त्वमपि कः ? ।]

चन्दनकः—पूइज्जंतो माणिज्जंतो तुमं अप्पणो जादिं ण सुमरेसि ? । [पूज्यमानो मान्यमानस्त्वमात्मनो जातिं न स्मरसि ? ।]

वीरकः—(सक्रोधम्) अरे, का मह जादी ? । [अरे, का मम जातिः ? ।]

चन्दनकः—को भणउ ? । [को भणतु ? ।]

वीरकः—भणउ । [भणतु ।]

चन्दनकः—अहवा ण भणाभि,—

चन्दनक—(अपने आप) यदि यह कह दूँ कि आर्य गोपाल-पुत्र आर्य चारुदत्त की गाड़ी पर चढ़कर भाग रहा है तो राजा आर्य चारुदत्त को दण्ड देंगे। तो इसमें क्या उपाय है ? (सोचकर) कर्णाट (के लोगों) की भाँति झगड़ा करूँगा । (प्रकट रूप में) अरे ! वीरक ! मुझ चन्दनक के द्वारा देखे जाने पर भी फिर तुम देख रहे हो । ? कौन हो तुम (दुबारा देखने वाले) ?

टीका—अप्रत्ययः = अविश्वासः ('प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः) । दाक्षिणात्याः = दक्षिणदेशोत्पन्नाः, अव्यक्तम् = अस्पष्टं भाषन्ते तच्छीलाः इति अव्यक्तभाषिणः = अस्पष्टवक्तारः । मन्त्रयामः = भाषामहे । प्रत्ययितः = विश्वस्तः । संवृत्तः = सञ्जातः । स्वामिनः = भर्तुः नियोगः = आदेशः । शास्यते = दण्डितः भवति । कर्णाटकलहस्य = कर्णाटकप्रदेशीयविवादस्य प्रयोगम् = प्रारम्भम्, कृत्रिमकलहस्य अनुष्ठानमिति भावः ॥

टिप्पणी—कर्णाटकलहः = कर्णाटक प्रदेश के निवासी यदि परस्पर मित्रतापूर्ण बात-चीत करते हों तो भी प्रतीत होता है कि वे कलह कर रहे हैं । यह प्रतीत होने वाला कलह सत्य नहीं होता । यही कारण है कि बनावटी कलह को कर्णाटकलह कहा जाने लगा ॥

वीरक—अरे ! तुम्हीं कौन हो ?

चन्दनक—पूजनीय तथा माननीय तुम अपनी जाति की याद नहीं करते हो ?

वीरक—(क्रोध के साथ) अरे ! क्या है मेरी जाति ?

चन्दनक—कौन कहे ?

वीरक—कहो ।

चन्दनक—अथवा नहीं कहूँगा—

जाणंतो वि हु जादिं तुज्झ अ ण भणामि सीलविहवेण ।
चिट्ठउ महच्चिअ मणे किं च कइत्थेण भग्गेण ॥ २१ ॥

[अथवा न भणामि,—
जानन्नपि खलु जातिं तव च न भणामि शीलविभवेन ।
तिष्ठतु ममैव मनसि किं च कपित्थेन भग्नेन ॥]

वीरकः—णं भणउ, भणउ । [ननु भणतु, भणतु ।]
(चन्दनकः सञ्ज्ञां ददाति)

जानन्नपि इति—

अन्वयः—तव; जातिम्, खलु, जानन्, अपि, शीलविभवेन, न, भणामि, (सा), मम, एव, मनसि, तिष्ठतु, कपित्थेन, भग्नेन,च, किम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—तव=तुम्हारी, जातिम्=जाति को, खलु=निश्चय ही, जानन्=जानते हुए, अपि=भी, शीलविभवेन=सुशीलता के कारण, न=नहीं, भणामि=कहता हूँ अथवा कहूँगा, (सा= वह जाति), मम=मेरे, एव=ही, मनसि=मन में, तिष्ठतु=रहे, कपित्थेन=कैथ, भग्नेन=तोड़ने से, किं=क्या लाभ ? ॥

अर्थः—तुम्हारी जाति को जानते हुए भी सुशीलता के कारण नहीं कहूँगा । वह (तुम्हारी जाति) मेरे ही मन में रहे, कैथ तोड़ने से क्या लाभ ? (अर्थात् भण्डाफोड़ करने से क्या मतलब ?) ॥ २१ ॥

टीका—तव=वीरकस्य, जातिम्=गोत्रं, ('जातिः सामान्यजन्मनोः' इत्यमरः, 'जातिश्छन्दसि सामान्ये मालत्यां गोत्रजन्मनोः' इति विश्वः), खलु=निश्चितम्, जानन्=विदन्, अपि, शीलस्य=सत्स्वभावस्य विभवेन=सम्पत्त्या, शीलाधिक्येनेति भावः, न भणामि=न वदामि, सा जातिः मम=चन्दनकस्य, एव, मनसि=चेतसि, तिष्ठतु=गुप्ता सती स्थिता भवतु इत्यर्थः, कपित्थेन=दधित्थेन ('कपित्थे स्युर्दधित्थ-ग्राहिमन्मथाः । तस्मिन्दधिफलः पुष्पफलदन्तशठावपि' इत्यमरः), भग्नेन=स्फुटितेन किम्=कः लाभः, न किमपि इत्यर्थः ॥ २१ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक मे आर्या छन्द है । लक्षण—
यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ २१ ॥

अर्थः—वीरक—अरे ! कहो, कहो, ।
[चन्दनक (उसकी जाति का परिचायक) इशारा करता है]

चोरकः—अरे, किं णेदं । [अरे, किं न्विदम् ? ।]

चन्दनकः—

सिण्णसिलाअलहत्थो पुरिसाणं कुच्चगंठिसंठवणो ।
कत्तरिवावुदहत्थो तुमं पि सेणावई जादो ॥ २२ ॥

[शीर्णशिलातलहस्तः पुरुषाणां कूर्चग्रन्थिसंस्थापनः ।
कर्तरीव्यापृतहस्तस्त्वमपि सेनापतिर्जातः ॥]

अर्थः—वीरक—अरे ! यह क्या है ?

शीर्णशिलातलहस्तः इति—

अन्वयः—शीर्णशिलातलहस्तः, पुरुषाणाम्, कूर्चग्रन्थिसंस्थापनः, कर्तरीव्यापृतहस्तः, त्वम्, अपि, सेनापतिः, जातः ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—शीर्णशिलातलहस्तः = टूटे पत्थर के टुकड़े को हाथ में रखने वाला, पुरुषाणाम्=पुरुषों की, कूर्चग्रन्थिसंस्थापनः = दाढ़ी की गाँठ छीलनेवाले, कर्तरीव्यापृतहस्तः = कैंची (चलाने) में व्यस्त हाथ वाला, त्वम्=तुम, अपि = भी, सेनापतिः = सेनापति, जातः = हो गये हो ॥

अर्थः-चन्दनक—(उस्तरा पैना करने के लिये) टूटे पत्थर के टुकड़े को हाथ में रखनेवाला, पुरुषों की दाढ़ी छीलनेवाला एवं कैंची चलाने में व्यस्त हाथवाला तू (नाई) भी सेनापति हो गया है ॥ २२ ॥

टीका—शीर्णम् = भग्नं शिलातलम् = प्रस्तरखण्डः हस्ते = करे यस्य असौ, नापितः क्षुरं तीक्ष्णं विधातु एकं प्रस्तरखण्डं स्वसमीपे स्थापयति । कार्यकाले सः प्रस्तरखण्डं हस्ते स्थाप्य तत्र क्षुरं सञ्चाल्य तीक्ष्णं करोति । पुरुषाणाम् = जनानाम्, कूर्चानाम्=श्मश्रूणाम् ('कूर्चमस्त्री भ्रुवोर्मध्ये कठिनश्मश्रुकैतवे' इति मेदिनी) ग्रन्थेः = बन्धनस्य, मूलप्रदेशस्य इत्यर्थः, संस्थापनम् = समुच्छेदः येन तादृशः, कर्तर्याम् = केशकर्तनाय अस्त्रविशेषे व्यापृतः = संलग्नः हस्तः = करः यस्य सः = तथाभूतः, त्वमपि = त्वं नापितः भूत्वा अपि इत्यर्थः, सेनापतिः = बलपतिः, जातः = भूतः । त्वत्सदृशः नापितः अपि सेनापतिः जातः महदाश्चर्यम् एतदिति भावः ॥ २२ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में आर्या छन्द है । लक्षण के लिये देखिये श्लोक २१ की टिप्पणी ॥ २२ ॥

वीरकः—अरे चन्दणआ! तुमं पि माणिज्जंतो अप्पणो केरिकं जादिं ण सुमरेसि?। [अरे चन्दनक! त्वमपि मान्यमान आत्मनो जातिं न स्मरसि?।]

चन्दनकः—अरे, का मह चन्दणअस्स चन्दविसुद्धस्स जादी?। [अरे, का मम चन्दनकस्य चन्द्रविशुद्धस्य जातिः?।]

वीरकः—को भणउ?। [को भणतु?।]

चन्दनकः—भणउ, भणउ। [भणतु, भणतु।]

(वीरको नाटचेन संज्ञां ददाति)

चन्दनकः—अरे, किं णेदं। [अरे, किं न्विदम्?।]

वीरकः—अरे, सुणाहि सुणाहि,—

जादी तुज्झ विसुद्धा मादा भेरी पिदा वि दे पडहो।
दुम्मुह! करडअभादा तुमं पि सेणावई जादो॥ २३॥

[अरे, शृणु शृणु,—

जातिस्तव विशुद्धा माता भेरी पितापि ते पटहः।
दुर्मुख! करटकभ्राता त्वमपि सेनापतिर्जातः॥]

शब्दार्थः—चन्द्रविशुद्धस्य=चन्द्रमा के समान स्वच्छ। संज्ञाम् = इशारा को॥

अर्थः—**वीरक**—अरे चन्दनक! माननीय तुम भी अपनी जाति की याद नहीं करते हो?

चन्दनक—अरे! चन्द्रमा के समान स्वच्छ मुझ चन्दनक की क्या जाति है?

वीरक—कौन कहे?

चन्दनक—कहो, कहो।

[वीरक अभिनय के साथ (जाति का परिचय कराने वाला) इशारा करता है।]

टीका—चन्द्रः = चन्द्रमा इव विशुद्धः = निर्मलः तस्य, अतिनिर्मलस्य इत्यर्थः। संज्ञाम् = इङ्गितम्॥

अर्थः—**चन्दनक**—अरे! यह क्या है?

वीरक—अरे! सुनो, सुनो—

जातिस्तव इति—

अन्वयः—तव, जातिः, विशुद्धा, भेरी, ते, माता, पिता, अपि, पटहः, हे दुर्मुख! करटकभ्राता, त्वम्, अपि, सेनापतिः, जातः॥ २३॥

चन्दनकः—(सक्रोधम्) अहं चन्दणओ चम्मारओ ता पलोएहि पवहणं। [अहं चन्दनकश्चर्मकारः, तत्प्रलोकय प्रवहणम्।]

वीरकः—अरे, पवहणवाहआ ! पडिवत्तावेहि पवहणं। पलोइस्सं। [अरे प्रवहणवाहक ! परिवर्तय प्रवहणम्, प्रलोकयिष्यामि।]

(चेटस्तथा करोति, वीरकः प्रवहणमारोढुमिच्छति, चन्दनकः सहसा केशेषु गृहीत्वा पातयति, पादेन ताडयति च)

वीरकः—(सक्रोधमुत्थाय) अरे, अहं तुए वीसत्थो राआण्णत्तिं करेंतो सहसा केसेसु गेण्हिअ पादेन ताडिदो। ता सुणु रे, अहिअरणमज्झे जइ दे चउरंगं ण कप्पावेमि, तदो ण होमि वीरओ। [अरे, अहं त्वया विश्वस्तो राजाज्ञप्तिं कुर्वन्सहसा केशेषु

शब्दार्थः—तव = तुम्हारी, जातिः = जाति, विशुद्धा = बड़ी पवित्र है, भेरी = दुन्दुभि, ते = तुम्हारी, माता = माँ (है), पिता = बाप, अपि = भी, पटहः = तासा (है)। हे दुर्मुख = हे कटु बोलनेवाले ! करटकभ्राता = करटक के भाई, त्वम् = तुम, अपि = भी, सेनापतिः = सेनापति, जातः = हो गये ॥

अर्थः—हे कटु बोलने वाले ! तुम्हारी जाति एकदम पवित्र है। भेरी (दुन्दुभि) माता है, पटह (तासा) पिता है, करटक (एक प्रकार का चमड़े से मढ़ा बाजा) के भाई तुम (चमार) भी सेनापति हो गये ॥ २३ ॥

चन्दनक—(कोप करके) मैं चन्दनक चमार हूँ ? तो (तुम) देख ले गाड़ी को।

वीरक—अरे गाड़ीवान् ! लौटाओ गाड़ी, देखूंगा।

(चेट गाड़ी लौटा लाता है, वीरक गाड़ी पर चढ़ना चाहता है, चन्दनक झपटकर वीरक के बालों को पकड़कर जमीन पर उसे गिराता और पैर से मारता है)।

टीका—तव = चन्दनकस्य; जातिः = गोत्रम्; विशुद्धा = अतिनिर्मला अस्ति। भेरी = वाद्यविशेषः; ते = तव; माता = जननी; पोषिका इति यावत्; पिता = जनकः अपि, पटहः = ढक्का अस्ति। हे दुर्मुख ! = कटुभाषिन् ! करटकस्य = वाद्यविशेषस्य भ्राता = सहोदरः, त्वमपि = चर्मकारः अपीत्यर्थः, सेनापतिः = बलाधिपतिः, जातः = भूतः। चर्मकारः सेनापतिः जातः आश्चर्यम् एतत् ॥ २३ ॥

टिप्पणी—ऊपर कहे लक्षणों से वीरक ने चन्दनक को चमार जाति का बतलाया है। इस श्लोक में गाथा छन्द है ॥ २३ ॥

शब्दार्थः—सक्रोधम् = गुस्सा के साथ। राजाज्ञप्तिम् = राजा की आज्ञा को, कुर्वन् = करते हुए, सहसा = एकाएक, धोखा से। अधिकरणमध्ये = राज-कुल अथवा

गृहीत्वा पादेन ताडितः। तच्छृणु रे, अधिकरणमध्ये यदि ते चतुरङ्गं न कल्पयामि, तदा न भवामि वीरकः।]

चन्दनकः—अरे! राअउलं अहिअरणं वा वच्च। किं तुए सुणअसरिसेण?। [अरे! राजकुलमधिकरणं वा व्रज। किं त्वया शुनकसदृशेन?।]

वीरकः—तथा। (इति निष्क्रान्तः)

चन्दनकः—(दिशोऽवलोक्य) गच्छ रे पवहणवाहआ! गच्छ। जइ को वि पुच्छेदि तदो भणेसि—'चंदणअवीरएहिं अवलोइदं पवहणं वच्चइ। अज्जे वसंतसेणे! इमं च अहिण्णाणं दे देमि। [गच्छ रे प्रवहणवाहक! गच्छ। यदि कोऽपि पृच्छति तदा भण–'चन्दनकवीरकाभ्यामवलोकितं प्रवहणं व्रजति' आर्ये वसन्तसेने! इदं चाभिज्ञानं ते ददामि।] (इति खड्गं प्रयच्छति)

आर्यकः—(खड्गं गृहीत्वा, सहर्षमात्मगतम्)

अये शस्त्रं मया प्राप्तं स्पन्दते दक्षिणो भुजः।
अनुकूलं च सकलं हन्त संरक्षितो ह्यहम् ॥ २४ ॥

कचहरी मे। चतुरङ्गम् = चौरङ्ग, कल्पयामि = कर दूँगा। शुनकसदृशेन = कुत्ते जैसे। अभिज्ञानम् = निशानी ॥

अर्थः—वीरक—(गुस्से के साथ उठकर) अरे! राजा की आज्ञा (का पालन) करते हुए मुझ विश्वसनीय (कर्मचारी) को एकाएक बाल पकड़कर तुमने पैर से मारा है। तो सुन रे! कचहरी में यदि तुझे भलीभाँति दण्ड न दिलवाऊँ तो मैं वीरक नहीं।

चन्दनक—अरे! राजकुल अथवा कचहरी में जा। कुत्ते जैसे तुझसे क्या?

वीरक—अच्छा। (बाहर निकल जाता है)

चन्दनक—(चारों ओर देखकर) जाओ रे गाड़ीवान् जाओ। यदि कोई भी पूछे तो कह देना—"चन्दनक और वीरक के द्वारा जाँची गयी गाड़ी जा रही है।" आर्ये वसन्तसेने! यह निशानी तुम्हें देता हूँ। (ऐसा कह कर तलवार दे देता है)।

टीका—क्रोधेन=कोपेन सहितं सक्रोधम् = सकोपम्, राज्ञः=शासकस्य आज्ञप्तिम्, =आज्ञाम् कुर्वन् = विदधन्, सहसा = झटिति, अज्ञातावस्थायामित्यर्थः। अधिकरण-मध्ये = न्यायालये इत्यर्थः। चतुरङ्गं कल्पयामि = दण्डं दापयिष्यामि। शुनकसदृशेन = कुक्कुरतुल्येन। अभिज्ञानम् = परिचायकं चिह्नम् ॥

अये शस्त्रमिति—

अन्वयः—अये, मया, शस्त्रम्, प्राप्तम्, दक्षिणः, भुजः, स्पन्दते; सकलम्, अनुकूलम्, हन्त! अहम्, हि, संरक्षितः ॥ २४ ॥

चन्दनकः—अज्जए !

एत्थ मए विण्णविदा पच्चइदा चंदणं पि सुमरेसि ।
ण भणामि एस लुद्धो णेहस्स रसेण बोल्लामो ॥ २५ ॥

[आर्ये !

अत्र मया विज्ञप्ता प्रत्ययिता चन्दनमपि स्मरसि ।
न भणाम्येष लुब्धः स्नेहस्य रसेन ब्रूमः ।]

शब्दार्थः—अये, शस्त्रप्राप्तौ हर्षसूचकम् अव्ययम् इदम्, मया==आर्यकेण, शस्त्रम् = आयुधम्, प्राप्तम्==उपलब्धम्, दक्षिणः = वामेतरः, भुजः==बाहुः, स्पन्दते = स्फुरति, दक्षिणाङ्गस्य स्पन्दनं पुरुषाणां कृते शुभसूचकं मन्यते, सकलम् = सर्वम्, अनुकूलम् = अविरुद्धम्, सम्भवतीति शेषः, हन्त ! इत्यपि प्रसन्नताबोधकमव्ययम्: अहम् = आर्यकः, हि = निश्चयेन, संरक्षितः = परित्रातः इदानीं प्राप्तशस्त्रस्य मम भयं नास्ति इति भावः ॥ २४ ॥

अर्थः—**आर्यक**—(तलवार लेकर प्रसन्नतापूर्वक अपने आप)।

अरे ! मैंने शस्त्र पा लिया । दायीं भुजा फड़क रही है । सब कुछ (मेरे) अनुकूल है । प्रसन्नता है, मैं बच गया हूँ ॥ २४ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक मे समाधिनामक अलङ्कार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है । अलङ्कार का लक्षण—

"समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद्वस्त्वन्तरागमात् ।"

छन्द का लक्षण—युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ २४ ॥

अत्र मया इति—

अन्वयः—अत्र, मया, विज्ञप्ता, प्रत्ययिता, (त्वम्), चन्दनम्, अपि, स्मरसि, एषः, लुब्धः (सन्), न, भणामि, (किन्तु) स्नेहस्य, रसेन, ब्रूमः ॥ २५ ॥

शब्दार्थः—अत्र==इस विपत्ति के समय में, मया = मेरे द्वारा, विज्ञप्ता = सूचिता की गयी अथवा मुझसे परिचित हुई, प्रत्ययिता = जिसे मैंने रक्षा का विश्वास दिलाय है अथवा जिसके विषय में सिद्ध का वचन सत्य हो गया है, ऐसी, (त्वम् = तुम) चन्दनकम् = चन्दनक को, अपि = भी, स्मरसि = याद रखना, एषः = यह (मैं), लुब्धः सन् = लोभ के वश में होकर, न==नहीं, भणामि = कह रहा हूँ, (किन्तु) स्नेहस्य = प्रेम के, रसेन = रस के कारण, ब्रूमः = बोल रहा हूँ ॥

अर्थः-**चन्दनक**—आर्ये ! आपसे मेरी विनती है कि इस विपत्ति से निकल जाने

आयकः—

चन्दनश्चन्द्रशीलाढ्यो दैवादद्य सुहृन्मम।
चन्दनं भोः स्मरिष्यामि सिद्धादेशस्तथा यदि॥ २६॥

पर निश्चिन्तता की हालत में (मुझ) चन्दनक को भी याद रखना। (यह बात) मैं किसी लालच के कारण नहीं कह रहा हूँ, (वल्कि) स्नेह रस के कारण कह रहा हूँ (अर्थात् मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि राजा होने पर मुझे कोई बड़ा पद देना। मैं केवल प्रेमवश कह रहा हूँ)॥ २५॥

टीका—अत्र=अस्मिन् विपत्तिकाले, मया = चन्दनकेन, विज्ञप्ता = सूचिता मया सह परिचिता वा, प्रत्ययिता = सञ्जातप्रत्यया सती अथवा विश्वासं प्रापिता अथवा प्रत्ययः = सिद्धस्य विश्वासः संजातः अस्याः सा त्वमितिशेषः, चन्दनम् = माम्. अपि स्मरसि=स्मरिष्यसि। एषः = एषः तवोपकारकः अहम्, लुब्धः=लोभपरवशः सन्, न भणामि=न वदामि। एतदर्थं नाऽहं भणामि यत् राज्यप्राप्तौ मह्यमुन्नतं पदं दास्यसि। किन्तु, स्नेहस्य = प्रेम्णः, रसेन=अनुभूत्या, ब्रूमः=कथयामः। इत्थं मां केवलः स्नेहः एव वक्तुं प्रेरयति इति भावः॥ २५॥

टिप्पणी—इस श्लोक में गाथा छन्द है॥ २५॥

चन्दनः इति—

अन्वयः—चन्द्रशीलाढ्यः, चन्दनः, दैवात्, अद्य, मम, सुहृत्, (जातः), भोः (मित्र!), यदि, सिद्धादेशः, तथा (तदा), चन्दनम्, स्मरिष्यामि॥ २५॥

शब्दार्थः—चन्द्रशीलाढ्यः = चन्द्रमा के समान स्वभाववाला, चन्दनः=चन्दनक, दैवात्=संयोग से, अद्य=आज, मम=मेरा, सुहृत् = मित्र, (जातः = हो गया है), भोः (मित्र!)=हे मित्र! यदि = यदि, सिद्धादेशः = सिद्ध की भविष्यवाणी, तथा = वैसी होगी अर्थात् सही निकलेगी, तदा = तब, चन्दनम् = चन्दनक को, स्मरिष्यामि = याद करूँगा॥ २६॥

अर्थः-आर्यक—चन्द्रमा के समान (सुन्दर) स्वभाववाला चन्दनक संयोग से आज मेरा मित्र हो गया है। हे (मित्र)! यदि सिद्ध कभी विष्यवाणी सही निकली तो (मैं) चन्दनक को याद करूँगा॥ २६॥

टीका—चन्द्रवत् शीलम् = स्वभावः तेन आढ्यः = सम्पन्नः, चन्दनः = चन्दनकः, दैवात् = संयोगात्, अद्य = अस्मिन् दिने, मम = आर्यकस्य, सुहृत्=मित्रम्, जातः इति शेषः। भोः मित्र! यदि = चेत्, सिद्धादेशः = सिद्धस्य कथनम्, तथा = सत्यम्, भवतीति शेषः, तदा=तस्मिन्काले, चन्दनम् = त्वामित्यर्थः, स्मरिष्यामि = स्मरणं करिष्यामि॥ सिद्धे सिद्धवचने तव स्मरणं करिष्यामि इति वचनम्॥ २६॥

चन्दनकः—

अभअं तुह देउ हरो विण्हू बम्हा रवो अ चंदो अ।
हत्तूण सत्तुवक्खं सुंभणिसुंभे जधा देवो ॥ २७ ॥
[अभयं तव ददातु हरो विष्णुर्ब्रह्मा रविश्च चन्द्रश्च।
हत्वा शत्रुपक्षं शुम्भनिशुम्भौ यथा देवी।]

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।

छन्द का लक्षण—युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ २६ ॥

अभयं तव इति—

अन्वयः—हरः, विष्णुः, ब्रह्मा, रविः, चन्द्रः, च, तव, अभयम्, ददातु, शत्रु-पक्षम्, हत्वा, (तथैव, विजयम्, लभस्व), यथा, शुम्भनिशुम्भौ (हत्वा) देवी (प्राप्तवती) ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—हरः = शङ्कर, विष्णुः = हरि, ब्रह्मा = सृष्टिकर्ता, रविः = सूर्य, चन्द्रः = चन्द्रमा, तव = तुम्हें, अभयम् = अभय को, ददातु = प्रदान करें। शत्रुपक्षम् = शत्रु के दल को, हत्वा = मार कर, (तथैव = उसी प्रकार, विजयम् = विजय को, लभस्व = पाओ), यथा = जैसे, शुम्भनिशुम्भौ = शुम्भ एवं निशुम्भ को, (हत्वा = मारकर), देवी = देवी ने, (प्राप्तवती = पाया था) ॥

अर्थः—**चन्दनक**—शंकर, विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य और चन्द्रमा तुम्हें अभय प्रदान करें। शत्रु के दल को मारकर (तुम उसी प्रकार विजय पाओ) जैसे शुम्भ एवं निशुम्भ को मारकर देवी (ने पाया था) ॥ २७ ॥

टीका—हरः = सृष्टिसंहारकः शिवः; विष्णुः = सृष्टिपालकः हरिः; ब्रह्मा = सृष्टिकर्ता, रविः = दिनकरः, चन्द्रः = निशाकरश्च, तव = आर्यकस्य, अभयम् = अभीतिम् ददातु = प्रयच्छतु, शत्रूणाम् = अरीणाम् पक्षम् = कुलम्, हत्वा = विनाश्य, (तथैव = तेनैव प्रकारेण, विजयम् = सफलताम्, लभस्व = प्राप्तं कुरु,) यथा = येन प्रकारेण, शुम्भनिशुम्भौ = शुम्भनिशुम्भनामानौ राक्षसौ, (हत्वा = विनाश्य) देवी = दुर्गा, (प्राप्तवती = आदत्तवती) ॥ २७ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में तुल्ययोगिता एवं उपमा अलङ्कार तथा आर्या छन्द है। छन्द का लक्षण—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ २७ ॥

(चेटः प्रवहणेन निष्क्रान्तः)

चन्दनकः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) अरे ! णिक्कमंतस्स मे पिअवअस्सो सव्विलओ पिट्ठदो ज्जेव अणुलग्गो गदो । भोदु, पधाणदंडधारओ वीरओ राअपच्चअआरो विरोहिदो । ता जाव अहंपि पुत्तभादुपडिवुदो एदं ज्जेव अणुगच्छामि । [अरे ! निष्क्रमतो मम प्रियवयस्यः शर्विलकः पृष्ठत एवानुलग्नो गतः । भवतु, प्रधानदण्डधारको वीरको राजप्रत्ययकारो विरोधितः । तद्यावदहमपि पुत्रभ्रातृपरिवृत एतमेवानुगच्छामि ।] (इति निष्क्रान्तः)

इति प्रवहणविपर्ययो नाम षष्ठोऽङ्कः ।

शब्दार्थः—निष्क्रमतः = निकलते हुए, मम = मेरा, प्रियवयस्यः = प्रियमित्र । पृष्ठतः एव = पीछे ही, अनुलग्नः = लगा हुआ । प्रधानदण्डधारकः = प्रधान रक्षाधिकारी । एतम् = आर्यक को ॥

(चेट गाड़ी के साथ निकल जाता है)

अर्थः—चन्दनक-(पर्दे की ओर देखकर) अरे ! (गाड़ी के) बाहर निकलते ही मेरा प्रिय मित्र शर्विलक (गाड़ी के) पीछे पीछे ही लगा हुआ निकल गया । अच्छा, राजा के विश्वासपात्र प्रधान अधिकारी वीरक से (मैंने) विरोध कर लिया है तो पुत्र और बन्धुओं के समेत मैं भी इसी (आर्यक) के पास जाता हूँ ॥

(ऐसा कह कर निकल जाता है)

"प्रवहणविपर्यय" अर्थात् गाड़ी की अदला-बदली नामक छठा अङ्क समाप्त ॥

—: ❀ :—

टीका—निष्क्रमतः = निर्गच्छतः । मम = चन्दनकस्य; प्रियवयस्यः = प्रियमित्रम् । पृष्ठत एव = पश्चादेव; अनुलग्नः = संलग्नः । प्रधानदण्डधारकः = मुख्यरक्षाधिकारी । एतम् = आर्यकम्; एव अनुगच्छामि = अनुसरामि ॥

॥ इति प्रवहणविपर्यासो नाम षष्ठोऽङ्कः ॥

❀ ❀ ❀

सप्तमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चारुदत्तो विदूषकश्च)

विदूषकः—भो ! पेक्ख पेक्ख पुप्फकरंडअजिण्णुज्जाणस्स सस्सिरीअदां । [भोः ! पश्य पश्य पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानस्य सश्रीकताम् ।]

चारुदत्तः—वयस्य ! एवमेतत्; तथा हि

वणिज इव भान्ति तरवः पण्यानीव स्थितानि कुसुमानि ।
शुल्कमिव साधयन्तो मधुकरपुरुषाः प्रविचरन्ति ॥ १ ॥

शब्दार्थः—सश्रीकतां = सुन्दरता को ॥

(इसके बाद चारुदत्त और विदूषक प्रवेश करते हैं)

अर्थः—विदूषक—अहा ! देखिये, देखिये पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान (पुराने बगीचे)की सुन्दरता को ।

टीका—सश्रीकताम् = सौन्दर्यसम्पन्नताम् ॥

वणिज इव इति—

अन्वयः—तरवः, वणिजः, इव; भान्ति, कुसुमानि, पण्यानि, इव, स्थितानि, मधुकरपुरुषाः, शुल्कम्, साधयन्तः, इव, प्रविचरन्ति ॥ १ ॥

शब्दार्थः—तरवः = वृक्ष, वणिजः = बनियों, इव = जैसे, भान्ति = लग रहे हैं, सुशोभित हो रहे हैं । कुसुमानि = फूल, पण्यानि = बेंची जाने वाली चीजों (के); इव = समान, स्थितानि = वर्तमान हैं । मधुकरपुरुषाः=पुरुषों की भाँति भौंरे, शुल्कं = कर को, साधयन्तः = वसूल करते हुए, इव = से, प्रविचरन्ति = फिर रहे हैं ॥

अर्थः—चारुदत्त—मित्र ! ऐसा ही है । क्योंकि—

वृक्ष बनियाँ जैसे लग रहे हैं । फूल बेंची जाने वाली चीजों के समान विराज रहे हैं । (सरकारी) पुरुषों की भाँति भौंरे कर वसूल करते हुए से फिर रहे हैं ॥१॥

टीका—तरवः = वृक्षाः, वणिजः = विक्रेतारः, इव = यथा, भान्ति = शोभन्ते । कुसुमानि = पुष्पाणि, पण्यानि=विक्रेयवस्तूनि, इव, स्थितानि = राजितानि । मधुकराः= भ्रमराः पुरुषाः = शुल्कग्राहिणः राजपुरुषाः इव, शुल्कम् = घट्टादिदेयम् ('घट्टादिदेयं शुल्कः' इत्यमरः), करमित्यर्थः; साधयन्तः = गृह्णन्तः इव, प्रविचरन्ति = इतस्ततः भ्रमन्ति ॥ १ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं आर्या छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ १ ॥

विदूषकः—भो ! इमं असक्काररमणीअं सिलाअलं उवविसदु भवं । [भोः ! इदमसंस्काररमणीयं शिलातलमुपविशतु भवान् ।]

चारुदत्तः—(उपविश्य) वयस्य ! चिरयति वर्धमानकः ।

विदूषकः—भणिदो मए वड्ढमाणओ–'वसंतसेणिअं गेण्हिअ लहुं लहुं आअच्छ' त्ति । [भणितो मया वर्धमानकः—'वसन्तसेनां गृहीत्वा लघु लघ्वागच्छ' इति ।]

चारुदत्तः—तत्किं चिरयति

> **किं यात्यस्य पुरः शनैः प्रवहणं तस्यान्तरं मार्गते**
> **भग्नेऽक्षे परिवर्तनं प्रकुरुते छिन्नोऽथ वा प्रग्रहः ।**
> **वर्त्मान्तोज्झितदारुवारितगतिर्मार्गान्तरं याचते**
> **स्वैरं प्रेरितगोयुगः किमथवा स्वच्छन्दमागच्छति ॥ २ ॥**

शब्दार्थः—असंस्काररमणीयम् = संस्कार के बिना भी रमणीय । चिरयति = देर कर रहा है । लघु = जल्द ॥

अर्थः—**विदूषक**—मित्र ! बिना धोये झाड़े भी सुन्दर साफ इस पटिया (शिला) पर आप बैठ जाँय ।

चारुदत्त—(बैठ कर) मित्र ! वर्धमानक देर कर रहा है ।

विदूषक—मैंने वर्धमानक से कहा था—वसन्तसेना को लेकर बहुत जल्द लौटो ।

टीका—संस्कारेण = सम्मार्जनादिकार्येण रमणीम् = सुन्दरं संस्काररमणीयं न संस्काररमणीयम् असंस्काररमणीयम् । चिरयति = विलम्बं करोति । लघु = शीघ्रम् ॥

किं यात्यस्य इति—

अन्वयः—किम्, अस्य, पुरः, प्रवहणम्, शनैः, याति, तस्य, अन्तरम्, मार्गते ? अक्षे, भग्ने; परिवर्तनम्, कुरुते ? अथवा, प्रग्रहः, छिन्नः ? (अथवा) 'वर्त्मान्तोज्झित-दारुवारितगतिः (सन्), मार्गान्तरम्, याचते ? अथवा, स्वैरम्, प्रेरितगोयुगः, स्वच्छन्दम्, आगच्छति, किम् ? ॥ २ ॥

शब्दार्थः—किम् = क्या, अस्य = इसके, पुरः = आगे, प्रवहणम् = गाड़ी, शनैः = धीरे-धीरे, याति = जा रही है, तस्य = उसके (से), अन्तरम् = अवकाश को, मार्गते = ढूंढ रहा है ? अक्षे = धुरा के, भग्ने = टूट जाने पर, परिवर्तनम् = अदला-बदली को, कुरुते = कर रहा है ? अथवा = या, प्रग्रहः = बैलों को संभालने

की रस्सी, छिन्नः = टूट गयी ? (अथवा), वर्त्मान्तोज्झितदारुवारितगतिः = रास्ता के बीच में रख छोड़े गये काठ से रुक गया है जाना जिसका ऐसा, (सन् = होता हुआ), मार्गान्तरम् = दूसरे रास्ते को, याचते = ढूंढ रहा है ? अथवा=या, स्वैरम् = धीरे-धीरे प्रेरितगोयुगः = बैलों को हाँकता हुआ, स्वच्छन्दम् = मौज से, आगच्छति = आ रहा है, किम् = क्या ? ॥

अर्थः–चारुदत्त–तो क्यों देर कर रहा है ?

क्या इसके (वर्धमानक के) आगे (कोई दूसरी) गाड़ी धीरे-धीरे जा रही है ? (और वह) उस गाड़ी से आगे बढ़ने का रास्ता ढूंढ रहा है ? अथवा धुरा टूट जाने पर (उसको) बदल रहा है ? अथवा (बैलों को बाँधने की) रस्सी ही टूट गयी ? अथवा (सरकारी आज्ञा से आना-जाना रोकने के लिये) सड़क के बीचो-बीच रख छोड़े गये भारी काठ से रास्ता रुक जाने के कारण (वर्धमानक) दूसरा मार्ग ढूंढ रहा है अथवा धीरे-धीरे बैलों को हाँकता हुआ मौज से आ रहा है क्या ? ॥२॥

टीका—किम्; अस्य = वर्धमानकस्य, पुरः = अग्रे, प्रवहणम्=अन्यत् शकटम्, शनैः = मन्दं मन्दमित्यर्थः, याति = व्रजति, तस्य = पुरो गच्छतः प्रवहणस्य, अन्तरम्=गन्तुम् अवकाशम्, मार्गते = अन्विष्यति ? अक्षे = शकटे, भग्ने = त्रुटिते सति, परिवर्तनम् = तस्य निःसारणं तथा तत्र अन्यस्य नियोजनम् इत्यर्थः, कुरुते= विदधाति ? अथवा–विकल्पार्थे शब्दोऽयं प्रयुज्यते, प्रग्रहः = वृषभबन्धनरश्मिः, छिन्नः= भग्नः ? अथवा = उत्, वर्त्मनः = मार्गस्य अन्ते = मध्यभागे उज्झितम्=परित्यक्तम्, राजकर्मचारिभिः इति शेषः, यत् दारु=काष्ठम् तेन रुद्धा = वारिता गतिः=गमनम् यस्य तादृशः सन् ('कर्मान्त—' इति पाठान्तरम् । 'कर्मान्तो राजादीनां नियोगविशेषः तत्सम्बन्धिनि धर्मे त्यक्तकाष्ठानि तैः प्रतिरुद्धगमनः' इति पृथ्वीधरः), मार्गान्तरम्= अन्यं पन्थानम्, याचते=प्रार्थयति, अनुसरति इति भावः । अथवा, स्वैरम्=मन्दम्, शनैः शनैः इत्यर्थः, प्रेरितम्=सञ्चालितं गोयुगम्=बलीवर्द्द्वयं येन तादृशः सन्, स्वच्छन्दम् = यथेच्छम्, आगच्छति = आयाति, किम् ? । वसन्तसेनायाः दर्शनाय उत्कण्ठितः चारुदत्तः नानाप्रकारैः सन्देहं करोति इति भावः ॥ २ ॥

टिप्पणी—भग्ने=टूट जाने पर, ध्वस्त हो जाने पर, √भञ्ज् + क्त । छिन्नः= कटा हुआ, टूटा हुआ; √छिद्+क्त ॥

इस श्लोक में सन्देह नामक अलङ्कार एवं शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ २ ॥

(प्रविश्य, गुप्तार्यकप्रवहणस्थः)

चेटः—जाध गोणा ! जाध । [यातं गावौ ! यातम् ।]

आर्यकः—(स्वगतम्)

नरपतिपुरुषाणां दर्शनाद्भीतभीतः
सनिगडचरणत्वात्सावशेषापसारः ।
अविदितमधिरूढो यामि साधोस्तु याने
परभृत इव नीडे रक्षितो वायसीभिः ॥ ३ ॥

नरपति पुरुषाणामिति—

अन्वयः—नरपतिपुरुषाणाम्, दर्शनात्, भीतभीतः, सनिगडचरणत्वात्, सावशेषापसारः, (अहम्) वायसीभिः, नीडे, रक्षितः, परभृतः, इव, साधोः, याने, अविदितम्, (तु), अधिरूढः, (सन्), यामि ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—नरपतिपुरुषाणाम्=सिपाहियों को, दर्शनात्=देखने से, भीतभीतः=डरा हुआ; सनिगडचरणत्वात्=बेड़ी से पैर जकड़े रहने के कारण, सावशेषापसारः=पूर्णरूप से भाग निकलने में असमर्थ, (अहम्=मैं) वायसीभिः=कौवों की स्त्रियों के द्वारा, नीडे=घोसले में, रक्षितः=पाले गये, परभृतः इव=कोयल के समान, साधोः=सज्जन की, याने=गाड़ी पर, अविदितम्=छिपे रूप से, अधिरूढः=चढ़ा हुआ, यामि=जा रहा हूँ ॥

अर्थः–(छिप कर बैठा हुआ है आर्यक जिसमे ऐसी गाड़ी पर बैठा हुआ प्रवेश करके)

चेट—चलो बैलों ! चलो ।

आर्यक—(अपने आप)

सिपाहियों (राजपुरुषों) को देखने से अत्यन्त डरा हुआ, बेड़ी से पैर जकड़े रहने के कारण पूर्णरूप से भाग निकलने में असमर्थ, (मैं), कौवों की स्त्रियों के द्वारा घोसले में पाले गये कोयल के समान, (किसी) सज्जन पुरुष की सवारी पर छिपे रूप से चढ़कर जा रहा हूँ ॥ ३ ॥

टीका—नरपतेः=राज्ञः पुरुषाणाम्=अधिकारिणाम्; रक्षिणामित्यर्थः; कोकिलपक्षे—नरपतिपुरुषाणाम्=शाकुनिकानामिति भावः; दर्शनात्=अवलोकनात्; भीतभीतः=अतिभीतः; निगडेन=शृङ्खलया सहितः सनिगडः=सशृङ्खलः चरणः=पादः यस्य तस्य भावः तत्त्वं तस्मात्; चरणस्य सशृङ्खलत्वात्; (हेतोः); कोकिलपक्षे—

अहो, नगरात्सुदूरमपक्रान्तोऽस्मि; तत्किमस्मात्प्रवहणादवतीर्य वृक्षवाटिकागहनं प्रविशामि ? उताहो प्रवहणस्वामिनं पश्यामि ? अथ वा कृतं वृक्षवाटिकागहनेन। अभ्युपपन्नवत्सलः खलु तत्रभवानार्यचारुदत्तः श्रूयते; तत्प्रत्यक्षीकृत्य गच्छामि।

सनिगडः इव सनिगडः=बाल्यान्मन्दगमनः चरणः=पादः यस्य तस्य भावः तत्त्वं तस्मात्, सावशेषः=किञ्चिदवशिष्टः अपसारः=पलायनं यस्य तादृशः, अहम्, वायसीभिः=काकीभिः, नीडे=कुलाये ('कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इत्यमरः), रक्षितः=पालितः, परभृतः=कोकिल इव, साधोः=सज्जनस्य, आर्यचारुदत्तस्य इत्यर्थः, याने=प्रवहणे, अविदितम्=अज्ञातं यथा तथा, अधिरूढः=अधिष्ठितः सन्, यामि=व्रजामि ॥ ३ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं मालिनी छन्द है।
छन्द का लक्षण—

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—सुदूरम्=काफी दूर, अपक्रान्तः=निकल आया हुआ। वृक्षवाटिकागहनम्=पेडों के बगीचे की गुफा में, झुरमुट में। उताहो=अथवा, प्रवहणस्वामिनम्=गाड़ी के मालिक को। कृतम्=बस करो, वृक्षवाटिकागहनेन=बाग के घने स्थान से अर्थात् बाग के घने स्थान में प्रवेश से। अभ्युपपन्नवत्सलः=शरणागत पर दया करने वाले। प्रत्यक्षीकृत्य=देख करके ॥

अर्थः—अहो ! नगर से काफी दूर निकल आया हूँ। तो क्या इस गाड़ी से उतर कर पेड़ों के बगीचे की गुफा (घने स्थान) में घुस जाऊँ ? अथवा गाड़ी के मालिक का दर्शन करूँ ? अथवा बाग के घने स्थान में नहीं जाऊँगा। सुना जाता है कि पूज्य आर्य चारुदत्त शरणागत पर दया करने वाले हैं। इसलिये (इनका) दर्शन कर के ही जाऊँगा।

टीका—सुदूरम्=अतिदूरम्, अपक्रान्तः=पलाय्य आगतः। वृक्षवाटिकायाः=उपवनस्य गहनम्=दुर्गमस्थानम्, अतिकृच्छ्रसञ्चारयोग्यस्थानम् इति भावः। उताहो=अथवा, प्रवहणस्य=शकटस्य स्वामिनं=प्रभुम्। कृतम्=अलम्, वृक्षवाटिकायाः उद्यानस्य गहनेन=निविडप्रदेशप्रवेशेन इत्यर्थः। वृक्षवाटिकायाः गहनप्रदेशे प्रवेशं न करिष्यामि इति भावः। अभ्युपपन्नेषु शरणागतेषु वत्सलः=स्नेहपूर्णः, शरणागतरक्षकः इति भावः। प्रत्यक्षीकृत्य=अवलोक्य ॥

टिप्पणी—'वृक्षवाटिका' इस शब्द में वृक्ष शब्द अनावश्यक है। 'वाटिका'

स तावदस्माद्व्यसनार्णवोत्थितं निरीक्ष्य साधुः समुपैति निर्वृतिम् ।
शरीरमेतद्गतमीदृशीं दशां धृतं मया तस्य महात्मनो गुणैः ॥ ४ ॥

कहने मात्र से जो अर्थ प्रतीत होता है, वही 'वृक्षवाटिका' शब्द का भी अर्थ यहाँ अभीष्ट है ॥

स तावदिति—

अन्वयः—तावत्, सः, साधुः, अस्मात्, व्यसनार्णवोत्थितम्, (माम्), निरीक्ष्य, निर्वृतिम्, समुपैति, ईदृशीम्, दशाम्, गतम्, एतत्, शरीरम्, मया, तस्य, महात्मनः, गुणैः, धृतम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—तावत् = (यह केवल वाक्य की सुन्दरता के लिये प्रयोग किया गया है) सः = वह, साधुः = सज्जन, अस्मात् = इस, व्यसनार्णवोत्थितम् = विपत्ति-रूपी सागर से उबरा हुआ, (माम् = मुझको), निरीक्ष्य = देख कर, निर्वृतिम् = सुख को, समुपैति = प्राप्त होंगे । ईदृशीम् = ऐसी, दशाम् = हालत को, गतम् = गया हुआ, एतत् = यह, शरीरम् = शरीर, मया = मेरे द्वारा, तस्य = उस, महात्मनः = महात्मा के, गुणैः = गुणों से, धृतम् = धारण किया गया है ॥

अर्थः—वह सज्जन इस विपत्तिरूपी सागर से उबरा हुआ (मुझे) देखकर सुख को प्राप्त होंगे । मैंने ऐसी हालत में पड़े हुए इस शरीर को उन्हीं महात्मा के गुणों से ही धारण किया है (अन्यथा सिपाहियों के हाँथ से बच निकलना मुश्किल था)॥४॥

टीका—तावदिति वाक्यालङ्कारे । सः = सर्वजनविदितः, साधुः = सज्जनः, चारुदत्तः इति शेषः, अस्मात् = अनुभूयमानात्, व्यसनम् = दुखम् एव अर्णवः = सागरः तस्मात् उत्थितम् = निर्गतम्, रक्षितम् इत्यर्थः, मामितिशेषः [अत्र सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः] निरीक्ष्य = अवलोक्य, निर्वृतिम् = परमं सुखं सन्तोषं वा, समुपैति = प्राप्स्यति । ईदृशीम् = अनुभूयमानाम्, अतिदुःखकरीमित्यर्थः, दशाम् = अवस्थाम्, गतम् = प्राप्तम्, एतत् = तस्य प्रवहणे सुरक्षितं मदीयम्, शरीरम् = देहः, मया = आर्यकेण, तस्य = प्रसिद्धस्य; महात्मनः = सज्जनस्य, गुणैः = कीर्त्यादिभिः इत्यर्थः, वात्सल्यादिगुणैः वा; धृतम् = अवस्थापितम् । महात्मनः चारुदत्तस्य प्रवहणे आरोहादेव रक्षितः अहं चन्दनकेन । अन्यथा मरणमेव ध्रुवमासीदिति भावः ॥ ४ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार एवं वंशस्थ छन्द है । छन्द का लक्षण—

जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ॥ ४ ॥

चेटः—इमं तं उज्जाणं, जाव उवशप्पामि। (उपसृत्य) अज्जमित्तेअ !। [इदं तदुद्यानम्, यावदुपसर्पामि। आर्यमैत्रेय !।]

विदूषकः—भो ! पिअं दे णिवेदेमि। वड्ढमाणओ मंतेदि। आगदाए वसन्तसेणाए होदब्वं। [भोः ! प्रियं ते निवेदयामि। वर्धमानको मन्त्रयति। आगतया वसन्तसेनया भवितव्यम्।]

चारुदत्तः—प्रियं नः प्रियम्।

विदूषकः—दासीए पुत्ता ! किं चिरइदो सि ?। [दास्याःपुत्र ! किं चिरायितोऽसि ?।]

चेटः—अज्जमित्तेअ ! मा कुप्प; जाणत्थलके विशुमलिदे त्ति कदुअ गदागदं कलेंते चिलइदेम्हि। [आर्यमैत्रेय ! मा कुप्यः यानास्तरणं विस्मृतमिति कृत्वा गतागतं कुर्वंश्चिरायितोऽस्मि।]

चारुदत्तः—वर्धमानक ! परिवर्तय प्रवहणम्। सखे मैत्रेय ! अवतारय वसन्तसेनाम्।

शब्दार्थः—प्रियम्=अच्छी बात, ते=तुम्हारे लिये। मन्त्रयति=बोल रहा है। दास्याः=दासी के, पुत्र !=बच्चे ! चिरायितः=देर करके आया हुआ। कुप्य=क्रोध करो। इति कृत्वा=इस लिये, गतागतम्=जाने-आनेको। परिवर्तय=घुमाओ। निगडेन=बेड़ी से, न अवतरति=नहीं उतर रही है। वसन्तसेनः=वसन्तसेन (है), अर्थात् स्त्री नहीं, पुरुष है। स्नेहः=प्रेम, कालम्=समय को, न अपेक्षते=नहीं चाहता है, अर्थात् नहीं बर्दास्त करता है। श्रुतिरमणीयः=सुनने में सुन्दर, दृष्टिरमणीयः=देखने में सुन्दर। हन्त !=(यह प्रसन्नतासूचक अव्यय है।) रक्षितः=बच गया, अस्मि=हूँ॥

अर्थः—**चेट**—यह वह (पुष्पकरण्डक) बगीचा है। जब तक पास चलता हूँ। (पास जाकर) आर्य मैत्रेय !

विदूषक—मित्र ! आप से प्रिय निवेदन करता हूँ, वर्धमानक बोल रहा है। वसन्तसेना आगयी होगी।

चारुदत्त—प्रिय है, हमारा प्रिय है।

विदूषक—दासी के बच्चे ! क्यों देर की है ?

चेट—आर्य मैत्रेय ! कोप मत कोजिए। गाड़ी की गद्दी भूल गया था। इसलिये (फिर) जाना-आना करने में देर हो गई।

विदूषकः—किं णिअडेण बद्धा से गोड्डा, जेण सअं ण ओदरेदि ? । (उत्थाय, प्रवहणमुद्धाटच) भो ! ण वसंतसेणा, वसंतसेणो खु एसो । [किं निगडेन बद्धावस्याः पादौ, येन स्वयं नावतरति ? । भोः ! न वसन्तसेना, वसन्तसेनः खल्वेषः ।]

चारुदत्तः—वयस्य ! अलं परिहासेन । न कालमपेक्षते स्नेहः । अथ वा स्वयमेवावतारयामि । (इत्युत्तिष्ठति)

आर्यकः—(दृष्ट्वा) अये अयमेव प्रवहणस्वामी । न केवलं श्रुतिरमणीयो दृष्टिरमणीयोऽपि । हन्त, रक्षितोऽस्मि ।

चारुदत्तः—(प्रवहणमधिरुह्य, दृष्ट्वा च) अये, तत्कोऽयं ? ।

करिकरसमबाहुः सिंहपीनोन्नतांसः
पृथुतरसमवक्षास्ताम्रलोलायताक्षः ।
कथमिदमसमानं प्राप्त एवंविधो यो
वहति निगडमेकं पादलग्नं महात्मा ॥ ५ ॥

चारुदत्त—वर्धमानक ! गाड़ी घुमाओ । मित्र मैत्रेय ! वसन्तसेना को उतारो ।

विदूषक—क्या इसके पैर वेड़ी से बँधे हुए हैं, जिससे खुद नहीं उतर रही है ? (उठकर, गाड़ी को खोलकर) मित्र ! यह वसन्तसेना नहीं वसन्तसेन है ।

चारुदत्त—मित्र ! हँसी मत करो । प्रेम देरी को नहीं बर्दास्त करता । अथवा (मैं) खुद ही उतारता हूँ । (ऐसा कह कर उठता है)

आर्यक—(देख कर) अरे ! यही गाड़ी के मालिक हैं । (यह) केवल सुनने में ही सुन्दर नहीं, किन्तु देखने में भी मनोहर हैं । वाह ! (अब तो) मेरी रक्षा हो गयी ।

टीका—प्रियम्=प्रियसमाचारमित्यर्थः, प्रियवार्तां वा, ते=तुभ्यम् । मन्त्रयति=वदति । दास्याः पुत्र !=सेविकासुत ! चिरायितः = विलम्बेन आगतः । कुप्य=क्रुद्धः भव । इति कृत्वा=अस्मात् कारणात्, गतागतम्=गमनागमनम् । परिवर्तय=प्रवहणस्य पश्चाद्भागः उद्यानस्य अभिमुखं कुरु इति भावः । निगडेन=शृङ्खलया; न अवतरति==भूमौ न आगच्छति । वसन्तसेनः = कश्चित् पुरुषः अयम्; नतु वसन्तसेना इत्यभिप्रायः । स्नेहः = अनुरागातिशयः; कालम् = कालानिपातम् इत्यर्थः; न अपेक्षते न सहते । श्रुतौ = श्रवणे रमणीयः = सुन्दरः; दृष्टौ=अवलोकने रमणीयः = चित्ताकर्षकः । स्वगुणैः प्रख्यातः अयं न केवलं स्वसम्बन्धिनीभिः कथाभिः सुन्दरः अस्ति अपितु दर्शने अपि सुन्दरः वर्तते; हन्त ! प्रसन्नताद्योतकम् अव्ययपदम् इदम् । रक्षितः =सुरक्षितः, अस्मि = वर्ते ॥

करिकरेति—

अन्वयः—करिकरसमबाहुः, सिंहपीनोन्नतांसः, पृथुतरसमवक्षाः, ताम्रलोलायताक्षः, यः, एवंविधः, महात्मा, (अस्ति, सः), कथम्, इदम्, असमानम्, (बन्धनम्) प्राप्तः, (सन्) पादलग्नम्, एकम्, निगडम्, वहति ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—करिकरसमबाहुः = हाथी के सूँड़ के समान भुजावाला, सिंहपीनोन्नतांसः = सिंह के समान मोटे एवं ऊँचे कन्धेवाला, पृथुतरसमवक्षाः = ऊँची एवं समतल छाती वाला, ताम्रलोलायताक्षः = ताँबे की रङ्ग की चञ्चल तथा बड़ी-बड़ी आँखोंवाला, यः = जो, एवंविधः = इस प्रकार, महात्मा = महापुरुष, (अस्ति = है, सः = वह), कथम् = कैसे, इदम् = इस, असमानम् = अयोग्य, (बन्धनम् = बन्धन को), प्राप्तः सन् = प्राप्त होकर, पादलग्नम् = पैर में लगी हुई, एकम् = एक, निगडम् = बेड़ी को, वहति = धारण कर रहा है ॥

अर्थः—**चारुदत्त**—(गाड़ी पर चढ़ कर और देख कर) अरे ! तो यह कौन है ?

हाथी के सूंड़ के समान जिसकी भुजाएँ हैं। सिंह के समान मोटे एवं ऊंचे जिसके कन्धे हैं। उँची एवं समतल जिसकी छाती है। ताँबे के रङ्ग की, चञ्चल तथा बड़ी-बड़ी जिसकी आँखें हैं—इस प्रकार का जो यह महात्मा है (वह) कैसे इस अयोग्य हालत में पड़कर पैर में लगी हुई एक बेड़ी को धारण कर रहा है ? ॥ ५ ॥

टीका—करिणः = गजस्य करेण = शुण्डेन समौ = तुल्यौ बाहू = भुजौ यस्य तथोक्तः, दीर्घबाहुः इत्यर्थः। सिंहस्य = मृगराजस्य इव पीनौ = प्रपुष्टौ उन्नतौ = उच्छ्रितौ अंसौ = स्कन्धौ यस्य तादृशः। पृथुतरम् = अतिविशालम् समम् = समानम्, वक्षः = वक्षस्थलं यस्य सः। ताम्रे = ईषद्रक्ते लोले = चञ्चले अक्षिणी = नेत्रे यस्य तथोक्तः। यः = जनः, एवंविधः = एवम्प्रकारः, महात्मा = महापुरुषः महाशयः वा अस्तीतिशेषः, सः कथम् = केन प्रकारेण, असमानम् = अयोग्यम्, बन्धनमिति शेषः, प्राप्तः = उपगतः, सन् पादे = चरणे लग्नम् = संयुतम्, एकम्, निगडम् = शृङ्खलम्, वहति = धारयति। एवम्विधस्य महापुरुषलक्षणलाञ्छितस्य जनस्य एतत् बन्धनम् अत्याश्चर्यकरमिति भावः ॥ ५ ॥

टिप्पणी—करिकर० इत्यादि विशेषणों से यह ज्ञात होता है कि वह महापुरुषों के लक्षण से युक्त था।

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं मालिनी छन्द है। छन्द का लक्षण—

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ॥ ५ ॥

ततः को भवान् ? ।

आर्यकः—शरणागतो गोपालप्रकृतिरार्यकोऽस्मि ।

चारुदत्तः—किं घोषादानीय योऽसौ राजा पालकेन बद्धः ? ।

आर्यकः—अथ किं ।

चारुदत्तः—

विधिनैवोपनीतस्त्वं चक्षुर्विषयमागतः ।
अपि प्राणानहं जह्यां न तु त्वां शरणागतम् ॥६॥

शब्दार्थः—शरणागतः=शरण में आया हुआ, गोपालप्रकृतिः =अहीर के खानदान में पैदा हुआ, अहीर का बालक। घोषात् = अहीरों की बस्ती से ।

अर्थः—तो आप कौन हैं ?

आर्यक—शरण में आया हुआ अहीर का बालक आर्यक हूँ ।

चारुदत्त—क्या जिसे अहीरों की वस्ती (घोष) से लाकर राजा पालक ने बन्दी बनाया था ?

आर्यक—और क्या ?

टीका—शरणे = रक्षणे आगतः = प्राप्तः; गोपालः=आभीरः प्रकृतिः = कारणं जनकः इति यावत् यस्य सः । घोषात्=आभीरपल्ल्याः; आभीराणां निवासस्थानादित्यर्थः ॥

विधिनैवेति—

अन्वयः—विधिना, एव, उपनीतः, त्वम्, (मम) ,चक्षुर्विषयम्, आगतः, (असि) । अहम्, प्राणान्, अपि, जह्याम्, तु, शरणागतम्, त्वाम्, न ॥६॥

शब्दार्थः—विधिना = भाग्य से, एव = ही, उपनीतः = लाये गए, त्वम् = तुम, (मम=मेरी), चक्षुर्विषयम्=आँखों के दृश्य-भाव को, आगतः=प्राप्त हुए (असि= हो) । अहम् = मैं, प्राणान् = प्राणों को, अपि = भी, जह्याम् = छोड़ दूँ, तु = किन्तु शरणागतम् = शरण में आए हुए, त्वाम्=तुमको, न = नहीं, (छोड़ सकता) ॥

अर्थः—चारुदत्त—भाग्य के द्वारा ही लाये तुम (मेरी) आँखों के विषय हुए हो । चाहे मैं प्राणों को भले ही छोड़ दूँ, किन्तु शरण में आये हुए तुमको नहीं छोड़ सकता ॥ ६ ॥

टीका—विधिना = भाग्येन; एव; उपनीतः = आनीतः; त्वम् = आर्यकः; मम चक्षुषोः = नयनयोः विषयम् = गोचरं दृष्टिपक्षमित्यर्थः, आगतः=प्राप्तः असीति शेषः ।

(आर्यको हर्षं नाटयति)

चारुदत्तः—वर्धमानक ! चरणान्निगडमपनय ।

चेटः—जं अज्जो आणवेदि । (तथा कृत्वा) अज्ज ! अवणीदाइं णिगलाइं । [यदार्य आज्ञापयति । आर्य ! अपनीतानि निगडानि ।]

आर्यकः—स्नेहमयान्यन्यानि दृढतराणि दत्तानि ।

विदूषकः—संगच्छेहि णिअडाइं । एसो वि मुक्को । संपदं अम्हे वच्चिस्सामो । [संगच्छस्व निगडानि । एषोऽपि मुक्तः । सांप्रतं वयं व्रजिष्यामः ।]

चारुदत्तः—धिक्, शान्तम् ।

आर्यकः—सखे चारुदत्त ! अहमपि प्रणयेनेदं प्रवहणमारूढः; तत्क्षन्तव्यम् ।

चारुदत्तः—अलंकृतोऽस्मि स्वयंग्राहप्रणयेन भवता ।

आर्यकः—अभ्यनुज्ञातो भवता गन्तुमिच्छामि ।

चारुदत्तः—गम्यताम् ।

आर्यकः—भवतु, अवतरामि ।

चारुदत्तः—सखे ! नावतरितव्यम् । प्रत्यग्रापनीतसंयमनस्य भवतोऽलघुसंचारा गतिः । सुलभपुरुषसंचारेऽस्मिन्प्रदेशे प्रवहणं विश्वासमुत्पादयति, तत्प्रवहणेनैव गम्यताम् ।

अहम् = चारुदत्तः; प्राणान् = असून्; अपि, जह्याम् = त्यजेयम्, तु = किन्तु, शरणे = रक्षणे आगतम् = उपस्थितम्, त्वाम् = आर्यकम्, न = न जह्यामिति शेषः । प्राणान् परित्यज्य अपि तव रक्षां करिष्यामीति मे निश्चयः । अतः न भेतव्यं त्वयाऽत्र ॥६॥

टिप्पणी—इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥६॥

शब्दार्थः—अपनय=निकाल दो । अपनीतानि = निकाल दी गयीं । स्नेहमयानि = प्रेम की बनी हुई, अन्यानि = दूसरी, दृढतराणि = अधिक मजबूत (बेड़ियाँ), दत्तानि=पहना दी गयीं । सङ्गच्छस्व = धारण करो, प्राप्त करो । एषः=यह आर्यक, मुक्तः = छूट गया । स्वयंग्राहप्रणयेन=गाड़ी को स्वयं ग्रहण करने के स्नेह से । अभ्यनुज्ञातः = आज्ञा पाया हुआ, आज्ञप्त । प्रत्यग्रापनीतसंयमनस्य=तुरत कटी है बेड़ी जिसकी ऐसे, भवतः = आपकी, अलघुसञ्चारा=जिसमें शीघ्रता से नहीं चला जा सकता ऐसी, गतिः=चाल, गमन । सुलभपुरुषसञ्चारे=जहाँ पर राज-पुरुषों (सिपाहियों) का आना-जाना होता है ऐसे ॥

(आर्यक प्रसन्नता का अभिनय करता है)

अर्थः—चारुदत्त—वर्धमानक ! पैर से बेड़ी निकाल दो ।

चेट—जैसी आर्य की आज्ञा। (बेड़ी खोलकर) आर्य ! बेड़ियों को निकाल दिया ।

आर्यक—प्रेममय दूसरी अधिक मजबूत (बेड़ियाँ) पहना दी गयी हैं ।

विदूषक—बेड़ियों को (अब तुम) धारण करो। यह भी छूट गया । अब हम लोग (जेल) चलेंगे(अर्थात् इसे तो आपने मुक्त कर दिया। दूतों से खबर पाकर राजा पालक हमें बाँध कर जेल में डाल देगा) ।

चारुदत्त—धिक्, चुप रहो ।

आर्यक—मित्र चारुदत्त ! मैं भी प्रेम के कारण इस गाड़ी पर चढ़ गया था । तो मुझे क्षमा कर देना चाहिये ।

चारुदत्त—आपके द्वारा गाड़ी को स्वयं ग्रहण करने के स्नेह से (मैं) अलङ्कृत हो गया हूँ ।

आर्यक—आपसे आज्ञा लेकर (अब मैं) जाना चाहता हूँ ।

चारुदत्त—जाइए ।

आर्यक—अच्छा तो, उतरता हूँ ।

चारुदत्त—मित्र ! उतरना नहीं चाहिए (क्योंकि) तुरत बेड़ी कटने से (शरीर के सुन्न हो जाने के कारण) आप शीघ्र न चल सकेंगे । सिपाहियों के आने-जाने वाले इस स्थान में गाड़ी विश्वास पैदा करेगी । इसलिये गाड़ी से ही जाइये ।

टीका—अपनय=निःसारय । अपनीतानि=निःसारितानि । स्नेहमयानि= प्रेममयानि, कृपामयानि वा; अन्यानि=इतराणि, दृढतराणि=अच्छेद्यानि, दत्तानि= समर्पितानि । सङ्गच्छस्व=सङ्गतानि कुरु । एषः=आर्यकः, मुक्तः=मुक्तिं प्राप्तः । स्वयम्=अनुमत्या विनैव ग्राहे=प्रवहणस्य ग्रहणे, स्वीकारे इत्यर्थः, यः प्रणयः= उदारता, स्नेहः वा तेन, अथवा स्वयं ग्राहे प्रणयः यस्य सः तेन, भवता । अभ्यनुज्ञातः =आज्ञप्तः प्रत्यग्रम्=नवम्, तत्कालमित्यर्थः, ('प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नवः' इत्यमरः), अपनीतम्=अपसारितं संयमनम्=बन्धनम् यस्य तस्य, भवतः= तव आर्यकस्य इत्यर्थः, अलघुः=मन्दः संचारः=पादक्षेपः यस्यां सा गतिः=गमनम् । सुलभः=अनायासलभ्यः पुरुषाणाम्=रक्षिणाम्, राजपुरुषाणामित्यर्थः, सञ्चारः= गमनागमनम् यस्मिन् तस्मिन् ॥

आर्यकः—यथाह भवान् ।

चारुदत्तः—

क्षेमेण व्रज बान्धवान्

आर्यकः—

ननु मया लब्धो भवान् बान्धवः

चारुदत्तः—

स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरेषु भवता

आर्यकः—

स्वात्मापि विस्मर्यते ? ।

चारुदत्तः—

त्वां रक्षन्तु पथि प्रयान्तममराः

आर्यकः—

संरक्षितोऽहं त्वया

चारुदत्तः—

स्वैर्भाग्यैः परिरक्षितोऽसि

आर्यकः—

ननु हे तत्रापि हेतुर्भवान् ॥ ७ ॥

क्षेमेण इति—

अन्वयः—क्षेमेण, बान्धवान्, व्रज । ननु, मया, भवान्, बान्धवः, लब्धः । भवता, कथान्तरेषु, स्मर्तव्यः, अस्मि । स्वात्मा, अपि, विस्मर्यते ? । पथि, प्रयान्तम्, त्वाम्, अमराः, रक्षन्तु । अहम्, त्वया, संरक्षितः । स्वैः, भाग्यैः, परिरक्षितः, असि । ननु, हे, तत्र, अपि, भवान्, हेतुः ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—क्षेमेण = कुशलता के साथ, बान्धवान् = सम्बन्धियों के पास, व्रज = जाओ । ननु = निश्चय ही, मया = मेरे द्वारा, भवान् = आप, बान्धवः = सम्बन्धी, लब्धः = पा लिये गये हैं । भवता = आपके द्वारा, कथान्तरेषु = प्रसङ्गवश चलनेवाली बातचीत में, स्मर्तव्यः = याद किये जाने के योग्य, अस्मि=हूँ । स्वात्मा = अपनी आत्मा, अपि = भी, विस्मर्यते ? = क्या भुलाया जाता है ? । पथि = रास्ते में, प्रयान्तम् = जाते हुए, त्वाम् = तुमको, अमराः = देवता लोग, रक्षन्तु=बचावें । अहम्= मैं (आर्यक), त्वया = तुम्हारे द्वारा, संरक्षितः = बचाया गया (हूँ) । स्वैः = अपने,

भाग्यैः = भाग्यों के द्वारा; परिरक्षितः = बचाये गये, असि = हो। ननु = निश्चय ही, हे = हे श्रद्धेय महानुभाव ! तत्र = उसमें, अपि = भी, भवान् = आप, हेतुः = कारण (हैं) ॥

अर्थः—आर्यक—जैसी आपकी आज्ञा ।

चारुदत्त—कुशलता के साथ अपने सम्बन्धियों के पास जाओ।

आर्यक—निश्चय ही मैंने आपको ही सम्बन्धी पा लिया है।

चारुदत्त—(कभी-कभी) बातचीत में मेरी याद कर लेना।

आर्यक—क्या अपना आत्मा भी भुलाया जाता है ?

चारुदत्त—रास्ते में जाते हुए तुम्हारी रक्षा देवता करें।

आर्यक—मैं तुम्हारे द्वारा बचाया गया (अर्थात् रक्षित हुआ)।

चारुदत्त—अपने भाग्यों के द्वारा बचाये गये हो।

आर्यक—मित्र ! निश्चय ही इसमें भी आप कारण हैं ॥ ७ ॥

टीका—अस्मिन् श्लोके चारुदत्तार्यकौ परस्परं वदतः। गमनस्य अभ्यनुज्ञां ददाति चारुदत्तः—क्षेमेण = कुशलेन, बान्धवान् = स्वजनानान्; व्रज = गच्छ। आर्यकः चारुदत्तोक्तस्य वाक्यस्य उत्तरं कथयति—ननु = भोः, मया = आर्यकेणेत्यर्थः; भवान् = त्वम्; बान्धवः = स्वजनः; लब्धः = प्राप्तः। चारुदत्तः वदति—भवता = त्वया आर्यकेण इत्यर्थः; कथान्तरेषु = सामयिकवार्तासु, स्मर्तव्यः = स्मरणीयः; अस्मि। यदि अहं बान्धवः तर्हि बान्धवेषु ममापि स्मरणं करिष्यसि इति चारुदत्तस्य भावः। आर्यकः उत्तरं ददाति—स्वात्मापि = स्वकीयः आत्मा अपि, विस्मर्यते = विस्मरणीयः भवति किम् ? त्वं मम हृदयमिव असि। अतः तव विस्मरणं न शक्यम्। पुनः चारुदत्तः तस्य शुभं कामयते—पथि = मार्गे, प्रयान्तम् = गच्छन्तम्; त्वाम् = आर्यकम् इत्यर्थः; अमराः = देवाः; रक्षन्तु = रक्षां कुर्वन्तु। आर्यकः उत्तरयति—अहं = आर्यकः इत्यर्थः; त्वया = चारुदत्तेन; संरक्षितः = परित्रातः। स्वकीयमौदार्यं प्रदर्शयन् चारुदत्तः कथयति—स्वैः = स्वकीयैः; भाग्यैः = भागधेयैः एव; परिरक्षितः = संरक्षितः; असि। आर्यकः पुनः सप्रश्रयं वदति—ननु = निश्चयेन; हे इति सम्बोधने; तत्रापि = भाग्यविहिते रक्षणे अपि; भवान् = त्वमेव; हेतुः = कारणम्। त्वां विना अद्य मम रक्षणम् असम्भवमासीत् ॥ ७ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

लक्षण— सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ७ ॥

चारुदत्तः—यदुद्यते पालके महती रक्षा न वर्तते, तच्छीघ्रमपक्रामतु भवान्।

आर्यकः—एवम्, पुनर्दर्शनाय। (इति निष्क्रान्तः)

चारुदत्तः—

कृत्वैवं मनुजपतेर्महद्व्यलीकं
स्थातुं हि क्षणमपि न प्रशस्तमस्मिन्।
मैत्रेय ! क्षिप निगडं पुराणकूपे
पश्येयुः क्षितिपतयो हि चारदृष्ट्या॥ ८॥

अर्थः—**चारुदत्त**—क्योंकि (पकड़ने के लिये) पालक के उद्यत रहने पर आपकी भली-भाँति रक्षा नहीं हो सकती, इसलिये आप जल्द ही यहाँ से भाग जायँ।

आर्यक—अच्छा, फिर दर्शन के लिये (आशा करता हुआ जाता हूँ)। (ऐसा कहकर निकल जाता है)

कृत्वैवमिति—

अन्वयः—एवं, मनुजपतेः, महत्, व्यलीकम्, कृत्वा, अस्मिन्, (उद्याने), क्षणम्, अपि, स्थातुम्, न, प्रशस्तम्, हि; मैत्रेय ! निगडम्, पुराणकूपे, क्षिप, हि, क्षितिपतयः, चारदृष्ट्या, पश्येयुः॥ ८॥

शब्दार्थः—एवं = इस प्रकार से, मनुजपतेः = राजा के, महत् = बहुत बड़े, व्यलीकम् = अपराध को, कृत्वा = करके, अस्मिन् = इस, (उद्याने = बगीचे में), क्षणम् = एक क्षण, अपि = भी, स्थातुम् = रुकना, न = नहीं, प्रशस्तम् = उचित, ठीक नहीं। मैत्रेय ! = हे मैत्रेय ! निगडम् = बेड़ी को, पुराणकूपे = पुराने कुँए में, क्षिप = फेंक दो। हि = क्योंकि, क्षितिपतयः = राजालोग, चारदृष्ट्या = दूत रूपी आँखों से, पश्येयुः = देखेंगे।

अर्थः—**चारुदत्त**—इस प्रकार राजा का बहुत बड़ा अपराध करके इस (बगीचे) में क्षण भर भी रुकना उचित नहीं है। मैत्रेय ! बेड़ी को पुराने कुएँ में फेंक दो, क्योंकि राजा लोग दूत रूपी आँखों से देखते हैं (अर्थात् यहाँ पड़ी बेड़ी के बारे में राजा को दूतों से खबर मिल जायगी। फिर तो धीरे-धीरे पता लग जाने पर हम लोग भी दण्डित होंगे अतः इसे कुएँ में फेंक दो)॥८॥

टीका—एवम् = इत्थम्, मनुजपतेः = राज्ञः; महत् = विशालम्; व्यलीकम् = अप्रियम्, ('व्यलीकमप्रियं कार्यवैलक्ष्येष्वपि पीडने' इति विश्वः) कृत्वा = विधाय; अस्मिन् = एतस्मिन्; उद्याने इति शेषः; क्षणमपि = किञ्चित्कालमपीत्यर्थः, स्थातुम् = वर्तितुम्;

(वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा) सखे मैत्रेय ! वसन्तसेनादर्शनोत्सुकोऽयं जनः । पश्य

अपश्यतोऽद्य तां कान्तां वामं स्फुरति लोचनम् ।
अकारणपरित्रस्तं हृदयं व्यथते मम ॥ ९ ॥

न प्रशस्तम् = न समीचीनम्; हीति पादपूरणे; अतः हे मैत्रेय ! निगडम् = शृङ्खलम्, पुराणकूपे = प्राचीने उदपाने ('पुंस्येवान्धुः प्रहिः कूप उदपानं तु पुंसि वा' इत्यमरः), एतादृशे प्राचीने कूपे यत्र जनाः जलं पातुं न गच्छन्ति; क्षिप = पातय; हि = यतः; क्षितेः = पृथिव्याः पतयः = पालकाः, राजानः इत्यर्थः; चाराः = गूढपुरुषाः (यथार्हवर्णः प्रणिधिरपसर्पश्चरःस्पशः । चारश्च गूढपुरुषश्च आप्तः प्रत्ययितस्त्रिषु' इत्यमरः) एव दृष्टिः = नेत्रम्, दर्शनसाधनमित्यर्थः, तया; पश्येयुः = अवलोकयेयुः । शृङ्खलं कस्मिंश्चित् प्राचीने कूपे प्रक्षिप्य झटिति इतः गन्तव्यम् । अन्यथा चारैः सर्वं वृत्तान्तं ज्ञात्वा राजा पालकः अस्मान् दण्डयिष्यतीति भावः ॥ ८ ॥

टिप्पणी—व्यलीकम्=अप्रिय, असुखद कार्य, विशेषेण अलति—वि + √अल् + कीकन् । प्रशस्तम् = योग्य, उचित, श्रेष्ठ, प्र + √शंस् + क्त ॥

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास नामक अलङ्कार एवं प्रहर्षिणी छन्द है। छन्द का लक्षण—

त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—वामाक्षिस्पन्दनम् = बायीं आँख के फड़कने को, सूचयित्वा = सूचित करके । वसन्तसेनादर्शनोत्सुकः = वसन्तसेना के न दिखलायी पड़ने से अथवा वसन्तसेना को देखने के लिये उतावला (है), अयम् = यह, जनः = व्यक्ति, अर्थात् मैं ।

अर्थः-(बायी आँख के फड़कने को सूचित करके) मित्र मैत्रेय ! यह जन (अर्थात् मैं) वसन्तसेना के न दिखलाई पड़ने से अथवा वसन्तसेना को देखने के लिए उतावला हो रहा है । देखो—

टीका—वामाक्षिणः = वामनेत्रस्य स्पन्दनम् = स्फुरणम्, सूचयित्वा = निर्दिश्य । पुरुषाणां वामनेत्रस्य स्फुरणं न शुभावहमतः चारुदत्तस्य हृदि वसन्तसेनाविषयिणी उत्सुकता स्फुरति, अतः वदति सः—वसन्तसेनायाः अदर्शनेन = अनवलोकनेन उत्सुकः अथवा वसन्तसेनायाः दर्शनाय = अवलोकनाय उत्सुकः = उत्कण्ठितः अस्तीतिशेषः; अयम् = एषः, जनः = व्यक्तिः, अहं चारुदत्तः इत्यर्थः ॥

अपश्यतः इति—

अन्वयः—अद्य, ताम्, कान्ताम्, अपश्यतः, मम, वामम्, लोचनम्, स्फुरति, अकारणपरित्रस्तम्, मम, हृदयम्, व्यथते ॥ ९ ॥

तदेहि, गच्छावः। (परिक्रम्य) कथमभिमुखमनाभ्युदयिकं श्रमणकदर्शनम् ? (विचार्य) प्रविशत्वयमनेन पथा। वयमप्यनेनैव पथा गच्छामः। (इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इत्यार्यकापवाहनं नाम सप्तमोऽङ्कः।

शब्दार्थः—अद्य = आज, ताम् = उस, कान्ताम् = प्रियतमा को, अपश्यतः = न देखनेवाले, मम = मेरी, वामम् = बायीं, लोचनम् = आँख, स्फुरति = फड़क रही है, अकारणपरित्रस्तम् = बिना कारण के ही घबराया हुआ, मम = मेरा, हृदयम् = हृदय, व्यथते = पीड़ित हो रहा है॥

अर्थः—आज उस प्रियतमा को न देखनेवाले मेरी बायी आँख फड़क रही है। बिना कारण के ही घबराया हुआ मेरा हृदय पीड़ित हो रहा है॥९॥

टीका—अद्य = अस्मिन् दिने, ताम् = प्राणोपमामित्यर्थः, कान्ताम् = प्रियाम्; अपश्यतः = अनवलोकयतः, मम = चारुदत्तस्य इत्यर्थः, वामम् = दक्षिणेतरम्, लोचनम् = नेत्रम्, स्फुरति = स्पन्दते। अकारणम् = कारणं विनैव परित्रस्तम् = भयविह्वलम्, मम हृदयम् = मनः इत्यर्थः, व्यथते = पीडितं भवति। यतः प्रिया वसन्तसेना सम्प्रत्यपि नागता, अतः वामाङ्गस्फुरणेन मम मनः उद्विग्नं भवति इति भावः॥९॥

टिप्पणी—इस श्लोक में विभावना अलङ्कार है।

लक्षण—विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिः॥ ९॥

शब्दार्थः—अनाभ्युदयिकम् = अमङ्गलकारी, श्रमणकदर्शनम् = बौद्ध-भिक्षुक का दर्शन॥

अर्थः—तो आओ, चलें। (घूम कर) क्या सामने से ही बौद्ध-भिक्षुका अमङ्गलकारी दर्शन हुआ ? (विचार कर) यह इस रास्ते से जाय। हम लोग भी इस (दूसरे) रास्ते से ही चलेंगे।

(इसके बाद सब निकल जाते हैं)

॥ आर्यक-अपहरण नामक सातवाँ अङ्क समाप्त॥

टीका—अभ्युदयः = उत्कर्षः प्रयोजनं यस्य तद् अभ्युदयिकम्; न अभ्युदयिकम् अनाभ्युदयिकम् = अमङ्गलकरमित्यर्थः, श्रमणकस्य = बौद्धसन्यासिनः दर्शनम् = अवलोकनम् श्रमणकस्य यात्रादौ दर्शनमशुभसूचकं शास्त्रादौ प्रसिद्धम्। एतद्भाविन्याः विपत्तेः सूचकमवगन्तव्यम्॥

टिप्पणी—छठे अङ्क में वसन्तसेना की दाहिनी आँख का फड़कना—'किं न्विदं स्फुरति दक्षिणं लोचनम्, ? और इस अङ्क में चारुदत्त की बायीं आँख का फड़कना

एवं पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान से घर चलने के समय बौद्ध-संन्यासी का दर्शन—आगे आनेवाली विपत्तियों का सूचक है ॥

हमारे यहाँ चलने के समय बौद्ध-संन्यासी का मिलना अमङ्गलकारी माना गया है ॥

॥ इत्यार्यकापहरणं नाम सप्तमोऽङ्कः ॥



अष्टमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्यार्द्रचीवरहस्तो भिक्षुः)

भिक्षुः—अज्ञा ! कलेध धम्मशंचअं,—

शंजम्मध णिअपोटं णिच्चं जग्गेध झाणपडहेण ।
विशमा इंदिअचोला हलंति चिलशंचिदं धम्मं ॥ १ ॥

अवि अ, अणिच्चदाए पेक्खिअ णवलं दाव धम्माणं शलणम्हि ।

पंचज्जण जेण मालिदा इत्थिअ मालिअ गाम लक्खिदे ।
अबले क चंडाल मालिदे अवसं वि शे णल शग्ग गाहदि ॥ २ ॥
शिल मुंडिदे तुंड मुंडिदे चित्त ण मुंडिद कीश मुंडिदे ।
जाह उण अ चित्त मुंडिदे शाहु शुट्ठ शिल ताह मुंडिदे ॥ ३ ॥

गिहिदकशाओदए एशे चीवले, जाव एदं लट्ठिअशालकाहकेलके उज्जाणे पविशिअ पोक्खलिणीए पक्खालिअ लहुं लहुं अवक्कमिश्शं

[अज्ञाः ! कुरुत धर्मचयम्,—

संयच्छत निजोदरं नित्यं जाग्रत ध्यानपटहेन ।
विषमा इन्द्रियचौरा हरन्ति चिरसंचितं धर्मम् ॥

शब्दार्थः—आर्द्रचीवरहस्तः = गीला कपड़ा हाथ में लिये हुए, भिक्षुः = बौद्ध-संन्यासी । चीवरम् = भिक्षु का वस्त्र ॥

अर्थः—(तब गीला कपड़ा हाथ में लिये हुए भिक्षु प्रवेश करता है)

टीका—आर्द्रम् = जलक्लिन्नम् चीवरम् = कौपीनम् हस्ते = करे यस्य सः; कर-गृहीतजलार्द्रवस्त्रः इत्यर्थः; भिक्षुः = बौद्धसंन्यासी ॥

संयच्छतेति—

अन्वयः—निजोदरम्, संयच्छत, ध्यानपटहेन, नित्यम्, जाग्रत, विषमाः, इन्द्रिय-चौराः, चिरसञ्चितम्, धर्मम्, हरन्ति ॥ १ ॥

शब्दार्थः—निजोदरम् = अपने पेट को, संयच्छत = सङ्कुचित करो; ध्यानपटहेन = ध्यान रूपी नगाड़े से, नित्यम् = हमेशा, जाग्रत = जागते रहो, विषमाः = बलशाली अथवा भयङ्कर, इन्द्रियचौराः = इन्द्रियरूपी चोर, चिरसञ्चितम् = बहुत दिनों से इकट्ठा किये गये, धर्मम् = धर्म को, हरन्ति = छीन लेते हैं ॥

अर्थः—भिक्षु (बौद्ध संन्यासी)—अरे अज्ञानी जनों ! धर्म का सञ्चय करो—

अपने पेट को संकुचित करो (अर्थात् कम खाओ) । ध्यान रूपी नगाड़े से हमेशा जागते रहो, (क्योंकि) इन्द्रियरूपी बलशाली चोर बहुत दिनों से सञ्चित किये गये धर्म छीन लेते हैं ॥ १ ॥

अपि च, अनित्यतया प्रेक्ष्य केवलं तावद्धर्माणां शरणमस्मि ।

पञ्चजना येन मारिता स्त्रियं मारयित्वा ग्रामो रक्षितः ।
अबलः क्व चण्डालो मारितोऽवश्यमपि स नरः स्वर्गं गाहते ॥

टीका—निजोदरम्—निजम् = स्वकीयम् उदरम् = जठरम्; संयच्छत = सङ्कुचितं कुरुत; मिताहाराः भवत इत्यर्थः । ध्यानम्—स्वेष्टचिन्तनम् एव पटहः = ढक्का तेन; नित्यम् = सर्वदा; जाग्रत = जागरणं कुरुत; नित्यं इष्टदेवस्य ध्यानं कुरुत इति भावः । विषमाः = भयङ्कराः बलशालिनः इत्यर्थः; इन्द्रियाः = विषयग्रहणसाधनानि चक्षुरादीनि एव चौराः = तस्कराः; चिरेण = बहुकालेन सञ्चितम् = एकत्रीकृतम्; धर्मम् = सुकृतम्; हरन्ति = मुष्णन्ति । इन्द्रियलौल्येन जनाः महदनिष्टमुत्पादयन्ति, अतः तेषां संयमने यत्नः कार्यः इति भावः ॥ १ ॥

टिप्पणी—उपमेय ध्यान एवं इन्द्रिय में उपमान पटह तथा चौर का आरोप करने से यहाँ रूपक अलङ्कार है । इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—आर्या । छन्द का लक्षण—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ १ ॥

शब्दार्थः—अनित्यतया = अनित्यता के भाव से, प्रेक्ष्य = देखकर, विचारकर, केवलम् = एकमात्रम्, धर्माणाम् = धर्म की, शरणम् = शरण, अस्मि = हूँ ॥

और भी—

अर्थः—(संसार को) अनित्यता के भाव से देखकर (अर्थात् संसार को क्षण-भङ्गुर समझकर) मैं अब केवल धर्म की ही शरण में (आ गया) हूँ ।

टीका—अनित्यतया = 'सर्वमनित्यम्', 'सर्वं क्षणिकम्' इति भावेन इत्यर्थः; प्रेक्ष्य = अवलोक्य, विचार्येति यावत्; संसारमिति शेषः; केवलम् = एकमात्रम्; धर्माणाम् = बौद्धाचाराणम्; शरणम् = आश्रयः; अस्मि = भवामि ॥

पञ्चजनाः इति—

अन्वयः—येन, पञ्चजनाः, मारिताः; स्त्रियम्, मारयित्वा, ग्रामः, रक्षितः; अबलः, चाण्डालः, च, मारितः; सः, नरः, अवश्यम्, स्वर्गम्, गाहते ॥२॥

शब्दार्थः—येन = जिसके द्वारा, पञ्चजनाः = पाँचजन (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ), मारिताः = मार डाले गये । स्त्रियम् = स्त्री (अविद्या) को, मारयित्वा = मारकर, ग्रामः = गाँव (शरीर), रक्षितः = बचाया गया । अबलः = निर्बल, चाण्डालः = चण्डाल (घमण्ड), च = भी, मारितः = मारा गया; सः = वह, नरः = मनुष्य,

शिरो मुण्डितं तुण्डं मुण्डितं चित्तं न मुण्डितं किमर्थं मुण्डितम् ? ।
यस्य पुनश्च चित्तं मुण्डितं साधु सुष्ठु शिरस्तस्य मुण्डितम् ॥

अवश्यम् = अवश्य ही; **स्वर्गम्** = स्वर्ग को, गाहते = अवगाहित करता है ॥

अर्थः–जिसने पाँच जनों (इन्द्रियों) को मार दिया (अर्थात् भलीभाँति वश में कर लिया), (अविद्या रूपी) स्त्री को मार कर (शरीर रूपी) गाँव की रक्षा कर ली तथा (घमण्ड रूप) निर्बल चाण्डाल का वध कर डाला वह मनुष्य अवश्य ही स्वर्ग में विहार करता है ॥ २ ॥

टीका—येन = प्रबुद्धेन जनेनेत्यर्थः; पञ्चजनाः = पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि इत्यर्थः; मारिताः = विनाशिताः; स्त्रियम् = अविद्यामित्यर्थः; मारयित्वा = नाशयित्वा; ग्रामः = आत्मनः निवासभूतं शरीरमिति भावः; रक्षितः=परित्रातः; अबलः = निर्बलः; चाण्डालः =अहङ्कारः इत्यर्थः; च; मारितः = गतप्राणः कृतः ; सः नरः = सः जनः; अवश्यम् = निश्चितम्; स्वर्गम्=सुरलोकम्; ('स्वरव्ययं स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः । सुरलोको द्योदिवौ द्वे स्त्रियां क्लीबे त्रिविष्टपम्' 'इत्यमरः) गाहते = गच्छति; स्वर्गे विचरतीति भावः । इन्द्रियाणि अविद्याञ्च निहत्य अहङ्कारमपि दूरीकृत्य यः जीवति, सः एव मृत्युं प्राप्य स्वर्गं गच्छति इत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में वैतालीय छन्द है।

लक्षण—'षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः ।
न समाऽत्र पराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः ॥२॥

शिरो मुण्डितमिति—

अन्वयः—शिरः, मुण्डितम्, तुण्डम्, मुण्डितम्, (किन्तु, यदि) चित्तम्, न, मुण्डितम्, (तदा) किमर्थम्, मुण्डितम् ? पुनः, यस्य, च, चित्तम् , साधु, मुण्डितम्, तस्य, शिरः, सुष्ठु, मुण्डितम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—शिरः = शिर, मुण्डितम्=मुँड़ा हुआ (है), तुण्डम्=मुँह, मुण्डितम्= मुँड़ा हुआ (है), (किन्तु, यदि), चित्तम् = चित्त, न=नहीं, मुण्डितम्=मुड़ा हुआ (है) (तदा = तब), किमर्थम्=किस लिये, मुण्डितम् ? = मुड़ा हुआ (है) ? पुनः = और, यस्य=जिसका, चित्तम्=चित्त, साधु = अच्छे प्रकार से, मुण्डितम्= मुँड़ा है (साफ है), तस्य = उसका, शिरः=शिर, सुष्ठु = भली-भाँति, मुण्डितम्= मुँड़ा हुआ (है) ॥

अर्थः–शिर मुँड़ाया, मुँह मुँड़ा लिया, (किन्तु यदि) चित्त नहीं मुँड़ाया (साफ किया)

गृहीतकषायोदकमेतच्चीवरम्, यावदेतद्राष्ट्रियश्यालकस्योद्याने प्रविश्य पुष्करिण्यां प्रक्षाल्य लघु लघ्वपक्रमिष्यामि ।] (परिक्रम्य, तथा करोति)

किसलिए मुँड़ाया ? और फिर जिसका चित्त अच्छे प्रकार से मुँड़ा हुआ (अर्थात् साफ) है उसका शिर भली भाँति मुँड़ गया है (अर्थात् चित्त के पवित्र रहने पर बालों का मुँड़ाना भी सार्थक है। यदि चित्त साफ नहीं है तो बालों का मुँड़ाना व्यर्थ ही है) ॥ ३ ॥

टीका—शिरः = मस्तकम्; मुण्डितम् = केशरहितं कृतम्, तुण्डम् = मुखम् ('वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्' इत्यमरः), मुण्डितम् = श्मश्रुहीनं कृतम्; किन्तु यदि, चित्तम् = चेतः, अन्तःकरणमित्यर्थः; न मुण्डितम् = मलिनान् भावान् अपसार्य न विमलीकृतम्, तदा किमर्थम् = कस्मै प्रयोजनाय, मुण्डितम् ? = केशादीनां अपसारणं कृतम् ? यदि अन्तःकरणं मलिनं वर्तते तदा बाह्यशुद्धिः फलरहिता अस्तीति भावः । पुनः = किन्तु, यस्य = जनस्य, च, चित्तम् = अन्तःकरणम्, साधु = सम्यक्, मुण्डितम् = विमलीकृतम्, तस्य = जनस्य एव, शिरः = मस्तकादिकञ्चेत्यर्थः, सुष्ठु = सम्यक्, मुण्डितम् । वस्तुतः बाह्यशुद्धिः न शुद्धिपदेन अभिधीयते, अपितु अन्तःशुद्धिः एव तात्त्विकी शुद्धिः । अतः जनैः अन्तकरणशुद्धौ एव अवहितैः भाव्यम् ॥ ३ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में वैतालीय छन्द है । लक्षण—

षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः ।
न समात्र पराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—गृहीतकषायोदकम् = गेरुआ रङ्ग घोले गये पानी को जिसने सोखा है, ऐसा, चीवरम् = कौपीन, बौद्ध संन्यासी का कपड़े के टुकड़ा । राष्ट्रियश्यालकस्य = राजा के साले संस्थानक के, शकार के । लघु-लघु = जल्दी-जल्दी, अपक्रमिष्यामि = भाग जाऊँगा ॥

अर्थः—यह कपड़ा गेरुआ रङ्ग घोले गये पानी को (खूब) सोख चुका है। तो इसको राजा के साले (संस्थानक) के बगीचे में घुसकर पोखरी में धोकर जल्दी जल्दी भाग जाऊँगा । (घूम कर वैसा ही करता है)

टीका—गृहीतम् = ग्रहणं कृतम् कषायोदकम् = गैरिकवर्णरंजितजलं येन तत्, चीवरम् = कौपीनम्, संन्यासिवस्त्रं कौपीनमिति कथ्यते । राष्ट्रियश्यालकस्य = राजश्यालकसंस्थानकस्य, "राजश्यालस्तु राष्ट्रियः" इत्यमरोक्तेः राष्ट्रियशब्देनैव शकारस्य राजश्यालस्य बोधे जाते पुनः श्यालकशब्दस्तु प्रकर्षख्यापनार्थः । लघु लघु = शीघ्रं

(नेपथ्ये)

शकारः—च्यिश्ट ले दुष्टशमणका ! च्यिष्ट । [तिष्ठ रे दुष्टश्रमणक ! तिष्ठ ।]

भिक्षुः—(दृष्ट्वा, सभयम्) ही अविद, माणहे एशे शे लाअशालशंठाणे आअदे । एक्केण भिक्खुणा अवलाहे किदे, अण्णं पि जहिं जहिं भिक्खुं पेक्खदि, तहिं तहिं गोणं व्व णाशं विंधिअ ओवाहेदि; ता कहिं अशलणे शलणं गमिश्शं ? । अथवा भट्टालके ज्जेव बुद्धे मे शलणे । [आश्चर्यम्, एष स राजश्यालसंस्थानक आगतः, एकेन भिक्षुणापराधे कृतेयन्यपि यत्र यत्र भिक्षुं पश्यति, तत्र तत्र गामिव नासां विद्ध्वापवाहयति; तत्कुत्राशरणः शरणं गमिष्यामि ? । अथवा भट्टारक एव बुद्धो मे शरणम् ।]

(प्रविश्य, सखड्गेन विटेन सह)

शकारः—च्यिश्ट ले दुश्टशमणका ! च्यिश्ट; आवाणअमज्झपविश्टश्श, विअ लत्तमूलअश्श शीशं दे मोडइश्शं । (इति ताडयति) [तिष्ठ रे दुष्टश्रमणक ! तिष्ठ, आपानकमध्यप्रविष्टस्येव रक्तमूलकस्य शीर्षं ते भङ्क्ष्यामि ।]

शीघ्रम् । अपक्रमिष्यामि=पलायिष्ये ॥

शब्दार्थः—नासाम्=नाक को, विद्ध्वा=छेदकर, अपवाहयति=बाहर भगा देता है । अशरणः=असहाय । भट्टारकः=स्वामी, प्रभु । आपानकमध्यप्रविष्टस्य=मदीरा पीनेवालों के समाज के बीच आई हुई, रक्तमूलकस्य=लालमूली के, इव=समान, शीर्षम्=शिर को । काणेलीमातः ! =छिनार (पुंश्चली) के बच्चे ! विर्वेदधृतकषायम्=वैराग्य के कारण गेरुआ कपड़ा पहनने वाले, भिक्षुम्=संन्यासी को । सुखोपगम्यम्=सुख से सेवन करने के लायक, उद्यानम्=बगीचे को ॥

(पर्दे के पीछे)

अर्थः—**शकार**—रुको रे दुष्ट श्रमणक ! रुको ।

भिक्षु—(देखकर डर के साथ) आश्चर्य ! दुष्टता के लिये प्रसिद्ध यह राजा का साला संस्थानक आ गया । एक भिक्षु के द्वारा अपराध करने पर (अब यह) जहाँ-जहाँ दूसरे भी भिक्षु को देखता है वहाँ-वहाँ बैल के समान (उसकी) नाक को छेदकर बाहर भगा देता है । तो असहाय (मैं) किसकी शरण में जाऊँ ? अथवा स्वामी बुद्ध हो मेरे रक्षक हैं ।

(तलवार लिये हुए विट के साथ प्रवेश करके)

शकार—ठहर, रे दुष्टश्रमण ! ठहर । मदिरा पीनेवालों के समाज के बीच आई हुई लाल मूली के समान तेरे शिर को तोड़ता हूँ । (ऐसा कह कर मारता है) ।

विटः—काणेलीमातः ! न युक्तं निर्वेदधृतकषायं भिक्षुं ताडयितुम् । तत्किमनेन ? । इदं तावत्सुखोपगम्यमुद्यानं पश्यतु भवान् ।

अशरणशरणप्रमोदभूतैर्वनतरुभिः क्रियमाणचारुकर्म ।
हृदयमिव दुरात्मनामगुप्तं नवमिव राज्यमनिर्जितोपभोग्यम् ॥४॥

विट—छिनार (पुंश्चली) के बच्चे ! वैराग्य के कारण गेरुआ कपड़ा पहननेवाले भिक्षुक को मारना ठीक नहीं है । तो इससे (झगड़ने से) क्या लाभ ? आप जरा आनन्दपूर्वक सेवन करने के लायक इस बगीचे को देखें ।

टीका—नासाम् = नासिकाम्; विद्ध्वा = भित्त्वा; अपवाहयति = निस्सारयति, बहिःकरोतीत्यर्थः । अशरणः = असहायः । भट्टारकः = प्रभुः । आपिबन्ति अस्मिन्निति आपानकम् = पानगोष्ठी, मद्यपायिसमाजः इत्यर्थः, तस्य मध्ये प्रविष्टस्य = आनीतस्य; रक्तमूलकस्य = रक्तवर्णस्य मूलकस्य, शीर्षमिव; शीर्षम् = मस्तकम् । मद्यप्रभाववृद्ध्यर्थं मद्यपाः रक्तमूलकमुपदंशी कुर्वन्तीति प्रसिद्धः । काणेली = अविवाहिता स्त्री माता = जननी यस्य तत्सम्बुद्धौ, पुंश्चलीपुत्र ! इत्यर्थः । निर्वेदेन = वैराग्येण धृतम् = परिहितम् कषायम् = गैरिकवस्त्रम् येन तम् । भिक्षुम् = बौद्धसंन्यासिनमित्यर्थः । संसारस्य अनित्यतां प्रेक्ष्य संन्यस्तानां जनानां सम्मानना कर्त्तव्या न तु विमाननेति भावः । सुखेन = आनन्देन उपगम्यम् = उपभोग्यम्, सुखसेव्यमित्यर्थः, अथवा सुखाय = आनन्दाय उपगम्यम् = सेवनीयम्; यत्र जनाः विश्रान्तिलाभाय गच्छन्तीति भावः; उद्यानम् = आरामम् ॥

अशरणेति—

अन्वयः—अशरणशरणप्रमोदभूतैः, वनतरुभिः, क्रियमाणचारुकर्म; दुरात्मनाम्, हृदयम्, इव, अगुप्तम्; नवम्, राज्यम्, इव, अनिर्जितोपभोग्यम्, (उद्यानम्, भवान्, पश्यतु) ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—अशरणशरणप्रमोदभूतैः=बिना घरवालों के लिये आश्रय तथा आनन्द स्वरूप, वनतरुभिः = वन-वृक्षों के द्वारा, क्रियमाणचारुकर्म = जिसमें सुन्दर काम किया जा रहा है । दुरात्मनाम् = दुष्टों के, हृदयम् = हृदय, इव = जैसा, अगुप्तम् = असंयत । नवम् = नये, राज्यमिव = राज्य की भाँति, अनिर्जितोपभोग्यम् = भलीभाँति वश में न किये गये और सबके उपभोग के योग्य, (उद्यानम् = बगीचे को, भवान् = आप, पश्यतु = देखें) ॥

भिक्षुः—शाअदं; पशीददु उवासके। [स्वागतम्; प्रसीदतूपासकः।]

शकारः—भावे! पेक्ख पेक्ख, आक्कोशदि मं। [भाव! पश्य पश्य, आक्रोशति माम्।]

विटः—किं ब्रवीति?।

शकारः—उवाशके त्ति मं भणादि, किं हग्गे णाविदे?। [उपासक इति मां भणति, किमहं नापितः?।]

अर्थः—बिना घरवाले लोगों के लिये आश्रय तथा आनन्द स्वरूप वन-वृक्षों के द्वारा जिसमें सुन्दर काम किया जा रहा है (अर्थात् आश्रय, छाया एवं फल-फूल दिया जा रहा है)। जो दुष्ट मनुष्यों के हृदय के समान (इच्छानुसार विहार आदि के कारण) अनियन्त्रित हैं, और नये राज्य की तरह भलीभाँति वश में नहीं किया गया और सबके उपभोग के योग्य है॥ ४॥

टीका—अशरणानाम्=गृहरहितानाम् ('शरणं गृहरक्षित्रोः, इत्यमरः) शरणानि =आश्रयाः प्रमोदभूताः=आनन्दस्वरूपाः, अशरणाश्च ते प्रमोदभूताश्च तैः; वनस्य= उपवनस्य तरुभिः=वृक्षैः; क्रियमाणम्=आरब्धम्, चारु=मनोहरम्, कर्म=कार्यम्, छायाफलदानादिरूपमिति भावः, यस्मिन् तत्। येषां तले ग्रीष्मवर्षाशिशिराभिभूताः जनाः आश्रयं गृह्णन्ति तथा सुखिनश्च भवन्ति ते वृक्षाः यत्र छायाफलादिदानैः प्रशंसितं कर्म कुर्वन्ति इति भावः। दुरात्मनाम्,=दुष्टानाम् हृदयमवि=चित्तमिव; अगुप्तम्=अनियन्त्रितम्। यथा धर्ममर्यादादिरूपम् आवरणं विना दुष्टानां हृदये स्थिता वार्ता अगुप्ता भवति, तथैव प्राचीरादिकं विना एतदपि अगुप्तं वर्तते। नवम्= नूतनम्; राज्यमिव=साम्राज्यमिव; अनिर्जितम्=विजयिना सम्यक् न आपत्तीकृतं च तद् उपभोग्यं च=स्वेच्छया सम्भोगार्हं चेत्यर्थः। यथा पूर्णरूपेण अनायत्तीकृतं राज्यं सर्वेषां सम्भोगार्थं भवति, तथैव इदम् उद्यानमपि सुयोग्यरक्षकविरहेण सर्वेषाम् उपभोक्तुं शक्यमिति भावः। इदम् उद्यानं भवान् पश्यतु इति गद्यस्थेन अन्वयः कर्त्तव्यः॥४॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं पुष्पिताग्रा छन्द है।
छन्दका लक्षण—

अयुजि न युगरेफतो यकारो, युजि च नजौ जरगारच पुष्पिताग्रा॥ ४॥

शब्दार्थः—उपासकः=बुद्ध की पूजा करने वाला, प्रसीदतु=प्रसन्न हो। आक्रोशति=कोस रहा है अर्थात् गाली दे रहा है। नापितः=नाई। स्तुनु=स्तुति करो।

विटः—बुद्धोपासक इति भवन्तं स्तौति ।

शकारः—थुणु शमणका ! थुणु । [स्तुनु श्रमणक ! स्तुनु ।]

भिक्षुः—तुमं धण्णे, तुमं पुण्णे । [त्वं धन्यः, त्वं पुण्यः ।]

शकार—भावे ! धण्णे पुण्णे त्ति मं भणादि । किं हग्गे शलावके कोश्टके कोंभकाले वा ? । [भाव ! धन्यः पुण्यः इति मां भणति । किमहं शलावकः (चार्वाकः) कोष्ठकं कुम्भकारो वा ? ।]

विट—काणेलीमातः ! ननु 'धन्यस्त्वम्' 'पुण्यस्त्वम्' इति भवन्तं स्तौति ।

धन्यः = प्रशंसनीय, पुण्यः = पवित्र अथवा पुण्यवान् । शलावकः = चार्वाक, कोष्ठकम् = भण्डार का घर, कुम्भकारः = कुम्हार । भाव ! =श्रीमान् जी ! इह = इस बगीचे में । चीवरम् = बौद्ध भिक्षुक के वस्त्र को, (अर्थात् अपने वस्त्र को), प्रक्षालयितुम् = धोने के लिये । दुष्ट श्रमणक ! = दुष्ट बौद्धसंन्यासिन् ! भगिनीपतिना = बहिन के पति के द्वारा, प्रवरम् = श्रेष्ठ । शुनकाः = कुत्ते, शृगालाः = सियार, पानीयम् = जल को । प्रवरपुरुषः = श्रेष्ठ पुरुष, न स्नामि = नहीं स्नान करता हूँ । तत्र = उस, पुष्करिण्याम् = पोखरी में, पुराणकुलित्थयूषसवर्नानि = पुरानी कुल्थी (एक प्रकार का चावल) के माँड़ जैसे रङ्ग वाले, उग्रगन्धीनि = तेज़ बदबू वाले । एकप्रहारिकम् = एक घूँसा से युक्त, एक घूँसा से मरा हुआ । अचिरप्रव्रजितेन = हालही में संन्यासी बना हुआ ॥

अर्थः—भिक्षु—स्वागत है । उपासक (अर्थात् बुद्ध को पूजनेवाले) प्रसन्नहो वें ।

शकार—भाव (श्रीमान् जी) ! देखिए, देखिए । मुझे कोस रहा है (अर्थात् गाली दे रहा है) ।

विट—क्या कह रहा है ?

शकार—मुझे उपासक कह रहा है । क्या मैं नाई हूँ ?

विट—'बुद्ध का उपासक' ऐसा कहकर आपकी बड़ाई कर रहा है ।

शकार—बड़ाई करो श्रमणक । बड़ाई करो ।

भिक्षु—तुम प्रशंसनीय हो । तुम पवित्र हो ।

शकार—भाव ! मुझको 'धन्य पुण्य' ऐसा कह रहा है । क्या मैं चार्वाक, भण्डार का घर अथवा कुम्हार हूँ ?

विट—छिनार के लड़के ! 'आप धन्य हैं । आप पवित्र हैं' ऐसा कह कर आपकी प्रशंसा ही कर रहा है ।

शकारः—भावे ! वा कीश एशे इध आगदे ? । [भाव ! तत्किमर्थमेष इहागतः?]

भिक्षुः—इदं चीवलं पक्खालिदुं । [इदं चीवरं प्रक्षालयितुम् ।]

शकारः—अले दुश्टशमणका ! एशे मम बहिणीवदिणा शव्वुज्जाणाणं पवले पुप्फकलंडुज्जाणे दिण्णे, जहिं दाव शुणहका शिआला पाणिअं पिअंति । हग्गे वि पवल-पुलिशे मणुश्शके ण ण्हाआमि; तहिं तुमं पुक्खलिणीए पुलाणकुलुत्थजूशशवण्णाइं उश्श-गंधिआइं चीवलाइं पक्खालेशि ? । ता तुमं एक्कपहालिअं कलेमि । [अरे दुष्टश्रमणक ! एतन्मम भगिनीपतिना सर्वोद्यानानां प्रवरं पुष्पकरण्डोद्यानं दत्तम्, यत्र तावच्छुनकाः शृगालाः पानीयं पिबन्ति । अहमपि प्रवरपुरुषो मनुष्यको न स्नामि; तत्र त्वं पुष्करिण्यां पुराणकुलित्थयूषसवर्णान्युग्रगन्धीनि चीवराणि प्रक्षालयसि ? । तत्त्वामेकप्रहारिकं करोमि ।]

विटः—काणेलीमातः ! तथा तर्कयामि यथानेनाचिरप्रव्रजितेन भवितव्यम् ।

शकारः—कधं भावे जाणादि ? । [कथं भावो जानाति ? ।]

अर्थः—शकार—श्रीमान् जी ! तब यह क्यों इस बगीचे में आया ?

भिक्षु—इस कपड़े को पछारने (धोने) के लिये ।

शकार—अरे दुष्ट श्रमण ! मेरे जीजा (बहनोई) ने सभी बागों में बढ़िया यह 'पुष्पकरण्ड' नाम का बाग मुझे दिया है, जहाँ कुत्ते और सियार पानी पीते हैं । अत्यन्त श्रेष्ठ पुरुष मनुष्य मैं भी (स्वयं) जिसमें नहीं नहाता हूँ । तू उस पोखरी में पुरानी कुल्थो के माँड़ जैसे रङ्ग वाले तेज बदबू से युक्त कपड़ों को धोता है ? तो (मैं) तुझे एक घूँसे से मारता हूँ ।

विट—छिनार के बेटे ! मैं ऐसा अन्दाज करता हूँ कि यह अभी हाल ही में संन्यासी हुआ है ।

शकार—कैसे आप जानते हैं ?

टीका—उपासकः =सेवकः, बुद्धस्य सेवकः इत्यर्थः; बौद्धसम्प्रदाये संन्यासिनः जनं 'बुद्धोपासकः अथवा उपासकः' इति वदन्ति । प्रसीदतु =प्रसन्नः भवतु, ताडनात् विरतः भवतु इति भावः । आक्रोशति = निन्दति; गालिं ददाति इत्यर्थः । नापितः = क्षौरकर्मकर्ता । 'उपासकः' इति शब्देन बुद्धसेवकः इत्यर्थे भिक्षुतात्पर्यम् । परञ्च शकारः स्वाज्ञानेन तस्य शब्दस्य जनानां सेवकः नापितः इत्यर्थं जानाति । स्तुनु =स्तुतिं कुरु । धन्यः = प्रशंसनीयः; पुण्यः=पवित्रः वा पुण्यशाली । शलावकः = चार्वाकः, वेदविरुद्धः चार्वाकः तदानीमपि निन्दाभाजनमासीदिति प्रतीतिः । केचित् तु 'शलावके' इत्यस्य

विटः—किमत्र ज्ञेयम् ? । पश्य

अद्याप्यस्य तथैव केशविरहाद्गौरी ललाटच्छविः
कालस्याल्पतया च चीवरकृतः स्कन्धे न जातः किणः ।
नाभ्यस्ता च कषायवस्त्ररचना दूरं निगूढान्तरं
वस्त्रान्तं च पटोच्छ्रयात्प्रशिथिलं स्कन्धे न संतिष्ठते ॥ ५ ॥

शृणोति पुराणादिकम् इति व्युत्पत्त्या 'श्रावकः' इत्यनुवादं कृत्वा श्रावकः = शास्त्रादि-शुश्रूषुः इत्यर्थं कुर्वन्ति । कोष्ठकम् = इष्टकादिविरचितः धान्यागारः जलागारः वा । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः = घटनिर्माता । धन्यपुण्यशब्दाभ्यां सह कोष्ठककुम्भकारयोः कः सम्बन्धः इति तु शकारबुद्धिविलसितमेव जानाति । भाव ! इति आदरद्योतकं सम्बोधनपदम् । इह = अस्मिन् उद्याने । चीवरम् = कौपीनम्; प्रक्षालयितुम् = प्रक्षालनं कर्तुम् । दुष्टश्रमणक ! = अधम-संन्यासिन् ! इत्यर्थः; भगिन्याः = स्वसुः पतिना = भर्त्रा, पालकेनेत्यर्थः, प्रवरम् = श्रेष्ठम् । शुनकाः = कुक्कुराः; शृगालाः = जम्बुकाः ('शृगालवञ्चकक्रोष्टुफेरुफेरवजम्बुकाः' इत्यमरः), पानीयम् = जलम् । प्रवरपुरुषः = श्रेष्ठपुरुषः; न स्नामि = न स्नानं करोमि । तत्र = तस्याम्, पुष्करिण्याम् = क्षुद्रजलाशये कृत्रिमजलाशये वा; कुलित्थः = तण्डुलभेदः इत्यर्थः तस्य यूषेण = क्वाथेन सवर्णानि = तुल्यानि; उग्रगन्धीनि = तीव्रदुर्गन्धियुक्तानि । एकः प्रहारः प्राणापहारकत्वेन अस्ति अस्य तम् एक प्रहारिकम् = एक प्रहारेण मारणीयमिति भावः । अचिरेण = शीघ्रमेवेत्यर्थः प्रव्रजितः = संन्यासं गतः तेन ॥

टिप्पणी—चीवरम् = भिक्षुक का कपड़ा, पहनने का कपड़ा, विशेषकर बौद्ध भिक्षुक के वस्त्र, √चि + ष्वरच्, निपातनात् दीर्घः, √चीव् + अरच् वा । एकप्रहारि-कम् = एकः प्रहारः अस्ति अस्य इति—एकप्रहार + ठन् ॥ १६ ॥

अद्याप्यस्येति—

अन्वयः—अद्य, अपि, केशविरहात्, अस्य, ललाटच्छविः, तथैव, गौरी; कालस्य, अल्पतया, स्कन्धे, चीवरकृतः, किणः, च, न, जातः, कषायवस्त्ररचना, च, न, अभ्यस्ता, दूरम्, निगूढान्तरम्, पटोच्छ्रयात्, प्रशिथिलम्, वस्त्रान्तम्, च, स्कन्धे, न, संतिष्ठते ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—अद्य = आज, अपि = भी, केशविरहात् = शिर के बालों के न होने से (मुड़वा देने से), अस्य = इसके, ललाटच्छविः = मस्तक की कान्ति, तथैव = वैसी ही, गौरी = गोरी (है) । कालस्य = समय के, अल्पतया = कम होने के कारण

(अर्थात् थोड़े ही समय से संन्यास लेने के कारण), स्कन्धे = कन्धे पर, चीवरकृतः = संन्यासी के कपड़ों के द्वारा किया गया, किणः = घट्ठा, च = भी, न = नहीं, जातः = पड़ा है। कषायवस्त्ररचना = गेरुआ वस्त्र पहनना, च = भी, न = नहीं, अभ्यस्ता = सीखा गया है। दूरम् = बहुत अधिक, निगूढान्तरम् = शरीर के बिचले हिस्से को ढकने वाला, पटोच्छ्रयात् = कपड़े की लम्बाई के कारण, प्रशिथिलम् = ढीला-ढाला वस्त्रान्तम् = कपड़े का छोर, च = भी, स्कन्धे = कन्धे पर, न = नहीं, सन्तिष्ठते = ठहर रहा है॥

अर्थः—विट—इसमें जानना क्या है? देखो—

आज भी, शिर के बालों के मुड़वा देने से इसके मस्तक की कान्ति वैसे ही (अर्थात् मुड़ाने के समय के समान ही) गोरी है। थोड़ा ही समय बीतने से (इसके) कन्धे पर कपड़े (की गठरी लटकाने) का घट्ठा (भी) नहीं पड़ा है। (अभी) इसने गेरुआ वस्त्र पहनना भी नहीं सीखा है (इसी तरह लपेट लिया है)। शरीर के बिचले हिस्से को बहुत अधिक ढकने वाला, कपड़ेकी लम्बाई के कारण ढीला-ढाला, कपड़े का छोर (उसके) कन्धे पर नहीं ठहर रहा है॥५॥

टीका—अद्य = अधुना, अपि, केशानाम् = कचानाम् ('चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुहः' इत्यमरः), विरहात् = अभावात्, अचिरकेशमुण्डनात् इत्यर्थः, अस्य = भिक्षोः, ललाटस्य = मस्तकस्य छविः = कान्तिः, तथैव = तादृशी एव, यथा मुण्डनकाले आसीत्तथैवेत्यर्थः, गौरी = गौरवर्णा। अचिरमुण्डने शिरसः ललाटस्य च कान्तिः भिन्नवर्णा भवति, न तु एकरूपा इति भावः। कालस्य = संन्यासग्रहणसमयस्य अल्पतया = स्वल्पतया, स्कन्धे = अंशप्रदेशे, चीवरैः = वस्त्रैः कृतः = विहितः, किणः = शुष्कव्रणम्, च = अपि, न जातः = न उत्पन्नः। यदि चिरात् प्रव्रजितः भवेत् अयं तर्हि अनवरतं वस्त्रपुञ्जधारणात् स्कन्धे घर्षणजन्यः किणः अपि उत्पन्नः स्यात्। न च तथा। अतः अचिरप्रव्रजितोऽयं नूनमिति भावः। कषायवस्त्रस्य = गैरिकवस्त्र रचना = धारणम्, 'कषायवस्त्रस्य रचना = रञ्जनकार्यम्, वस्त्राणां कषायीकरणमिति व्याख्यां कुर्वन्ति केचित्, चापि न अभ्यस्ता = न शीलिता। अनभ्यासात् अभ्यासस्य स्वल्पत्वाद्वा गैरिकवस्त्रधारणमपि सम्यक्तया न परिशीलितमनेनेति भावः। दूरम् = अत्यधिकम्, निगूढम् = आच्छादितम् अन्तरम् = शरीरस्य मध्यभागः येन तत्, पटस्य = वस्त्रस्य उच्छ्रयात् = दैर्घ्यात्, अतः प्रशिथिलम् = अतिशिथिलम्, वस्त्रान्तम् = वस्त्रस्य प्रान्तभागः, चापि, स्कन्धे = अंशदेशे, न सन्तिष्ठते = पूर्णतया न स्थिरं भवतीति। साम्प्रतमेव

भिक्षुः—उवाशके ! एव्वं । अचिलपव्वजिदे हग्गे [उपासक ? एवम् ! अचिर-प्रव्रजितोऽहम् ।]

शकारः—ता कीशं तुमं जातमेत्तक ज्जेव ण पव्वजिदे? । [तत्किमर्थं त्वं जात-मात्र एव न प्रव्रजितः ? ।] (इति ताडयति)

भिक्षुः—णमो बुद्धश्श । [नमो बुद्धाय ।]

विटः—किमनेन ताडितेन तपस्विना ? मुच्यताम्; गच्छतु ।

शकारः—अले ! च्यिश्ट दाव जाव शंपधालेमि । [अरे ! तिष्ठ तावत्, यावत्सं-प्रधारयामि ।]

विटः—केन सार्धम् ? ।

संन्यासः अनेन स्वीकृतः अतः संन्यासिनः व्यवहारस्य कार्यस्य च अपरिचितः इति भावः ॥ ५ ॥

टिप्पणी—अभ्यस्ता=बार बार दोहरायी गयी, बार बार अभ्यास की गयी, अभि + √अस् + क्त ॥

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार एवं शार्दूलविक्रीडित छन्द है। छन्द का लक्षण—

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—जातमात्रः=तुरन्त का उत्पन्न, सद्योजात। तपस्विना=बेचारे। ताडितेन=मारे जाने से, किम्=क्या लाभ ?। संप्रधारयामि=विचार करता हूँ, सोचता हूँ। न गतः=गया नहीं। श्रमणकः=बौद्धसंन्यासी। समयेन=शर्त के साथ। समयः=शर्त, प्रतिज्ञा। कर्दमम्=कीचड़ को। पङ्काविलम्=गदला। पानीयम्=पानी को, पुञ्जीकृत्य=इकट्ठा करके ॥

अर्थः—**भिक्षु**—उपासक (अर्थात् बुद्ध की पूजा करने वाले) ! ऐसा ही है। मैं अभी हाल में ही संन्यासी हुआ हूँ।

शकार—तो तुम जन्म लेते ही क्यों नहीं संन्यासी हो गये। (ऐसा कह कर मारता है)

भिक्षु—बुद्ध को नमस्कार है।

विट—इस बेचारे को मारने से क्या लाभ ? छोड़ दो; जाय।

शकार—अरे ! ठहर जरा, जब तक विचार करता हूँ।

विट—किसके साथ ?

शकारः—अत्तणो हडक्केण । [आत्मनो हृदयेन ।]

विटः—हन्त, न गतः ।

शकारः—पुत्रका हडक्का ! भश्टके पुत्तके ! एशे शमणके अवि णाम किं गच्छदु, किं चिश्टदु । (स्वगतम्) णावि गच्छदु, णावि च्यिश्टदु ? (प्रकाशम्) भावे शंपधालिदं मए हडक्केण शह । एशे मह हडक्के भणादि । [पुत्रक हृदय ! भट्टारक पुत्रक ! एष श्रमणकोऽपि नाम किं गच्छतु, किं तिष्ठतु ? । नापि गच्छतु, नापि तिष्ठतु । भाव ! संप्रधारितं मया हृदयेन सह । एतन्मम हृदयं भणति ।]

विटः—किं ब्रवीति ? ।

शकारः—मावि गच्छदु, मावि च्यिश्टदु । मावि ऊशशदु, मावि णीशशदु; इध ज्जेव झत्ति पडिअ मलेदु । [मापि गच्छतु, मापि तिष्ठतु; माप्युच्छ्वसितु, मापि निःश्वसितु । इहैव झटिति पतित्वा म्रियताम् ।]

भिक्षुः—णमो बुद्धश्श; शलणागदम्हि । [नमो बुद्धाय; शरणागतोऽस्मि !]

विटः—गच्छतु ।

शकारः—णं शमएण । [ननु समयेन ।]

विटः—कीदृशः समयः ? ।

शकारः—तधा कद्दमं फेलदु, जधा पाणिअं पंकाइलं ण होदि । अधवा पाणिअं पुंजीकदुअ कद्दमे फेलदु । [तथा कर्दमं प्रक्षिपतु, यथा पानीयं पङ्काविलं न भवति ।

अर्थः—शकार—अपने हृदय के साथ ।

विट—हाय ! गया नहीं ।

शकार—बेटे हृदय ! राजा हृदय ! क्या यह बौद्ध संन्यासी चला जाय अथवा ठहरे? (अपने आप) न तो जाय और न तो ठहरे ही । (प्रकट रूप में) श्रीमान् जी ! मैंने हृदय के साथ सलाह कर लिया । यह मेरा हृदय कहता है ।

विट—क्या कहता है ?

शकार—न तो जाय । न ठहरे । न साँस ले । न साँस छोड़े । यहीं पर झट से गिर कर मर जाय ।

भिक्षु—बुद्ध को नमस्कार है । शरण में आया हूँ ।

विट—जाय (अर्थात् जाने दो) ।

शकार—एक शर्त पर (जाने दूँगा) ।

विट—कैसी शर्त ?

अथवा पानीयं पुंजीकृत्य कर्दमे क्षिपतु ।

विटः—अहो मूर्खता,—

विपर्यस्तमनश्चेष्टैः शिलाशकलवर्ष्मभिः ।
मांसवृक्षैरियं मूर्खैर्भाराक्रान्ता वसुंधरा ॥ ६ ॥

शकार—(यह) इस तरह कीचड़ फेंके जिससे कि पानी गदला न हो । अथवा पानी को इकट्ठा करके कीचड़ में फेंक दे ।

टीका—जातमात्रः = उत्पन्नमात्रः, आजन्मनः इत्यर्थः । तपस्विना = वराकेण, अपराधरहितेनेत्यर्थः । ताडितेन = प्रहृतेन, किम् ? = कः लाभः ? अस्य भिक्षोः ताडनेन न कोऽपि लाभः इति भावः । सम्प्रधारयामि = विचारयामि विवेचयामि वा । न गतः = अन्यत्र न यातः, श्रमणकः पलाय्य न गतः इति भावः । श्रमणकः = बौद्धसंन्यासी । समयेन = शपथेन, उच्यमानकार्यकरणस्य प्रतिज्ञया इत्यर्थः ('समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः) । समयः = शपथः, कार्यपूर्तेः प्रतिज्ञा । कर्दमम् = पङ्कम् (पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमौ' इत्यमरः) । पङ्केन = कर्दमेन आविलम् = कलुषम्, मलिनमिति यावत् । पानीयम् = जलम्; पुञ्जीकृत्य = एकत्रीकृत्य, पिण्डीकृत्य इत्यर्थः ॥

विपर्यस्तेति—

अन्वयः—विपर्यस्तमनश्चेष्टैः, शिलाशकलवर्ष्मभिः, मांसवृक्षैः, मूर्खैः, इयम्, वसुन्धरा, भाराक्रान्ता, (वर्तते) ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—विपर्यस्तमनश्चेष्टैः = विपरीत मन और काम वाले, शिलाशकलवर्ष्मभिः = पत्थर की पटिया के टुकड़े के समान शरीर वाले, मांसवृक्षैः = मांस के पेड़ों (के समान), मूर्खैः = मूर्खों के द्वारा, इयम् = यह, वसुन्धरा = पृथ्वी, भाराक्रान्ता = बोझिल, (वर्तते = है) ॥

अर्थः—**विट**—ताज्जुब की मूर्खता है—

उलटा (विपरीत) मन और काम वाले, पत्थर की पटिया के टुकड़े के समान शरीर वाले, मांस के पेड़ों जैसे मूर्खों के द्वारा यह पृथिवी बोझिल हो रही है ॥ ६ ॥

टीका—विपर्यस्ते = विपरीते, व्यवहारविरुद्धे इत्यर्थः, मनश्चेष्टे = चेतश्चेतोव्यापारौ येषां तादृशैः; लोकविरुद्धस्य कार्यस्य चिन्तने सम्पादने च संलग्नैः इति भावः; शिलायाः = प्रस्तरखण्डस्य शकलानि = खण्डानि इव वर्ष्माणि = शरीराणि (गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः) येषां तैः; मांसस्य = पिशितस्य

(भिक्षुर्नाटयेनाक्रोशति)

शकारः—किं भणादि ? । [किं भणति ? ।]

विटः—स्तौति भवन्तम् ।

शकारः—थुणु थुणु, पुणो वि थुणु । [स्तुनु स्तुनु, पुनरपि स्तुनु ।]

(तथा कृत्वा निक्रान्तो भिक्षुः)

विटः—काणेलीमातः ! पश्योद्यानस्य शोभाम्

अमी हि वृक्षाः फलपुष्पशोभिताः
कठोरनिष्पन्दलतोपवेष्टिताः ।
नृपाज्ञया रक्षिजनेन पालिता
नराः सदारा इव यान्ति निर्वृतिम् ॥ ७ ॥

('पिशितं तरसं मांसं पललं क्रव्यमाऽऽमिषम्' इत्यमरः) वृक्षाः=पादपाः तैः, मांसमयैः पादपैः विचारशून्यैः इति भावः; मूर्खैः=अज्ञैः; इयम्=आधारभूता, वसुन्धरा = पृथ्वी, भाराक्रान्ता = अतिभारवती वर्तते इति शेषः । संसाराहितकरैः शकारसदृशैः मूर्खैः समाजस्य अहितमेव भवति न तु हितम्; अतः ते पृथिव्याः केवलं भारभूताः एव सन्तीति भावः ॥ ६ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा एवं रूपक अलङ्कार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है । छन्द का लक्षण—युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ६ ॥

(बौद्ध संन्यासी अभिनय के द्वारा कोसता है)

अर्थः—शकार—क्या कहता है ?

विट—आपकी प्रशंसा कर रहा है ।

शकार—प्रशंसा करो, और फिर भी प्रशंसा करो ।

(वैसा करके भिक्षु निकल जाता है)

अमी हीति—

अन्वयः—फलपुष्पशोभिताः, कठोरनिष्पन्दलतोपवेष्टिताः, अमी, वृक्षाः, नृपाज्ञया, रक्षिजनेन, पालिताः, सदाराः, नराः, इव निर्वृतिम्, यान्ति ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—फलपुष्पशोभिताः=फलों एवं फूलों से सुशोभित, कठोरनिष्पन्दलतोपवेष्टिताः = मोटी पकी एवं निश्चल लताओं के द्वारा लपेटे गये, अमी = ये, वृक्षाः = वृक्ष; नृपाज्ञया=राजा की आज्ञा से, रक्षिजनेन = सिपाहियों के द्वारा, पालिताः = रखवाली किये गये, सदाराः=सपत्नीक, नराः इव=पुरुषों के समान, निर्वृतिम्=सुख को, यान्ति = जा रहे हैं, प्राप्त कर रहे हैं ॥

शकारः—शुश्टु भावे भणादि

बहुकुशुमविचित्तिदा अ भूमी
कुशुमभलेण विणामिदा अ लुक्खा।
दुमशिहलदाअलंबमाणा
पणशफला विअ बाणला ललंति ॥ ८ ॥

[सुष्टु भावो भणति
बहुकुसुमविचित्रता च भूमिः कुसुमभरेण विनामिताश्च वृक्षाः।
द्रुमशिखरलतावलम्बमानाः पनसफलानीव वानरा ललन्ति ॥]

अर्थः—विट—छिनार के पुत्र ! बगीचे की शोभा देखो—

फलों एवं फूलों से सुशोभित, मोटी पकी तथा निश्चल लताओं के द्वारा भली-भाँति लपेटे गये (आलिङ्गित), ये वृक्ष, राजा की आज्ञा से सिपाहियों के द्वारा रखवाली किये गये सपत्नीक पुरुषों के समान, सुख को प्राप्त कर रहे हैं ॥ ७ ॥

टीका—पुष्पाणि=कुसुमानि च, फलानि=प्रसवाश्च तैः शोभिताः=सुन्दराः; कठोराभिः=स्थूलाभिः प्राचीनाभिश्च निष्पन्दाभिः=निश्चलाभिः लताभिः= व्रततिभिः ('वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः) उपवेष्टिताः=आलिङ्गिताः; अमी= एते; वृक्षाः=पादपाः; नृपस्य=राज्ञः आज्ञया=आदेशेनः रक्षिजनेन=रक्षकलोकेन (जातौ एकवचनम्); पालिताः=रक्षिताः; दाराभिः=स्त्रीभिः सहिताः=युक्ताः सदाराः=सपत्नीकाः; नराः=मनुष्याः इवः, निर्वृतिम्=सुखम्; यान्ति=प्राप्नुवन्ति इत्यर्थः। यथा पुत्रादिसहिताः सपत्नीकाः जनाः राजाज्ञया रक्षकैः रक्षिताः सुखपूर्वकं जीवनं यापयन्ति तथैव फलपुष्पसमन्विताः लतावेष्टिताः एते वृक्षाः अपि सुखं लभन्ते इति भावः ॥ ७ ॥

टिपणी—इस श्लोक में उपमा एवं समासोक्ति अलङ्कार तथा वंशस्थ छन्द है। छन्द का लक्षण—जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ॥ ७ ॥

बहुकुसुमविचित्रिता इति—

अन्वयः—भूमिः, च, बहुकुसुमविचित्रिता, (अस्ति), वृक्षाः, च, कुसुमभरेण, विनामिताः, (सन्ति), द्रुमशिखरलतावलम्बमानाः, वानराः, पनसफलानि, इव, ललन्ति ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—भूमिः=पृथिवी, बहुकुसुमविचित्रिता=अनेक फूलों से रङ्ग-बिरङ्गी, (अस्ति=है)। वृक्षाः=वृक्ष, च=भी, कुसुमभरेण=फूलों के बोझ से, विनामिताः=झुकाये गये, (सन्ति=हैं)। द्रुमशिखरलतावलम्बमानाः=पेड़ों के ऊपर

विटः—काणेलीमातः ! इदं शिलातलमध्यास्यताम् ।

शकारः—एशे म्हि आशिदे । (इति विटेन सहोपविशति) भावे ! अज्ज वि तं वशंतशेणिअं शुमलामि । दुज्जणवअणं विअ हडक्कादो ण ओशलदि । [एषोऽस्म्यासितः । भाव ! अद्यापि तां वसन्तसेनां स्मरामि । दुर्जनवचनमिव हृदयान्नापसरति ।]

विटः—(स्वगतम्) तथा निरस्तोऽपि स्मरति ताम् । अथवा

की टहनियों में लटके हुए, वानराः=वानर, पनसफलानि = कटहल के फल, इव= जैसे, ललन्ति = सुशोभित हो रहे हैं ॥

अर्थः--**शकार**—आप ठीक कह रहे हैं ।

पृथिवी अनेक रङ्ग के फूलों से रङ्ग-विरङ्गी है । वृक्ष फूलों के बोझ से झुकाये ये हैं । पेड़ों के ऊपर की टहनियों में लटके हुए वानर कटहल के फल के समान सुशोभित हो रहे हैं ॥ ८ ॥

टीका—भूमिः = पृथिवी; बहुभिः = अनेकैः, नानविधैः इत्यर्थः, कुसुमैः = प्रसूनैः विचित्रिता = विविधवर्णरञ्जिता, अस्तीति शेषः; वृक्षाः = पादपाः; च = अपि; कुसुमानाम् = पुष्पाणाम्; भरेण विनामिताः = नम्रीकृताः, सन्तीतिशेषः । द्रुमाणाम्= पादपानाम्, शिखरलतासु = अग्रभागशाखासु अवलम्बमानाः = अधो लम्बमानाः, वानराः = कपयः; पनसस्य = कण्टकिफलस्य ('पनसः कण्टकिफलः' इत्यमरः) फलानि = प्रसवाः इव; ललन्ति = शोभन्ते, अत्रेति शेषः ॥ ८ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं पुष्पिताग्रा छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

अयुजिनयुगरेफतो यकारो, युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—शिलातलम्=पत्थर की पटिया पर । दुर्जनवचनमिव = दुर्जन के वचन की भाँति (अर्थात् कठोर वचन के समान), हृदयात् = हृदय से, न=नहीं, अपसरति = निकल रही है । तथा = उस प्रकार से, निरस्तः = तिरस्कृत, अपि=भी, ताम् = उस वसन्तसेना को, स्मरति = याद करता है ॥

अर्थः--**विट**—पुंश्चली के पुत्र ! इस शिलातल (पटिया) पर बैठिए ।

शकार—यह बैठ गया । श्रीमान् जी ! (मैं) आज भी उस वसन्तसेना को याद करता हूँ । कठोर वचन के समान वह मेरे हृदय से नहीं निकल रही है ।

विट—(अपने आप) उस प्रकार तिरस्कृत होने पर भी उसकी याद करता है । अथवा —

स्त्रीभिर्विमानितानां कापुरुषाणां विवर्धते मदनः।
सत्पुरुषस्य स एव तु भवति मृदुर्नैव वा भवति ॥ ९ ॥

टीका—शिलातलम्=प्रस्तरपट्टकम्। अत्र अधिकरणस्य कर्मत्वं बोध्यम्। दुर्जनस्य=दुष्टपुरुषस्य वचनमिव=वाक्यमिव, कठोरवचनमिवेति यावत्, हृदयात्=मनस इत्यर्थः, न अपसरति=न निःसरति। कर्कशं दुष्टवचनं यथा हृदयात् न निःसरति अरुन्तुदां पीडाञ्च ददाति, तथैवेयमपि मम चेतसः न निःसरति सन्तापयति चेति भावः। तथा=तेन प्रकारेण, स्नेहविरसरूपेणेत्यर्थः, निरस्तः=तिरस्कृतः, न्यक्कृतः इत्यर्थः। अपि ताम्=तिरस्कारकर्त्रीं वसन्तसेनाम्, स्मरति=स्मरणं करोति ॥

स्त्रीभिरिति—

अन्वयः—स्त्रीभिः, विमानितानाम्, कापुरुषाणाम्, मदनः, विवर्धते, तु, सत्पुरुषस्य, सः, एव, मृदुः, भवति, वा, न, एव, भवति ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—स्त्रीभिः=स्त्रियों के द्वारा, विमानितानाम्=झिड़के गये (तिरस्कृत), कापुरुषाणाम्=नीच पुरुषों का, मदनः=काम, विवर्धते=अधिक बढ़ जाता है। तु=किन्तु, सत्पुरुषस्य=सज्जनपुरुषों का, सः=वह, एव=ही, मृदुः=कम, भवति=हो जाता है, वा=अथवा, न=नहीं, एव=ही, भवति=होता है ॥

अर्थः—स्त्रियों के द्वारा झिड़के गये (तिरस्कृत) नीच पुरुषों की कामवासना अधिक बढ़ जाती है। किन्तु सज्जन पुरुषों की कामवासना (स्त्रियों के द्वारा अपमानित होने पर) कम हो जाती है अथवा होती ही नहीं ॥९॥

टीका—स्त्रीभिः=वांछिताभिः नारीभिः, विमानितानाम्=तिरस्कृतानाम्, निष्फलीकृतकामयाञ्चानामित्यर्थः, मदनः=कामः, विवर्धते=वृद्धिं गच्छति। धृष्टपुरुषाणां कामस्य अयं वामः स्वभावः यत् सः तिरस्कृतेषु तेषु वृद्धिमेव गच्छतीति भावः। तु=किन्तु, सतः=सज्जनस्य पुरुषस्य=जनस्य, कुलीनस्येति यावत्, सः=मदनः एव, मृदुः=क्षीणः, भवति=जायते, वा=अथवा, नैव भवति=नैव उत्पद्यते। प्राप्ते तु तिरस्कारे कुलीनस्य कामवासना स्वल्पप्राणा विगतप्राणा वा जायते इति भावः ॥ ९ ॥

टिप्पणी—विमनितानाम्=अनादृतों का, निरादृतों का, वि + √मन् + णिच् + क्त + षष्ठी बहु० ॥

यहाँ पर अप्रस्तुत पुरुष-सामान्य से प्रस्तुत कापुरुष विशेष शकार की प्रतीति होने से अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार है।

शकारः—भावे ! का वि वेला थावलकचेडश्श भणिदश्श 'पवहणं गेण्हिअ लहुं लहुं आअच्छे' त्ति । अज्ज वि ण आअच्छदि त्ति । चिलम्हि बुभुक्खिदे । मज्झण्हे ण शक्कीअदि पादेहिं गंतुं । ता पेक्ख पेक्ख

णहमज्झगदे शूले दुप्पेक्खे कुविदवाणलशलिच्छे ।
भूमी दढशंतत्ता हदपुत्तशदेव गंधाली ॥ १० ॥

[भाव ! कापि वेला स्थावरकचेटस्य भणितस्य 'प्रवहणं गृहीत्वा लघु लघ्वागच्छ' इति । अद्यापि नागच्छतीति । चिरमस्मि बुभुक्षितः । मध्याह्ने न शक्यते पादाभ्यां गन्तुम् । तत्पश्य पश्य

नभोमध्यगतः सूर्यो दुःप्रेक्ष्यः कुपितवानरसदृक्षः ।
भूमिर्दृढसंतप्ता हतपुत्रशतेव गान्धारी ॥]

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—आर्या ।

छन्द का लक्षण—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—प्रवहणम्=गाड़ी को, गृहीत्वा=लेकर, लघु लघु=जल्दी-जल्दी (अर्थात् बहुत जल्दी), आगच्छ=आओ । अद्यापि=अभी भी । चिरम्=बहुत देर से, बुभुक्षितः—भूखा ॥

अर्थः-शकार-श्रीमान् जी ! स्थावरक नोकर से यह कहे हुए कितनी देर हो गयी कि 'गाड़ी लेकर बहुत जल्द आओ' । अभी भी नहीं आ रहा है । (मैं) बहुत देर से भूखा हूँ । दोपहर में पैदल नहीं चला जा सकता । तो देखिये, देखिये—

टीका—प्रवहणम्=कर्णीरथम् ('कर्णीरथः प्रवहणं डयनम्' इत्यमरः), गृहीत्वा=आदाय, लघु लघु=अतिशीघ्रमित्यर्थः, आगच्छ=एहि । अद्यापि=सम्प्रत्यपि । चिरम्=बहोः समयात्, बुभुक्षितः=भोक्तुमिच्छुकः ॥

नभोमध्यगतः इति—

अन्वयः—नभोमध्यगतः, सूर्यः, कुपितवानरसदृक्षः, दुःप्रेक्ष्यः, (अस्ति), हतपुत्रशता, गान्धारी, इव, भूमिः, दृढसन्तप्ता, (जाता) ॥ १० ॥

शब्दार्थः—नभोमध्यगतः=आकाश के बीचो-बीच स्थित, सूर्यः=सूर्य, कुपितवानरसदृक्षः=क्रुद्ध हुए वानर के समान, दुःप्रेक्ष्यः=मुश्किल से देखे जाने के योग्य, (अस्ति=है) । हतपुत्रशता=मारे गये थे सौ पुत्र जिसके ऐसी, गान्धारी इव=

विटः—एवमेतत्

छायासु प्रतिमुक्तशष्पकवलं निद्रायते गोकुलं
तृष्णार्तैश्च निपीयते वनमृगैरुष्णं पयः सारसम् ।
संतापादतिशङ्कितैर्न नगरीमार्गो नरैः सेव्यते
तप्तां भूमिमपास्य च प्रवहणं मन्ये क्वचित्संस्थितम् ॥११॥

गान्धारी के समान, भूमिः = पृथिवी, दृढसन्तप्ता = बहुत अधिक सन्तप्त (पृथिवी के पक्ष में—तपी हुई, गान्धारी के पक्ष में—दुःखी) (अस्ति = हो गयी है) ॥

अर्थः—आकाश के बीचोबीच स्थित सूर्य, क्रुद्ध हुए वानर के (मुँह के) समान, मुश्किल से देखा जा सकता है। मारे गये थे सौ पुत्र जिसके ऐसी गान्धारी के समान यह पृथिवी बहुत अधिक सन्तप्त (पृथिवी के पक्ष में–तपी हुई, गान्धारी के पक्ष में—दुःखी) है ॥१०॥

टीका—नभसः = आकाशस्य मध्ये = मध्यभागे गतः = स्थितः, सूर्यः = प्रभाकरः, कुपितवानरेण = क्रुद्धकपिना सदृक्षः = समानः, ('समस्तुल्यः सदृक्षः सदृशः सदृक् साधारणः समानश्च' इत्यमरः) दुःप्रेक्ष्यः = दुःखेन द्रष्टुं शक्यः, अस्तीति शेषः। हतम् = विनाशितम्, पुत्राणाम् = सुतानाम्, शतम् = शतसंख्याकः समूहः यस्याः तादृशी, गान्धारी = दुर्योधन जननी इव, भूमिः = पृथिवी, दृढम् = अत्यर्थं यथा स्यात्तथा सन्तप्ता = उष्णा, पक्षे सन्तापयुक्ता जातेति शेषः। क्रोधपरिव्याप्तः अतएव अत्यर्थं रक्तवर्णाननः वानरः इव सूर्यः द्रष्टुमशक्यः सञ्जातः। शतपुत्राणां मरणे यथा गान्धारी शोकसन्तप्ताऽऽसीत्तथैवेयं भूमिः अपि रविरश्मिभिः उष्णा जातेत्यर्थः ॥ १० ॥

टिप्पणी—सदृक्षः = समानं दर्शनमस्य—√दृश् + क्स, क्विन्, कञ् वा, समानस्य सादेशः। सन्तप्ता = सम् + √तप् + क्त + टाप् ॥

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं आर्या छन्द है। छन्द के लक्षण के लिये देखिये श्लोक ९ की टिप्पणी ॥ १० ॥

छायासु इति—

अन्वयः—प्रतिमुक्तशष्पकवलम्, गोकुलम्, छायासु, निद्रायते, तृष्णार्तैः, वनमृगैः, च, उष्णम्, सारसम्, पयः, निपीयते, संतापात्, अतिशङ्कितैः, नरैः, नगरीमार्गः, न, सेव्यते, (अतः, अहं) मन्ये, (यत्), तप्ताम्, भूमिम्, अपास्य, प्रवहणम्, क्वचित्, संस्थितम् (अस्ति) ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—प्रतिमुक्तशष्पकवलम् = छोड़ दिया है घासों का चरना जिसने ऐसा,

गोकुलम् = गायों का झुण्ड, छायासु = छाया में, निद्रायते = नींद ले रहा है, तृष्णार्तैः = प्यास से व्याकुल, वनमृगैः = जंगली जानवरों के द्वारा, च = भी, उष्णम् = गर्म, सारसम् = सरोवरों का, पयः = जल, पीयते = निपया जा रहा है; सन्तापात् = गर्मी से, अतिशङ्कितैः = अत्यन्त डरे हुए, नरैः = मनुष्यों के द्वारा, नगरीमार्गः = नगरी की सड़क, न = नहीं, सेव्यते = इस्तेमाल की जारही है, नहीं चली जारही है; (अतः = इसलिये, अहम् = मैं) मन्ये = समझता हूँ (यत् = कि), तप्ताम् = तपी हुई, भूमिम् = भूमिको, अपास्य = छोड़ कर, प्रवहणम् = गाड़ी, क्वचित् = कहीं, संस्थितम् = ठहरा (अस्ति =) ॥

अर्थः--विट—हाँ ऐसी ही बात है—

गायोंका झुण्ड कोमल घासों का चरना छोड़ कर छाया में नींद ले रहा है। प्यास से व्याकुल जङ्गली जानवर सरोवरों का गर्म जल पी रहे हैं। गर्मी से अत्यन्त डरे हुए मनुष्य नगरी की सड़क से नहीं चल रहे हैं। (अतः) मैं समझता हूँ कि तपी हुई भूमि को छोड़ कर वह गाड़ी कहीं (छाया में) ठहर गयी है ॥१२॥

टीकाः--प्रतिमुक्ताः = परित्यक्ताः शष्पाणाम् = बालतृणानाम् ('शष्पं बालतृणं घासो यवसम्' इत्यमरः) कवलाः = ग्रासाः येन तत्, गवां कुलम् = समूहः, छायासु = अनातपेषु (छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इत्यमरः) निद्रायते = स्वपिति। घर्मपीडितं गोकुलं छायासु सानन्दमुपविश्य स्वपिति इति भावः। तृष्णार्तैः = पिपासा-पीडितैः, वनमृगैः = अरण्यपशुभिश्च, उष्णम् = घर्मेण तप्तं, सरसः = सरोवरस्य इदं सारसम् = सरोवरसम्बन्धि, पयः = जलम्, निपीयते = नितरां पीयते। पिपासाविह्वलाः जङ्गलजन्तवः शीतलजलाभावे उष्णमेव जलं पिबन्तीत्यर्थः। सन्तापात् = आतपात्, अतिशङ्कितैः = अतिभीतैः, नरैः = जनैः, नगर्याः = उज्जयिनीनगर्याः मार्गः = पन्थाः, न सेव्यते = न गम्यते। आतपभयात् जनाः राजमार्गं परित्यज्य छायामाश्रित्य व्रजन्ति अथवा गमनव्यापाराद्विरम्य अनातपं सेवन्ते। अतः अहं मन्ये = स्वीकरोमि, यत् तप्ताम् = उष्णाम्, भूमिम् = पृथिवीम्, अपास्य = परित्यज्य, प्रवहणम् = शकटम्, क्वचित् = कुत्रचित्, संस्थितम् = निवृत्तगतिव्यापारम्, अस्तीति शेषः। कस्मिंश्चित् छायास्थाने स्थितमस्तीति भावः ॥ ११ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में स्वभावोक्ति अलङ्कार एवं शार्दूलविक्रीडित छन्द है। छन्द का लक्षण—

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥११॥

शकारः—भावे !

शिलषि मम णिलीणे भाव शुज्जश्श पादे
शउणिखगविहंगा लुक्खशाहाशु लीणा ।
णलपुलिशमणुश्शा उण्हदीहं शशंता
घलशलणणिशण्णा आदवं णिव्वहंति ॥ १२ ॥

भावे ! अज्ज वि शे चेडे णाअच्छदि । अत्तणो विणोदणणिदित्तं किं पि गाइश्शं (इति गायति) भावे ! भावे ! शुदं तुए जं मए गाइदं ? ।

[भाव !

शिरसि मम निलीनो भाव ! सूर्यस्य पादः
शकुनिखगविहङ्गा वृक्षशाखासु लीनाः ।
नरपुरुषमनुष्या उष्णदीर्घं श्वसन्तो
गृहशरणनिषण्णा आतपं निर्वहन्ति ॥

शिरसि ममेति--

अन्वयः—हे भाव ! सूर्यस्य, पादः, मम, शिरसि, निलीनः (अस्ति); शकुनिखगविहङ्गाः, वृक्षशाखासु, लीनाः, (सन्ति); नरपुरुषमनुष्याः, उष्णदीर्घम्, श्वसन्तः, गृहशरणनिषण्णाः, आतपम्, निर्वहन्ति ॥१२॥

शब्दार्थः—हे भाव ! = हे श्रीमान् जी, सूर्यस्य = सूर्य की, पादः = किरण, मम = मेरे, शिरसि = शिर पर, निलीनः = पड़ी, (अस्ति = है) । शकुनिखगविहङ्गाः = पक्षी (खग, विहङ्ग) वृक्षशाखासु = वृक्ष की डालों में, लीनाः = छिपे हुए, (सन्ति = हैं) । नरपुरुषमनुष्याः = मनुष्य (नर, पुरुष), उष्णदीर्घम् = गरम तथा लम्बी (जैसे हो तैसे), श्वसन्तः = साँस लेते हुए, गृहशरणनिषण्णाः = घर (शरण) में बैठे हुए, आतपम् = गर्मी को, निर्वहन्ति = बिता रहे हैं ॥

अर्थः-शकार—श्रीमान् जी ।

सूर्य की किरण मेरे शिर पर पड़ रही हैं । पक्षी (खग, विहङ्ग) वृक्ष की डालों में छिप गये हैं । मनुष्य (नर, पुरुष) गर्म तथा लम्बी साँसें लेते हुए घर (शरण) में बैठे हुए गर्मी (आतप के समय) को बिता रहे है ॥१२॥

टीका—हे भाव ! = हे विद्वन् ! सूर्यस्य = भानोः; पादः = किरणः; मम = शकारस्य; शिरसि = मस्तके; निलीनः = नितरां पतितः; अस्तीति शेषः । शकुनिखगविहंगाः = पक्षिणः; शकारोक्तित्वात् द्विरुक्तिः न दोषावहेति अवगन्तव्यम्; वृक्षस्य =

भाव ! अद्यापि स चेटो नागच्छति । आत्मनो विनोदननिमित्तं किमपि गास्यामि । भाव भाव ! श्रुतं त्वया यन्मया गीतम् ? ।]

विटः—किमुच्यते । गन्धर्वो भवान् ।

शकारः—कधं गंधव्वे ण भविश्शं ? ।

हिंगुज्जले जीलकभद्दमुश्ते वचाह गंठी शगुडा अ शुंठी ।
एशे मए शेविद गंधजुत्ती कधं ण हग्गे मधुलश्शले त्ति ॥

पादपस्य शाखासु=लतासु ('समे शाखालते' इत्यमरः) लीनाः=निशब्दं स्थिताः इत्यर्थः, सन्तीतिशेषः । नरपुरुषमनुष्याः=पुरुषाः, उष्णम्=सन्तप्तम् च तत् दीर्घम् =विस्तृतं; यथा तथा; श्वसन्तः=श्वासक्रियां कुर्वन्तः; गृहशरणेषु=भवनेषु निषण्णाः=स्थिताः; आतपम्=घर्मकालमित्यर्थः निर्वहन्ति=यापयन्ति । अत्र सर्वत्र शकारवचने पौनरुक्त्यं न दोषावहं तस्य मौर्ख्यादित्यवधेयमिति ॥१२॥

टिप्पणी—निलीनः=बन्द या लपटा हुआ, नि+√ली+क्त ॥

इस श्लोक के 'शकुनिखगविहङ्गाः', 'नरपुरुषमनुष्याः' एवं 'गृहशरणनिषण्णाः' में एक पर्याय के अनेक शब्दों का प्रयोग मूर्ख शकार की उक्ति होने के कारण क्षन्तव्य समझनी चाहिये ॥

श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—मालिनी ।

लक्षण—ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ॥१२॥

अर्थः—श्रीमान् जी ! अब भी वह नौकर (चेट) नहीं आ रहा है । अपने को बहलाने के लिये कुछ गाऊँगा । (ऐसा कह कर गाता है) । श्रीमान् जी ! तुमने सुना जो मैंने गाया ? ।

शब्दार्थः—गन्धर्वः=स्वर्गीय गायक ॥

अर्थः—विट—क्या कहना ! आप गन्धर्व हैं ।

टीका—गन्धर्वः=संगीतविद्याविशारदः देवयोनि विशेषः ॥

टिप्पणी—गन्धर्व देवताओं की एक जाति है । इन्हें आधे अंश मे देव माना जाता है । ये देवताओं के गवैये तथा संगीतर माने जाते हैं । जो बहुत अच्छा गायक होता है उसकी उपमा गन्धर्वों से दी जाती है ॥

हिङ्गुज्ज्वला इति—

अन्वयः—हिङ्गुज्ज्वला, जीरकभद्रमुस्ता, वचायाः ग्रन्थिः, सगुडा, शुण्ठी, च; एषा, गन्धयुक्तिः, मया, सेविता, (तर्हि), अहम् कथम्, मधुरस्वरः, न, (भवेयम्) इति ॥१३॥

भात्रे ! पुणो वि दाव गाइश्शं । (तथा करोति) भावे भावे ! शुदं तुए जं मए गाइदं
[कथं गन्धर्वो न भविष्यामि ?

हिङ्गूज्ज्वला जीरकभद्रमुस्ता वचाया ग्रन्थिः सगुडा च शुण्ठी ।
एषा मया सेविता गन्धयुक्तिः कथं नाहं मधुरस्वर इति ॥

भाव ! पुनरपि तावद्गास्यामि । भाव भाव ! श्रुतं त्वया यन्मया गीतम् ? ।]

विटः—किमुच्यते गन्धर्वो भवान् ।

शब्दार्थः—हिङ्गुज्ज्वला=हींग के कारण सफेद, जीरकभद्रमुस्ता=जीरा सहित नागरमोथा, वचायाः=वच की, ग्रन्थिः=गाँठ, सगुडा=गुड़ से मिलायी हुई, शुण्ठी=सोंठ—एषा=यह गन्धयुक्तिः=सुगन्धित मिलावट, मया=मेरे द्वारा, सेविता=सेवन की गयी है, (तर्हि=तो) अहम्=में, कथम्=कैसे, मधुरस्वरः= मीठास्वर वाला, न=नहीं, (भवेयम्=होऊँ) । इति=यह पादपूर्ति के लये हैं ॥

अर्थः-शकार-हींग मिलाने के कारण सफेद (अर्थात् हींग से वासित) जीरा सहित नागर मोथा, वच की गाँठ और गुड़ मिलायो हुई सोंठ—इस सुगधित योग (मिलावट) का मैंने (प्रतिदिन स्वर सुधारने के लिये) सेवन किया है, तो मैं मीठा स्वर वाला क्यों न होऊँ ? ॥१३॥

टीका—हिङ्गुभिः = वाल्हीकैः ('सहस्रवेधि जतुकं वाल्हीकं हिङ्गुरामठम्' इत्यमरः) उज्ज्वला=शुभ्रा वासिता वा, जीरकसहिता जीरणसहिता भद्रमुस्ता= 'नागर मोथा' इति प्रसिद्धः द्रव्यविशेषः, वचायाः=उग्रगन्धायाः, ग्रन्थिः=काण्डः, सगुडा=गुडमिश्रिता, शुण्ठी=लोके सोंठ इति ख्यातः शुष्कार्द्रकः, च; एषा=पूर्व-कथिता इत्यर्थः, गन्धयुक्तिः=गन्धयोगः, मया=शकारेण, सेविता=भुक्ता, तर्हि अहम् =सुस्वरार्जनकृतयत्नः शकारः इत्यर्थः, कथम्=कस्मात् काणात्, मधुरस्वरः मधुरः= श्रवणसुभगः स्वरः=कण्ठध्वनिः यस्य तादृशः, न भवेयमिति, अपि तु भवेयमिति, एतेषां सुस्वर सम्पादकानां वस्तूनां सेवनेऽपि कस्मान्नाऽहं सुकण्ठः भवेयमिति ? ॥१३॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपजाति छन्द है। छन्द का लक्षण—(स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ॥ अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदोयावुपजातयस्ताः ॥१३॥

अर्थः—श्रीमान् जी ! तो मैं फिर भी गाऊँगा । (गाकर) श्रीमान् जी ! श्रीमान जी ! आपने सुना, जो मैंने गाया ? ।

विट—क्या कहना ! आप गन्धर्व हैं ।

शकारः—कधं गंधव्वे ण भवामि ?।

हिंगुज्जले दिण्णमलीचचुण्णे वग्घालिदे तेल्लघिएण मिश्शे।
भुत्ते मए पालहुदीअमंशे कधं ण हग्गे मधुलश्शलेत्ति ॥ १४ ॥

भावे ! अज्ज वि चेडे णाअच्छदि । [कथं गन्धर्वो न भवामि ?

हिङ्गूज्ज्वलं दत्तमरीचचूर्णं व्याघारितं तैलघृतेन मिश्रम् ।
भुक्तं मया पारभृतीयमांसं कथं नाहं मधुरस्वर इति ॥

हिङ्गूज्जलमिति—

अन्वयः— हिङ्गूज्ज्वलम्, दत्तमरीचचूर्णम्, तैलघृतेन, मिश्रम्, व्याघारितम्, पारभृतीयमांसम्, मया, भुक्तम्, अहम्, कथम्, न, मधुरस्वरः, (भवेयम्), इति ॥१४॥

शब्दार्थः—हिङ्गूज्ज्वलम्=हींग से वासित, दत्तमरीचचूर्णम्=मिर्च के चूर्ण से मिला हुआ, तैलघृतेन=तेल एवं घी से, मिश्रम्= मिला हुआ, (एवं) व्याघारितम्=बघारा हुआ, पारभृतीयमांसम्=कोयल का मांस, मया=मेरे द्वारा, भुक्तम्=खाया गया है, अहम्=मैं, कथम्=कैसे, न=नहीं, मधुरस्वरः=मीठा स्वरवाला, (भवेयम्=होऊँ), इति=यह पादपूर्ति के लिये है ॥

अर्थः—शकार—क्यों न गन्धर्व होऊँ ?

शकार—मैंने हींग से वासित, (काली) मिर्च के चूर्ण से मिला हुआ तथा तेल एवं घी से मिला और बघारा हुआ कोयल का मांस खाया है; तो मैं मीठा स्वर वाला क्यों न होऊँ ॥१४॥

टीका—हिङ्गुभिः=वाल्हीकैः उज्ज्वलम्=शुभ्रम्, हिङ्गुवासितमित्यर्थः; दत्तम्=मिश्रितं मरिचानाम्=कोलकानाम् ('मरिचं कोलकं कृष्णमूषणं धर्मपत्तनम्', इत्यमरः) चूर्णम्=चूर्णीकृतं रजः यस्मिन् तत्; तैलसहितेन घृतेन तैलघृतेन अथवा तैलञ्च घृतञ्च तयोः समाहारः तेन तैलघृतेन मिश्रम्=संयुक्तम्; विशेषेण आघारितं व्याघारितम्=घृतपक्वमित्यर्थः; परभृतः एव पारभृतः=कोकिलः तस्य इदं पारभृतीयम्=कोकिलसम्बन्धि मांसम्=आमिषम् ('वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिक इत्यपि' इत्यमरः) मया=शकारेण; भुक्तम्=खादितम् ; अहम्=शकारः; कथम्=कस्मात्; न मधुरः=श्रवणप्रियः स्वरः=कण्ठध्वनिः यस्य सः; भवेयमिति शेषः । इति शब्दः पादपूरणे ॥१४॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपजाति छन्द है । छन्द के लक्षण के लिये देखिये पीछे के श्लोक की टिप्पणी ॥१४॥

भाव ! अद्यापि चेटो नागच्छति ।]

विटः—स्वस्थो भवतु भवान्, संप्रत्येवागमिष्यति ।

(ततः प्रविशति प्रवहणाधिरूढा वसन्तसेना चेटश्च)

चेटः—भीदे खु हग्गे, मज्झण्हिके शुज्जे । मा दाणिं कुविदे लाअशालशंठाणे हुविश्शदि । ता तुलिदं वहामि । जाध गोणा ! जाध । [भीतः खल्वहम्, माध्याह्निकः सूर्यः । नेदानीं कुपितो राजश्यालसंस्थानको भविष्यति । तत्त्वरितं वहामि । यातं गावौ ! यातम् ।]

वसन्तसेना—हद्धी हद्धी, ण हु वड्ढमाणअस्स अअं सरसंजोओ । किं णेदं ? । किं णु खु अज्जचारुदत्तेण वाहणपडिस्समं परिहरंतेण अण्णो मणुस्सो अण्णं पवहणं पेसिदं भविस्सदि ? । फुरदि दाहिणं लोअणं, वेवदि मे हिअअं, सुण्णाओ दिसाओ, सव्वं ज्जेव विसंठुलं पेक्खामि । [हा धिक् हा धिक्, न खलु वर्धमानकस्यायं स्वर-संयोगः । किं न्विदम् ? किं नु खल्वार्यचारुदत्तेन वाहनपरिश्रमं परिहरतान्यो मनुष्योऽन्य-त्प्रवहणं प्रेषितं भविष्यति ? । स्फुरति दक्षिणं लोचनम्, वेपते मे हृदयम्, शून्या दिशः, सर्वमेव विसंष्ठुलं पश्यामि ।]

शब्दार्थः—स्वस्थः = शान्त, बिना घबराया हुआ । भीतः=डरा हुआ । माध्या-ह्निकः = मध्याह्न का । वाहनपरिश्रमम्=बैलों की मिहनत को, परिहरता=बचाते हुए । मनुष्यः = गाड़ीवान् । स्फुरति = फड़क रहा है । वेपते= काँप रहा है, हृदयम्= कलेजा । शून्याः=सूनी हैं । विसंष्ठुलम् = विपरीत, असम्बद्ध ॥

अर्थः—श्रीमान् जी ! अब भी चेट (नौकर) नहीं आ रहा है ।

विट—आप घबड़ायें नहीं, अभी आजायगा ।

(तब गाड़ी पर बैठी हुई वसन्तसेना तथा चेट प्रवेश करते हैं)

चेट—मुझे बड़ा डर लग रहा है ! सूर्य मध्याह्न में आगया (अर्थात् दिन के बारह बज गये) । राजा के साले संस्थानक कहीं क्रुद्ध न हों ? इस लिये जल्दी जल्दी गाड़ी हाँकता हूँ । बढ़े चलो बैलों, बढ़े चलो ।

वसन्तसेना—हा ! खेद है ! खेद है ! निश्चय ही वर्धमानक की यह आवाज नहीं है । यह क्या (बात) है ? क्या गाड़ी (गाड़ी, बैल, गाड़ीवान् सभी) की मिह-नत को बचाते हुए आर्य चारुदत्त ने दूसरा गाड़ीवान् तथा दूसरी गाड़ी भेज दी है ? (अर्थात् क्या चारुदत्त नें ड्यूटी बदल कर दूसरी गाड़ी भेज दी है ?) । दाहिनी आँख फड़क रही है । मेरा कलेजा काँप रहा है । दिशाएँ शूनी (लग रही) हैं । सब कुछ विपरीत दिखलाई पड़ रहा है ।

शकारः—(नेमिघोषमाकर्ण्य) भावे भावे ! आगदे पवहणे । [भाव भाव ! आगतं प्रवहणम् ।]

विटः—कथम् जानासि ? ।

शकारः—किं ण पेक्खदि भावे ? बुड्ढशूअले विअ घुलघुलाअमाणे लक्खीअदि । [किं न पश्यति भावः ? वृद्धशूकर इव घुरघुरायमाणं लक्ष्यते ।]

विटः—(दृष्ट्वा) साधु लक्षितम् अयमागतः ।

शकारः—पुत्तका थावलका चेडा ! आगदे शि ? [पुत्रक स्थावरक चेट ! आगतोऽसि ।]

चेटः—अध इं । [अथ किम् ।]

टीका—स्वस्मिन् स्वरूपे स्थितः स्वस्थः=प्रकृतिस्थः, शान्तः इति यावत् । भीतः=भयविह्वलः, विलम्बागमनेनेति शेषः । माध्याह्निकः—मध्यमहः मध्याह्नः तं मध्याह्नम् उपगतः माध्याह्निकः=आकाशस्य मध्ये आरूढः इत्यर्थः । वाहनयोः =वहनकर्मणि नियुक्तयोः वृषभयोः; वाहनशब्दः अत्र वृषभयोः सञ्चालकस्य शकटस्य च द्योतकः । परिहरता=अपनयता । मनुष्यः=शकटस्य सञ्चालकः इत्यर्थः । स्फुरति स्पन्दते । वेपते=कम्पते, दुर्निमित्ताशङ्कया मे हृदयं वेपते इत्यर्थः । हृदयम्=अन्तःकरणम् । शून्याः=रिक्ताः । विसंष्ठुलम्=विपरीतम् ॥

शब्दार्थः—नेमिघोषम्=गाड़ी के पहिये के छोर के शब्द को (नेमिः= पहिया का छोर, घोषम्=शब्द को) । घुरघुरायमाणम्=घुर-घुर करता हुआ (प्रवहण) । लक्षितम्=जाना गया । पुत्रक !=बेटे ! । कतरेण=किस, मार्गेण= मार्ग से ? । प्रकारखण्डेन=चहारदिवारी के टूटे हुए हिस्से से । राजश्यालकः= राजा का साला । सर्वम्=सब कुछ, उपपन्नम्=ठीक, प्राप्त । आत्मीयः=अपना अथवा अपने बन्धुओं का, न भविष्यामि=न होऊँगा, अर्थात् मर जाऊँगा ॥

अर्थः-शकार-(गाड़ी की घड़घड़ाहट सुनकर) भाव ! भाव ! गाड़ी आ गयी ।

विट—कैसे जानते हो ?

शकार—क्या आप नहीं देख रहे हैं ? बूढ़े सूअर की भाँति घुर-घुर करती (गाड़ी) मालूम पड़ रही है ।

विट—(देखकर) ठीक जाना ! यह आ गया (चेट) ।

शकार—बेटा स्थावरक चेट ! आ गये ?

चेट—और क्या ?

शकारः—पवहणे वि आगदे ?। [प्रवहणमप्यागतम् ?]

चेटः—अध इं। [अथ किम्।]

शकारः—गोणा वि आगदे ?। [गावावप्यागतौ ?।]

चेटः—अध इं। [अथ किम्।]

शकारः—तुमं पि आगदे ?। [त्वमप्यागतः ?।]

चेटः—(सहासम्) भट्टके ! अहं पि आगदे। [भट्टारक ! अहमप्यागतः।]

शकारः—ता पवेशेहि पवहणं। [तत्प्रवेशय प्रवहणम्।]

चेटः—कदलेण मग्गेण ?। [कतरेण मार्गेण ?।]

शकारः—एदेण ज्जेव पगालखंडेण। [एतेनैव प्राकारखण्डेन।]

चेटः—भट्टके ! गोणा मलेंति। पवहणे वि भज्जेदि। हग्गे वि चेडे मलामि। [भट्टारक ! वृषभौ म्रियेते। प्रवहणमपि भज्यते। अहमपि चेटो म्रिये।]

शकारः—अले ! लाअशालके हग्गे; गोणा मले, अवले कीणिश्शं; पवहणे भग्गेऽ अवलं घडाइश्शं; तुमं मले, अण्णे पवहणवाहके हुविश्शदि। [अरे ! राजश्यालकोऽहम्; वृषभौ मृतौ, अपरौ क्रेष्यामि। प्रवहणम् भग्नम्, अपरं कारयिष्यामि। त्वं मृतः अन्यः प्रवहणवाहको भविष्यति।]

अर्थः—शकार—गाड़ी भी आ गयी ?

चेट—और क्या ?

शकार—बैल भी आ गये ?

चेट—और क्या ?

शकार—तुम भी आ गये ?

चेट—(हँसी के साथ) मालिक ! मैं भी आ गया हूँ।

शकार—तो गाड़ी को अन्दर ले आओ।

चेट—किस रास्ते से ?

शकार—इस चहारदिवारी के टूटे हुए हिस्से से।

चेट—मालिक ! दोनों बैल मर जायेंगे। गाड़ी भी टूट जायगी। मैं सेवक भी मर जाऊँगा।

शकार—अरे ! मैं राजा का साला हूँ। बैल मर जायें तो दूसरा खरीद लूँगा। गाड़ी टूट जायगी तो दूसरा बनवा लूंगा। तुम मर जाओगे तो दूसरा गाड़ीवान् हो जायेगा।

चेटः—शव्वं उववण्णं हुविश्शदि, हग्गे अत्तणकेलके ण हुविश्शं। [सर्वमुपपन्नं भविष्यति, अहमात्मीयो न भविष्यामि।]

शकारः—अले ! शव्वं पि णश्शदु; पगालखंडेण पवेशेहि पवहणं। [अरे ! सर्वमपि नश्यतु; प्राकारखण्डेन प्रवेशय प्रवहणम्।]

चेटः—विभज्ज ले पवहण ! शमं शामिगा विभज्ज। अण्णे पवहणे भोदु। भट्टके गदअ णिवेदेमि। (प्रविश्य) कधं ण भग्गे ?। भट्टके ! एशे उवत्थिदे पवहणे। [विभञ्ज रे प्रवहण ! समं स्वामिना विभञ्ज। अन्यत्प्रवहणं भवतु। भट्टारकं गत्वा निवेदयामि। कथं न भग्नम् ?। भट्टारक ! एतदुपस्थितं प्रवहणम्।]

चेट—सब कुछ ठीक हो जायेगा। बस मैं (जिन्दा) न रहूँगा।

टीका—नेमेः=प्रधेः ('नेमिः स्त्रीस्यात्प्रधिः पुमान्, इत्यमरः) घोषम्=शब्दम्। घुरघुरायमाणम् = घुर-घुरेत्यव्यक्तं शब्दं कुर्वत्। लक्षितम् = ज्ञातम्। पुत्रक ! = सुत ! कतरेण = वर्तमानयोः द्वयोर्मध्ये केन, मार्गेण=पथा ? प्राकारस्य = वरणस्य ('प्राकारः वरणः सालः' इत्यमरः) खण्डेन = भग्नांशेन। राज्ञः = महीपतेः श्यालकः = पत्नी-भ्राता; स्वमहत्त्वख्यापनार्थं शकारेणात्र 'राजश्यालकः' इति शब्दः प्रयुक्तः। सर्वम् = निखिलम्; उपपन्नम् = सम्पन्नम्। आत्मीयः—आत्मसम्बन्धी अथवा आत्मनाम् = स्वबन्धुजनानां सम्बन्धी=संयोगी; न भविष्यामि=मृतः भविष्यामीति यावत्॥

टिप्पणी—घुरघुरायमाणम्—घुरघुरा इति अव्यक्तं शब्दं करोति—घुरघुरायते, 'घुरघुराय' इस नाम धातु से शानच् प्रत्यय होकर द्वितीया एक वचन में घुरघुराय-माणम्, यह शब्द बनता है॥

अर्थः—शकार—अरे ! सब कुछ नष्ट हो जाय। उसी टूटी दीवार से ही गाड़ी भीतर लाओ।

शब्दार्थः—विभञ्ज=टूट, स्वामिना=मालिक के, समम्=साथ। सादरकः= आदर सहित, अभ्यन्तरकः=अन्तरङ्ग, हृदय की बात जानने वाले, इति=इसलिये, पुरस्करणीयः=आगे करने के योग्य, सम्मान करने के योग्य। अग्रतः=आगे। पितृ-संबन्धि = पिता का। अधिरोहसि = चढ़ रहे हो। प्रवहणस्वामी=गाड़ी का मालिक। एवम्=ऐसा (आर्थात् आगे चढ़ने के लिये), आचारः = फर्ज, कर्त्तव्य। परावर्त्य = घुमाकर। अवलम्ब्य=लिपटकर, लटक कर। मृतः = मरा हुआ। तत् = तो, यदि = यदि, राक्षसी=राक्षसी (है), तदा = तब, उभौ = दोनों, मुषितौ = ठगे गये, लुट गये। खादितौ=खाये गये।

शकारः—ण छिण्णा गोणा ?। ण मला लज्ज ?। तुमं पि ण मले ?। [न छिन्नौ वृषभौ ? । न मृता रज्जवः ? त्वमपि न मृतः ?।]

चेटः—अव इं । [अथ किम् ।]

शकारः—भावे ! आअच्छ; पवहणं पेक्खामो । भावे ! तुमं पि मे गुलु पलमगुलु । पेक्खीअशि शादलके अब्भंतलकेत्ति पुलक्कलणीएत्ति तुमं दाव पवहणं अग्गदो अहिलुह। [भाव ! आगच्छ; प्रवहणं पश्यावः । भाव ! त्वमपि मम गुरुः परमगुरुः । प्रेक्ष्यसे सादरकोऽभ्यन्तरक इति पुरस्करणीय इति त्वं तावत्प्रवहणमग्रतोऽधिरोह ।]

विटः—एवं भवतु । (इत्यारोहति)

शकारः—अधवा चिष्ठ तुमं । तुह बप्पकेलके पवहणे, जेण तुमं अग्गदो अहि-लुहशि । हग्गे पवहणशामी; अग्गदो पवहणं अहिलुहामि । [अथवा तिष्ठ त्वम् । तव पितृसंबन्धि प्रवहणम्, येन त्वमग्रतोऽधिरोहसि । अहं प्रवहणस्वामी; अग्रतः प्रवहणमधिरोहामि ।]

विटः—भवानेवं ब्रवीति ।

शकारः—जइ वि हग्गे एव्वं भणामि, तधा वि तुह एशे आदले 'अहिलुह भश्टके' त्ति भणिदुं । [यद्यप्यहमेवं भणामि, तथापि तवैष आचारः 'अधिरोह भट्टारक !' इति भणितुम् ।]

अर्थः-चेट–टूट जा री गाड़ी ! मालिक के साथ (ही) टूट जा (नष्ट हो जा)। दूसरी गाड़ी हो जाये । मालिक के समीप जाकर अभी निवेदन करता हूँ । (घुस कर के) क्या नहीं टूटी ? मालिक ! यह गाड़ी हाजिर है ।

शकार—बैल नहीं टूटे ! रस्सियाँ नहीं मरीं ! और तुम भी नहीं मरे ?

चेट—जी हाँ ।

शकार—भाव (श्रीमान् जो) ! आओ, गाड़ी देखें । भाव । तुम भी मेरे गुरु हो परमगुरु हो । सम्मान की निगाह से देखे जाते हो और मेरे हृदय को जाननेवाले हो । इसलिये तुम्हीं आगे चलने के योग्य हो । अतः तुम ही आगे गाड़ी पर सवार होओ ।

विट—ऐसा ही हो (ऐसा कह कर चढ़ता है) ।

शकार—अथवा रुको तुम । तुम्हारे बाप की गाड़ी है, जो पहले चढ़ रहे हो ? मैं गाड़ी का मालिक हूँ; (अतः) आगे गाड़ी पर चढ़ूँगा ।

विट—आपने ही ऐसा कहा था ।

विटः—आरोहतु भवान् ।

शकारः—एशे शंपदं अहिलुहामि । पुत्तका थावलका चेडा ! पलिवत्तावेहि पवहणं । [एष सांप्रतमधिरोहामि । पुत्रक स्थावरक चेट ! परिवर्तय प्रवहणम् ।]

चेटः—(परावर्त्य) अहिलुहदु भट्टालके । [अधिरोहतु भट्टारकः ।]

शकारः—(अधिरुह्यावलोक्य च शङ्कां नाटयित्वा, त्वरितमवतीर्य, विटं कण्ठेऽवलम्ब्य) भावे भावे ! मलेशि मलेशि । पवहणाधिलूढा लक्खशी चोले वा पडिवशदि । ता जइ लक्खशी, तदो उभे वि मूशे । अध चोले, तदो उभे वि खज्जे । [भाव भाव ! मृतोऽसि मृतोऽसि । प्रवहणाधिरूढा राक्षसी चौरो वा प्रतिवसति । तद्यदि राक्षसी, तदोभावपि मुषितौ । अथ चौरः तदोभावपि खादितौ ।]

शकार—यद्यपि मैंने ऐसा कहा था (अर्थात् तुमको पहले गाड़ी पर चढ़ने के लिये कहा था); तो तुम्हारा भी तो फर्ज (कर्त्तव्य) था कि मुझसे कहते—"मालिक आप ही (पहले) चढ़ें ।"

विट—आप चढ़िये ।

शकार—अच्छा, यह मैं अब चढ़ता हूँ । बेटा स्थावरक चेट ! गाड़ी घुमाओ ।

चेट—(घुमाकर) स्वामी चढ़िए ।

शकार—(चढ़कर और देखकर, शङ्काका अभिनय करके, जल्दी से उतर कर विट के गले में लिपटकर) भाव ! भाव !! (तुम) मर गये मर गये । गाड़ी पर राक्षसी चढ़ी है, अथवा चोर (उसमें) निवास करता है । तब यदि राक्षसी है तो हम दोनों लुट गये । यदि चोर है तो दोनों ही खाये गये ।

टीका—विभञ्ज = विभङ्ग्धि, विनष्टं भव इत्यर्थः; स्वामिना = भर्त्रा शकारेण इत्यर्थः; समम्—साकम् । त्वया सह शकारोऽपि विनष्टः भवतु इति प्रवहणवाहकस्य अभिप्रायः । सादरकः = सम्मानसहितः; अभ्यन्तरकः = अन्तरङ्गः; हृदयाभिप्रायस्यापि ज्ञाता इत्यर्थः; इति—अतः; पुरस्करणीयः—अग्रे करणीयः; सम्मानार्हः इति यावत् । अग्रतः = प्रथममित्यर्थः । पितुः = जनकस्य सम्बन्धि = सम्बन्धवत्, पित्र्यम् इत्यर्थः । अधिरोहसि = आरोहसि । प्रवहणस्य = शकटस्य स्वामी = प्रभुः । एवम् = इत्थम्, प्रथमम् अधिरोढुमिति भावः । आचारः = कर्त्तव्यम् । परावर्त्य—भ्रामयित्वा, शकाराभिमुखं कृत्वा इत्यर्थः । अवलम्ब्य = गृहीत्वा । मृतः = गतासुः । तत्—तु; यदि राक्षसी = कौणपी; तदा उभौ = द्वौ; अहं त्वञ्च; मुषितौ = वञ्चितौ । खादितौ = भक्षितौ । भयविह्वलः मूर्खश्च शकारः "यद्यदि राक्षसी, तदोभावपि खादितौ । अथ

विटः--न भेतव्यम्; कुतोऽत्र वृषभयाने राक्षस्याः संचारः ?। मा नाम ते मध्याह्नार्कतापच्छिन्नदृष्टेः स्थावरकस्य सकञ्चुकां छायां दृष्ट्वा भ्रान्तिरुत्पन्ना ?।

शकारः—पुत्तका थावलका चेडा! जीवेशि ?। [पुत्रक स्थावरक चेट! जीवसि ?।]

चेटः--अध इं। [अथ किम्।]

शकारः—भावे! पवहणहिं इत्थिआ पडिवशदि; ता अवलोएहि। [भाव! प्रवहणान्तः स्त्री प्रतिवसति; तदवलोकय।]

चौरः तदोभावपि मुषितौ।" इति वक्तव्ये "यद्यदि राक्षसी, तदोभावपि मुषितौ। अथ चौरः तदोभावपि खादितौ।" इति वदति। सामान्यस्यापि जनस्य भयदशायां वचन—परिवर्तनं दृश्यते, किं पुनः मूर्खस्य शकारस्य॥

शब्दार्थः—अत्र = इस, वृषभयाने = बैलगाड़ी में। संचारः = गमन, गति, यात्रा; मध्याह्नार्कतापच्छिन्नदृष्टेः = दोपहर के सूर्य की गरमी से चकाचौंध आँखवाले, ते= तुम्हें, स्थावरकस्य = स्थावरकगाड़ीवान् को, सकञ्चुकाम् = कुर्त्तावाली, छायाम् = परछाई को, दृष्ट्वा=देख कर, भ्रान्तिः=भ्रम, उत्पन्ना=पैदा हो गयी है। प्रवहणान्तः = गाड़ी के भीतर॥

अर्थः—विट—डरना नहीं चाहिए। इस बैलगाड़ी में राक्षसी कहाँ से आ सकती है? कहीं मध्याह्नकालीन सूर्य की गरमी से चकाचौंध आँखवाले तुम्हें, स्थावरक चेट की कुर्त्तावाली परछाई देखकर भ्रम तो नहीं पैदा हो गया है?

शकार—बेटा स्थावरक नौकर! (तुम) जिन्दा हो?

चेट—जी हाँ।

शकार—भाव! गाड़ी के भीतर स्त्री बैठी है। देखो तो।

टीका—अत्र = अस्मिन्, वृषभयाने = बलीवर्दशकटे। संचारः = गतिः। मध्याह्नार्कस्य = मध्याह्नसूर्यस्य तापेन = उष्णताधिक्येन छिन्ना = कुण्ठा इत्यर्थः दृष्टिः = नेत्रं यस्य तादृशस्य, ते = तव, शकारस्य; स्थावरकस्य = स्थावरकचेटस्य; कंचुकेन = अङ्गस्थितवस्त्रेण ('कंचुको वारवाणे स्यान्निर्मोके कवचेऽपि च। वर्धापकगृहीताङ्गस्थितवस्त्रे च चोलके। कंचुक्यौषधिभेदे' इति मेदिनी) सहिता सकंचुका ताम्; छायाम् = प्रतिबिम्बम् ('छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः इत्यमरः'); दृष्ट्वा = अवलोक्य; भ्रान्तिः = भ्रमः; उत्पन्ना = प्रादुर्भूता। प्रवहणस्य = शकटस्य अन्तः = मध्ये, शकटाभ्यन्तरे इत्यर्थः॥

विटः—कथं स्त्री ?।

अवनतशिरसः प्रयाम शीघ्रं पथि वृषभा इव वर्षताडिताक्षाः।
मम हि सदसि गौरवप्रियस्य कुलजनदर्शनकातरं हि चक्षुः॥ १५॥

टिप्पणी—सञ्चारः=गमन, गति, यात्रा, पर्यटन; सम्+√चर्+घञ्। भ्रान्तिः=भूल, गलती, भ्रम, मिथ्याभाव; √भ्रम्+क्तिन्॥

अवनतशिरसः इति—

अन्वयः—(तदा), पथि, वर्षताडिताक्षाः, वृषभाः, इव, अवनतशिरसः, (वयम्), शीघ्रम्, प्रयाम; हि, सदसि, गौरवप्रियस्य, मम, चक्षुः, कुलजनदर्शनकातरम्, हि॥ १५॥

शब्दार्थः—(तदा=तब तो), पथि=रास्ते में, वर्षताडिताक्षाः=वर्षा से ताडित आँखों वाले, वृषभाः=बैलों (के), इव=समान, अवनतशिरसः=शिर नीचा किये हुए, (वयम्=हम लोग), शीघ्रम्=जल्द, प्रयाम=भाग चलें। हि=क्योंकि; सदसि=समाज में, गौरवप्रियस्य=बड़ाई चाहनेवाले, मम=मेरी, चक्षुः=आँख, कुलजनदर्शनकातरम्=कुलीन स्त्रियों को देखने में डरपोक (है)॥

अर्थः—विट—क्या स्त्री ?

(तब तो) रास्ते में वर्षा (की धारा) से ताड़ित आँखोंवाले बैलों के समान सिर नीचा किये हुए हम जल्द ही भाग चलें। क्योंकि समाज में बड़ाई चाहने वाले मेरी आँख कुलीन स्त्रियों को देखने में डरपोंक है (अर्थात् समर्थ नहीं हैं)॥ १५॥

टीका—तदा=यदि प्रवहणे स्त्री तिष्ठति तदा, पथि=मार्गे; वर्षेण=वृष्टिजलेन ताडितानि=आहतानि अक्षीणि=नेत्राणि येषां तथोक्ताः; वृषभाः=वृषाः, इव; (उक्षाभद्रो बलीवर्द ऋषभो वृषभो वृषः' इत्यमरः) अवनतानि=नम्रीकृतानि, परकलत्रदर्शनसंकोचेनेति शेषः, शिरांसि यैः तादृशाः; वयमिति शेषः; शीघ्रम्=झटिति; प्रयाम=अपगच्छाम। हि=यतः; सदसि=सभायां समाजे वा; गौरवम्=प्रतिष्ठा प्रियम्=इष्टं यस्य तस्य; मम=विटस्य; चक्षुः=नेत्रम्; कुलजनस्य=कुलीनस्य स्त्रीजनस्य दर्शने=अवलोकने कातरम्=भीरु विमुखं वा। परकलत्रदर्शनं न प्रशस्तमतः विटस्य इयमुक्तिः तस्य सद्वंशख्यापिका॥ १५॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं पुष्पिताग्रा छन्द है।

छन्द का लक्षण—

अयुजि न युगरेफतो यकारो, युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा॥ १५॥

वसन्तसेना—(सविस्मयमात्मगतम्) कधं मम णअणाणं आआसअरो ज्जेव्व राअसालओ ? । ता संसइदम्हि मंदभाआ । एसो दाणिं मम मंदभाइणीए ऊसरक्खेत्त—पडिदो विअ बीअमुट्ठी णिप्फलो इव आगमणो संवुत्तो । ता किं एत्थ करइस्सं ? । [कथं मम नयनयोरायासकर एव राजश्यालः ? । तत्संशयितास्मि मन्दभाग्या । एतदिदानीं मम मन्दभागिन्या ऊषरक्षेत्रपतित इव बीजमुष्टिर्निष्फलमिहागमनं संवृत्तम् । तत्किमत्र करिष्यामि ? ।]

शकारः—कादले खु एशे वुड्ढचेडे पवहणं णावलोएदि । भावे ! आलेएहि पवहणं । [कातरः खल्वेष वृद्धचेटः प्रवहणं नावलोकयति । भाव ! आलोकय प्रवहणम् ।]

विटः—को दोषः ? । भवत्वेवं तावत् ।

शकारः—कधं शिआला उड्डेंति, वाअशा वच्चेंति ? ता जाव भावे अक्खीहिं भक्खीअदि, दंतेहिं पेक्खीअदि, ताव हग्गे पलाइश्शं । [कथं शृगाला उड्डीयन्ते, वायसा व्रजन्ति ? । तद्यावद्भावोऽक्षिभ्यां भक्ष्यते, दन्तैः प्रेक्ष्यते, तावदहं पलायिष्ये ।]

शब्दार्थः—आयासकरः=खटकनेवाला, पीड़ा देनेवाला । संशयिता = सन्देहवाली, मन्दभाग्या = अभागिन । ऊषरक्षेत्रपतितः = ऊसर खेत में पड़ी हुई, बीजमुष्टिः = बीज की मुट्ठी (के), इव = समान, मम = मेरा, इह = यहाँ, आगमनम् = आना, निष्फलम्= व्यर्थ, संवृत्तम् = हो गया । कातरः = डरपोक । भावः = मान्य (विट), अक्षिभ्याम् = दोनों आँखों से, भक्ष्यते = खाया जाता है, दन्तैः = दाँतों से, प्रेक्ष्यते = देखा जाता है । सविषादम् = दुःखपूर्वक । मृगी = हरिणी, व्याघ्रम् = बाघ को, अनुसरति ? = पछिया रही है ? ॥

अर्थः—**वसन्तसेना**—(आश्चर्य से, अपने आप) क्या मेरी आँखों में खटकने-वाला राजा का साला ही (है) ? तो अभागिन मैं (अपने प्राणों के बारे में) सन्देह में पड़ गयी हूँ । इस समय मुझ मन्दभागिनी का यहाँ आना, ऊपर खेत में पड़ी हुई बीज की मुट्ठी के समान, व्यर्थ हो गया । तो यहाँ क्या करूँ ? ।

शकार—यह बूढ़ा चेट डरपोक होने से गाड़ी को नहीं देख रहा है । भाव ! तुम गाड़ी को देखो ।

विट—क्या बुरा है ? अच्छा ऐसा ही हो ।

शकार—क्या सियार उड़ रहे हैं ? कौए भाग रहे हैं ? तो जब तक भाव (विट) (राक्षसी के द्वारा) आँखों से खाया जाता है तथा दाँतों से देखा जाता है तब तक मैं भाग जा रहा हूँ ।

विटः—(वसन्तसेनां दृष्ट्वा; सविषदमात्मागतम्) कथमये, मृगी व्याघ्रमनुसरति ?। भोः ! कष्टम्;

शरच्चन्द्रप्रतीकाशं पुलिनान्तरशायिनम् ।
हंसी हंसं परित्यज्य वायसं समुपस्थिता ।। १६ ।।

टीका—आयासकरः = पीडादायकः । अनेन प्रतीयते यद्वसन्तसेना शकारं द्रष्टुमपि नेच्छति । संशयिता = संशयं प्राप्ता, स्वजीवने इति शेषः । मन्दम् = क्षीणम् भाग्यम् = पूर्वजन्मनि कृतं सत्कर्म यस्याः = तादृशी । ऊषरक्षेत्रे = क्षारभूमौ पतितः = प्रक्षिप्तः, बीजानाम् = धान्यादीनाम् मुष्टिः इव, मम = वसन्तसेनायाः, इह = अत्र, आगमनम् = संप्राप्तिः, निष्फलम् = निरर्थकम्, संवृत्तम् = संजातम् । यथा ऊषरक्षेत्रे पतितमन्नं विनश्यति, तथैव चारुदत्तविरहात् रन्तुमागतायाः मम इहागमनं निष्फलम् । ऊपरक्षेत्रे पतितस्य अन्नस्य पूर्णतया विनाशः इव वसन्तसेनायाः जीवननाशः अपि ध्वनितः अत्र । कातरः = भीरुः । भावः = मान्यः विटः इत्यर्थः, अक्षिभ्याम् = लोचनाभ्याम्, भक्ष्यते = खाद्यते, दन्तैः = दशनैः, प्रेक्ष्यते = अवलोक्यते । मूर्खस्य भीतस्य च शकारस्य विपरीतोक्तिरियम् । विषादेन = दुःखेन सहितं सविषादं यथा तथा । मृगी = हरिणी, व्याघ्रम् = शार्दूलम् (शार्दूलद्वीपिनौ व्याघ्रे इत्यमरः), अनुसरति = अनुगच्छति । मृग्या यथा सहजवैरिणः व्याघ्रस्य अनुसरणम् अमङ्गलकारि लोकविरुद्धञ्च तथैव, वसन्तसेनया दुष्टस्य शकारस्य अनुसरणमस्वाभाविकमिति भावः ।।

शरच्चन्द्रेति—

अन्वयः—हंसी, शरच्चन्द्रप्रतीकाशम्, पुलिनान्तरशायिनम्, हंसम्, परित्यज्य, वायसम्, समुपस्थिता ।।१६।।

शब्दार्थः—हंसी = हंस की स्त्री, शरच्चन्द्रप्रतीकाशम् = शरद ऋतु के चन्द्रमा के समान, पुलिनान्तरशायिनम् = नदी के किनारे वाली भूमि में सोये हुए, हंसम् = हंस को, परित्यज्य = छोड़ कर, वायसम् = कौवे के पास, समुपस्थिता = आ गयी ।।

अर्थः—**विट**—(वसन्तसेना को देखकर, दुःखपूर्वक अपने आप) अरे ! कैसे हरिणी बाघ का पीछा कर रही है ? (अर्थात् वसन्तसेना दुष्ट शकार के पास कैसे आ रही है ?) । अरे ! खेद है—

हंसी, शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान (स्वच्छ), नदीके दूसरे तट पर सोये हुए अथवा नदी के किनारेवाली भूमि में सोये हुए हंस को छोड़कर कौवे के पास आगयी (अर्थात् हंस के समान चारुदत्त को छोड़कर यह वसन्तसेना कौवे के तुल्य इस शकार के पास आगई) ।। १६ ।।

(जनान्तिकम्) वसन्तसेने ! न युक्तमिदम्, नापि सदृशमिदम् ;

पूर्वं मानादवज्ञाय द्रव्यार्थे जननीवशात् ।

वसन्तसेना—ण । [न ।] (इति शिरश्चालयति ।)

विटः—

अशौण्डीर्यस्वभावेन वेशभावेन मन्यते ।। १७ ।।

टीका—हंसी = मराली, शरदः = शरत्कालस्य चन्द्रः = चन्द्रमा तेन प्रतीकाशम् = तुल्यम् ('निभसङ्काशप्रतीकाशोपमादयः'), पुलिनस्य = जलादचिरनिर्गततटस्य ('तोयोत्थितं तत्पुलिनम्' इत्यमरः) अन्तरे = मध्ये शेते यः तम्, अथवा अन्यत्पुलिनं पुलिनान्तरं तस्मिन् शायिनम्, नद्याः अपरतटे शयानमित्यर्थः; हंसम् = मरालम्; परित्यज्य = त्यक्त्वा; वायसम् = काकम्; समुपस्थिता = आगता । 'हंसी इव सुगमना वसन्तसेना शरच्चन्द्रवत् कीर्तिधवलं कुत्रचित् सुखेन वर्तमानं सर्वगुणसम्पन्नं चारुदत्तं परित्यज्य वायसमिव सर्वथा मलिनं शकारं सेवितुम् आगता,' इति विचार्य विटस्य खेदः ।।१६।।

टिप्पणी—यहाँ अप्रस्तुत (अनुपस्थित) हंस और काक का वर्णन करके प्रस्तुत (उपस्थित) चारुदत्त और शकार का वर्णन किया गया है. । अतः अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार है। इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—पथ्यावक्त्र ।

छन्द का लक्षण—युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ।।१६।।

पूर्वमिति—

अन्वयः—पूर्वम्, मानात्, अवज्ञाय, (सम्प्रति), जननीवशात्, द्रव्यार्थे, (आगता, असि; अथवा) अशौण्डीर्यस्वभावेन, वेशभावेन (आगता, असि, इति) मन्यते ।। १७ ।।

शब्दार्थः—पूर्वम् = पहले, (जब कि दस हजार सोने की मोहरों के साथ गाड़ी आयी थी), मानात् = घमण्ड के कारण, अवज्ञाय = दुत्कार कर, (सम्प्रति = अब), जननीवशात् = माता के कारण (अर्थात् माता के भेजने से) द्रव्यार्थे = धन के लिए, (आगता = आयी हुई, असि हो, अथवा = या) अशौण्डीर्यस्वभावेन = स्वाभिमान से रहित स्वभाववाले, वेशभावेन = वेश्यापन के कारण, (आगता = आयी हुई, असि = हो, इति = ऐसा) मन्यते = माना जा रहा है ।।

अर्थः—(पास में) वसन्तसेने ! यह उचित नहीं, यह योग्य भी नहीं ।

ननूक्तमेव मया भवतीं प्रति—'सममुपचर भद्रे ! सुप्रियं चाप्रियं च ।'

वसन्तसेना—पवहणविपज्जासेण आगदा । सरणागदम्हि । [प्रवहणविपर्यासेना-गता । शरणागतास्मि ।]

विटः—न भेतव्यं न भेतव्यम् भवतु; एनं बंचयामि । (शकारमुपगम्य ।) काणेली-मातः ! सत्यं राक्षस्येवात्र प्रतिवसति ।

पहले घमण्ड के कारण (शकार को) दुत्कार कर (अब) माता के भेजने से धन के लिये—(आई हो)

वसन्तसेना—नहीं । (ऐसा कह कर शिर हिलाती है ।)

विट—(तब) स्वाभिमान से रहित स्वभाववाले वेश्यापन के कारण (आई हो) यह समझा जाय ॥ १७ ॥

टीका—पूर्वम् = पुरा; यदा दशसहस्रसुवर्णमुद्राणामलङ्काराः प्रवहणञ्च शकारेण प्रेषितं तदा इत्यर्थः; शकारमिति शेषः; अवज्ञाय = तिरस्कृत्य; सम्प्रति जननीवशात् = मातुः आज्ञावशात्; द्रव्यार्थे = प्रचुरधनलाभार्थम्; आगता असि । विटस्य इति कथनानन्तरं यदा वसन्तसेना अस्वीकृतिसूचकं 'न' शब्दमुच्चार्थं शिरश्चालयति तदा पुनः विटेन कथ्यते—अथवा अशौण्डीर्यम् = अनौदार्यम् अथवा गर्वराहित्यं स्वभावः = प्रकृतिः यस्य तादृशेन; वेशभावेन = वेश्यात्वेन; हेतुना; आगता असीति, मन्यते = स्वीक्रियते, अस्माभिः इति शेषः ॥ १७ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है ।

लक्षण—युजोश्चतुर्थतो जेन पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—प्रवहणविपर्यासेन = गाड़ी के बदल जाने से । शरणागता = शरण में आयी हुई । वञ्चयामि = बहकाता हूँ, ठगता हूँ । काणेलीमातः = पुंश्चली के पुत्र ! अत्र = इस गाड़ी में । निरूपितेन = विचार किये गये, अनेन = इससे, किम् = क्या लाभ ? उद्यानपरम्परया = बगीचे की कतार से, पद्भ्याम् = पैरों से, पैदल । धुर्याणाम् = बैलों का । परिहृतः = कतराया हुआ, छोड़ा हुआ, बचा हुआ ॥

अर्थः—किन्तु मैंने तो पहले ही आपसे कह दिया था—'भद्रे ! प्रिय और अप्रिय सबके साथ एक जैसा बर्ताव करो ।'

वसन्तसेना—गाड़ी के बदल जाने से आ गयी । शरणागत हूँ ।

विट—डरो मत, डरो मत । अच्छा, इस (शकार) को बहकाता हूँ । (शकार के पास जाकर) पुंश्चली के पुत्र ! सचमुच राक्षसी ही इस (गाड़ी) में रहती है ।

शकारः—भावे भावे ! जइ लक्खशी पडिवशदि, ता कीश ण तुमं मूशेदि ? अध चोले, ता किं तुमं ण भक्खिदे ? । [भाव भाव ! यदि राक्षसी प्रतिवसति; तत्कथं न त्वां मुष्णाति ? । अथ चौरः, तदा किं त्वं न भक्षितः ? ।]

विटः—किमनेन निरूपितेन ? । यदि पुनरुद्यानपरम्परया पद्भ्यामेव नगरीमुज्जयिनीं प्रविशावः, तदा को दोषः स्यात् ? ।

शकारः—एवं किदे किं भोदि ? । [एवं कृते किं भवति ? ।]

विटः—एवं कृते व्यायामः सेवितो धुर्याणां च परिश्रमः परिहृतो भवति ।

शकारः—एवं भोदु । थावलआ चेडा ! णेह पवहणं । अधवा चिश्ट । चिश्ट; देवदाणं बम्हणाणं च अग्गदो चलणेण गच्छामि । णहि णहि, पवहाणं अहिलुहिअ गच्छामि, जेण दूलदो मं पेक्खिअ भणिश्शंति—'एशे शे लश्टिअशाले भश्टालके गच्छदि' । [एवं भवतु । स्थावरक चेट ! नय प्रवहणम् । अथवा तिष्ठ तिष्ठ; देवतानां ब्राह्मणानां चाग्रतश्चरणेन गच्छामि । नहि नहि, प्रवहणमधिरुह्य गच्छामि, येन दूरतो

शकार—भाव ! भाव ! यदि राक्षसी है तो क्यों नहीं तुमको लूट लिया और यदि चोर है तो तुम्हें क्यों नहीं खा लिया !

विट—इस विचार से क्या लाभ ! यदि बागों ही बागों से होकर पैदल ही (हम दोनों) उज्जयिनी नगरी में प्रवेश करें तो क्या दोष है !

शकार—ऐसा करने से क्या होगा !

विट—ऐसा करने से (हम लोगों का) व्यायाम हो जायेगा और बैलों का परिश्रम भी बच जायगा ।

टीका—प्रवहणस्य = शकटस्य विपर्यासेन = व्यत्ययेन; ('स्याद्व्यत्यासो विपर्यासो व्यत्ययश्च विपर्यये' इत्यमरः) । शरणे = रक्षणे आगता = प्राप्ता शरणागता । वञ्चयामि = प्रतारयामि । काणेली=अविवाहिता स्त्री माता = जननी यस्य तत्सम्बुद्धौ; पुंश्चलीपुत्र ! इत्यर्थः । अत्र=अस्मिन् प्रवहणे । निरूपितेन=विचारितेन; अनेन = एतेन; किम् = किंप्रयोजनम् ? न किमपि इत्यर्थः । उद्यानस्य=आरामस्य परम्परया=पंक्त्या, पद्भ्याम्=चरणाभ्याम् । धुर्याणाम् = धुरीणानाम् ('धूर्वहे धुर्यधौरेयधुरीणः' इत्यमरः) वृषभाणामिति यावत् । परिहृतः = परित्यक्तः ॥

टिप्पणी—धुर्याणाम् = धुरं वहतीति, धुर + यत्, पक्षे ढकि धौरेयः ॥

मां प्रेक्ष्य भणिष्यन्ति—'एष स राष्ट्रियश्यालो भट्टारको गच्छति' ।]

विटः—(स्वगतम्) दुष्करं विषमौषधीकर्तुम् । भवतु । एवं तावत् । (प्रकाशम्) काणेलीमातः ! एषा वसन्तसेना भवन्तमभिसारयितुमागता ।

वसन्तसेना—पंतं पावं संतं पावं । [शान्तं पापम्, शान्तं पापम् ।]

शकारः—(सहर्षम्) भावे भावे, मं पबलपुलिशं मणुश्शं वाशुदेवकं । [भाव भाव ! मां प्रवरपुरुषं मनुष्यं वासुदेवकम् ।]

विटः—अथ किम् ।

शकारः—तेण हि अपुव्वा शिली शमाशादिदा । तश्शि काले मए लोशाविदा, शंपदं पादेशु पडिअ पशादेमि । [तेन ह्यपूर्वा श्रीः समासादिता । तस्मिन्काले मया रोषिता, सांप्रतं पादयोः पतित्वा प्रसादयामि ।]

विटः—साध्वभिहितम् ।

अर्थः—शकार—ऐसा ही हो । स्थावरक चेट ! गाड़ी लाओ । अथवा रुको, रुको । देवताओं और ब्राह्मणों के सामने पैदल ही चलता हूँ । नहीं, नहीं, गाड़ी पर चढ़कर चलता हूँ जिससे लोग मुझे दूर से ही देखकर कहेंगे कि 'यह वह हमारा स्वामी राजा का साला जा रहा है ।'

शब्दार्थः—विषम् = विषको, औषधीकर्तुम् = दवा बनाना, दुष्करम् = कठिन है । पापम् = पाप, शान्तम् = शान्त (हो) । प्रवरपुरुषम् = श्रेष्ठपुरुष, वासुदेवकम् = वासुदेव को । अपूर्वा = अपूर्व, श्रीः = लक्ष्मी, समासादिता = प्राप्त की गयी । रोषिता = नाराज की गयी थी । प्रसादयामि = मनाऊँगा । साधु = ठीक, अभिहितम् = कहा गया । उपसृत्य = पास जाकर । विज्ञप्तिम् = विनय को ।।

अर्थः-विट-(अपने आप) विष को दवा बनाना कठिन है । अथवा विष की दवा करना कठिन है । (अर्थात् शकार का स्वभाव बदलना कठिन है) अच्छा । तो इस प्रकार । (प्रकट रूप में) पुंश्चली के पुत्र ! यह वसन्तसेना आप से अभिसार करने आयी है (अर्थात् आपके साथ रमण करने के लिये छिप कर आयी है) ।

वसन्तसेना—पाप शान्त हो, पाप शान्त हो ।

शकार—(प्रसन्नता के साथ) भाव, भाव ! मुझ श्रेष्ठ पुरुष मनुष्य वासुदेव से ?

विट—और क्या ?

शकार—तब तो अपूर्व लक्ष्मी हाथ लग गयी । उस समय मैंनें (उन्हें) नाराज कर दिया था, अब पैरों पर गिर कर मनाऊँगा ।

विट—ठीक कहा ।

शकारः—एशे पादेशुं पडेमि । (इति वसन्तसेनामुपसृत्य) अत्तिके, अम्किब ! शुणु मम विण्णत्ति ।

एशे पडामि चलणेशु विशालणेत्ते !
हश्तंजलिं दशणहे तव शुद्धदंति ! ।
जं तं मए अवकिदं मदणातुलेण
तं खम्मिदाशि वलगत्ति ! तव म्हि दाशे ॥ १८ ॥

[एष पादयोः पतामि । मातः, अम्बिके ! शृणु मम विज्ञप्तिम् ।
एष पतामि चरणयोर्विशालनेत्रे ! हस्ताञ्जलिं दशनखे तव शुद्धदन्ति ! ।
यत्तव मयापकृतं मदनातुरेण तत्क्षामितासि वरगात्रि ! तवास्मि दासः ।]

टीका—विषम् = गरलम्, अनौषधम् औषधं कर्तुम् इति औषधीकर्तुम् = औषधरूपेण परिणमयितुम्, दुष्करम् = दुःसाध्यम् । यथा प्राणापहारकं विषम् औषधं कर्तुं न शक्यते तथा मूर्खः शकारः अपि अस्मात् कार्यात् प्रत्यावर्तयितुं दुष्करः इति भावः । अथवा दुष्करम्=असाध्यप्रायम् , विषम् = गरलम्, औषधीकर्तुम्=चिकित्सितुमशक्यमिति शेषः । पापं शान्तम् = अवक्तव्यमेतत् । प्रवरपुरुषम् = श्रेष्ठमनुष्यम् , वासुदेवः एव वासुदेवकः तं वासुदेवकम् = कृष्णसदृशमित्यर्थः । अपूर्वा = विलक्षणा, श्रीः = शोभा सम्पत्तिः वा, समासादिता = प्राप्ता । रोषिता = क्रुद्धा कृता, वसन्तसेना इति शेषः । प्रसादयामि = प्रसन्नां करोमि । साधु = सुष्ठु, अभिहितम्=कथितम् । उपसृत्य = समीपं गत्वा । विज्ञप्तिम् = विनयम् ॥

टिप्पणी—अभिहितम् = कहा गया, बोला गया; अभि + √धा + क्त । विज्ञप्तिम् = प्रार्थना को, अनुरोध को; वि + √ज्ञप् + क्तिन् ॥

एष पादयोः इति—

अन्वयः—हे विशालनेत्रे ! एषः, (अहम्), चरणयोः, पतामि; हे शुद्धदन्ति ! तव, (चरणयोः), दशनखे, हस्ताञ्जलिम्, (करोमि) ; हे वरगात्रि ! मदनातुरेण, मया, यत्, तव, अपकृतम्, तत्, क्षामिता, असि; (अहम्), तव, दासः, अस्मि ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—हे विशालनेत्रे ! = हे बड़ी बड़ी आँखों वाली ! एषः = यह (अहम् = मैं शकार), चरणयोः = पैरों पर, पतामि = गिरता हूँ । हे शुद्धदन्ति ! = हे सुन्दर दाँतों वाली ! तव = तुम्हारे (चरणयोः = पैरों के) दशनखे = दश नखों में, हस्ताञ्जलिम् = हाथों की अंजलि को, (करोमि = करता हूँ, रखता हूँ) । हे वरगात्रि ! = हे सलोने शरीर वाली !, मदनातुरेण = कामदेव से पीड़ित, मया = मेरे द्वारा,

वसन्तसेना—(सक्रोधम्) अवेहि, अणज्जं मंतेसि । [अपेहि, अनार्यं मन्त्रयसि ।] (इति पादेन ताडयति)

यत् = जो, तव = तुम्हारा, अपकृतम् = बुरा किया गया है, अपकार किया गया है, तत् = उसको, क्षामिता = क्षमा करायी गयी, असि = हो । (अहम् = मैं), तव = तुम्हारा, दासः = दास, अस्मि = हूँ ॥

अर्थः–**शकारः**–यह मैं तुम्हारे पैरों पर गिरता हूँ । (ऐसा कह कर, वसन्तसेना के पास जाकर) माता भवानी ! मेरी प्रार्थना सुनो ।

हे बड़ी बड़ी आँखोंवाली ! यह मैं पैरों पर गिरता हूँ । हे सुन्दर दाँतों वाली ! तुम्हारे (पैरों के) दश नखों में (मैं अपने) हाथों की अञ्जलि रखता हूँ । हे सलोने शरीर वाली ! कामदेव से पीड़ित मैंने (पहले) तुम्हारा जो बुरा किया है, उसको तुमसे क्षमा कराता हूँ (अर्थात् माफ करने के लिये विनती करता हूँ) । मैं तुम्हारा दास हूँ ॥ १ ; ॥

टीका—विशाले = दीर्घे नेत्रे = नयने = यस्याः सा विशालनेत्रा तत्सम्बुद्धौ; एषः = अयम्; (अहम् = शकारः), चरणयोः = पादयोः; तवेति शेषः; पतामि = पतितः भवामि; तव चरणवन्दनं करोमि इत्यर्थः । हे शुद्धदन्ति ! शुद्धाः = विमलाः दन्ताः = रदाः यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ हे शुद्धदन्ति = हे शुभ्रदशने ! तव = भवत्याः; चरणयोः, दशनखे = दशानां नखानां समाहारः दशनखं तस्मिन् दशनखे = दशनखरे; हस्तयोः = करयोः अञ्जलिम् = सम्पुटम्; करोमीति शेषः; केषाञ्चिन्मते दशनखे इति सम्बोधन-पदम्, तदा दश नखाः यस्यास्तत्सम्बुद्धौ । वरम् = सुकोमलम् गात्रम् = शरीरम् यस्यास्तत्सम्बुद्धौ हे वरगात्रि ! = हे सुकोमलाङ्गि ! मदनेन = कामेन आतुरः = पीडितः तेन, कामपीडितेन; मया = शकारेण इत्यर्थः; यत् तव = भवत्याः; अपकृतम् = अप्रियं कृतम्; तत् = अप्रियकर्त्तव्यम्; क्षामिता = मर्षिता; असि । अहं तव = वसन्तसेनायाः; दासः = सेवकः, अस्मि = भवामि ॥ १८ ॥

टिप्पणी—क्षामिता = क्षमा करायी गयी; √क्षम् + णिच् + क्त ॥

इस श्लोक के छन्द का नाम है—वसन्ततिलका ।

लक्षण—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—अपेहि = दूर हटो, अनार्यम् = अनुचित को, मन्त्रयसि = कह रहे हो । ताडयति = मारती है ॥

अर्थः—**वसन्तसेना**—(क्रोध के साथ) दूर हटो, अनुचित बात बोल रहे हो । (ऐसा कह कर पैर से मारती है) ॥

शकारः—(सक्रोधम्)

जे चुंबिदे अंबिकमादुकेहिं गदे ण देवाण वि जे पणामं
शे पाडिदे पादतलेण मुंडे वणे शिआलेण जधा मुदंगे ॥ १९ ॥

अले थावलआ चेडा ! कहिं तुए एशा शमाशादिदा ?

[यच्चुम्बितमम्बिकामातृकाभिर्गतं न देवानामपि यत्प्रणामम् ।
तत्पातितं पादतलेन मुण्डं वने शृगालेन यथा मृताङ्गम् ॥

टीका—अपेहि = दूरम् अपसर; अनार्यम् = अनुचितम्; आर्यजननिन्दितमित्यर्थः; मन्त्रयसि = कथयसि । ताडयति = प्रहरति ॥

यच्चुम्बितमिति—

अन्वयः—यत्, अम्बिकामातृकाभिः, चुम्बितम्, यत्, देवानाम्, अपि, प्रणामम्, न, गतम्, तत्, मुण्डम्, (त्वया), पादतलेन, (तथैव), पातितम्, यथा, वने, शृगालेन, मृताङ्गम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थः—यत् = जो, अम्बिकामातृकाभिः = माताओं के द्वारा, चुम्बितम् = चूमा गया, यत् = जो, देवानाम् = देवताओं के, अपि = भी, प्रणामम् = प्रणाम को, न = नहीं, गतम् = गया, प्राप्त हुआ, तत् = वह, मुण्डम् = मस्तक, (त्वया = तुम्हारे द्वारा), पादतलेन = पैर के तलवे से, (तथैव = उसी प्रकार,) पातितम् = गिरा दिया गया, ठुकरा दिया गया, यथा = जैसे, वने = वन में, शृगालेन = सियार के द्वारा, मृताङ्गम् = मरा शरीर ॥

अर्थः—शकारः—(क्रोध के साथ)

जिसे मेरी माता (अम्बिका) ने चूमा है, जो देवों के सामने प्रणाम करने के लिये भी नहीं झुका, उसी मेरे मस्तक को तूने पैर के तलवे से उसी प्रकार गिरा दिया जैसे वन में सियार के द्वारा मरा शरीर (कुचला जाता है) ॥ १९ ॥

टीका—यत् = मम मुण्डमित्यर्थः, अम्बिकामातृकाभिः = जननीभिः (शकारवाक्यत्वात् पुनरुक्तिः न दोषाय), चुम्बितम् = चुम्बनं कृतम्, वात्सल्येनेति शेषः । यत् = मुण्डम्, देवानाम् = सुराणाम्, अपि, प्रणामम् = प्रणतिम्, न गतम् = न प्राप्तम्, तत् मुण्डम् = शिरः, ममेति शेषः, त्वया पादतलेन = चरणतलेन; तथैव पातितम् = प्रक्षिप्तम्, यथा = येन प्रकारेण; वने = अरण्ये, शृगालेन = जम्बुकेन ('शृगालवञ्चकक्रोष्टुफेरुफेरवजम्बुकाः' इत्यमरः), मृतस्य = गतप्राणस्य अङ्गम् = शरीरम् । यथा अरण्ये जम्बुकः मृतशरीरं पाददलितं करोति, तथैव निःशङ्कं त्वयाऽपि उन्नतं लालितं च मम शिरः चरणेन तिरस्कृतमतः महदनुचितमनुष्ठितं त्वया इति भावः ॥ १९ ॥

अरे स्थावरक चेट ! कुत्र त्वयैषा समासादिता ? ।]

चेटः—भश्टके ! गामशअलेहिं लुद्धे लाअमग्गे । तदो चालुदत्तश्श लुक्खवाडिआए पवहणं थाविअ तहिं ओदलिअ जाव चक्कपलिवट्टिअं कलेमि, ताव एशा पवहण-विपज्जाशेण इह आलूढे त्ति तक्केमि । [भट्टक ! ग्रामशकटैः रुद्धो राजमार्गः । तदा चारुदत्तस्य वृक्षवाटिकायां प्रवहणं स्थापयित्वा तत्रावतीर्य यावच्चक्रपरिवृत्तिं करोमि, तावदेषा प्रवहणविपर्यासेनेहारूढेति तर्कयामि ।]

शकारः—कधं पवहणविपज्जाशेण आगदा, ण मं अहिशालिदुं ? । ता ओदल ओदल मम केलकादो पवहणादो । तुमं तं दलिद्दशत्थवाहपुत्तकं अहिशालेशि । मम केल-काइं गोणाइं वाहेशि । ता ओदल ओदल गब्भदाशि ! ओदल ओदल । [कथं प्रवहणविपर्यासेनागता, न मामभिसारयितुम् ? तदवतरावतर मदीयात्प्रवहणात् । त्वं तं दरिद्रसार्थवाहपुत्रकमभिसरसि; मदीयौ गावौ वाहयसि । तदवतरावतर गर्भदासि ! अवतरावतर ।]

टिप्पणी—इस श्लोक मे उपमा अलङ्कार तथा उपजाति छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः । उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ॥
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥ १९ ॥

शब्दार्थः—समासादिता=पायी गयी । प्रवहणविपर्यासेन=गाड़ी के बदलने से । तर्कयामि=अन्दाज करता हूँ, अनुमान करता हूँ । अभिसारयितुम्=अभिसार करने के लिये । गर्भदासि !=जन्म से दासी ! (यह एक प्रकार की गाली है) । अवतर=उतरो । अलङ्कृता=सुशोभित ॥

अर्थः—अरे ! स्थावरक चेट ! तुझे यह कहाँ मिल गयी ?

चेट—मालिक ! देहाती गाड़ियों से सड़क भर (रुक) गयी थी । तब चारुदत्त की फुलवारी (वृक्ष वाटिका) के सामने गाड़ी खड़ी करके, वहाँ उतर कर जैसे ही पहिये में सहारा लगाया वैसी ही यह गाड़ी के बदलने से (अर्थात् भूल से) इस में चढ़ गया—ऐसा मेरा अन्दाज है ।

शकार—क्या गाड़ी की अदला-बदली के कारण आ गयी है, मुझसे अभिसार (छिप करके कामोपभोग) करने के लिये नहीं ? तो उतर मेरी गाड़ी से । तू सार्थ-वाह (व्यापारियों के अगुआ) के पुत्र उस दरिद्र चारुदत्त के प्रति अभिसरण (छिप

वसन्तसेना—तं अज्जचारुदत्तं अहिसारेसि त्ति जं सच्चं, अलंकिदम्हि इमिणा वअणेण। संपदं जं भोदु तं भोदु। [तमार्यचारुदत्तमभिसरसीति यत्सत्यम्, अलंकृताऽस्म्यमुना वचनेन। सांप्रतं यद्भवतु तद्भवतु।]

शकारः—

एदेहि दे दशणहुप्पलमंडलेहिं
हत्थेहि चाडुशदताडणलंपडेहिं।
कट्टामि दे वलतणुं णिअजाणकादो
केशेशु बालिदइअं वि जहा जडाऊ॥ २०॥

[एताभ्यां ते दशनखोत्पलमण्डलाभ्यां
हस्ताभ्यां चाटुशतताडनलम्पटाभ्याम्।
कर्षामि ते वरतनुं निजयानका-
त्केशेषु वालिदयितामिव यथा जटायुः॥]

करके कामोपभोग) करती हो और मेरे बैलों को (गाड़ी में) जोतती हो। तो उतर, उतर गर्भदासि ! उतर, उतर।

वसन्तसेना—'उस आर्य चारुदत्त के प्रति अभिसरण करती हो' यह जो कहा वह सच है। इस वचन से मैं अलंकृत हो गयी हूँ। अब जो हो, सो हो।

टीका—समासादिता=प्राप्ता। प्रवहणस्य = शकटस्य विपर्यासेन=व्यतिक्रमेण। चारुदत्तस्य प्रवहणम् एतदिति ज्ञात्वा मम शकटे आरूढा इति भावः। तर्कयामि= अनुमिनोमि। अभिसारयितुम्=एकान्ते रन्तुमित्यर्थः। गर्भदासि ! =जन्मदासि ! नीचसम्बोधनमिदं गालिदाने प्रयुज्यते। अवतर=प्रवहणं परित्यज्य भूमौ गच्छ। अलङ्कृता = मण्डिता। चारुदत्तेन सह मम सम्बन्धख्यापनं मदीयमलङ्करणमेवेति भावः।

एताभ्यामिति—

अन्वयः—दशनखोत्पलमण्डलाभ्याम्, चाटुशतताडनलम्पटाभ्याम्, एताभ्याम्, हस्ताभ्याम्, केशेषु, (गृहीत्वा), ते, वरतनुम्, निजयानकात्, (तथैव), कर्षामि, यथा, जटायुः, वालिदयिताम्, (अकर्षत्)॥ २०॥

शब्दार्थः—दशनखोत्पलमण्डलाभ्याम् = दश नख रूपी कमल-समूह से युक्त, चाटुशतताडनलम्पटाभ्याम् = मीठे वचनों के समान पीटने के लालची, एताभ्याम् = इन दोनों, हस्ताभ्याम् = हाथों से, केशेषु=बालों में, (गृहीत्वा = पकड़कर), ते = तुम्हारे, वरतनुम्=सुन्दर शरीर को, निजयानकात् = अपनी गाड़ी से, (तथैव=उसी प्रकार),

विटः—

अग्राह्या मूर्धजेष्वेताः स्त्रियो गुणसमन्विताः ।
न लताः पल्लवच्छेदमर्हन्त्युपवनोद्भवाः ॥ २१ ॥

कर्षामि = खींचता हूँ, यथा = जैसे, जटायुः = जटायु ने, बालिदयिताम् = बालि की स्त्री को, (अकर्षत्—खींचा था) ॥

अर्थः—शकारः—दश नख रूपी कमल समूह से युक्त एवं मीठे वचनों के समान पीटने के लालची इन (अपने) हाथों से केश पकड़ कर तुम्हारे सुन्दर शरीर को अपनी गाड़ी से उसी प्रकार खींचता हूँ, जिस प्रकार जटायु ने बालि की स्त्री तारा को (खींचा था) ॥ २० ॥

टीका—दश = दशसङ्ख्याकाः नखाः=नखराः ('पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्, इत्यमरः) एव उत्पलानाम्—कमलानां मण्डलम् = समूहः ययोः ताभ्याम्; चाटुशतानि = प्रियवचनशतानि इव ताडनानि—प्रहाराः तेषु लम्पटाभ्याम् = लोलुपाभ्याम्, तत्पराभ्यामित्यर्थः; एताभ्याम् = तव पुरः वर्तमानाभ्याम्; हस्ताभ्याम्—कराभ्याम्; केशेषु—शिरोरुहेषु गृहीत्वा इति शेषः; ते = तव; वरतनुम् = श्रेष्ठशरीरम्, सुकोमलं शरीरमित्यर्थः; निजात् = स्वकीयात् यानकात्—प्रवहणात्; तथैव; कर्षामि—आकृष्य पातयामि, यथा—येन प्रकारेण; जटायुः = गृद्ध्रराजः, अनेन नाम्ना प्रसिद्धः पक्षिविशेषः; बालिदयिताम्—बालिप्रियां ताराम्; अकर्षत् इति शेषः । ताडनोद्यतयोः हस्तयोः कार्कश्यम् अनुपवर्ण्य उत्पलकोमलत्वप्रदर्शनं शकारस्य मूर्खत्ववैशिष्ट्यमेव । एवमन्यत्रापि बोध्यम् । अत्र 'ते-ते' इति 'इव—यथा' इति च पुनरुक्तिः शकारवचनादविचार्या ॥ २० ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में 'ते-ते' एवं 'इव-यथा' यह पुनरुक्ति है । जटायु के द्वारा बालि की स्त्री नहीं खींची गयी थी । अतः 'जटायुः बालिदयितामिव' यह अनुचित उपमा है ॥

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका ।

लक्षण—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ २० ॥

अग्राह्या इति—

अन्वयः—गुणसमन्विताः, एताः, स्त्रियः, मूर्धजेषु, अग्राह्याः; उपवनोद्भवाः, लताः, पल्लवच्छेदम्, न, अर्हन्ति ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—गुणसमन्विताः = गुणों से युक्त, एताः—ये, स्त्रियः = स्त्रियाँ, मूर्धजेषु

तदुत्तिष्ठ त्वं । अहमेनामवतारयामि । वसन्तसेने ! अवतीर्य्यताम् ।

[वसन्तसेनाऽवतीर्य्य एकान्ते स्थिता ।]

शकारः—[स्वगतम् ।] जे शे मम वअणावमाणेण तदा लोशग्गी शंधुक्खिदे, अज्ज एदाए पादप्पहालेण अणेण पज्जलिदे, तं शम्पदं मालेमि णं । भोदु एव्वं दाव । [प्रकाशम् ।] भावे भावे !

जदिच्छशे लम्बदशा-विशालं
पावालअं शुत्तशदेहिं जुत्तम् ।
मंशं च खादुं, तह तुट्टि कादुं,
चुहू चुहू चुक्कु चुहू चुहूत्ति ॥ २२ ॥

यः स मम वचनावमानेन तदा रोषाग्निः सन्धुक्षितः, अद्य एतस्याः पादप्रहारेणानेन प्रज्वलितः, तत् साम्प्रतं मारयाम्येनाम् । भवतु एवं तावत् ।

=केशों में, अग्राह्याः = पकड़ने के योग्य नहीं हैं । उपवनोद्भवाः = फुलवाड़ी में पैदा होने वाली, लताः = लताएँ, पल्लवच्छेदम् = पत्ता तोड़ने के, न = नहीं, अर्हन्ति = योग्य होतीं ॥

अर्थः—विट—गुणों से युक्त इन स्त्रियों के केश नहीं पकड़ने चाहिए । फुलवाड़ी में पैदा होने वाली लताएँ पत्ता तोड़ने के योग्य नहीं होतीं (अर्थात् उनका पत्ता तोड़ना ठीक नहीं होता) ॥ २१ ॥

टीका—गुणैः=सौन्दर्यादिभिः कलादिभिश्च समन्विताः = युक्ताः; एताः = वसन्तसेनातुल्याः; स्त्रियः = कामिन्यः; मूर्धजेषु = केशेषु; केशावच्छेदेनेत्यर्थः; अग्राह्याः = ग्रहीतुमयोग्याः । एताः सम्मानयोग्याः भवन्ति, न तु ताडनार्हाः इति भावः । तथा हि—उपवनम् = उद्यानम् उद्भवः = उत्पत्तिस्थलं यासां ताः उपवनोद्भवाः = उद्याने उत्पन्नाः सयत्नं लालिताश्चेत्यभिप्रायः; लताः = वल्ल्यः ('वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः); पल्लवानाम् = किसलयानाम् छेदम् = भङ्गम्, छेदनम्; न अर्हन्ति = किसलयच्छेदयोग्याः न भवन्ति इत्यर्थः । यथा उद्याने उत्पन्नाः सपरिश्रमं वृद्धिं नीताः सुकोमलाः लताः पत्रच्छेदनं न अर्हन्ति तथैव कोमलावयवाः गुणशालिन्यः कामिन्यः अपि निग्रहायोग्याः । एताः अनुग्रहस्य पात्राणि न तु निग्रहस्येति भावः ॥२१॥

टिप्पणी—इस श्लोक में दृष्टान्त अलङ्कार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है ।

छन्द का लक्षण—युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—एकान्ते = एक तरफ । वचनावमानेन=वचन के तिरस्कार से, तदा =

यदीच्छसि लम्बदशाविशालं प्रावारकं सूत्रशतैर्हि युक्तम् ।
मांसं च खादितु तथा तुष्टि कर्तुं चुहू चुहू चुक्कु चुहू चुहू इति ॥

उस समय (जब कि चारुदत्त के पास अभिसरण के लिये जा रही थी), मम=मेरी, रोषाग्निः=क्रोध रूपी आग, सन्धुक्षितः=जली थी, सुलगी थी, सः=वह, पाद-प्रहारेण=पैर की मार से, प्रज्वलितः=भभक कर जल उठी ॥

अर्थः–इसलिये तुम उठो । मैं इसको उतारता हूँ । वसन्तसेने ! उतर जाइये ।

(वसन्तसेना उतर कर एक किनारे खड़ी हो जाती है)

शकारः—(अपने आप) जो क्रोध रूपी आग पहले इसके वचन के तिरस्कार से लगी थी, वह आज इस (वसन्तसेना) के पैर के इस प्रहार से भभक करके जल उठी है । तो अब इसे मारूँगा । अच्छा, इस तरह । भाव ! भाव !!

टीका—एकान्ते=एकस्मिन् भागे । वचनस्य=अनुनयरूपस्य वाक्यस्य अवमानेन=अनादरेण, मम प्रार्थनायाः तिरस्कारेण इत्यर्थः, तदा=पूर्वं चारुदत्ताभिसरणकाले, मम=राजश्यालकस्य शकारस्य, रोषाग्निः=क्रोधानलः, सन्धुक्षितः=दीप्तः, सः=रोषाग्निः, पादेन=चरणेन प्रहारः=ताडनं तेन, प्रज्वलितः=ज्वालाभिः ज्वलितः इत्यर्थः । वचनावमानजन्यः कालक्रमेण सुप्तः इव मम क्रोधः अद्य अस्याः चरणप्रहारेण रौद्ररूपे परिणतः इति भावः ॥

यदीच्छसीति—

अन्वयः—यदि, सूत्रशतैः, युक्तम्, लम्बदशाविशालम्; प्रावारकम्, तथा, 'चुहू चुहू चुक्कु चुहू चुहू' इति, (ध्वनिम्, कुर्वन्), मांसम्, खादितुम्, तुष्टिम्, च, कर्तुम्, इच्छसि ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—यदि=यदि, सूत्रशतैः=सैकड़ों सूतों से, युक्तम्=युक्त (अर्थात् बने हुये), लम्बदशाविशालम्=लम्बी किनारी से विशाल, प्रावारकम्=दुपट्टा को, तथा=और, 'चुहू चुहू चुक्कु चुहू चुहू' इति=ऐसी (ध्वनिम्=आवाज को, कुर्वन्=करते हुये), मांसम्=मांस को, खादितुम्=खाने के लिये, तुष्टिम्=तृप्ति को, च=भी, कर्तुम्=करने के लिये, इच्छसि=चाहते हो ॥

अर्थः—यदि तुम सैकड़ों सूतों से बने हुए, लम्बी किनारी वाले, विशाल दुपट्टेको मुझसे (लेना) चाहते हो और चुहू-चुहू, चुक्कु, चुहू-चुहू-इस प्रकार (की आवाज के साथ चूसते हुए) मांस खाना और अघाना (तृप्ति) चाहते हो ॥ २२ ॥

टीका—यदि=चेत्, सूत्राणाम्=तन्तूनाम् शतैः=समूहैः इत्यर्थः, वा सूत्राणाम्=

विटः—ततः किम् ?।

शकारः—मम पिअं कलेहि । [मम प्रियं कुरु ।]

विटः—बाढं करोमि, वर्जयित्वा त्वकार्यम् ।

शकारः—भावे ! अकज्जाह गन्धे वि णत्थि । लक्खशी कावि णत्थि । [भावे ! अकार्यस्य गन्धोऽपि नास्ति । राक्षसी कापि नास्ति ।]

विटः—उच्यतां तर्हि ।

शकारः—मालेहि वशंतशेणिअं । [मारय वसन्तसेनां ।]

विविधरङ्गरञ्जितानां सूत्राणाम्, शतैः = समूहैः, युक्तम् = समन्वितम्, लम्बाभिः = दीर्घाभिः दशाभिः = वस्त्रान्तै. विशालम् = विस्तृतम्, प्रावारकम् = उत्तरीयम् ('द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा । संव्यानमुत्तरीयञ्च' इत्यमरः) तथा 'चुहू चुहू चुक्कु चुहू चुहू' इति = इत्थम्, ध्वनिं कुर्वन् मांसम् = पिशितम्, ('पिशितं तरसं मांसं पललं क्रव्यमाऽऽमिपम् ।' इत्यमरः) खादितुम्—भोक्तुम्, तुष्टिम् = तृप्तिम्, च = अपि, कर्तुम् = विधातुम्, इच्छसि = वाञ्छसि । यदि सुवस्त्रं सुभोजनं तथा सर्वविधां तृप्तिञ्च वाञ्छसि तदा 'मम प्रियं कुरु' इति अग्रिमवचनेन अन्वयः ॥२२॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपजाति छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

(स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः । उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ॥)
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—बाढम् = हाँ, अच्छा, अवश्य ही । अकार्यम् = अनुचित काम को, वर्जयित्वा = छोड़कर । पिधाय = ढक कर ॥

अर्थः—**विट**—तो क्या ?

शकार—मेरा प्रिय करो ।

विट—हाँ, करूँगा, किन्तु अनुचित काम को छोड़ कर ।

शकार—भाव (श्रीमान् जी) ! अनुचित काम की गन्ध भी नहीं है । कोई राक्षसी नहीं है ।

विट—तो कहिए ।

शकार—मारो वसन्तसेना को ।

टीका—बाढम् = स्वीकृतिबोधकम् अव्ययपदम् इदम् ('भृशप्रतिज्ञयोर्बाढम्' इत्यमरः); अकार्यम् = अनुचितं कार्यम्, पापमित्यर्थः, वर्जयित्वा = त्यक्त्वा । पापकार्यं परित्यज्य अन्यत् तव हितं करिष्यामीति भावः । पिधाय = आच्छाद्य ॥

विटः—(कर्णौ पिधाय)

बालां स्त्रियं च नगरस्य विभूषणं च
वेश्यामवेशसदृशप्रणयोपचाराम् ।
एनामनागसमहं यदि घातयामि
केनोडुपेन परलोकनदीं तरिष्ये ? ॥ २३ ॥

बालामिति—

अन्वयः—यदि, अहम्, नगरस्य, विभूषणम्, अवेशसदृशप्रणयोपचाराम्, वेश्याम्, बालाम्, अनागसम्, एनाम्, स्त्रियम्, घातयामि, (तर्हि), केन, उडुपेन, परलोकनदीम्, तरिष्ये ? ॥ ३२ ॥

शब्दार्थः—यदि=यदि, अहम्=मैं, नगरस्य=नगर की, विभूषणम्=ललामभूत; अवेशसदृशप्रणयोपचाराम्=वेश्याओं के अयोग्य (अर्थात् सच्चा) प्रेम-व्यवहार करने वाली, वेश्याम्=वेश्या, बालाम्=तरुणी, अनागसम्=निरपराध, एताम्=इस, स्त्रियम्=अबला को, घातयामि=मारता हूँ, (तर्हि=तो), केन=किस, उडुपेन=नौका से, परलोकनदीम्=परलोक की नदी (वैतरणी) को, तरिष्ये=पार करूँगा ? ॥

अर्थः—**विट**—(कानों को ढँक कर)

यदि मैं (उज्जैन) नगर की ललाम भूत (अर्थात् आभूषण), वेश्याओं के अयोग्य सच्चा प्रेम व्यवहार करने वाली (अर्थात् कुलीन स्त्री की भाँति प्रेम व्यवहार करने वाली) वेश्या, तरुणी, निरपराध, इस अबला को मारता हूँ तो परलोक की नदी (वैतरणी) को किस नौका से पार करूँगा ? ॥ २३ ॥

टीका—यदि=चेत्; अहम्=विटः इत्यर्थः; नगरस्य=पुरः, उज्जयिन्याः इत्यर्थः; विभूषणम्=अलङ्करणम्; अवेशसदृशः=वेश्याजनविपरीतः, कुलनारीजनोचितः इत्यर्थः, प्रणयस्य=प्रीतेः उपचारः=व्यवहारः यस्याः ताम्; वेश्याम्=गणिकाम्, बालाम्=तरुणीम्; नास्ति=न विद्यते आगः=अपराधः ('आगोऽपराधे पापे स्यादिति' मेदिनी) यस्याः तादृशीम्, निरपराधामित्यर्थः; एनाम्=पुरो वर्तमानाम्; स्त्रियम्=अबलाम्; घातयामि=हन्मि; तर्हि केन उडुपेन=प्लवेन ('उडुपं तु प्लवः कोलः) इत्यमरः) परलोकनदीम्=वैतरणीम्; तरिष्ये=अतिक्रमिष्यामि ? न केनापि इत्यर्थः । निष्पापायाः वसन्तसेनायाः मारणेन मे नरकपातः निश्चितः । अतः नाहमेनां घातयिष्यामि इति भावः ॥ २३ ॥

शकारः—अहं ते भेडकं दइश्शं। अण्णं च, विवित्ते उज्जाणे इध मालंतं को तुमं पेक्खिश्शदि ?। [अहं त उडुपं दास्यामि। अन्यच्च विविक्ते उद्यान इह मारयन्तं कस्त्वां प्रेक्षिष्यते ?।]

विटः—

पश्यन्ति मां दश दिशो वनदेवताश्च
चन्द्रश्च दीप्तकिरणश्च दिवाकरोऽयम्।
धर्मानिलौ च गगनं च तथान्तरात्मा
भूमिस्तथा सुकृतदुष्कृतसाक्षिभूताः ॥२४॥

टिप्पणी—'तॄ प्लवनतरणयोः'—नैया अथवा तैर कर नदी पार करने के अर्थ में प्रयोग होने वाली 'तॄ' धातु का पाठ भ्वादि प्रकरण के परस्मैपद में है। अतः इसका आत्मनेपद में 'तरिष्ये' यह पाठ चिन्तनीय है॥

इस श्लोक में परिकर अलङ्कार एवं वसन्ततिलका छन्द है।

छन्द का लक्षण—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः॥ २३॥

शब्दार्थः—विविक्ते = एकान्त, निर्जन, इह = इस, उद्याने = बगीचे में॥

अर्थः—शकार—मैं तुम्हें नौका दूंगा। और दूसरी बात यह है कि इस एकान्त बगीचे में इसे मारते हुए तुम्हें कौन देखेगा ?

टीका—विविक्ते = जनशून्ये, निर्जने इति यावत्, इह = अस्मिन्, उद्याने = उपवने॥

पश्यन्तीति—

अन्वयः—सुकृतदुष्कृतसाक्षिभूताः, दश, दिशः, वनदेवताः, च, चन्द्रः, च, दीप्तकिरणः, अयम्, दिवाकरः, च, धर्मानिलौ, च, गगनम्, च, तथा, अन्तरात्मा, तथा, भूमिः, माम्, पश्यन्ति॥ २४॥

शब्दार्थः—सुकृतदुष्कृतसाक्षिभूताः = पाप-पुण्य की साक्षी, दश = दश, दिशः = दिशाएँ, वनदेवताः = वन की देवताएँ, चन्द्रः = चन्द्रमा, दीप्तकिरणः = चमकती हुई किरणों वाला, अयम् = यह, दिवाकरः = सूर्य, धर्मानिलौ = धर्म और हवा, गगनम् = आकाश, तथा = और, अन्तरात्मा = सब के भीतर वर्तमान ईश्वर, तथा = एवं, भूमिः = पृथिवी, माम् = मुझको, पश्यन्ति = देख रहे हैं। श्लोक में बहुत से आये हुए 'च' संयोजन के लिये प्रयुक्त किये गये हैं।

अर्थः—विट-पाप-पुण्य की साक्षी दशों दिशाएँ, वन की देवताएँ, चन्द्रमा और

शकारः—तेण हि पडंतोवालिदं कदुअ मालेहि। [तेन हि पटान्तापवारितां कृत्वा मारय।]

विटः—मूर्ख! अपध्वस्तोऽसि।

चमकती हुई किरणों वाला यह सूर्य, धर्म और हवा, आकाश और अन्तरात्मा तथा पृथिवी—(ये सब) मुझे देख रहे हैं ॥ २४ ॥

टीका—विविक्ते मारयन्तं कस्त्वां प्रेक्षिष्यते' ? इति शकारकथनस्योत्तरं दातुं यथाशास्त्रं वदति विटः—सुकृतदुष्कृतयोः = पुण्यपापयोः साक्षिभूताः = साक्षाद्द्रष्टारः, लिङ्गविभक्तिविपरिणामेन विशेषणमेतत् सर्वैरेव कर्तृपदैः अन्वेति, दश = दशसङ्ख्याकाः, दिशः = काष्ठाः ('दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः); वनदेवताः = अरण्याधिष्ठातृदेव्यश्च, चन्द्रः = चन्द्रमा; च, अयं सूर्याभावे रात्रौ आकाशस्थः सन् सर्वकर्मसाक्षी भवति, दीप्ताः = पूर्णतया प्रकाशिताः किरणाः = अंशवः यस्य तादृशः, अयम् = मस्तकस्थितः इत्यर्थः, दिवाकरः = चण्डांशुश्च, धर्मश्च = सुकृतश्च अनिलश्च = वायुश्चेति धर्मानिलौः सुकृतवायू च, गगनम् = आकाशञ्च, तथा = अन्तरात्मा = हृदि स्थितः ईश्वरः, तथा भूमिः = पृथिवी च, माम् = विटम्, पश्यन्ति = अवलोकयन्ति। इमानि सर्वाणि सर्वप्राणिनां पुण्यपापयोः साक्षिभूतानि शास्त्रेषु निर्दिष्टानि। सर्वसाक्षित्वेन मामपि पश्यन्त्येव इमानि। अतः पापं न करिष्यामीति भावः ॥ २४ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में, कई कर्ता का एक ही देखना रूप क्रिया के साथ सम्बन्ध होने के कारण, तुल्ययोगिता अलङ्कार है। प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका।

छन्द का लक्षण—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—पटान्तापवारिताम् = कपड़े के आँचल से ढकी हुई। अपध्वस्तः = पतित, घृणित, झिड़का गया। अधर्मभीरुः = पाप से डरने वाला, वृद्धकोलः = बूढ़ा सूअर। सुवर्णकटकानि=सोने के कड़ों को। परिधास्यामि = पहनूँगा। सौवर्णम् = सोने की, पीठकम् = चौकी। उपवेक्ष्यामि = बैठूँगा। उच्छिष्टम् = जूठन। महत्तरकम् = मेठ (काम करानेवाला प्रधान व्यक्ति)। अकार्यम् = अनुचित काम को, वर्जयित्वा = छोड़कर।

अर्थः—शकारः—तो कपड़े के आँचल से ढक कर मार दो।

विट—मूर्ख! पतित हो।

शकारः—अधम्मभीलू एशे वुड्ढकोले । भोदु, थावलअं चेडं अणुणेमि । पुत्तका थावलका चेडा ! शोवण्णखंडुआइं दइश्शं । [अधर्मभीरुरेष वृद्धकोलः । भवतु, स्थावरकं चेटमनुनयामि । पुत्रक स्थावरक चेट ! सुवर्णकटकानि दास्यामि ।]

चेटः—अहं पि पहिलिश्शं । [अहमपि परिधास्यामि ।]

शकारः—शोवण्णं दे पीढके कालइश्शं । [सौवर्णं ते पीठकं कारयिष्यामि ।]

चेटः—अहं पि उवशिश्शं । [अहमप्युपवेक्ष्यामि ।]

शकारः—शव्वं दे उच्छिश्टअं दइश्शं । [सर्वं त उच्छिष्टं दास्यामि ।]

चेटः—अहं पि खाइश्शं । [अहमपि खादिष्यामि ।]

शकारः-शव्वचेडाणं महत्तलकं कलइश्शं । [सर्वचेटानां महत्तरकं कारयिष्यामि ।]

चेटः—भट्टके ! हुविश्शं । [भट्टक ! भविष्यामि ।]

शकारः—ता मण्णेहि मम वअणं । [तन्मन्यस्व मम वचनम् ।]

चेटः—भट्टके ! शव्वं कलेमि वज्जिअ अकज्जं । [भट्टक ! सर्वं करोमि वर्जयित्वाऽकार्यम् ।]

अर्थः—**शकार**—यह बूढ़ा सूअर अधर्म से डरता है। अच्छा, स्थावरक चेट (सेवक) को मनाता हूँ । बेटा स्थावरक चेट ! (तुम्हें) सोने के कड़े दूँगा ।

चेट—मैं भी पहन लूँगा ।

शकार—तेरे लिये सोने की चौकी बनवा दूँगा ।

चेट—मैं भी (उस पर) बैठूँगा ।

शकार—तुझे सारी जूठन दूँगा ।

चेट—मैं भी खा लूँगा ।

शकार—(तुझे) सभी नौकरों का मेठ (काम कराने वाला प्रधान व्यक्ति) बनवा दूगा।

चेट—मालिक ! बन जाऊँगा ।

शकार—तो मानो मेरी बात ।

चेट—मालिक ! अनुचित काम को छोड़ कर सब कुछ करूँगा ।

टीका—पटान्तेन=वस्त्रान्तेन अपवारिताम्=आच्छादिताम् । अपध्वस्तः = पतितः विकृतः इत्यर्थः । अधर्मात् = पापात् भीरुः = शङ्कितः; वृद्धकोलः = जीर्णशूकरः (वराहः शूकरो घृष्टिः कोलः पोत्री किरः किटिः । दंष्ट्री घोणीस्तब्धरोमा क्रोडो भूदार इत्यपि' इत्यमरः)। सुवर्णकटकानि = स्वर्णवलयान् ('आवापकः पारिहार्यः कटको

शकारः—अकज्जाह गन्धे वि णत्थि । [अकार्यस्य गन्धोऽपि नास्ति ।]

चेटः—भणादु भट्टके । [भणतु भट्टकः ।]

शकारः—एणं वशंतशेणिअं मालेहि । [एनां वसन्तसेनां मारय ।]

चेटः—पशीददु भट्टके । इअं मए अणज्जेण अज्जा पवहणपलिवत्तणेण आणीदा । [प्रसीदतु भट्टकः । इयं मयानार्येणार्या प्रवहणपरिवर्तनेनानीता ।]

शकारः-अले चेडा ! तवावि ण पहवामि । [अरे चेट ! तवापि न प्रभवामि ?]

चेटः—पहवदि भट्टके शलीलाह, ण चालित्ताह । ता पशीददु पशीददु भट्टके । भाआमि खु अहं । [प्रभवति भट्टकः शरीरस्य, न चारित्र्यस्य । तत्प्रसीदतु प्रसीदतु भट्टकः । विभेमि खल्वहम् ।]

शकारः—तुमं मम चेडे भविअ कश्श भाआशि ?। [त्वं मम चेटो भूत्वा कस्माद्बिभेषि ? ।]

चेटः—भट्टके ! पललोअश्श । [भट्टक ! परलोकात् ।]

वलयोर्ऽस्त्रियाम्' इत्यमरः) । परिधास्यामि = धारयिष्यामि । सौवर्णम् = सुवर्णमयम्; पीठकम् = आसनम् । उपवेक्ष्यामि = स्थास्यामि । उच्छिष्टम् = भोजनावशिष्टम् । महत्तरकम् = सर्वप्रधानम् । अकार्यम् = अनुचितकार्यं पापमित्यर्थः; वर्जयित्वा = त्यक्त्वा; अनुचितं कार्यं परित्यज्य इत्यर्थः ॥

शब्दार्थः—भट्टकः = स्वामी । अनार्येण = विधर्मी के द्वारा । प्रवहणपरिवर्तनेन = गाड़ी के बदल जाने से । प्रभवामि = स्वामी हूँ । चारित्र्यस्य = चरित के । सुकृतदुष्कृतस्य = पुण्य-पाप का, परिणामः = फल । परपिण्डभक्षकः = दूसरे का कौर (अन्न का ग्रास) खाने वाला ॥

अर्थः—**शकार**—अनुचित काम की गन्ध भी नहीं है ।

चेट—तो बतलाइए, स्वामी ।

शकार—इस वसन्तसेना को मारो ।

चेट—स्वामी कृपा करें । गाड़ी के बदल जाने से यह आर्या (वसन्तसेना) मुझ विधर्मी (अनार्य) के द्वारा यहाँ लायी गयीं ।

शकार—अरे चेट ! क्या तुझ पर भी मेरा अधिकार नहीं है ?

चेट—स्वामी शरीर के मालिक हैं, चरित्र के नहीं । तो स्वामी प्रसन्न हों प्रसन्न हों । अवश्य ही मैं डरता हूँ ।

शकार—तुम मेरे सेवक होकर किससे डरते हो ?

शकारः—के शे पललोए ? । [कः स परलोकः ? ।]

चेटः—भट्टके ! शुकिददुक्किकदश्श पलिणामे । [भट्टक ! सुकृतदुष्कृतस्य परिणामः]

शकारः—केलिशे शुकिदश्श पलिणामे ? । [कीदृशः सुकृतस्य परिणामः ? ।]

चेटः—जादिशे भट्टके बहुशुवण्णमंडिदे । [यादृशो भट्टको बहुसुवर्णमण्डितः ।]

शकारः—दुक्किदश्श केलिशे ? । [दुष्कृतस्य कीदृशः ? ।]

चेटः—जादिशे हग्गे पलपिंडभक्खके भूदे, ता अकज्जं ण कलइश्शं । [यादृशोऽहं परपिण्डभक्षको भूतः, तदकार्यं न करिष्यामि ।]

शकारः—अले ! ण मालिश्शशि ? । [अरे ! न मारयिष्यसि ?]

(इति बहुविधं ताडयति)

चेटः—पिट्ठयदु भट्टके, मालेदु भट्टके, अकज्जं ण कलइश्शं ।

जेण म्हि गब्भदाशे विणिम्मिदे भाअधेअदोशेहिं ।
अहिअं च ण कोणिश्शं तेण अकज्जं पलिहलामि ॥२५॥

अर्थः—चेट—स्वामी ! परलोक से ।

शकार—कौन है वह परलोक ?

चेट—स्वामी पुण्य-पाप का फल ।

शकार—पुण्य का फल कैसा होता है ?

चेट—जैसे बहुत से सोने से आप सुशोभित हैं ।

शकार—पाप का (फल) कैसा होता है ?

चेट—जैसा मैं दूसरे का अन्न खाने वाला हूँ । इसलिये कुकर्म नहीं करूँगा ।

शकार—अरे ! नहीं मारेगा ?

(ऐसा कह कर बहुत प्रकार से मारता है)

टीका—भट्टकः=स्वामी, प्रभुः । अनार्येण = आर्यविगर्हितेन, अधर्मशालिना इत्यर्थः । प्रवहणस्य = शकटस्य परिवर्तनेन = व्यत्यासेन ('स्याद्व्यत्यासो विपर्यासो व्यत्ययश्च विपर्यये, इत्यमरः) । प्रभवामि = प्रभुः भवामि; किं त्वयि अपि ममाधिपत्यं नास्तीति शकारस्य अभिप्रायः । चारित्रस्य = चरित्रस्य, चरित्रशब्दात् स्वार्थेऽण् । सुकृतञ्च = पुण्यञ्च दुष्कृतञ्च = पापञ्च तयोः समाहारः सुकृतदुष्कृतं तस्य; परिणामः = फलम् । परेषाम् = अन्येषाम्, परस्य = अन्यस्य वा, पिण्डस्य = ग्रासस्य भक्षकः = भोक्ता; परान्नानुजीवी इत्यर्थः ॥

[ताडयतु भ कः, मारयतु भट्टकः, अकार्यं न करिष्यामि ।
येनास्मि गर्भदासो विनिर्मितो भागधेयदोषैः ।
अधिकं च न क्रीणिष्यामि तेनाकार्यं परिहरामि ॥]

वसन्तसेना—भाव ! शरणागद ह्मि । [भाव ! शरणागतास्मि ।]

विटः—काणेलीमातः ! मर्षय मर्षय । साधु स्थावरक ! साधु ।

येनास्मि गर्भदासः इति—

अन्वयः—येन, भागधेयदोषैः, गर्भदासः, विनिर्मितः, अस्मि; तेन, अधिकम्, न, क्रीणिष्यामि, अकार्यम्, च, परिहरामि ॥ २५ ॥

शब्दार्थः—येन = जिस कारण से (क्योंकि), भागधेयदोषैः = भाग्य के दोष के कारण, गर्भदासः = जन्म से ही दास, विनिर्मितः = बनाया गया, अस्मि = हूँ । तेन = इसलिए, अधिकम् = और अधिकको, न = नहीं, क्रीणिष्यामि = खरीदूँगा । अकार्यम् = अनुचित कार्य को, च = भी, परिहरामि = बचाऊँगा, न करूँगा ॥

अर्थः–**चेट**–मालिक ! पीटें चाहे मारें, (किन्तु) अनुचित काम नहीं करूँगा ।

क्योंकि (पूर्व जन्म के) भाग्य के दोष के कारण मैं जन्म से ही दास बनाया गया हूँ । इसलिये (अनुचित काम करके पाप) अधिक नहीं मोल लूँगा । मैं अनुचित काम न करूँगा ॥ २५ ॥

टीका—येन = येन कारणेन, यतः इत्यर्थः; भागधेयानाम् = भाग्यानाम् दोषैः = त्रुटिभिः; पापपरिणामैः इति यावत्; गर्भदासः = आ जन्मनः सेवकः; विनिर्मितः = विहितः; विधिना इति शेषः, अस्मि = भवामि । तेन = तस्मात् हेतो, अधिकम् = एतस्मादतिरिक्तम् ; न क्रीणिष्यामि = न अर्जयिष्यामि, अतः अधिकं पापं न करिष्यामि इति भावः । अकार्यम् = अनुचितं कर्म, चापि, परिहरामि = त्यजामि, न करिष्यामीति भावः । पापं कृत्वा जन्मदासः सञ्जातः अस्मि । अतः अधिकं पापं विधाय किं भविष्यामि ? इति चिन्तया अकार्यं न करिष्यामीति भावः ॥ २५ ॥

टिप्पणी—विनिर्मितः = बनाया हुआ, निर्माण किया हुआ, वि + निर् + √मा + क्त ॥

इस श्लोक के छन्द का नाम है—आर्या ।

लक्षण—यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ २५ ॥

अर्थः—**वसन्तसेना**—भाव ! मैं शरण में आयी हूँ ।

विट—पुंश्चली के पुत्र । क्षमा करो, क्षमा करो । धन्य स्थावरक ! धन्य !

अप्येष नाम परिभूतदशो दरिद्रः
प्रेष्यः परत्र फलमिच्छति नास्य भर्ता।
तस्मादमी कथमिवाद्य न यान्ति नाशं
ये वर्धयन्त्यसदृशं सदृशं त्यजन्ति ॥ २६ ॥

अप्येष इति—

अन्वयः—परिभूतदशः, दरिद्रः, प्रेष्यः, अपि, एषः, परत्र, फलम्, नाम, इच्छति, (किन्तु), अस्य, भर्ता, न, (इच्छति), तस्मात्, ये, असदृशम्, वर्धयन्ति, सदृशम्, त्यजन्ति, अमी, अद्य, कथमिव, नाशम्, न, यान्ति ॥ २६ ॥

शब्दार्थः—परिभूतदशः=दयनीय हालतवाला, दरिद्रः = निर्धन, प्रेष्यः = दास, अपि = भी, एषः = यह, परत्र=परलोक में, फलम्=फलको, नाम=कदाचित्; इच्छति = चाहता है। (किन्तु = परन्तु), अस्य = इसका (इस चेट का), भर्ता= स्वामी, न = नहीं, (इच्छति = चाहता है)। तस्मात्=तब, ये=जो लोग, असदृशम् =अनुचित को, वर्धयन्ति = बढ़ाते हैं, सदृशम्=उचित को, त्यजन्ति=छोड़ देते हैं; अमी = ये, अद्य = आज ही, कथमिव=किसलिये, नाशम् = नाश को, न यान्ति = नहीं जाते, नहीं प्राप्त होते ॥

अर्थः–दयनीय हालत वाला यह दरिद्र दास स्थावरक परलोक के फल की इच्छा करता है, किन्तु इसका स्वामी (शकार) नहीं। तब जो (शकार जैसे) लोग अनुचित कामों की ढेर लगाते हैं और उचित काम को छोड़ देते हैं, वे आज ही विनाश को क्यों नहीं प्राप्त हो जाते ? ॥ २६ ॥

टीका—परिभूता=तिरस्क्रिता दशा = अवस्था यस्य सः, विपन्नावस्थः इत्यर्थः; दरिद्रः = निर्धनः; प्रेष्यः=परिचारकः ('भृत्ये दासेयदासेरदासगोप्यकचेटकाः । नियोज्यकिंकरप्रेष्यभुजिस्यपरिचारकाः' इत्यमरः); एषः = पुरो वर्तमानः चेटः; परत्र = परलोके; फलम् = सत्परिणतिम्; नामेति सम्भावनायाम्; इच्छति=वाञ्छति। किन्तु अस्य = चेटस्येत्यर्थः; भर्ता = प्रभुः; शकारः; न = परलोके फलं नेच्छति इत्यर्थः; तस्मात्=तस्मात् कारणात्; ये = शकारसदृशाः जनाः; असदृशम्=अकार्यम्; अयोग्यं जनमिति वा; वर्धयन्ति = सञ्चितं कुर्वन्ति; उत्साहितं कुर्वन्ति वा; सदृशम्=समीचीनं कर्म, योग्यं जनं वा; त्यजन्ति=परिहरन्ति; अमी=एते, असदृशवर्धकाः सदृशत्यागिनः शकारादयः इत्यर्थः; अद्य = सम्प्रत्येव; कथमिव = किमर्थमित्यर्थः; नाशम्=मृत्युम्; न यान्ति = न गच्छन्ति ?। दासः स्थावरकः पापात् बिभेति, परलोके सुखञ्चेच्छति।

अपि च,—

रन्ध्रानुसारी विषमः कृतान्तो यदस्य दास्यं तव चेश्वरत्वम् ।
श्रियं त्वदीयां यदयं न भुङ्क्ते यदेतदाज्ञां न भवान्करोति ॥ २७ ॥

परञ्च तस्य स्वामी शकारः न तु अकर्मणः बिभेति न च परत्र फलमिच्छति । महदाश्चर्यमेतत् । अतः विटः कथयति शकारतुल्यानां पापिनां जीवितेन किम् ? समष्टौ एतेषां जीवनेन हितापेक्षया अहितमेव भवतीति भावः ॥ २६ ॥

टिप्पणी –प्रेष्यः = सेवक, भृत्य, दास; प्र + √इष् + ण्यत्, वृद्धिः । भर्ता = पति, स्वामी; √भृ + तृच् + विभक्तिः ॥

इस श्लोक में परिसंख्या एवं अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार और वसन्ततिलका छन्द है ।

छन्द का लक्षण—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ २६ ॥

रन्ध्रानुसारीति—

अन्वयः—कृतान्तः, रन्ध्रानुसारी, विषमः, (अस्ति), यत्, (तेन), अस्य, दास्यम्, तव, च, ईश्वरत्वम्, (कृतम्) । यत्, अयम्, त्वदीयाम्, श्रियम्, न, भुङ्क्ते, यत्, भगवान्, एतदाज्ञाम्, न, करोति ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—कृतान्तः = दैव, रन्ध्रानुसारी = दोष देखने वाला, विपरीत (उलटा कार्य करने वाला), (अस्ति = है); यत् = क्योंकि, (तेन = उसके द्वारा), अस्य = इस चेट को, दास्यम् = दासपन, तव = तुम्हें, ईश्वरत्वम् = मालिकपन, (कृतम् = किया गया है), यत् = जो, अयम् = यह चेट, त्वदीयाम् = तुम्हारी, श्रियम् = धन-सम्पत्ति को, न = नहीं, भुङ्क्ते = खा रहा है, भोग रहा है, यत् = जो, भगवान् = आप, एतदाज्ञाम् = इसकी आज्ञा को, न = नहीं, करोति = करते हैं ॥

अर्थः-और भी—

दैव दोष देखनेवाला एवं उलटा कार्य करनेवाला है, क्योंकि (उसने) इस (धार्मिक चेट) को दासता तथा तुम (अधर्मी शकार) को प्रभुता दी है, एवं जो यह (चेट) तुम्हारी धन-सम्पत्ति का उपभोग नहीं करता है । और आप इसके आज्ञाकारी (नौकर) नहीं हैं (अर्थात् तुम्हारी जगह चेट को और चेट की जगह तुमको न देकर विधाता ने उलटा काम किया है) ॥ २७ ॥

टीका—कृतान्तः = दैवम्, ('कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवाकुशलकर्मसु' इत्यमरः) रन्ध्रम् = छिद्रम्, दोषमित्यर्थः विपत्ति वा, अनुसरति = अनुगच्छति इति रन्ध्रानुसारी = छिद्रान्वेषी, दैवस्य इदं रन्ध्रानुसरणमेव वर्तते यत्तेन धर्मात्मनः चेटस्य धर्मसञ्चयमुपेक्ष्य सर्षपमात्रं पापमनुसृत्याऽयं :विपत्तौ निक्षिप्तः । विषमः = विपरीतः, पक्षपातीत्यर्थः,

भवतु, लब्धो मयोपायः। दत्ता वृद्धशृगालेन शिरश्चालनसंज्ञा। तदेतं प्रेष्य वसन्तसेनां मारयिष्यामि। एवं तावत्। भाव! यत्त्वं मया भणितः, तत्कथमहमेवं बृहत्तरैः मल्लकप्रमाणैः कुलैर्जातोऽकार्यं करोमि?। एवमेतदङ्गीकारयितुं मया भणितम्।]

शब्दार्थः—सर्वकालम् = सदा, मया = मेरे द्वारा, मांसेन = मांस से, च = और, घृतेन = घी से, च = भी, पुष्टः = मजबूत किये गये, (त्वम् = तुम), अद्य = आज, कार्ये = कार्य, समुत्पन्ने = आ पड़ने पर, मे = मेरा, वैरी = शत्रु, कथम् = कैसे, जातः = हो गया॥

अर्थः—सदा मैंने तुझे मांस और घी से पुष्ट किया है। आज काम आ पड़ने पर तूं मेरा बैरी कैसे हो गया है? ॥ २८॥

टीका—सर्वकालम् = सर्वदा; सति कार्ये, असति कार्ये चेत्यर्थः; मया = प्रभुणा शकारेण; मांसेन = पिशितेन च, घृतेन = सर्पिषा च, पुष्टः = शक्तिसम्पन्नः कृतः, त्वमितिशेषः, अद्य = सम्प्रति, कार्ये = प्रयोजने, समुत्पन्ने = सम्प्राप्ते, मे = मम, स्वपोषकस्य इत्यर्थः, वैरी = विरोधी, कथम् = कस्मात्, जातः? = भूतः? मया भोजनपानादिभिः सम्बर्धितस्य तव मयैव सह विरोधः अतीव गर्हितः इति भावः॥ २८॥

टिप्पणी—पुष्टः = पाला-पोसा गया, खिलाया गया, मजबूत किया गया, पुष् + क्त। इस श्लोक मे पथ्यावक्त्र छन्द है।

लक्षण—युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्॥ २८॥

शब्दार्थः—शिरश्चालनसंज्ञा = शिर हिला कर इशारा (संकेत), दत्ता = दिया गया। एतम् = इसको (विट को), प्रेष्य = भेजकर। मल्लकप्रमाणैः = पुरवा (प्याला) जैसे, कुलैः = कुल से, जातः = पैदा हुआ। एवम् = इस प्रकार के (वसन्तसेना को मारने रूप), अकार्यम् = अनुचित काम को। एतदङ्गीकारयितुम् = इसके द्वारा (अपने को) स्वीकार करवाने के लिए, मया = मेरे द्वारा, एवम् = ऐसा (अर्थात् 'वसन्तसेना को मारूँगा आदि), भणितम् = कहा गया॥

अर्थः—(सोचकर) अच्छा, मुझे तरीका सूझ गया। बूढ़े सियार (विट) ने शिर हिलाकर (वसन्तसेना को) इशारा किया है। तो इसको (यहाँ से) भेजकर वसन्तसेना को मारूंगा। तो ऐसा हो। (प्रकट रूप में) भाव! जो मैंने तुमसे (वसन्तसेना को मारने के लिए) कहा है; तो भला पुरवा (प्याला) जैसे बड़े कुल में पैदा हो कर मैं अनुचित काम कैसे करूँगा? यह सब कुछ तो मैंने इससे (वसन्तसेना से) अपने को स्वीकार कराने के लिए कहा था (ताकि डर कर वसन्तसेना मुझे स्वीकार कर ले)।

विटः—

किं कुलेनोपदिष्टेन, शीलमेवात्र कारणम् ।
भवन्ति सुतरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः ॥ २९ ॥

टीका—शिरसः = उत्तमाङ्गस्य चालनेन = कम्पनेनेत्यर्थः, संज्ञा = संकेतः, दत्ता = समर्पिता, कृता इतियावत्, वसन्तसेनायै पलायितुमिति शेषः। वसन्तसेना झटितीतः अपसरतु इत्यभिप्रायेण शकारस्य गलग्रहणकाले मोहकाले वा विटेन तस्य सङ्केतः कृतः परञ्चायं सङ्केतः शकारेण उपलक्षितः। अतः वदति—'दत्ता वृद्धशृगालेन शिरश्चालन-संज्ञा'। लोकेऽपि एतादृशः व्यवहारः बहुत्र दृश्यते। अस्मिन्नेव प्रकरणे द्वितीयाङ्के माथुरेण सह कलहकाले दर्दुरकः संवाहकस्यापक्रमितुं संज्ञां ददाति, तद्यथा—'दर्दुरकः माथुरस्य पांशुना चक्षुषी पूरयित्वा संवाहकस्यापक्रमितुं संज्ञां ददाति, माथुरोऽक्षिणी निगृह्य भूमौ पतति, संवाहकोऽपक्रामति' इति। केचन व्याख्याकाराः—"शिरसः = मम मस्तकस्य, चालनेन = करेण गलदेशं गृहीत्वा आलोडनेन, शिरसः अधो नमनेन उन्नमनेन चेति यावत्, संज्ञा = ज्ञानं, बुद्धिस्फूर्तिरित्यर्थः, दत्ता=मह्यमर्पिता इत्यर्थः, विटेनेति शेषः, मम गलदेशधारणेन शिरः अभीक्ष्णं सञ्चाल्य विटः इदानीं मह्यम् एकां नवीनामुद्भावनीं शक्तिं दत्तवानिति तात्पर्यार्थः।" इति व्याख्यां कुर्वन्ति। सा तु न समीचीना। 'भावो भट्टकं मारयति'। कर्वकालमित्यादिकथनस्य आक्रोशगर्भितस्य अनुपपत्तेः। यदि विटेन शकारस्य शिरसः मोटनं आलोडनं वा तस्य (शकारस्य) आनुकूल्ये पतति तर्हि प्रसन्नतास्थले उक्तरूपेण गर्हायाः को हेतुः। यदि शिरश्चालनसंज्ञा शकारस्य मनोवाञ्छितकारिणी तर्हि तत्रैव सन्निधौ विटस्य कृते वृद्धशृगालपदस्य निन्दाद्योतकस्य प्रयोगः नोपपद्यते। अतः शिरश्चालनपदस्य शिरः कम्पनमेवार्थः समीचीनः।

एतम्=अमुम्; विटमित्यर्थः, प्रेष्य = अन्यत्र सञ्चाल्य इत्यर्थः। मल्लकप्रमाणैः= चसकसदृशैः इत्यर्थः। समुद्रप्रमाणादिति वक्तव्ये मौर्ख्यान्मिल्लकप्रमाणतया कुलमुपमिनोति —इति पृथ्वीधरः। कुलैः = वंशैः, जातः=उत्पन्नः (करणे तृतीया)। एवम्=इत्थम्; अकार्यम्=अनुचितं कार्यम्; मारणरूपमिति यावत्। एतया = अनया, वसन्तसेनया, अङ्गीकारयितुम् = स्वीकारयितुम्; मया = शकारेण; एवम् = मारयिष्यामीति वचनम्; भणितम् = कथितम्। कदाचिदियमित्थं कथनेऽपि मा स्वीकुर्यादित्यभिप्रायेण भणितमिति भावः।

किं कुलेनेति—

अन्वयः—कुलेन, उपदिष्टेन, किम् ? (यतः), अत्र, शीलम् , एव, कारणम्; सुक्षेत्रे,

शकारः—भावे ! एशा तव अग्गदो लज्जाअदि, ण मं अंगीकलेदि, ता गच्छ। थावलअचेटे मए पिश्टिदे गदे वि। एशे पलाइअ गच्छदि। ता तं गेण्हिअ आअच्छदु भावे। [भाव ! एषा तवाग्रतो लज्जते न मामङ्गीकरोति। तद्गच्छ स्थावरकचेटो मया ताडितो गतोऽपि। एष प्रपलाय्य गच्छति। तस्मात्तं गृहीत्वागच्छतु भावः।]

विटः—(स्वगतम्)

अस्मत्समक्षं हि वसन्तसेना शौण्डीर्यभावान्न भजेत मूर्खम्।
तस्मात्करोम्येष विविक्तमस्य विविक्तविश्रम्भरसो हि कामः॥ ३०॥

कण्टकिद्रुमाः, सुतराम्, स्फीताः, भवन्ति॥ २९॥

शब्दार्थः कुलेन = वंश, उपदिष्टेन = कहने से, वर्णन करने से, किम् = क्या ? (यतः = क्योंकि), अत्र = इसमें (अनुचित काम करने में), शीलम्=स्वभाव, एव = ही, करणम् = कारण (है)। सुक्षेत्रे=अच्छे खेत में, कण्टकिद्रुमाः = काँटेदार पौधे, सुतराम्= बहुत अधिक, स्फीताः = समृद्ध, बढ़नेवाले; भवन्ति = होते हैं।

अर्थः-विट—कुल का वर्णन करने से क्या लाभ ? क्यों कि इसमें (अनुचित काम करने में) तो स्वभाव ही कारण है। अच्छे खेत में भी काँटेदार पौधे बहुत अधिक समृद्ध (पैदा) हो जाते हैं (इसी तरह अच्छे कुल में भी बुरे आचरण वाले व्यक्ति पैदा हो जाते हैं)॥ २९॥

टीका—कुलेन = वंशेन; उपदिष्टेन = वर्णितेन, कथितेनेत्यर्थः; किम् ? = किं फलम् ? न किमपि इत्यर्थः। यतः अत्र = अकार्यकरणे; शीलम् = स्वभावः एव; कारणम् = हेतुः। तथाहि—सुक्षेत्रे = उर्वरायां भूमौ: कण्टकिनः=कण्टकयुक्ताः द्रुमाः = वृक्षाः; सुतराम् = अत्यन्तम्; स्फीताः = वृद्धिङ्गताः; भवन्ति = जायन्ते। तव उन्नतवंशप्रशंसा अकिञ्चित्करी। यतः उचितानुचिताचरणे मानवानां प्रकृतयः एव हेतुभूताः भवन्ति। यथा सुक्षेत्रे कण्टकान्याः वृक्षाः अपि बाहुल्येन जायन्ते तथा महद्वंशेऽपि दुष्टप्रकृतयः कुतनया उत्पद्यन्ते एव। तेषामनुचिताचरणे वंशस्य महत्त्वमप्रतिबन्धकमिति भावः॥ २९।

टिप्पणी—इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।

छन्द का लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्॥ २९॥

अर्थः-शकार—भाव ! यह (वसन्तसेना) तुम्हारे सामने लजाती है, इसलिए मुझे स्वीकार नहीं कर रही है। अतः तुम जाओ। मेरे द्वारा पीटा गया स्थावरक चेट भी गया। यह भाग कर जा रहा है। इसलिए उसे पकड़ कर ले आइए।

(प्रकाशम्) एवं भवतु, गच्छामि ।

वसन्तसेना—(पटान्ते गृहीत्वा) णं भणामि शरणागदम्हि । [ननु भणामि

अस्मत्समक्षमिति—

अन्वयः—वसन्तसेना, शौण्डीर्यभावात्, अस्मत्समक्षम्, मूर्खम्, न, भजेत; तस्मात्, एषः, (अहम्), अस्याः, विविक्तम्, करोमि; हि, कामः, विविक्तविश्रम्भरसः, (भवति) । ३० ॥

शब्दार्थः—वसन्तसेना=वसन्तसेना, शौण्डीर्यभावात्=गर्वीलेपन की आदत के कारण, अस्मत्समक्षम्=हमारे सामने, मूर्खम्=मूर्खको, न भजेत=न अङ्गीकार करे । तस्मात्=तो, एषः = यह, (अहम् = मैं), अस्याः = इस वसन्तसेना के लिये, विविक्तम् = एकान्त को, करोमि = कर देता हूँ । हि = क्योंकि, कामः = काम, विविक्तविश्रम्भरसः = निर्जन एवं विश्वस्त स्थान में आनन्ददायक, (भवति = होता है) ।

अर्थः-विट—(अपने आप) वसन्तसेना गर्वीलेपन की आदत के कारण हमारे सामने इस मूर्ख को शायद अङ्गीकार न करे । अतः मैं वसन्तसेना के लिए (इस स्थान को) एकान्त कर देता हूँ, क्योंकि काम निर्जन एवं (किसी के भी न होने से) विश्वस्त स्थान में आनन्ददायक होता है ॥ ३० ॥

टीका—वसन्तसेना = पुरः स्थिता एषा चारुदत्तानुरागिणी वेश्या; शौण्डीर्यभावात् = अभिमानस्वभावयुक्तत्वादित्यर्थः; नगरीललामभूता अहं नगरीमुकुटायमानस्य चारुदत्तस्य अनुरागिणी भूत्वा घृणितं मूर्खं शकारं विटस्य समक्षं कथमङ्गीकुर्यामिति विचारादितिभावः, अस्मत्समक्षम् = ममाग्रे; मूर्खम् = विवेकहीनम्; शकारमिति शेषः; न भजेत = नाङ्गीकुर्यात् । तस्मात् = तस्मात् कारणात्, ममाग्रे अङ्गीकारास्वीकारात् इत्यर्थः, एषः = अत्र वर्तमानः अहमिति शेषः; अस्याः = वसन्तसेनायाः; विविक्तम् = विजनम्; करोमि = सम्पादयामि । हि = यतः; कामः = मदनः; सम्भोगः इत्यर्थः; विविक्ते = निर्जने विश्रम्भे= जनसञ्चाराभावात् उत्पन्ने विश्वासे च रसः = आस्वादः, आनन्दः इति यावत्, यस्य तादृशः भवतीति । निर्जने अतः उत्पन्ने विश्वासे च कामः प्रसरतीति भावः ॥ ३० ॥

टिप्पणी—विविक्तम् = एकान्त स्थान को, अकेलापन को; वि + √विच् + क्त ॥

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार एवं उपजाति छन्द है ।

छन्द का लक्षण —

(स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः । उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततोगौ ।)
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥ ३० ॥

शरणागतास्मि ।]

वटिः—वसन्तसेने ! न भेतव्यं न भेतव्यं; काणेलीमातः ! वसन्तसेना तव हस्ते न्यासः ।

शकारः—एव्वं; मम हश्ते एशा णाशेण च्यिश्टदु । [एवम्; मम हस्ते एषा न्यासेन तिष्ठतु ।]

विटः—सत्यम् ?

शकारः—शच्चं । [सत्यम् ।]

विटः—(किंचिद्गत्वा) अथवा मयि गते नृशंसो हन्यादेनाम् । तदपवारितशरीरः पश्यामि तावदस्य चिकीर्षितम् (इत्येकान्ते स्थितः)

शकारः—भोदु, मालइश्शं । अधवा कवडकावडिके एशे बम्हणे वुड्ढखोडे कदावि ओवालिदशलीले गडिअ शिआले भविअ हुलुभुलिं कलेदि । ता एदश्श वंचणाणिमित्तं एव्वं दाव कलइश्शं । (कुसुमावचयं कुर्वन्नात्मानं मण्डयति) वाशू वाशू , वशंतशेणिए ! एहि । [भवतु, मारयिष्यामि । अथवा कपटकापटिक एष ब्राह्मणो वृद्धश्रृगालः कदाचिदपवारितशरीरो गत्वा श्रृगालो भूत्वा कपटं करोति । तदेतस्य वञ्चनानिमित्तमेवं तावत्करिष्यामि ।

शब्दार्थः—पटान्ते = कपड़े के छोर में । न्यासः = धरोहर । न्यासेन = धरोहर से (अर्थात् धरोहर के रूप से) । नृशंसः = क्रूर । अपवारितशरीरः = छिपीहुई शरीर वाला । चिकीर्षितम् = इरादा को, करने की इच्छा को । कपटकापटिकः=धूर्तों में अगुआ । वञ्चनानिमित्तम्=ठगने के लिये । कामी = कामयुक्त । संवृत्तः = हो गया । निर्वृतः = निश्चिन्त ।

अर्थः-(प्रकट रूप में) ऐसा ही हो, जाता हूँ ।

वसन्तसेना—(कपड़े का छोर पकड़ कर) मैं कहती हूँ न, कि मैं शरणागत हूँ ।

विट—वसन्तसेना ! डरो मत, डरो मत । पुंश्चलीपुत्र ! वसन्तसेना तुम्हारे हाथ में धरोहर है ।

शकार—ऐसा ही सही । मेरे हाथ में यह धरोहर रूप से रहे ।

विट—सचमुच ?

शकार—सचमुच ।

विट—(कुछ दूर जाकर) अथवा मेरे चले जाने पर यह क्रूर इसको मार न डाले । अतः छिपकर इसके इरादे को देखता हूँ । (ऐसा कह कर एकान्त में खड़ा हो जाता है ।)

बाले बाले वसन्तसेने ! एहि ।]

विटः—अये, कामी संवृत्तः । हन्त, निर्वृतोऽस्मि, गच्छामि । (इति निष्क्रान्तः)

शकारः—

शुवण्णअं देमि पिअं वदेमि पडेमि शिशेण शवेश्टणेण।
तधा वि मं णेच्छशि शुद्धदंति ! किं शेवअं कश्टमआ मणुश्शा ॥ ३१ ॥

[सुवर्णकं ददामि प्रियं वदामि पतामि शीर्षेण सवेष्टनेन ।
तथापि मां नेच्छसि शुद्धदन्ति ! किं सेवकं कष्टमया मनुष्याः ॥]

अर्थः–शकार —अच्छा, (अब) मारूँगा । अथवा धूर्तों में अगुआ यह ब्राह्मण बूढ़ा सियार कहीं अपने आप को छिपा कर (यहाँ से) जाकर सियार सा बन कर कपट करता हो ? । तो इस (विट) को ठगने के लिए ऐसा करता हूँ । (फूल तोड़ता हुआ अपने आपको सजाता है) बालें ! बाले ! वसन्तसेने ! आओ ।

विट—अरे, यह तो कामी बन गया । अहा ! अब निश्चिन्त हो गया । जाता हूँ । (ऐसा कह कर निकल जाता है)

टीका—पटान्ते = वस्त्राञ्चले । न्यासः = उपनिधिः ('पुमानुपनिधिर्न्यासः' इत्यमरः) । न्यासेनः = निक्षेपभावेन । यद्धनं पुनर्ग्रहणाय दीयते तदुपनिधिः = न्यासः कथ्यते । नॄन् = जनान् शंसति = हन्तीति विग्रहे 'कर्मण्यण्' इत्यणि नृशंसः = हननशीलः, क्रूरः इत्यर्थः, ('नृशंस घातुकः क्रूरः पापः' इत्यमरः) । अपवारितम् = आच्छादितम्, वृक्षादिभिः इति शेषः; शरीरम् = देहः येन यस्य वा असौ । चिकीर्षितम् = अभिलषितम् । कपटेन = वञ्चनया चरतीति कापटिकः कपटेषु = वञ्चनेषु, लक्षणया वञ्चकेषु कापटिकः = वञ्चकः, वञ्चकाग्रणीरित्यर्थः । वञ्चनायाः = प्रतारणायाः निमित्तम् = हेतुम्, प्रतारणार्थमित्यर्थः । भूयान् कामोऽस्यास्तीति कामी = कामयुक्तः; कामी कामिन्याः चाटुशतानि करोनि, न तु हन्तोति भावः । संवृत्तः = सञ्जातः । निर्वृतः = सुखी, चिन्तारहितः इति यावत् ॥

सुवर्णकमिति—

अन्वयः—(अहम्, तुभ्यम्), सुवर्णकम्, ददामि; प्रियम्, वदामि, सवेष्टनेन, शीर्षेण, पतामि; तथापि, हे शुद्धदन्ति ! माम्, सेवकम्, किम्, न, इच्छासि ? (सत्यम्) मनुष्याः, कष्टमयाः, (भवन्ति) ॥ ३१ ॥

शब्दार्थः—(अहम् = मैं, तुभ्यम् = तुमको), सुवर्णकम् = सोना, ददामि = देता हूँ, प्रियम् = मीठी बात, वदामि = कहता हूँ; सवेष्टनेन = पगड़ी सहित, शीर्षेण = शिर

वसन्तसेना—को एत्थ संदेहो ?। (अवनतमुखी 'खलचरित' इत्यादिश्लोकद्वयं पठति)।

खलचरित निकृष्ट ! जातदोषः
कथमिह मां परिलोभसे धनेन ? ।
सुचरितचरितं विशुद्धदेहं
न हि कमलं मधुपाः परित्यजन्ति ॥ ३२ ॥

से, पतामि = गिरता हूँ, तथापि = तो भी, हे शुद्धदन्ति = हे चमकीले दाँतों वाली ! माम् = मुझ, सेवकम् = सेवक को किम् = क्यों, न = नहीं, इच्छसि = चाहती हो ? (सत्यम् = सच है), मनुष्याः = मनुष्य, कष्टमयाः = निर्दय, (भवन्ति = होते हैं) ॥

अर्थः—शकार—मैं तुम्हें सोना देता हूँ। मीठी बात कहता हूँ। पगडी बधे हुए शिर से (तुम्हारे पैरों पर) गिरता हूँ, तो भी हे चमकीले दाँतों वाली ! मुझ सेवक को क्यों नहीं चाहती हो ? (सच है) मनुष्य बड़े निर्दय होते हैं ॥ ३१ ॥

टीका—अहम्, तुभ्यम्, सुवर्णम् एव सुवर्णकम् = सुवर्णदशसाहस्रिकम् अलङ्कारम् इत्यर्थः; चतुर्थे अङ्के अस्य वर्णनमायाति; ददामि = समर्पयामि। प्रियम् = चाटुकारि वचनम्; प्रथमाङ्केऽस्य निर्देशः; वदामि कथयामि। वेष्टनेन = उष्णीषेण सहितं सवेष्टनम् = सोष्णीषं तेन; शीर्षेण = शिरसा; पतामि = प्रणमामि, तव चरणयोरिति शेषः। तथापि एतेषां कार्याणां सम्पादनेऽपि; हे शुद्धदन्ति = हे शुभ्रदशने ! माम् = तवानुनयपरमित्यर्थः; सेवकम् = परिजनम्; किम् = कथम्; नेच्छसि = न वाञ्छसि ? अहं सर्वदा तवानुनये कृतयत्नः एवास्मि। परञ्च न ज्ञायते कस्मात्त्वं मां न कामयसे ? सत्यम्, मनुष्याः = मानवाः; कष्टमयाः = क्लेशमयाः, निर्दयाः इति भावः; अथवा कृच्छ्रेणानुनेयाः भवन्तीति शेषः ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार एवं उपजाति छन्द है।

छन्द का लक्षण—

(स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ॥)
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥ ३१ ॥

खलचरितेति—

अन्वयः—हे खलचरित ! निकृष्ट ! (त्वम्), जातदोषः, (सन्), इह, माम्, धनेन, कथम्, परिलोभयसे ? मधुपाः, सुचरितचरितम्, विशुद्धदेहम्, कमलम्, हि, न, परित्यजन्ति ॥ ३२ ॥

यत्नेन सेवितव्यः पुरुषः कुलशीलवान् दरिद्रोऽपि।
शोभा हि पणस्त्रीणां सदृशजनसमाश्रयः कामः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थः—हे खलचरित! = हे दुष्टचरित वाले ! निकृष्ट !=अधम ! (त्वम्=तुम), जातदोषः = दोषों की खान, (सन् = होकर), इह = यहाँ, माम् = मुझको, धनेन = धन से, कथम् = क्यों, परिलोभयेस ? = लुभा रहे हो ? मधुपाः = भौंरे, सुचरित-चरितम् = सुन्दर स्वभाव वाले, विशुद्धदेहम् = निर्मल आकार वाले, कमलम् = कमल को, हि = अवश्यही, न = नहीं, परित्यजन्ति = छोड़ते हैं ॥ ३२ ॥

अर्थः-**वसन्तसेना**—इसमें क्या सन्देह है ? (नीचे की ओर मुँह किये हुए 'खलचरित' आदि दो श्लोक पढ़ती हैं)

हे दुष्ट चरितवाले अधम ! तुम अनेकों दोषों की खान होकर यहाँ मुझे धन से क्या लुभा रहे हो ? भौंरे सुन्दर स्वभाव एवं निर्मल आकार वाले कमल को नहीं छोड़ते हैं। (अर्थात् मैं तुम्हारे धन की लालच से कमल की तरह पवित्र एवं गुणी चारुदत्त को नहीं छोड़ सकती) ॥ ३२ ॥

टीका—खलस्य = दुष्टस्य चरितम् = आचरणम् इव चरितं यस्य असौ खलचरितः तत्सम्बुद्धौ हे खलचरित ! = हे दुष्टाचरण ! निकृष्ट ! =हे अधम ! त्वं जातः = उत्पन्नः दोषः = पापम् यस्य तादृशः; अथवा जाते = जनने दोषः = कलङ्कः यस्य तादृशः, वर्ण संकरः इत्यर्थः; तथाभूतः सन्नपि; इह = अत्र; प्रणयविषये वा; माम् = विपुलवैभवसम्पन्नां वसन्तसेनामित्यर्थः; धनेन = तुच्छेन अर्थेन; कथम् = किमर्थम्, परिलोभयसे ? = प्रलोभयसे ? मधुपाः = भ्रमराः, अर्थतः भ्रमर्यश्चापि गृह्यन्ते; सुचरितम् = सुन्दरम्, जनमनोहारकमित्यर्थः, चरितम् = स्वभावः, आह्लादकत्वादि यस्य तथोक्तम्; [पुरुषमिति ध्वनिः, तत्पक्षे—सुचरितमिव चरितं यस्य तम्] विशुद्धः = निर्मलः देहः = आकृतिः यस्य तादृशम् (पुरुषपक्षे तु भव्याकृतिम्), हि = निश्चितम्; न = नहि; परित्यजन्ति त्यक्त्वा अन्यत्र गच्छन्ति। यथा कमलैः सह भ्रमराणाम् अनिर्वचनीयः कश्चित् सम्बन्धविशेषः वर्तते। अतस्ते तानि परित्यज्य अन्यत्र न व्रजन्ति। तथैव चारुदत्तेन सह मदीयः कश्चिज्जन्मान्तरसम्बन्धः। अतः चरित्रवन्तं सुन्दरं तं परित्यज्य कुरूपस्य जारजस्य तव समीपे न आगमिष्यामीति भावः ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—निकृष्टः = नीच, अधम, कमीना; नि + √कृष + क्त।

इस श्लोक में अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार एवं पुष्पिताग्रा छन्द है।

छन्द का लक्षण—

अयुजि नयुगरेफतो यकारो, युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ॥ ३२ ॥

अवि अ; सहआरपादवं सेविअ ण पलासपादवं अंगीकरिस्सं। [कोऽत्र संदेहः ? अपि च, सहकारपादपं सेवित्वा न पलाशपादपमङ्गीकरिष्यामि।]

शकारः—दाशीए धीए ! दलिद्दचालुदत्तके शहआलपादवे कडे, हग्गे उण पलाशे भणिदे, किंशुके वि ण कडे। एव्वं तुमं मे गालि देंती अज्ज वि तं ज्जेव चालुदत्तकं शुम-

---

यत्नेनेति—

अन्वयः—कुलशीलवान्, पुरुषः, दरिद्रः, अपि, यत्नेन, सेवितव्यः; हि, सदृशजनसमाश्रयः, कामः, पणस्त्रीणाम्, शोभा (अस्ति) ॥ ३३ ॥

शब्दार्थः—कुलशीलवान् = सुन्दर कुल एवं स्वभाववाला, पुरुषः = पुरुष, दरिद्रः = निर्धन, अपि = भी, सेवितव्यः = सेवा किये जाने के योग्य, सेवनीय, होता है, हि = क्योंकि, सदृशजनसमाश्रयः = अपने योग्य आदमी के साथ किया गया, कामः = प्रेम-व्यवहार, पणस्त्रीणाम् = वेश्याओं की, शोभा = शोभा, प्रशंसनीय बात, (अस्ति = है) ।

अर्थः— यदि सुन्दर कुल एवं स्वभाववाला पुरुष निर्धन हो तो भी यत्नपूर्वक उसकी सेवा करनी चाहिये। (अर्थात् उसके साथ विहार करना चाहिये)। क्योंकि अपने योग्य आदमी के साथ किया गया प्रेम व्यवहार वेश्याओं की शोभा है ॥३३॥

टीका—कुलशीलवान् = सद्वंशप्रशस्तस्वभावयुक्तः, वन्दनीयकुलवान् प्रशंसनीयस्वभावश्चेत्यर्थः; पुरुषः = नरः; दरिद्रः = अतिनिर्धनः अपि; यत्नेन = प्रयत्नेन, न तु हठात् झटिति वेति भावः; सेवितव्यः = सेवनार्हः; अस्ति। हठात् झटिति वा सेवने निर्धनः लज्जया दूरे स्थातुमिच्छति। अस्य निदर्शनन्तु स्वयं वसन्तसेनया प्रस्तुतं चारुदत्तेन सह। हि = यतः; सदृशजनः = अनुरूपजनः समाश्रयः = अवलम्बनम्, विषय इति यावत् यस्य तादृशः; कामः = मदनः; कामक्रीडेति भावार्थः; पणस्त्रीणाम्—पणेन = मूल्येन लभ्याः स्त्रियः = रमण्यः पणस्त्रियः तासाम्; शोभा = आभूषणम्; प्रशंसनीयं वस्तु इत्यर्थः। अतः धनविरहितः अपि प्रशस्तकुलाचारसम्पन्नः चारुदत्तः मम प्रेमभाजनं भवितुमर्हति, कुलादिभ्रष्टः धनाढ्यः अपि त्वं नेति भावः ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—सेवितव्य = सेवा किये जाने के योग्य, सेवनीय; √सेव + तव्य + सु ॥
इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार एवं आर्या छन्द है।
छन्द का लक्षण—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ ३३ ॥

शब्दार्थः—सहकारपादपम् = आम के पेड़ को, सेवित्वा=सेवित करके, पलाश-

लेशि ? [दास्याः पुत्रि ! दरिद्रचारुदत्तकः सहकारपादपः कृतः, अहं पुनः पलाशो भणितः, किंशुकोऽपि न कृतः । एवं त्वं मह्यं गालीं ददत्यद्यापि तमेव चारुदत्तकं स्मरसि ? ।]

वसन्तसेना—हिअअगदो ज्जेव्व किंत्ति न सुमरीअदि ? । [हृदयगत एव किमिति न स्मर्यते ? ।]

शकारः—अज्ज वि दे हिअअगदं तुमं च शमं ज्जेव मोडेमि । ता दलिद्दशत्थवाह-अमणुश्शकामुकिणि ! चिश्ट चिश्ट । [अद्यापि ते हृदयगतं त्वां च सममेव मोटयामि । तद्दरिद्रसार्थवाहकमनुष्यकामुकिनि ! तिष्ठ तिष्ठ ।]

वसन्तसेना—भण भण, पुणो वि भण सलाहणिआइं एदाइं अक्खराइं । [भण भण, पुनरपि भण श्लाघनीयान्येतान्यक्षराणि ।]

पादपम् = पलाश के वृक्ष को, न = नहीं, अङ्गीकरिष्यामि = स्वीकार करूँगी । किंशुकः = फलाश का फूल । गालीम् = गाली को । हृदयगतः = हृदय में मौजूद । मोटयामि = मरोड़ डालता हूँ । श्लाघनीयानि = प्रशंसा करने लायक, एतानि = ये, अक्षराणि = अक्षर ॥

अर्थः-और भी—

आम के पेड़ का सेवन करके पलाश के वृक्ष को स्वीकार नही करूँगी (अर्थात् आम के पेड़ के समान सुन्दर चारुदत्त को छोड़ कर पलाश के समान फजूल तुम्हारे साथ प्रेम व्यवहार न करूँगी ?

शकार—दासी की लड़की ! दरिद्र चारुदत्त को आम का पेड़ बना दिया और मुझे पलाश कहा ? पलाश का फूल भी नहीं बनाया । इस तरह मुझे गाली देती हुई आज भी उसी चारुदत्त की याद कर रही हो ? ।

वसन्तसेना—वह (हमारे) हृदय में मौजूद ही हैं, फिर उनकी याद क्यों न की जाती ?

शकार—आज ही तुझे और तेरे हृदय में स्थित उस (चारुदत्त) को एक साथ ही मरोड़ डालता हूँ । तो दरिद्र मनुष्य सार्थवाह (चारुदत्त) को चाहने वाली ! ठहर, ठहर ।

वसन्तसेना—कहो, कहो, फिर भी कहो, ये अक्षर प्रशंसा करने लायक हैं ।

टीका—सहकारपादपम् = सर्वविधोपकारिणमाम्रवृक्षम्, (आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽति सौरभः' इत्यमरः); सेवित्वा = उपास्य; पलाशपादपम् = गन्धादिविरहितं किंशुकपादपम्; न अङ्गीकरिष्यामि = न स्वीकरिष्यामि । सर्वथा स्पृहणीयं सहकार-पादपमिव सर्वजनवन्दनीयं चारुदत्तं त्यक्त्वा निर्गुणं पलाशमिव पलम् = मांसम् अश्नातीति

शकारः—पलित्ताअदु दाशीए पुत्ते दलिद्दचालुदत्तके तुमं। [परित्रायतां दास्याः पुत्रो दरिद्रचारुदत्तकस्त्वाम्।]

वसन्तसेना—परित्ताअदि जदि मं पेक्खदि। [परित्रायते यदि मां प्रेक्षते।]

शकारः

किं शे शक्के वालिपुत्ते महिंदे लंभापुत्ते कालणेमी शुबंधू।
लुद्दे लाआ दोणपुत्ते जडाऊ चाणक्के वा धुंधुमाले तिशंकू॥ ३४॥

अधवा, एदे वि दे ण लक्खंति।

चाणक्केण जधा शीदा मालिदा भालदे जुए।
एव्वं दे मोडइश्यामि जडाऊ विअ दोव्वदिं॥ ३५॥

(इति ताडयितुमुद्यतः)

[किं स शक्रो वालिपुत्रो महेन्द्रो रम्भापुत्रः कालनेमिः सुबन्धुः।
रुद्रो राजा द्रोणपुत्रो जटायुश्चाणक्यो वा धुन्धुमारस्त्रिशङ्कुः॥]

पलाशस्तं पलाशं त्वां नाङ्गीकरिष्यामीत्यर्थः। किंशुकः = पलाशपुष्पम् इत्यर्थः। गालीम् = अपशब्दम्। हृदये = चेतसि गतः = वर्तमानः; हृदयस्थित इत्यर्थः। मोटयामि = चूर्णयामि। श्लाघनीयानि = प्रशंसायोग्यानि, एतानि = 'दरिद्रसार्थवाहकमनुष्यकामुकिनि!' एवं रूपाणि त्वया कथितानि; अक्षराणि = वर्णाः, ('वर्णो द्विजादि-शुक्लादि यशोगुणकथासु च। स्तुतौ ना न स्त्रियां भेदरूपाक्षरविलेपने॥ इति मेदिनी)। चारुदत्तेन सह सम्बन्धवाचकं वाक्यमतिप्रशस्तमेवेति भावः॥

अर्थः—शकार—(लो अब) दासी का बच्चा दरिद्र चारुदत्त तुम्हारी रक्षा कर ले।

वसन्तसेना—यदि मुझे देखते (तो अवश्य) बचाते।

किं स इति—

अन्वयः—सः, किम्, शक्रः; वालिपुत्रः, महेन्द्रः? रम्भापुत्रः, कालनेमिः, सुबन्धुः? राजा, रुद्रः? द्रोणपुत्रः, जटायुः? चाणक्यः? धुन्धुमारः, वा, त्रिशङ्कुः, (अस्ति)?॥ ३४॥

शब्दार्थः—सः = वह, किम् = क्या, शक्रः = इन्द्र (है)? बालि का पुत्र महेन्द्र (है)? रम्भा का पुत्र कालनेमि, सुबन्धुः = सुबन्धु (है)? राजा = राजा, रुद्रः = रुद्र (शिव) (है)? द्रोणपुत्रः = दोण का पुत्र, जटायुः = जटायु (है)? चाणक्यः = चाणक्य, धुन्धुमारः = धुन्धुमार, वा = अथवा, त्रिशङ्कुः = त्रिशङ्कु (है)?

अर्थः—शकार—वह (चारुदत्त) क्या इन्द्र है? बलि का पुत्र महेन्द्र है? या रम्भा का

अथवा, एतेऽपि त्वां न रक्षन्ति ।

चाणक्येन यथा सीता मारिता भारते युगे ।
एवं त्वां मोटयिष्यामि जटायुरिव द्रौपदीम् ॥

पुत्र कालनेमि अथवा सुबन्धु है ? वह राजा रुद्र है अथवा द्रोण का पुत्र जटायु है ? अथवा चाणक्य है, धुन्धुमार अथवा त्रिशङ्कु है ? ॥ ३४ ॥

टीका—सः = चारुदत्तः इत्यर्थः; किं शक्रः = किम् इन्द्रः ? (किमिति पदं सर्वैः कर्तृपदैः सह अन्वेति), बालिपुत्रः = बालिसुतः; महेन्द्रः = इन्द्रः ? अत्रशक्रमहेन्द्रयोः समानार्थकत्वेऽपि मूर्खशकारोक्तत्वान्न दोषायेति ज्ञेयमिति । रम्भायाः = प्रसिद्धायाः स्वर्गस्याप्सरसः इत्यर्थः, पुत्रः = सुतः; कालनेमिः = रावणस्य मातुलः राक्षसविशेषः, सुबन्धुः = राजविशेषः, राक्षसविशेषः वा ? राजा = शासकः; रुद्रः = शिवः? द्रोणस्य = द्रोणाचार्यस्य पुत्रः = तनयः; जटायुः = गृध्रराजः ? चाणक्यः = कौटिल्यः; धुन्धुमारः = असुरविशेषः; वा = अथवा; त्रिशङ्कुः = इक्ष्वाकुवंश्यः एकः राजा; अस्तीतिशेषः । एते एव त्वां मत्तः रक्षितुं शक्नुवन्ति नेतरः कश्चित् साधारणः जनः चारुदत्तसदृशः इति भावः । अत्रशकारवाक्ये सर्वं तथ्यविरुद्धमेव ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में पुनरुक्ति एवं इतिहास विरुद्ध बाते हैं । यह मूर्ख शकार का कथन है । अतः मान्य नहीं है । यह बात आगे भी समझनी चाहिये ।

इस श्लोक में शालिनी छन्द है । पृथ्वीधर इस में शक्वरीविशेष मानते हैं ।

शालिनी छन्द का लक्षण—

मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः ॥ ३४ ॥

चाणक्येनेति—

अन्वयः—यथा, भारते, युगे, चाणक्येन, सीता, मारिता; जटायुः, द्रौपदीम् इव, एवम्, त्वाम्, मोटयिष्यामि ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—यथा = जैसे, भारते = महाभारत युगे = युग में, चाणक्येन = चाणक्य के द्वारा, सीता = जानकी, मारिता = मारी गयी थी । जटायुः = जटायु ने, द्रौपदीम् = द्रौपदी को, इव = जैसे, (खतम कर दिया था), एवम् = उसी प्रकार, त्वाम् = तुमको, मोटयिष्यामि = मारूँगा ॥

अर्थः—अथवा ये भी तुम्हारी रक्षा नहीं करते ।

जैसे भारत के युग में चाणक्य ने सीता को मारा था तथा जटायु ने द्रौपदी को (खतम कर दिया था) उसी प्रकार मैं तुझे मारूँगा ॥ ३५ ॥

वसन्तसेना—हा अत्ते ! कहिं सि ?। हा अज्जचारुदत्त ! एसो जणो असंपुण्णमणोरधो ज्जेव विवज्जदि, ता उद्धं अक्कंदइस्सं। अधवा वसंतसेणा उद्धं अक्कंददि त्ति लज्जणीअं खु एदं। णमो अज्जचारुदत्तस्स। [हा मातः ! कुत्रासि ?। हा आर्यचारुदत्त ! एष जनोऽसंपूर्णमनोरथ एव विपद्यते, तदूर्ध्वमाक्रन्दयिष्यामि। अथवा वसन्तसेनोर्ध्वमाक्रन्दतीति लज्जनीयं खल्वेतत्। नम आर्यचारुदत्ताय।]

शकारः—अज्ज वि गब्भदाशी तश्श ज्जेव पावश्श णामं गेण्हदि ?। (इति कण्ठे पीडयन्) शुमल गब्भदाशि ! शुमल। [अद्यापि गर्भदासी तस्यैव पापस्य नाम गृह्णाति ? स्मर गर्भदासि ! स्मर।]

वसन्तसेना—णमो अज्जचारुदत्तस्स। [नम आर्यचारुत्ताय।]

शकारः—मल गब्भदाशि ! मल। [म्रियतां गर्भदासि ! म्रियताम्।] (नाट्येन कण्ठे निपीडयन्मारयति)

टीका—यथा = येन प्रकारेण; भारते = द्वापरान्ते; युगे = काले; पृथ्वीधरस्तु भारते युगे भारतावच्छिन्ने समये इति व्याचख्यौ; चाणक्येन = कौटिल्येन; सीता = जानकी; मारिता = हता; तथा जटायुः = गृध्रराजः; द्रौपदीम् = पाञ्चालीमिव; यथा जटायुः द्रौपदीं जघान; एवम् = तथेत्यर्थः; त्वाम् = वसन्तसेनाम्; मोटयिष्यामि = चूर्णयिष्यामि। ऐतिह्यविरुद्धमेतत् सर्वं शकारकथनम्। तन्मौर्ख्यान्न दोषायेति ज्ञेयम् ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में हतोपमा अलङ्कार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।

छन्द का लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ३५ ॥

अर्थः-वसन्तसेना—हाय माँ कहाँ हो ? हाय आर्य चारुदत्त ! यह जन (वसन्तसेना) बिना इच्छा पूरी हुए ही मर रहा है। तो जोर-जोर से रोते हुए चिल्लाऊँगी। अथवा वसन्तसेना जोर-जोर से रोती हुई चिल्ला रही है—यह लज्जा की बात है। आर्य चारुदत्त को नमस्कार है।

शकार—अभी अब भी यह गर्भदासी (जन्म से ही दासी) उसी पापी का नाम ले रही है ? (ऐसा कह कर, गला दबाता हुआ) याद करो गर्भदासी याद करो।

वसन्तसेना—आर्य चारुदत्त को नमस्कार है।

शब्दार्थः—असम्पूर्णमनोरथः = जिसकी (चारुदत्त से मिलने को) इच्छा पूरी नहीं हुई है, ऐसा, एषः = यह (वसन्तसेना रूपी), जनः = व्यक्ति। ऊर्ध्वम् = जोर से, आक्रन्दयिष्यामि = चिल्लाऊँगी। निश्चेष्टा = चेष्टाहीन ॥

(वसन्तसेना मूर्च्छिता निश्चेष्टा पतति)

शकारः—(सहर्षम्)

एदं दोशकलंडिअं अविणअश्शावासभूदं खलं
लत्तं तश्श किलागदश्श लमणे कालागदं आअदं ।
किं एशे शमुदाहलामि णिअअं बाहूण शूलत्तणं
णीशाशे वि मलेइ अंब शुमला शीदा जधा भालदे ॥ ३६ ॥
इच्छंतं मम णेच्छति त्ति गणिआ लोशेण मे मालिदा
शुण्णे पुप्फकलंडके त्ति शहशा पाशेण उत्ताशिदा ।
शेवावंचिदभादुके मम पिदा मादेव शा दोप्पदी
जे शे पेक्खदि णेदिशं ववशिदं पुत्ताह शूलत्तणं ॥ ३७ ॥

भोदु, शंपदं वुड्ढखोडे आगमिश्शदि त्ति । ता ओशलिअ च्चिश्टामि ।

[एतां दोषकरण्डिकामविनयस्यावासभूतां खलां
रक्तां तस्य किलागतस्य रमणे कालागतामागताम् ।
किमेष समुदाहरामि निजकं बाह्वोः शूरत्वं
निःश्वासापि म्रियतेऽम्बा सुमृता सीता यथा भारते ॥

अर्थः-शकार—मरो गर्भदासी ! मरो । (अभिनय के साथ गले में दबाता हुआ मारता है) ।

टीका—असम्पूर्णः = पूर्णतां न गतः मनोरथः = अभिलाषः, चारुदत्तमिलनरूपः इति यावत्, यस्य तादृशः; एषः = वसन्तसेनारूपः, जनः = असहायव्यक्तिः । ऊर्ध्वम् = उच्चैः स्वरेण; आक्रन्दयिष्यामि = शब्दायिष्ये । निश्चेष्टा = चलनवलनादिहीना ॥

एतामिति—

अन्वयः—दोषकरण्डिकाम्, अविनयस्य, आवासभूताम्, खलाम्, रक्ताम्, आगतस्य, तस्य, रमणे, आगताम्, किल, कालागताम्, एताम्, (हत्वा), एषः, (अहम्); निजकम्, बाह्वोः, शूरत्वम्, किम्, उदाहरामि ? निःश्वासा, अपि, अम्बा, (तथैव), म्रियते, यथा, भारते, सीता, सुमृता ॥ ३६ ॥

शब्दार्थः—दोषकरण्डिकाम् = दोषों की पिटारी, अविनयस्य = उद्दण्डता का, आवासभूताम् = निवासरूप, घर, खलाम् = दुष्ट, रक्ताम् = (चारुदत्त से) प्रेम करने वाली, आगतस्य = आये हुए, तस्य = उस (चारुदत्त) के, रमणे = रमण में, आगताम् = आयी हुई, किल = निश्चय ही, कालागताम् = मृत्यु के द्वारा प्राप्त हुई,

इच्छन्तं मां नेच्छतीति गणिका रोषेण मया मारिता
शून्ये पुष्पकरण्डक इति सहसा पाशेनोत्त्रासिता ।
स वा वञ्चितो भ्राता मम पिता मातेव सा द्रौपदी
योऽसौ पश्यति नेदृशं व्यवसितं पुत्रस्य शूरत्वम् ॥

एताम् = इस (वसन्तसेना) को, (हत्वा = मार कर), एषः = यह, (अहम् = मैं); निजकम् = अपने, भुजयोः = भुजाओं के, शूरत्वम् = पराक्रम को, किम् = क्या, उदाहरामि = वर्णन करूँ ? निःश्वासा = साँस रहित, अपि = भी, अम्बा = माता (वसन्तसेना), (तथैव = उसी प्रकार), म्रियते = मर रही है, यथा = जैसे, भारते = भारत युग में, सीता = जानकी, सुमृता = भली-भाँति मर गयी थी ॥

(वसन्तसेना मूर्छित एवं निश्चेष्ट होकर गिर पड़ती है)

अर्थः–शकार—(प्रसन्नता के साथ) ।

दोषों की पिटारी, उद्दण्डता का घर, दुष्ट, (चारुदत्त) से प्रेम करनेवाली, यहाँ आये हुए उस (चारुदत्त) से रमण के लिए निश्चय ही मृत्यु के द्वारा लायी गयी इस वसन्तसेना को (मार कर) यह मैं भुजाओं के अपने पराक्रम का क्या वर्णन करूँ ? श्वास के न रहने पर भी यह माता वसन्तसेना उसी प्रकार मर रही हैं जिस प्रकार महाभारत के युग में सीता भली-भाँति मर गयी थी ॥ ३६ ॥

टीका—दोषाणाम् = पापानां दुष्टव्यवहाराणां वा करण्डिकाम् = पेटिकाम्; दोषपूर्णामित्यर्थः; अविनयस्य = औद्धत्यस्य, मादृशमान्यजनास्वीकाररूपस्य इत्यर्थः; आवासभूताम् = निवासस्थानरूपाम्; खलाम् = दुष्टाम्; रक्ताम् = अनुरागपूर्णाम्, चारुदत्ते इति शेषः; आगतस्य = पूर्वसङ्केतेन उपस्थितस्य; जीर्णोद्याने इति शेषः; तस्य = चारुदत्तस्य इत्यर्थः; रमणे = सम्भोगे, रमणार्थमिति यावत्; आगताम् = प्राप्ताम्; किल = निश्चितम्; कालेन = मृत्युना; आगताम् = सञ्चाल्य आनीतामित्यर्थः; एताम् = वसन्तसेनाम्; हत्वा इति शेषः; एषः = वीरकर्मणि संलग्नः; अहम्; निजकम् = स्वकीयम्; बाह्वोः = भुजयोः; शूरत्वम् = वीरत्वम्; किमुदाहरामि = किं वर्णयामि ? मम भुजयोः शूरत्वं वर्णनातीतमित्यर्थः । निःश्वासा = प्राणवायुरहिता; अपि; अम्बा = माता, वसन्तसेना इत्यर्थः; तथैव म्रियते = गतप्राणा भवति; यथा = येन प्रकारेण; भारते = भारते युगे; सीता = जानकी; सुमृता = सुष्ठु मृता । पूर्वं वसन्तसेनासकाशात् रतिं प्रार्थयतः शकारस्य पुनः तस्यै 'अम्बा' इति कथनं हास्यास्पदमवगन्तव्यम् ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है । लक्षण—

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ३६ ॥

इच्छन्तमिति—

अन्वयः—इच्छन्तम्, माम्, गणिका, न, इच्छति, इति, रोषेण, मया, शून्ये, पुष्पकरण्डके, सहसा, पाशेन, उत्त्रासिता, मारिता, च, सः, मम, भ्राता, वा, पिता, वञ्चितः, द्रौपदी, इव, सा, माता, च, (वञ्चिता), यः, असौ, पुत्रस्य, ईदृशम्, शूरत्वम्, व्यवसितम्, च, न, पश्यति ॥ ३७ ॥

शब्दार्थः—इच्छन्तम् = चाहनेवाले, माम् = मुझको, गणिका = वेश्या (वसन्तसेना), न = नहीं, इच्छति = चाहती है; इति = इसी, रोषेण = क्रोध से, मया = मेरे द्वारा, शून्ये = निर्जन, पुष्पकरण्डके = पुष्पकरण्डक नामक उद्यान में, सहसा = एकाएक अथवा जबर्दस्ती, पाशेन = (बाहु) पाश से, उत्त्रासिता = भयभीत की गयी, और मारिता = मारीगयी। सः = वह, मम = मेरा, भ्राता = भाई, वा = और, पिता = पिता, वञ्चितः = वञ्चित (रह गया), द्रौपदीव = द्रौपदी के समान, सा = वह, माता = माता, जननी, च = भी, (वञ्चिता = वञ्चित रह गयी); यः = जो, असौ = यह, पुत्रस्य = लड़के की, ईदृशम् = ऐसी, शूरत्वम् = शूरता को, व्यवसितञ्च = कार्य को भी, न = नहीं, पश्यति = देख रही है ॥

अर्थः—'चाहनेवाले मुझको यह वेश्या नहीं चाहती है।'—इसी क्रोध से मैंने इस निर्जन पुष्पकरण्डक नामक बगीचे में बाहुरूपी पाश से गला घोंटकर उसको मार डाला।

वह मेरा भाई, मेरा पिता एवं द्रौपदी के समान मेरी माता वञ्चित रह गयी, जिसने अपने पुत्र के इस प्रकार वीरता पूर्ण कार्य को नहीं देखा ॥ ३७ ॥

टीका—इच्छन्तम् = अभिलषन्तम्, सम्भोगार्थमिति भावः; माम् = शकारम्, प्रभुतासम्पन्नं राजश्यालकम्; गणः = समूहः अस्ति अस्याः गणिका, गणयतीति वा गणिका = वारस्त्री, ('वारस्त्री गणिका वेश्या रूपाजीवा' इत्यमरः) नेच्छति = न स्वीकरोति इत्यर्थः; इति रोषेण = कोपेन; हेतुना; मया = शकारेण; शून्ये = निर्जने; पुष्पकरण्डके = पुष्पकरण्डनामके उद्याने; सहसा = झटिति, बलेन वा; पाशेन = रज्जुरूपेण बाहुना इत्यर्थः; उत्त्रासिता = त्रासं प्रापिता, भृशं पीडिता वा; प्रथममिति शेषः; ततः मारिता = नाशिता च। सः मम = मे; भ्राता = सहोदरः, वा = तथा; पिता = जनकः; वञ्चितः = प्रतारितः; द्रौपदीव = द्रुपदपुत्रीव; सतीत्वसूचनार्थं सीतेवेति वक्तव्ये मौर्ख्यात् पञ्चभर्तृकाद्रौपदीव कथनं हास्यास्पदमेव। सा = असतीत्वकर्मणा विख्याता; माता = जननी च; वञ्चितेति लिङ्गविपरिणामेन बोध्यम् ? यः असौ = यः असौ भ्राता, पिता च; तथा या असौ = जननी च; पुत्रस्य = मम शकारस्येत्यर्थः; ईदृशम् = अश्रुतपूर्वम्; शूरत्वम् = वीरत्वम्; व्यवसितम् = उद्योगञ्च; न पश्यति =

भवतु, सांप्रतं वृद्धश्रृगाल आगमिष्यतीति । ततोऽपसृत्य तिष्ठामि ।]

(तथा करोति)

(प्रविश्य, चेटेन सह)

विटः—अनुनीतो मया स्थावरकश्चेटः । तद्यावत्काणेलीमातरं पश्यामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) अये, मार्ग एव पादपो निपतितः । अनेन च पतता स्त्री व्यापादिता । भोः पाप ! किमिदमकार्यमनुष्ठितं त्वया ? । तवापि पापिनः पतनात्स्त्रीवधदर्शनेनातीव पातिता वयम् । अनिमित्तमेतत्, यत्सत्यं वसन्तसेनां प्रति शङ्कितं मे मनः । सर्वथा देवताः स्वस्ति करिष्यन्ति । (शकारमुपसृत्य) काणेलीमातः ! एवं मयानुनीतः स्थावरकश्चेटः ।

नावलोकयति । यदि मम जननीजनकादयश्च स्त्रीमारणरूपं महत् मम शूरत्वं पश्येयुः तर्हि परां प्रसन्नतां गच्छेयुरिति भावः ॥ ३७ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ३७ ॥

अर्थः-अच्छा, अब वह बूढ़ा सियार (विट) आ जायेगा, इसलिए इससे हट कर खड़ा होता हूँ ।

[वैसा ही करता है]

शब्दार्थः—अनुनीतः = मना लिया गया, सन्तुष्ट कर लिया गया । काणेलीमातरम् = पुंश्चली के बच्चे को; अर्थात् शकार को । मार्गे = रास्ते में, एव = ही, पादपः = पेड़, निपतितः = गिरा हुआ है । पतता = गिरते हुए, अनेन = इसके द्वारा । स्त्री = स्त्री, व्यापादिता = मार डाली गयी । भोः पाप ! = अरे पाप ! अकार्यम् = अनुचित कार्य, अनुष्ठितम् = किया गया । पातिताः = पतित बनाये गये । अनिमित्तम् = अपशकुन । स्वस्ति = कल्याण । उपसृत्य = पास जा कर । न्यासम् = धरोहर को । सवितर्कम् = सोच विचार के साथ । आकुलम् = घबराहट के साथ । शुद्ध्यति = शुद्ध हो रहा है, विश्वास कर रहा हूँ । संस्थापय = स्थिर करो । व्यापादिता = मार डाली गयी ? प्रत्ययसे = विश्वास करते हो । उपरतः = मर गया ॥

(चेट के साथ प्रवेश करके)

अर्थः-विट—मैंने स्थावरक चेट को मना लिया है । तो अब पुंश्चली के बच्चे (शकार) को देखता हूँ । (घूमकर और देखकर) अरे ! रास्ते में ही पेड़ गिरा हुआ है । और गिरते हुए इसने स्त्री मार डाली । अरे पाप ! तूँने यह कैसा कुकर्म कर डाला ? तुझ पापी के गिरने के कारण होने वाले स्त्री-वध के देखने से हम लोग भी अत्यन्त पतित हो

शकारः—भावे ! शाअदं दे । पुश्तका थावलका चेडा ! तवावि शाअदं । [भाव ! स्वागतं ते । पुत्रक स्थावरक चेट ! तवापि स्वागतम् ।]

चेटः—अध इं । [अथ किम् ।]

विटः—मदीयं न्यासमुपनय ।

शकारः—कीदिशे णाशे ? [कीदृशो न्यासः ? ।]

विटः—वसन्तसेना ।

शकारः—गडा । [गता ।]

विटः—क्व ? ।

शकारः—भावश्श ज्जेव पिश्टदो । [भावस्यैव पृष्ठतः ।]

विटः—(सवितर्कम्) न गता खलु सा तया दिशा ।

शकारः—तुमं कदमाए दिशाए गडे ? । [त्वं कतमया दिशा गतः ? ।]

विटः—पूर्वया दिशा ।

शकारः—शा वि दक्खिणाए गडा । [सापि दक्षिणया गता ।]

गये । यह अपशकुन है । अतः सचमुच ही वसन्तसेना के लिए मेरा मन शङ्कित हो गया है । देवता सब प्रकार से कल्याण करेंगे । (शकार के पास जाकर) पुंश्चली के पुत्र ! अच्छा मैंने स्थावरक चेट को मना लिया है ।

शकार—श्रीमान् जी ! आपका स्वागत है । बेटा स्थावरक चेट ! तुम्हारा भी स्वागत है ।

चेट—बहुत अच्छा ।

विट—मेरी धरोहर लौटाओ ।

शकार—कैसी धरोहर ?

विट—वसन्तसेना ।

शकार—गयी ।

विट—कहाँ ?

शकार—आप के ही पीछे ।

विट—(सोच-विचार के साथ) वह उस दिशा से तो गयो नहीं ।

शकार—तुम किस दिशा से गये थे ?

विट—पूर्व दिशा से ।

शकार—वह भी दक्खिन दिशा से गयी ।

विटः—अहं दक्षिणया।

शकारः—शा वि उत्तलाए। [साप्युत्तरया।]

विटः—अत्याकुलं कथयसि, न शुद्धयति मेऽन्तरात्मा; तत्कथय सत्यम्।

शकारः—शवामि भावश्श शोशं अत्तणकेलकेहिं पादेहिं। ता शंठावेहि हिअअं। एशा मए मालिदा। [शपे भावस्य शीर्षमात्मीयाभ्यां पादाभ्याम्, ततः संस्थापय हृदयम्। एषा मया मारिता।]

विटः—(सविषादम्) सत्यं त्वया व्यापादिता ?।

शकारः—जइ मम वअणे न पत्तिआअशि, ता पेक्ख पढमं लश्टिअशालशंठाणाह शूलत्तणं। [यदि मम वचने न प्रत्ययसे, तत्पश्य प्रथमं राष्ट्रियश्यालसंस्थानस्य शूरत्वम्।] (इति दर्शयति)

विटः—हा, हतोऽस्मि मन्दभाग्यः। (इति मूर्च्छितः पतति)

शकारः—ही ही, उवलदे भावे। [ही ही, उपरतो भावः।]

विट—मैं दक्खिन दिशा से गया था।

शकार—वह भो उत्तर दिशा से (गयी)।

विट—बड़ी घबड़ाहठ के साथ कह रहे हो। मेरा आतमा विश्वास नहीं कर रहा है। तो सच-सच कहो।

शकार—मैं अपने पैरों से आपके शिर की शपथ खाता हूँ। तो हृदय को स्थिर करो। उसे मैंने मार दिया।

विट—[खेद के साथ] सचमुच तुमने मार दिया ?

शकार—यदि मेरी बात में विश्वास नहीं करते हो तो सबसे पहले राजा के साले संस्थानक की वीरता देखो। (दिखलाता है)

विट—हाय ! मन्दभाग्यवाला मैं मारा गया। (ऐसा कहकर मूर्च्छित होकर गिरता है)

शकार—अहो ! भाव मर गया।

टीका—अनुनीतः = सन्तुष्टःकृतः। काणेली = कुमारी माता = जननी यस्य असौ तम्, शकारमित्यर्थः। मार्गे = पथि; एव; पादपः = वृक्षः; निपतितः = पतितः। पतता = निपतता; अनेन = पादपेन; स्त्री = वनिता; व्यापादिता = मारिता। प्रथमं तु पादपस्य पतनमेव अशुभसूचकम्; ततः तेन स्त्रीमारणं तु प्रबलमनिमित्तम्। अस्मादेव वसन्तसेनां प्रति विटस्य मनः शङ्कितं भवति। भोः पाप ! = रे नीच ! पाप इति वृक्षं सम्बोधयति। अकार्यम् = पापम्; अनुष्ठितम् = सम्पादितम्। पातिताः = पतिताः

चेटः—शमश्शशदु शमश्शशदु भावे। अविचालिअं पवहणं आणंतेण ज्जेव मए मढमं मालिदा। [समाश्वसितु समाश्वसितु भावः। अविचारितं प्रवहणमानयतैव मया प्रथमं मारिता।]

विटः—(समाश्वस्य, सकरुणम्) हा वसन्तसेने !

दाक्षिण्योदकवाहिनी विगलिता याता स्वदेशं रति-
हा हालंकृतभूषणे सुवदने क्रीडारसोद्भासिनि !।
हा सौजन्यनदि प्रहासपुलिने हा मादृशामाश्रये !
हा हा नश्यति मन्मथस्य विपणिः सौभाग्यपण्याकरः ।। ३८ ।।

कृताः; पापकर्मणः अवलोकनेनापि जनाः पापभागिनः जायन्ते। अनिमित्तम् = अपशकुनम्। स्वस्ति = कल्याणम्। उपसृत्य = समीपं गत्वा। न्यासम् = निक्षेपम्; सवितर्कम् = सविचारम्। आकुलम् = व्याकुलम्, अस्वस्थमित्यर्थः असम्बद्धं वा। शुद्धयति = विश्वसिति, संशयशून्यः भवतीति यावत्। संस्थापय = स्थिरं कुरु, अन्यथा तद्वधं श्रुत्वा तव हृदयगतिरवरुद्धा भविष्यतीति भावः। व्यापादिता = मारिता ? प्रत्ययसे = विश्वसिसि। उपरतः = मृतः ।।

टिप्पणी—तेज हवा के कारण वृक्ष गिरा। वृक्ष के नीचे खड़ी स्त्री दब कर मर गयी। सातवें अङ्क में, चारुदत्त के मुकदमे के प्रसंग में न्यायाधीश वीरक को जीर्णोद्यान में यह देखने के लिये भेजता हैं कि 'वहा कोई मरी स्त्री की लाश है या नहीं'। वीरक इसी स्त्री-शव को देखकर कहता है कि "वहाँ जङ्गली जानवरों के द्वारा खाये जाते हुए स्त्री के शरीर को मैंने देखा है।" इससे यह विश्वास हो जायगा कि चारुदत्त ने वसन्तसेना का वध किया है ।।

अर्थः—चेट—आप धीरज रखिये, धीरज रखिये। बिना बिचारे गाड़ी को लाते हुए मैंने ही उसे पहले मार दिया था।

दाक्षिण्योदकवाहिनीति—

अन्वयः—दाक्षिण्योदकवाहिनी, विगलिता; रतिः, स्वदेशम्, याता; हा ! हा ! अलङ्कृतभूषणे ! सुवदने ! क्रीडारसोद्भासिनि ! हा प्रहासपुलिने ! सौजन्यनदि ! हा ! मादृशाम्, आश्रये ! हा ! हा ! मन्मथस्य, विपणिः, सौभाग्यपण्याकरः, नश्यति ।। ३८ ।।

शब्दार्थः—दाक्षिण्योदकवाहिनी = उदारता रूपी जल की नदी, विगलिता = नष्ट हो गयी। रतिः = (कामदेव की स्त्री) रति, स्वदेशम् = अपने देश (स्वर्ग) को, याता = चली गयी। हा ! हा ! अलङ्कृतभूषणे ! = हा ! आभूषणों को सुशोभित

करने वाली ! सुवदने = सुन्दर मुँहवाली ! क्रीडारसोद्भासिनि ! = (काम --) क्रीडा को सुशोभित करने वाली ! हा प्रहासपुलिने ! = हा ! हासपरिहास रूपी बालुकामय किनारों वाली ! सौजन्यनदि = सुजनता की नदी ! हा ! = हा, मादृशाम् = हम जैसे लोगों की, आश्रये ! = आश्रय, सहारा ! हा ! हा ! मन्मथस्य = कामदेव की, विपणिः = बाजार, सौभाग्यपण्याकरः = सुन्दरता रूपी बेचोजाने वाली चीजों की खान; नश्यति = नष्ट हो गयी ।।

अर्थः-विट—(धीरज धारण करके करुणा पूर्वक) हाय वसन्तसेना !

उदारता रूपी जल की नदी नष्ट हो गयी, (काम देव की स्त्री) रति अपने देश (स्वर्ग) को चली गयी। हा ! आभूषणों को सुशोभित करने वाली ! सुन्दर मुँहवाली ! (काम) क्रीडा के आनन्द को प्रकाशित करने वाली ! हा ! हास-परिहास रूपी बालुकामय किनारों वाली ! सुजनता की नदी ! हा ! हम जैसे लोगों को आश्रय देने वाली ! हाय ! कामदेव की बाजार (हाट), सुन्दरता रूपी बेची जाने वाली चीजों की खान (निधि) नष्ट हो गयी ।। ३८ ।।

टीकाः—हा हेति खेदसूचकमव्ययं सर्वत्र योजनीयम् । दाक्षिण्यम् = औदार्यम् एव उदकम् = जलम् तस्य वाहिनी = नदी; विगलिता = विनष्टा शुष्केतियावत् । रतिः = कामस्य स्त्री; स्वदेशम् = स्वनिवासस्थानम्; स्वर्गमिति यावत्; याता = गता । वसन्तसेना मनुष्यस्त्रीदेहधारिणी साक्षात् रतिः आसीत् । अस्माकमधन्यतया सा सम्प्रति भूलोकात् स्वलोकं स्वर्गं प्रयातेति भावः । हा ! हा ! अलङ्कृतानि = सुशोभितानि भूषणानि = अलङ्करणानि यया तत्सम्बुद्धौ; हे स्वप्राकृतशौन्दर्यातिशयेन अलङ्कारविभूषणे ! इत्यर्थः । सुवदने ! = सुमुखि ! क्रीडायाम् = काम-क्रीडायाम्, सुरते इत्यर्थः; रसस्य = अपूर्वानन्दस्य; उद्भासिनि = प्रकाशिके ! सम्भोगे विविधकामव्यापारैः निरतिशयानन्ददायिनि ! इत्यर्थः । हा ! प्रकृष्टः = आह्लादकरः हासः = स्मितम् एव पुलिनम् = वालुकामयतटम् यस्याः तथाभूते ! सौजन्यस्य = सुजनतायाः नदि ! = तरङ्गिणि ! हा ! मादृशाम् = अस्मत्सदृशविटानाम्; आश्रये ! = शरणदे ! हा ! हा ! मन्मथस्य = कामस्य, विपणिः = पण्यवीथिका ('विपणिः पण्यवीथिका, इत्यमरः), क्रयविक्रयस्थलमित्यर्थः; सौभाग्यपण्याकरः—सौभाग्यम् = सौन्दर्यम्, विलासादीनामद्भुतत्वमिति वा, तदेव पण्यम् = विक्रय्यवस्तुजातम्, तस्य आकरः = खनिः, उत्पत्तिभूमिरिति भावः ।। करुणोऽत्र रसः ।।३८।।

टिप्पणी—इस श्लोक में रूपक अलङ्कार एवं शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।

छन्द का लक्षण--

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीतिम् ।। ३८ ।।

(सास्रम्) कष्टं भोः ! कष्टम्

किं नु नाम भवेत्कार्यमिदं येन त्वया कृतम् ।
अपापा पापकल्पेन नगरश्रीर्निपातिता ॥ ३९ ॥

(स्वगतम्) अये ! कदाचिदयं पाप इदमकार्य मयि संक्रामयेत् । भवतु, इतो गच्छामि । (इति परिक्रामति)

किं नु नामेति

अन्वयः--किम्, नु, नाम, कार्यम्, भवेत्; येन, त्वया, इदम्, कृतम्; पापकल्पेन, (त्वया), अपापा, नगरश्रीः, निपातिता ॥ ३८ ॥

शब्दार्थः–किम् = कौन, नु = यह प्रश्नवाचकता का द्योतक अव्यय है, नाम = यह सम्भावना के अर्थ में प्रयुक्त अव्यय है, कार्यम् = काम, भवेत् = होगा ? येन = जिसके कारण, त्वया = तुम्हारे द्वारा, इदम् = यह, कृतम् = किया गया है । पापकल्पेन = पाप के समान, (त्वया = तुम्हारे द्वारा), अपापा = पापरहित, नगरश्रीः = नगगकी लक्ष्मी अथवा शोभा, निपातिता = मार दी गयी ॥

अर्थः–(आँखों में आँसू भर कर) अरे ! कष्ट है कष्ट ।

कौन सा काम (पूरा) होगा ? जिस के कारण तूने यह (स्त्रीवध) किया है । पाप के समानतूने पापरहित, नगर की लक्ष्मी को मार दिया है ॥ ३८ ॥

टीका—किम् = कीदृशमित्यर्थः; नु = प्रश्ने अव्ययपदम्; नाम = सम्भावनायाम् अव्ययपदम्; कार्यम् = कृत्यंम्; भवेत् = पूर्ण स्यात् ? येन = कारणेन, यत्कार्यार्थमित्यर्थः; त्वया = शकारेण; इदम् = वसन्तसेनामारणरूपं कार्यम्; कृतम् = सम्पादितम्; वसन्तसेनावधेन किं नु तत्तव कार्यं यत् सस्पन्नतां यास्यति ? अर्थात् अनेन न काऽपि तव सिद्धिरिति भावः । पापकल्पेन = विग्रहधारिणा द्वितीयेन पापेनेत्यर्थः; पापसदृशेनेति यावत्; त्वया इति शेषः; अपापा = निष्पापा; दोषरहितेति भावः; नगरश्रीः = नगरलक्ष्मीः नगरशोभा वा; निपातिता = विनाशिता । वसन्तसेनावधेन त्वया न केवलमेकस्य जनस्यापकृतम्, अपितु निखिलस्य नगरस्य शोभा एव विनाशिता ॥३८॥

टिप्पणी—पापकल्पेन = पाप के समान । पापादीषदूनः पापकल्पः; पाप शब्द से 'कुछ कम' इस अर्थ में "ईपदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयर ! (पा० ५।३।६७)" से कल्पप् प्रत्यय होकर तृतीया विभक्ति ।

इस श्लोक में रूपक अलङ्कार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है । छन्द का लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थः—मयि = मेरे ऊपर, संक्रामयेत् = थोप दे, मढ़ दे । इतः = यहाँ से ।

(शकार उपगम्य धारयति)

विटः—पाप ! मा मा स्प्राक्षीः । अलं त्वया, गच्छाम्यहम् ।

शकारः—अले ! वशंतशेणिअं शअं ज्जेव मालिअ मं दूशिअ कहिं पलाअशि ? शंपदं ईदिशे हग्गे अणाधे पाविदे । [अरे ! वसन्तसेनां स्वयमेव मारयित्वा मां दूषयित्वा कुत्र पलायसे ? । सांप्रतमीदृशोऽहमनाथः प्राप्तः ।]

विटः—अपध्वतोऽसि ।

शकारः—

अत्थं शदं देमि शुवण्णअं दे
कहावणं देमि शवोडिअं दे ।
एशे दुशद्दाण फलक्कमे मे
शामाण्णए भोदु मणुश्शआणं ॥ ४० ॥

[अर्थ शतं ददामि सुवर्णकं ते कार्षापणं ददामि सवोडिकं ते ।
एष दोषस्थानं पराक्रमो मे सामान्यको भवतु मनुष्यकाणाम् ॥]

स्प्राक्षीः = छुओ । दूषयित्वा = दोषी ठहराकर । अपध्वस्तः = पतित ॥

अर्थः–(अपने आप) अरे । शायद यह पापी इस दुष्कर्म को मेरे ही ऊपर थोप दे । अच्छा, यहाँ से जाता हूँ ।

(ऐसा कह कर घूमता है)
(शकार पास में जाकर पकड़ता है)

विट—पापी ! मत छुओ । रहने दो । मैं जाता हूँ ।

शकार—अरे ! वसन्तसेना को स्वयं ही मार कर, मुझे दोषी ठहरा कर कहाँ भाग रहे हो ? अब मैं ऐसा अनाथ हो गया हूँ ।

विट—तुम पतित हो ।

टीका—मयि = विटे इत्यर्थः; संक्रामयेत् = आरोपयेत् । विटेन वसन्तसेना हतेति प्रकाशयेदित्यर्थः । इतः = अस्मात् स्थानात् । स्प्राक्षीः = स्पर्श कुरु । दूषयित्वा = दोषं दत्वा । अपध्वस्तः = पतितः, विनष्टः इति यावत् ॥

अर्थं शतमिति—

अन्वयः—(अहम्) ते, शतम्, सुवर्णकम्, अर्थम्, ददामि; ते, सवोडिकम्, कार्षापणम्, ददामि; दोषस्थानम्, मे, एष,: पराक्रमः, मनुष्याणाम्, सामान्यकः, भवतु ॥ ४० ॥

शब्दार्थः—(अहम् = मैं), ते = तुम्हें, शतम् = सौ, सुवर्णकम् = सोना भर, अर्थम् = धन को, ददामि = दूँगा। ते = तुम्हें, सवोडिकम् = कौड़ियों के साथ, कार्षापणम् = एक कार्षापण (तत्कालीन सोने का सिक्का), ददामि = दूँगा। दोषस्थानम् = अपराध का कारण, मे = मेरा, एषः = यह, पराक्रमः = पराक्रम, मनुष्याणाम् = मनुष्यों का, सामान्यकः = साधारण (कार्य), भवतु = हो जाये।

अर्थः–शकार—मैं तुम्हें सौ सोने की मोहरों को धनराशि दूँगा। मैं तुम्हें बीस कौड़िओं के साथ एक कार्षापण दूँगा। अपराध का कारण मेरा यह पराक्रम (वसन्तसेना का बध) मनुष्यों का साधारण कार्य हो जाये (अर्थात् यह दोष किसी और साधारण मनुष्य पर लगा दो) ॥ ४० ॥

टीका—अहम्, ते = तुभ्यम्; शतम् = शतसंख्याकम्, अधिकमिति यावत्; सुवर्णकम् = सुवर्णमुद्राराशिमित्यर्थः; शतसुवर्णमुद्रापरिमितमिति यावत्; अर्थम् = धनम्; ददामि = दास्यामित्यर्थः। ते = तुभ्यम्, विटाय, सवोडिकम्—वोडिकाभिः = कपर्दिकाभिः सहितं सवोडिकम् = बहुकर्पदिसमन्वितम्; पृथ्वीधरस्तु–वोडी विंशतिकपर्दकः गौडे प्रसिद्धः। तच्चतुष्टयं पणः। ते षोडश कार्षापणः कहावण इत्येके; इत्याह। अन्ये तु कहावणमङ्गरक्षादिवस्त्रम्, वेष्टिकम् = उष्णीपं कटीबन्धनमित्याहुः। वस्तुतस्तु वोडिकशब्दः अप्रसिद्धार्थकः एव। कार्षापणम् = कार्षिकम् ("कार्षापणः कार्षिकः स्यात्" इत्यमरः) पणषोडशकपरिमितां तात्कालिकीं राजमुद्रां वा ('कार्षापणोऽस्त्री कार्षिके पणषोडशकेऽपि च' इति मेदिनी), ददामि = दास्यामि; दोषस्य = अपराधस्य, पापस्य वसन्तसेनामारणरूपत्येत्यर्थः, स्थानम् = कारणमित्र्थः; मे = मम; एषः = सम्प्रत्येव अनुष्ठितः; पराक्रमः = वसन्तसेनावधरूपं शौर्यम्; मनुष्याणाम् = जनानाम्; सामान्यकः= साधारणः; भवतु = अस्तु। वसन्तसेना केनाप्यज्ञातेन जनेन मारितेति प्रसिद्धिः भवतु इति भावार्थः ॥ ४० ॥

टिप्पणी—कार्षापणम् = कर्ष + अण् = कार्षः; आ + √पण + घञ् = आपण; कार्षस्य आपणः बहु० समासः॥ काल भेद से यह भिन्न-भिन्न मूल्य एवं धातु का सिक्का था। मनु के अनुसार यह ताँबे की एक मुद्रा थी—

'कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कर्षिणः पणः'। मनु० ८।१३६॥ अमरकोश के अनुसार चाँदी का एक सिक्का। पृथ्वीधर के अनुसार एक रुपये के मूल्य का सिक्का। सवोडिकम्-पृथ्वीधर के अनुसार 'वोडि' एक सिक्का था, जिसका मूल्य २० बीस कौड़ी के बराबर होता था।

विटः—धिक्, तवैवास्तु ।
चेटः—शंतं पावं । [शान्तं पापम् ।]

(शकारो हसति)

विटः—

अप्रीतिर्भवतु विमुच्यतां हि हासो
धिक्प्रीतिं परिभवकारिकामनार्याम् ।
मा भूच्च त्वयि मम संगतं कदाचि-
दाच्छिन्नं धनुरिव निर्गुणं त्यजामि ॥ ४१ ॥

इस श्लोक में उपजाति छन्द है । छन्द का लक्षण—
(स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः । उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ।)
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥ ४० ॥

अर्थः-विट—(तुम्हें) धिक्कार है । (यह धन) तेरे ही पास रहे ।
चेट—पाप शान्त हो ।

(शकार हँसता है)

अप्रीतिरिति—

अन्वयः—हासः, विमुच्यताम्; अप्रीतिः, भवतु, हि; परिभवकारिकाम्, अनार्याम्, प्रीतिम्, धिक्; त्वयि, मम, सङ्गतम्, कदाचित्, मा भूत्, च; आच्छिन्नम्, निर्गुणम्, धनुः, इव, (त्वाम्) त्यजामि ॥ ४१ ॥

शब्दार्थः—हासः = हँसी, विमुच्यताम् = छोड़ो । अप्रीतिः = मित्रता का न होना, भवतु = हो, हि = अवश्य ही । परिभवकारिकाम् = अनादर कराने वाली, अनार्याम् = निन्दनीय, प्रीतिम् = मित्रता को, धिक् = धिक्कार (है) । त्वयि = तुममें (तुम से) मम = मेरा, सङ्गतम् = साथ, कदाचित् = कभी भी, मा भूत् = न हो । आच्छिन्नम् = टूटे हुए, निर्गुणम् = डोरी से रहित, धनुः इव = धनुष की भाँति, (त्वाम् = तुमको), त्यजामि = छोड़ रहा हूँ ।

अर्थः-विट—हँसी छोड़ो । मेरा और तुम्हारा प्रेम मत हो । अनादर (निन्दा) कराने वाली निन्दनीय इस मित्रता को धिक्कार है । मेरा एवं तुम्हारा साथ फिर कभी भी न हो । टूटे हुए तथा डोरी (प्रत्यञ्चा) से रहित धनुष की भाँति अच्छे गुणों से हीन तुम्हें छोड़ रहा हूँ ॥ ४१ ॥

टीका—हासः = हास्यम्; विमुच्यताम् = त्यज्यताम् । अप्रीतिः = अमैत्री; भवतु

शकारः—भावे ! पशीद पशीद । एहि । णलिणीए पविशिअ कीलेम्ह । [भाव ! प्रसीद प्रसीद । एहि । नलिन्यां प्रविश्य क्रीडावः ।]

विटः—अपिततमपि तावत्सेवमानं भवन्तं
पतितमिव जनोऽयं मन्यते मामनार्यम् ।
कथमहमनुयायां त्वां हतस्त्रीकमेनं
पुनरपि नगरस्त्रीशङ्किताद्धीक्षिदृष्टम् ॥ ४२ ॥

=अस्तु; त्वया सह ममेति शेषः; हि = निश्चये । परिभवस्य = अनादरस्य, निन्दायाः इति यावत्, (अनादरः परिभवः परीभावस्तिरस्क्रिया' इत्यमरः); कारिकाम् = कारिणीम्: अनार्याम् आर्यजनविगर्हिताम्, निन्दनीयामित्यर्थः; प्रीतिम् = प्रणयम्; त्वया सहेति शेषः; धिक् = धिगस्त्विति भावः । त्वयि = दुर्जने शकारे; मम = विटस्य, सङ्गतम् = मेलनम्; कदाचित् = कस्मिन्नपि काले; मा भूत् = न भवतु च । आच्छिन्नम् = भग्नम्; निर्गुणम् = मौर्वीरहितम् ('मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः इत्यमरः); धनुः= चापः ('धनुश्चापौ धन्वसरासनकोदण्डकार्मुकम्' इत्यमरः) इव = यथा; गुणहीनं त्वाम् = शकारम्; त्यजामि = जहामि । तव सङ्गत्या अपकीर्तिरेव सर्वत्र प्रसरति । अतः निरर्थकं धनुरिव त्वां परित्यज्य गच्छामीति भाव । ४१ ।

टिप्पणी—सङ्गतम् = मिलाप, सम्मिलन, मैत्री; सम + √गम् + क्त, आच्छिन्नम् = भली प्रकार कटा हुआ, खण्डित, टूटा हुआ; आ + √छिद् + क्त ।

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं प्रहर्षिणी छन्द है । छन्द का लक्षण—

त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम् ॥ ४१ ॥

अर्थः-शकार—भाव ! खुश हो जाओ, खुश हो जाओ । आओ, इस कमलवाले तालाब में उतर कर विहार करें ।

अपतितमपीति—

अन्वयः—भवन्तम्, सेवमानम्, अपतितम्, अपि, माम्, अयम्, जनः, पतितम्, इव, मन्यते; (किन्तु, सम्प्रति) हतस्त्रीकम्, (अतः), नगरस्त्रीशङ्किताद्धीक्षिदृष्टम्, एनम्, त्वाम्, पुनरपि, कथम्, अनुयायाम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थः—भवन्तम् = आप को, सेवमानम् = सेवित करते हुए, अपतितम् = पापरहित, अपि = भी, माम् = मुझको, अयम् = यह, जनः = जन समूह, पतितम् = पतित, इव = जैसा, मन्यते = मसझता है । (किन्तु = परन्तु, सम्प्रति = अब), हतस्त्रीकम् = स्त्री को मारने वाले, (अतः = इसलिए), नगरस्त्रीशङ्किताद्धीक्षिदृष्टम् = नगर की

(सकरुणम्) वसन्तसेने !

अन्यस्यामपि जातौ मा वेश्या भूस्त्वं हि सुन्दरि ! ।
चारित्र्यगुणसंपन्ने जायेथा विमले कुले ।। ४३ ।।

स्त्रियों के द्वारा शङ्कापूर्वक अधखुली आँखों से देखे गये, एनम् = इस, त्वाम् = तुमको, पुनरपि = फिर भी, कथम्, कैसे, अनुयायाम् = अनुसृत कर सकता हूँ ।।

अर्थः–**विट**—(वसन्तसेना को मारने के पहले भी) आपकी सेवा करते हुए पाप-रहित भी मुझको लोग दुर्जन एवं पापी जैसा समझते हैं। (परन्तु अब) स्त्री को मारने वाले अतः नगर की स्त्रियों के द्वारा शङ्कापूर्वक अधखुली आँखों से देखे गये तुम्हारा साथ फिर भी मैं कैसे दे सकता हूँ ।। ४२ ।।

टीका—भवन्तम् = त्वां शकारम्; अत्र त्वामिति वक्तव्ये भवन्तमिति प्रयोगः व्यङ्ग्यार्थपरः; सेवमानम् = भजमानम्; अपतितम् = पापरहितम्; अपि माम् = त्वत्सहवासिनं विटम्; अयम् = एषः: जनः = साधारणः लोकः; पतितमिव = पापिनमिव; मन्यते = स्वीकरोति । यथा चौरैः सह अचौरः अपि चौरः इव मन्यते तथैव पतितेन सह पापरहितः अपि पतितः इव मन्यते । किन्तु सम्प्रति = सम्पादिते त्वया स्त्रीवधे इत्यर्थः; हृता = मारिता स्त्री = अबला येन तम्; अतः नगरस्य = उज्जयिनीनगर्याः स्त्रीभिः = अबलाभिः शङ्कितम् = संदिग्धम्, स्त्रीघातकोऽयं सति अवसरे अस्मानपि मारयिष्यतीति सन्दिग्धं यथा तथा, अर्द्धाक्षिभिः = अर्द्धसंकुचितलोचनैः दृष्टः = अवलोकितः तम्; वा नगरस्त्रीभिः शङ्कितैः = शङ्कापूर्णैः अर्द्धाक्षिभिः = अर्द्धोन्मीलितलोचनैः दृष्टम्; एनम् = पुरो वर्तमानम्; त्वाम् = स्त्रीघातकं शकारम्; पुनरपि = मुहुरपि; कथम् = केन प्रकारेण; अनुयायाम् = अनुसरेयम् ? न कथमपि अनुगच्छेयमित्यर्थः ।। ४२ ।।

टिप्पणी—इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार एवं मालिनी छन्द है।

छन्द का लक्षण—

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ।। ४२ ।।

अन्यस्यामिति—

अन्वयः—हे सुन्दरि ! त्वम्, अन्यस्याम्, जातौ, अपि, वेश्या, मा भूः । हे चारित्र्यगुणसम्पन्ने ! (त्वम्) विमले, कुले, जायेथाः ।। ४३ ।।

शब्दार्थः—हे सुन्दरि ! = हे सुन्दर शरीरवाली ! त्वम् = तुम, अन्यस्याम् = दूसरे, जातौ = जन्म में, अपि = भी, वेश्या = वेश्या, भा भूः = न हो ओ । हे चारित्र्य-

शकारः—मम केलके पुप्फकलंडकजिण्णुज्जाणे वशंतशेणिअं मालिअ कहिं पलाअशि ? एहि, मम आवुत्तश्श अग्गदो ववहालं देहि । [मदीये पुष्पकरण्डकजीर्णोद्याने वसन्तसेनां मारयित्वा कुत्र पलायसे ? एहि, मम आवुत्तस्याग्रतो व्यवहारं देहि ।] (इति धारयति)

विटः—आः, तिष्ठ जाल्म ! । (इति खड्गमाकर्षति)

गुणसंम्पन्ने = हे चरित्र गुण से युक्त (वसन्तसेना)! (त्वम् = तुम), विमले = पवित्र, कुले = कुले में, जायेथाः = जन्म लो ॥

(करुणा पूर्वक) हे वसन्तसेना !

अर्थः—हे सुन्दरी ! तुम दूसरे जन्म में भी वेश्या न होओ । चरित्रगुण से युक्त (वसन्तसेना) ! तुम किसी पवित्र खान-दान में पैदा होओ (अथवा तुम किसी चरित्रगुण से सम्पन्न पवित्र कुल में जन्म लो) ॥ ४३ ॥

टीका—हे सुन्दरि = हे सुगात्रे ! त्वम् = स्पृहणीय गुणसम्पन्ना वसन्तसेना; अन्यस्याम् = अपरस्याम्; जातौ = जन्मनि; अपि; वेश्या = गणिका; मा भूः = न भव । चारित्र्यमेव = चरितत्वमेव गुणः = प्रशंसनीयम् आचरणं तेन सम्पन्ना=पूर्णा तत्सम्बुद्धौ हे चारित्र्यगुणसम्पन्ने ! वसन्तसेने ! अथवा चारित्र्यम् = सौशील्यम् , गुणाः = परोपकारादिगुणाः, तैः सम्पन्ना = समृद्धा तत्सम्बुद्धौ ! अथवा 'चारित्र्यगुणसम्पन्ने' इति 'कुले' इत्यस्य विशेषणम् । गणिकाभावादेव त्वयीयं विपत्तिः निपतिता । अतः त्वं आगामिनि जन्मनि सद्वंशे उत्पन्ना भवेति भावः । त्वम्, विमले = सदाचारादिसम्पन्ने सुनिर्मले; कुले = वंशे; जायेथाः = उत्पद्येथाः । अन्यस्मिन्नपि कस्मिन् जन्मनि त्वं वेश्या मा भूः; यतः वेश्याभावादेव तवेयं विपत्तिः; सत्कुलोत्पन्नायां स्त्रियां नेदृशी आपत्तिः सम्भवतीति भावः ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है । लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थः—आवुत्तस्य = जीजा के (राजा के), अग्रतः = सामने, व्यवहारम् = सफाई । जाल्म ! = नीच ! निधनम् = मृत्यु को, गच्छ = जाओ । प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायाम् = महल की नयी अटारी वाली गली में ॥

शकार—मेरे पुष्पकरण्डक नामक प्राचीन बगीचे में वसन्तसेना को मार कर कहाँ भाग रहे हो ? चलो मेरे जीजा (राजा) के सामने सफाई दो । (ऐसा कहकर पकड़ता है)

विट—आह ! नीच ! ठहर । (ऐसा कहकर तलवार खींचता है)

शकारः—(सभयमपसृत्य) किं ले, भीदेशि, ता गच्छ । [किं रे, भीतोऽसि ? तद्गच्छ ।]

विटः—(स्वगतम्) न युक्तमवस्थातुम् । भवतु, यत्रार्यशर्विलकचन्दनकप्रभृतयः सन्ति, तत्र गच्छामि । (इति निष्क्रान्तः)

शकारः—णिधणं गच्छ । अले थावलका पुत्तका ! कीलिशे मए कडे ? । [निधनं गच्छ । अरे स्थावरक पुत्रक ! कीदृशं मया कृतम् ? ।]

चेटः—भट्टके ! महंते अकज्जे कडे । [भट्टक ! महदकार्यं कृतम् ।]

शकारः—अले चेडे ! किं भणाशि अकज्जे कडेत्ति ? । भोदु, एव्वं दाव । (नानाभरणान्यवतार्य) गेण्ह एदं अलंकारअं मए ताव दिण्णे । जेत्तिके वेले अलंकलेमि तेत्तिकं वेलं मम । अण्णं तव । [अरे चेट ! किं भणस्यकार्यं कृतमिति ? । भवतु, एवं तावत् । गृहाणेममलंकारम् । मया तावद्दत्तम् । यावत्यां वेलायामलंकरोमि तावतीं वेलां मम । अन्यदा तव ।]

चेटः—भट्टके ज्जेव एदे शोहंति, किं मम एदेहिं ? । [भट्टक एवैते शोभन्ते, किं ममैतैः ? ।]

शकारः—ता गच्छ एदाइं गोणाइं गेण्हिअ मम केलकाए पाशादवालग्गपदोलिकाए च्यिश्ट । जाव हग्गे आअच्छामि । [तद्गच्छ, एतौ वृषभौ गृहीत्वा मदीयायां प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायां तिष्ठ । यावदहमागच्छामि ।]

चेटः—जं भट्टके आणवेदि । [यद्भट्टक आज्ञापयति ।] इति निष्क्रान्तः)

शकार—(भयपूर्वक हटकर) क्यों रे, डर गया ? अच्छा जा ।

विट—(अपने आप) (यहाँ) रुकना ठीक नहीं । अच्छा, जहाँ आर्य शर्विलक तथा चन्दनक आदि हैं वहीं जाता हूँ । (ऐसा कह कर निकल जाता है)

शकार—मर जा ! अरे बेटा स्थावरक ! मैंने कैसा काम किया ?

चेट—मालिक ! बड़ा बुरा काम किया ।

शकार—अरे चेट ! क्या कह रहा है 'बुरा काम किया' ? अच्छा, ऐसा हो । (बहुत से जेवरों को अपने शरीर से निकाल कर) ले इस जेवर को । मैंने तुझे दे दिया । जब तक मैं पहनूँगा तब तक यह मेरा रहेगा और बाकी समय में तेरा ।

चेट—आपके शरीर पर ही ये अच्छे लगते हैं । मेरा इनसे क्या मतलब ?

शकार—तो जा । इन बैलों को लेकर मेरे महल की नयी अटारी वाली गली में ठहर (अर्थात् अटारी के ऊपरी हिस्से में ठहर) । जबतक मैं आता हूँ ।

चेट—जैसी मालिक की आज्ञा ? (ऐसा कहकर निकल जाता है)

शकारः—अत्तपलित्ताणे भावे गदे अदंशणं। चेडं वि पाशादबालग्गपदोलिकाए णिगलपूलिदं कदुअ थावइश्शं। एव्वं मंते लक्खिदे भोदि, ता गच्छामि। अधवा पेक्खामि दाव एदं। किं एशा मला आदु पुणो वि मालइश्शं। (अवलोक्य) कधं शुमला ?। भोदु, एदिणा पावालएण पच्छादेमि णं। अधवा णामं किदे एशे। ता के वि अज्जपुलिशे पच्चहिजाणेदि। भोदु, एदिणा वादालोपुंजिदेण शुक्खपण्णपुडेण पच्छादेमि। (तथा कृत्वा, विचिन्त्य) भोदु, एव्वं दाव। शंपदं अधिअलणं गच्छिअ ववहालं लिहावेमि, जहा अत्थश्श कालणादो शत्थवाहचालुदत्ताकेण ममकेलकं पुप्फकलंडकं जिण्णुज्जाणं पवेशिअ वशंतशेणिआ वावादिदे त्ति।

चालुदत्तविणाशाय कलेमि कवडं णवं।
णअलीए विशुद्धाए पशुघादं व्व दालुणं॥ ४४॥

भोदु, गच्छामि। (इति निष्क्रम्य, दृष्ट्वा सभयम्) अविद मादिके। जेण जेण गच्छामि मग्गेण तेण ज्जेव एशे दुश्टशमणके गहिदकशाओदकं चीवलं गेण्हिअ आअच्छदि। एशे मए णशिं च्छिदिअ वाहिदे किदवेले कदावि मं पेक्खिअ एदेण मालिदे त्ति पआशइश्शदि। ता कधं गच्छामि। (अवलोक्य) भोदु, एदं अद्धपडिदं पाआलखंडं उल्लंघिअ गच्छामि।

एशे म्हि तुलिदतुलिदे लंकाणअलीए गअणे गच्छंते।
भूमिए पाआले हणूमशिहले विअ महेंदे॥ ४५॥

[आत्मपरित्राणे भावो गतोऽदर्शनम्। चेटमपि प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायां निगड-

---

टीका—आबुत्तस्य = भगिनीपतेः, ('भगिनीपतिराबुत्तः' इत्यमरः) राज्ञः पालकस्य इत्यर्थः; अग्रतः = समक्षम्; व्यवहारम् = विचारम्। व्यवहारलक्षणार्थं विभिन्नासु टीकासु विविधानि वाक्यान्युदाहृतानि; तद्यथा—विर्नानार्थेऽव सन्देहे हरणं हार उच्यते। नानासन्देहहरणात् व्यवहारः इति स्मृतः॥ इति कात्यायनः॥ 'परस्परं मनुष्याणां स्वार्थविप्रतिपत्तिषु। वाक्यान्नयाद्व्यवस्थानं व्यवहार उदाहृतः॥' इति मिताक्षरा॥ जाल्म ! = नीच ! ('विवर्णः पामरो नीचः प्राकृतश्च पृथग्जनः। निहीनोऽपसदो जाल्मः क्षुल्लकश्चेतरश्च सः, इत्यमरः)। निधनम् = मृत्युम्, ('अन्तो नाशो द्वयोर्मृत्युर्मरणं निधनोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः)। गच्छ = याहि। प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायाम्—प्रासादस्य = भवनस्य, बालायाम् = नवनिर्मितायाम्, अग्रप्रतोलिकायाम् = सर्वोच्चरथ्याम्; प्रासादोपरिगृहविशेषे इत्यर्थः॥

शब्दार्थः—आत्मपरित्राणे = अपने बचाव में (के लिये), भावः = माननीय विट, अभावम् = अभाव को, ओझलपन को, गतः = प्राप्त हो गया, (अर्थात् चला गया)।

पूरितं कृत्वा स्थापयिष्यामि । एवं मन्त्रो रक्षितो भवति, तद्गच्छामि । अथवा पश्यामि तावदेनाम्—किमेषा मृता ? अथवा पुनरपि मारयिष्यामि । कथं सुमृता ? भवतु, एतेन प्रावारकेण प्रच्छादयाम्येनाम् । अथवा नामाङ्कित एषः, तत्कोऽप्यार्यपुरुषः प्रत्यभिज्ञास्यति । भवतु, एनेन वातालीपुञ्जितेन शुष्कपर्णपुटेन प्रच्छादयामि । भवतु, एवं तावत् । सांप्रतमधिकरणं गत्वा व्यवहारं लेखयामि, यथा-अर्थस्य कारणात्सार्थवाहकचारुदत्तकेन मदीयं पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं प्रवेश्य वसन्तसेना व्यापादितेति ।

निगडपूरितम् = बेड़ी में बंधा हुआ । मन्त्रः = भेद, रहस्य रक्षितः = छिपा हुआ । प्रवारकेण = दुपट्टे से, प्रच्छादयामि = ढक देता हूँ । एषः = यह दुपट्टा, नामाङ्कितः = नाम लिखा हुआ (है) । आर्यपुरुषः = भला आदमी, प्रत्यभिज्ञास्यति = पहचान लेगा । वातालीपुञ्जितेन = हवा के झोंके से इकट्ठा किये गये, शुष्कपर्णपुटेन = सूखे पत्तों की ढेरी से, अधिकरणम् = कचहरी को, न्यायालय को । व्यवहारम् = अभियोग को (रिपोर्ट को) । व्यापादिता = मारी गयी ।

अर्थः—शकार—अपने बचाव के लिये विट चला गया । चेट को भी वेड़ी में बाँध कर महल की नयी अटारी वाली गली में रक्खूँगा । इस प्रकार भेद छिपा रह जायगा । तो; जाता हूँ । अथवा पहले इस (वसन्तसेना) को देखता हूँ । क्या यह मर गयी ? अथवा और मारूँ ? (देख कर) क्या बिलकुल मर गयी ? अच्छा, इस दुपट्टे से इसको ढक देता हूँ । अथवा इस वस्त्र पर तो नाम लिखा है, तो कोई भला आदमी पहचान लेगा । अच्छा हवा के झोकों से इकट्ठा किये गये सूखे पत्तों की इस ढेरी से ढक देता हूँ । (वैसा करके सोचकर) अच्छा तो ऐसा करूँ । अब कचहरी में जाकर रिपोर्ट (अभियोग) लिखाता हूँ कि धन के लिये सार्थवाह चारुदत्त ने पुष्पकरण्डक नामक मेरे पुराने बगीचे में ले जाकर वसन्तसेना को मार दिया ।

टीका—आत्मनः = स्वस्य परित्राणे = रक्षणे, स्वं रक्षितुमित्यर्थ, भावः = आदरणीयः विटः; अभावम् = अदर्शनम्; गतः = प्राप्तः । निगडेन अन्दुकेन ('अन्दुको निगडः' इत्यमर.), ('अन्दूः स्त्रियां स्यान्निगडे प्रभेदे भूषणस्य च' इति मेदिनी) अन्दूः एव अन्दुकः; स्वार्थे कन् "स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्तेऽपि" पति पुंस्त्वम्; पूरितम् = समाबद्धम् । मन्त्रः = रहस्यम्, भेदः इति यावत् ('वेदभेदे गुह्यवादे मन्त्रः' इत्यमरः); रक्षितः = अप्रकाशितः । प्रावारकेण = उत्तरीयवस्त्रेण; प्रच्छादयामि = समाच्छादयामि । एषः = मदीयः अयं प्रावारकः; नाम्ना अङ्कितः = चिह्नितः, लिखितः इत्यर्थः; "वसन्तसेनायाः इति शकारस्य वेति लिखिताक्षरः" इति पृथ्वीधरः । आर्यपुरुषः

चारुदत्तविनाशाय करोमि कपटं नवम् ।
नगर्यां विशुद्धायां पशुघातमिव दारुणम् ॥

भवतु, गच्छामि । अविदमादिके ! येन येन गच्छामि मार्गेण, तेनैवैष दुष्टश्रमणको गृहीतकषायोदकं चीवरं गृहीत्वागच्छति । एष मया नासां छित्त्वा वाहितः कृतवैरः कदापि मां प्रेक्ष्यैतेन मारितेति प्रकाशयिष्यति । तत्कथं गच्छामि ? । भवतु एतमर्धपतितं प्राकार-खण्डमुल्लङ्घ्य गच्छामि ।

= अधिकृतजनः इत्यर्थः, रक्षिपुरुषः इति यावत्; प्रत्यभिज्ञास्यति = शकाररेण वसन्तसेना मारितेति ज्ञास्यति । वातालिः = वायुसमूहः तया पुञ्जितम् = एकत्रीकृतम्; शुष्कपर्ण-पुटेन = अनार्द्रपत्रपुटसमूहेनेत्यर्थः । अधिकरणम् = न्यायालयम् । व्यवहारम् = अभि-योगम् । व्यापादिता = मारिता ॥

चारुदत्तविनाशायेति—

अन्वयः—(अस्याम्), विशुद्धायाम्, नगर्याम्, दारुणम्, पशुघातम्, इव, चारुदत्त-विनाशाय, नवम्, कपटम्, करोमि ॥ ४४ ॥

शब्दार्थः—(अस्याम् = इस), विशुद्धायाम् = पवित्र, नगर्याम् = नगरी में, दारुणम् = भयङ्कर, पशुघातम् = पशु के वध, इव = जैसा, चारुदत्तविनाशाय = चारुदत्त के विनाश के लिये, नवम् = नये, कपटम् = कपट को, छलको, करोमि = करता हूँ ॥

अर्थः-इस पवित्र नगरी में भयङ्कर पशुवध के समान चारुदत्त के विनाश के लिये मैं एक नया कपट करता हूँ ॥ ४४ ।

टीका—अस्याम्, विशुद्धायाम् = पवित्रायाम्; नगर्याम् = उज्जयिन्यामित्यर्थः; दारु-णम् = भयङ्करम्; पशुघातम् = पशुमारणमिव; चारुदत्तस्य विनाशाय = नाशाय, बधा-येत्यर्थः; नवम् = नूतनम्; कपटम् = छलम्; करोमि = विदधामि । वसन्तसेना चारुदत्तेन हता इति उद्घोष्य तस्य बधं कारयिष्यामीति भावः ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है ।

छन्द का लक्षण —
युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थः—अविदमादिके ! = ओह ! गृहीतकषायोदकम् = गेरुये रङ्ग में रँगे हुए, चीवरम् = वस्त्र को (वस्तुतः बौद्ध सन्यासियों के वस्त्र को चीवर कहा जाता है) । नासाम् = नाक को, छित्त्वा = छेदकर; वाहितः = भगा दिया गया था । कृतवैरः = वैर करने वाला ॥

अर्थः—अच्छा, जाता हूँ। (निकलकर देखकर भय पूर्वक) ओह ! जिस जिस रास्ते से जाता हूँ, उसी से यह दुष्ट बौद्ध संन्यासी गेरुये रङ्ग में रँगे हुए वस्त्र को लेकर आता है। नाक छेद कर इसको मैंने (बगीचे से) भगा दिया था, तो शायद उसी बैर के कारण मुझको देखकर—'इसने ही वसन्तसेना को मारा है' ऐसा कह न दे। तो कैसे जाऊँ ? (देखकर) अच्छा, आधी गिरी हुई इस चहार दिवारी को लाँघ कर जाता हूँ।

टीका—अविदमादिके !—इति खेदे विस्मये च अव्ययम्। गृहीतम् = धृतम् कषायोदकम् = गैरकरङ्गमिश्रितजलम् येन तत्; चीरवम् = भिक्षुवस्त्रम्। नासाम् = नासिकाम्, छित्त्वा = भित्त्वा; वाहितः = उद्यानात् नगरात् वा निःसारितः। अतः कृतः = विहितः वैरः = शत्रुता येन तादृशः। निःसारणात् मम वैरी सञ्जातः इत्यर्थः॥

'अस्यैव अङ्कस्य प्रथमे पुष्पकरण्डकोद्यानप्रविष्टेन भिक्षुवेशिसंवाहकेन तत्र शकारस्य दर्शनमात्रं तस्य भिक्षुनासावेधःस्वाभाव्यं वर्णितम्, संवाहकस्य तु तथात्वेऽपि नासावेधः कुत्रापि कविना नोक्त इति; इह 'मया नासां छित्त्वा वाहितः' इति शकारोक्तेरसङ्गतत्वेऽपि वेशादिसाम्यत्वात् अच्छिन्ननासेऽपि अस्मिन् संवाहके छिन्ननासस्य कस्यचिदन्यस्य भिक्षोर्भ्रमोत्पादादिति कथञ्चिदस्य संगतिः करणीया।' इति 'अस्मिन् प्रकरणे (नाटके न कुत्रापि अस्योल्लेखः।' इति च टीकाकाराणां वचनानि भ्रमविहितान्येव, प्रकरणेऽस्मिन् भिक्षुद्वयस्योपवर्णनात्। अस्य अष्टमाङ्कस्य प्रारम्भे वर्णितः भिक्षुः संवाहकभिक्षोः भिन्नः। तत्र भिक्षुः अयं संवाहकभिक्षुः एव इति निर्देशाभावः। तत्र वर्णितं तस्य अचिरप्रव्रजितत्वं तु न समर्थकम्। बौद्धधर्मप्राबल्यं सूचयितुं भाविन्याः घटनायाः सघटनाय च तत्र अचिरप्रव्रजितत्वस्य भिक्षोश्चोपस्थापनम्। अन्यच्च—प्रकरणेऽस्मिन् यत्र यत्र भिक्षोः संवाहकस्य प्रवेशस्तत्र तत्र यथाकथञ्चित् स्पष्टनिर्देशः अपि कृतः, यथा द्वितीये अङ्के—'दुष्टहस्तिना · समासदितः परिव्राजकः।··· उद्घुष्टं जनेन–'हा, परिव्राजको व्यापाद्यते'।··· मया–नहि नहि, आर्याया अन्नपिण्डपुष्टेन दासेन, वामचलनेन द्यूतखेलकमुद्धुष्योद्धुस्य···आकारितः स दुष्टहस्ती।' अत्र तु अनन्तरमेव 'संवाहको भिक्षुः' एतादृशस्तथा अन्यः अपि विवरणात्मकः निर्देशः कृतः। अतः 'एष मया नासां छित्त्वा वाहितः कृतवैरः कदापि मां प्रेक्ष्यैतेन मारितेति प्रकाशयिष्यतीति' शकारकथनमुपपन्नमेव; 'एकेन भिक्षुणापराधे कृतेऽन्यमपि यत्र यत्र भिक्षुं पश्यति, तत्र तत्र गामिव नासां विद्ध्वापवाहयति।' इति अस्याङ्कस्य प्रारम्भे संवाहकभिक्षुभिन्नभिक्षोः कथनेन प्रतीतेषु शकारेण अपविद्धनाशेषु भिक्षुकेषु संवाहकभिक्षोरपि सत्त्वात्। अपरञ्च अङ्कस्य प्रारम्भे शकारेण पुष्पकरण्डकजीर्णोद्याने प्रवेष्टुं ताडितस्य संवाहकभिक्षोः कतिपयक्षणानन्तरं तत्रैव पुनः प्रवेशः कथमपि न मान्यः न तु बुद्धिसहश्च। अन्यथा तस्य बुद्धिभ्रामकत्वमेव सिद्ध्यतीतिसुधीभिर्विभाव्यम्॥

एषोऽस्मि त्वरितत्वरितो लङ्कानगर्यां गगने गच्छन् ।
भूम्यां पाताले हनूमच्छिखर इव महेन्द्रः ॥

(इति निष्क्रान्तः)

टिप्पणी—"शकार ने संवाहक भिक्षु की नाक नहीं छेदी थी । उसे पीटा अवश्य था । यद्यपि इसी अङ्क के प्रारम्भ मे संवाहक भिक्षु ने शकार के द्वारा भिक्षुओं के नाक छेदने की बात अवश्य कही है । अतः 'एष मया नासां छित्त्वा वाहित' यह शकार का कथन संवाहक भिक्षु के विषय में गलत है । अथवा वेश आदि की समानता के कारण उसने ऐसा कह दिया है ।" टोकाकारों का यह कथन ठीक नहीं है । इस अङ्क के प्रारम्भ में आया हुआ भिक्षु, संवाहक भिक्षु से भिन्न है देखिये संस्कृत टीका ।

एषोऽस्मीति—

अन्वयः - एषः, (अहम्), आकाशे, भूम्याम्, पाताले, हनुमच्छिखरे, लङ्कानगर्याम्, गच्छन्, महेन्द्रः, इव, त्वरितत्वरितः, (गच्छामि) ॥ ४५ ॥

शब्दार्थः —एषः = यह, (अहम्=मैं), आकाशे = आकाश में, भूम्याम् = भूमि में, पाताले = पाताल में, हनुमच्छिखरे = हनुमान् की चोटी पर, लङ्कानगर्याम् = लङ्का में (को), गच्छन् = चलता हुआ, महेन्द्रः इव = महेन्द्र पर्वत की भाँति, त्वरितत्वरितः = बड़ी शीघ्रता से, (गच्छामि = जा रहा हूँ) ।

अर्थः-यह मैं (शकार) आकाश भूमि, पाताल, एवं हनुमान् की चोटी (वस्तुतः महेन्द्र पर्वत की चोटी) एव लङ्का में (को) जाते हुए महेन्द्र (वस्तुतः हनुमान्) की भाँति बड़ी शीघ्रता से जा रहा हूँ ॥ ४५ ॥

(ऐसा कह कर निकल जाता है)

टीका - एषः = गमने त्वरान्वितः अहं शकारः; आकाशे = गगने; भूम्याम् = पृथिव्याम्; पाताले=पृथिव्याः अधस्तले लोके; हनुमच्छिखरे=हनुमच्छृङ्गे; महेन्द्रशिखरे इति वक्तव्ये मौर्ख्याधिक्यात् हनुमच्छिखरे इति वदति; लंकापुर्याम् = लङ्कानगर्याम्; गच्छन् = **व्रजन्**; महेन्द्रः = महेन्द्रपर्वतः इव; हनुमानिवेति वक्तव्ये महेन्द्रः इवेति वदति; त्वरितत्वरितः = अतित्वरायुक्तः सन्; गच्छामि इति शेषः ॥ शकारोक्तत्वात् विपर्यासोक्तिः सोढव्या ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में आर्या छन्द है ।

लक्षण—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ ४५ ॥

(प्रविश्यापटीक्षेपेण)

संवाहको भिक्षुः–पक्खालिदे एशे मए चीवलखंडे । किं णु हु शाहाए शुक्खावइश्शं ? इध वाणला विलुप्पंति । किं णु हु भूमीए धूलीदोशे होदि, ता कहिं पशालिअ शुक्खावइश्शं । (दृष्ट्वा) भोदु, इध वादालीपुंजिदे शुक्खवत्तसंचए पशालइश्शं । (तथा कृत्वा) णमो बुद्धश्श । (इत्युपविशति) भोदु, धमक्खलाइं उदाहलामि । ('पचज्जण जेण मालिदा' (८।२) इत्यादि पूर्वोक्तं पठति) अधवा अलं मम एदेण शग्गेण । जाव ताए वशंतशेणिआए बुद्धोवाशिआए पच्चुवआलं ण कलेमि, जाए दशाणं शुवण्णकाणं किदे जूदिअलेहिं णिक्कोदे, तदो पहुदि ताए कीदं विअ अत्ताणअं अवगच्छामि । (दृष्ट्वा) किं णु खु पण्णोदले शमुश्शशदि ? । अधवा

वादादवेण तत्ता चीवलतोएण तिम्मिदा पत्ता ।
एदे विथिण्णपत्ता मण्णे पत्ता विअ फुलंति ॥ ४६ ॥

[प्रक्षालितमेतन्मया चीवरखण्डम् । किं नु खलु शाखायां शुष्कं करिष्यामि ? इह वानरा विलुम्पन्ति । किं नु खलु भूम्याम् ? । धूलीदोषो भवति । तत्कुत्र प्रसार्य शुष्कं करिष्यामि ? । भवतु, इह वातालीपुञ्जिते शुष्कपत्रसंचये प्रसारयिष्यामि । नमो बुद्धाय । भवतु, धर्माक्षराण्युदाहरामि । अथवालं ममैतेन स्वर्गेण । यावत्तस्या वसन्तसेनाया बुद्धोपासिकायाः प्रत्युपकारं न करोमि, यया दशानां सुवर्णकानां कृतेन द्यूतकाराभ्यां निष्क्रीतः, ततः प्रभृति तया क्रीतमिवात्मानमवगच्छामि । किं नु खलु पर्णोदरे समुच्छ्वसिति ? अथवा

शब्दार्थः—अपटीक्षेपेण = विना पर्दा उठाए ही । वातालीपुञ्जिते = हवा की झोकों के द्वारा इकट्ठा किये गये । पर्णोदरे=पत्तों के भीतर ॥

(विना पर्दा उठाए ही प्रवेश करके)

अर्थः–संवाहक भिक्षु—कपड़े के इस टुकड़े को मैंने पछार लिया । क्या इसे पेड़ की डाली पर सुखा लूँ ? यहाँ वानर फाड़ देंगे । तो क्या जमीन पर (सुखा लूँ) ? धूलि से गंदा हो जायगा । तब कहाँ फैला कर सुखाऊँ ? अच्छा, हवा के झोंकों के द्वारा इकट्ठा किये गये सूखे पत्तों की इस ढेर पर फैलाऊँगा । (फैला कर) बुद्ध को नमस्कार है । (बैठ जाता है) अच्छा धार्मिक अक्षरों का पाठ करता हूँ (पञ्चजनाः येन मारिताः, ८—२ इत्यादि पहले का श्लोक पढ़ता है) अथवा इस स्वर्ग से मेरा क्या (मतलब) ? जब तक बुद्ध की सेविका उस वसन्तसेना का प्रत्युपकार नहीं करता हूँ, जिसने सोने की दश मोहरें देकर जुआरियों से मुझे छुड़ाया था, तब तक मैं अपने को उस (वसन्तसेना) के द्वारा खरीदा गया समझता हूँ । (देखकर) पत्तों के भीतर क्या साँस सी ले रहा है ? अथवा —

वातातपेन तप्तानि चीवरतोयेन स्तिमितानि पत्राणि ।
एतानि विस्तीर्णपत्राणि मन्ये पत्राणीव स्फुरन्ति ॥

(वसन्तसेना संज्ञां लब्ध्वा, हस्तं दर्शयति)

भिक्षुः – हा हा, शुद्धालंकालभूशिदे इत्थिआहत्थे णिक्कमदि । कधं दुदिए वि हत्थे ? । (बहुविधं निर्वर्ण्य) पच्चभिआणामि विअ एदं हत्थं । अथवा, किं विचालेण ? । शच्चं शे ज्जेव हत्थे जेण मे अभअं दिण्णं । भोदु, पेक्खिश्शं । (नाटयेनोद्घाटय दृष्ट्वा, प्रत्यभिज्ञाय च) शा ज्जेव बुद्धोवाशिआ । [हा हा, शुद्धालंकारभूषितः स्त्रीहस्तो निष्क्रामति । कथं द्वितीयोऽपि हस्तः ? । प्रत्यभिजानामीवैतं हस्तम् । अथवा, किं विचारेण । सत्यं स एव

टीका—अपटीक्षेपेण=नेपथ्यपटमुद्धाटच प्रविष्टः इत्यर्थः । नाटके 'पर्दा'' संज्ञिकां पटीं स्वकरेणैव अपसार्य यदि पात्रस्य प्रवेशस्तदा 'अपटीक्षेपेण' इति सङ्केतः । वातालीपुञ्जितेन=समीरसञ्चयसञ्चितेन । पर्णानाम्=पत्राणाम्, उदरे=मध्ये ॥

वातातपेनेति –

अन्वयः - वातातपेन, तप्तानि, एतानि, पत्राणि, चीवरतोयेन, स्तिमितानि, (सन्ति), विस्तीर्णपत्राणि, पक्षिण इव, स्फुरन्ति, (इति, अहम्), मन्ये ॥

शब्दार्थः —वातातपेन = हवा सहित घाम से, तप्तानि = तपे हुये, एतानि ये, पत्राणि = पत्ते, चीवरतोयेन = कपड़े के जल से, स्तिमितानि = कुछ गीला, (सन्ति = होते हुए), विस्तीर्णपत्राणि = फैले हुए पंख वाले, पक्षिणः = पक्षियों (के), इव = समान, स्फुरन्ति = हिल रहे हैं, (इति = ऐसा, अहम् = मैं), मन्ये = सोचता हूँ, मानता हूँ ॥

अर्थः—हवा सहित घाम से तपे हुये ये पत्ते कपड़े के जल से कुछ गीला (**आर्द्र**) होकर मानों फैले हुए पंखवाले पक्षियों के समान हिल रहे हैं ॥ ४६ ॥

(वसन्तसेना चेतना पाकर हाथ दिखाती है)

टीका – वातेन = पवनेन सहितः आतपः = घर्मः तेन; तप्तानि = शुष्कतां गतानि; एतानि = वस्त्राधारभूतानि, पत्राणि = पर्णानि; चीवरस्य = वस्त्रखण्डस्य तोयेन = जलेन; स्तिमितानि = किञ्चिदार्द्रत्वं प्राप्तानि; सन्ति; विस्तीर्णानि=प्रसृतानि पर्णानि = पत्राणि येषां तानि; पक्षिणः = खगाः, इव स्फुरन्ति = स्पन्दन्ते, इति अहं मन्ये = स्वीकरोमि ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं आर्या छन्द है । छन्द के लक्षण के लिये देखिये पीछे के श्लोक की टिप्पणी ॥ ४६ ॥

हस्तो येन मेऽभयं दत्तम् । भवतु, पश्यामि । सैव बुद्धोपासिका ।]

(वसन्तसेना पानीयमाकाङ्क्षति)

भिक्षुः कधं उदअं मग्गेदि ? । दूले च दिग्घिआ । किं दाणि एत्थ कलइश्शं ? । भोदु, एदं चीवलं शे उवलि गालइश्शं । [कथं उदकं याचते ? । दूरे च दीर्घिका । किमिदानीमत्र करिष्यामि ? । भवतु, एतच्चीवरमस्या उपरि गालयिष्यामि ।] (तथा करोति)

(वसन्तसेना संज्ञां लब्ध्वोत्तिष्ठति, भिक्षुः पटान्तेन वीजयति)

वसन्तसेना—अज्ज ! को तुमं ? । [आर्य ! कस्त्वम् ? ।]

भिक्षुः—किं मं ण शुमलेदि बुद्धोवाशिआ दशशुवण्णणिक्कीदं ? । [किं मां न स्मरति बुद्धोपासिका दशसुवर्णनिष्क्रीतम् ? ।]

शब्दार्थः—हा हा ! = हाय हाय ! शुद्धालङ्कारभूषितः = सुन्दर जेवरों से सजा हुआ, स्त्रीहस्तः = स्त्री का हाथ । प्रत्यभिजानामि = पहचानता हूँ । दीर्घिका = बावड़ी । गालयिष्यामि = गारूँगा, निचोड़ूँगा । संज्ञाम् = चेतना को । पटान्तेन = कपड़े के आँचल से । वीजयति = हवा करता है । दशसुवर्णनिष्क्रीतम् = सोने की दश मोहरों से खरीदे गये । स्मरामि = याद कर रही हूँ । यथा = जैसा, आर्यः = आप, भणति = कहते हो । उपरता = मरी । वेशभावस्य = वेश्यापन के । लताम् = लता को, अवलम्ब्य = पकड़कर । विहारे = बौद्धों के मठ में । धर्मभगिनी = रिस्ते की बहन । एषः = यह, धर्मः = धर्म (ऊपकार रूप कर्त्तव्य) ।।

अर्थः-भिक्षु—हा ! हा ! (यह तो) सुन्दर जेवरों से सजा हुआ स्त्री का हाथ निकल रहा है । क्या दूसरा भी हाथ (निकल रहा है) ? (बहुत प्रकार से देख कर) इस हाथ को पहचान सा रहा हूँ । अथवा विचार से क्या (लाभ) ? सचमुच यह तो वही हाथ है जिसने मुझे अभय दिया था । अच्छा, तो देखता हूँ । (अभिनय पूर्वक उघाड़ कर, देख कर तथा पहचान कर) वही बुद्ध की उपासिका (वसन्तसेना) है ।

(वसन्तसेना पानी चाहती है)

भिक्षु क्या जल माँग रही हैं । बावड़ी दूर है । अब यहाँ क्या करूँ ? अच्छा, इस कपड़े को इसके ऊपर निचोड़ूँगा । (वैसा करता है)

(वसन्तसेना चेतना पाकर उठती है, भिक्षु कपड़े के आँचल से उसको हवा करता है)

वसन्तसेना आर्य ! आप कौन हैं ?

भिक्षु—क्या, बुद्ध की उपासिका (अर्थात् आप) सोने की दश मोहरों के द्वारा

वसन्तसेना—सुमरामि, ण उण जधा अज्जो भणादि। वरं अहं उवरदा ज्जेव। [स्मरामि, न पुनर्यथाऽऽर्यो भणति। वरमहमुपरतैव।]

भिक्षुः—बुद्धोवाशिए ! किं ण्णेदं ?। [बुद्धोपासिके ! किं न्विदम्।]

वसन्तसेना—(सनिर्वेदम्।) जं सरिसं वेसभावस्स। [यत्सदृशं वेशभावस्य।]

भिक्षुः—उट्ठेदु उट्ठेदु बुद्धोवाशिआ एदं पादवसमीवजादं लदं ओलंबिअ। [उत्तिष्ठतूत्तिष्ठतु बुद्धोपासिकैतां पादपसमीपजातां लतामवलम्ब्य।] (इति लतां नामयति)

(वसन्तसेना गृहीत्वोत्तिष्ठति)

भिक्षुः—एदश्शि विहाले मम धम्मबहिणिआ चिट्ठदि। तहिं शमश्शशिदमआ भविअ उवाशिआ गेहं गमिश्शदि। ता शेणं शेणं गच्छदु बुद्धोवाशिआ। (इति परिक्रामति, दृष्ट्वा) ओशलध अज्जा ! ओशलध। एशा तलुणी इत्थिआ, एशो भिक्खु त्ति शुद्धे मम एशे धम्मे।

हत्थशंजदो मुहशंजदो इंदियशंजदो शे खु माणुशे।
किं कलेदि लाअउले तश्श पललोओ हत्थे णिच्चले॥ ४७॥

[एतस्मिन्विहारे मम धर्मभगिनी तिष्ठति। तत्र समाश्वस्तमना भूत्वोपासिका गेहं गमिष्यति। तच्छनैः शनैर्गच्छतु बुद्धोपासिका। अपसरत आर्याः ! अपसरत। एषा तरुणी स्त्री, एष भिक्षुरिति शुद्धो ममैष धर्मः।

खरीदे गये मुझको याद नहीं कर रही हैं।

वसन्तसेना—याद कर रही हूँ। किन्तु उस तरह नहीं जैसा आप कह रहे है। इससे तो मैं मरी ही अच्छी।

भिक्षु—बुद्ध की उपासिका ! यह क्या हुआ ?

वसन्तसेना—(दुःख के साथ) जो वेश्यापन के अनुकूल है।

भिक्षु—बुद्ध की उपासिका (अर्थात् आप) वृक्ष के समीप उगी हुई इस लता का सहारा लेकर उठ जायें, उठ जायें। (ऐसा कर कर लता को झुकाता है)

(वसन्तसेना लता को पकड़ कर उठती है)

भिक्षु—इस वौद्ध-मठ (विहार) में मेरी रिश्ते की वहन (धर्म-बहन) रहती है। वहाँ स्वस्थचित्त होकर उपासिका (आप) घर जायेंगी। तो धीरे-धीरे चलें बुद्धोपासिका (आप)। (ऐसा कह कर घूमता है, देखकर) भले आदमियों ! हटो, हटो। यह युवती स्त्री है और यह मैं भिक्षु हूँ। इसलिये यह मेरा पवित्र धर्म है।

टीका—हा हा ! इति खेदसूचकमव्ययम्। शुद्धाः = सुन्दराः, कलङ्करहिताः इहिता यावत्, अलङ्काराः = आभरणानि तैः विभूषितः = अलंकृतः; स्त्रियः = वनितायाः

हस्तसंयतो मुखसंयत इन्द्रियसंयतः स खलु मनुष्यः ।
किं करोति राजकुलं तस्य परलोको हस्ते निश्चलः ॥]

(इति निष्क्रान्ता)

इति वसन्तसेनामोटनो नामाष्टमोऽङ्कः ।

हस्तः = करः । प्रत्यभिजानामि = प्राग्दृष्टसंस्कारवलादवगच्छामि । दीर्घिका' = वापी, ('वापी तु दीर्घिका, इत्यमरः) । गालयिष्यामि = निष्पीडयिष्यामि । संज्ञाम् = चेतनाम् । पटान्तेन = वस्त्राञ्चलेन । वीजयति = वायुं करोतीत्यर्थः । दशसुवर्णैः = दशसुवर्णमुद्राभिः निष्क्रीतम् = द्यूतकरहस्तात् मोचितम् । स्मरामि = स्मरणं करोमि । यथा = दशसुवर्णनिष्क्रीतत्वेन रूपेण इत्यर्थः; महानुभावतेयं महताम्; आर्यः = मान्यः भवान्, भणति = वदति । भवन्तं स्मरामि किन्तु दशसुवर्णमुद्रादानं नेत्येर्थः । उपरता = मृता । वेशभावस्य = वेश्यात्वस्य । लताम् = वल्लीम् ('वल्ली तु व्रततिर्लता, 'इत्यमरः) अवलम्ब्य = गृहीत्वा । सन्यासी भूत्वा स्त्रियं न स्पृशतीति भावः । विहारे = बौद्धानाम् आश्रमे धर्मतः = सम्बन्धतः भगिनी = भगिनीभूता इत्यर्थः; न तु सहोदरा इति यावत् । एषः = लोकोपकारूपः; धर्मः = अवश्यकर्त्तव्यः विधिः ॥

हस्तसंयतः इति—

अन्वयः—स, खलु, मनुष्यः, (यः), हस्तसंयतः, मुखसंयतः, इन्द्रियसंयतः, (अस्ति); राजकुलम्, तस्य किम्, करोति, परलोकः, (तस्य) हस्ते, निश्चलः ॥४७॥

शब्दार्थः—सः = वह, खलु = वस्तुत, मनुष्यः = मनुष्य (है); (यः = जो), हस्तसंयतः = हाथ से संयत, मुखसंयतः मुँह से संयत, इन्द्रियसंयतः = इन्द्रियों से संयत, (अस्ति = है) । राजकुलम् राजकुल, तस्य = उसका, किम् = क्या, करोति = करता है । परलोकः = परलोक, (तस्य = उसके), हस्ते = हाथ में, निश्चलः = ध्रुव (है) ॥

अर्थः– वही वस्तुतः मनुष्य है जिसका हाथ मुँह तथा इन्द्रियाँ भली-भाँति वश में रहती हैं । राज कुल (सरकार) उसका क्या कर सकता है ? परलोक (स्वर्ग आदि) (उसके) हाथ में निश्चित (ध्रुव) है (अर्थात् मरने पर वह अवश्य ही अच्छे लोकों को जाता है) ॥ ४७ ॥

(सब निकल जाते हैं)

'वसन्तसेना का गला घोंटना' नामक आठवाँ अङ्क

॥ समाप्त ॥

टीका--सः खलु = निश्चितम्; मनुष्यः = मनुष्यत्वेन मान्यः; यः हस्तेन = करेण संयतः = नियमितः; हस्तेन यः किमप्यकार्यं न करोति इति भावः। मुखेन = जिह्वया इत्यर्थः संयतः = संयमयुक्तः; जिह्वया यः कदापि अप्रियमसत्यञ्च न वदतीति भावः। इन्द्रियैः = करणैः संयतः = संयमितः; यः इन्द्रियाणि रूपादिविषयेष्वनासक्तानि कृत्वा तिष्ठति। यः इन्द्रियाणि वशे कृत्वा वर्तते वस्तुतः सः एव मनुष्यः अस्तीति भावः। राजकुलम् = शासकसमूहः विचारालयः, तस्य = एतादृशस्य संयतस्य, जनस्य किं करोति= किं विदधाति; न किमपीत्यर्थः। परलोकः = स्वर्गादिः; तस्य हस्ते = करे; निश्चलः = ध्रुवः। सः अवश्यमेव स्वर्गादिकं पुण्यं लोकं गच्छतीति भावः॥ ४७॥

टिप्पणी—संयतः = रोका हुआ, दबाया हुआ, वश मे किया हुआ; सम् + यम् + क्त॥

इस श्लोक में परिसंख्या अलङ्कार एवं गीति तथा उपगीति से मिश्रित छन्द है॥ ४७॥

॥ इति वसन्तसेनामोटनो नामाष्टमोऽङ्कः॥

नवमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति शोधनकः)

शोधनकः—आणत्तम्हि अधिअरणभोइएहिं—'अरे सोहणआ ! ववहारमंडवं गदुअ आसणाइं सज्जीकरेहि' त्ति । ता जाव अधिअरणमंडवं सज्जिदुं गच्छामि (परिक्रम्यावलोक्य च) एदं अधिअरणमंडवं । एस पविसामि । (प्रविश्य; संमार्ज्यासनमाधाय) विवित्तं कारिदं मए अधिअरणमंडवं । विरइदा मए आसणा । ता जाव अधिअरणिआणं उण णिवेदेमि । (परिक्रम्यावलोक्य च) कधं एसो रट्ठिअस्सालो दुट्ठदुज्जणमणुस्सो इदो एव्व आअच्छदि ?। ता दिट्ठिपधं परिहरिअ गमिस्सं । [आज्ञप्तोऽस्म्यधिकरणभोजकै.—'अरे शोधनक ! व्यवहारमण्डपं गत्वासनानि सज्जीकुरु' इति । तद्यावदधिकरणमण्डपं सज्जितुं गच्छामि । एषोऽधिकरणमण्डपः । एष प्रविशामि । विविक्तः कारितो मयाधिकरणमण्डपः । विरचितानि मयासनानि । तद्यावदधिकरणिकानां पुनर्निवेदयामि । कथमेष राष्ट्रियश्यालो दुष्टदुर्जनमनुष्य इत एवागच्छति ?। तद्दृष्टिपथं परिहृत्य गमिष्यामि ।]

(इत्येकान्ते स्थितः)

(ततः प्रविशत्युज्ज्वलवेषधारी शकारः)

शब्दार्थः—शोधनकः = न्यायालय (कचहरी) की सफाई तथा सज्जा आदि करने वाला न्यायालय का कर्मचारी । अधिकरणभोजकैः = न्यायालय के अधिकारियों के द्वारा (अधिकरण = न्यायालय (कचहरी), भोजक = पालक, अअधिकारी) व्यवहारमण्डपम् = न्यायालय को, कचहरी को (व्यवहार = विवाद, मुकदमा, मण्डप = भवन, स्थान) । विविक्तः=स्वच्छ, साफ सुथरा । विरचितानि=ठीक से लगा दिये गये । अधिकरणिकानाम्=न्यायाधीशों को । राष्ट्रियश्यालः=राजा का साला, (शकार) । परिहृत्य=बचाकर । दृष्टिपथम्=आँख को । उज्ज्वलवेषधारी=उज्ज्वल=चमकीला वेष धारण किये हुए ।।

(इसके बाद शोधनक प्रवेश करता है)

अर्थः-शोधनक—न्यायालय के अधिकारियों ने मुझे आज्ञा दी है–'अरे शोधनक ! कचहरी (न्यायालय) में जाकर आसनों को ठीक से लगा दो ।' इसलिए जब तक न्यायालय को व्यवस्थित करने के लिए जाता हूँ । (घूम कर और देख कर) यह न्यायालय है । यह मैं इसमें प्रवेश करता हूँ । (घुस कर, सफाई करके तथा आसन रख कर) मैंने न्यायालय को स्वच्छ करा दिया है । आसनों को मैंने ठीक से लगा दिया है । तो मैं फिर न्यायाधीशों से निवेदन करता हूं । (घूम कर और देख कर) क्या यह राजा का साला दुष्ट दुर्जन आदमी इधर ही आ रहा है ? तो इसकी आँखों से बच कर जाऊँगा ।

शकारः—

ण्हादेहं शलिलजलेहिं पाणिएहिं
उज्जाणे उववणकाणणे णिशण्णे।
णालीहिं शह जुवदीहिं इश्तिआहिं
गंधव्वेहिं शुविहिदएहिं अंगकेहिं ॥ १ ॥
खणेण गंठी खणजूलके मे खणेण बाला खणकुंतले वा।
खणेण मुक्के खण उद्धचूडे चित्ते विचित्ते हगे लाअशाले ॥ २ ॥

अवि, अ विशगंठिगब्भपविश्टेण विअ कीडएण अंतलं मग्गमाणेण पाविदं मए महदंतलं ता कश्श एदं किविणचेश्टिअं पाडइश्शं ?। (स्मृत्वा) आं, शुमलिदं मए। दलिद्दचालुदत्तश्श एदं किविणचेश्टिअं पाडइश्शं। अण्णं च, दलिद्दे खु शे। तश्श शव्वं शंभावीअदि। भोदु, अधिअलणमंडवं गदुअ अग्गदो ववहालं लिहावइश्शं, जधा—चालुदत्तकेण वशंतशेणिआ मोडिअ मालिदा। ता जाव अधिअलणमंडवं ज्जेव्व गच्छामि (परिक्रम्याव-

---

(ऐसा कह कर एकान्त में खड़ा हो जाता है)
(उसके बाद उज्ज्वल वेश धारण किये हुए शकार प्रवेश करता है)

टीका—शोधयति=सम्मार्जनादिना परिष्करोति स्थानमिति शोधनकः = सम्मार्जनादिकर्ता न्यायालयस्य परिचरः। 'आधुनिकन्यायमन्दिरेष्वयं 'बेलीफ' संज्ञया परिचितो राजपुरुषः' इति पृथ्वीधरः। अधिकरणभोजकैः—अधिक्रियते = निर्णयार्थं स्वीक्रियते विवादः अस्मिन्निति अधिकरणम् = न्यायालयः तस्य भोजकैः = भोगकर्तृभिः, विचारकैः इति यावत्; न्यायालयअधिकारिभिः, इति सरलार्थः। व्यवहारस्य = विवादस्य विवादविचारस्य वा ('विवादो व्यवहारः स्यात्' इत्यमरः) मण्डपम् = भवनम्, विचारालयः इत्यर्थः। व्यवहारस्य परिभाषां दर्शयितुं टीकाकारैः मिताक्षरायाः श्लोकद्वयमुद्धृतम्—'विर्नानार्थेव सन्देहे हरणं हार उच्यते। नानासन्देहहरणाद्व्यवहार इति स्मृतः ॥' इति, "परस्परं मनुष्याणां स्वार्थविप्रतिपत्तिपु। वाक्यात् न्यायात् व्यवस्थानं व्यवहार उदाहृतः ॥" इति च। विविक्तः = सम्मार्जनादिना विशुद्धः (विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमरः)। विरचितानि = सज्जीकृतानि, यथास्थानं स्थापितानीत्यर्थः। अधिकरणिकाः = अधिकरणे (विचारालये) नियुक्ताः न्यायाधीशाः; तेषाम्। राष्ट्रियश्यालः = राजश्यालकः शकारः इत्यर्थः; ('राजश्यालस्तु राष्ट्रियः) इत्यमरवचनात् राष्ट्रियशब्देनैवाभीप्सितार्थसिद्धेः श्यालशब्दस्तु अतिशयमहत्त्वद्योतनार्थम्। दृष्टिपथम् = साक्षात्कारम्। परिहृत्य = परित्यज्येत्यर्थः। उज्ज्वलवेषधारी = भव्यपरिधानालङ्कृतः ॥

लोक्य च) एशं तं अधिअलणमंडवं। एत्थ पविशामि। (प्रविश्यावलोक्य च) कधं आशणाइं दिण्णइं च्चियश्टंति ?। जाव आअश्शंति अधिअलणभोइआ, दाव एदश्शि दुव्व-चत्तले मुहुत्तअं उवविशिअ पडिवालइश्शं।

[स्नातोऽहं सलिलजलैः पानीयैरुद्यान उपवनकानने निषण्णः।
नारीभिः सह युवतीभिः स्त्रीभिर्गन्धर्व इव सुहितैरङ्गकैः॥
क्षणेन ग्रन्थिः क्षणजूलिका मे क्षणेन बालाः क्षणकुन्तला वा।
क्षणेन मुक्ताः क्षणमूर्ध्वचूडाश्चित्रो विचित्रोऽहं राजश्यालः॥

स्नातोऽहमिति—

अन्वयः—अहम्, सलिलजलैः, पानीयैः, स्नातः; नारीभिः, युवतीभिः, सह, उद्याने, उपवनकानने, निषण्णः; सुहितैः, अङ्गकैः, गन्धर्वः, इव, (प्रतीतः, भवामि)॥ १॥

शब्दार्थः—अहम् = मैंने, सलिलजलैः = जल (सलिल) से, पानीयैः = पानी से, स्नातः = नहाया है। नारीभिः = स्त्रियों के, युवतोभि = युवती (जवान), स्त्रिभिः = स्त्रियों के, सह = साथ, उद्याने = बगीचे, उपवनकानने = वाटिका (बगीचे) में, निषण्णः = बैठा हुआ, सुहितै = सजे हुए, अङ्गकैः = अङ्गों से, गन्धर्वः = गन्धर्व, इव = जैसा, (प्रतीतः = मालूम (ज्ञात), भवामि = होता हूँ)॥

अर्थः—शकार—मैंने पानी (सलिल, पानीय) से नहाया है। युवती स्त्रियों (नारियों) के साथ फूल के बगीचे (उपवन, कानन) में बैठा हुआ सजे हुए अङ्गों से मैं गन्धर्व जैसा लगता हूँ॥ १॥

टीका—अहम् = विशिष्टाधिकारसम्पन्न शकारः इत्यर्थः; सलिलैः जलैः पानीयैः = जलैः; स्नातः = कृतस्नान; नारीभिः युवतीभिः स्त्रीभिः = वनिताभिः; सह = साकम्; उद्याने उपवनकानने = गृहवाटिकायामित्यर्थः; निषण्णः = उपविष्टः; सुहितैः = सुविहितैः, सुभूषितैः इत्यर्थः; अङ्गकैः = अवयवैः; उपलक्षितः अहमिति शेषः; गन्धर्वः = गानविद्या—परायणः देवयोनिविशेषः; इव; प्रतीतः भवामीति शेषः। शकारवचनात् पौनरुक्त्यं न दोषायेति ज्ञेयम्॥ १॥

टिप्पणी—इस श्लोक में प्रहर्षिणी छन्द है।

छन्द का लक्षण—

म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्॥ १॥

क्षणेनग्रन्थिरिति—

अन्वयः—मे (केशेषु), क्षणेन, ग्रन्थिः, क्षणजूलिका, (भवति); क्षणेन, (ते)

अपि च, विषग्रन्थिगर्भप्रविष्टेनेव कोटकेनान्तरं मार्गमाणेन प्राप्तं मया महदन्तरम्। तत्कस्येदं कृपणचेष्टितं पातयिष्यामि ?। आं, स्मृतं मया। दरिद्रचारुदत्तस्येदं कृपणचेष्टितं

बालाः, वा, क्षणकुन्तलाः, क्षणेन, मुक्ताः, क्षणम्, ऊर्ध्वचूडाः (भवन्ति); (सत्यम्) अहम्, चित्रः, विचित्रः, राजश्यालः, (अस्मि) ॥ २ ॥

शब्दार्थः—मे = मेरे, (केशेषु = शिर के बालों में), क्षणेन = एक क्षण में, ग्रन्थिः = गाँठ (लगती है), क्षणजूलिका = एक क्षण में जूड़ा, (भवति = होती है, बँधती है)। क्षणेन = एक क्षण में; (ते = वे केश) बालाः = मामूली बाल, वा = और, क्षणकुन्तलाः = क्षणभर में घुँघराले बाल, क्षणेन = क्षणभर में, मुक्ताः = बिखेरे गये, क्षणम् = क्षणभर में, ऊर्ध्वचूडाः = ऊपर की ओर जूड़ा, (भवन्ति - बन जाते हैं)। (सत्यम् = सचमुच), अहम् = मैं, चित्रः = विलक्षण, विचित्रः = अद्भुत, राजश्यालः = राजा का साला, (अस्मि = हूँ) ॥

अर्थः—मेरे शिर के बालों में एक क्षण में गाँठ लगती है तो दूसरे क्षण में जूड़ा बँधती है। क्षण भर में वे मामूली बाल बन जाते हैं तो दूसरे क्षण में घुँघराले बाल हो जाते हैं। पुनः क्षणभर में ही वे बिखेर दिये जाते हैं तो क्षणभर में ही ऊपर की ओर जूड़ा बन जाते हैं। (सचमुच) मैं बड़ा ही चित्र-विचित्र राजा का साला हूँ ॥ २ ॥

टीका—मे = मम; केशेष्विति शेषः; क्षणेन = क्षणकालम्; कस्मिंश्चित् समये इत्यर्थः; ग्रन्थि = ग्रन्थिबन्धनम्; बालानामेकत्र संयमनमित्यर्थः; क्षणेन जूलिका = जूटिका ('जूडा' इति प्रसिद्धः); भवतीति शेषः। क्षणेन (ते = केशाः) बाला = साधारणकेशाः; वा = अथवा; क्षणेन कुन्तलाः = कुटिलबालाः; क्षणेन मुक्ताः = बन्धनहीनाः, इतस्ततः प्रक्षिप्ताः इत्यर्थः; क्षणम् उर्ध्वचूडा–ऊर्ध्वम् = उपरिभागे चूडा = शिखा येषां तथाभूताः; भवन्ति। सत्यम्; अहम् = शकारः; चित्रः विचित्रः = विलक्षणः; राज्ञः = शासकस्य, पालकस्येत्यर्थः; श्यालः = स्त्रीभ्राता; अस्मीति शेषः। केशेषु सौन्दर्यमाधातुं मौर्ख्यात् शकारः तेषां विविधान् रूपान् करोतीति भावः। राजश्यालत्वेन मयि सर्वं संभाव्यते इति भावः; इति पृथ्वीधरः ॥ २ ॥

टिप्पणी – ग्रन्थिः = गाँठ, गुच्छा; √ ग्रन्थ + इन्। मुक्ताः = ढीला किये हुए, बिखेरे गये; √ मुच् + क्त + प्रथमाबहु० ॥

इस श्लोक में कुछ लोग उपजाति छन्द मानते हैं और कुछ लोग उपेन्द्रवज्रा छन्द।

(स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ॥)

अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजायस्ताः ॥ २ ॥

पातयिष्यामि। अन्यच्च, दरिद्रः खलु सः। तस्य सर्वं संभाव्यते। भवतु, अधिकरणमण्डपं गत्वाऽग्रतो व्यवहारं लेखयिष्यामि, यथा—चारुदत्तेन वसन्तसेना मोटमित्वा मारिता। तद्यावदधिकरणमण्डपमेव गच्छामि। एष सोऽधिकरणमण्डपः। अत्र प्रविशामि। कथमासनानि दत्तानि तिष्ठन्ति?। यावदागच्छन्त्यधिकरणभोजका, तावदेतस्मिन्दूर्वाचत्वरे मुहूर्तमुपविश्य प्रतिपालयिष्यामि।]

(तथा स्थितः)

शोधनकः—(अन्यतः परिक्रम्य, पुरो दृष्ट्वा) पेदे अधिअरणिआ आअच्छन्ति; ता

शब्दार्थः—विषग्रन्थिगर्भप्रविष्टेन = विष की गाँठ के भीतर घुसे हुए, कीटकेन = कीड़े (के), इव = समान, अन्तरम् = मार्ग को, मार्गमाणेन = ढूँढ़ने वाले। महत् = महान्, अन्तरम् = उपाय। कृपणचेष्टितम् = कुकृत्य को। कस्य = किसके (उपरि = ऊपर), पातयिष्यामि = थोप दूँगा। आम् = हाँ, अच्छा, स्मृतम् = याद आ गया। तस्य = उसके लिये, सर्वम् = सबकुछ, संभाव्यते = सम्भव माना जा सकता है। मोटयित्वा = गला घोट कर। अधिकरणमण्डपम् = न्यायालय भवन को, कचहरी को। अग्रतः = सब से पहले। व्यहारम् = विवाद को, मुकदमा को। अधिकरणभोजकाः = न्यायालय के अधिकारीगण। दुर्वाचत्वरे = दूबवाले चबूतरे पर। प्रतिपालयिष्यामि = प्रतीक्षा करता हूँ। अधिकरणिकः = न्यायाधीश, जज। व्यवहारपराधीनतया = विवाद (मुकदमा) के पराधीन होने के कारण, परचित्तग्रहणम् = दूसरे के चित्त (मन की बात) को जानना, दुष्करम् = कठिन है॥

अर्थः-और भी—

विष की गाँठ के भीतर घुसे हुए कीड़े के समान मार्ग ढूँढते हुए मैंने महान् उपाय पा लिया है। तो इस कुकृत्य को किसके ऊपर थोप दूँगा। (याद करके) हाँ, याद आ गयी। इस कुकृत्य को दरिद्र चारुदत्त के ऊपर थोप दूँगा। और वह दरिद्र भी है। अतः उसके लिए सब कुछ सम्भव माना जा सकता है। तो, न्यायालय में जाकर सबसे पहले ही विवाद को लिखवाऊँगा कि—'चारुदत्त ने वसन्तसेना का गला घोंट कर मार डाला।' तो जब तक न्यायालय में ही चलता हूँ। (घूम कर और देख कर) वह यह न्यायालय है। इसमें घुसता हूँ। (घुस कर और देख कर) क्या आसन लगा दिये गये हैं?। जब तक न्यायालय के अधिकारी आते हैं तब तक इस दूब वाले चबूतरे पर थोड़ी देर बैठ कर प्रतीक्षा करता हूँ।

(उसी प्रकार बैठता है)

जाव उवसप्पामि । [एतेऽधिकरणिका आगच्छन्ति; तद्यावदुपसर्पामि ।] (इत्युपसर्पति)

(ततः प्रविशति श्रेष्ठिकायस्थादिपरिवृतोऽधिकरणिकः)

अधिकरणिकः—भो भोः श्रेष्ठिकायस्थौ ! ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—आणवेदु अज्जो । [आज्ञापयत्वार्यः ।]

अधिकरणिकः—अहो ! व्यवहारपराधीनतया दुष्करं खलु परचित्तग्रहणमधिकरणिकैः ।

शोधनक—(दूसरी ओर घूमकर एवं सामने देखकर) ये न्यायालय के अधिकारी आ रहे हैं । तो उनके पास चलता हूँ । (ऐसा कह कर पास में जाता है)

(उसके बाद श्रेष्ठी तथा कायस्थ आदि से घिरा हुआ न्यायाधीश प्रवेश करता है)

अधिकरणिक (न्यायाधीश)—सेठ जी और कायस्थ जी !

श्रेष्ठिकायस्थ—आर्य ! आज्ञा दीजिये ।

अधिकरणिक—अहो ! विवाद (व्यवहार) के पराधीन होने के कारण न्यायाधीशों के द्वारा दूसरों (वादी-प्रतिवादी) के चित्त को जानना कठिन है । (अर्थात्-अपराधी लोग सच्ची बात को छिपा देते हैं । अतः सचाई का पता लगाना बड़ा मुश्किल है) ।

टीका—विषस्य गरलांशविशिष्टस्य तरोः इत्यर्थः ('विषं तु गरले तोये' इति विश्वः) ग्रन्थेः = पर्वणः गर्भे = अभ्यन्तरे प्रविष्टेन = गतेन; कीटकेन = क्षुद्रजन्तुना; इव; अन्तरम् = अवकाशम्, बहिर्गमनाय छिद्रमित्यर्थः; उपायञ्च; मार्गमाणेन = अन्वेषयता । महत् = उद्भुतम्; अन्तरम् = उपायम् । कृपणं च तच्चेष्टितं कृपणचेष्टितम् = दीनकर्म, कुकृत्यमित्यर्थः । कस्य = जनस्य; उपरीति शेषः; पातयिष्यामि = स्थापयिष्यामि । आमिति स्मरणार्थकमव्ययपदम् । स्मृतम् = स्मरणं कृतम् । तस्य = दरिद्रस्य चारुदत्तस्य; सर्वम् = मारणादिकं पापकर्म; संभाव्यते = युज्यते । दरिद्रः दुर्गत्या प्रेरितः अकृत्यञ्चापि करोति इति साधारणः विश्वासः । अतः चारुदत्तेन वसन्तसेना मारितेति विश्वासं कर्तुं सुशक्यमिति भावः । मोटयित्वा = ग्रीवां भ्रामयित्वा, निष्पीड्य वा । अधिकरणस्य = विचारालयस्य मण्डपम् = भवनम् । अधिकरणशब्देनैव विचारालयभवनस्योपस्थितेः पुनः मण्डपशब्दस्य प्रयोगः 'राहोः शिरः' इव ज्ञेयः । अग्रतः = प्रथमम् । व्यवहारम् = विवादम् । अधिकरणभोजकाः = न्यायालयाधिकारिणः । दूर्वाचत्वरे = कोमलतृणाच्छन्नायां वेदिकायामित्यर्थः । प्रतिपालयिष्यामि = मार्गप्रतीक्षां करिष्यामि । अधिकरणे = न्यायालये नियुक्तः अधिकरणिकः = न्यायाधीशः । व्यवहारस्य = विवादस्य विवादनिर्णयस्येत्यर्थः, पराधीनतया = परायत्ततया, वादिप्रतिवादिसा-

छन्नं कार्यमुपक्षिपन्ति पुरुषा न्यायेन दूरीकृतं
स्वान्दोषान् कथयन्ति नाधिकरणे रागाभिभूताः स्वयम् ।
तैः पक्षापरपक्षवर्धितबलैर्दोषैर्नृपः स्पृश्यते
संक्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुर्गुणो दूरतः ॥ ३ ॥

क्ष्यादीनां निर्देशाधीनतया इत्यर्थः । पृथ्वीधरस्तु 'व्यवहारो नाम विवादः, तस्य परायत्ततया तन्मात्रप्रयोज्यत्वेन परस्यान्यस्य; अन्यत्स्मृतिशास्त्रं कामन्दकादिनीतिशास्त्रं बुद्धिश्च नीतिपट्वी सत्यासत्य-पराभिप्रायज्ञानं दुर्ज्ञेयमधिकरणकैर्न्यायाधीशैरिति तत्त्वम् ' इति व्याख्यां विदधाति । परेषाम् = वादिप्रतिवादिप्रभृतीनामित्यर्थः, चित्तस्य = मानसः, हृद्गतभावस्येति यावत्; ग्रहणम् = अवबोधनम्; व्यवहारसम्बन्धिनः जनाः सत्यं वदन्ति उतासत्यम्; एतेषां कथनं हृदयानुकूलं विपरीतं वेति ज्ञानम्; अधिकरणिकानां कृते दुष्करम् = दुःसाध्यम् । परचित्तानुवर्तनमतीव कठिनमिति भावः ॥

छन्नमिति—

अन्वयः—पुरुषाः, न्यायेन, दूरीकृतम्, कार्यम्, छन्नम्, (कृत्वा), उपक्षिपन्ति; रागाभिभूताः; (ते), अधिकरणे, स्वयम्, स्वान्, दोषान्, न, कथयन्ति; (अतः), पक्षापरपक्षवर्धितबलैः, तैः, दोषैः, नृपः, स्पृश्यते; संक्षेपात्, द्रष्टुः, अपवादः, एव, सुलभः; गुणः, (तु), दूरतः, (एव) ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—पुरुषाः = मनुष्य, न्यायेन = न्याय से, दूरीकृतम् = रहित, कार्यम् = कार्य को, छन्नम् = छिपा हुआ, (कृत्वा = करके), उपक्षिपन्ति = उपस्थित करते हैं । रागाभिभूताः = आसक्ति अथवा क्रोध के वशीभूत, (ते = वे लोग), अधिकरणे = न्यायालय में, स्वयम् = अपने आप, स्वान् = अपने, दोषान् = दोषों को, न = नहीं, कथयन्ति = बतलाते हैं । (अतः = इसलिये), पक्षापरपक्षवर्धितबलैः = वादी और प्रतिवादी से बढ़ाये गये बल वाले, तैः = उन, दोषैः = दोषों से, नृपः = राजा, स्पृश्यते = छुआ जाता है (अर्थात् दूषित होता है), संक्षेपात् = संक्षेप से, द्रष्टुः = न्यायाधीश को, अपवादः = अपयश, एव = ही, सुलभः = आसान है; गुणः = यश, (तु = तो), दूरतः = दूर, (एव = ही; है) ॥

अर्थः—मनुष्य (वादी तथा प्रतिवादी) न्याय से रहित अर्थात् अनुचित काम को छिपा करके (फैसला के लिये) उपस्थित करते हैं । (अपने प्रयोजन को सिद्ध करने को) आसक्ति अथवा क्रोध के वशीभूत वे लोग न्यायालय में स्वयं अपने दोषों को नहीं बतलाते हैं । इसलिए वादी और प्रतिवादी दोनों पक्षों से बढ़ाये गये बलवाले उन दोषों से

अपि च—

छन्नं दोषमुदाहरन्ति कुपिता न्यायेन दूरीकृताः
स्वान्दोषान् कथयन्ति नाधिकरणे सन्तोऽपि नष्टा ध्रुवम् ।
ये पक्षापरपक्षदोषसहिताः पापानि संकुर्वते
संक्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुर्गुणो दूरतः ॥ ४ ॥

राजा दूषित होता है (अर्थात् दोनों पक्ष जब बात को छिपा कर पेश करते हैं तब राजा भी ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाता अतः वह भी दोषी ठहरता है)। संक्षेप में न्यायाधीश को अपयश मिलना ही आसान है, यश का मिलना तो दूर रहा ॥ ३ ॥

टीका—पुरुषाः = स्वपक्षोपस्थापनपराः वादिप्रतिवादिजनाः; न्यायेन = नीत्या सत्येन वा; दूरीकृतम् = वर्जितम्; कार्यम् = अभियोगादिकम्; छन्नम् = असत्यं सत्येनावृतं सत्यमसत्येनाच्छादितम्; कृत्वा = विधाय; उपक्षिपन्ति = उपस्थापयन्ति। छलेन बलेन च यथा भवेदभीप्सितार्थसिद्धिस्तथा ते प्रयतन्ते इति भावः। रागेण = आसक्त्या क्रोधेन वा अभिभूताः = आक्रान्ताः; रागोपहितचित्ताः इत्यर्थः; ते = वादिप्रतिवादिप्रभृतयः; अधिकरणे = न्यायालये; स्वयम्; स्वान् = आत्मीयान्; दोषान् = अपराधान्; न कथयन्ति = न वदन्ति; न स्वीकुर्वन्ति इत्यर्थः। अतः पक्षापरपक्षवर्धितबलैः— पक्षः = वादी वादिसम्बद्धजनश्च, अपरपक्षः = प्रतिवादी प्रतिवादिसम्बद्धजनश्च ताभ्यां पक्षापरपक्षाभ्याम् = दोषसंस्थापननिराकरणपराभ्यां पक्षविपक्षाभ्याम्, वर्धितम् = अधर्माचरणेन वृद्धिङ्गतम्, बलम् = पातनशक्तिः येषां तादृशैः; तैः = व्यवहारविवेचने उपस्थापितैः, दोषैः = पापैः; नृपः = राजा, राज्ञः प्रतिनिधिभूतः न्यायाधीशः इत्यर्थः; स्पृश्यते = सम्बध्यते। निर्णीतस्य सत्यस्य यथार्थस्य च न्यायस्य अभावे न्यायाधीशः दोषभाग्भवति। तदुक्तं मनुना भगवता—'अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चाधिगच्छति॥' संक्षेपात् = सारतः किं बहुना कथनेनेति भावः; द्रष्टुः = निर्णेतुः, व्यवहारदर्शिनः न्यायाधीशस्य; अपवादः = अयशः; एव; सुलभः = सुखलभ्यः, अनायासप्राप्त इत्यर्थः; गुणः = प्रशंसा कीर्तिर्वा तु दूरतः एव = दुर्लभः एव। भ्रमवशादसत्यस्य सत्यनिर्णयात् सत्यस्य च असत्यनिर्णयात् न्यायकर्ता निन्दापात्रमेव बहुधा भवति न तु कीर्तिभागिति भाव ॥ ३ ॥

टिप्पणी—छन्नम् = ढका हुआ, छिपा हुआ, गुप्त; √छद् + क्त ॥

इस श्लोक में उत्तरार्द्ध वाक्य के प्रति पूर्वार्द्ध वाक्य के हेतु होने के कारण काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित। छन्द का लक्षण—

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ३ ॥

छन्नं दोषमिति—

अन्वयः—कुपिताः, (अतः), न्यायेन, दूरीकृताः, (ये, पुरुषाः), अधिकरणे, छन्नम्, दोषम्, उदाहरन्ति; (तथा), स्वान्, दोषान्, न, कथयन्ति; (एभिः, सह, ते), सन्तः, अपि, ध्रुवम्, नष्टाः, (भवन्ति); ये पक्षापरपक्षदोषसहिताः, पापानि, संकुर्वते; संक्षेपात्, द्रष्टुः, अपवादः, एव, सुलभः; गुणः, (तु), दूरतः, एव ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—कुपिता = क्रुद्ध, (अतः = अतएव) न्यायेन = न्याय से, सत्य से, दूरीकृताः = हीन, (ये पुरुष = जो पुरुष), अधिकरणे = न्यायालय में, छन्नम् = छिपे हुए, दोषम् = (दूसरों के) दोष को, उदारहन्ति = उपस्थित करते हैं: (तथा = तथा) स्वान् = अपनी दोषान् = गलतियों को, न कथयन्ति = नहीं कहते हैं; (एभिः सह = इन लोगों के साथ, ते = वे); सन्तः = सज्जन व्यक्ति अपि = भी ध्रुवम् = निश्चय ही, नष्टाः = नष्ट, (भवन्ति = होते हैं); ये - जो पक्षापरपक्षदोषसहिताः = वादी एव प्रतिवादी के दोषों मे भागीदार होकर, पापानि = पाप, संकुर्वते = करते हैं । संक्षेपात् = संक्षेप (में), द्रष्टुः = न्यायाधीशको. अपवादः = अपयश, एव = ही, सुलभः = आसान है अर्थात् आसानी से मिलता है, गुणः=यश, (तु = तो), दुरतः एव=दूर रहा ॥

अर्थः–और भी—

कुपित अतएव न्याय से हीन (जो पुरुष) न्यायालय मे छिपा करके (दूसरों के) दोष उपस्थित करते हैं, तथा न्यायालय मे अपनी गलतियों को नही कहते हैं; (ऐसे लोगों के साथ) वे सज्जन व्यक्ति भी निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं, जो वादी एवं प्रतिवादी के दोष मे भागीदार होकर पाप करते हैं । संक्षेप में न्यायधीश को अपयश मिलना ही आसान है, यश तो दूर रहा ॥४॥

टीका—कुपिताः = क्रुद्धाः (अतः = अस्मात् कारणात्), न्यायेन = नीत्या, सत्येनेत्यर्थः; दूरीकृताः = विरहिताः; ये = ये पुरुषाः इति शेषः, अधिकरणे = न्यायभवने; छन्नम् = असत्यं सत्येन गुप्तं सत्यमसत्येनावृतम्, गुप्तमित्यर्थः; दोषम् = पापम् अपराधं वा, अन्योन्यस्येति शेषः; उदाहरन्ति = वाचनिकैः पत्रलेख्यादिभिर्वा प्रमाणैः उपस्थापयन्ति; तथा स्वान् = निजान्; दोषान् = अपराधान्; न कथयन्ति = न प्रकाशयन्ति । एभिः छलप्रपञ्चनिबद्धहृदयैः जनैः सह; ते सन्तः = साधवः, वस्तुतः अपराधरहिताः न्यायाधीशादयः अपि; ध्रुवम् = अवश्यम्; नष्टाः = पतिताः; भवन्तीति शेषः; ये = साधवः; पक्षाणाम् = वादिपक्षाणाम् अपरपक्षाणाम् = प्रतिवादिपक्षाणाम् दोषेण = पापेन सहिताः= युक्ताः; रागलोभादिना अज्ञानेन वा पक्षापरपक्षाणां दोषैः सहिताः इत्यर्थः; पापानि =

यतोऽधिकरणिकः खलु

शास्त्रज्ञः कपटानुसारकुशली वक्ता न च क्रोधन-
स्तुल्यो मित्रपरस्वकेषु चरितं दृष्ट्वैव दत्तोत्तरः।
क्लीबान्पालयिता शठान्व्यथयिता धर्म्यो न लोभान्वितो
द्वार्भावे परतत्त्वबद्धहृदयो राज्ञश्च कोपापहः ॥ ५ ॥

अनुचितकार्याणि; संकुर्वते = कुर्वन्ति। संक्षेपात् = सारतः; द्रष्टुः = न्यायदर्शिनः; अपवादः = अपकीर्तिरेव; दोषः इत्यर्थः; सुलभः = अनायासलभ्यः, गुणः = यशस्तु दूरतः एव = दुष्प्रापः एव भवतीति ॥ ४ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार एवं शार्दूलविक्रीडित छन्द है। देखिये पीछे के श्लोक की टिप्पणी ॥ ४ ॥

शास्त्रज्ञः इति—

अन्वयः—(अधिकरणिकः), शास्त्रज्ञः, कपटानुसारकुशलः, वक्ताः, न च क्रोधनः, मित्रपरस्वकेषु, तुल्यः, चरितम्, दृष्ट्वा, एव, दत्तोत्तरः, क्लीबान्, पालयिता, शठान्, व्यथयिता, धर्म्यः, न, लोभान्वितः, द्वार्भावे, परतत्त्वबद्धहृदयः, च, राज्ञः, कोपापहः, (भवेत्) ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—(अधिकरणिकः = न्यायधीशः), शास्त्रज्ञः, = शास्त्रों को जानने वाला, कपटानुसारकुशलः = कपट को पकड़ने में चतुर, वक्ता = बोलने में चतुर, न च क्रोधनः = क्रोध न करने वाला, मित्रपरस्वकेषु = मित्र, शत्रु एवं अपने लोगों में, तुल्यः = समान भाव रखने वाला, चरितम् = व्यवहार को, दृष्ट्वा = देखकर, एव = ही, दत्तोत्तरः = उत्तर देने वाला, क्लीबान् = दुर्बलों को, पालयिता = पालने वाला, बचाने वाला, शठान् = धूर्तों को, व्यथयिता = दण्ड देने वाला, धर्म्यः = धार्मिक, न लोभान्वितः = निर्लोभी, द्वार्भावे = उपाय रहने पर, परतत्त्वबद्धहृदयः = पूरी सही बात को (खोज निकालने में) दत्तचित्त, च = और, राज्ञः = राजा के, कोपापहः = कोप को नष्ट करने वाला, (भवेत् = होना चाहिये) ॥

अर्थः क्योंकि न्यायाधीश तो

शास्त्रों को जानने वाला; (मनुष्यों के) कपट को पकड़ने में चतुर; वक्ता; क्रोध न करने वाला; मित्र, शत्रु एवं अपने लोगों में समान भाव रखने वाला; (वादी प्रति-वादी के) व्यवहार को देख कर ही उत्तर देने वाला; दुर्बलों का रक्षक; धूर्तों को दण्ड देने वाला; धार्मिक; निर्लोभी; उपाय रहते पूरी सही बात को खोज निकालने में दत्तचित्त एवं राजा के कोप को नष्ट करने वाला होना चाहिए ॥

श्रेष्ठिकायस्थौ—अज्जस्स वि णाम गुणे दोसो त्ति वुच्चदि । जइ एव्वं, ता चंदालोए वि अंधआरो त्ति वुच्चदि । [आर्यस्यापि नाम गुणे दोष इत्युच्यते । यद्येवम्; तदा चन्द्रालोकेऽप्यन्धकार इत्युच्यते ।]

टीका—अधिकरणिकः कीदृश. भवितव्यः इति जिज्ञासायां कथयति—अधिकरणिकः; शास्त्राणि = धर्मशास्त्राणि नीतिशास्त्राणि च जानातीति शास्त्रज्ञः = मनुस्मृत्यादिशास्त्रमर्मज्ञः; कपटस्य = कैतवस्य ('कपटोऽस्त्रीव्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः) वादिप्रतिवादिविहितस्येति शेषः, अनुसारे = अनुसरणे, ग्रहणे इति यावात्, कुशलः = प्रवीणः (प्रवीणे निपुणाभिज्ञाविज्ञ न'ष्णातशिक्षिताः । वैज्ञानिकः कृतमुखः कृती कुशल इत्यपि ॥ इत्यमरः) जनोऽयं कपटेन वदति निष्कपटभावेन वा इति ज्ञातुं समर्थः इत्यर्थः; वक्ता = वाग्मी ('वक्ता तु पण्डितेऽपि स्याद्वाग्मिन्यप्यभिधेयवत्' इति विश्वः); न च क्रोधनः = क्रोधी, क्रोधे द्रष्टुः न्यायात् पथः प्रविचलनसम्भवात्; मित्रेषु = सुहृत्सु, परेषु = स्वसम्बन्धरहितेषु शत्रुषु वा, स्वकेषु = स्वसम्बन्धिषु च; शत्रौ मित्रे चेत्यर्थः; तुल्यः = समन्यायः न्यास्याग्रे सम्बन्धासम्बन्धविषयेष्वसमोक्ष्यकारी इत्यर्थः; चरितम् = व्यवहारम्; दृष्ट्वा = अवलोक्यैव; दत्तम् = श्रावितम्, उत्तरम् = निर्णयः येन तथाभूतः; क्लीबान् = दुर्बलान्, विक्रमरहितानित्यर्थः ('क्लीबं नपुंसके पण्ढे वाच्यलिङ्गमविक्रमे' इत्यमरः); पालयिता = रक्षकः; शठान् = दुष्टान्; व्यथयिता = दण्डयिता; धर्माद् अनपेतः धर्म्यः = धर्मानुसारी; धार्मिकः इति यावत्; न लोभेन = तृष्णया अन्वितः = युक्तः, लोभविरहितः इति यावत्; लोभे संग्रहेच्छा, तस्यां धनिकसम्पर्कः; तेन धनप्राप्तिः, प्राप्तौ पक्षपातः, पक्षपातेन न्यायभ्रंशनमिति भावः । द्वार्भावे = द्वाः = द्वारम्, उपायः इत्यर्थः, तस्य भावे = उपस्थितौ, उपाये सतीत्यर्थः, परतत्त्वबद्धहृदयः—परम् = उत्कृष्टम् यत् तत्त्वम् = याथार्थ्य तस्मिन् बद्धः = संलग्नम्, हृदयम् = चेतः यस्य तादृशः, पूर्ण सत्यम् अन्वेष्टुं दत्तमतिः इति भावः, अथवा परेषाम् = अन्येषाम्, वादिप्रतिवादिनामित्यर्थः, तत्त्वे = यथार्थताज्ञाने बद्धहृदयः = दत्तचित्तः; च = तथा; राज्ञः = शासकस्य; कोपम् = क्रोधम् अपहन्ति = दूरीकरोतीति कोपापहः = क्रोधापसारक ; भवेदिति शेषः । अनेन पथा गमनप्रवृत्तेन न्यायाधीशेनैव जनकल्याणस्य सन्न्यायस्य च संभवादितिभाव ॥५॥

टिप्पणी—क्रोधनः = गुस्से से भरा हुआ, क्रोधाविष्ट; ✓ क्रुध् + ल्युट् । धर्म्यः = धर्म या न्याय को न छोड़ने वाला, धर्म + यत् ॥

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है । छन्द के लक्षण के लिए देखिये पीछे श्लोक तीन की टिप्पणी ॥ ५ ॥

अधिकरणिकः— भद्र शोधनक ! अधिकरणमण्डपस्य मार्गमादेशय ।

शोधनक—एदु एदु अधिअरणभोइओ ! एदु । [एत्वेत्वधिकरणभोजक ! एतु ।]

(इति परिक्रामन्ति)

शोधनकः—एदं अधिअरणमंडवं । ता पविसंतु अधिअरणभोइआ । [अयमधिकरण-मण्डपः, तत्प्रविशन्त्वधिकरणभोजकाः ।

(सर्वे च प्रविशन्ति)

अधिकरणिकः—भद्र शोधनक ! बहिर्निष्क्रम्य ज्ञायताम्—'कः कः कार्यार्थी, इति ।

शोधनकः—जं अज्जो आणवेदि । (इति निष्क्रम्य) अज्जा ! अधिअरणिआ भणंति—'को को इध कज्जत्थी' त्ति । [यदार्य आज्ञापयति । आर्याः ! अधिकरणिका भणन्ति—'कः क इह कार्यार्थी' इति ।]

शब्दार्थः—चन्द्रालोके = चाँदनी में, चाँद के प्रकाश में, अन्धकारः = अँधेरा । कार्यार्थी = मुकदमा पेश करने वाला । साटोपम् = रोब के साथ, घमण्ड के साथ । वरपुरुषः = बड़ा आदमी वासुदेवः = साक्षात् कृष्ण । व्यवहारम् = मुकदमा के लिए, विचार के लिए । उपरागः = ग्रहण, महापुरुषनिपातम् = महान् आदमी की मृत्यु को । व्याकुलेन = घबड़ाहट से परिपूर्ण । व्यवहारः = मुकदमा । आवुत्तम् = जीजा को, विज्ञाप्य = सूचितन करके । स्थापयिष्यामि = नियुक्त करा दूँगा । नाम = संभवतः । व्यवहारार्थिनः = कार्यार्थी (अर्थात् न्यायालय से निर्णय चाहने वाले को), स्थिर-संस्कारता = निर्भीकता, मानसिक संस्कारों की दृढ़ता । मल्लकप्रमाणस्य = कप (कसोरा) जैसे ॥

अर्थः—**श्रेष्ठि-कायस्थ**—क्या आप के गुणों में भी दोष है, ऐसा कहा जा सकता है (अर्थात् क्या आप में भी दोष निकाला जा सकता है) ? यदि ऐसी बात है तो चाँदनी में भी अँधेरा कहा जा सकता है ।

अधिकरणिक—भले मनुष्य शोधनक ! न्यायालय का रास्ता बतलाओ ।

शोधनक—आइये,आइये, न्यायाधीश महोदय जी! आइये ।

(इस प्रकार सभी घूमते हैं)

शोधनक—यह न्यायालय का भवन है, तो माननीय न्यायाधीश प्रवेश करें ।

(सभी प्रवेश करते हैं)

अधिकरणिक—भले मनुष्य शोधनक ! बाहर जाकर मालूम करो कि—'कौन-कौन से लोग मुकदमा पेश करना चाहते हैं' ।

शकारः—(सहर्षम्) उवत्थिए अधिअलणिए ! (साटोपं परिक्रम्य) हग्गे वलपुलिशे मणुश्शे वाशुदेवे लश्टिअशाले लाअशाले कज्जत्थी । (उपस्थिता अधिकरणिकाः ? अहं वरपुरुषो मनुष्यो वासुदेवो राष्ट्रियश्यालो राजश्यालः कार्यार्थी ।]

शोधनकः—(ससंभ्रमम्) हीमादिके, पढमं ज्जेव रट्ठिअसालो कज्जत्थी । भोदु, अज्ज ! मुहुत्तं चिट्ठ । दाव अधिअरणिआणं णिवेदेमि । (उपगम्य) अज्जा ! एसो खु रट्ठिअसालो कज्जत्थी ववहारं उवत्थिदो । [हन्त, प्रथममेव राष्ट्रियश्यालः कार्यार्थी । भवतु, आर्य ! मुहूर्तं तिष्ठ । तावदधिकरणिकानां निवेदयामि । आर्याः एष खलु राष्ट्रियश्यालः कार्यार्थी व्यवहारमुपस्थितः ।]

अधिकरणिकः—कथं प्रथममेव राष्ट्रियश्यालः कार्यार्थी ? । यथा सूर्योदये उपरागो महापुरुष नपातमेव कथयति । शोधनक ! व्याकुलेनाद्य व्यवहारेण भवितव्यम् । भद्र ! निष्क्रम्योच्यताम्—'गच्छाद्य, न दृश्यते तव व्यवहारः' इति ।

शोधनकः—जं अज्जो आणवेदि त्ति । (निष्क्रम्य; शकारमुपगम्य) अज्ज ! अधिअरणिआ भणंति—'अज्ज ! गच्छ । ण दीसदि तव ववहारो त्ति' । [यदार्य आज्ञापयतीति । आर्य ! अधिकरणिका भणन्ति—'अद्य गच्छ । न दृश्यते तव व्यवहारः' ।]

शोधनक—जैसी आप की आज्ञा । (ऐसा कह कर और निकल कर) सज्जनों न्यायाधीश कहते हैं कि—'यहाँ कौन-कौन से लोग मुकदमा पेश करना चाहते हैं ?'

शकार—(प्रसन्नता के साथ) न्यायाधीश लोग आ गये ? (घमण्ड के साथ चलकर) मैं बड़ा आदमी, मनुष्य, वासुदेव, राजा का शाला, राजश्याल मुकदमा पेश करना चाहता हूँ (कार्यार्थी हूँ) ।

शोधनक—(घबराहरट के साथ) दुःख है, पहले ही पहल राजा का साला कार्यार्थी (मुकदमा पेश करने वाला) है । अच्छा श्रीमान् जो ! क्षण भर ठहरिये । तो न्यायाधीश महोदय से कह दूँ । (न्यायाधाश के पास में जाकर) आर्य ! यह राजा का साला कार्यार्थी होकर निर्णय के लिए आया है ।

अधिकरणिक--क्यों पहले ही राजा का साला कार्यार्थी है ? जैसे सूर्योदय के समय का ग्रहण किसी महान् आदमी की मृत्यु को सूचित करता है । (वैसे ही इसका सबसे पहले यहाँ आना अशूभ-सूचक है) । शोधनक ! आज का न्याय-विचार घबराहट मे परिपूर्ण होगा । भले मनुष्य ! निकल कर कहो—'जाओ' आज तुम्हारा मुकदमा नहीं विचारा जायगा ।

शोधनक—जैसी आप की आज्ञा । (निकल कर शकार के पास जाकर) श्रीमान् जी ! न्यायाधीश लोग कहते हैं—'आज जाओ । तुम्हारा मुकदमा नहीं विचारा जायगा ।'

शकारः—(सक्रोधम्) आः, किं ण दीशदि मम ववहाले ? । जइ ण दीशदि, तदो आवुत्तं लाआणं पालअं बहिणीवर्दि विण्णविअ बहिणिं अत्तिकं च विण्णविअ एदं अधिअलणिअं दूले फेलिअ एत्थ अण्णं अधिअलणिअं ठावइश्शं । [आः, किं न दृश्यते मम व्यवहारः ! । यदि न दृश्यते, तदावुत्तं राजानं पालकं भगिनीपतिं विज्ञाप्य भगिनीं मातरं च विज्ञाप्यैतमधिकरणिकं दूरीकृत्यात्रान्यमधिकरणिकं स्थापयिष्यामि ।]

(इति गन्तुमिच्छति)

शोधनकः—अज्ज रट्ठिअशालअ ! मुहुत्तअं चिट्ठ । दाव अधिअरणिआणं णिवेदेमि । (अधिकरणिकमुपगम्य) एसो रट्ठिअशालो कुविदो भणादि । [आर्य राष्ट्रियश्याल ! मुहूर्तं तिष्ठ । तावदधिकरणिकानां निवेदयामि । एष राष्ट्रियश्यालः कुपितो भणति ।] (इति तदुक्तं भणति)

अधिकरणिकः —सर्वमस्य मूर्खस्य संभाव्यते । भद्र ! उच्यताम्—'आगच्छ, दृश्यते तव व्यवहारः' ।

शोधनकः—(शकारमुपगम्य) अज्ज ! अधिअरणिआ भणंति—'आअच्छ, दीसदि तव ववहारो'; ता पविसदु अज्जो । [आर्य ! अधिकरणिका भणन्ति—'आगच्छ; दृश्यते तव व्यवहारः'; तत्प्रविशत्वार्यः ।]

शकारः—हो, पढमं भणंति—'ण दीशदि, शंपदं दीशदि' त्ति । ता णाम भीदभीदा अधिअलणभोइआ ! जेत्तिअं हग्गे भणिश्शं तेत्तिअं पत्तिआवइश्शं । भोदु, पविशामि (प्रविश्योपसृत्य) शुशुहं अम्हाणं, तुम्हाणं पि शुहं देमि णदेमि अ । [हो, प्रथमं भणन्ति न

शकार - (क्रोध के साथ) आह, मेरा मुकदमा नहीं विचारा जायगा ? यदि नहीं विचारा जायगा तो, मैं अपने जीजा, बहन के पति, राजा पालक से कह कर, बहन तथा माता से कह कर इस न्यायाधीश को हटा कर दूसरे न्यायाधीश को नियुक्त करा दूँगा ।

(ऐसा कह कर जाना चाहता है)

शोधनक —माननीय राजा के साले जी ! क्षण भर रुकिये । जरा न्यायाधीश महोदय से निवेदन करता हूँ । (न्यायाधीश के पास जाकर) यह राजा का साला नाराज होकर कहता है । (ऐसा कह कर जो कुछ उसने कहा था उसे कहता है ।)

अधिकरणिक —इस मूर्ख से सब कुछ सम्भावना की जा सकती है । भले आदमी ! जाकर उससे कहो —'आओ' तुम्हारा मुकदमा विचारा जायगा ।'

शोधनक—(शकार के पास जाकर) श्रीमान् जी ! न्यायाधीश महोदय कहते हैं कि—'आओ' तुम्हारा मुकदमा देखा (विचारा) जायगा ।' तो आप प्रवेश करें ।

दृश्यते, सांप्रतं दृश्यत इति । तन्नाम भीतभीता अधिकरणभोजकाः; यद्यदहं भणिष्यामि तत्तत्प्रत्याययिष्यामि । भवतु, प्रविशामि । सुसुखमस्माकम्, युष्माकमपि सुखं ददामि न ददामि च ।]

अधिकरणिकः—(स्वगतम्) अहो, स्थिरसंस्कारता व्यवहारार्थिनः । (प्रकाशम्) उपविश्यताम् ।

शकारः—आं, अत्तण केलकाशे भूमी । ता जहिं मे लोअदि तहिं उवविशामि । (श्रेष्ठिनं प्रति) एश उवविशामि । (शोधनकं प्रति) णं एत्थ उवविशामि । (इत्यधिकरणिकमस्तके हस्तं दत्त्वा) एश उवविशामि । [आं, आत्मीयैषा भूमिः । तद्यत्र मह्यं रोचते तत्रोपविशामि । एष उपविशामि । नन्वत्रोपविशामि । एष उपविशामि] (इति भूमावुपविशति)

अधिकरणिकः—भवान्कार्यार्थी ?

शकारः—अध इं ? [अथ किम ?]

अधिकरणिकः—तत्कार्यं कथय ।

शकारः कण्णे कज्जं कधइश्शं । एव्वं वड्डुके मल्लक्कप्पमाणाह कुडे हग्गे जादे ।

लाअशशुले मम पिदा लाआ तादश्श होइ जामादा ।
लाअशि आले हग्गे ममावि बहिणीवदी लाआ ।। ६ ।।

[कर्णे कार्यं कथयिष्यामि । एवं वृहति मल्लकप्रमाणस्य कुलेऽहं जातः ।

शकार—पहले कहते थे कि 'नहीं देखा जायगा और अब कहते हैं कि देखा जायगा-' तो निश्चय ही न्यायाधीश महोदय डर गये हैं । (इसलिए) जो जो मैं कहूँगा वह वह सब मान्य करा लूँगा । तो, प्रवेश करता हूँ (प्रवेश करके और न्यायाधीश के पास जाकर) हमारा भली-भाँति सुख है । आप लोगों को भी सुख देता हूँ अथवा नहीं देता हूँ (जैसी मेरी इच्छा) ।

अधिकरणिक—(अपने आप) (न्यायालय से निर्णय चाहने वाले) इस कार्यार्थी की निर्भीकता आश्चर्य पैदा करने वाली है ! (प्रकट रूप में) बैठिए ।

शकार—हाँ यह जमीन अपनी है । तो जहाँ मुझे अच्छा लगेगा वहाँ बैठूँगा । (श्रेष्ठी से) यह मैं बैठूँगा । (शोधनक से) अच्छा यहाँ बैठता हूँ । न्यायाधीश के सिरपर हाथ रख कर) यह बैठता हूँ । (ऐसा कह कर जमीन पर बैठता है)

अधिकरणिक—आप निर्णय चाहते हैं ?

शकार—और क्या ?

राजश्वशुरो मम पिता राजा तातस्य भवति जामाता ।
राजश्यालोऽहं ममापि भगिनीपती राजा ।।]

अर्थः - **अधिकरणिक**—तो कार्य बतलाइए ।

शकार—कान में कहूँगा । (क्योंकि) कप जैसे महान् कुल मे मैं पैदा हुआ हूँ ।

टीका—चन्द्रस्य = चन्द्रमसः, आलोके = प्रकाशे ('आलोकौ दर्शनोद्योतौ' इत्यमर); अन्धकारः = तमः । सम्भवे असम्भवोत्पत्तिरित्यर्थः । यथा चन्द्रस्य प्रकाशे कश्चिन्न तमः सिद्धं कर्तु शक्नोति तथैव भवतः गुणे दोषमपि न कश्चिन्निःसारयितुं समर्थः इति भावः ।। कार्येण अर्थी कार्यर्थी = व्यवहारार्थी, अभियोगं पुरस्कृत्य निर्णयार्थ समायातः इति यावत् । साटोपम् = सगर्वमित्यर्थः । वरपुरुपः = श्रेष्ठमानवः; वासुदेवः = कृष्णः, कृष्णाभिन्न. इति भावः । व्यवहारम् = अभियोगम्, अभियोगविचारार्थमिति भावः । उपरागः = ग्रहः ('उपरागो ग्रहो राहुग्रस्ते त्विन्दौ च पूष्णि च' इत्यमरः) राहुणा चन्द्रग्रहः सूर्यग्रहो वा; महापुरुपस्य = महामानवस्य, निपातम् = मृत्युम् । व्याकुलेन = विक्षोभितेन । आबुत्तम् = भगिनीपतिम् ('आवुत्तो भगिनीपतिः' इत्यमरः), राजान पालकमिति भावः; विज्ञाप्य = सूचयित्वा । स्थापयिष्यामि = नियोजयिष्यामि । नामेति संभावनायामव्ययम् । व्यवहारार्थिनः = कार्यार्थिनः, शकारस्येत्यर्थः; स्थिरः = दृढः, पूर्ववदित्यर्थः; संस्कारः = मानसिकी भावना; निर्भीकता स्वाग्रहे दृढविश्वसनीयता वेतिभावः; यस्य सः स्थिरसंस्कारः तस्य भावः स्थिरसंस्कारता = मानसिकसंस्काराणां प्रौढिः । मल्लकप्रमाणस्य = क्षुद्रः सुरापानपात्रविशेषः मल्लकः तत्सदृशस्य; कुलस्य महत्त्वख्यापनार्थ समुद्रप्रमाणस्येति वक्तव्ये मौर्ख्यान्मल्लकप्रमाणस्येति वदति ।।

राजश्वसुरः इति—

अन्वयः—मम, पिता, राजश्वसुरः; राजा, तातस्य, जमाता, भवति; अहम्, राजस्यालः, राजा, अपि, मम, भगिनीपतिः, (अस्ति) ।। ६ ।।

शब्दार्थः—मम = मेरे, पिता = पिताजी, राजश्वसुरः = राजा के श्वसुर (हैं) । राजा = राज्य करने वाला व्यक्ति, तातस्प = पिता के, जमाता = दामाद, भवति = होता है । अहम् = मैं, राजश्यालः = राजा का साला (हूँ) । राजा = राज्य करने वाला व्यक्ति (पालक), अपि = भी, मम = मेरे, भगिनीपतिः = जीजा (हैं) ।।

अर्थः—मेरे पिता राजा के ससुर हैं । राजा हमारे पिता जी के दामाद होते हैं । मैं राजा का साला हूँ । राजा भी मेरी बहन का पति है ।। ६ ।।

टीका—मम = व्यवहारार्थिनः शकारस्य इत्यर्थः; पिता = जनकः; राजश्वसुरः—

अधिकरणिकः—सर्वं ज्ञायते,

किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम् ।
भवन्ति नितरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः ॥ ७ ॥

तदुच्यतां कार्यम् ।

राज्ञः = शासकस्य पालकस्येत्यर्थः श्वसुरः = स्त्रीपिताः अस्ति । राजा = पालकः इत्यर्थ; तातस्य = पितुः, जामाता = दुहितुः पतिः ('जामाता दुहितुः पतिः' इत्यमरः); भवति = अस्ति । अहम् = अभियोगं गृहीत्वा स्वयमुपस्थितः; राज्ञः श्यालः = जाया-भ्राता; अस्मीतिशेषः; राजापि मम = शकारस्य; भगिन्याः—स्वसुः पतिः = भर्ता; अस्तीति शेषः । एकस्यैव सम्बन्धस्य भिन्नवाक्यैः कथनं मूर्खस्य शकारस्यैव वैशिष्ट्य-मिति ॥ ६ ॥

टिप्पणी—राजा के साथ विभिन्न प्रकार से सम्बन्ध वर्णन करके शकार न्यायाधीशों पर प्रभाव डालना चाहता है ॥

इस श्लोक में आर्या छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ ६ ॥

किं कुलेनेति—

अन्वयः—कुलेन, उपदिष्टेन, किम् ? शीलम्, एव, अत्र, कारणम्; सुक्षेत्रे, कण्टकि-द्रुमाः, नितराम्, स्फीताः, भवन्ति ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—कुलेन = कुलके, उपदिष्टेन = कहने से, किम् = क्या ? शीलम् = चरित्र, एव = ही, अत्र = यहाँ, न्यायालय में, कारणम् = (निर्णय का) कारण (होता है) । सुक्षेत्रे = सुन्दर खेत में, कण्टकिद्रुमाः = काँटेदार वृक्ष, नितराम् = बहुत अधिक, स्फीताः = विशाल, भवन्ति = होते हैं ॥

अर्थः – **अधिकरणिक**—सब कुछ मालूम है,

खान-दान के कहने से क्या (फायदा) ? (क्योंकि मनुष्य का) चरित्र ही यहाँ न्यायालय में (निर्णय का) कारण होता है । सुन्दर उपजाऊ खेत में काँटेदार वृक्ष बहुत अधिक बढ़ते हैं ।।७।।

तो कार्य बतलाइये ।

टीका—कुलेन = वंशेन; उपदिष्टेन = वर्णितेन; किम् = किं प्रयोजनम् ? शीलम्

शकारः—एव्वं भणामि, अवलद्धाह वि ण अ मे किं पि कलइश्शदि, तदो तेण बहिणीवदिणा परितुश्टेण मे कीलिदुं लक्खिदुं शव्वुज्जाणाणं पवले पुप्फकलंडकजिण्णुज्जाणे दिण्णे। तहिं च पेक्खिदुं अणुदिअहं शोशावेदुं शोधावेदुं पोत्थावेदुं लुणावेदुं गच्छामि। देव्वजोएण पेक्खामि, ण पेक्खामि वा, इत्थिआशलीलं णिवडिदं। [एवं भणामि, अपराद्धस्यापि न च मे किमपि करिष्यति, ततस्तेन भगिनीपतिना परितुष्टेन मे क्रीडितुं रक्षितुं सर्वोद्यानानां प्रवरं पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं दत्तम्। तत्र च प्रेक्षितुमनुदिवसं शुष्कं कारयितुं पुष्टं कारयितुं लूनं कारयितुं गच्छामि। दैवयोगेन पश्यामि, न पश्यामि वा, स्त्रीशरीरं निपतितम्।]

अधिकरणिकः—अथ ज्ञायते का स्त्री विपन्नेति ?।

शकारः—हंहो अधिअलणभोइआ ! किंत्ति ण जाणामि ?। तं तादिशिं णअलमंडणं कचणशदभूशणिअं केण वि कुपुत्तेण अत्थकल्लवत्तश्श कालणादो शुण्णं पुप्फकलंडकजिण्णु-

---

=चरित्रम्; एव; अत्र न्यायालये; कारणम् = हेतुः, निर्णयकारणमित्यर्थः। सुक्षेत्रे = उर्वरायां भूमौ; कण्टकिद्रुमाः = कण्टकयुक्ताः वृक्षाः; नितराम् = अत्यधिकम्; स्फीताः = विशाला, वृद्धियुक्ताः इत्यर्थः; भवन्ति = जायन्ते ॥ ७ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।

छन्द का लक्षण —

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—अपराद्धस्य = अपराध करने वाले; मे = मेरा। परितुष्टेन = खुश हुए। जीर्णोद्यानम् = पुराना बगीचा। अनुदिवसम् = प्रतिदिन। दैवयोगेन = संयोगवश। निपतितम् = पड़ा हुआ। विपन्ना = मरी है ? तादृशीम् = वैसी अर्थात् प्रसिद्ध, नगरमण्डनम् = नगर की शोभा, आभूषण, काञ्चनशतभूषणाम् = सोने के सैकड़ों जेवरों से सुसज्जित, ताम् = उस स्त्री को। अर्थकल्यवर्तस्य = तुच्छ धन के लिये। बाहुपाशबलात्कारेण = भुजा रूपी पास के बलात्कार से, अर्थात् भुजापाश में दबाकर, आवृणोति =ढकलेता है ॥

अर्थः-शकार—अच्छा कहता हूँ। अपराध कर देने पर भी मेरा कोई कुछ नहीं कर सकेगा, तो खुश हुए उन जीजा जी ने मुझे, विहार एवं रक्षा के लिए सभी बगीचों मे श्रेष्ठ पुष्प-करण्डक नामक जीर्णोद्यान दिया है। और वहां मैं प्रतिदिन देखभाल करने के लिये, सफाई करने के लिए, खाद आदि डालने के लिए तथा कटवाने छँटवाने के लिए जाता हूँ। संयोगवश मैंने वहाँ स्त्री का एक शरीर पड़ा देखा अथवा नहीं देखा।

अधिकरणिक—अच्छा, यह कुछ मालूम पड़ता है कि कौन स्त्री मरी है ?

ज्जाणं पवेशिअ बाहुपाशबलक्कालेण वशंतशेणिआ मालिदा, ण मए। [अहो अधिकरणभोजकाः ! किमिति न जानामि तां तादृशीं नगरमण्डनं काञ्चनशतभूषणाम् ! केनापि कुपुत्रेणार्थकल्यवर्तस्य कारणाच्छून्यं पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं प्रवेश्य बाहुपाशबलात्कारेण वसन्तसेना मारिता, न मया।] (इत्यर्धोक्ते मुखमावृणोति)

अधिकरणिकः – अहो नगररक्षिणां प्रमादः। भोः श्रेष्ठिकायस्थौ ! न मयेति व्यवहारपदं प्रथममभिलिख्यताम्।

शकार—अहो ! न्यायाधीश महोदय ! प्रसिद्ध सुन्दरी, नगर की शोभा, सोने के जेवरों से सुसज्जित उसको क्यों नहीं जानता हूँ ? कलेवे जैसे तुच्छ धन के लिए किसी दुर्जन आदमी ने सूने पुष्पकरण्डक नामक पुराने बगीचे में घुस कर बाहु-पाश से बलपूर्वक (दबा कर) वसन्तसेना को मार दिया। मैंने नहीं। (ऐसा आधा करने पर ही मुँह ढक लेता है।)

टीका—अपराद्धस्य = विहितापराधस्य, मे = मम, राजश्यालस्येत्यर्थः, परितुष्टेन = प्रसन्नेन। जीर्णोद्यानम् = प्राचीनमुपवनम्। जीर्णेति विशेषणं निर्जनत्वद्योतनार्थमिति। अनुदिवसम् = प्रतिदिनम्। दैवयोगेन = संयोगेन, अकस्मादिति यावत्। निपतितम् = प्रक्षिप्तमित्यर्थः। विपन्ना = मृता। तादृशीम् = अति प्रसिद्धाम् अद्भुतां वा; नगरस्य = उज्जयिनीनगर्याः मण्डनम् = आभूषणम्, काञ्चनशतभूषणाम्-काञ्चनानाम्=सुवर्णालङ्काराणाम्, शतेन = समूहेनेत्यर्थः भूषिताम् = मण्डिताम्; सुवर्णघटितविविधालङ्कारलङ्कृतामित्यर्थः; ताम् = मृतां स्त्रियम्। अर्थः = धनम् कल्यवर्तः=प्रातःकालीनम् अकिञ्चित्करं भोजनमिव तस्य; तुच्छधनस्येत्यर्थः। बाहू = भुजौ एव पाशः = बन्धनम् ('पाशस्तु मृगपश्वादिबन्धने' इति हैमः) तस्य बलात्कारेण = हठेन ('प्रसभं तु बलात्कारो हठः' इत्यमरः)। प्रसभं कराभ्यां ग्रीवां निष्पीडयेत्यर्थः, आवृणोति = अच्छादयति। अर्धोक्ते मुखसंवरणं कथने स्खलनसूचकमिति। लोकेऽपि सति स्खलने मुखाच्छादनस्य जिह्वादंशनस्य च व्यवहारः दृश्यते॥

टिप्पणी—अपराद्धस्य = (वि०) अपराध किये हुए, अप + √ राध् + क्त + ष० वि०। परितुष्टेन = प्रसन्न, तुष्ट, खुश; परि + √ तुष् + क्त + तृ० वि०॥

शब्दार्थः—अहो ! = आश्चर्य सूचक अव्यय, नगररक्षिणाम् = नगर की रखवाली करने वालों की, प्रमादः = असावधानी। त्वराम् = जल्दी को, कुर्वाणेन = करनेवाले, पायसपिण्डारकेणेव = खीर पीने वालेके समान। निर्नाशितः = नष्ट किया गया।

कायस्थः—जं अज्जो आणवेदि। (तथा कृत्वा) अज्ज! लिहिदं। [यदार्य आज्ञापयति। आर्य! लिखितम्।]

शकारः—(स्वगतम्) हीमादिके, उत्तलाअंतेण विअ पाअशपिंडालकेण अज्ज मए अत्ता एव्व णिण्णाशिदो। भोदु, एव्वं दाव। (प्रकाशम्) अहो अधिअलणभोइआ! णं भणामि, मए ज्जेव दिश्टा। किं कोलाहलं कलेध?। [आश्चर्यम्, त्वरां कुर्वणेनेव पायसपिण्डारकेणाद्य मयात्मैव निर्नाशितः। भवतु। एवं तावत्, अहो अधिकरणभोजकाः! भणामि, मयैव दृष्टा। किं कोलाहलं कुरुत?।] (इति पादेन लिखितं प्रोञ्छति)

अधिकरणिकः—कथं त्वया ज्ञातं यथा खल्वर्थनिमित्तं बाहुपाशेन व्यापादिता?।

शकारः—हंहो, णूणं पडिशूणाए मोघट्ठाणाए गीवालिआए णिशुवण्णकेहिं आहलणट्ठाणेहिं तक्केमि। [हंहो, नूनं परिशून्यया मोघस्थानया ग्रीवालिकया निःसुवर्णकैराभरणस्थानैस्तर्कयामि।]

श्रेष्ठिकायस्थौ—जुज्जदि विअ। [युज्यत इव।]

शकारः—(स्वगतम्) दिश्टिआ पच्चुज्जीविद म्हि। *विद मादिके। [दिष्टया

परिशून्यया = सूनी, मोघस्थानया = खाली स्थान वाली, ग्रीवालिकया = गर्दन से। निःसुवर्णकैः = सोने से खाली, आभरणस्थानैः = जेवर पहनने के स्थानों से; तर्कयामि=अन्दाज करता हूँ। दिष्ट्या = सौभाग्य से, प्रत्युज्जीवितः = फिर से जीवित। अवलम्बते = आश्रित करता है॥

अर्थ-अधिकरणिक नगर की रखवाली करने वाले सिपाहियों की असावधानी आश्चर्यजनक है। हे श्रेष्ठि कायस्थ! 'मैंने नहीं' (न मया)' यह अभियोग-शब्द पहले लिख लीजिए।

कायस्थ—जैसी आप की आज्ञा। (लिख कर) श्रीमान् जी! लिख लिया।

शकार—(अपने आप) आश्चर्य है! जल्दी करते हुए मैंने (गरम-गरम) खीर पीने वाले व्यक्ति की भाँति अपना ही नाश कर लिया। अच्छा। तो ऐसा (कहूँ) माननीय न्यायाधीश महोदय! मैं तो यह कहता हूँ कि 'मैंने ही देखा।' क्या हल्ला मचा रहे हो? (ऐसा कह कर लिखे हुए को पैर से पोंछ देता है)

अधिकरणिक—यह तुमने कैसे जाना कि—'धन के लिए बाहु पाश से मारी गयी?

शकार—श्रीमान् जी! उसकी सूनी एवं खाली गर्दन तथा जेवर पहनने के स्थानों को सोने की जेवरों से खाली होने से ऐसा अन्दाज करता हूँ।

श्रेष्ठी-कायस्थ—सही सा लगता है (अर्थात् हो सकता है)।

प्रत्युज्जीवितोऽस्मि । अविद मादिके ।]

श्रेष्ठिकायस्थौ—भो ! कं एसो ववहारो अवलंबदि ? । [भोः, कमेष व्यवहारोऽवलम्बते ? ।]

अधिकरणिकः—इह हि द्विविधो व्यवहारः ।

शकार – (अपने आप) सौभाग्य से मैं फिर जीवित सा हो गया हूँ । सन्तोष है ।

श्रेष्ठी-कायस्थ—अच्छा यह मुकदमा (व्यवहार) किसी पर आश्रित है (अर्थात् इसमें कौन अपराधी है) ?

टीका—अहो ! इति आश्चर्येति अव्ययपदम्; नगरस्य = उज्जयिन्याः नगर्या , रक्षिणाम् = रक्षणे नियुक्तानां राजपुरुषाणाम्; प्रमादः = अनवधानता ('प्रमादोऽनवधानता' इत्यमरः) । त्वराम् = शीघ्रताम्; कुर्वाणेन = कुर्वता; पायसपिण्डम् = दुग्धपक्वमन्नम्, क्षीरभोजनमित्यर्थः, तत् ऋच्छति = प्राप्नोति इति पायसपिण्डारकः तेन पायसपिण्डारकेण = पायसान्नभक्षणे असंवृतलोभेनेत्यर्थः । ऋच्छतीति आरकः = पाने भक्षणे वा तत्परः । निर्नाशितः = विनाशितः । यथा दुग्धेन पक्वमन्नं लोभात् झटिति भोक्तुकामः स्वकीयां जिह्वामेव दग्धां करोति तथैव त्वरमाणेन मया 'न मये'ति ब्रुवता स्वात्मविनाशः एव कृतः इति भावः । परिशून्यया = रिक्तया; शूनशूनया इति पाठान्तरं समीचनम्, उच्छूनया इत्यर्थः । मोघम् = रिक्तम्, स्थानम् = गलांशः यस्याः तया; ग्रीवा एव ग्रीवालिका तया ग्रीवलिकया = अति सुकोमलया ग्रीवया इत्यर्थः । निःसुवर्णकैः—निर्गतानि सुवर्णानि = सुवर्णालङ्करणानि येभ्यस्तादृशैः; आभरणानाम् = आभूषणानाम् स्थानैः = देशैः; तर्कयामि = अनुमिनोमि । दिष्ट्या = सौभाग्येन, आनन्देनेत्यर्थः ('दिष्ट्या समुपजोषं चेत्यानन्दे' इत्यमरः); दिशतेर्भावे संपदादित्वात्क्विपि, दिक् तां स्त्यायति, दिक्पूर्वात् स्त्यायतेः कर्त्तरि क्विपि, षत्वे, पृषोदरादित्वात्सलोपे, ष्टुत्वे, संज्ञापूर्वकत्वाज्जश्त्वाभावे च दिष्ट्या । प्रत्युज्जीवितः = पुनर्जीवितः । अवलम्बते = आश्रयते ॥

शब्दार्थः—द्विविधः = दो तरह का । अर्थिप्रत्यर्थिभ्यः = वादी-प्रतिवादादी से । अधिकरणिकबुद्धिनिष्पाद्यः = न्यायाधीश की अपनी बुद्धि से निर्णय करने के लायक । अनुद्वेजयन् = व्याकुल न करते हुए, न घबड़वाते हुए । गणिकामात्रा = वेश्या (वसन्तसेना) माता के, सह = साथ । दारिका = (वसन्तसेना), मित्रगृहम् = मित्र (चारुदत्त के) घर को, आत्मनः – अपनी, यौवनम् = जवानी को (का), अनुभवितुम = अनुभव करने के लिये । दीर्घायुः = चिरञ्जीवी । मोहपरवशम् = मूर्च्छा के आधीन अर्थात् मूर्च्छित सी ॥

अर्थः–अधिकरणिक—यहाँ दो तरह का व्यवहार है ?

श्रेष्ठिकायस्थौ—केरिसो ? । [कीदृशः ? ।]

अधिकरणिकः—वाक्यानुसारेण, अर्थानुसारेण च। यस्तावद्वाक्यानुसारेण, स खल्वर्थिप्रत्यर्थिभ्यः । यश्चार्थानुसारेण स चाधिकरणिकबुद्धिनिष्पाद्यः ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—ता वसंतसेणामादरं अवलंबदि ववहारो । [तद्वसन्तसेनामातरमवलम्बते व्यवहारः ।]

अधिकरणिकः—एवमिदम् । भद्र शोधनक ! वसन्तसेनामातरमनुद्वेजन्नाह्वय ।

शोधनकः—तधा । (इति निष्क्रम्य, गणिकामात्रा सह प्रविश्य) एदु एदु अज्जा । [तथा, एत्वेत्वार्या ।]

वृद्धा—गदा मे दारिआ मित्तघरअं अत्तणो जोव्वणं अनुभविदुं । एसो उण दीहाऊ भणादि—'आअच्छ, अधिअरणिओ सद्दावेदि; ता मोहपरवसं विअ अत्ताणअं अवगच्छामि । हिअअं मे थरथरेदि । अज्ज ! आदेसेहि मे अधिअरणमंडवस्स मग्गं । [गता मे दारिका मित्रगृहमात्मनो यौवनमनुभवितुम् । एष पुनर्दीर्घायुर्भणति—'आगच्छ, अधिकरणिक आह्वयति, तन्मोहपरवशमिवात्मानमवगच्छामि । हृदयं मे प्रकम्पते । आर्य ! आदिश मह्यमधिकरणमण्डपस्य मार्गम् ।]

शोधनकः—एदु एदु अज्जा । [एत्वेत्वार्या ।]

श्रेष्ठि-कायस्थ—कैसा ?

अधिकरणिक—(वादी-प्रतिवादी के बयान के अनुसार होने वाला एवं सही तथ्य के अनुसार होने वाला । जो बयान के अनुसार होता है वह तो वादी-प्रतिवादी (की युक्तियों) से तथा जो सही तथ्य के अनुसार होता है वह न्यायाधीश की अपनी बुद्धि से निर्णय करने के लायक होता है ।

श्रेष्ठि-कायस्थ—तब तो यह मुकदमा (व्यवहार) वसन्तसेना की माता पर आश्रित होता है ।

अधिकरणिक—ऐसा ही है । भले आदमी शोधनक ! वसन्तसेना की माता को बुला लाओ । और उनसे कह देना कि घबड़ाने की जरूरत नहीं है ।

शोधनक—बहुत अच्छा (ऐसा कह कर, निकल कर फिर वेश्या वसन्तसेना की माता के साथ प्रवेश करके) आइये, आइये, श्रीमती जी ।

वृद्धा—मेरी बेटी (वसन्त सेना) मित्र (चारुदत्त) के घर अपनी जवानी का आनन्द लेने के लिए गयी है । और यह दीर्घायु कहता है—'आओ न्यायाधीश बुला रहे हैं ।' इस लिए मैं अपने को मूर्छित सी महसूसकर रही हूँ । (अर्थात् मुझे कुछ सुझाई नहीं पड़ रहा है) । मेरा कलेजा काँप रहा है । आर्य ! मुझे न्यायालय का रास्ता बतलाइए ।

(उभौ परिक्रामतः)

शोधनकः--एदं अधिअरणमंडवं। एत्थ पविसदु अज्जा [एषोऽधिकरणमण्डपः। अत्र प्रविशत्वार्या।]

(इत्युभौ प्रविशतः)

वृद्धा--(उपसृत्य) सुहं तुम्हाणं भोदु भावमिस्साणं। [सुखं युष्माकं भवतु भावमिश्राणाम्।]

टीका--द्विविधः--द्वे विधे = प्रकारौ यस्य सः, द्विप्रकारः। अर्थिप्रत्यर्थिभ्यः = वादि-प्रतिवादिभ्यः; निष्पाद्यः इति शेषः। अधिक्रियते निर्णयार्थं विचारः अस्मिन्निति अधिकरणम् = न्यायालयः तदाश्रयतया अस्ति अस्येत्यधिकरणिकः = न्यायाधीशः, तस्य अधिकरणिकस्य = द्रष्टुः, न्यायाधीशत्येस्यर्थः, बुद्धया = विचारेण, निष्पाद्यः= निर्णेयः; अर्थिप्रत्यर्थिनां कथनमनुसृत्य बुद्धया तथ्यस्य ज्ञानं कृत्वा निर्णेय. इत्यर्थः। अनुद्वेजयन्=अव्याकुलयन्; अधिकरणिकः व्यवहारसम्बन्धे त्वामाह्वयति, मृता वा वसन्तसेना इत्यादि न कथयन्नित्यर्थः। गणिकायाः = वेश्यायाः, वसन्तसेनायाः इत्यर्थः मात्रा = जनन्या; सह = साकम्। दारिका = पुत्री, वसन्तसेना इत्यर्थः; मित्रगृहम् - मित्रस्य = सुहृदः, चारुदत्तस्येति यावत्, गृहम् = भवनम्; मित्रसमीपमिति भावः; आत्मनः = स्वस्य; यौवनम् = तारुण्यम्, यौवनसुखमित्यर्थः; अनुभवितुम् = भोक्तुम्। दीर्घायुः = आयुष्मान्; वृद्धत्वाद्वात्सल्येनेयमुक्तिः। मोहस्य = अज्ञानस्य, अचेतनायाः इति यावत्, परवशम् = पराधीनम्; अचेतनत्वाधीनमित्यर्थः। दृश्यते हि लोके अकस्माद्राजाधिकारिभिराह्वाने जनस्य हृदि मोहोद्रेकः॥

अर्थः-**शोधनक**—आइये, इधर से आइये श्रीमती जी।

(दोनों घूमते हैं)

शोधनक—यह न्यायालय है। आप इसमें प्रवेश करें।

(इसके बाद दोनों प्रवेश करते हैं)

शब्दार्थः - भावमिश्राणाम् = विद्वानों में श्रेष्ठ आपलोगों का, सुखम् = कल्याण। साक्षेपम् = आक्षेप (निन्दा) पूर्वक। वृद्धकुट्टनि = बूढ़ी कुटनी। किंनामधेयम् = किस नाम वाला। अतिलज्जनीयम् = अत्यन्तलज्जाजनक। अयम् = यह, अर्थः = बात, जनस्य = साधारण व्यक्ति के, पृच्छनीयः = पूछने लायक (है); अधिकरणिकस्य = न्यायाधीश के, न = नहीं। व्यवहारः = मुकदमा॥

अर्थः-**वृद्धा**--(पास जाकर) विद्वानों में श्रेष्ठ आप लोगों का कल्याण हो।

अधिकरणिकः—भद्रे ! स्वागतम् ; आस्यताम् ।

वृद्धा—तधा । [तथा ।] (इत्युपविष्टा)

शकारः—(साक्षेपम्) आगदाशि वुड्ढकुट्टणि ! आगदाशि । [आगतासि वृद्ध-कुट्टनि ! आगतासि ।]

अधिकरणिकः—अये, त्वं किल वसन्तसेनाया माता ।

वृद्धा—अध इं । [अथ किम्]

अधिकरणिकः—अथेदानीं वसन्तसेना क्व गता ? ।

वृद्धा—मित्तघरअं । [मित्रगृहम् ।]

अधिकरणिकः—किंनामधेयं तस्या मित्रम् ? ।

वृद्धा—(स्वगतम्) हद्धी हद्धी; अदिलज्जणीअं खु एदं । (प्रकाशम्) जणस्स पुच्छणीओ अअं अत्थो, ण उण अधिअरणिअस्स । [हा धिक् हा धिक्, अतिलज्जनीयं खल्विदम् । जनस्य पृच्छनीयोऽयमर्थः, न पुनरधिकरणिकस्य ।]

अधिकरणिकः—अलं लज्जया; व्यवहारस्त्वां पृच्छति ।

अधिकरणिक—भली महिला (आप का) स्वागत है । बैठिये ।

वृद्धा—अच्छा । (बैठ जाती है)

शकार—(आपेक्ष पूर्वक) आगयी बूढ़ी कुटनी आगयी ?

अधिकरणिक—अजी, तुम वसन्तसेना की माता हो ?

वृद्धा— जी हाँ ।

अधिकरणिक—अच्छा, इस समय वसन्तसेना कहाँ गयी है ?

वृद्धा—मित्र के घर ।

अधिकरणिक—उसके मित्र का क्या नाम है ?

वृद्धा—(अपने आप) हाय, हाय ! यह (बात) अत्यन्त लज्जाजनक है । (प्रकट रूप में) यह बात साधारण व्यक्ति के पूछने लायक है, न्यायाधीश के नहीं ।

अधिकरणिक—लजाने की बात नहीं । मुकदमा (व्यवहार) तुम से पूछ रहा है (न कि मैं) ।

टीका—भावमिश्राणाम्—भावेषु=विद्वत्सु ('भावो विद्वान्' इत्यमरः) मिश्राः = श्रेष्ठाः तेषाम्; भावाश्च ते मिश्राश्चेति वा तेपाम् । सुखम् = कल्याणम् । साक्षेपम् = निन्दासहितम् ('अवर्णाक्षेपनिर्वादपरीवादापवादवत् । उपक्रोशो जुगुप्सा च कुत्सा निन्दा च गर्हणे ।' इत्यमरः) । वृद्धा = जरावस्थापन्ना, सा चासौ कुट्टनी = शम्भली ('कुट्टनी सम्भली समे' इत्यमरः) परनारीं पुंसा संयोजयित्री इति तात्पर्यार्थः,

श्रेष्ठिकायस्थौ—ववहारो पुच्छदि। णत्थि दोसो, कधेहि। [व्यवहारः पृच्छति। नास्ति दोषः, कथय।]

वृद्धा—कधं ववहारो ?। जइ एव्वं, ता सुणंतु अज्जमिस्सा। सो खु सत्थवाहविणअदत्तस्स णत्तिओ, साअरदत्तस्स तणओ, सुगहीदणामहेओ अज्जचारुदत्तो णाम, सेट्ठिचत्तरे पडिवसदि। तहिं मे दारिआ जोव्वणसुहं अणुभवदि। [कथं व्यवहारः ?। यद्येवं, तदा शृण्वन्त्वार्यमिश्राः। स खलु सार्थवाहविनयदत्तस्य नप्ता, सागरदत्तस्य तनयः, सुगृहीतनामधेय आर्यचारुदत्तो नाम, श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति। तत्र मे दारिका यौवनसुखमनुभवति।]

शकारः—शुदं अज्जेहिं ?। लिहीअंदु ? एदे अक्खला। चालुदत्तेण शह मम विवादे [श्रुतमार्यैः ?। लिख्यन्तामेतान्यक्षराणि। चारुदत्तेन सह मम विवादः।]

तत्सम्बुद्धौ ! किंनामधेयम् = किं नामकम् ? अतिलज्जनीयम् = अत्यन्तव्रीडाकरम्। गणिकापतिरूपतया ज्ञानेन शिष्टानां लज्जाकरत्वादिति भावः। अयम् = त्वया पृष्टः अर्थः = विषयः; मित्रस्य नामेति; जनस्य = साधारणलोकस्य, पृच्छनीयः = प्रष्टव्यः, अधिकरणिकस्य = सर्वलोकमान्यस्य विशिष्टस्य न्यायाधीशस्येत्यर्थः, न = न पृच्छनीयः। व्यवहारः = विवादः, ('विवादो व्यवहारःस्यात्' इत्यमरः)। व्यवहारप्रसङ्गेन न्यायाधीशः पृच्छति; न तु वैयक्तिकभावनया। अतः मित्रस्य नामकथने न कापि लज्जेति भावः॥

अर्थः-श्रेष्ठी-कायस्थ—मुकदमा (व्यवहार) पूछता है। कोई दोष नहीं। कहो।

शब्दार्थः—आर्यमिश्राः = आदर करने योग्य व्यक्तियों में श्रेष्ठ। नप्ता = पोता, नाती (लड़के का पुत्र)। तनयः = पुत्र। सुगृहीतनामधेयः = प्रातःस्मरणीय। श्रेष्ठिचत्वरे = सेठों के चौक में। यौवनसुखम् = जवानी के मजा को, अनुभवितुम् = अनुभूत करने के लिये ! आर्यैः = श्रीमानों के द्वारा, श्रुतम् = सुना गया ? एतानि = इन, अक्षराणि = अक्षरों को, (अर्थात् 'आर्यचारुदत्तः नाम,·········तत्र मे दारिका यौवनसुखमनुभवति' इन अक्षरों को)। व्यवहारः = मुकदमा। अवलम्बते = आश्रित होता है। धनदत्त ! = यह कायस्थ का नाम है। प्रथमः = पहला, पादः = चरण, अंश, स्वैरम् = इच्छा के अनुसार, आरामसे, असंभ्रान्तम् = बिना हड़बड़ाये हुए, अव्याकुल, अनुद्विग्नम् = अचिन्तित, आर्यचारुदत्तम् = आर्य चारुदत्त को॥

अर्थः-वृद्धा—क्या मुकदमा (व्यवहार) ? यदि ऐसी बात है तो आदरणीय आप लोग सुनें। वह सार्थवाह विनयदत्त के नाती, सागरदत्त के पुत्र, प्रातःस्मरणीय आर्य चारुदत्त हैं, जो सेठों के चौक में रहते हैं। वहाँ मेरी बेटी जवानी का आनन्द ले रही है।

श्रेष्ठिकायस्थौ—चारुदत्तो मित्तो त्ति णत्थि दोसो। [चारुदत्तो मित्रमिति नास्ति दोषः ।]

लधिकरणिकः—व्यवहारोऽयं चारुदत्तमवलम्बते।

श्रेष्ठिकायस्थौ—एव्वं विअ। [एवमिव ।]

अधिकरणिकः—धनदत्त ! वसन्तसेनार्यचारुत्तस्य गृहं गतेति लिख्यतां व्यवहारस्य प्रथमः पादः। कथमार्यचारुदत्तोऽप्यस्माभिराह्वाययितव्यः ?। अथवा व्यवहारस्तमाह्वयति। भद्र शोधनक ! गच्छ। आर्यचारुदत्तं स्वैरमसंभ्रान्तमनुद्विग्नं सादरमाह्वय प्रस्तावेन—'अघिकरणिकस्त्वां द्रष्टुमिच्छति' इति।

शोधनकः—जं अज्जो आणवेदि। (इति निष्क्रान्तः, चारुदत्तेन सह प्रविश्य च)

शकार—सुना श्रीमानों ने ? लिखिये इन अक्षरों को। चारुदत्त के साथ मेरा मुकदमा (विवाद) है।

श्रेष्ठी-कायस्थ—चारुदत्त (वसन्तसेना) का मित्र है, यह कोई दोष नहीं है।

अधिकरणिक—यह मुकदमा (व्यवहार) चारुदत्त पर आश्रित होता है।

श्रेष्ठी-कायस्थ—हाँ, ऐसा ही है।

अधिकरिणक—धनदत्त ! (यह कायस्थ का नाम है), 'वसन्तसेना आर्य चारुदत्त के घर गयी है' मुकदमा (व्यवहार) के इस पहले चरण को लीखिये। क्या हमें आर्य चारुदत्त को भी बुलाना पड़ेगा ? अथवा मुकदमा (व्यवहार) उनको बुला रहा है। भले आदमी शोधनक ! जाओ। 'प्रसंगवश न्यायाधीश आपको देखना चाहते हैं' ऐसा कह कर आर्य चारुदत्त को बुला लाओ। उनसे यह भी कहना कि वे धीरे-धीरे, बिना घबड़ाय एवं बिना चिन्ता किये आवें।

टीका - आर्यमिश्राः—आर्येषु = माननीयेष मिश्राः = श्रेष्ठाः। नप्ता = पुत्रस्य सुतः; सुगृहीतम् = अतिधार्मिकतया प्रातःस्मरणीयम् नामधेयम् = नाम यस्य तादृशः। श्रेष्ठिचत्वरे = श्रेष्ठिप्रतोल्याम्। यौवनस्य = युवावस्थायाः सुखम् = आनन्दम्, कामक्रीडासुखमित्यर्थः, अनुभवितुम् = संभोक्तुम्। आर्यैः = माननीयैः; श्रुतम् = श्रवणविषयीकृतम् ? एतानि = चारुदत्तस्य गृहे मे दारिका यौवनसुखमनुभवतीतिरूपाणि; अक्षराणि = वर्णान्। व्यवहारः = विवादः। अवलम्बते = आश्रयते। धनदत्त ! = कायस्थस्येदं नाम। 'स च साम्प्रतं 'रेकॉर्ड क्लार्क' इति संज्ञया प्रसिद्धः' इति पृथ्वीधरः। प्रथमः = आद्यः; पादः = चरणः, अंशः इति, यावत्। स्वैरम् = यथेच्छम्, धीरमित्यर्थः; असंभ्रान्तम् = अव्याकुलम्; अनुद्विग्नम् = अचिन्तितम्, आर्यचारुदत्तम् = वसन्तसेनामित्रमिति भावः। तत्र त्वया तथा वक्तव्यं यथा चारुदत्तः न भवेत् व्याकुलः इति भावः॥

एदु एदु अज्जो । [यदार्य आज्ञापयति । एत्वेत्वार्यः ।]

चारुदत्तः—(विचिन्त्य)

परिज्ञातस्य मे राज्ञा शीलेन च कुलेन च ।
यत्सत्यमिदमाह्वानमवस्थामभिशङ्कते ॥ ८ ॥

अर्थः-शोधनक—जैसी आपकी आज्ञा । (ऐसा कहने के अनन्तर निकल कर फिर चारुदत्त के साथ प्रवेश करके) आइये, आइये श्रीमान् जो ।

परिज्ञातस्येति—

अन्वयः—राज्ञा, शीलेन, च, कुलेन, च, परिज्ञातस्य, मे, यत्, इदम्, आह्वानम्, (अस्ति, तत्) सत्यम्, अवस्थाम्, अभिशङ्कते ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—राज्ञा = राजा के द्वारा, शीलेन = स्वभाव से, च = और, कुलेन = कुल से, च = भी, परिज्ञातस्य = भली-भाँति जाने गये, मे = मेरा, यत् = जो, इदम् = यह, आह्वानम् = बुलावा (अस्ति = है, तत् = वह), सत्यम् = सचमुच, अवस्थाम् = अवस्था को, अभिशङ्कते = सन्देह करता है ।

अर्थः-चारुदत्त—(सोच कर) राजा के द्वारा स्वभाव एवं कुल से भली-भाँति जाने गये मेरा जो यह बुलावा (है, वह) सचमुच दरिद्रता के कारण शङ्का पैदा कर रहा है । (क्योंकि दोष गरीबों पर ही मढ़े जाते हैं) ॥ ८ ॥

टीका— राज्ञा = नृपेण, राजप्रतिनिधिभूतेन न्यायाधीशेनेति यावत्; शीलेन = स्वभावेन; च = तथा; कुलेन = सद्वंशेनेत्यर्थः चापि, परिज्ञातस्य = परिचितस्य; मे = मम, चारुदत्तस्येति यावत्; यदिदम् = सम्प्रत्येव प्राप्तम्; आह्वानम् = आकारणम् ('हूतिराकारणाह्वानम्' इत्यमरः); अस्ति, तत् = आह्वानमित्यर्थः; सत्यम् = निश्चितम्; अवस्थाम् = दशाम्, 'दरिद्रावस्थामित्यर्थः; अभिशङ्कते = आशङ्कते । राज्ञा राजाधिकारिभिश्च मामकीनं पवित्रं कुलं चन्द्रधवलं चरितञ्च ज्ञायते । तथापि न्यायाधीशेन आह्वानं मयि शङ्कां जनयति । यतः सर्वे दोषाः दरिद्रे एव निपात्यन्ते ॥ ८ ॥

टिप्पणी—'अभिशङ्कते' 'इस का कर्ता 'आह्वानम्' है; जो 'तत्' शब्द से सूचित किया जाता है । 'यह आह्वान मेरी अवस्था (दरिद्रावस्था) के प्रति शङ्का करता है;' अर्थात् क्योंकि राजा ने मुझे बुलाया है, अतः प्रकट होता है कि वह मेरी गरीबी के कारण मुझ पर शङ्का करता है ॥

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है ।

लक्षण

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ८ ॥

(सवितर्क, स्वगतम्)

ज्ञातो नु किं स खलु बन्धनविप्रयुक्तो
मार्गागतः प्रवहणेन मयापनीतः ।
चारेक्षणस्य नृपतेः श्रुतिमागतो वा
येनाहमेवमभियुक्त इव प्रयामि ॥ ९ ॥

अथवा किं विचारितेन ?। अधिकरणमण्डपमेव गच्छामि। भद्र शोधनक ! अधिकरणस्य मार्गमादेशय ।

ज्ञातो नु किमिति—

अन्वयः—बन्धनविप्रयुक्तः, मार्गागतः, सः, मया, प्रवहणेन, अपनीतः, (अयम्, विषयः), किम्, नु, खलु, चारेक्षणस्य, नृपतेः, ज्ञातः, वा, श्रुतिम्, आगतः; येन, अहम्, अभियुक्तः, इव, एवम्, प्रयामि ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—बन्धनविप्रयुक्तः = कारागार से छूटा हुआ, मार्गागतः = मार्ग के क्रम से आया हुआ, सः = वह (आर्यक), मया = मेरे द्वारा, प्रवहणेन = गाड़ी से, अपनीतः= दूसरी जगह पहुँचा दिया गया, (अयम् = यह, विषयः = विषय), किम् = क्या; नु = यह सोचने विचारने की अवस्था को सूचित करने के लिए आया है, खलु = यह वाक्य को सुन्दर बनाने के लिये आयाहै; चारेक्षणस्य = दूत रूपी आँखो वाले, नृपतेः = राजा को, ज्ञातः = मालूम हो गया ? वा = अथवा, श्रुतिम् = (उनके) कान को, आगतः = पहुँच गया ? येन = जिससे, अहम् = मैं, अभियुक्तः = अपराधी, इव = जैसा, एवम् = इस प्रकार, प्रयामि = जा रहा हूँ ॥

(तर्क-वितर्क के साथ अपने आप)

अर्थः-कारागार से छूटा हुआ आर्यक रास्ते में (मेरे) पास आया और मैंने अपनी गाड़ी से उसे दूसरी जगह पहुँचा दिया—क्या यह बात दूत रूपी आँखों वाले राजा को मालूम हो गयी अथवा उन्होंने सुन लिया। जिससे कि मैं अपराधी के समान इस प्रकार (न्यायालय में) जा रहा हूँ ॥ ९ ॥

टीका—बन्धनात् = कारागृहात् विप्रयुक्तः = मुक्तः, निःसृत्य पलायितः इत्यर्थः; मार्गेण = पथा; मार्गक्रमेण, आगतः = आयातः, मम समीपे प्राप्तः; सः = आर्यकः; मया = चारुदत्तेन; प्रवहणेन = शकटेन; अपनीतः = स्थानान्तरं प्रापितः; अयं विषयः; किम्; नु = वितर्के, खल्विति वाक्यालङ्कारे; चाराः = दूताः एव ईक्षणम् = नयनम् यस्य तस्य; नृपतेः = राज्ञः; ज्ञातः = विदितः; वा = अथवा; श्रुतिम् = श्रवणम्; आगतः = प्रातः कर्णपरम्परया श्रुतः वेत्यर्थः; येन = येन हेतुना; अहम् = चारुदत्तः, अभियुक्तः = अप-

शोधनकः—एदु एदु अज्जो । [एत्वेत्वार्यः ।]

(इति परिक्रामतः)

चारुदत्तः—(सशङ्कम्) तत्किमपरम् ?

रूक्षस्वरं वाशति वायसोऽय-
ममात्यभृत्या मुहुराह्वयन्ति ।
सव्यं च नेत्रं स्फुरति प्रसह्य
ममानिमित्तानि हि खेदयन्ति ॥ १० ॥

राधस्य सम्पादनेन अभियोगदूषितः जनः इव, एवम् = इत्थम्, अधिकरणिकेन आहूतः सन्; प्रयामि = अधिकरणमण्डपं गच्छामि । यदि कश्चिज्जनः राजाधिकारिभिः कदाचिदकस्मादाहूयते तर्हि सः क्वाचित्कं स्वापराधमेव तत्र हेतुत्वेन विचारयति इत्येव सामान्यास्थितिः चारुदत्तस्य हृदि उत्पन्ना सती तं चिन्तार्चितचेतसं विदधातीति भावः ॥ ९ ॥

टिप्पणी—विप्रयुक्तः—छुटकारा पाया हुआ; वि + प्र + युज् + क्त । अभियुक्तः—जिस पर दोषों को मढ़ा गया हो; अभि + युज् + क्त ॥

इस श्लोक के 'चारेक्षणस्य' में रूपक एवं अभियोग की सम्भावना के स्पष्ट होने से इसमें उत्पेक्षा अलङ्कार है । इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका । छन्द का लक्षण—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥९॥

अर्थः–अथवा विचार करने से क्या लाभ ? न्यायालय में ही चलता हूँ । भले आदमी शोधनक ! न्यायालय के मार्ग को बतलाओ ।

शोधनक—आइये, आइये, आर्य ।

(ऐसा कह कर घूमते हैं)

रूक्षस्वरमिति—

अन्वयः—अयम्, वायसः, रूक्षस्वरम्, वाशति; अमात्यभृत्याः, मुहुः, आह्वयन्ति; च, सव्यम्, नेत्रम्, च, स्फुरति; अनिमित्तानि, हि, प्रसस्य, मम, खेदयन्ति ॥१०॥

शब्दार्थः—अयम्=यह, वासयः=कौवा, रूक्षस्वरम् = रूखी बोली में, वाशति = चिल्लारहा है । अमात्यभृत्याः = मन्त्रियों के सेवक (अर्दली), मुहुः = बार-बार, आह्वयन्ति = बुला रहे हैं । सव्यम्=बायीं, नेत्रम्=आँख, च=भी, स्फुरति=फड़क रही है । अनिमित्तानि = अपयशकुन, हि = निश्चित ही, प्रसह्य = जबर्दस्ती, मम=मुझे, खेदयन्ति=उदास बना रहे हैं ।।

शोधनकः—एदु एदु अज्जो सैरं असंभंतं । [एत्वेत्वार्यः स्वैरमसंभ्रान्तम् ।]

चारुदत्तः—(परिक्रम्याग्रतोऽवलोक्य च)

शुष्कवृक्षस्थितो ध्वाङ्क्ष आदित्याभिमुखस्तथा ।
मयि चोदयते वामं चक्षुर्घोरमसंशयम् ॥ ११ ॥

अर्थः—चारुदत्त - (शङ्का के साथ) तब यह और क्या ?

यह कौआ रूखी बोली में चिल्ला रहा है, मन्त्रियों के सेवक बार-बार बुला रहे हैं तथा मेरी बायीं आँख फड़क रही है और ये अपशकुन जबर्दस्ती मुझे उदास बना रहे हैं ॥ १० ॥

टीका—अयम्=पुरो वर्तमानः इत्यर्थ; वायसः = काकः, ('काके तु करटारिष्टबलिपुष्टसकृत्प्रजाः । ध्वाङ्क्षात्मघोषपरभृद्बलिभुग्वायसा अपि ॥ इत्यमरः); रूक्षस्वरम् = नीरसशब्दम्, कर्कशं यथा तथेति यावत्; वाशति=शब्दायते ! 'शासृ वासृ शब्दे' । भ्वादिः । आत्मनेपदानित्यत्वाच्च परस्मैपदमिति कालेमहाशयः । वायसस्य विरावणमतिभयदम् । तदुक्तं वराहमिहिरेण—'दारुणनादस्तरुकोटरोपगो वायसो महाभयदः' इति । अमात्यानाम् = राजनियुक्तानाम् अधिकरणभोजकानाम् भृत्याः = सेवकाः, सम्प्रतिव्यवहारे 'अर्दली' तिख्याताः न्यायालयभृत्याः; मुहुः = वारम्बारम्; आह्वयन्ति = आकारयन्ति । सव्यम् = वामम् ('वामं शरीरं सव्यं स्यात्' इत्यमरः); नेत्रम् = लोचनञ्च; स्फुरति = स्पन्दते; पुरुषाणां वामनयनस्य स्फुरणमशुभसूचकं शास्त्रे वर्णितमस्ति । किमधिकम् ? अनिमित्तानि = अपशकुनानि, दुर्लक्षणानि; हि = निश्चितम्; प्रसह्य = बलात्; मम = मां चारुदत्तमित्यर्थः; अत्र द्वितीयार्थे कर्मणः शेषत्वविवक्षया षष्ठीति बोध्यम् । खेदयन्ति = क्लेशयन्ति । एतानि दुर्लक्षणानि मम हृदि दारुणपरिणामाशङ्कां जनयन्तीत्यर्थः । १० ॥

टिप्पणी—वाशति—√'वासृ शब्दे' यह धातु दिवादिगण में पठित है । यह आत्मनेपदी धातु है । इसका रूप 'वाश्यते' होता है । अतः 'वाशति' यहाँ परस्मैपद चिन्तनीय है । अथवा वाशं करोति = वाशति—यह नाम धातु है ॥

इस श्लोक में समुच्चयालङ्कार एवं उपजाति छन्द है ।

छन्द का लक्षण—
(स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ॥)
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुप जातयस्ताः ॥ १० ॥

अर्थः—शोधनक—आप बिना घबराहट के एवं स्वतन्त्रता के साथ आइये ।

शुष्कवृक्षस्थितः इति—

(पुनरन्यतोऽवलोक्य) अये ! कथमयं सर्पः ? ।

मयि विनिहितदृष्टिर्भिन्ननीलाञ्जनाभः
स्फुरितविततजिह्वः शुक्लदंष्ट्राचतुष्कः ।
अभिपतति, सरोषो जिह्मिताध्मातकुक्षि-
र्भुजगपतिरयं मे मार्गमाक्रम्य सुप्तः ॥ १२ ॥

अन्वयः –शुष्कवृक्षस्थितः, तथा, आदित्याभिमुखः ध्वाङ्क्षः, मयि, वामम्, चक्षुः, चोदयते; असंशयम्, घोरम्, (वर्तते) ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—शुष्कवृक्षस्थितः = सूखे वृक्ष पर बैठा हुआ, तथा = और, आदित्याभिमुखः = सूर्य की ओर मुँह किये हुए, ध्वाङ्क्षः = कौवा, मयि = मेरे ऊपर, वामम् = बायीं, चक्षुः = आँख, को चोदयते = डाल रहा है। असंशयम् = निश्चय ही, घोरम् = भङ्कर, विपत्ति (वर्तते = है) ।

अर्थः––**चारुदत्त**—(घूम कर तथा आगे देख कर)

सूखे वृक्ष पर सूर्य की ओर मुँह करके बैठा हुआ यह कौवा मेरे ऊपर अपनी बायीं आँख डाल रहा है। निश्चय ही कोई भयङ्कर विपत्ति है ॥ ११ ॥

टीका—शुष्कवृक्षे = नीरसपादपे स्थितः = वर्तमानः; तथा = एवम्; अभि = अभिगतम्, सम्मुखे वर्तमानमित्यर्थः; मुखम् = आननं यस्य सः अभिमुखः, आदित्यस्य सूर्यस्य अभिमुखः सन्; ध्वाङ्क्षः= काकः; मयि = चारुदत्ते; वामम् = सव्यम्; चक्षुः = नेत्रम्; चोदयते = प्रेरयति; असंशयम्=अवश्यमेव; घोरम् = भयङ्करम्, दारुणं भयमित्यर्थः; वर्ततेति शेषः। एतानि अनिमित्तानि यथा मम सम्मुखे आयान्ति तथा तर्कयामि शीघ्रमेव काचिद्विपत्तिः मयि आपतिस्यतीति भावः ॥ ११ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।

छन्द का लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ११ ॥

मयीति—

अन्वयः—भिन्ननीलाञ्जनाभः, स्फुरितविततजिह्वः, शुक्लदंष्ट्राचतुष्कः, मे, मार्गम्, आक्रम्य, सुप्तः, अयम्, भुजगपतिः, सरोषः, जिह्मिताध्मातकुक्षिः, (तथा), मयि, विनिहितदृष्टिः, (सन्), अभिपतति ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—भिन्ननीलाञ्जनाभः = खूब फेंटे गये काले आँजन के समान रङ्गवाला, स्फुरितविततजिह्वः = निकली हुई जीभ को लपलपाता हुआ, शुक्लदंष्ट्राचतुष्कः = सफेद-सफेद चार दाँतों वाला, मे = मेरे; मार्गम् = रास्ते को, आक्रम्य = घेर कर, सुप्तः =

अपि च, इदम्

स्खलति चरणं भूमौ न्यस्तं न चार्द्रतमा मही
स्फुरति नयनं, वामो बाहुर्मुहुश्च विकम्पते ।
शकुनिरपरश्चायं तावद्विरौति हि नैकशः
कथयति महाघोरं मृत्युं न चात्र विचारणा ॥ १३ ॥

पड़ा हुआ, अयम् = यह, भुजगपतिः = बहुत बड़ा साँप, सरोषः = क्रुद्ध, जिह्मिताध्मातकुक्षिः = टेढ़ा और फूला पेट वाला, (तथा = और) मयि = मुझपर, विनिहितदृष्टिः = आँख लगाने वाला, (सन् = होता हुआ), अभिपतति = झपट रहा है ॥

अर्थः--(फिर दूसरी ओर देख कर) अरे ! क्या यह साँप ?

खूब फेंटे गये काले आँजन के समान रङ्ग वाला, निकली हुई जीभ को लपलपाता हुआ, सफेद-सफेद चार दाँतों वाला, मेरे रास्ते मे फैल कर पड़ा हुआ यह बहुत बड़ा साँप क्रोधपूर्वक हवा से फूले हुए पेट को टेढ़ा करता हुआ मुझ पर आँख लगाये मेरी ओर झपट रहा है ॥ १२ ॥

टीका—भिन्ननीलाञ्जनाभः—भिन्नम् = मृदितम् नीलम् = नीलवर्णम् यत् अञ्जनम् = कज्जलम् तस्य आभा इव आभा = कान्तिः यस्य तादृशः; स्फुरितविततजिह्वः—स्फुरिता = चञ्चला वितता = विस्तृता, मुखाद्बहिर्निःसारितेत्यर्थः; जिह्वा = रसना यस्य तादृशः; शुक्लम् = शुभ्रम् दंष्ट्राणाम् = दशनानाम्, विषयुक्तानामिति यावत्; चतुष्कम् = चतुष्टयम् यस्य सः; मे = मम; मार्गम् = पन्थानम्; आक्रम्य = अभिव्याप्येत्यर्थः; सुप्तः = पतितः इत्यर्थः; सुप्तः इत्यस्य निद्राणः इत्यर्थे अभिपतनानुपपत्तिः; अयम् = पुरो वर्तमानः; भुजगानाम् = सर्पाणाम् पतिः = स्वामी; विशालकायः सर्पः इति यावत्; सरोषः—रोषेण = क्रोधेन सहितः = युक्तः सरोषः = क्रुद्धः; अतः; जिह्मितः = वक्रीकृतः आध्मातः = वायुना पूरितः कुक्षिः = उदरम् यस्य तादृशः; ('पिचण्डकुक्षी जठरोदरतुन्दम्' इत्यमरः); दृश्यते हि व्यवहारे अभिपतनकाले सर्पः क्रुद्धः वक्रशरीरस्तथा वायुपूरितोदरश्च जायते; तथा मयि = चारुदत्ते; विनिहता = समर्पिता दृष्टिः = लोचनं येन तथा भूतः सन् अभिपतति = अभिमुखमागच्छति, आक्रमणं करोतीत्यर्थः । वृहत्संहितायामेतन्महाभयसूचकमुक्तम् । तद्यथा—फणिनोऽभिमुखागमोऽरिसङ्गं कथयति वन्धवधात्ययं च यातुः ॥ १२ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में स्वभावोक्ति अलङ्कार एवं मालिनी छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ॥ १२ ॥

स्खलतीति—

अन्वयः—भूमौ, न्यस्तम् चरणम्; स्खलति; मही, च, आर्द्रतमा, न, (वर्तते), नयनन्, स्फुरति; वामः, बाहुः, च, मुहुः, विकम्पते; अयम्, अपरः, शकुनिः, च, तावत्, नैकशः विरौति; (एतत्, सर्वम्), महाघोरम्, मृत्युम्, कथयति; अत्र, च, विचारणा, न, (अस्ति) ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—भूमौ = जमीन पर, न्यस्तम् = रखा हुआ, चरणम् = पैर, स्खलति = फिसल रहा है । मही = भूमि, च = भी, आर्द्रतमा = अधिक गीली, न = नहीं, (वर्तते = है) । नयनम् = (बायीं) आँख, स्फुरति = फड़क रही है । वामः = बाँया, बाहुः = बाहु । च = भी, मुहुः = बार-बार, विकम्पते = काँप रहा है । अयम् = यह, अपरः = दूसरा, शकुनिः = पक्षी, च = भी, तावत् = वस्तुतः, नैकशः = बारम्बार, विरौति = चिल्ला रहा है । (एतत् = यह, सर्वम् = सब) ; महाघोरम् = भयङ्कर, मृत्युम्=मृत्यु को, कथयति = कह रहा है, सूचना दे रहा । अत्र = इसमें, विचारणा = विचार, सन्देह, न = नहीं, (अस्ति = है) ॥

अर्थः—और भी, यह—

जमीन पर रखा हुआ पैर फिसल रहा है–किन्तु भूमि भी गीली नहीं है । (बायीं) आँख फड़क रही है तथा बाँया बाहु बार-बार काँप रहा है । और यह दूसरा पक्षी भी बारम्बार चिल्ला रहा है । ये सब भयङ्कर मृत्यु की सूचना दे रहे हैं । इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १३ ॥

टीका—भूमौ = पृथिव्याम्; न्यस्तम् = स्थापितम्; दत्तमिति यावत्; चरणम् = पादः ("पादः पदंह्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः) "चरणोऽस्त्री बह्वृचादौ मूले गोत्रे पदेऽपि च । भ्रमणे भक्षणे चापि नपुंसक उदाहृतः ॥" इति मेदिनी; स्खलति = भ्रश्यति । यात्राप्रसङ्गे पुरः स्थापितं चरणं स्खलति पश्चाद्गच्छति चैतदनिष्टसूचकम् । मही = पृथिवी; च = अपि; आर्द्रतमा = अत्यधिकम् जलक्लिन्ना अत्यार्द्रा इत्यर्थः; न वर्तते = नास्ति । सति कारणे अशुभावहा घटना न तथा चिन्ताकरी यथाऽसति हेतौ इति निष्कर्षः; । नयनम् = नेत्रम्; अत्र लिङ्गविपरिणामेन वाममिति योजनीयम्; वामं नेत्रमित्यर्थः; स्फुरति = स्पन्दते । पुरुषाणां वामनेत्रस्फुरणं न शुभावहमित्युक्तं पुरा । वामः = दक्षिणेतरः; विकम्पते=स्फुरति । पराजयसूचकमेतत् । अयम् = पुरो वर्तमानः; अपरः = काकातिरिक्तः कश्चिदन्यः; शकुनिः = पक्षिश्चः तावत् नैकशः = मुहुः; विरौति = विकटं शब्दायते; रुदतीत्यर्थः । पशुपक्षिणां रुदनमनिष्टकरं मन्यते । एतत्सर्वं महाघोरम् = अतिभय-

सर्वथा देवताः स्वस्ति करिष्यन्ति ।

शोधनकः—एदु एदु अज्जो । इमं अधिअरणमंडवं पविसदु अज्जो । [एत्वेत्वार्यः । इममधिकरणमण्डपं प्रविशत्वार्यः ।]

चारुदत्तः—(प्रविश्य, समन्तादवलोक्य) अहो, अधिकरणमण्डपस्य परा श्रीः । इह हि

चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोर्मिशङ्खाकुलं
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम् ।
नानावाशककङ्कपक्षिरचितं कायस्थसर्पास्पदं
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते ॥ १४ ॥

ङ्करम्; मृत्युम् = मरणम्; कथयति = निर्दिशति । अत्र = अस्मिन् विषये; विचारणा = तर्कः; सन्देहः इति भावः; न = नास्ति । यथा एतानि दुर्निमित्तानि सहैवायान्ति तथा प्रतीयते अशंसयं मम मरणं भविष्यतीति निगलितार्थः ॥१३॥

टिप्पणी—न्यस्तम् = रक्खा हुआ, टिकाया गया; नि + √अस् + क्त + विभक्ति० ॥

वामोबाहुः०—पुरुषों का दाहिना एवं स्त्रियों का बायाँ अङ्ग पकड़ना शुभ माना गया है—

दक्षिणमङ्गं पुंसः स्त्रियाश्च वामं शुभावहं स्फुरितम् । शार्ङ्गधरपद्धतिः ।।

इस श्लोक में विभावना एवं काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा हरिणी छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

नसमरसला गः षड्वेदै र्हयैर्हरिणी मता ॥१३॥

शब्दार्थः—सर्वथा = सब प्रकार से । स्वस्ति = कल्याण । परा = अत्यन्त अच्छी, अत्युत्कृष्ट, श्रीः = शोभा ॥

अर्थः—सब प्रकार से देवता कल्याण करेंगे ।

शोधनक—आर्य ! आइये, आइये । यह न्यायालय है । आप इसमें प्रवेश करें ।

चारुदत्त—(घुसकर और चारों ओर देख कर) अहा ! न्यायालय की अत्यन्त अच्छी शोभा है । क्योंकि यहाँ—

टीका—सर्वथा = सर्वप्रकारेण । स्वस्ति = कल्याणम् । परा = उत्कृष्टा; श्रीः = शोभा ॥

चिन्तासक्तेति—

अन्वयः—चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलम्, दूतोर्मिशङ्खाकुलम्; पर्यन्तस्थितचारन-

क्रमकरम्, नागाश्वहिंस्राश्रयम्, नानावाशककङ्कपक्षिरचितम्, कायस्थसर्पास्पदम्, नीतिक्षुण्णतटम् च, राजकरणम्, हिंस्रैः, समुद्रायते ॥१४॥

शब्दार्थ—चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलम् = सोच-विचार में लगे एवं डूबे हुए मन्त्री ही जिनमें जल हैं; दूतोर्मिशङ्खाकुलम् = जो लहर तथा शङ्ख जैसे दूतों से भरा है, पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरम्= जहाँ चारो ओर (न्यायालय के किनारों पर) रहने वाले गुप्तचर ही सूईस (नक्र) और मगर हैं, नागाश्वहिंस्राश्रयम् = जहाँ हाथी घोड़े रूपी भयङ्कर जन्तु मौजूद हैं, नानावाशककङ्कपक्षिरचितम् = जो बहुत तरह से बोलने वाले (वादी-प्रतिवादी रूपी) कङ्कपक्षियों से भरा हुआ है, कायस्थसर्पास्पदम् = कायस्थरूपी साँपों का घर, नीतिक्षुण्णतटम् = राजनीति से टूटा हुआ है किनारा जिसका ऐसा, राजकरणम् = कचहरी, हिंस्रैः = घातक लोगों के कारण, समुद्रायते = समुद्र के समान लग रहा है ॥

अर्थः-सोच-विचार में लगे एवं डूबे हुए मन्त्री ही जिसमें जल हैं, जो लहर तथा शङ्ख जैसे दूतों से भरा है, जहाँ चारों ओर रहने वाले गुप्तचर ही सूईस (नक्र) और मगर हैं, जहाँ हाथी-घोड़े रूपी भयङ्कर जन्तु मौजूद हैं, जो बहुत तरह से बोलने वाले (वादी-प्रतिवादी रूपी) कङ्क पक्षियों से भरा हुआ है, कायस्थ रूपी साँपों का घर, राजनीति से टूटा हुआ है किनारा (मर्यादा) जिसका ऐसा यह राजकरण (कचहरी) घातक लोगों के कारण समुद्र के समान लग रहा है ॥ १४ ॥

टीका—चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलम् —चिन्तायाम् = तत्त्वार्थविनिर्णयविचारणे, आसक्ताः = संलग्नाः, अत एव निमग्नाः = तल्लीनाः, मन्त्रिणः = परामर्शदातारः, परामर्शदातृत्वेन नियुक्ताः श्रेष्ठिसदृशाः जनाः इत्यर्थः, ते एव सलिलानि यस्मिन् तत्; दूताः = संदेशहराः ('स्यात्संदेशहरो दूतः' इत्यमरः) एव ऊर्मयः = वीचयः ('भङ्गस्तरङ्ग ऊर्मिर्वा स्त्रियां वीचि.' इत्यमरः) शङ्खाः = कम्बवश्च, अथवा ऊर्म्यूढाः शङ्खाः, तैः आकुलम् = परिव्याप्तम्: यथा ऊर्मयः शङ्खाश्च समुद्रे इतस्ततः सञ्चरन्ति तथैवाधिकरणे दूताः। अतः तेषां तैः साम्यम् । पर्यन्तेषु = प्रान्तभागेषु, स्थिताः = वर्तमानाः, चाराः = गूढपुरुषाः, गुप्तचराः इत्यर्थः, ('चारश्च गूढपुरुषश्च आप्तः प्रत्ययितः' इत्यमरः) ते एव नक्राः = कुम्भीराः ('नक्रस्तु कुम्भीर.' इत्यमरः) मकराः = स्वनामप्रसिद्धाः जलजन्तुविशेषाश्च यत्र तत्; नागाः = हस्तिनः अश्वाः = वाजिनश्च ते एव हिंस्राः = हिंस्रजन्तवः तेषाम् आश्रयः = स्थितिः यत्र तत्; दत्तमृत्युदण्डस्य जनस्य वधार्थ स्थापितानां नागानाम्, तत्रैव साधनीभूतानामश्वानाञ्च हिंस्रैः जलचरैः साम्यम् अवगन्तव्यम् ; नाना = बहुविधाः, वाश्यन्ते इति वाशकाः = शब्दं कुर्वन्तः वादिप्रतिवादिजनाः

भवतु । (प्रविशञ्छिरोभिघातमभिनीय, सवितर्कम्) अहह, इदमपरम्

सव्यं मे स्पन्दते चक्षुर्विरौति वायसस्तथा ।
पन्थाः सर्पेण रुद्धोऽयं, स्वस्ति चास्मासु दैवतः ॥ १५ ॥

एव कङ्कपक्षिणः = मांसप्रियाः पक्षिविशेषाः तैः रचितम् = व्याप्तम् । परस्परविनाशतत्पराणां तेषां कङ्कसाम्यमवगन्तव्यम् । कायस्थाः = लेखनोपजीविनः इत्यभिप्रायः, ते एव सर्पाः = भुजगाः, तेषाम् आस्पदम् = स्थानम् उभयत्र कौटिल्येन साम्यमवगन्तव्यम् । नीतिः = नयः, सामादिरूपः इत्यर्थः, तया क्षुण्णम् = भग्नम्, तटम् = मर्यादा यस्य तत्; चेतिपादपूरकम्; राजकरणम् = न्यायाधिकरणम्, हिंस्रैः = हिंसाशीलैः प्राणिभिः; समुद्रायते = समुद्रः इव आचरति ॥ १४ ॥

टिप्पणीः—इस श्लोक में उपमा एवं रूपक अलङ्कार का सङ्कर है। इस में प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित ।

छन्द का लक्षण—

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ १४ ॥

सव्यमिति—

अन्वयः—में, सव्यम्, चक्षुः, स्पन्दते; तथा, वायसः, विरौति; अयम्, पन्थाः, सर्पेण, रुद्धः, अस्मासु, दैवतः, स्वस्ति; (भविष्यति) ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—मे = मेरी, सव्यम् = बाँयी, चक्षुः = आँख, स्पन्दते = फड़क रही है। तथा = और, वायसः = कौवा, विरौति = चिल्ला रहा है। पन्थाः = रास्ता, सर्पेण = साँप से, रुद्धः = रुका हुआ है। अस्मासु = मेरे ऊपर अर्थात् मेरा, दैवतः = भाग्य से, स्वस्ति = कल्याण, (भविष्यति = होगा) ॥

अर्थः—अच्छा । (प्रवेश करते हुए शिर टकराने का अभिनय करके सोच-विचार के साथ) अहह, यह दूसरा (अपशकुन)—

मेरी बायीं आँख फड़क रही है तथा कौवा चिल्ला रहा है एवं रास्ता साँप से रुका हुआ है। मेरा भाग्य से ही कल्याण होगा ॥ १५ ॥

टीका—मे = मम, चारुदत्तस्येत्यर्थ, सव्यम् = वामम्; चक्षुः = नेत्रम्; स्पन्दते = स्फुरति । तथा वायसः = काकः; विरौति = रूक्षं शब्दं करोतीत्यर्थः । अयम् = एषः, पुरोवर्तमानः; पन्थाः = मार्गः; सर्पेण = अहिना, रुद्धः आक्रान्तः; अस्तीति शेषः; अस्मासु = अस्माकमित्यर्थः; दैवतः = भाग्यादेव; स्वस्ति = कल्याणं भविष्यतीति । भाग्यमेव एतेषाम् अपशकुनानां परिमार्जनं विधास्यतीति भावः ॥ १५ ॥

तावत्प्रविशामि। (इति प्रविशति)

अधिकरणिकः—अयमसौ चारुदत्तः। य एषः

घोणोन्नतं मुखमपाङ्गविशालनेत्रं
नैतद्धि भाजनमकारणदूषणानाम्।
नागेषु गोषु तुरगेषु तथा नरेषु
नह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम्॥ १६॥

टिप्पणी—रुद्धः + अवरुद्ध, घिरा हुआ; √रुध् + क्त॥

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।

छन्द का लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्॥ १५॥

घोणोन्नतमिति—

अन्वयः—घोणोन्नतम्, अपाङ्गविशालनेत्रम्, एतत्, मुखम्, हि, अकारणदूषणानाम्, भाजनम्, न, (भवितुम्, शक्नोति); (यतः) नागेषु, गोषु, तुरगेषु, तथा, नरेषु, आकृतिः, सुसदृशम्, वृत्तम्, नहि, विजहाति॥ १६॥

शब्दार्थः—घोणोन्नतम् = ऊँची नाक से युक्त, अपाङ्गविशालनेत्रम् = विशाल कोनों वाली आँखों से युक्त, एतत् = यह, मुखम् = मुँह, हि = निश्चय ही, अकारणदूषणानाम् = विना कारण के ही, अपराधों का, भाजनम् = पात्र (अर्थात् कर्ता), न = नहीं, (भवितुं शक्नोति = हो सकता है)। (यतः = क्यों कि), नागेषु = हाथियों में, गोषु = गायों या बैलों में, तुरगेषु = घोड़ों में, तथा = और, नरेषु = मनुष्यों में, आकृतिः = चेहरा (आकार), सुसदृशम् = अपने योग्य, वृत्तम् = आचरण को, नहि = नहीं, विजहाति = त्यागता है॥

अर्थः—तो प्रवेश करता हूँ (ऐसा कह कर प्रवेश करता है)

अधिकरणिक—यह है वह चारुदत्त। जो यह—

ऊँची नाक से युक्त तथा विशाल कानों वाली आँखों से युक्त यह मुँह (अर्थात् चारुदत्त) निश्चय ही विना कारण के अपराधों का कर्त्ता नहीं हो सकता। क्योंकि हाथी, गाय, घोड़ा तथा मनुष्य का चेहरा (आकार) अपने योग्य आचरण का त्याग नहीं करता (अर्थात् सुन्दर चेहरा अनुचित काम नहीं कर सकता)॥ १६॥

टीका—घोणा = नासिका ('घ्राणं गन्धवहा घोणा नासा च नासिका' इत्यमरः) उन्नता = उद्गता यस्मिन् तत्, घोणया नासिका उन्नतम् = ऊर्ध्वङ्गतम् वा;

चारुदत्तः—भोः ! अधिकृतेभ्यः स्वस्ति । हंहो नियुक्ताः ! अपि कुशलं भवताम् ? ।

अधिकरणिकः—(ससंभ्रमम्) स्वागतमार्यस्य । भद्र शोधनक ! आर्यस्यासनमुपनय ।

शुकचञ्चुवत्प्रशस्तनासिकमित्यर्थः; अपाङ्गयोः=नेत्रान्तयोः (अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ' इत्यमरः) विशाले = दीर्घे नेत्रे = नयने यत्र तादृशम्; एतेन नेत्रयोः दीर्घत्वमुक्तम्; एतत्=चारुदत्तसम्वन्धि; मुखम् = आननम्; हि = निश्चितम्; अकारणेन = हठेन, अरोपितानाम् = दोषाणाम्, अपराधानामित्यर्थः भाजनम् = पात्रम्, कर्त्ता इति यावत्; नहि भवितुं शक्नोतीति शेषः । यतः नागेषु = गजेषु; गोषु = वृषभेषु धेनुषु च; तुरगेषु = अश्वेषु, तथा = अपि च; नरेषु = मनुष्येषु; आकृतिः = आकारः; शरीरनिर्माणमित्यर्थः; सुसदृशम् = योग्यम्; आकृत्यनुसारमित्यर्थः; वृत्तम् = अचारणम्; नहि विजहाति = नहि त्यजति । चारुदत्तस्य मुखं सौभाग्याभिव्यञ्जकं वर्तते । अतः नायं कुत्सितानां कर्मणां कर्ता भवितुं शक्नोति । यतः शोभनाकृतयः शोभनातिरिक्तम् अशोभनं कर्म न कदापि कुर्वन्ति । शाकुन्तले प्रियम्वदयापि–'न तादृशाः आकृतिविशेषाः गुणविरहिणः भवन्ति ।' इत्युक्तं दुष्यन्तं प्रति ॥ १६ ॥

टिप्पणी—घोणोन्नतम्—वस्तुतः 'उन्नतघोणम् = पाठ अच्छा होता । अन्यथा 'आहिताग्न्यादि' में मानकर पर निपात करना पड़ेगा ॥

इस श्लोक में दीपक तथा तर्थान्तिरन्यास अलङ्कार एवं वसन्ततिलका छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—अधिकृतेभ्यः = अधिकारियों के लिये, स्वस्ति = कल्याण । नियुक्ताः = कर्मचारियों ! ससंभ्रमम् = जल्दी से । स्त्रोघातक ! = स्त्री मारने वाला ! अहो = यह ईर्ष्या, डाह को प्रकट करने वाला अव्यय है । न्याय्यः = न्यायपूर्ण, धर्म्यः = धर्मपूर्ण, व्यवहारः = मुकदमा । अस्याः = इस, आर्यायाः = आर्या की, श्रीमती की, दुहित्रा = लड़की के, सह = साथ, प्रसक्तिः = घनिष्ठ प्रेम, प्रणयः = प्रेम, वा = अथवा; प्रीतिः = साधारण मित्रता ? जात ! = पुत्र ! दारिकया = पुत्री के द्वारा, यौवनम् = जवानी, सुनिक्षिप्तम् = भली प्रकार से सौंपा है, अच्छे ढंग से रक्खा है ॥

अर्थः–**चारुदत्त**—अधिकारियों का कल्याण हो । कर्मचारियों ! आप लोग कुशल से तो हैं ?

अधिकरणिक—(जल्दी के साथ) आर्य का स्वागत है । भले आदमी शोधनक ! आर्य (चारुदत्त) को आसन लाकर दो ।

शोधनकः—(आसनमुपनीय) एदं आसणं । एत्थ उवविसदु अज्जो । [इदमासनम् । अत्रोपविशत्वार्यः ।]

(चारुदत्त उपविशति)

शकारः—(सक्रोधम्) आगदेशि ले इश्तिआघादआ ! आगदेशि ? । अहो णाए ववहाले, धम्मे ववहाले; जं एदाह इश्थिआघादकाह आशणे दीअदि । (सगर्वम्) भोदु णं दीअदु । [आगतोऽसि रे स्त्रीघातक ! आगतोऽसि ? । अहो न्याय्यो व्यवहारः, अहो धर्म्यो व्यवहारः; यदेतस्मै स्त्रीघातकायासनं दीयते । भवतु, ननु दीयताम् ।]

अधिकरणिकः—आर्य चारुदत्त ! अस्ति भवतोऽस्या आर्याया दुहित्रा सह प्रसक्तिः प्रणयः प्रीतिर्वा ? ।

चारुदत्तः—कस्याः ? ।

अधिकरणिकः—अस्याः । (इति वसन्तसेनामातरं दर्शयति)

चारुदत्तः—(उत्थाय) आर्ये ! अभिवादये ।

वृद्धा—जाद ! चिरं मे जीव । (स्वगतम्) अअं सो चारुदत्तो । सुणिक्खित्तं खु दारिआए जोव्वणं । [जात ! चिरं मे जीव । अयं स चारुदत्तः । सुनिक्षिप्तं खलु दारिकया यौवनम् ।]

शोधनक—(आसन पास लाकर) यह आसन है । आप इस पर बैठें ।
(चारुदत्त बैठता है)

शकार—(क्रोध के साथ) आ गया रे स्त्री मारने वाला ! आ गया ? अहो ! कैसा न्यायपूर्ण व्यवहार है, कैसा धर्मपूर्ण व्यवहार (मुकदमे का विचार) है, जो कि इस स्त्री मारने वाले को आसन दिया जा रहा है । अच्छा, तो दीजिये ।

अधिकरणिक—आर्य चारुदत्त ! क्या आपका इन श्रीमती की लड़की (वसन्तसेना) के साथ घनिष्ट प्रेम, प्रेम अथवा साधारण मित्रता है ?

चारुदत्त—किसकी ?

अधिकरणिक—इनकी (ऐसा कह कर वसन्तसेना की माता को दिखलाता है)

चारुदत्त—(उठकर) आर्ये ! प्रणाम करता हूँ ।

वृद्धा—मेरे बेटे ! बहुत दिन तक जियो । (अपने आप) यही वह चारुदत्त है । (तब तो) बेटी ने अपनी जवानी भली प्रकार से (अर्थात् योग्य हाथों में) सौंपी है ।

अधिकरणिकः –आर्य ! गणिका तव मित्रम् ?।

(चारुदत्तो लज्जां नाटयति)

शकारः—

लज्जाए भीलुदाए वा
चालित्तं अलिए णिगूहिदुं ।
शअं मालिअ अत्थकालणाए
दाणिं गूहदि ण तं हि भश्टके ॥ १७ ॥

[लज्जया भीरुतया वा चारित्रमलीकं निगूहितुम् ।
स्वयं मारयित्वार्थकारणादिदानीं गूहति न तद्धि भट्टकः ॥]

अर्थ.–अधिकरणिक – आर्य ! वेश्या (वसन्तसेना) तुम्हारा मित्र है ?

(चारुदत्त लजाने का अभिनय करता है)

टीका—अधिकृतेभ्यः = विचारे नियुक्तेभ्यः, विचारकेभ्यः इत्यर्थः; स्वस्ति = कल्याणम्; भवत्विति शेषः। नियुक्ताः = सहकाराय संयोजिताः श्रेष्ठिकायस्थादयः। अपीति प्रश्ने। ससंभ्रमम् = सवेगम्। स्त्रीघातक ! = अबलाप्राणापहारक ! अहो = इति ईर्ष्या द्योतकम् अव्ययपदम्। न्याय्यः – न्यायादनपेतः न्याय्यः = न्यायपूर्णः, धर्मादनपेतः धर्म्यः = धर्मयुक्तः; व्यवहारः = अभियोगविचारः। अस्याः=पुरोवर्तमानायाः; आर्यायाः = श्रीमत्याः, वसन्तसेनामातुः इत्यर्थः; दुहित्रा = पुत्र्या वसन्तसेनया इत्यर्थः; सह = साकम्; प्रसक्तिः = प्रगाढा मैत्री; प्रणयः = प्रेम; वा = अथवा; प्रीतिः = सामान्या मित्रता, स्नेहमात्रमित्यर्थः जात ! = पुत्र ! जातेति स्नेहाभिव्यञ्जकमव्ययम्। दारिकया = पुत्र्या वसन्तसेनया इत्यर्थः; यौवनम् = तारुण्यम्; सुनिक्षिप्तम् = सुष्ठु समर्पितम्। योग्येन योग्यसंगमः जातः इति भावः॥

टिप्पणी—नियुक्ताः = नियुक्त किये गये; नि + √ युज् + क्त। न्याय्यः = न्यायपूर्ण, न्याय + यत्। धर्म्यः = धार्मिक, धर्मपूर्ण, धर्म + यत्। प्रसक्तिः = संलग्नता, अनुरक्ति; प्र + √सञ्ज = क्तिन्। निक्षिप्तः = रक्खा गया, दिया गया; नि = क्षिप् + क्त॥

लज्जयेति—

अन्वयः—अर्थकारणात्, स्वयम्, मारयित्वा, इदानीम्, (त्वम्), लज्जया, वा, भीरुतया, अलीकम्, चारित्रम्, निगूहितुम्, (यतसे); (किन्तु) भट्टकः, हि, तत्, न, गूहति ॥ १७ ॥

श्रेष्ठिकायस्थौ—अज्जचारुदत्त ! भणाहि। अलं लज्जाए; ववहारो खु एसो। [आर्य चारुदत्त ! भण। अलं लज्जया। व्यवहारः खल्वेषः।]

चारुदत्तः—(सलज्जम्) भो अधिकृताः ! मया कथमीदृशं वक्तव्यम्—यथा

शब्दार्थः—अर्थकारणात् = धन के लिये, स्वयम् = अपने आप, मारयित्वा = मारकर, इदानीम् = इस समय, (त्वम् = तुम), लज्जया = लज्या के कारण, वा - अथवा, भीरुतया = डर के कारण, अलीकम् = अप्रिय, (बुरे), चरित्रम् = चरित को, निगूहितुम् = छिपानेके लिये, (यतसे = कोशिस कर रहे हो। किन्तु = परन्तु) भट्टकः = स्वामी (राजा अथवा न्यायाधीश , हि = निश्चित ही, तत् = उसको, न = नहीं, गूहति = छिपायेगा ॥

अर्थः-**शकार**—धन के लिये (वसन्नसेना को) स्वयं मार कर इस समय तूँ लज्जा अथवा डर के कारण अपने बुरे चरित को छिपाने की कोशिस कर रहा है। किन्तु राजा अथवा न्यायाधीश उसको नहीं छिपायेगा (अर्थात् सारी बातें वह अवश्य प्रकट कर देगा) ॥ १७ ॥

टीका—अर्थकारणादिति—अर्थस्य = धनस्य कारणात् = हेतोः; धनार्थमिति यावत्; स्वयम् = आत्मना मारयित्वा = हत्वा; वसन्तसेनामिति शेषः; इदानीम्=सम्प्रति; त्वम्, लज्जया = व्रीडया; वा = अथवा; भीरुतया = दण्डस्य भयेन; अलीकम् = अप्रियम्, कुत्सितमिति यावत् ('स्यादलीकं त्वप्रियेऽनृते' इत्यमरः); चारित्रम् = चरितम्, कार्यमित्यर्थः; आत्मनः इति शेष; निगूहितुम् = गोपायितुम्; यतसे इति शेषः; किन्तु; भट्टकः = स्वामी; राजा पालकः न्ययाधीशः वा; हि = निश्चितम्; तत् = अलीकम्; न = नहि; गूहति = अपह्नुते। धनलोभात्पापं कृत्वा सम्प्रति तत् निगूहितुं चेष्टसे। परञ्च तवेयं चेष्टा शासकस्य सम्मुखे निष्फलैव भविष्यतीति भावः ॥ १७ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में वैतालीय छन्द है।

छन्द का लक्षण—

षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः। न समाऽत्र पराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः ॥ १७ ॥

अर्थ.-**श्रेष्ठी-कायस्थ**—आर्य चारुदत्त ! बोलिये। लज्जा नहीं करनी चाहिये। यह मुकदमा (व्यवहार) है।

शब्दार्थः- अत्र = इस विषय में (अर्थात् गणिका के साथ मित्रता करने में), यौवनम्=जवानी, अपराध्यति=दोषी है, अपराध करता है, न चारित्र्यम्=चरित्र नहीं ॥

गणिका मम मित्रमिति ? । अथवा यौवनमत्रापराध्यति, न चारित्र्यम् ।

अधिकरणिकः—

व्यवहारः सविघ्नोऽयं त्यज लज्जां हृदि स्थिताम् ।
ब्रूहि सत्यमलं धैर्यं छलमत्र न गृह्यते ॥ १८ ॥

अर्थः—चारुदत्त –(लज्जा के साथ) हे अधिकारियों ! मेरे द्वारा यह कैसे कहा जा सकता है कि वेश्या मेरा मित्र है ? अथवा इस विषय में जवानी ही दोषी है, न कि चरित्र ।

टीका—अत्र = अस्मिन् विषये, गणिकया सह मैत्रीप्रसङ्गे इत्यर्थः; यौवनम् = तारुण्यम्; अपराध्यति = अपराधं करोति, न चारित्र्यम् = चरितं न अपराध्यति । नाऽहं प्रकृत्या लम्पटः गणिकोपसेवी वा । उद्दामयौवनवशादेवेदमनुष्ठितं गणिकोपसेवनं मया । यौवनप्रभावाद्विहितमकार्यं न चरितं दूषयतीति भावः॥

व्यवहारः इति –

अन्वयः—अयम्, व्यवहारः, सविघ्नः, (अतः) हृदि, स्थिताम्, लज्जाम्, त्यज; सत्यम्, ब्रूहि; धैर्यम्, अलम्; अत्र, छलम्, न, गृह्यते ॥१८॥

शब्दार्थः –अयम् = यह, व्यवहार मुकदमा, सविघ्नः = सङ्कटों से भरपूर (है), (अतः = इसलिए); हृदि = हृदय में, स्थिताम् = वर्तमान, लज्जाम् = लज्जा को, त्यज = छोड़ो । सत्यम् = सच-सच, ब्रूहि = बोलो । धैर्यम् = धीरज, अलम् = व्यर्थ है । अत्र = यहाँ, छलम् = छल-कपट, न = नहीं, गृह्यते = ग्रहण किया जाता, माना जाता ॥

अर्थः-अधिकरणिक—यह मुकदमा (व्यवहार) सङ्कटों से भरपूर है (अतः) हृदय में वर्तमान लज्जा छोड़ो । सच-सच बोलो । धैर्य धारण कर चुप रहना ठीक नहीं (अथवा सच कहने के लिये काफी धीरज रक्खो) । यहाँ छल-कपट को नहीं माना जाता है ॥ १८ ॥

टीका—अयम् = एषः, प्रचलितः इत्यर्थः; व्यवहारः = अभियोगविचारः; सविघ्नः = विघ्नैः पूर्णः; वर्तते । अतः हृदि = हृदये; स्थिताम् = वर्तमानाम्; लज्जाम् = व्रीडाम्, त्यज = मुञ्च । सत्यम् = यथार्थम्;ब्रूहि =वद । धैर्यम् = गाम्भीर्यम्; अलम् = व्यर्थम् । अत्र = अस्मिन् न्यायालये; छलम् = छद्म ('छलं छद्मस्खलितयो, हैमः) न गृह्यते = न स्वीक्रियते ॥१८॥

टिप्पणी—इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है ।

अलं लज्जया, व्यवहारस्त्वां पृच्छति ।

चारुदत्तः—अधिकृत ! केन सह मम व्यवहारः ? ।

शकारः—(साटोपम्) अले ! मए शह ववहाले । [अरे ! मया सह व्यवहारः ।]

चारुदत्तः—त्वया सह मम व्यवहारः सुदुःसहः ।

शकारः—अले इस्तिआघादआ ! तं तादिशिं लअणशदभूशणिअं वशंतशेणिअं मालिअ शंपदं कवडकावडिके भविअ णिगूहेशि ? । [अरे स्त्रीघातक ! तां तादृशीं रत्नशतभूषणां वसन्तसेनां मारयित्वा, सांप्रतं कपटकापटिको भूत्वा, निगूहसि ? ।]

चारुदत्तः—असंबद्धः खल्वसि ।

अधिकरणिकः—आर्यचारुदत्त ! अलमनेन; ब्रूहि सत्यम् । अपि गणिका तव मित्रम् ? ।

चारुदत्तः—एवमेव ।

अधिकरणिकः—आर्य ! वसन्तसेना क्व ? ।

चारुदत्तः—गृहं गता ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—कधं गदा, कदा गदा, गच्छंती वा केण अणुगदा ? । [कथं गता, कदा गता, गच्छन्ती वा केनानुगता ? ।]

छन्द का लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ।। १८ ।।

अर्थ—लज्जा मत करो । मुकदमा (व्यवहार) तुमसे पूछता है ।

चारुदत्त—अधिकारी ! किसके साथ मेरा मुकदमा (व्यवहार) है ?

शकार—(घमण्ड के साथ) अरे ! मेरे साथ व्यवहार है ।

शब्दार्थः—सुदुःसहः = दुःसह्य, भयानक । कपटकापटिकः = कपट पूर्वक धूर्त अर्थात् अत्यन्त कपटी । निगूहसि = छिपारहे हो ? । असम्बद्धः = ऊटपटाङ्ग (असङ्गत) बात करने वाला । प्रच्छन्नम् = छिप कर ।।

अर्थः-**चारुदत्त**—तुम्हारे साथ मेरा मुकदमा (व्यवहार) होना दुःसह्य है ।

शकार—अरे स्त्री का वध करने वाले ! अत्यन्त सुन्दरी रत्न जटित सैकड़ों आभूषण पहनी हुई उस वसन्तसेना को मार कर इस समय कपट पूर्वक धूर्त बनकर छिपा रहे हो ?

चारुदत्त—तू उटपटाङ्ग (असङ्गत) बात कहने वाला है ।

अधिकरणिक—आर्या चारुदत्त ! इसे (शकार को) रहने दो । सच बतलाओ । क्या वेश्या (वसन्तसेना) तुम्हारा मित्र है ?

चारुदत्त—हाँ, ऐसा ही है ।

अधिकरणिक—आर्या ! वसन्तसेना कहाँ है ?

चारुदत्त—घर गयी ।

श्रेष्ठी-कायस्थ—कैसे गयी, कब गयी और जाती हुई उसके साथ कौन गया ?

चारुदत्तः—(स्वगतम्) किं प्रच्छन्नं गतेति ब्रवीमि ?।

श्रेष्ठिकायस्थौ—अज्ज ! कधेहि। [आर्य ! कथय।]

चारुदत्तः—गृहं गता। किमन्यद्ब्रवीमि ?।

शकारः—मम केलकं पुप्फकलंडकजिण्णुज्जाणं पवेशिअ अत्थणिमित्तं बाहुपाशबलक्कालेण मालिदा। अए ! शंपदं वदशि घलं गदेत्ति ?। [मदीयं पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं प्रवेश्यार्थनिमित्तं बाहुपाशबलात्कारेण मारिता। अये ! सांप्रतं वदसि गृहं गतेति ?।]

चारुदत्त.—आः, असंबद्धप्रलापिन् ?

अभ्युक्षितोऽसि सलिलैर्न बलाहकानां
चापाग्रपक्षसदृशं भृशमन्तराले।
मिथ्यैतदाननमिदं भवतस्तथाहि
हेमन्तपद्ममिव निष्प्रभतामुपैति ॥ १९ ॥

चारुदत्त—(अपने आप) क्या कह दूँ कि 'छिप कर गयी' ?

टीका सुदुःसहः = दुःसह्यः, भयानकः इति यावत्। कपटेन = छलेन कापटिकः = धूर्त, अतीव धूर्तः इत्यर्थ.। कापटिक. इत्यनेनैव अभीप्सितार्थसिद्धेः कपटपदस्याधिक्यं शकारस्याज्ञानसूचकमेवेत्यवगन्तव्यम्। निगूहसि ? = गोपायसि ?। असम्बद्धः = असम्बद्धवक्ता इत्यर्थः, प्रच्छन्नम् = गुप्तम्; यथा तथा ॥

अर्थः—श्रेष्ठी-कायस्थ—आर्य ! बतलाइये।

चारुदत्त—घर गयी। और क्या कहूँ ?

शकार—मेरे पुष्पकरण्डक नामक पुराने बगीचे में लेजाकर धन के लिये जबर्दस्ती बाहुपाश में जकड़कर मार डाला है। अरे ! अब कहता है कि 'घर गयी'।

अभ्युक्षितोसीति—

अन्वयः—एतत्, मिथ्या, (अस्ति); तथा हि, बलाहकानाम्; सलिलैः, अभ्युक्षितः, न, असि; तथापि, अन्तराले, चाषाग्रपक्षसदृशम्, भवतः, इदम्, आननम् हेमन्तपद्मम्, इव, निष्प्रभताम्, उपैति ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—एतत् = यह, मिथ्या = झूठा, (अस्ति = है); तथाहि = उदाहरणार्थ, बलाहकानाम् = बादलों के, सलिलैः = जल से, अभ्युक्षितः = भीगे, न = नहीं, असि = हो; (किन्तु = परन्तु), अन्तराले = (कहने के) बीच में, चाषाग्रपक्षसदृशम् = नीलकण्ठ पक्षी की पाँख के छोर के समान, भवतः = आपका, इदम् = यह, आननम् =

अधिकरणिकः—(जनान्तिकम्)

तुलनं चाद्रिराजस्य समुद्रस्य च तारणम् ।
ग्रहणं चानिलस्येव चारुदत्तस्य दूषणम् ॥ २० ॥

मुँह, हेमन्तपद्मम् = हेमन्त ऋतु में कमल, इव = जैसा, भृशम् = एकदम, निष्प्रभताम् = मलिनता को, उपैति = प्राप्त हो रहा है ॥

अर्थः—चारुदत्त—अरे ! अण्ट-सण्ट बकने वाले !

यह एकदम झूठा है; उदाहरणार्थ,—तुम बादलों के जल से भीगे नहीं हो, (किन्तु फिर भी इस बात को) कहने में नीलकण्ठ पक्षी की पाँख के छोर के समान (काला) आप का यह मुँह हेमन्त ऋतु में कमल की तरह एकदम मलिन हो रहा है।।१६।।

टीका—एतत् = इदम्, भवतः वचनम्; मिथ्या = असत्यम्; अस्तीति शेषः । तथाहि = एतस्माद्धेतोः, उदाहरणाय वा; बलाहकानाम् = मेघानाम् ('अभ्रं मेघो वारिवाहः स्तनयित्नुर्बलाहकः' इत्यमरः); सलिलैः = जलैः; अभ्युक्षितः = सिक्तः; न असि = न वर्तसे; तथापि त्वम्; अन्तराले = कथनमध्ये; पक्षे अन्तरिक्षे च; चाषः = किकीदिविः, पक्षिविशेषः, "नीलकण्ठ" इति ख्यातः ('चाषः किकीदिविः' इत्यमरः); तस्य अग्रपक्षः= पक्षाग्रम्, तस्य सदृशम् = तुल्यम्; भवतः = श्रीमतः; दुष्टस्य अनुपकारिणः शकारस्य कृते आदरार्थाभिधायकः भवच्छशब्दप्रयोगः उपहासाभिव्यञ्जकः; इदम् = एतत्, प्रवदनपरमित्यर्थः; आननम् = मुखम्; हेमन्तस्य = हेमन्तर्तोः पद्मम् = कमलमिव, हेमन्ते कमलानि तुषारपातेन निष्प्रभतां प्राप्नुवन्ति; निष्प्रभताम् = कान्तिशून्यताम्; उपैति = प्राप्नोति । असंशयमसत्यं तव कथनम् । यतः तुषारपातमलिनं कमलमिव ते आननम् असत्यभाषणात् कान्तिहीनं जायते । दृश्यते हि लोकेऽसत्यवक्तुः मुखमालिन्यम् । तवाकृति र्वदति वदसि त्वमसत्यमिति भावः ॥ १६ ॥

टिप्पणी—अभ्युक्षितः = सींचा गया, सिक्त; अभि + उक्ष + क्त ॥

इस श्लोक में उपमा एवं विभावना अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है। छन्द का लक्षण—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ १६ ॥

तुलनमिति—

अन्वयः—चारुदत्तस्य, दूषणम्, अद्रिराजस्य, तुलनम्, समुद्रस्य, तारणम्, अनिलस्य, ग्रहणम्, इव, (वर्तते) ॥ २० ॥

शब्दार्थः—चारुदत्तस्य = चारुदत्त का, दूषणम् = दोष अर्थात् दोष निकालना,

(प्रकाशम्) आर्यचारुदत्तः खल्वसौ कथमिदमकार्यं करिष्यति ? ।
('घोणा–' [९।१६] इत्यादि पठति)

शकारः—किं पक्खवादेण ? ववहाले दीशदि । [किं पक्षपातेन व्यवहारो दृश्यते ।]

अधिकरणिकः—अपेहि, मूर्ख !

वेदार्थान्प्राकृतस्त्वं वदसि, न च ते जिह्वा निपतिता,
मध्याह्ने वीक्षसेऽर्कं, न तव सहसा दृष्टिर्विचलिता ।
दीप्ताग्ने पाणिमन्तः क्षिपसि, स च ते दग्धो भवति नो
चारित्र्याच्चारुदत्तं चलयसि, न ते देहं हरति भूः ॥ २१ ॥

अद्रिराजस्य = हिमालय के, तुलनम् = तौलने, समुद्रस्य = समुद्र के, तारणम् = तैर कर पार कराने, अनिलस्य = हवा को, ग्रहणम् = पकड़ने, इव = जैसा, (वर्तते = है) ॥

अर्थः अधिकरणिक—(अलग से)

चारुदत्त का दोष निकालना पर्वतराज हिमालय के तौलने के समान, समुद्र को तैर कर पार करने के समान एवं हवा को पकड़ने के समान है (अर्थात् चारुदत्त को दोषी ठहराना आसान बात नहीं है) ॥ २० ॥

(प्रकट रूप में) यह आर्य चारुदत्त हैं, भला ये इस कुकृत्य को कैसे करेंगे ? ('घोणा' ९।१६ इत्यादि श्लोक पढ़ता है) ।

टीका—चारुदत्तस्य = कुलेन आचरणेन चातिनिर्मलस्य चारुदत्तस्येत्यर्थः; दूषणम् = दोषनिःसारणम्; चारुदत्ते दोषारोपणमिति यावत्; अद्रिराजस्य = नगाधिराजस्य हिमालयस्य; तुलनम् = तुलया गुरुत्वमापन्नमिव; समुद्रस्य = सागरस्य; तारणम् = सन्तरणेन अपरपारे प्रापणमिव; अनिलस्य = वायोः; ग्रहणम् = करे धारणमिव; वर्तते इति शेषः । यथा हिमालस्य तुलनम्, समुद्रस्य सन्तरणेन पारप्रापणम्, सदागतेः वायोः ग्रहणम्, अशक्यम्, तथैव महात्मनि चारुदत्ते दोषसाधनं दुष्करमिति भावः ॥ २० ॥

टिप्पणी तारणम् = पार उतारना, √ तॄ + णिच् + ल्युट् ॥

इस श्लोक में मालोपमा अलङ्कार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ २० ॥

अर्थः–शकार—क्या पक्षपात के साथ मुकदमा (व्यवहार) देखा जाता है ?

वेदार्थानिति—

अन्वयः—त्वम्, प्राकृतः, (सन्), वेदार्थान्, वदसि, (किन्तु), ते, जिह्वा, न,

च, निपतिता; मध्याह्ने, अर्कम्, वीक्षसे, (किन्तु), सहसा, तव, दृष्टिः, न, विचलिता; दीप्ताग्नेः, अन्तः, पाणिम्, क्षिपसि, (किन्तु), ते, सः, दग्धः, नो, भवति; चारुदत्तम्, चारित्र्यात्, चलयसि, (किन्तु) भूः, ते देहम्, न, हरति ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—त्वम् = तू, प्राकृतः = नीच, (सन् = होता हुआ), वेदार्थान् = वेदों के अर्थों को, वदसि = कह रहा है, (किन्तु = फिर भी), ते = तेरी, जिह्वा = जीभ, न च = नहीं, निपतिता = गिरी। मध्याह्ने = दोपहर के समय में, अर्कम् = सूर्य को, वीक्षसे = देख रहा है, (किन्तु), सहसा = एकाएक, तव = तुम्हारी, दृष्टिः = आँख, न विचलिता = चौंधिया नहीं गयी। दीप्ताग्नेः = धधकती आग के, अन्तः = बीच में, पाणिम् = हाथ को, क्षिपसि = डाल रहा है, (किन्तु), ते = तेरा, सः = वह (हाथ), दग्धः = जला हुआ, नो = नहीं, भवति = हो रहा है। चारुदत्तम् = चारुदत्त को, चारित्र्यात् = चरित्र से, चलयसि = भ्रष्ट कर रहा है, (किन्तु), भूः = पृथिवी, ते = तुम्हारी, देहम् = देह को, न हरति = छिपा नहीं लेती ॥

अर्थः—**अधिकरणिक**—हट, मूर्ख !

तू नीच होकर भी वेदों का अर्थ कह रहा है, परन्तु तेरी जीभ नहीं गिरी। तू दोपहर के समय सूर्य को देख रहा है; किन्तु एकाएक तुम्हारी आँख चौंधिया नहीं गयी। तू धधकती आग के बीच में अपना हाथ डाल रहा है, किन्तु तेरा हाथ जल नहीं जा रहा है। तू चारुदत्त को चरित्र से भ्रष्ट कर रहा है (अर्थात् बतला रहा है), परन्तु पृथिवी तुम्हारी देह को अपने भीतर छिपा नहीं लेती ॥ २१ ॥

टीका—त्वम् = पुरो वर्तमानः शकारः; प्राकृतः = नीचः ('विवर्णः पामरो नीचः प्राकृतश्च पृथग्जनः' इत्यमरः), सन्; वेदार्थान् = श्रुत्यर्थान्, वदसि = कथयसि; किन्तु ते = तव; जिह्वा = रसना; न च निपतिता = न च भ्रष्टा। नीचस्य हि वेदार्थकथने जिह्वापातः। वेदार्थसदृशस्य चारुदत्तनाम्नः उच्चारणे तव नीचस्य जिह्वापातः भाव्यः, मध्याह्ने = मध्यन्दिने; अर्कम् = सूर्यम्; वीक्षसे = पश्यसि; तथापि सहसा = झटिति; तव = ते; दृष्टिः = नेत्रम्; न विचलिता = न विनष्टा। प्रदीप्तस्य सूर्यस्योपरि दृष्टिनिर्धारणमिव चारुदत्ते दोषारोपणमिति भावः। दीप्ताग्नेः = प्रज्वलिताग्नेः; अन्तः = मध्ये; पाणिम् = हस्तम्, क्षिपसि = प्रवेशयसि; किन्तु ते = तव नीचस्य; सः = पाणिश्च; दग्धः = भस्मीभूतः; नो = नहि; भवति = जायते। चादत्तम् = कीर्तिधवलं चारुदत्तमित्यर्थः; चारित्र्यात् = लोकाभिनन्दितात् चरितात्; चालयसि = च्यावयसि; किन्तु भूः = पृथिवी; ते = पापिनः शकारस्य; देहम् = शरीरम्; न हरति = स्वान्ते न

आर्यचारुदत्तः कथमकार्यं करिष्यति ? ।

कृत्वा समुद्रमुदकोच्छ्रयमात्रशेषं
दत्तानि येन हि धनान्यनपेक्षितानि ।
स श्रेयसां कथमिवैकनिधिर्महात्मा
पापं करिष्यति धनार्थमवैरिजुष्टम् ॥ २२ ॥

गृह्णाति । यथा मध्याह्ने सूर्यवीक्षणादीनि कर्याणि कर्तुमशक्यानि तथा कर्तुः विनाशकराणि च तथैव चारुदत्तस्य चरिते दूषणदानमपीति भावः ॥२१॥

टिप्पणी——दग्धः = जला हुआ, आग में भस्म हुआ; √दह् + क्त ॥

इस श्लोक में निदर्शना तथा विशेपोक्ति अलङ्कार है । इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—सुमधुरा ।

सुमधुरा का लक्षण —

म्रौ म्नौ मो नो गुरुश्चेद्वसुशररसैरुक्ता सुमधुरा ॥२१॥

कृत्वा समुद्रमिति—

अन्वयः—हि, येन, समुद्रम्, उदकोच्छ्रयमात्रशेषम्, कृत्वा, अनपेक्षितानि, धनानि, दत्तानि; श्रेयसाम्, एकनिधिः, सः, महात्मा, धनार्थम्, अवैरिजुष्टम्, पापम्, कथमिव, करिष्यति ?॥ २२ ॥

शब्दार्थः—हि = क्योंकि, येन = जिसके द्वारा, समुद्रम् = समुद्र को, उदकोच्छ्रयमात्रशेपम् = जल का ढेरमात्र शेष, कृत्वा = बनाकर, अनपेक्षितानि = बिना माँगे गये, धनानि = धन, दत्तानि = दे दिये गये । श्रेयसाम् = कल्याणों का, एकनिधिः = सबसे महान् आश्रय, सः = वह, महात्मा = सज्जन (चारुदत्त), धनार्थम् = धन के लिये, अवैरिजुष्टम् = शत्रुओं के द्वारा भी अकरणीय, पापम् = पाप को, कथमिव = कैसे, करिष्यति = करेगा ॥

अर्थः—आर्य चारुदत्त कैसे पाप काम करेंगे ?

क्योंकि, जिसने (रत्न दानकर कर के) समुद्र को केवल जल का ढेर (आकर) मात्र बनाकर (याचकों को) बिना माँगे ही बहुत धन दे डाला; कल्याणों का सबसे महान् आश्रय (अर्थात् दूसरे की भलाई करने में आगे रहनेवाला) वही महात्मा चारुदत्त धन के लिये कैसे इस पाप को करेगा ? जिस (पाप) को कि शत्रु भी नहीं कर सकते ॥ २२ ॥

टीका—हि = यतः; येन = चारुदत्तेन; समुद्रम् = सागरम्; उदकेन = जलेन

वृद्धा—हदास ! जो तदाणि णासीकिदं सुवण्णभंडअं रत्ति चोरेहिं अवहिदं त्ति तस्स कारणादो चदुस्समुद्दसारभूदं रअणावलिं देसि, सा दाणि अत्थकल्लवत्तस्स कालणादो इमं अकज्जं करेदि ? । हा जादे ! एहि मे पुत्ति ! । [हताश ! यस्तदानीं न्यासीकृतं सुवर्ण-भाण्डं रात्रौ चौरैरपहृतमिति तस्य कारणाच्चतुःसमुद्रसारभूतां रत्नावलीं ददाति, स इदानीमर्थकल्यवर्तस्य कारणादिदमकार्यं करोति ? । हा जाते ! एहि मे पुत्रि ! ।] (इति रोदिति)

उदकस्य = जलस्य वा उच्छ्रय = उच्चता, औन्नत्यमित्यर्थः. तन्मात्रम् = तदेव शेषः = अवशिष्टम् यस्य तम्; रत्नाकरेतिख्यातस्य समुद्रस्योदकाधिक्येनैव महत्त्वम्, न पुनः, रत्नैः यतः ततः उद्धृत्य निखिलानि रत्नानि चारुदत्तेन याचकेभ्योऽयाचकेभ्यश्च दत्तानीति भावः । कृत्वा = विधाय ; अनपेक्षितानि = अनभिलषितानि, अयाचितानीति यावत्; धनानि = अर्थाः; बहुवचनमत्र वैविध्यसूचनार्थम्; दत्तानि = समर्पितानि, वितीर्णानीत्यर्थः; श्रेयसाम् = कल्याणानाम् पुण्यानाम् वा ('स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः' इत्यमरः); एकः = अद्वितीयः निधिः = आकर , अद्वितीयाश्रयः इत्यर्थः; सः = जगति प्रसिद्धः; महात्मा = महाशयः, चारुदत्तः इत्यर्थः; धनार्थम् = वित्ताय; अवैरिजुष्टम्— वैरिणा = शत्रुणा न जुष्टम् = न सेवितम्, न कृतमित्यर्थः; (अवीरजुष्टमिति पाठान्तरे वीरैः न जुष्टम् = सेवितम्, अवीरजुष्टमिति) पापम् = नीचं कर्म; कथमिव = केन प्रकारेण; करिष्यति = विधास्यति । शत्रुभिरप्यनिष्पादनीयमतिगर्हितं कर्म दानैकवीरः चारुदत्तः कथमिव करिष्यति ? कथमपि नेति भावः ॥ २२ ॥

टिप्पणी—जुष्टम् = किया गया, सम्पन्न; √जुष् + क्त ॥

इस श्लोक में अतिशयोक्ति अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौगः ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—हताश ! = अभागा ! अथवा खल ! यः = जो (चारुदत्त); तदानीम् = उस समय । प्रत्यक्षम् = सामने । सामर्षः = क्रोधपूर्वक । प्रवेष्टकेन = भुजा उठाकर ॥

अर्थः—**वृद्धा**—अभागा ! जिसने उस समय धरोहर के रूपमें रखे हुए सोने के जेवरों के डिब्बे को चोरों के चुरा लेने पर उसके बदले में चारों समुद्रों की सार रूप रत्नावली दे दी थी, वही इस समय कलेवा के समान तुच्छ धन के लिए इस कुकृत्य को करेगा ? हाय बेटी ! आओ मेरी पुत्री ! (ऐसा कह कर रोती है) ।

अधिकरणिकः—आर्य चारुदत्त ! किमसौ पद्भ्यां गता, उत प्रवहणेनेति ? ।

चारुदत्तः—ननु प्रत्यक्षं न गता । तन्न जाने किं पद्भ्यां गता, उत प्रवहणेनेति ।

(प्रविश्य, सामर्षः)

वीरकः—

पादप्पहारपरिभवविमाणणाबद्धगरुअवेरस्स ।
अणुसोअंतस्स इअं कधं पि रत्ती पभादा मे ॥ २३ ॥

ता जाव अधिअरणमंडवं उपसप्पामि । (प्रवेष्टकेन) सुहं अज्जमिस्साणं ।

[पादप्रहारपरिभवविमाननाबद्धगुरुकवैरस्य ।
अनुशोचत इयं कथमपि रात्रिः प्रभाता मे ॥

तद्यावदधिकरणमण्डपमुपसर्पामि । सुखमार्यमिश्राणाम् ।]

अर्थः—अधिकरणिक—आर्य चारुदत्त ! क्या वह पैदल गयी अथवा गाड़ी से ?

चारुदत्त—मेरे सामने नहीं गयी । तो मैं नहीं जानता कि पैदल गयी अथवा गाड़ी से ।

टीका—हताः = विनष्टा आशा = वस्तुलाभेच्छा यस्य तत्सम्बुद्धौ; गालिदानाय हताशशब्दः प्रयुज्यते; खल ! इति वा । यः = चारुदत्तः; तदानीम् = तस्मिन् काले; यदा सुवर्णभाण्डं चौरैरपहृतं तदेति भावः । प्रत्यक्षम् = समक्षम् । सामर्षः = सकोपः (कोप-क्रोधामर्षरोषप्रतिघारुट्क्रुधौ' इत्यमरः) । प्रवेष्टः = बाहुः ('भुजबाहूप्रवेष्टो दोः' इत्यमरः) प्रवेष्टः एव प्रवेष्टकः तेन, भुजमुत्थाप्येत्यर्थः ॥

पादप्रहारेति—

अन्वयः—पादप्रहारपरिभवविमाननाबद्धगुरुकवैरस्य, अनुशोचतः, मे, इयम्, रात्रिः, कथमपि, प्रभाता ॥ २३ ॥

शब्दार्थः—पादप्रहारपरिभवविमाननाबद्धगुरुकवैरस्य = पैर से मारने के अनादर से होनेवाले अपमान के द्वारा बहुत बड़ा वैर बांधने वाले, (अतः), अनुशोचतः = सोच करने वाले, मे = मेरी, इयम् = यह, रात्रिः = रात, कथमपि = किसी तरह से, प्रभाता = प्रभातवाली हो गयी अर्थात् बीत गयी ॥

(प्रवेश करके, क्रोधपूर्वक)

अर्थः-वीरक—(उज्जयिनी का हेड कॉन्स्टेबल)—(चन्दनक के द्वारा) पैर से मारने के अनादर से होनेवाले अपमान के द्वारा बहुत बड़ा वैर बाँधने वाले मुझ वीरक की सोचते हुए ही यह रात किसी तरह से बीती है ॥ २३ ॥

अधिकरणिकः–अये ! नगररक्षाधिकृतो वीरकः । वीरक ! किमागमनप्रयोजनम् ? ।

वीरकः –ही, बंधणभेअणसंभमे अज्जकं अण्णेसंतो, ओवाडिदं पवहणं वच्चदि त्ति विआरं करंतो अण्णेसंतो, 'अरे ! तुए वि आलोइदे, मए वि आलोइदव्वो' त्ति भणंतो ज्जेव चंदणमहत्तरएण पादेण ताडिदोम्हि । एदं सुणिअ अज्जमिस्सा पमाणं । [ही, बन्धनभेदनसंभ्रमे आर्यकमन्वेषयन्, अपवारितं प्रवहणं व्रजतीति विचारं कुर्वन्नन्वेषयन्, 'अरे ! त्वयाप्यालोकितम्, मयाप्यालोकितव्यम्' इति भणन्नेव चन्दनमहत्तरकेण, पादेन ताडितोऽस्मि । एतच्छ्रुत्वार्यमिश्रा प्रमाणम् ।]

अधिकरणिकः - भद्र ! जानीषे कस्य तत्प्रवहणमिति ? ।

टीका पादेनि -- पादेन = चरणेन प्रहारः = ताडनम्, तेन, चन्दनकस्येति शेषः, यः परिभवः = तिरस्कारः ('अनादरः परिभवः परीभावस्तिरस्क्रिया' इत्यमरः) तेन या विमानना = अवमानना, क्षोभः इति यावत्, तया बद्धम् = स्वीकृतम् गुरुकम् = महत् वैरम् = शत्रुत्वम् येन तस्य; अतः अनुशोचतः = चिन्तां कुर्वतः, मे = मम, वीरकस्य इत्यर्थः; इयम् = अद्यैव व्यतीता; रात्रिः = निशा; कथमपि = येन केनापि रूपेण, असुखेनेति यावत्; प्रभाता = प्रभातरूपेण परिणता, व्यतीतेति यावत् ।। २३ ।।

टिप्पणी –इस श्लोक में गाथा छन्द है ।। २३ ।।

शब्दार्थः—सुखम् = कल्याण, आनन्द । नगररक्षाधिकृतः; = नगर की रखवाली के लिये नियुक्त । आगमनप्रयोजनम् = आने का कारण । ही = यह विषाद एवं दुःख को सूचित करने वाला अव्यय है । बन्धनभेदनसंभ्रमे = कारागार तोड़कर जल्दी में । अपवारितम् = ढकी हुई, प्रवहणम् = गाड़ी । चन्दनमहत्तरकेण = महान् चन्दनक के द्वारा । प्रवहणवाहकेन = गाड़ीवान् के द्वारा । श्रुतम् = सुना गया ।।

अर्थः—इसलिए न्यायालय में चलता हूँ । (हाथ उठाकर) विद्वान् पुरुषों ! (आपका) कल्याण हो ।

अधिकरणिक—अरे ! नगर की रखवाली के लिए नियुक्त वीरक है । वीरक ! तुम्हारे आने का क्या कारण है ?

वीरक—अहो ! कारागार तोड़कर जल्दी में (भागनेवाले) आर्यक को ढूँढते हुए 'ढकी हुई गाड़ी जा रही है' यह विचार करते हुए तथा तलाशी लेते हुए (निरीक्षण करते हुए) महान् चन्दनक ने उस समय मुझे लात से मारा जब कि मैं उससे कह ही रहा था कि —'अरे तूने (चन्दनक ने) भी (गाड़ी) देख ली मुझे भी देख लेनी चाहिए' ।

अधिकरणिक—भले आदमी ! जानते हो वह किसकी गाड़ी थी ?

वीरकः—इमस्स अज्जचारुदत्तस्स। वसंतसेणा आरूढा पुप्फकरंडकजिण्णुज्जाणं कीलिदुं णीअदि त्ति पवहणवाहएण कहिदं। [अस्यार्यचारुदत्तस्य। वसन्तसेनारूढा पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं क्रीडितुं नीयत इति प्रवहणवाहकेन कथितम्।]

शकारः–पुणो वि शुदं अज्जेहिं ?। [पुनरपि श्रुतमार्यैः ?।]

अधिकरणिकः—

एष भो ! निर्मलज्योत्स्नो राहुणा ग्रस्यते शशी।
जलं कूलावपातेन प्रसन्नं कलुषायते॥ २४॥

वीरक–इन आर्य चारुदत्त की। गाड़ीवान् ने कहा कि–'इस पर बैठी हुई वसन्तसेना पुष्पकरण्डक नामक पुराने बगीचे में क्रीडा करने के लिये ले जायी जा रही है।'

शकार—महानुभावों ! आपने फिर भी सुन लिया ?

टीका–-सुखम् = कल्याणम्; भवत्विति शेषः। नगरस्य = उज्जयिनीनगर्याः रक्षायाम् = संरक्षणे अधिकृतः = अधिकारित्वेन नियुक्तः; उज्जयिन्याः प्रधानरक्षकः इत्यर्थः; 'हेड कॉन्स्टेबल' इति प्रचलिता भाषा। आगमनस्य = अत्र प्राप्तेः, प्रयोजनम् = हेतुः। 'ही' इति विषादेऽव्ययम्। बन्धनभेदनसम्भ्रमे—बन्धनस्य = कारागारस्य भेदनम् = त्रोटम्, तेन यः संभ्रमः = त्वरा, तस्मिन्। अपवारितम् = आच्छादितम्; प्रवहणम् = शकटम्। चन्दमहत्तरकेण—चन्दन एव महत्तरः = मत्तः महान्, सः एव महत्तरकः तेन। प्रधानेन अधिकारिणा वीरकेण स्वसहायकस्य चन्दनस्य कृते महत्तरकशब्देन कथनं व्यङ्ग्यपूर्णं ज्ञेयम्। प्रवहणस्य = यानस्य वाहकेन = चालकेन। श्रुतम् = श्रवणविषयीकृतम् ? स्वाभियोगपुष्टी प्रश्नाशयः॥

एष भो ! इति—

अन्वयः—भो ! निर्मलज्योत्स्नः, एषः, शशी, राहुणा, ग्रस्यते; कूलावपातेन, प्रसन्नम्, जलम्, कलुषायते॥ २४॥

शब्दार्थः—भो ! = दुःख है ! निर्मलज्योत्स्नः = निर्मल चाँदनी वाला, एषः = यह, शशी = चन्द्रमा, राहुणा = राहु के द्वारा, ग्रस्यते = ग्रसा जा रहा है। कूलावपातेन = तट के गिरने से, प्रसन्नम् = निर्मल, जलम् = जल, कलुषायते = गन्दा हो रहा है॥

अर्थः-अधिकरणिक—दुःख है ! निर्मल चाँदनी वाला यह चन्द्रमा राहु के द्वारा ग्रसा जा रहा है। तट के गिरने से निर्मल जल गन्दा हो रहा है। (अर्थात् दुर्भाग्य के कारण निर्मल चरित्र वाला चारुदत्त कलङ्कित हो रहा है)॥ २४॥

वीरक ! पश्चादिह भवतो न्यायं द्रक्ष्यामः । य एषोऽधिकरणद्वार्यश्वस्तिष्ठति, तमेनमारुह्य गत्वा पुष्पकरण्डकोद्यानं दृश्यतामस्ति तत्र काचिद्विपन्ना स्त्री न वेति ।

वीरकः—जं अज्जो आणवेदि । (इति निष्क्रान्तः, प्रविश्य च) गदोम्हि तहिं । दिट्ठं च मए एत्थिआकलेवरं सावएहिं विलुप्पंतं । [यदार्य आज्ञापयति । गतोऽस्मि तत्र । दृष्टं च मया स्त्रीकलेवरं श्वापदैर्विलुप्यमानम् ।]

श्रेष्ठिकायस्थौ—कध तुए जाणिदं इत्थिआकलेवरं त्ति ? । [कथं त्वया ज्ञातं स्त्रीकलेवरमिति ? ।]

वीरकः—सावसेसेहिं केसहत्थपाणिपादेहिं उवलक्खिदं मए । [सावशेषैः केशहस्त-

---

टीका—भो ! इति खेदाभिव्यञ्जकमव्ययपदम् । निर्मला = विमला, शुभ्रेति भाव,: ज्योत्स्ना = चन्द्रिका यस्य तादृशः; एषः = अयम्, पुरो वर्तमानः; शशी = चन्द्रः; राहुणा = सैंहिकेयेन ('तमस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः दुष्ट' इत्यमरः); दुष्टग्रह-रूपेण शकारेण इत्यर्थः; ग्रस्यते = ग्रासविषयीक्रियते । राहुग्रासानन्तरं यथा चन्द्रः अक्षतः सुविशदश्च सन् प्रकाशते तथैवायं चारुदत्तः सकुशलः मुक्तः प्रतिष्ठितश्च राज्ये भविष्यतीति ध्वनिः । कूलावपातेन—कूलस्य = तटस्य अवपातेन = पतनेन; प्रसन्नम् = सुनिर्मलम्; जलम् = सलिलम्; कलुषायते = मलिनायते । प्रकृत्या सुशीतलः मधुरश्च चारुदत्तः अन्यस्यापराधेन अकारणं दुष्यति इत्यपि भावः ॥ २४ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में अतिशयोक्ति अलङ्कार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है । कुछ लोग रूपक अलङ्कार भी मानते हैं । छन्द का लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—विपन्ना = मरी हुई, मृत । स्त्रीकलेवरम् = स्त्री का शरीर, श्वापदैः = हिंसक जन्तुओं के द्वारा, विलुप्यमानम् = खाये जाते हुए, नोंचे जाते हुए । उपलक्षितम् = समझा गया, जाना गया । वैषम्यम् = विषमता को, विलक्षणता को ॥

अर्थः—वीरक ! हमलोग बाद में तुम्हारे मुकदमे (अभियोग) पर बिचार करेंगे । न्यायलय के दरवाजे पर जो यह घोड़ा बँधा है, उस पर चढ़ कर पुष्पकरण्डक नामक बगीचे में जाकर देखो कि वहाँ कोई मरी हुई स्त्री है अथवा नहीं ।

वीरक—जैसी श्रीमान् की आज्ञा । (ऐसा कह कर निकल जाता है और पुनः प्रवेश करके) गया था वहाँ । वहाँ पर मैंने हिंसक जन्तुओं के द्वारा खाये जाते हुए स्त्री के शरीर को देखा है ।

श्रेष्ठी-कायस्थ—तुमने कैसे जाना कि (वह) स्त्री का शरीर था ?

पाणिपादैरुपलक्षितं मया ।]

अधिकरणिकः—अहो ! धिक् वैषम्यं लोकव्यवहारस्य

यथा यथेदं निपुणं विचार्यते तथा तथा संकटमेव दृश्यते ।
अहो सुसन्ना व्यवहारनीतयो, मतिस्तु गौः पङ्कगतेव सीदति ।। २५ ।।

अर्थः-वीरक—(खाने से) बाकी बचे हुए शिर के बालों, हाथों और पैरों से मैंने समझ लिया ।

टीका—विपन्ना = मृता । स्त्रियः = वनितायाः कलेवरम् = शरीरम्; श्वापदैः = हिंसकपशुभिः; विलुप्यमानम् = भक्ष्यमाणम् । उपलक्षितम् = परिज्ञातम् । वैषम्यम् = वैलक्षण्यम् असाम्यं वा ।।

टिप्पणी—विपन्ना = मरी हुई; वि + पद् + क्विप् = विपद्, विपद् + क्त ।।

यथा यथेदमिति—

अन्वयः—इदम्, यथा, मया, निपुणम्, विचार्यते; तथा, तथा, संकटम्, एव, दृश्यते; अहो ! व्यवहारनीतयः, सुसन्नाः, (भवन्ति); तु, मतिः, पङ्कगता, गौः, इव, सीदति ।। २५ ।।

शब्दार्थः—इदम् = यह (मुकदमा), यथा = जैसे, यथा = जैसे, निपुणम् = सावधानी से, विचार्यते = बिचारा जाता है; तथा = वैसे, तथा = वैसे, सङ्कटम् = सङ्कटपूर्ण, उलझा हुआ, एव = ही, दृश्यते = दिखलायी देता है । अहो ! = ओह ! व्यवहारनीतयः = मुदकमा (व्यवहार) के प्रमाण (नियम), सुसन्नाः = भली-भाँति पुष्ट, (भवन्ति = हो रहे हैं), तु = परन्तु, मतिः = बुद्धि, पङ्कगता = कीचड़ में फँसी हुई, गौ = गाय (की), इव = तरह, सीदति = खिन्न हो रही है ।।

अर्थः—अधिकरणिक—अहो ! संसार के व्यवहार की विलक्षणता को धिक्कार है, यह (मुकदमा) जैसे जैसे सावधानी से बिचारा जाता है वैसे-वैसे ही उलझा हुआ ही दिखलायी देता है । ओह ! मुकदमा (व्यवहार) के प्रमाण (नियम) भली-भाँति पुष्ट हो रहे हैं । परन्तु मेरी बुद्धि कीचड़ में फँसी हुई गाय के समान खिन्न हो रही है ।। २५ ।।

टीका—इदम् = एतदभियोगप्रकरणम्; यथा यथा = येन येन प्रकारेण; निपुणम् = सम्यक्, अवधानतया वा; विचार्यते = निर्णीयते; तथा तथा = तेन तेन प्रकारेण; सङ्कटम् = विपत्तिबहुलमेव; दृश्यते = अवलोक्यते, प्रतीयते इत्यर्थः; अस्माभिः इति शेषः । अहो ! इति खेदे; व्यवहारस्य = अभियोगविचारस्य नीतयः = पद्धतयः; सुसन्नाः

चारुदत्तः—(स्वगतम्)

यथैव पुष्पं प्रथमे विकाशे समेत्य पातुं मधुपाः पतन्ति ।
एवं मनुष्यस्य विपत्तिकाले छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ २६ ॥

= सम्यक् पुष्टाः; भवन्तीति शेषः । तु = किन्तु; मतिः = बुद्धिः, ममेतिशेषः; पंके = कर्दमे ('पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमौ' इत्यमरः) गता = पतिता; पङ्कनिमग्ना इत्यर्थः; गौरिव = सौरभेयीव; सीदति = निमज्जति, अवसादं गच्छतीत्यर्थः । धवलचरितश्चारुदत्तो न भवेत् दण्डितः, अथवा निर्णये न भवेत्काचित् त्रुटिरित्यर्थं यथा यथाऽत्र विचार्यते तथा तथा चारुदत्तः एव दोषभाजनं प्रतीयते, प्रतीयते यशोधवलश्चन्द्रसदृशश्चारुदत्त. दण्डभाग् भविष्यति । अतः मम बुद्धिः दुःखिता भवतीति भावः ॥ २५ ॥

टिप्पणी—न्यायाधीश की बुद्धि की समता कीचड़ में फँसी हुई गाय के साथ बतलाने से यहाँ उपमा अलङ्कार है। इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—वंशस्थ ।

छन्द का लक्षण—

जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ॥ २५ ॥

यथैव पुष्पमिति—

अन्वयः—यथैव, प्रथमे, विकाशे, पुष्पम्, पातुम्, भ्रमराः, समेत्य, पतन्ति; एवम्, मनुष्यस्य, विपत्तिकाले, छिद्रेषु, अनर्थाः, भहुलीभवन्ति ॥ २६ ॥

शब्दार्थः—यथैव = जैसे, प्रथमे = पहले, विकाशे = खिलने में (खिलने के समय), पुष्पम् = फूल को, पातुम् = पीने के लिये, भ्रमराः = भौंरे, समेत्य = इकटठा होकर, पतन्ति = गिरते हैं । एवम् = इसी तरह, मनुष्यस्य = मनुष्य की, विपत्तिकाले = आपत्ति के समय, छिद्रेषु = जरा सी सुराखों में (जरा से दोषों में), अनर्थाः = अनिष्ट, बहुलीभभवन्ति = बहुत से हो जाते हैं ॥

अर्थः-चारुदत्त—(अपने आप)

जैसे पहले पहल खिलने के समय फूल (फूल का रस) पीने के लिये भौंरे इकट्ठा होकर (उस पर) गिरते हैं, इसी तरह मनुष्य की आपत्ति के समय जरा सी सुराख (दोष) पाकर अनेक अनिष्ट आ घेरते हैं ॥ २६ ॥

टीका—यथैव = येन प्रकारेणैव; प्रथमे = प्रारम्भिके, विकाशे = उन्मेषे; विकाशस्य आरम्भकाले इत्यर्थः; तदा सौरभाधिक्यात्; पुष्पम् = प्रसूनम्; मकरन्दमित्यर्थः; पातुम् = आस्वादितुम्; भ्रमराः = द्विरेफाः ('द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्गषट्पदभ्रमरालयः' इत्यमरः); समेत्य = एकत्रीभूय; पतन्ति = वेगेन आगच्छन्ति । एवम् = इत्थम्; मनुष्यस्य =

अधिकरणिकः—आर्यचारुदत्त ! सत्यमभिधीयताम् ।

चारुदत्तः—

दुष्टात्मा परगुणमत्सरी मनुष्यो
रागान्धः परमिह हन्तुकामबुद्धिः ।
किं यो यद्वदति मृषैव जातिदोषा-
त्तद्ग्राह्यं भवति, न तद्विचारणीयम् ।। २७ ।।

जनस्य; विपत्तिकाले = आपत्तिसमये; छिद्रेषु = रन्ध्रेषु, दोषेष्वित्यर्थः; व्यसनेषु इति यावत्; ('छिद्रं विवररन्ध्रवत् । गर्ते दोषे' इति हैमः); अनर्थाः = विपत्तयः; बहुलीभवन्ति = स्फारीभवन्ति । मानवस्य दैन्यकाले आपदः चतुर्दिग्भ्यः आगच्छन्तीत्यर्थ ।। २६ ।।

टिप्पणी—पातुम् = पीने के लिये; √पा + तुमुन् ।

इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा तथा उपमा अलङ्कार है । इस में प्रयुक्त छन्द का नाम है—उपजाति ।

छन्द का लक्षण—

(स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः । उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ।।)

अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ।। २६ ।।

अर्थः—अधिकरणिक—आर्य चारुदत्त ! सच-सच कहिये ।

दुष्टात्मेति—

अन्वयः—इह, दुष्टात्मा, परगुणमत्सरी, रागान्धः, परम्, हन्तुकामबुद्धिः, यः, मनुष्यः, जातिदोषात्, मृषा, एव, यत्, वदति, किम्, तत्, ग्राह्यम् भवति, ? तत्, विचारणीयम्, न ? ।। २७ ।।

शब्दार्थः—इह = यहाँ, दुष्टातमा = नीचस्वभाववाला, परगुणमत्सरी = दूसरे के गुणों के प्रति ईर्ष्या करने वाला, रागान्धः = क्रोध से अन्धा, परम् = दूसरे को, हन्तुकामबुद्धिः = मारने की इच्छा वाला, यः = जो, मनुष्यः = मनुष्य, जातिदोषात् = स्वाभाविक दुष्टता के कारण, मृषा = झूठा, एव = ही, यत् = जो, वदति = कहता है, किम् = क्या, तत् = वह, ग्राह्यम् = मानने लायक, भवति = होता है ! तत् = वह, विचारणीयम् = विचार करने के योग्य, न = नहीं, (होता) ? ।।

अर्थः—चारुदत्त—यहाँ, दुष्टात्मा, दूसरे के गुणों के प्रति ईर्ष्या करने वाला, क्रोध से अन्धा, दूसरे को मारने की इच्छावाला मनुष्य अपनी स्वाभाविक दुष्टता के कारण झूठा ही जो कुछ कहता है वह मानने के लायक होता है ? क्या वह विचार करने के योग्य नहीं होता ? ।। २७ ।।

अपि च,—

योऽहं लतां कुसुमितामपि पुष्पहेतो-
राकृष्य नैव कुसुमावचयं करोमि।
सोऽहं कथं भ्रमरपक्षरुचौ सुदीर्घे
केशे प्रगृह्य रुदतीं प्रमदां निहन्मि ? ॥ २८ ॥

टीका—इह = न्यायालये, अधिकरणे, संसारे वा; दुष्टात्मा—दुष्टः = कलुषितः आत्मा = अन्तःकरणम् यस्य असौ, दुराशयः इत्यर्थः; परेषाम् = अन्येषाम् गुणेषु = शुभ-प्रकृतिषु उत्कर्षेषु वा, मत्सरः = द्वेषः ('मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे' इत्यमरः) सोऽस्यास्तीति मत्सरी = ईर्ष्यालुः; रागेण = क्रोधेन अन्धः = विवेकविहीनः; अतः परम् = अन्यं जनम्; हन्तुम् = विनाशयितुम्, कामः = इच्छा प्रयोजनम् वा यस्याः सा हन्तुकामा, हन्तुकामा बुद्धिः = मतिः यस्य तादृशः। 'तुम् काममनसोरपि' इति मकारस्य लोपः। यः = यः कश्चित्; मनुष्यः = जनः; जातिदोषात् = नीचकुलोत्पन्नत्वात्, अथवा जातौ = जनने दोषात् = निन्द्यभावात्, वर्णसङ्करत्वादित्यर्थः; मृषा = मिथ्या; एव; यत् वदति = कथयति; किम् तत् = तस्य असत्यकथनम्; ग्राह्यम् = मान्यम्; भवति = अस्ति ? तत् = तस्य मिथ्याभाषणम्; विचारणीयम् = विवेचनीयम्, सत्यमसत्यं वेतिरूपेण विवेचनीयमित्यर्थः; न = न भवति ? अपितु तत् विवेचनीयमवश्यमेव भवतीति भावः ॥ २७ ॥

टिप्पणी—मत्सरी = दूसरे के कल्याण से द्वेष करने वाला, ईर्ष्यालु, डाह करने वाला; मत्सर + इनि (अत इनिठनौ) ॥

इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा एवं परिकर अलङ्कार तथा प्रहर्षिणी छन्द है।

छन्द का लक्षण—

त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम् ॥ २७ ॥

योऽहमिति—

अन्वयः—यः, अहम्, कुसुमिताम्, लताम्, अपि, पुष्पहेतोः, आकृष्य, पुष्पावचयम्, न, करोमि; सः, अहम्, भ्रमरपक्षरुचौ, सुदीर्घे, केशे, प्रगृह्य, रुदतीम् ! प्रमदाम्, कथम्, निहन्मि ?॥ २८ ॥

शब्दार्थः—यः = जो, अहम् = मैं, कुसुमिताम् = फूली हुई, लताम् = लता को, अपि = भी, पुष्पहेतोः = फूल के लिये, आकृष्य = खींचकर, पुष्पावचयम् = फूलों का चयन करना, न = नहीं, करोमि = करता हूँ; सः = वह, अहम् = मैं, भ्रमरपपक्षरुचौ = भौंरों की पाँखों के समान रङ्ग (कान्ति) वाले, सुदीर्घे = लम्बे-लम्बे, केशे = बालों में (बालों को), प्रगृह्य = पकड़ कर, रुदतीम् = रोती हुई, प्रमदाम् = स्त्री को, कथम् = कैसे, निहन्मि = मारता हूँ ! अर्थात् कैसे मार सकता हूँ ? ॥

शकारः—हंहो अधिअलणभोइआ ! किं तुम्हें पक्खवादेग ववहालं पेक्खध ? ज्जेण अज्ज वि एशे हदाशचालुदत्ते आशणे धालीअदि। [हंहो अधिकरणभोजकाः ! किं यूयं पक्षपातेन व्यवहारं पश्यत ? येनाद्याप्येष हताशचारुदत्त आसने धार्यते।]

अर्थः—और भी—

जो मैं फूली हुई लता को भी फूल लेने के लिये खींचकर फूल नहीं तोड़ता हूँ; वही मैं भौंरों की पाँखों के समान काले रङ्ग वाले लम्बे लम्बे बालों को पकड़ कर रोती हुई स्त्री को कैसे मार सकता हूँ ! ॥ २८ ।

टीका यः = परमकारुणिकः इति भावः, अहम् = चारुदत्तः; कुसुमिताम् —कुसुमानि = पुष्पाणि सञ्जातानि अस्यां तादृशीम्, प्रफुल्लितामित्यर्थः; लताम् = वल्लीम्, ('वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः): अपि; पुष्पाणाम् = कुसुमानाम् हेतोः = कारणात्; पुष्पाणि ग्रहीतुमित्यर्थ ; आकृष्य = आकर्षणं कृत्वा; पुष्पाणाम् = प्रसूनानाम् अवचयम् = चयनम्, त्रोटनमित्यर्थः; न करोमि = न सम्पादयामि। सः = एतादृशः दयालुः इति भावः; अहम् = अभियुक्तत्वेन उपस्थितः चारुदत्तः इत्यर्थः; भ्रमरपक्षरुचौ —भ्रमरस्य = द्विरेफस्य ('द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्गषट्पदभ्रमरालयः' इत्यमरः) पक्षयोरिव = छदयोरिव ('गरुत्पक्षच्छदाः पत्त्रं पतत्त्रं च तनूरुहम्' इत्यमरः) रुचिः = आभा यस्य तादृशे; भ्रमरपक्षवत्कृष्णे इत्यर्थः; सुदीर्घे = सुविशाले, प्रशस्ते इत्यर्थः; केशे = कुन्तले, ('चिकुरः कुन्तलो वालः कचः केशः शिरोरुहः' इत्यमरः); प्रगृह्य = बलात् गृहीत्वा; रुदतीम् = क्रन्दन्तीम्; प्रमदाम् = ललनाम् ('प्रमदा मानिनी कान्ता ललना च नितम्बिनी' इत्यमरः); कथम् = केन प्रकारेण; निहन्मि = मारयामि ?। कदाचित् पल्लवच्छेदो न स्यादिति हेतोः योऽहं लतामाकृष्य पुष्पत्रोटनमपि न करोमि सः अहं प्रमदां कथं-मारयिष्यामीतिभावः ॥ २८ ॥

टिप्पणी अवचयम् 'हस्तादाने चेरस्तेये' (पा० ३।३।४०) इस सूत्र के अनुसार यहाँ 'अवचाय' (अव + √चि + घञ्) शब्द होना चाहिये। किन्तु इसी अर्थ में अवचय (अव + √चि + अच्) शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है और वैयाकरणों ने भी जिस किसी प्रकार से 'अवचय' शब्द की भी सिद्धि की है ॥

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार एवं वसन्ततिलका छन्द है।

छन्द का लक्षण—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ २८ ॥

शब्दार्थः—पक्षपातेन = पक्षपात के साथ। एवम् = ऐसा ही (जैसा शकार कहता है) ॥

अधिकरणिकः—भद्र शोधनक ! एवं क्रियताम् ।

(शोधनकस्तथा करोति)

चारुदत्तः—विचार्यताम् । भो अधिकृताः ! विचार्यताम् । (इत्यासनादवतीर्य भूमावुपविशति)

शकारः—(स्वगतम्, सहर्ष नर्तित्वा) ही, अणेग मए कडे पावे अण्णश्श मश्तके निवडिदे । ता जहिं चालुदत्ताके उवविशदि तहिं हग्गे उववेिशामि । (तथा कृत्वा) चालुदत्ता ! पेक्ख पेक्ख मं । ता भण भण मए मालिदे त्ति । [हो, अनेन मया कृतं पापमन्यस्य मस्तके निपातितम् । तद्यत्र चारुदत्त उपविशति तत्राहमुपविशामि । चारुदत्त ! पश्य पश्य माम् । तद्ब्रूण भण मया मारितेति ।]

चारुदत्तः—भो अधिकृताः ('दुष्टात्मा–' (९।२७) इत्यादि पूर्वोक्तं पठति, सनिःश्वासं, स्वगतम्)

मैत्रेय भोः ! किमिदमद्य ममोपघातो
हा ब्राह्मणि ! द्विजकुले विमले प्रसूता ।
हा रोहसेन ! हि न पश्यसि मे विपत्तिं,
मिथ्यैव नन्दसि परव्यसनेन नित्यम् ॥ २९ ॥

अर्थः-शकार—हे माननीय न्यायाधीश महोदयों ! क्या आपलोग पक्षपात के साथ मुकदमा(व्यवहार) देखते हैं ! जो अब भी इस नीच चारुदत्त को आसन पर बैठा रक्खा है ।

अधिकरणिक—भले शोधनक ! ऐसा ही (जैसा शकार कहता है) कीजिये (शोधनक वैसा ही करता है)

टीका– पक्षपातेन = पक्षपातं कृत्वेत्यर्थः । एवम् = यथा शकारः वदति तथा ॥

अर्थः-चारुदत्त—विचार कीजिये । हे अधिकारियों ! विचार कीजिये । (ऐसा कह कर आसन से उतर कर जमीन पर बैठ जाता है)

शकार—(अपने आप, प्रसन्नता पूर्वक नाच कर) अहा ! मेरे द्वारा किया गया पाप दूसरे के मस्तक पर मढ़ गया । तो जहाँ चारुदत्त बैठा था वहाँ मैं बैठूगा । (वैसा करके) चारुदत्त ! देखो, देखो मुझे । तो कहो, कहो कि मैंने (वसन्तसेना को) मारा है ।

चारुदत्त—हे अधिकारियों ! ('दुष्टात्मा' ९।२७) इत्यादि पहले कहा गया श्लोक पढ़ता है, लम्बी साँस लेकर, अपने आप)

मैत्रेय भोः ! इति—

अन्वयः—भो मैत्रेय !, इदम्, किम् ?, अद्य, मम, उपघातः, (आगतः) ? विमले,

प्रेषितश्च मया तद्वार्तान्वेषणाय वसन्तसेनासकाशं शकटिकानिमित्तं च तस्य प्रदत्तान्यलंकरणानि प्रत्यर्पयितुम्; तत्कथं चिरयते ? ।

द्विजकुले, प्रसूता, हा ब्राह्मणि ! हा रोहसेन ! मे, विपत्तिम्, न हि, पश्यसि; मिथ्या, एव, परव्यससेन, नित्यम्, नन्दसि ॥ २९ ॥

शब्दार्थः—भोः = हे; मैत्रेय ! = सखे विदूषक ! इदम् = यह, किम् = क्या ? अद्य = आज, मम = मेरा, उपघातः = विनाश, (आगतः = आ गया है) ? विमले = निर्मल, द्विजकुले = ब्राह्मण कुल में, प्रसूता = पैदा हुई, हा = हाय, ब्राह्मण की स्त्री ! (अर्थात् मेरी स्त्री !), हा रोहसेन ! = हाय बेटा रोहसेन ! मे = मेरी, विपत्तिम् = विपत्ति को, न हि = नहीं, पश्यसि = देख रहे हो, = मिथ्या झूठ-मूठ, एव = ही, परव्यसनेन = केवल बच्चों के खिलवाड़ से, नित्यम् = हमेशा, नन्दसि = प्रसन्न हो रहे हो ॥

अर्थः—हे मैत्रेय ! यह क्या ! आज मेरा विनाश (आ गया है) । निर्मल ब्राह्मण कुल में पैदा हुई हा ब्राह्मणी (अर्थात् मेरी स्त्री) हाय ! बेटा रोहसेन ! तुम मेरी विपत्ति नहीं देख रहे हो, व्यर्थ में ही केवल बालकों के लायक खिलवाड़ से हमेशा प्रसन्न हो रहे हो ॥ २९ ॥

टीका—भो मैत्रेय ! = हे सखे विदूषक ! इदम् = एतत्; किम् = किमुपस्थितमित्यर्थः; सामान्येन उक्त्वा पुनः विवृणोति—अद्य = अस्मिन् दिने; मम = चारुदत्तस्य, दोषशून्यस्येति यावत्; उपघातः = विनाशः; आगतः ? । विमले = विशुद्धे; द्विजस्य = ब्राह्मणस्य कुले = वंशे; प्रसूता = जाता; हा ! इति खेदेऽव्ययम्; ब्राह्मणि ! - जाये ! स्वपत्न्याः इदं संबोधनम्; हा रोहसेन ! = हा पुत्र रोहसेन ! मे = मम, स्वपितुः इत्यर्थः; विपत्तिम् = आपत्तिम्; न हि पश्यसि = न हि अवलोकयसि; मिथ्यैव = वृथैव; परव्यसनेन—परेण = केवलेन व्यसनेन = बालसुलभक्रीडनेन; नित्यम् = सर्वदा; नन्दसि = आनन्दमनुभवसि । शीघ्रमेव तवानन्दः दुःखे परिणतः भविष्यतीति भावः । उपस्थिते तु घोरे सङ्कटे स्त्रीपुत्रादीननुस्मृत्य दुःखितः जन्तुः विलपत्येवेति ॥ २९ ॥

टिप्पणी—उपघातः = विनाश, बर्बादी; उप + √हन् + घञ् । प्रसूता = उत्पन्न, जनित; प्र + √सू + क्त + टाप् ॥

इस श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है :

छन्द का लक्षण —

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ २९ ॥

(ततः प्रविशति गृहीताभरणो विदूषकः)

विदूषकः—पेसिदो म्हि अज्जचारुदत्तेण वसंतसेणासआसं, तहिं अलंकरणाइं गेण्हिअ, जधा—'अज्जमित्तेअ ! वसंतसेणाए वच्छो रोहसेणो अत्तणो अलंकारेण अलंकरिअ जणणीसआसं पेसिदो । इमस्स आहरणं दादव्वं, ण उण गेण्हिदव्वं । ता समप्पेहि' त्ति । ता जाव वसंतसेणासआसं ज्जेव्व गच्छामि (परिक्रम्यावलोक्य च आकाशे) कधं भावरेभिलो ? । भो भावरेभिल ! किंणिमित्तं तुमं उव्विग्गो उव्विग्गो विअ लक्खीअसि ? । (आकर्ण्य) किं भणासि—'पिअवअस्सो चारुदत्तो अधिअरणमंडवे सद्दाइदो' त्ति ? । ता ण हु अप्पेण कज्जेण होदव्वं । (विचिन्त्य) ता पच्छा वसंतसेणासआसं गमिस्सं । अधिअरणमंडवं दाव गमिस्सं । (परिक्रम्यावलोक्य च) इदं अधिअरणमंडवं । ता जाव पविसामि । (प्रविश्य) सुहं अधिअरणभोइआणं । कहिं मम पिअवअस्सो ? । [प्रेषितोऽस्म्यार्यचारुदत्तेन वसन्तसेनासकाशम्, तत्रालंकरणानि गृहीत्वा, यथा — 'आर्यमैत्रेय ! वसन्तसेनया वत्सो रोहसेन आत्मनोऽलंकारेणालंकृत्य जननीसकाशं प्रेषितः । अस्याः आभरणं दातव्यम्, न पुनर्ग्रहीतव्यम्; तत्समर्पय' इति । तद्यावद्वसन्तसेनासकाशमेव गच्छामि । कथं भावरेभिलः ? । भो

शब्दार्थः—तद्वार्तान्वेषणाय = उसका (वसन्तसेना का) समाचार जानने (खोजने) के लिये । शकटिकानिमित्तम् = गाड़ी (बनाने) के लिये । तस्य = रोहसेनको । प्रत्यर्पयितुम् = लौटाने के लिये । चिरयते = देर कर रहा है ? । गृहीताभरणः = जेवरों को लिये हुए ॥

अर्थः–मैंने उसका (वसन्तसेना का) समाचार जानने के लिए तथा खिलौने को गाड़ी बनाने के लिए रोहसेन को (वसन्तसेना के द्वारा) दिये गये आभूषणों को लौटाने के लिए मैत्रेय को वसन्तसेना के पास भेजा था तो वह क्यों देर कर रहा है ?

(उसके बाद जेवरों को लिए हुए विदूषक प्रवेश करता है)

टीका—तस्याः = वसन्तसेनायाः वार्तायाः = वृत्तान्तस्य अन्वेषणाय = अनुसन्धानाय, वसन्तसेना कस्मात् कारणात् पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं नागतेति वृत्तान्तं ज्ञातुमित्यर्थः । शकटिकायाः बालक्रीडनोपयोगिनः लघुशकटस्य निमित्तम् = निर्माणार्थमित्यर्थः । तस्य = रोहसेनस्य । प्रत्यर्पयितुम् = तद्दत्तान्याभरणानि तस्यै दातुम् । चिरयते = विलम्बते । गृहीतानि =आदत्तानि आभरणानि = आभूषणानि येन तादृशः । केचन टीकाकाराः 'प्रदत्तान्यलंकरणानि प्रत्यर्पयितुम्;'इत्यत्र 'तस्य, स्याने 'तस्याः' इति पाठं समीचीनं स्वीकुर्वन्ति । तदनुसारं किञ्चिसारल्यमवश्यं प्रतीयते, परञ्चासत्यपि पाठपरिवर्तने न कापि हानिरिति ॥

भावरेभिल ! किंनिमित्तं त्वमुद्विग्न उद्विग्न इव लक्ष्यसे ? । किं भणसि—'प्रियवयस्यश्चारुदत्तोऽधिकरणमण्डप आहूतः' इति ? । तन्न खल्वल्पेन कार्येण भवितव्यम् । तत्पश्चाद्वसन्तसेनासकाशं गमिष्यामि । अधिकरणमण्डपं तावद्गमिष्यामि । अयमधिकरणमण्डपः । तद्यावत्प्रविशामि । सुखमधिकरणभोजकानाम् । कुत्र मम प्रियवयस्यः ? ।]

शब्दार्थः—अस्याः = इसको (अर्थात् वसन्तसेना को), दातव्यम् = देना चाहिये । आकाशे = आकाश की ओर । रेभिलः = यह चारुदत्त का गायक मित्र है । उद्विग्नः = चिन्तित ॥

अर्थः-**विदूषक**—आर्य चारुदत्त ने जेवरों (आभूषणों) के साथ मुझे वसन्तसेना के पास भेजा है और कहा है कि—"आर्य मैत्रेय ! वसन्तसेना ने अपनी जेवरों से बेटा रोहसेन को अलंकृत करके (उसकी) माता के पास भेजा है । इसको (वशन्तसेना को) जेवर देना चाहिये, न कि उससे लेना चाहिये । तो उन जेवरों को उसे लौटा दो ।' तो जब तक मैं वसन्तसेना के पास हो जाता हूँ । (घूमकर और देख कर आकाश की ओर···) क्या विद्वान् रेभिल हैं ? रेमिल किसलिए तुम चिन्तित से दिखायी पड़ रहे हो ? (सुनकर) क्या कह रहे हो –'प्रिय मित्र चारुदत्त न्यायालय में बुलाये गये हैं ।' तो अवश्य ही कोई बड़ा कारण होगा । (सोचकर) तो बादमें वसन्तसेना के पास जाऊँगा । पहले न्यायालय में ही जाऊँगा । (घूमकर और देखकर) यह न्यायालय है । तो जब तक प्रवेश करता हूँ । (घुस कर) माननीय अधिकारियों का कल्याण हो । कहाँ है मेरा प्रियमित्र ?

टीका— तस्याः=वसन्तसेनायाः । केचन प्राचीनाः नवीनाश्चापि टीकाकाराः 'इमस्स' इति प्राकृतस्य 'अस्य' इति संस्कृतं पठित्वा रोहसेनस्य इत्यर्थं कुर्वन्ति । स च न सुगमः । दातव्यम् = समर्पणीयम् । आकाशे = गगने गगनाभिमुखमित्यर्थः । आकाशभाषितं नामेदं सम्वादरूपम्; तथा हि दर्पणे—किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते । श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत् स्यादाकाशभाषितम् ॥ रेभिलः = चारुदत्तस्य सङ्गीतविद्याविशारदः अन्तरङ्गः । उद्विग्नः = चिन्तया विचलितः, चिन्ताज्वालावलीढः इत्यर्थः ॥

टिप्पणीः—रेभिलः—श्रेष्ठिचत्वर (सेठों के चौक) का यह निवासी चारुदत्त का गायक मित्र है । इसके सङ्गीत की प्रशंसा तीसरे अङ्क में स्वयं चारुदत्त ने की है । यह शर्विलक आदि का भी मित्र है । चौथे अंक में शर्विलक रदनिका को चेट के साथ इसी रेभिल के घर भेजता है । प्रतीत होता है कि यह विद्रोही शर्विलक आदि के द्वारा छिपे रूप से चारुदत्त की सहायता में नियुक्त किया गया है ॥

अधिकरणिकः—नन्वेष तिष्ठति ।

विदूषकः—वअस्स ! सोत्थि दे । [वयस्य ! स्वस्ति ते ।]

चारुदत्तः—भविष्यति ।

विदूषकः—अवि क्खेमं दे ? । [अपि क्षेमं ते ? ।]

चारुदत्तः—एतदपि भविष्यति ।

विदूषकः—भो वअस्स ! किंणिमित्तं उव्विग्गो उविग्गो विअ लक्खीअसि ? कुदो वा सद्दाइदो ? । [भो वयस्य ! किंनिमित्तमुद्विग्न उद्विग्न इव लक्ष्यसे ? कुतो वाहूतः ? ।]

चारुदत्तः—वयस्य !

मया खलु नृशंसेन परलोकमजानता ।
स्त्री रतिर्वाविशेषेण शेषमेषोऽभिधास्यति ॥ ३० ॥

अर्थः–अधिकरणिक—यह बैठा है ।

विदूषक—मित्र ! तुम्हारा कल्याण हो ।

चारुदत्त—होगा ।

विदूषक—मित्र ! तुम कुशल से तो हो ?

चारुदत्त—यह भी होगा ।

विदूषक—हे मित्र ! किस कारण से बहुत अधिक उद्विग्न-सा दीख रहे हो ? यहाँ किस लिए बुलाय गये हो ?

मया खल्विति—

अन्वयः—परलोकम्, अजानता, नृशंसेन, मयाः खलु, स्त्री, वा, अविशेषेण, रतिः, शेषम्; एषः, अभिधास्यति ॥ ३० ॥

शब्दार्थः—परलोकम् = परलोक को, अजानता = न जानने वाले, नृशंसेन = क्रूर, मया = मेरे द्वारा, खलु = निश्चय ही, स्त्री = एक साधारण स्त्री, वा = अथवा; अविशेषेण = साक्षात्, रतिः = कामदेव की स्त्री रति··············, शेषम् = शेष बात को, एषः = यह (शकार), अभिधास्यति = बतलायेगा ॥

अर्थः—चारुदत्त – मित्र !

परलोक को न जानने वाले एवं क्रूर मैंने एक स्त्री अथवा (यह कहना चाहिए कि) साक्षात् कामदेव की स्त्री रति को ·····शेष बात (अर्थात् मार दी) यह (शकार) बतलायेगा ॥ ३० ॥

टीका—परलोकम् = उत्तमं स्वर्गादिलोकम्; अजानता = अबुद्ध्यमानेन; न्

विदूषकः—किं किम् ?। [किं किम् ?।]

चारुदत्तः—(कर्णे) एवमेवम् ।

विदूषकः—को एव्वं भणादि ?। [क एवं भणति ?।]

चारुदत्तः—(संज्ञया शकारं दर्शयति) नन्वेष तपस्वी हेतुभूतः कृतान्तो मां व्याहरति ।

विदूषकः—(जनान्तिकम्) एव्वं कीस ण भणीअदि—गेहं गदे त्ति ?। [एवं किमर्थं न भण्यते-गृहं गतेति ?।

चारुदत्तः—उच्यमानमप्यवस्थादोषान्न गृह्यते ।

शंसति = हिनस्तीति नृशंसस्तेन नृशंसेन = घातुकेन; ('नृशंसो घातुकः क्रूरः' इत्यमरः); मया = चारुदत्तेन; खलु = निश्चितम् । स्त्री = सामान्या योषित्; वा = अथवा; अविशेषेण = अभेदेन, साक्षादित्यर्थः; विशेषेणेति छेशे तु विशेषरूपेणेत्यर्थः; रतिः = कामप्रिया, रूपधारिणी प्रीतिर्वा हतेति वक्तुमसमर्थः आह – शेषमिति, शेषम् = वक्तव्यावशिष्टम्; एषः = पुरोवर्तमानः शकारः; अभिधास्यति = कथयिष्यति । मया सुन्दरी वसन्तसेना हतेत्यनेनोच्यते इति भावः ॥ ३० ॥

इस श्लोक में आक्षेप एवं अतिशयोक्ति अलङ्कार हैं ? इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है – पथ्यावक्त्र ।

छन्द का लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थः—तपस्वी = बेचारा, हेतुभूतः = बहाना बना हुआ है। कृतान्तः = दैव या यमराज; व्याहरति = कह रहा है । अवस्थादोषात् = अवस्था के दोष से अर्थात् दरिद्रता के कारण, गृह्यते = ग्रहण किया जाता, माना जाता ॥

अर्थः-विदूषक—क्या, क्या ?

चारुदत्त—(कान में) इस इस प्रकार ।

विदूषक—कौन ऐसा कहता है ?

चारुदत्त—(इशारा करके शकार को दिखलाता है) यह बेचारा बहाना बना हुआ है; (किन्तु वस्तुतः) यमराज ही मुझे (इस प्रकार) कह रहा है ।

विदूषक—(अलग से) ऐसा क्यों नहीं कह देते कि—घर चली गयी ?

चारुदत्त—कहा गया भी (मेरी) दरिद्रता के कारण नहीं माना गया ।

टीका—तपस्वी = वराकः, दयापात्रमित्यर्थः; आक्रोशे निन्दायां वाऽत्र तपस्विश-

विदूषकः—भो भो अज्जा ! जेण दाव पुरट्ठावणविहारारामदेउलतडागकूवजूवेहिं अलंकिदा णअरी उज्जइणी, सो अणीसो अत्थकल्लवत्तकारणादो एरिसं अकज्जं अणुचिट्ठदि त्ति ?। (सक्रोधम्) अरे रे काणेलीसुदा राअश्शालसंठाणआ उस्सुंखलआ किदजणदोसभडआ बहुसुवण्णमंडिदमक्कडआ ! भण भण मम अग्गदो, जो दाणिं मम पिअवअस्सो कुसुमिदं माधवीलदं पि आअट्ठिअ कुसुमावचअं ण करेदि कदा वि आअट्ठिदाए पल्लवच्छेदो भोदि त्ति, सो कधं एरिसं अकज्जं उहअलोअविरुद्धं करेदि ?। चिट्ठ रे कुट्टणिपुत्ता ! चिट्ठ। जाव एदिणा तव हिअअकुडिलेण दंडअट्ठेण मत्थअं दे सदखंडं करेमि। [भो भो आर्याः ! येन तावत्पुरस्थापनविहारारामदेवालयतडागकूपयूपैरलंकृता नगर्युज्जयिनी, सोऽनीशोऽर्थकल्यवर्तकारणादीदृशमकार्यमनुतिष्ठतीति ?। अरे रे कुलटापुत्र राजश्यालसंस्थानक उच्छृङ्खलक कृतजनदोषभाण्ड बहुसुवर्णमण्डितमर्कटक ! भण भण ममाग्रतः, य इदानीं मम प्रियवयस्यः कुसुमितां माधवीलतामप्याकृष्य कुसुमावचयं न करोति कदाप्याकृष्टतया पल्लवच्छेदो भवतीति, स कथमीदृशमकार्यमुभयलोकविरुद्धं करोति ?। तिष्ठ रे कुट्टिनीपुत्र ! तिष्ठ। यावदेतेन तव हृदयकुटिलेन दण्डकाष्ठेन मस्तकं ते शतखण्डं करोमि।]

ब्दस्य प्रयोगः। हेतुभूतः = निमित्तमात्रम्; अस्ति। वस्तुतस्तु—कृतान्तः = दैवम् यमः वा ('कृतान्तो यमसिद्धान्त दैवाकुशल कर्मसु' इत्यमरः); व्याहरति = कथयति। अयं तु निमित्रमात्रं संजातः। वस्तुतः दैवमेवं वदतीति भावः। अवस्थादोषात्—अवस्थायाः = दारिद्र्यदशायाः दोषात्। दरिद्रस्य सत्यमपि वचनं मृषा मन्यते। अतः मदीयं वक्तव्यमत्र न प्रमाणपदवीमधिरोहतीति भावः। गृह्यते = स्वीक्रियते॥

शब्दार्थः—पुरस्थापन–विहार–आराम–देवालय–तडाग–कूप–यूपैः=उपनगर-निर्माण, बौद्ध विहार, बगीचा, मन्दिर, तालाब, कुँआ एवं यज्ञ के खम्भों से। अनीशः =असमर्थ (अर्थात् निर्धन)। अनुतिष्ठति = करेगा ?। कुलटापुत्र ! = छिनार के बच्चे ! उच्छृङ्खलक ! = उद्दण्ड ! कृतजनदोषभाण्ड ! = लोगों पर दोष मढ़ने वाले !। उभयलोकविरुद्धम् = इस लोक और परलोक दोनों के विरुद्ध। कुट्टिनीपुत्र ! = कुटनी के बच्चे ! तव = तुम्हारे, हृदयकुटिलेन = हृदय के समान टेढ़े॥

अर्थः-विदूषक—हे मान्यजनों ! जिसने उपनगर-निर्माण, बौद्ध विहार, बगीचा मन्दिर, तालाब, कुँआ तथा यज्ञस्तम्भों से उज्जयिनी नगरी को अलङ्कृत किया है, वही (इस समय) निर्धन होकर कलेवा के समान तुच्छ धन के लिए ऐसे (स्त्रीमारने के समान) कुकृत्य को करेगा ? (क्रोध के साथ) अरे छिनार के बच्चे, राजा के साले संस्थानक, उद्दण्ड, लोगों पर दोष मढ़ने वाले, बहुत से सोने से लदे हुए बन्दर ! कहो, कहो मेरे सामने। 'शायद खींचने से पत्ते टूट जायँ' ऐसा सोच कर इस समय जो मेरा प्रिय मित्र

शकारः—(सक्रोधम्) शुणंतु शुणंतु अज्जमिश्शा ! चालुदत्तकेण शह मम विवादे ववहाले वा; ता कीश एशे काकपदशीशमश्तका मए शिले शदखंडे कलेदि ?। मा दाव; ले दाशीए पुत्ता, दुट्टबडुका !। [शृण्वन्तु शृण्वन्त्वार्यमिश्राः ! चारुदत्तेन सह मम विवादो व्यवहारो वा; एत्किमर्थमेष काकपदशीर्षमस्तको मम शिरः शतखण्डं करोति ?। मा तावत्; रे दास्याःपुत्र दुष्टबटुक !।]

फली हुई माधवी लता को भी झुका कर फूल नहीं तोड़ता है, वही दोनों लोकों (इस लोक एवं परलोक) के विरुद्ध इस प्रकार के कुकर्म को करेगा ? ठहर रे कुटनी के बच्चे ठहर ! जब तक तेरे हृदय के समान टेढ़े लकड़ी के इस डण्डे से तेरे मस्तक के सौ टुकड़े करता हूँ ।

टीका—पुराणाम् = ग्रामाणाम्, उपनगराणामित्यर्थः, स्थापनम् = निर्माणम्; विहारः = बौद्धविहारः, बौद्धसन्यासिशालेत्यर्थः, आरामः = उपवनम्, देवालयः = देवमन्दिरम्, तडागः = सरोवरः, कूपः = उदपानः (पुंस्येवान्धुः प्रहिःकूप उदपानं तु पुंसि वा' इत्यमरः); यूपः = यज्ञस्तम्भः तैः। अनीशः = असमर्थः, निर्धनः इति यावत् । अनुतिष्ठति = करोति ? करिष्यतीत्यर्थः ? कुलानि अटतीति कुलटा = पुंश्चली ('पुंश्चली चर्षिणी बन्धक्यसती कुलटेत्वरी' इत्यमरः), तस्याः पुत्रः = सुतः तत्सम्बुद्धौ हे। उच्छिन्ना = खण्डिता शृङ्खलका = बन्धनम्, धार्मिकं सामाजिकञ्चबन्धनमित्यर्थः, येन तत्सम्बुद्धौ; निर्मर्यादि ! इत्यर्थः। कृतम् = आरोपितम् जनेषु = प्राणिषु, निष्पापेषु इति भावः, दोषाणाम् = पापानाम् भाण्डम् = समूहः इति भावः, येन तत्सम्बुद्धौ ! उभयलोकविरुद्धम्—उभयोः = द्वयोः लोकयोः = स्वर्गलोकभूलोकयोः विरुद्धम् = विपरीतम्; उभयत्र दुःखदमित्यर्थः। कुट्टिन्याः = शम्भल्याः ('कुट्टनी शम्भली समे' इत्यमरः), परनारीं पुंसा संयोजयित्र्याः इत्यर्थः पुत्र ! = सुत ! तव=ते शकारस्य; हृदयवत् = अन्तःकरणवत् कुटिलेन = वक्रेण ॥

शब्दार्थः—काकपदशीर्षमस्तकः = कौवा के पैर के समान सिर-माथे वाला। शतखण्डम् = सौ टुकड़े। प्रतीपन् = बदले में। कक्षादेशात् = काँख से, आभरणानि = अलङ्कार, पतन्ति = गिरते हैं। ससाध्वसम् = भय के साथ। तस्याः = उस, तपस्विन्याः = बेचारी के (वसतन्तसेना के)। अधोमुखाः = नीचे मुँह ॥

शकार—(क्रोध के साथ) महानुभावों ! सुनिये, सुनिये। चारुदत्त के साथ मेरा झगड़ा अथवा मुकदमा है; तब क्यों कौवा के पैर के समान सिर-माथे वाला यह मेरे सिर को सौ टुकड़े करता है ? नहीं तो, अरे दासी के बच्चे शरारती ब्राह्मण !

(विदूषको दण्डकाष्ठमुद्यम्य पूर्वोक्तं पठति; शकारः सक्रोधमुत्थाय ताडयति; विदूषकः प्रतीपं ताडयति; अन्योऽन्यं ताडयतः; विदूषकस्य कक्षदेशादाभरणानि पतन्ति)

शकारः—(तानि गृहीत्वा, दृष्ट्वा, ससाध्वसम्) पेक्खंतु पेक्खंतु अज्जा ! एदे खु ताए तवश्शिणीए केलका अलंकाला । (चारुदत्तमुद्दिश्य) इमश्श अत्थकल्लवत्तश्श कालणादो एशा मालिदा वावादिदा अ । [पश्यन्तु पश्यन्त्वार्याः ! एते खलु तस्यास्तपस्विन्या अलंकाराः । अस्यार्थकल्यवर्तस्य कारणादेषा मारिता व्यापादिता च ।]

(अधिकृताः सर्वेऽधोमुखा स्थिताः)

चारुदत्तः—(जनान्तिकम्)

अयमेवंविधे काले दृष्टो भूषणविस्तरः ।
अस्माकं भाग्यवैषम्यात्पतितः पातयिष्यति ॥ ३१ ॥

अर्थः—(विदूषक काठ के डण्डे को उठा कर पहले कही हुई बात को ही फिर कहता है; शकार क्रोधपूर्वक उठकर पीटता है, विदूषक बदले में मारता है, वे आपस में एक दूसर को मारते हैं, विदूषक की काँख से अलङ्कार गिरते हैं ।)

शकार—(उन अलङ्कारों को उठा कर, देख कर भय के साथ) महानुभावों ! देखिये, देखिये; उस बेचारी (वसन्तसेना) के ये आभूषण हैं । कलेवा के समान इसी तुच्छ धन के लिए यह (वसन्तसेना) मारी गयी और नष्ट की गयी है ।

(सभी अधिकारी नीचा मुँह करके बैठ जाते हैं)

टीका—काकपदवत् = वायसचरणवत् शीर्षम् = लक्षणया शीर्षस्था शिखा मस्तके = शिरसि यस्य तत्सम्बुद्धौ । शतखण्डम् = शतभागम्, स्फुटितमित्यर्थः । प्रतीपम् = विपरीतम् । कक्षदेशात् = बाहुमूलभागात्; आभरणानि = आभूषणानि; पतन्ति = स्खलन्ति । साध्वसेन = भयेन सहितं ससाध्वसम् = सभयम् ('भीतिर्भीः साध्वसं भयम्' इत्यमरः); तस्याः = पूर्वानिर्दिष्टायाः; तपस्विन्याः = वराक्याः; असहायायाः इत्यर्थः । अधः = नीचैः मुखानि = आननानि येषां तादृशाः । सर्वभावेन चारुदत्तः सापराधः सिद्ध्यतीति दृष्ट्वा ते अधोमुखाः, जाताः ॥

अयमेवमिति—

अन्वयः—एवंविधे, काले अस्माकम्, भाग्य-वैषम्यात्, पतितः, (तथा, अधिकारिभिः), दृष्टः, अयम्, भूषणविस्तरः, पातयिष्यति ॥ ३१ ॥

शब्दार्थः—एवंविधे = ऐसे, काले = समय में, अस्माकम् = हमारे, भाग्यवैषम्यात् = भाग्य के दोष से, पतितः = गिरा हुआ, (तथा = और, अधिकारिभिः = अधिकारियों के द्वारा) दृष्टः = देखा गया, अयम् = यह, भूषण-विस्तरः = आभूषणों का समूह, पातयिष्यति = गिरा देगा ॥

विदूषकः—भो ! कीस भूदत्थं ण णिवेदीअदि ?। [भोः ! किमर्थं भूतार्थो न निवेद्यते ?]

चारुदत्तः—वयस्य !

दुर्बलं नृपतेश्चक्षुर्नैतत्तत्त्वं निरीक्षते।
केवलं वदतो दैन्यमश्लाघ्यं मरणं भवेत् ॥ ३२ ॥

अर्थः चारुदत्त—(अलग से)

ऐसे समय में हमारे भाग्य के दोष से गिरा हुआ तथा (अधिकारियों द्वारा) देखा गया आभूषणों का यह समूह (मुझे विपत्ति में) गिरा देगा ॥ ३१ ॥

टीका—एवंविधे = एतादृशे, सङ्कटपूर्णे दोषारोपपूर्णे; काले = समये; अस्माकम् = चारुदत्तादीनाम्, आदिशब्देन बान्धवादयः गृह्यन्ते; भाग्यस्य = अदृष्टस्य वैषम्यात् = दोषात्; दौर्भाग्यादिति यावत्; पतितः = कक्षदेशात् स्खलितः भ्रष्टः वा; तथा अधिकारिभिरिति शेषः, दृष्टः = अवलोकितः; अयम् = एषः, भूमौ पातितः; भूषणानाम् = आभूषणानाम् विस्तरः = समूहः; पातयिष्यति = विपत्तौ भ्रंशयिष्यति; मामिति शेषः। अपराधरहितस्याऽपि मे सापराधत्वमनेन सिध्यतीति भावः ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—विस्तरः = समूह, राशि; वि + √स्तृ + अप। फैलाव के अर्थ में विस्तार होता है—वि + स्तृ + घञ् ॥

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थः—भूतार्थः = सही बात। निवेद्यते = कह दी जाती ॥

अर्थः—विदूषक—अजी ! क्यों नहीं सही-सही बात बतला दी जाती.

टीका—भूतः = सत्यः अर्थः = विषयः, यथार्थः इति यावत्; एतान्यलङ्करणानि शकटिकार्थं मम पुत्राय रोहसेनाय वसन्तसेनया समर्पितान्येवंरूपः यथार्थः। निवेद्यते = सविनय कथ्यते ॥

दुर्बलमिति—

अन्वयः—नृपतेः, चक्षुः, दुर्बलम्, एतत्, तत्त्वम्, न, निरीक्षते, (अतः), केवलम्, दैन्यम्, वदतः, (मम): अश्लाघ्यम्, मरणम्, भवेत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थः—नृपतेः = राजा (राजा के अधिकारियों) की, चक्षुः = आँख, दुर्बलम् = कमजोर (होती है)। एतत् यह, तत्त्वम् = सही बात को, न = नहीं, निरीक्षते= देखती है। (अतः = इसलिये), केवलम् = केवल, दैन्यम् = दीनतापूर्वक, वदतः = वचन कहने वाले, (मम = मेरा), अश्लाघ्यम् = निन्दनीय; मरणम् = मरण,

अधिकरणिकः—कष्टं भो ! कष्टम्;

अङ्गारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः।
ग्रहोऽयमपरः पार्श्वे धूमकेतुरिवोत्थितः॥ ३३॥

भवेत् = होगा ॥

अर्थः-चारुदत्त—मित्र !

राजा (राजा के अधिकारियों) की आँख कमजोर होती है। यह इस सही बात को नहीं देखती। केवल दीनतापूर्वक वचन कहना तो मेरा निन्दनीय मरण ही होगा (अर्थात् दीनतापूर्ण बात कहना निन्दनीय मृत्यु के समान है) ॥ ३२ ॥

टीका—नृपतेः = राज्ञः, राजप्रतिनिधिभूतस्य न्यायाधीशस्येत्यर्थः; चक्षुः = नेत्रम्, दुर्बलम् = बलहीनम्, सत्यं द्रष्टुमसमर्थमित्यर्थः; भवति। चारचक्षुषः साक्ष्यावलम्बनाः राजानः यथार्थं साक्षात्कर्तुमसमर्थाः भवन्तीतिभावः। एतत् = राज्ञः चक्षुः; तत्त्वम् = सत्यमर्थम्; न निरीक्षते = नावलोकयति। अतः केवलम् = एकमात्रम्; दैन्यम् = दीनताप्रदर्शनपूर्वकं यथा तथा, दैन्यम् = कातरभावं वा; वसन्तसेना मया न मारितेतिरूपमिति यावत्; वदतः = कथ्यतः; ममेति शेषः; अश्लाघ्यम् = अयशस्करम्; मरणम् = मृत्युः; भवेत् = सम्पद्येत। यथार्थप्रकाशनेऽपि राज्ञा उपेक्षासम्भवात् मृत्योः निश्चितत्वेन दैन्यप्रकाशनं न समीचीनम्। दैन्यकथनेन मरणमपि अतिविगर्हितं भविष्यतीति भावः ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—दैन्यम् = कष्ट, खेद, विषाद; दीन + अण् अथवा ष्यञ् ॥

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है। लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ३२ ॥

अङ्गारकविरुद्धस्येति—

अन्वयः—अङ्गारकविरुद्धस्य, प्रक्षीणस्य, बृहस्पतेः, पार्श्वे, धूमकेतुः इव, अयम्, अपरः, ग्रहः, उत्थितः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थः—अङ्गारकविरुद्धस्य = मङ्गल ग्रह जिसका विरोधी है ऐसे, प्रक्षीणस्य = दुर्बल, बृहस्पतेः = बृहस्पति ग्रह के, पार्श्वे = समीप में, धूमकेतुः = पुच्छलतारा, इव = जैसा, अयम् = यह, अपरः = दूसरा, ग्रहः = ग्रह, उत्थितः = प्रकट हुवा है ॥

अर्थः-अधिकरणिक—दुःख है, अरे दुःख है—

मङ्गल ग्रह जिसका विरोधी है ऐसे, दुर्बल बृहस्पति ग्रह के समीप पुच्छलतारा के समान यह (जेवरों का गिरना) दूसरा ग्रह प्रकट हुआ है। (यहाँ शकार की मङ्गल ग्रह के साथ तथा चारुदत्त की बृहस्पति के साथ एवं आभूषण के गिरने की पुच्छलतारा

श्रेष्ठिकायस्थौ—(विलोक्य, वसन्तसेनामातरमुद्दिश्य) अवहिदा दाव अज्जा एदं सुवण्णभंडअं अवलोएदु, सो ज्जेव्व एसो ण वेत्ति [अवहित तावदार्येदं सुवर्णभाण्डमवलोकयतु तदेवेदं न वेति ।)

वृद्धा – (अवलोक्य) सरिसो एसो, ण उण सो । [सदृशमेतद्, न पुनस्तत् ।]

शकारः—आं, वुड्ढकुट्टणि ! अक्खीहिं मंतिदं वाआए मूकिदं । [आं, वृद्धकुट्टनि ! अक्षिभ्यां मन्त्रितं वाचा मूकितम् ।]

के साथ उपमा दी गयी है) ॥ ३३ ॥

टीका – अङ्गारकः = मङ्गलग्रहः विरुद्धः विपरीतः यस्य तादृशस्य; प्रक्षीणस्य = नीचस्थानस्थित्या स्वशक्तिहीनस्य; वृहस्पतेः = जीवस्य ('बृहस्पतिः सुराचार्यो गीर्पतिर्धिषणो गुरुः । जीव आङ्गिरसो वाचस्पतिश्चित्रशिखण्डिजः ॥' इत्यमरः) सौम्यग्रहस्येत्यर्थः; पार्श्वे -- समीपे; धूमकेतुः = उत्पातग्रहः ('धूमकेतुः स्मृतो वह्नावुत्पातग्रहभेदयोः' इति विश्वः); इव = यथा; अयम् = विदूषककक्षप्रदेशादलङ्कारभ्रंशः; अपरः = अन्यः, सामान्यविशिष्टः; ग्रहः = विरुद्धग्रहः इत्यर्थः; उत्थितः = उद्गतः । धूमकेतोरुदयः लोकोपद्रवाय भवति; तथाहि कुमारे कालिदासेनोक्तम्—"उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थितः' इति ॥ अत्र अङ्गारकेन शकारः, बृहस्पतिना चारुदत्तस्तथाऽलङ्कारभ्रंशः धूमकेतुनोपमीयते ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा तथा उपमा अलङ्कार है । इस में प्रयुक्त छन्द का नाम है—पथ्यावक्त्र ।

छन्द का लक्षण—

'युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थः—अवहिता = सावधान । तदेव = वही (वसन्तसेना का) । तत् = वह अर्थात् वसन्तसेना का । मन्त्रितम् = कह दिया । वाचा = वाणी से, मूकितम् = मौन रहा गयाः । अप्रमत्तम् = सावधानी के साथ । शिल्पिकुशलतया = कारीगर की बारीकी के कारण । अवबध्नाति = आकृष्ट कर रहा है, खींच रहा है । शिल्पिना = कारीगर के द्वारा, घटितः = बनाया गया ॥

अर्थः–**श्रेष्ठी-कायस्थ**—(देख कर तथा वसन्तसेना की माता को उद्देश्य करके) अच्छा, आप सावधान होकर सोने की जेवरों के इस डिब्बे को देखिये, वही यह है अथवा नहीं ।

वृद्धा—(देखकर) उसी के समान है, किन्तु वही नहीं है ।

शकार—अच्छा, बूढ़ी कुटनी ! (तुम्हारी) आँखों ने कह दिया (भले ही तुम्हारी) वाणी चुप रही ।

वृद्धा—हदास ! अवेहि । [हताश ! अपेहि ।]

श्रेष्ठिकायस्थौ—अप्पमत्तं कधेहि, सो ज्जेव एसो ण वेत्ति । [अप्रमत्तं कथय, तदेवैतन्न वेति ।]

वृद्धा—अज्ज ! सिप्पिकुसलदाए ओबंधेदि दिट्ठिं । ण उण सो । [आर्य ! शिल्पिकुशलतयावबध्नाति दृष्टिम् । न पुस्तत् ।]

अधिकरणिकः—भद्रे ! अपि जानास्येतान्याभरणानि ? ।

वृद्धा—णं भणामि, ण हु ण हु अणभिजाणिदो । अह वा कदा वि सिप्पिणा घडिदो भवे । [ननु भणामि, न खलु न खल्वनभिज्ञातः । अथवा कदापि शिल्पिना घटितो भवेत् ।]

अधिकरणिकः—पश्य श्रेष्ठिन् !

वस्त्वन्तराणि सदृशानि भवन्ति नूनं
रूपस्य भूषणगुणस्य च कृत्रिमस्य ।
दृष्ट्वा क्रियामनुकरोति हि शिल्पिवर्गः
सादृश्यमेव कृतहस्ततया च दृष्टम् ॥ ३४ ॥

वृद्धा—अभागे ! हटो ।

श्रेष्ठी-कायस्थ—सावधानी के साथ बतलाओ । यह वही है अथवा नहीं ।

वृद्धा—आर्य ! कारीगरी की वारीकी के कारण यह आँख को आकृष्ट कर रहा है । किन्तु वह (जिसे वसन्तसेना ने पहना था) नहीं हैं ।

अधिकरणिक—भली महिला ! क्या आप इन आभूषणों को जानती हैं ?

वृद्धा—कहती तो हूँ कि नहीं, यह अनजान नहीं हैं । अथवा शायद कारीगर ने (वैसा ही) बना दिया हो ।

टीका—अवहिता = दत्तावधाना, भ्रमप्रमादशून्येति यावत् । तदेव = वसन्तसेनासम्बन्धि । मन्त्रितम् = कथितम्; यथा तव नेत्रे पश्यतः तथा प्रतीयते तदेवेदमिति भावः । वाचा = वाण्या; मूकितम् = मौनमालम्बितम्, 'न पुनस्तदि' ति उक्त्वा गोपायितमिति भावः । अप्रमत्तम् = सावधानम् यथा तथा । शिल्पिकुशलतया—शिल्पिनः = आभूषणकर्तुः कुशलतया = हस्तलाघवेनेत्यर्थः ।अवबध्नाति = आकर्षति । शिल्पिना = आभूषणनिर्मात्रा; घटितः = निर्मितः ॥

वस्त्वन्तराणीति—

अन्वयः—नूनम्, कृत्रिमस्य, रूपस्य, भूषणगुणस्य, च, सदृशानि, वस्त्वन्तराणि, भवन्ति; हि, शिल्पिवर्गः, दृष्ट्वा, क्रियाम्, अनुकरोति; कृतहस्ततया, एव, च, सादृश्यम्, दृष्टम् ॥ ३४ ॥

श्रेष्ठिकायस्थौ--अज्जचारुदत्तस्स केरकाइं एदाइं। [आर्यचारुदत्तीयान्येतानि।]

चारुदत्तः—न खलु न खलु।

शब्दार्थः—नूनम् = निश्चय ही, कृत्रिमस्य, = बनावटी, रूपस्य = आकार के, च = भी, सदृशानि = तुल्य, वस्त्वन्तराणि = दूसरी वस्तुयें, भवन्ति = होती हैं। हि = क्योंकि, शिल्पिवर्गः = कारीगर वर्ग, दृष्ट्वा = देखकर, क्रियाम् = बनावट की, अनुकरोति = नकल करता है। कृतहस्ततया = हाथ की सफ़ाई के कारण, एव = ही, सादृश्यम् = समानता, दृष्टम् = देखी जाती है॥

अर्थ—**अधिकरणिक**—सेठ जी देखो--

निश्चय ही बनावटी आकार एवं जेवरों के सुन्दरता आदि गुणों में दूसरी वस्तुयें भी एक जैसी होती हैं। क्योंकि कारीगर (किसी चीज को) देख कर (उसकी) बनावट की नकल करता है। (कारीगर) हाथ की सफ़ाई के कारण ही (दो वस्तुओं में) समानता देखी जाती है॥ ३४॥

टीका—नूनम् = निश्चितम्; कृत्रिमस्य = क्रिययासञ्जातस्य, मानवनिर्मितस्येत्यर्थः; रूपस्य = आकृतेः; भूषणानाम् = अलङ्काराणाम् गुणस्य = सौन्दर्यादिगुणस्य; च = अपि; सदृशानि = अनुरूपाणि; वस्त्वन्तराणि = अन्यानि वस्तूनि; भवन्ति = जायन्ते द्वयोः वस्तुनोः रूपे गुणे च सादृश्यमपि कदाचिदवलोक्यते इति भावः। हि = यतः; शिल्पिवर्गः = आभूषणनिर्मातॄणां समूहः; दृष्ट्वा = विलोक्य इत्यर्थः; क्रियाम् = कलाम्; अनुकरोति = अनुसन्दधाति। इत्थमनुकरणस्य भावे सति—कृतहस्ततया—कृतः = अभ्यस्तः हस्तः = वस्तुनिर्माणे हस्तपाटवम् यैः तादृशाः तेषां भावः तया कृतहस्ततया = हस्तनैपुण्येन; एव, च; सादृश्यम् = साम्यम्; दृष्टम् = अवलोकितम्; अस्माभिरिति शेषः। लोके वस्तुनिर्माणे कार्यसम्पादने च एकः अपरस्यानुकरणं करोति। अतः वस्तुषु कार्येषु च बहुधा साम्यमवलोक्यते एतस्माद्धेतोः सम्भाव्यते चारुदत्तीयान्येतानि भवेयुरिति भावः॥ ३४॥

टिप्पणी—इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार एवं वसन्ततिलका छन्द है।

छन्द का लक्षण—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः॥ ३४॥

शब्दार्थः--आर्यचारुदत्तीयानि = आर्यचारुदत्त के। दुहितुः = लड़की (पुत्री) के। एवम् = इस प्रकार (वसन्तसेना ने रोते हुए रोहसेन को गाड़ी बनवाने के लिए दिया था, आदि—आदि)॥

अर्थः—**श्रेष्ठी-कायस्थ**—ये (जेवर) आर्य चारुदत्त के हैं।

श्रेष्ठिकायस्थौ—ता कस्स ? । [तदा कस्य ? ।]

चारुदत्तः—इहात्रभवत्या दुहितुः ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—कधं एदाइं ताए विओअं गदाइं ! । [कथमेतानि तस्या वियोगं गतानि ? ।]

चारुदत्तः- एवं गतानि । आं, इदम् ।

श्रेष्ठिकायस्थौ - अज्जचारुदत्त ! एत्थं सच्चं वत्तव्वं; पेक्ख पेक्ख ।

सच्चेण सुहं खु लब्भइ सच्चालावेण होइ पावं ।
सच्चं त्ति दुवेवि अक्खरा मा सच्चं अलिएण गूहेहि ॥ ३५ ॥

[आर्यचारुदत्त ! अत्र सत्यं वक्तव्यम्; पश्य पश्य
सत्येन सुखं खलु लभ्यते सत्यालापेन भवति पातकम् ।
सत्यमिति द्वे अप्यक्षरे मा सत्यमलीकेन गूहय ॥]

चारुदत्त—नहीं, नहीं (अर्थात् मेरे नहीं हैं) ।

श्रेष्ठी-कायस्थ— तब किसके हैं ?

चारुदत्त—इन श्रीमती की लड़की के (अर्थात् वसन्तसेना के) ।

श्रेष्ठी-कायस्थ—ये उससे अलग कैसे हो गये ?

चारुदत्त—इस प्रकार हो गये । हाँ, यह—

टीका—आर्यचारुदत्तीयानि = आर्यचारुदत्तसम्बन्धीनि । दुहितुः = पुत्र्याः । एवम् = इत्थम्; सुवर्णशकटिकार्थं रोदनं कुर्वते रोहसेनाय दत्तानि इति भावः ॥

सत्येनेति—

अन्वयः—सत्येन, खलु, सुखम्, लभ्यते; सत्यालापे, पातकम्, न, भवति; सत्यम्, इति, द्वे, अपि, अक्षरे; सत्यम्, अलीकेन, मा, गूहय ॥ ३५ ॥

शब्दार्थः—सत्येन = सत्य से, खलु = निश्चय ही, सुखम् = सुख, लभ्यते = मिलता है । सत्यालापे = सत्य बोलने पर, पातकम् = पाप, न = नहीं, भवति = होता (लगता) । सत्यम् = सत्य, इति = यह, द्वे = दो, अपि = भी, अक्षरे = अक्षर हैं (नष्ट नहीं होने वाले हैं) । सत्यम् = सत्य को, अलीकेन = असत्य से, मा = मत गूहय = छिपाओ ॥

अर्थः—**श्रेष्ठी-कायस्थ**—आर्य चारुदत्त ! यहाँ सच बोलना चाहिये । देखो, देखो, सत्य से निश्चय ही सुख मिलता है । सत्य बोलने पर पाप नहीं लगता । 'सत्य' केवल दो अक्षर है । सत्य को असत्य से मत छिपाओ ॥ ३५ ॥

चारुदत्तः—आभरणान्याभरणानीति न जाने, किंत्वस्मद्गृहादानीतानीति जाने।

शकारः--उज्जाणं पवेशिअ पढमं मालेशि कवडकावडिआए शंपदं णिगूहेशि ?।
[उद्यानं प्रवेश्य प्रथमं मारयसि। कपटकापटिकतया सांप्रतं निगूहसि ! ।]

अधिकरणिकः--आर्यचारुदत्त ! सत्यमभिधीयताम्,—

इदानीं सुकुमारेऽस्मिन्निःशङ्कं कर्कशाः कशाः।
तव गात्रे पतिष्यन्ति सहास्माकं मनोरथैः ॥ ३६ ॥

टीका--सत्येन = सत्यभाषणेनेत्यर्थः; खलु = निश्चितम्; सुखम् = आनन्दः; लभ्यते = प्राप्यते। सत्यस्य = यथार्थस्य आलापे = भाषणे; पातकम् = पापम्; न भवति = न जायते। 'सत्यम्' इति द्वे अक्षरे = वर्णे स्तः; सत्यमिति द्वे वर्णे नष्टे न भवतः इत्यपि व्य यते। अपीति केवले। सत्यमिति द्वे अप्यक्षरे इति स्वरुपोक्तिः। सत्यम् अलीकेन = असत्येन; मा गूहय = न संवृणु ॥ ३५ ॥

टिप्पणी--अलीकेन = असत्य से; अल् + वीकन् + विभक्ति कार्य।

इस श्लोक में वैतालीय छन्द है। छन्द का लक्षण —

षड् विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नोनिरन्तराः।
न समात्र पराश्रिता कला, वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः ॥ ३५ ॥

अर्थः—**चारुदत्त**—आभूषण (वे ही) आभूषण हैं इस बात को नहीं जानता। किन्तु ये हमारे ही घर से लाये गये हैं यह जानता हूँ।

शब्दार्थः—कपटकापटिकतया = कपट पूर्वक धूर्तता से। निगूहसि = छिपा रहे हो ? ॥

अर्थः-**शकार**— पहले तो बगीचे में ले जाकर उसे मार दिया और अब कपटपूर्वक धूर्तता से छिपा रहे हो ?

टीका—कपटेन = छलेन कापटिकतया = धूर्ततया। अत्राधिकमपि कपटपदं शकारवचनत्वात् न दोषावहमिति ज्ञेयम्। निगूहसि = गोपायसि ॥

इदानीमिति —

अन्वयः—इदानीम्, सुकुमारे, अस्मिन्, तव, गात्रे, कर्कशाः; कशाः, अस्माकम्, मनोरथैः, सह, निःशङ्कम्, पतिष्यन्ति, ॥ ३६ ॥

शब्दार्थः—इदानीम् = अब; सुकुमारे = सुकुमार, अस्मिन् = इस, तव = तुम्हारे, गात्रे = शरीर पर, कर्कशा = कठोर, कशाः = कोड़े, अस्माकम् = हम लोगों के, मनोरथैः = मनोरथों के, सह = साथ, निःशङ्कम् = निर्भयता पूर्वक, पतिष्यन्ति = पड़ेंगे ॥

चारुदत्तः—

> **अपापानां कुले जाते मयि पापं न विद्यते।**
> **यदि संभाव्यते पापमपापेन च किं मया ?॥ ३७॥**

अर्थः—अधिकरणिक - आर्य चारुदत्त ! सच बोलिये—

अब सुकुमार तुम्हारे इस शरीर पर कठोर कोड़े, हम लोगों के मनोरथ के साथ ही निर्भयतापूर्वक पड़ेंगे (अर्थात् तुम्हें बचाने की हम लोगों की इच्छा गिर गयी है। अब तुम्हें कोड़े लगेंगे)॥ ३६॥

टीका—इदानीम् = सम्प्रति, अपराधे सिद्धे सतीत्यर्थः; सुकुमारे = सुकोमले; अस्मिन् = अत्र वर्तमाने, तव = भवतः; गात्रे = शरीरे; कर्कशाः = अतिकठोराः; कशाः = अश्वादेस्ताडन्यः; ('स्यादश्वादेस्ताडनी कशा, इत्यमरः); अस्माकम् = अधिकरणिकादीनाम्; मनोरथैः = तव रक्षणेन सहितैः अभिलाषैः; सह = साकम्; निःशङ्कम् = निर्भयं यथा स्यात्तथा; पतिष्यन्ति = निक्षिप्ताः भविष्यन्ति। शीघ्रमेव तव शरीरे राजाज्ञया कशाभिः प्रहाराः भविष्यन्ति। तैः सह तव रक्षणे सततं प्रयत्नपरा अस्माकं मनोरथाः अपि विनष्टाः भविष्यन्तीति समुदितार्थः॥ ३६॥

टिप्पणी—इस श्लोक में सहोक्तिअलङ्कार तथा पथ्यवक्त्र छन्द है।

छन्द का लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्॥ ३६॥

अपापानामिति—

अन्वयः—अपापानाम्, कुले, जाते, मयि, पापम् न, विद्यते; यदि; (मयि), पापम्, संभाव्यते, (तर्हि), अपापेन, च, मया, किम् ?॥ ३७॥

शब्दार्थः—अपापानाम् - पाप रहित व्यक्तियों के, कुले = कुल में, जाते = पैदा हुए, मयि = मुझ में, पापम् = पाप, न = नहीं, विद्यते = है। यदि = यदि, (मयि = मुझ में), पापम् = पाप, संभाव्यते = सोचा जाता है, (तर्हि = तो), अपापेन = पापरहित, च = भी, मया = मुझसे, किम् = क्या (लाभ) ?॥

अर्थः—चारुदत्त—पापरहित व्यक्तियों के कुल में पैदा हुए मुझमें पाप नहीं है। यदि (मुझमें) पाप की शङ्का होती है तो पापरहित होने से भी मुझसे क्या (लाभ) ?॥ ३७॥

टीका—न विद्यते पापं येषु ते अपापाः = पापरहिताः, पुण्यशालिनः इत्यर्थः, तेषाम्; कुले = सद्वंशे, जाते = उत्पन्ने; मयि = चारुदत्ते; पापम् = पातकम्; न

(स्वगतम्) न च मे वसन्तसेनाविरहितस्य जीवितेन कृत्यम् । (प्रकाशम्) भोः ! किं बहुना ।

मया किल नृशंसेन लोकद्वयमजानता ।
स्त्रीरत्नं च विशेषेण शेषमेषोऽभिधास्यति ॥ ३८ ॥

विद्यते = न वर्तते । पवित्रवंशानुरूपं मदीयमपि चरितमस्तीति भावः । यदि = चेत्; पापम् = अघम्, सम्भाव्यते = मन्यते; युष्माभिः मयीति शेषः; तर्हि अपापेन = पापशून्येन; च = अपि; मया = चारुदत्तेन; किम् = किं फलम् ? न किमपीत्यर्थः । 'संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते इत्युक्त्यनुसारं, दुष्कीर्तिदूषितात् मम जीवनान्मरणमेव वरमिति भावः ॥ ३७ ॥

टिप्पणी - इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ३७ ॥

मया किलेति—

अन्वयः—परलोकम्, अजानता, नृशंसेन, मया, खलु, स्त्री, वा, अविशेषेण, रतिः, शेषम्, एषः, अभिधास्यति ॥ ३८ ॥

शब्दार्थः – परलोकम् = परलोक को, अजानता = न जानने वाले, नृशंसेन = क्रूर, मया = मेरे द्वारा, खलु = निश्चय ही, स्त्री = एक साधारण स्त्री, वा = अथवा, अविशेषेण = साक्षात्, रतिः = कामदेव की स्त्री रति······'शेषम् = शेष बात को, एषः= यह (शकार), अभिधास्यति = बतलाएगा ॥

अर्थः – (अपने आप) और वसन्तसेना से रहित मेरे जीने से क्या मतलब ? (प्रकटरूप में) अजी ! अधिक क्या—

दोनों लोकों (इस लोक और स्वर्ग लोक) को न जानने वाले तथा क्रूर मैंने विशेष रूप से रत्नस्वरूप एक स्त्री को······शेष (अर्थात् मार दी) यह (शकार) कहेगा ॥ ३८ ॥

टीका —परलोकम् = स्वर्गादिकमित्यर्थः; अजानता = अबुद्ध्यमानेन. = क्रूरेण; मया = चारुदत्तेन; खलु = निश्चितम्; स्त्री = योषित्; वा = अथवा; अविशेषेण = साक्षादित्यर्थः; रतिः = कामपत्नी ··; शेषम् = अवशिष्टम्; एषः शकारः; अभिधास्यति = कथयिष्यति । विस्ताराय पूर्वं (६।३०) व्याख्यातम् ॥ ३८ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में अतिशयोक्ति अलङ्कार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है ॥ ३८ ॥

शकारः—वावादिदा। अले ! तुमं पि भण, मए वावादिदेत्ति। [व्यापादिता। अरे ! त्वमपि भण, मया व्यापादितेति।]

चारुदत्तः—त्वयैवोक्तम्।

शकारः—शुणेध शुणेध भट्टालका ! एदेण मालिदा। एदेण ज्जेव शंशए छिण्णे। एदश्श दलिद्दचालुदत्तश्श शालीले दंडे धालीअदु। [शृणुत शृणुत भट्टारकाः ! एतेन मारिता। एतेनैव संशयच्छिन्नः। एतस्य दरिद्रचारुदत्तस्य शरीरो दण्डो धार्यताम्।]

अधिकरणिकः—शोधनक ! यथाह राष्ट्रियः। भो राजपुरुषाः ! गृह्यतामयं चारुदत्तः।

(राजपुरुषा गृह्णन्ति)

वृद्धा—पसीदंतु पसीदंतु अज्जमिस्सा !। ('जो दाव चोरेहिं अवहिस्स'—इत्यादि पूर्वोक्तं पठति) ता जदि वावादिदा मम दारिआ वावादिदा। जीवदु मे दीहाऊ। अण्णं च, अत्थिपच्चत्थिण्णं व्यवहारो। अहं अत्थिणी। ता मुंचध एदं। [प्रसीदन्तु प्रसीदन्त्वार्यमिश्राः ! तद्यदि व्यापादिता मम दारिका, व्यापादिता। जीवतु मे दीर्घायुः। अन्यच्च अर्थिप्रत्यर्थिनोर्व्यवहारः। अहमर्थिनी। तन्मुञ्चतैनम्]

शकारः अवेहि गब्भदाशि ! गच्च, किं तव एदिणा ?। [अपेहि गर्भदासि ! गच्छ, किं तवैतेन ?।]

अधिकरणिकः आर्ये ! गम्यताम्। हे राजपुरुषाः ! निष्क्रामयतैनाम्।

अर्थः शकार मारदी। अरे ! तुम भी कहो कि मैंने मार दी है।

चारुदत्त तूने ही कह दिया।

शकार सुनिये, अधिकारीगण ! सुनिये। इसने मारी है। इसने ही सन्देह खतम कर दिया। इस दरिद्र चारुदत्त के लिये शारीरिक दण्ड निश्चित किया जाय।

अधिकरणिक—शोधनक ! जैसा राजा के साले (शकार) ने कहा (वैसा करो)। हे सिपाहियों (राजपुरुषों) इस चारुदत्त को पकड़ लिया जाय।

(सिपाही पकड़ते हैं)

वृद्धा—विद्वान् आर्यजनों ! कृपा कीजिए, कृपा कीजिए। ('यः तावत् चौरैः अपहृतस्य' इत्यादि पहले कहा गया वाक्य कहती है) तो यदि मेरी बेटी मारी गयी तो मारी गयी। मेरा चिरञ्जीवी (चारुदत्त) जिन्दा रहे। और दूसरी बात यह है कि मुकदमा वादी और प्रतिवादी का है। मैं वादी हूँ। तो इसको छोड़ दें।

शकार—दूर हट गर्भदासी ! जा तेरा इससे क्या मतलब ?

अधिकरणिक—श्रीमती जी ! जाइये ! हे सिपाहियों ! इसे (वसन्तसेना की

वृद्धा—हा जाद ! हा पुत्तअ ! । [हा जात ! हा पुत्रक ! ।] (इति रुदती निष्क्रान्ता)

शकारः—(स्वगतम्) कडं मए एदश्श अत्तणो शलिशं । शंपदं गच्छामि । [कृतं मयैतस्यात्मनः सदृशम्, सांप्रतं गच्छामि ।]

(इति निष्क्रान्तः)

अधिकरणिकः - आर्यचारुदत्त ! निर्णये वयं प्रमाणम्; शेषे तु राजा । तथापि शोधनक ! विज्ञाप्यतां राजा पालकः —

'अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत् ।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह ॥ ३९ ॥

माता को) निकलो ।

वृद्धा—हाय बेटे ! हाय पुत्र ! (इस प्रकार रोती हुई निकल जाती है) ।

शकार—(अपने आप) मैंने इस चारुदत्त के लिये अपने अनुसार काम कर दिया । अब जा रहा हूँ । (ऐसा कहकर निकल जाता है)

अधिकरणिक – आर्य चारुदत्त ! फैसला (निर्णय) करने के हम लोग अधिकारी हैं और बाकी बातों के राजा । तो भी शोधनक ! राजा पालक को यह सूचित किया जाय कि —

अयं हीति—

अन्वयः—अयम्, विप्रः, पातकी, (अस्ति, तथाऽपि), न हि, वध्यः (इति), मनुः, अब्रवीत्; तु, अक्षतैः, विभवैः, सह, अस्मात्, राष्ट्रात्, निर्वास्यः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थः—अयम् = यह, विप्रः = ब्राह्मण, पातकी = पापी, (अस्ति = है, तथापि = तो भी), न हि = नहीं, वध्यः = वध करने के योग्य, (अस्ति है, इति = ऐसा); मनुः = मनु ने, अब्रवीत् = कहा है; तु = किन्तु, अक्षतैः = समूची, विभवैः = सम्पत्ति के, सह = साथ, अस्मात् = इस, राष्ट्रात् = राष्ट्र से, निर्वास्यः = निकाल देने का पात्र है ॥

अर्थः–यह ब्राह्मण पापी होने पर भी बध करने के योग्य नहीं है, ऐसा मनु ने कहा है, किन्तु समूची सम्पत्ति के साथ इसे इस राष्ट्र से बाहर निकाल देना चाहिये ॥ ३९ ॥

टीका—अयम् = वसन्तसेनायाः वधे अभियुक्तः; विप्रः = ब्राह्मणः; पातकी = अबलावधपापकर्मा; अस्ति; तथापि न हि वध्यः = प्राणदण्डयोग्यः; इति मनुः = धर्मशास्त्र-प्रणेता एकः ऋषिः; अब्रवीत् = अकथयत् । तु = किन्तु; अक्षतैः = असमग्रैः; विभवैः =

शोधनकः—जं अज्जो आणवेदि । (इति निष्क्रम्य, पुनः प्रविश्य, सास्रम्) अज्जा ! गदम्हि तहिं । राआ पालओ भणादि—'जेण अत्थकल्लवत्तस्स कालणादो वसंतसेणा वावादिदा, तं ताइं ज्जेव आहरणाइं गले वंधिअ डिंडिमं ताडिअ दक्खिणमसाणं णइअ सूले भज्जेध' त्ति । जो को वि अवरो एरिसं अकज्जं अणुचिट्ठदि सो एदिणा सणिआर-दंडेण सासीअदि । [यदार्य आज्ञापयति, आर्याः ! गतोऽस्मि तत्र । राजा पालको भणति–'येनार्थकल्यवर्तस्य कारणाद्वसन्तसेना व्यापादिता, तं तान्येवाभरणानि गले बद्ध्वा डिण्डिमं ताडयित्वा दक्षिणश्मशानं नीत्वा शूले भङ्क्त' इति । यः कोऽप्यपर ईदृशमकार्यमनुतिष्ठति स एतेन सनिकारदण्डेन शास्यते ।

चारुदत्तः—अहो, अविमृश्यकारी राजा पालकः । अथवा

> ईदृशे व्यवहाराग्नौ मन्त्रिभिः परिपातिताः ।
> स्थाने खलु महीपाला गच्छन्ति कृपणां दशाम् ।। ४० ।।

सम्पत्तिभिः; सह = साकम्; अस्मात् = भवच्छासितात्; राष्ट्रात् = राज्यात्; निर्वास्य = बहिष्करणीयः । मनुवचनम्--न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम् । राष्ट्रादेनं बहिष्कुर्यात् समग्रधनमक्षतम् ।। ३९ ।।

टिप्पणी इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है ।

छन्द का लक्षण--

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ।। ३९ ।।

शब्दार्थः—डिण्डिमम् = ढिंढोरा को, ढोल को । सनिकारदण्डेन = अपमान सहित दण्ड से । अविमृश्यकारी = बिना बिचारे काम करने वाला ।।

अर्थः–**शोधनक**–जैसी श्रीमान् की आज्ञा । (ऐसा कह कर और फिर प्रवेश करके, आँखों में आँसू भर कर) महानुभावों मैं वहाँ गया था । राजा पालक कहते हैं कि—जिसने कलेवा जैसे तुच्छ धन के लिए वसन्तसेना का वध किया उसको वे ही जेवर गले में बाँध कर, ढिढोरा पीट कर, दक्षिण दिशा के श्मशान में लेजा कर शूली पर चढा दो ।' और जो कोई दूसरा ऐसा बुरा काम करेगा वह इस अपमान सहित दण्ड से शासित किया जायगा ।

टीका—डिण्डिमम् = पटहम् (ढोल इति भाषायाम्) । निकारेण = अपमानेन सहितः सनिकारः = सापमानः यः दण्डः तेन । अविमृश्यकारी = विवेकरहितः ।।

ईदृशैः इति--

अन्वयः--मन्त्रिभिः, ईदृशे, व्यवहाराग्नौ परिपातिताः, महीपालाः, कृपणाम्, दशाम्, गच्छन्ति, (इति), स्थाने, खलु ।। ४० ।।

अपि च,—

ईदृशैः श्वेतकाकीयै राज्ञः शासनदूषकैः।
अपापानां सहस्राणि हन्यन्ते च हतानि च॥ ४१॥

शब्दार्थः—मन्त्रिभिः = मन्त्रियों के द्वारा, ईदृशे = इस तरह की, व्यवहाराग्नौ = = मुकदमा-विचार रूपी आग में, परिपातिताः = झोंके गये, महीपालाः = राजा लोग, कृपणाम् = शोचनीय, दशाम् = दशा को, गच्छन्ति = प्राप्त होते हैं। (इति = इह), स्थाने = ठीक, उपयुक्त स्थान पर, खलु = ही, (है)॥

अर्थः—चारुदत्त—अहह ! राजा पालक बिना विचारे काम करने वाला है। अथवा मन्त्रियों के द्वारा इस तरह की मुकदमा-विचार रूपी आग में झोंके (डाले) गये राजा लोग शोचनीय दशा को प्राप्त होते हैं, यह, ठीक ही है॥ ४०॥

टीका—मन्त्रिभिः = सचिवैः, तत्तदधिकारिभिरित्यर्थः; ईदृशे = एतादृशे, वस्तुतः झटिति निर्णेतुमशक्ये इत्यर्थः; व्यवहारः = अभियोगविचारः एव अग्निः = वह्निः तस्मिन्, विवादनिर्णयरूपाग्नौ इति यावत्; परिपातिताः = मन्त्रदानेन निक्षिप्ताः; महीपालाः = राजानः, कृपणाम् = कातराम्, उभयलोकभ्रष्टामित्यर्थः; दशाम् = अवस्थाम्; गच्छन्ति = यान्ति, प्राप्नुवन्ति; इति यत् तत् स्थाने खलु = युक्तमेव ('युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः)। युक्तमयुक्तं वा मन्त्रिणामधिकारिणाञ्च मतं राज्ञा समर्थितं भवति। इत्थं राज्ञः भ्रंशने ते एव कारणस्वरूपाः इति भावः॥ ४०॥

टिप्पणी—इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा एवं रूपक अलङ्कार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है॥ ४०॥

ईदृशैः इति—

अन्वयः—श्वेतकाकीयैः, राज्ञः, शासनदूषकैः, ईदृशैः, (अधिकरणिकैः), अपापानाम्, सहस्राणि, हतानि, च, हन्यन्ते, च,॥ ४१॥

शब्दार्थः—श्वेतकाकीयैः = 'कौवा सफेद है' इस प्रकार का भी विश्वास कर लेने वाले, राज्ञः = राजा के, शासनदूषकैः = शासन को दूषित करने वाले, ईदृशैः = ऐसे, (अधिकरणिकैः = न्यायाधीशों के द्वारा), अपापानाम् = निरपराध व्यक्तियों के, सहस्राणि = हजार, हतानि = मारे गये हैं, च = और, हन्यन्ते = मारे जाते हैं॥

अर्थः—और भी—

'कौवा सफेद है' इस प्रकार का भी विश्वास कर लेने वाले, राजा के शासन को दूषित करने वाले ऐसे (न्यायाधीशों) के द्वारा हजारों निरपराध आदमी मारे गये हैं और अब भी मारे जाते हैं॥ ४१॥

सखे मैत्रेय! गच्छ, मद्वचनादम्बामपश्चिममभिवादयस्व। पुत्रं च मे रोह-सेनं परिपालयस्व।

विदूषकः—मूले छिण्णे कुदो पादवस्स पालणं?। [मूले छिन्ने कुतः पादपस्य पालनम्?।]

चारुदत्तः—मा मैवम्;

नृणां लोकान्तरस्थानां देहप्रतिकृतिः सुतः।
मयि यो वै तव स्नेहो रोहसेने स युज्यताम्॥ ४२॥

टीका—श्वेतकाकीयैः = 'श्वेतः काकः, इत्येवं विपरीतार्थं स्वीकुर्वद्भिः, शब्द-प्रमाणप्रधानैः विवेकशून्यैः इत्यर्थः; अथवा श्वेतकाकीयैः = श्वेतकाकतुल्यैः (बकसदृशैः), बहिः शुभ्रैः अन्तः कृष्णैश्चेति भावः; अतः राज्ञः = शासकस्य; शासनम् = दण्डपद्धतिम् दूषयन्ति ये तैः तथोक्तैः, अनुचितमार्गप्रदर्शिभिः; ईदृशैः = एतादृशैः विवेकभ्रष्टैः; अधिकरणिकैः इति शेषः; अपापानाम् = पापरहितानाम् विगतमलानामिति यावत्; सहस्राणि = बहूनि; हतानि = मारितानि; च = तथा; सम्प्रत्यपि हन्यन्ते = मार्यन्ते चापि। एभिः विवेकशून्यैः अधिकारिभिः महान् निरपराधः लोकसमुदायः हन्यते इति भावः॥ ४१॥

टिप्पणी—यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है॥ ४१॥

शब्दार्थः—मद्वचनात् = मेरी ओर से अम्बाम् = माता जी को, अपश्चिमम् = आखिरी, अन्तिम्। छिन्ने = कटजाने पर। पादपस्य = डाली की॥

अर्थः—मित्र मैत्रेय! जाओ मेरी ओर (मेरे वचन से) माता जी को आखिरी प्रणाम कहना। और मेरे पुत्र रोहसेन की देख भाल करना।

विदूषक—जड़ के ही कट जाने पर डालियों की देख भाल कैसे की जा सकती है? (अर्थात् तुम्हारे विना रोहसेन का जीना कठिन है)।

टीका—मद्वचनात् = चारुदत्तः कथयति इति विनिवेद्य इत्यर्थः; अम्बाम् = मातरम्; अपश्चिमम्—न विद्यते पश्चिमः = शेषः यस्मात् तत् यथा तथा अन्तिम-मित्यर्थः। अतः परं नाऽहं नमस्कर्तुं जीवितः भविष्यामीति भावः। छिन्ने = विनष्टे। पादपस्य = विटपस्य॥

नृणामिति—

अन्वयः—सुतः, लोकान्तरस्थानाम्, नृणाम्, देहप्रतिकृतिः, (भवति); (अतः), मयि, तव, यः, स्नेहः, सः, रोहसेने, वै, युज्यताम्॥ ४२॥

विदूषकः—भो वअस्स ! अहं ते पिअवअस्सो भविअ तुए विरहिदाइं पाणाइं धारेमि ?। [भो वयस्य ! अहं ते प्रियवयस्यो भूत्वा त्वया विरहितान्प्राणान्धारयामि ? ।]

चारुदत्तः- रोहसेनमपि तावद्दर्शय ।

विदूषकः—एव्वं, जुज्जदि । [एवम्, युज्यते ।]

अधिकरणिकः—भद्र शोधनक ! अपसार्यतामयं बटुः ।

(शोधनकस्तथा करोति)

अधिकरणिकः—कः कोऽत्र भोः ? । चाण्डालानां दीयतामादेशः ।

शब्दार्थः--सुतः = पुत्र, लोकान्तरस्थानाम् = परलोक में गये हुए, नृणाम् = लोगों का, देहप्रतिकृतिः = अपना प्रतिनिधि अथवा दूसरी देह, (भवति = होता है) । (अतः मयि = मेरे ऊपर, तव = तुम्हारा, यः = जो, स्नेहः = प्रेम है, सः = वह, रोहसेने = रोहसेन में (अर्थात् मेरे पुत्र में), वै = अवश्य ही, युज्यताम् = लगा दिया जाय ॥

अर्थः—**चारुदत्त**—पुत्र परलोक में गये हुये लोगों का अपना प्रतिनिधि होता है । इसलिये मेरे ऊपर तुम्हारा जो प्रेम है उसे रोहसेन में लगा दिया जाय ॥ ४२ ॥

टीका--सुतः = पुत्रः; अन्यः लोकः लोकान्तरं तस्मिन् लोकान्तरे = स्वर्गादौ तिष्ठन्तीति लोकान्तरस्थाः तेषाम्, मरणानन्तरं स्वर्गादौ गतानामित्यर्थः; नृणाम् = मानवानाम्; देहप्रतिकृतिः—देहस्य = शरीरस्य प्रतिकृतिः = प्रतिमा, अपरः देहः इत्यर्थः; भवति श्रुतिरप्याह—"आत्मा वै जायते पुत्रः" इति । अतः मयि = चारुदत्ते; तव = भवतः, मैत्रेयस्येत्यर्थः; यः = अपूर्वः; स्नेहः = प्रेम; अस्ति सः = स्नेहः; रोहसेने = तदाख्ये मम पुत्रे; वै = निश्चयेन; वै इति पादपूरणे अव्ययमिति केचित्; युज्यताम् = अर्प्यताम् । मम मरणानतरं सस्नेहं रोहसेनं पालयेत्यभ्यर्थना ॥ ४२ ॥

टिप्पणी--इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार एव पथ्यावक्त्र छन्द है । ॥ ४२ ॥

अर्थः-**विदूषक**-हे मित्र ! मैं तुम्हारा प्रिय मित्र होकर तुम्हारे बिना जी सकूँगा ?

चारुदत्त—तनिक, रोहसेन को भी (मुझे) दिखला दो ।

विदूषक—अच्छा, ठीक है ।

अधिकरणिक—भले आदमी शोधनक ! इस ब्राह्मण को हटा दो ।

(शोधनक वैसा ही करता है)

अधिकरणिक—कौन ? अरे यहाँ कौन है ? चाण्डालों (जल्लादों) को आज्ञा दी जाय (चारुदत्त को फाँसी पर लेजाकर लटकाने के लिये) ।

(इति चारुदत्तं विसृज्य, निष्क्रान्ताः सर्वे राजपुरुषाः)

शोधनकः—इदो आअच्छदु अज्जो । [इत आगच्छत्वार्यः ।]

चारुदत्तः—(सकरुणम्, 'मैत्रेय भोः ! किमिदमद्य' (६।२९) इत्यादि पठति; आकाशे)

विषसलिलतुलाग्निप्रार्थिते मे विचारे
क्रकचमिह शरीरे वीक्ष्य दातव्यमद्य ।
अथ रिपुवचनाद्वा ब्राह्मणं मां निहंसि
पतसि नरकमध्ये पुत्रपौत्रैः समेतः ॥ ४३ ॥

अयमागतोऽस्मि ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति व्यवहारो नाम नवमोऽङ्कः ।

(इस प्रकार चारुदत्त को छोड़कर सभी राजकीय कर्मचारी निकल जाते हैं)

शोधनक—आर्य इधर आइये ।

विषसलिलेति--

अन्वयः--विषसलिलतुलाग्निप्रार्थिते, मे, विचारे (सति), वीक्ष्य, अद्य, इह, शरीरे, क्रकचम्, दातव्यम्; अथ, रिपुवचनात्, वा, माम्, ब्राह्मणम्, निहंसि, (चेत्), पुत्रपौत्रैः, समेतः, नरकमध्ये, पतसि ॥ ४३ ॥

शब्दार्थः—विषसलिल-तुलाऽग्नि-प्रार्थिते = विष, जल, तराजू (तुला), तथा आग के द्वारा परीक्षणीय मे = मेरे, विचारे = मुकदमा के निर्णय होने पर, वीक्ष्य = देखकर, अद्य = आज, इह = इस, शरीरे = शरीर पर, क्रकचम् = आरा, दातव्यम् = देना चाहिये, चलाना चाहिये । अथ = यदि, रिपुवचनात् = शत्रु के कहने से, वा = ही, माम् = मुझ, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण को, निहंसि = मारते हो, (चेत् = तो), पुत्रपौत्रैः = पुत्र तथा पौत्रों के, समेतः = साथ, नरकमध्ये = नरक में, पतसि = गिरोगे ॥

अर्थः–**चारुदत्त** –(करुणा के साथ, मैत्रेय भोः 'किमिदमद्य' ६।२९ इत्यादि पढ़ता है; आकाश में)

मेरे मुकदमा के निर्णय में विष, जल, तराजू (तुला) तथा आग के द्वारा (दिव्य) परीक्षा की प्रार्थना मेरे द्वारा करने पर, उसे भली–भाँति देखकर ही आज मेरे इस शरीर पर आरा चलाना चाहिये किन्तु यदि शत्रु (शकार) के कहने से ही (हे

राजन्) मुझ ब्राह्मण को मारते हो तो तुम पुत्र तथा पौत्रों के साथ (अर्थात् अपने समूचे खान-दान के साथ) नरक में गिरोगे ॥

यह मैं आ ही गया ।

(इस प्रकार सभी निकल जाते हैं)

॥ व्यवहार नामक नवाँ अङ्क समाप्त ॥

टीका विषम् = गरलम्, विषपानमित्यर्थः ('गरलं विषम्' इत्यमरः), सलिलम् = जलम्, जले मज्जनमित्यर्थः, तुला = तुलारोहणमित्यर्थः, अग्निः = वह्निः, वह्निप्रवेशनमित्यर्थः, तैः विषसलिलतुलाग्निभिः, दिव्यसाधनैः इत्यर्थः, प्रार्थिते = परीक्षितुम् अभीष्टे; मे = मम, चारुदत्तस्येत्यर्थः; विचारे = व्यवहारनिर्णये, अभियोगविचारे सति; वीक्ष्य = दृष्ट्वा, दीव्यपरीक्षां दृष्ट्वा इत्यर्थः; अद्य = अधुना; इह = अस्मिन्, मामकीने; शरीरे = देहे; क्रकचम् = करपत्रम् ('क्रकचोऽस्त्री करपत्रम्' इत्यमरः), दन्तबहुलं काष्ठच्छेदनास्त्रं क्रकचः कथ्यते; दातव्यम् = दातुमुचितम्; नृपस्येति शेषः; दीव्यपरीक्षां विना क्रकचेन मम शरीरच्छेदनं न समीचीनं स्यादिति भावः । अथ = सम्यक् परीक्षां न विधायेत्यर्थः; रिपोः = शत्रोः, शकारस्येत्यर्थः, वचनात् = कथनात्; वा = एव; माम् = निरपराधम्; ब्राह्मणम् = द्विजम्; सर्वथा हन्तुमयोग्यमित्यर्थः; निहंसि = मारयसि, चेत् = तदा; पुत्रपौत्रैः =सुततत्सुतादिभिः; निखिलैः परिवारैः इत्यर्थः; समेतः = संयुक्तः; नरकमध्ये = निरयान्तरे; पतसि = गमिष्यसीति ।

तथा चोक्तं मनुना—

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा, दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति, नरकं चैव गच्छति ॥

निरपराधस्य मम वधेन अवश्यमेव तव नरकपातः भविष्यतीति भावः ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—पहले किसी व्यक्ति के अपराध करने पर दिव्य साधनों से उसकी परीक्षा होती थी । १--उसे विष खिलाया जाता था । यदि वह निरपराध होता था तो उस पर विष का कुछ भी प्रभाव न होता था । २--उसे नाभि तक जल में इतने समय तक डुबकी लगवायी जाती थी जितने समय में कोई वेगवान् मनुष्य तुरन्त फेंके गये बाण को लेकर आ जाता था । यदि वह अपराधी होता तो डूब जाता अन्यथा नहीं । ३— वह तुला के एक पलड़े पर बैठता था और दूसरे पलड़े में समान भार का वाट आदि रक्खा जाता था । यदि वह निरपराध होता तो उसका पलड़ा ऊपर उठ जाता था । ४—उसके हाथ पर पीपल के सात पत्ते रख कर उसके ऊपर जलता हुआ लोहे

का गोला एक नियत समय के लिये रक्खा जाता था। अपराधी होने पर वह जल जाता था अन्यथा नहीं। (देखिये याज्ञवल्क्यस्मृति २–१००–१११)

वीक्ष्य = देख कर, भली भाँति जाँच करके; वि+√ईक्ष+ल्यप् ॥

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार एवं मालिनी छन्द है।

छन्द का लक्षण—

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ॥ ४२ ॥

॥ इति व्यवहारो नाम नवमोऽङ्कः ॥



दशमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चाण्डालद्वयेनानुगम्यमानश्चारुदत्तः)

उभौ—

तक्किं ण कलअ कालण णववहबंधणअणे णिउणा।
अचिलेण शीशछेअणशूलालोवेशु कुशलम्ह ॥ १ ॥

ओशलध अज्जा ! ओशलध । एशे अज्जचालुदत्ते

दिण्णकलवीलदामे गहिदे अम्हेहिं वज्झपुलिसेहिं।
दीवे व्व मंदणेहे थोअं थोअं खअं जादि ॥ २ ॥

[तत्किं न कलय कारणं नववधबन्धनयने निपुणौ।
अचिरेण शीर्षच्छेदनशूलारोपेषु कुशलौ स्वः ॥

अत्राङ्के चारुदत्तस्य दक्षिणश्मशानं नयनम्, वसन्तसेनायाः चेतनाप्राप्तिः, चारुदत्तस्य दुःखान्मोक्षणम्, आर्यकस्य राज्यावाप्तिः तथा चारुदत्तस्य उज्जयिन्यां वेणातटे कुशावत्यां राज्यप्राप्तिश्च वर्णनीयविषयः। चारुदत्तं हन्तुं दक्षिणश्मशानं नयन्तौ 'गोहाआहीन्ता' नामानौ घातुकौ चाण्डालौ कञ्चन प्रति वदतः "तत्किं" इति ॥

तत्किमिति—

अन्वयः- तत्, किम्, कारणम्, न, कलय; (आवाम्), नववधबन्धनयने, निपुणौ, अचिरेण, शीर्षच्छेदनशूलारोपेषु, कुशलौ, स्वः ॥ १ ॥

शब्दार्थः-- तत् = तो, किम् = क्या, कारणम् = मतलब को, न = नहीं, कलय = जानते हो ? (आवाम् = हम दोनों), नववधबन्धनयने = नये बध और बन्धन के लिये ले जाने में, निपुणौ = परम चतुर, अचिरेण = बहुत जल्द, शीर्षच्छेदनशूलारोपेषु = शिर काटने और शूली (फाँसी) पर चढ़ाने में, कुशलौ = निपुण, स्वः = हैं ॥

(इसके बाद दो चाण्डालों से पीछा किया जाता हुआ (अनुगत) चारुदत्त प्रवेश करता है)

अर्थः दोनों- (चाण्डाल)—

तो क्या (इस रास्ते से हमारे जाने का) मतलब तुम नहीं जानते हो ? हम दोनों (प्रति दिन के) नये बध और बन्धन के लिये (किसी अपराधी को) ले जाने में परम चतुर है, बहुत जल्द शिर काटने और शूली (फाँसी) पर चढ़ाने में निपुण है ॥ १ ॥

टीका-- तत् = तु; किमिति प्रश्ने; कारणम् = हेतुम्; अनेन मार्गेण आवयोः गमने इति भावः; न कलय = न विचारय ? न जानासि ? इति भावः । आवाम् नवौ = नवीनौ यौ बधबन्धौ = नाशबन्धनौ तयोः नयने = प्रापणे; अथवा नवः = नवीनः यः वधः =

अपसरतार्याः अपसरत । एष आर्यचारुदत्तः

दत्तकरवीरदामा गृहीत आवाभ्यां वध्यपुरुषाभ्याम् ।
दीप इव मन्दस्नेहः स्तोकं स्तोकं क्षयं याति ॥]

मारणम् तस्मै बन्धः = बन्धनम् तस्य नयने = प्रापणे, वधाय दाने इत्यर्थः; अथवा नववधाय बन्धः = बन्धनस्थानमित्यर्थः, तत्र नयने = अपराधिनं गृहीत्वा गमने; निपुणौ = परमप्रवीणौ; तथा अचिरेण = अविलम्बेन; शीर्ष्णः = शिरसः छेदनेषु = कर्तनेषु तथा शूले = प्राणापहारके लौहफलके आरोपेषु = आरोपणेषु; वध्यस्येति शेषः; कुशलौ = परमचतुरौ; स्वः = वर्तावहे । दत्तप्राणदण्डस्य जनस्य विविधरूपेण विनाशने आवां प्रवीणौ स्वः इति भावः ॥ १ ॥

टिप्पणी – इस श्लोक में गाथा छन्द है । कुछ लोग इस में उपगीति छन्द मानते हैं । उपगीति का लक्षण —

आर्योत्तरार्धतुल्यं प्रथमार्धमपि प्रयुक्तं चेत् ।
कामिनि तामुपगीतिं प्रतिभापन्ते महाकवयः ॥ १ ॥

दत्तकरवीरदामा इति—

अन्वयः—दत्तकरवीरदामा, आवाभ्याम्, वध्यपुरुषाभ्याम्, गृहीतः, (एषः, आर्यचारुदत्तः), मन्दस्नेहः, दीपः, इव, स्तोकम्, स्तोकम्, क्षयम्, याति ॥ २ ॥

शब्दार्थः—दत्तकरवीरदामा = पहनायी गयी कनेर की मालावाला, आवाभ्याम् = हम दोनों, वध्यपुरुषाभ्याम् = बध करने के लिये रखे गये (नियुक्त) जनों के द्वारा, गृहीतः = पकड़ा गया, (एषः = यह, आर्यचारुदत्तः = चारुदत्त), मन्दस्नेहः = कमतेल वाले, दीपः = दीपक, इव = जैसा, स्तोकम् = थोड़ा, स्तोकम् = थोड़ा, क्षयम् = नाश को, याति = प्राप्त हो रहा है ॥

अर्थ —हटो माननीय जनों, हटो । यह आर्य चारुदत्त—

पहनायी गयी कनेर की माला वाला, वध करने के लिये रखे गये (नियुक्त) हम दोनों जनों के द्वारा पकड़ा गया (यह चारुदत्त) कम तेल वाले दीपक की भाँति धीरे धीरे नाश को प्राप्त हो रहा है ॥ २ ॥

टीका दत्तम् = अर्पितम्, कण्ठे क्षिप्तमित्यर्थः, करवीरस्य = शतप्रासापरपर्यायस्य रक्तपुष्पविशेषस्य, लोके 'कनेर' इति ख्यातस्य ('प्रतिहासशतप्रासचण्डातहयमारकाः करवीरे' इत्यमरः) दाम = माला यस्मै सः, प्राप्तप्राणदण्डः रक्तकरवीरमालया रक्तचन्दनेन च अलङ्क्रियते जनः; आवाभ्याम् = चारुदत्तं वध्यभूमौ नयनतत्पराभ्याम्; वधे = हननकार्ये साधू इति वध्यौ = वधप्रवीणौ इत्यर्थः, तौ च तौ पुरुषौ चेति ताभ्याम्; वधकार्ये

चारुदत्तः – (सविषादम्)

नयनसलिलसिक्तं पांशुरूक्षीकृताङ्गं
पितृवनसुमनोभिर्वेष्टितं मे शरीरम् ।
विरसमिह रटन्तो रक्तगन्धानुलिप्तं
बलिमिव परिभोक्तुं वायसास्तर्कयन्ति ॥ ३ ॥

नियुक्ताभ्यामावाभ्यामित्यर्थः; गृहीतः = धृतः; 'एषः आर्यचारुदत्तः' इति गद्येन अन्वयः; मन्दः = क्षीणः स्नेहः = तैलम्, पक्षे—जीवनानुरागः यस्य तादृशः; दीपः = दीपकः; इव = यथा; स्तोकं स्तोकम् = मन्दं मन्दम्, शनैः शनैः इति यावत्; क्षयम् = नाशम्; याति = गच्छति, प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २ ॥

टिप्पणी · दत्तकरवीर०—पहले यह प्रथा थी कि जिसको फांसी का आदेश दिया जाता था, उसे कनेर के लाल फूल की माला पहनायी जाती थी । उसके शरीर पर लालचन्दन पोता जाता था ॥

इस श्लोक में श्लेष से युक्त (अनुप्राणित) उपमा अलङ्कार है । इस में प्रयुक्त छन्द का नाम है · आर्या ।

छन्द का लक्षण—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽर्या ॥ २ ॥

नयनसलिलसिक्तमिति –

अन्वयः—इह, विरसम्, रटन्तः, वायसाः; नयनसलिलसिक्तम्, पांशुरूक्षीकृताङ्गम्, पितृवनसुमनोभिः, वेष्टितम्, रक्तगन्धानुलिप्तम्, मे, शरीरम्, बलिम्, इव, परिभोक्तुम्, तर्कयन्ति ॥ ३ ॥

शब्दार्थः -इह = यहाँ, विरसम् = कर्कशतापूर्वक, रटन्तः = शब्द करते हुए, वायसाः = कौवे; नयनसलिलसिक्तम् = आसुओं से भीगे हुए, पांशुरूक्षीकृताङ्गम् = धूलि-धूसरित अङ्गवाले, पितृवनसुमनोभिः = श्मशान के फूलों से, वेष्टितम् = ढके हुए, रक्तगन्धानुलिप्तम् = लालचन्दन से पुते हुए, मे = मेरे, शरीरम् = शरीर को; बलिम् = बलि के (पूजा में चढ़ाए गये पदार्थों के), इव = समान, परिभोक्तुम् = खाने के लिये, तर्कयन्ति = विचार कर रहे हैं ॥

अर्थः-- **चारुदत्त** -- (दुःख के साथ)

यहाँ कर्कश शब्द करते हुये कौवे --आँसुओं से भीगे हुये, धूलि–धूसरित अङ्ग-

चाण्डालौ—ओशलध अज्जा ! ओशलध ।

किं पेक्खध छिज्जंतं शप्पुलिशं कालपलशुधालाहिं ? ।
शुअणशउणाधिवाशं शज्जणपुलिशद्दुमं एदं ॥ ४ ॥

आअच्छ ले चालुदत्ता ! आअच्छ ।

[अपसरतार्याः ! अपसरत ।

किं पश्यत छिद्यमानं सत्पुरुषाः कालपरशुधाराभिः ।
सुजनशकुनाधिवासं सज्जनपुरुषद्रुममेतम् ॥

वाले, श्मशान के फूलों से ढके हुए लालचन्दन से पुते हुए मेरे इस शरीर को बलि के समान खाने का विचार कर रहे हैं ॥ ३ ॥

टीका—इह = दक्षिणश्मशानमार्गे; विरसम् = कर्कशम्, यथा स्यात्तथा; रटन्तः = शब्दं कुर्वन्तः; वायसाः = काकाः; ('काके तु करटारिष्टबलिपुष्टसकृत्प्रजा. । ध्वाङ्क्षात्मघोषपरभृद्बलिभुग्वायसा अपि ॥' इत्यमरः); नयनसलिलेत्यादि—नयनयोः = नेत्रयोः सलिलैः = जलैः, अश्रुभिः इत्यर्थः, सिक्तम् = आर्द्रम्; तथा पांशुभिः = धूलिभिः (रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांशुर्ना न द्वयो रज.' इत्यमरः) रुक्षीकृतानि = धूसरीकृतानि अङ्गानि = अवयवाः यस्य तत्; पितृवनस्य = श्मशानस्य (श्मशानं स्यात्पितृवनम्' इत्यमर.) सुमनोभिः = पुष्पैः; वेष्टितम् = आच्छादितम्; रक्तगन्धेन = रक्तचन्दनेन अनुलिप्तम् = व्याप्तम्; मे = मम चारुदत्तस्य; शरीरम् = देहम्; बलिमिव = पूजाद्रव्यमिव; परिभोक्तुम् = भक्षणं कर्तुम्; तर्कयन्ति = उत्प्रेक्षन्ते; विचारयन्ति । दक्षिणश्मशानस्य समीपवर्तिनः वायसाः वध्यचिह्नोपलक्षितं मां विलोक्य 'शूलारोपणानन्तरमस्य शरीरं भोक्तुं प्राप्तं भविष्यतीति विचिन्त्य सहर्षं रटन्तीति भावः ॥ ३ ॥

टिप्पणी—वेष्टितम् = घिरा, हुआ, घेरा हुआ, चारों ओर से लपेटा हुआ; √वेष्ट + क्त + विभक्तिकार्य ॥

इस श्लोक मे उपमा अलङ्कार एवं मालिनी छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ॥ ३ ॥

किं पश्यत इति—

अन्वयः—हे सत्पुरुषाः ! सुजनशकुनाधिवासम्, एतम्, सज्जनपुरुषद्रुमम्, कालपरशुधाराभिः, छिद्यमानम्, किम्, पश्यत ? ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—हे सत्पुरुषाः ! = हे सत्पुरुषो ! सुजनशकुनाधिवासम् = सज्जनरूपी

आगच्छ रे चारुदत्त ! आगच्छ ।]

चारुदत्तः--पुरुषभाग्यानामचिन्त्याः खलु व्यापाराः, यदहमीदृशीं दशामनुप्राप्तः ।

सर्वगात्रेषु विन्यस्तै रक्तचन्दनहस्तकैः ।
पिष्टचूर्णावकीर्णश्च पुरुषोहं पशूकृतः ॥ ५ ॥

पक्षियों के आश्रयस्थान, एतम् = इस, सज्जनपुरुषद्रमम् = साधु पुरुषरूपी वृक्ष को, कालपरशुधाराभिः - कालरूपी कुल्हाड़ी की धाराओं से, अथवा काल (मृत्यु, समय) की कुल्हाड़ी की धाराओं मे, छिद्यमानम् = काटे जाते हुए किम् = क्यों, पश्यत = देख रहे हो ? ॥

अर्थ--दोनों चाण्डाल--हटो महानुभावो, हटो--

हे सत्य पुरुषो ! सज्जन रूपी पक्षियों के आश्रय-स्थान, साधु पुरुष रूपी इस वृक्ष को कालरूपी कुल्हाड़ी की धारों से काटे जाते हुए क्यों देखते हो ? (अर्थात् सत्पुरुष का वध देखना उचित नहीं है, अतः हट जाओ) ॥ ४ ॥

टीका--हे सत्पुरुषाः ! = हे सज्जनाः ! अन्तिमे क्षणे चारुदत्तं द्रष्टुमुपस्थिताः इति भावः; सुजनाः = साधवः एव शकुनाः = पक्षिणः तेषाम् अधिवासः = निवासस्थानम् तम्; सज्जनाश्रयप्रदमित्यर्थः; एतम् = आवाभ्यां वधाय नीयमानम्; सज्जनपुरुषः = साधुपुरुषः एव द्रुमः वृक्षः तम् । यथा वृक्षाः फलच्छायादिभिः जनानामुपकारं कुर्वन्ति तथैव अयमपि प्राणिनामुपकारकः अस्ति इति भावः । अथवा यथा पक्षिणः वृक्षमाश्रित्य वर्तन्ते तथैव साधव अमुमवलम्ब्य निर्वहन्तीति भावः । एतादृशं चारुदत्तम्; कालस्य = मृत्योः समयस्य वा परशोः = कुठारस्य धाराभिः = तीक्ष्णाग्रैः; अथवा कालः एव परशुः तस्य धाराभिः; अथवा कालः इव परशुः तस्य धाराभिः; छिद्यमानम् = भिद्यमानम् ; किं पश्यत किमवलोकयत ? । सज्जनानामुपकारिणः कालवशान्मृत्युं गच्छत अस्य वधः युष्माभिः नावलोकनीयः इति भावः ॥ ४ ॥

टिप्पणी--इस श्लोक में रूपक अलङ्कार एवं आर्या छन्द है ।

छन्द का लक्षण --

यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ ४ ॥

सर्वगात्रेषु इति—

अन्वयः—सर्वगात्रेषु, विन्यस्तैः, रक्तचन्दनहस्तकैः, पिष्टचूर्णावकीर्णः, च, अहम्, पुरुषः, पशूकृतः ॥ ५ ॥

(अग्रतो निरूप्य) अहो, तारतम्यं नराणाम् । (सकरुणम्)

अमी हि दृष्ट्वा मदुपेतमेतन्मर्त्यं धिगस्त्वित्युपजातबाष्पाः ।
अशक्नुवन्तः परिरक्षितुं मां स्वर्गं लभस्वेति वदन्ति पौराः ॥ ६ ॥

शब्दार्थः--सर्वगात्रेषु = सभी अङ्गों पर, विन्यस्तैः=लगाये गये, रक्तचन्दनहस्तकैः= लाल चन्दन के हाथ-छापे के द्वारा, पिष्टचूर्णावकीर्णः=(चावल के) आटे और (तिलों के) चूरे से व्याप्त, अहम् = मैं, पुरुषः = पुरुष, पशूकृतः = पशु कर दिया गया हूँ ॥

अर्थ.--आओ रे चारुदत्त आओ ।

चारुदत्त – पुरुषों के भाग्यों के काम अचिन्तनीय हुआ करते हैं, जो कि मैं ऐसी दशा को प्राप्त हो गया हूँ ।

सभी अङ्गों पर लगाये गये लाल चन्दन के हाथ-छापे (हाथ के चिह्न) के द्वारा एवं (चावल के) आटे और (तिल के) चूरे से व्याप्त करके मुझ पुरुष को ही (बलि का) पशु बना दिया गया है ॥ ५ ॥

टीका – सर्वगात्रेषु = सर्वाङ्गेषु; विन्यस्तैः = प्रदत्तैः; रक्तचन्दनस्य = लोहित-चन्दनस्य, हस्तकैः = हस्ताः एव हस्तकाः, हस्ताः इव हस्तकाः वा, स्वार्थे इवार्थे वा कन्, तैः हस्तकैः = हस्तचिह्नैः; कारणभूतैः; पिष्टैः = तण्डुलादीनां विकारैः चूर्णैः = तिलचूर्णैश्च अवकीर्णः = परिव्याप्तश्च; अहम् = अधुना वध्यभूतः; पुरुषः = मानवः; अपशुः पशुः सम्पद्यमानः कृतः इति पशूकृतः = बलिपशुतुल्यः कृतः । यथा कस्यचित् देवस्य प्रीतये तत्सन्निधौ नीयमानः चूर्णैश्चालङ्क्रियते तथैव मदीयाऽधुना दशा अस्तीति भावः ॥ ५ ॥

टिप्पणी—विन्यस्त = रखा हुआ, निक्षिप्त; वि + नि + √अस् + क्त । अवकीर्ण = व्याप्त, बिखरा हुआ, अव + √कॄ + क्त ॥

इस श्लोक से प्रतीत होता है कि पहले वध्य के शरीर पर लालचन्दन से हस्त-छाप लगाया जाता था । उसे चावल एवं तिल आदि के चूर्ण से भी खूब व्याप्त कर दिया जाता था ॥

इस श्लोक में रूपक अलङ्कार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ५ ॥

अमी हीति—

अन्वयः--अमी; हि; पौराः, मदुपेतम्, एतत्, दृष्ट्वा, मर्त्यम्, धिक्, अस्तु, इति;

चाण्डालौ--ओशलध अज्जा ! ओशलध । किं पेक्खध ? ।

इंदे प्पवाहिअंते गोप्पशवे शंकमं च तालाणं ।
शुपुलिशपाणविपत्ती चत्तालि इमे ण दट्टव्वा ॥ ७ ॥

[अपसरतार्याः अपसरत । किं पश्यत ? ।

इन्द्रः प्रवाह्यमाणो गोप्रसवः संक्रमश्च ताराणाम् ।
सुपुरुषप्राणविपत्तिश्चत्वार्येतानि न द्रष्टव्यानि ॥]

(उक्त्वा), उपजातबाष्पाः, माम्, परिरक्षितुम्, अशक्नुवन्तः; स्वर्गम्, लभस्व, इति, वदन्ति ॥ ६ ॥

शब्दार्थः--अमी = ये; पौराः = नगर के निवासी, मदुपेतम् = मेरे द्वारा पाये गये, एतत् = इस (दुःख) को, दृष्ट्वा = देखकर, मनुष्य को, धिक् = धिक्कार, अस्तु = हो; इति = ऐसा, (उक्त्वा = कह कर), उपजातबाष्पाः = आँखों में आँसू भरे हुए, माम् = मुझ को, परिरक्षितुम् = बचाने के लिये, अशक्नुवन्तः = असमर्थ होते हुए, स्वर्गम् = स्वर्ग को, लभस्व = पाओ, इति = वदन्ति = कह रहे हैं ॥

अर्थः-(सामने देख कर) लोगों का ताँता आश्चर्यजनक है। (करुणा के साथ)--ये नगर के निवासी मेरे द्वारा पाई गयी इस हालत को देख कर (अर्थात् मुझे इस हालत में देख कर), यह कह कर कि--क्षणभङ्गुर मनुष्य को धिक्कार है; आँखों में आँसू भरे हुए, मुझ को बचाने के लिये (मेरी रक्षा करने में) असमर्थ होते हुए 'तुम स्वर्ग पाओ' यह कह रहे हैं ॥ ६ ॥

टीका--अमी = मां द्रष्टुमितस्ततः स्थिताः; हीति पादपूर्तौ; पौराः = पुरवासिनः जनाः; मया = चारुदत्तेन उपेतम् = प्राप्तम्, अथवा मयि = चारुदत्ते उपेतम् = आगतम्; एतत् = मदीयं दुःखम्, बध्यचिह्नं वा; दृष्ट्वा = अवलोक्य, मर्त्यम् = मनुष्यम्, मरणधर्माणमित्यर्थः, धिक् = धिक्कारम्; निन्दा इत्यर्थः; अस्तु = वर्तताम्; इति = इत्थम्; उक्त्वेति शेषः; उपजातबाष्पाः = अश्रुपूर्णनयनाः; माम् = वधाय नीयमानं मां चारुदत्तमित्यर्थः; परिरक्षितुम् = प्राणदण्डात् परित्रातुम्; अशक्नुवन्त = अपारयन्तः, असमर्थाः भवन्तः इत्यर्थः; स्वर्गम् = सल्लोकम्; लभस्व = प्राप्नुहि; इति = इत्थम्; वदन्ति = कथयन्ति ॥ ६ ॥

टिप्पणी--इस श्लोक में उपजाति छन्द है ।

छन्द का लक्षण--

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः । उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ॥
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥ ६ ॥

एकः—हंडे आहींता ! पेक्ख पेक्ख

णअलीपधाणभूदे वज्झीअंते कदंतअण्णाए ।
किं लुअदि अंतलिक्खे आदु अणब्भे पडदि वज्जे ॥ ८ ॥

इन्द्रः इति—

अन्वयः—प्रवाह्यमाणः, इन्द्रः, गोप्रसवः, ताराणाम्, संक्रमः, च, सुपुरुषप्राण-विपत्तिः, च, एतानि, चत्वारि, न, द्रष्टव्यानि ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—प्रवाह्यमाणः = बहाया जाता हुआ (बहाने के लिये ले जाया जाता हुआ) इन्द्रः = इन्द्रध्वज, गोप्रसवः = गाय का बियाना, ताराणाम् = ताराओं का, संक्रमः = टूट कर गिरना, सुपुरुषप्राणविपत्तिः = श्रेष्ठ पुरुष का वध, एतानि = ये, चत्वारि = चार, न = नहीं, , द्रष्टव्यानि = देखने योग्य हैं ॥

अर्थः—दोनों चाण्डाल—हटो, महानुभावो ! हटो । क्या देख रहे हो ! —

जल में बहाने के लिये ले जाया जाता हुआ इन्द्र-ध्वज, गाय का बियाना (प्रसव), ताराओं का टूटकर गिरना तथा श्रेष्ठ पुरुष का बध-इन चारों को नहीं देखना चाहिये ॥ ७॥

टीका—प्रवाह्यमाणः = विसर्जनाय नीयमानः, प्रवाह्यमानो वा; इन्द्रः = इन्द्रध्वजः; राज्ये वृष्टयर्थं शस्यादिवृद्धयर्थञ्च राज्ञा क्रियमाणे यागे निर्मितः ध्वजविशेषः तस्य रहसि विसर्जनं निर्दिशति कालिकापुराणम्; तद्यथा "उत्थापयेत्तूर्यरवैः सर्वलोकस्य वै पुरः । रहो विसर्जयेत्केतुं विशेषोऽयं प्रपूजने ॥" गवाम् =धेनूनाम् प्रसवः = प्रसूतिः ('प्रसूतिः प्रसवे' इत्यमरः); ताराणाम्=नक्षत्राणाम्; संक्रमः = स्थानच्युतिः पतनमित्यर्थः; सुपुरुषस्य = सज्जनस्य श्रेष्ठपुरुषस्य वा प्राणविपत्तिः = प्राणनाशः; एतानि = इमानि; चत्वारि = चतुःसंख्याकानि वस्तूनि; न द्रष्टव्यानि = नावलोकनीयानि । एतेषामवलोकनं निषिद्धं तत्रैव कालिकापुराणे —"मैथुनञ्च गोप्रसवं केतुपातं सतो वधम् । नक्षत्राणाञ्च सञ्चारं शुभार्थी नावलोकयेत् ॥" अधर्मजनकत्वात् चारुदत्तवधावलोकनात् निवृत्ताः भवन्तु भवन्त इति भावः ॥ ७ ॥

टिप्पणी—वृष्टि एवं सुन्दर खेती के लिये राजा लोग इन्द्रयज्ञ करते थे । उसमें एक पताका गाड़ी जाती थी । इसे ही इन्द्रध्वज कहते थे । यज्ञ की समाप्ति पर इसे जल में बहाया जाता था । बहाने के लिये ले जाये जाते हुए इस का दर्शन अनुचित माना जाता था ॥

इस श्लोक में आर्या छन्द है । लक्षण—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ ७ ॥

[अरे आहीन्त ! पश्य पश्य

नगरीप्रधानभूते वध्यमाने कृतान्ताज्ञया ।
किं रोदित्यन्तरिक्षमथवाऽनभ्रे पतति वज्रम् ॥]

द्वितीयः — अले गोहा !

ण अ लुअदि अंतलिक्खे णेय अणब्भे पडदि वज्जे ।
महिलाशमूहमेहे निवडदि णअणंबु धाराहिं ॥ ९ ॥

नगरीप्रधानभूते इति--

अन्वयः — कृतान्ताज्ञया, नगरीप्रधानभूते, वध्यमाने, किम्, अन्तरिक्षम्, रोदिति, अथवा, अनभ्रम्, वज्रम्, पतति ? ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—कृतान्ताज्ञया = यमराज की आज्ञा से, नगरीप्रधानभूते = नगरी के प्रधान (पुरुष चारुदत्त के), वध्यमाने = मारे जाने पर (वध की तैयारी होने पर), किम् = क्या, अन्तरिक्षम् = आकाश, रोदिति = रो रहा है, अथवा = या, अनभ्रम् = विना बादलों का, वज्रम् = वज्र, पतति = गिर रहा है ॥

अर्थः—एक चाण्डाल — अरे, आहीन्त ! देख, देख--

यमराज (के समान राजा पालक) की आज्ञा से इस नगरी के प्रधान पुरुष (चारुदत्त) के वध की तैयारी होने पर, क्या आकाश रो रहा है ? अथवा बिना बादलों के ही वज्र गिर रहा है ? ॥ ८ ॥

टीका — कृतान्ताज्ञया—कृतान्तस्य = यमराजस्य यमतुल्यस्य राज्ञः पालकस्येत्यर्थः आज्ञया = आदेशेन; अथवा कृतान्तस्य = भाग्यस्य ('कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवाकुशलकर्मसु' इत्यमरः) आज्ञया = विधानेन; अथवा कृतान्तस्य = अधिकरणिकनिर्णीतस्य सिद्धान्तस्य आज्ञया=आदेशेन; नगरीप्रधानभूते—नगर्याः = उज्जयिन्याः प्रधानभूते = सर्वश्रेष्ठपुरुषे, चारुदत्ते इत्यर्थः; वध्यमाने = हन्यमाने, वधार्थं नीयमाने सतीत्यर्थः; किम् अन्तरिक्षम् = गगनम् ('नभोन्तरीक्षं गगनमनन्तं सुरवर्त्म खमि' त्यमरः); रोदिति = विलपति ! अथवा अनभ्रम्—नास्ति अभ्रम् = मेघः यस्मिन् तदनभ्रम् = मेघशून्यम्; वज्रम् = अशनिः ('शतकोटिः स्वरुः शम्बो दम्भोलिरशनिर्द्वयोः' इत्यमरः), पतति = आकाशादागच्छति ? पौरजनानां भूमौ पतन्तीमविरलामश्रुजलधारां दृष्ट्वा क्रन्दनञ्चाकर्ण्य चाण्डालः जलवर्षणं वज्र-पतनञ्चाकलयतीति भावः ॥ ८ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में सन्देह नामक अलङ्कार तथा आर्या छन्द है । कुछ लोग इसमें गाथा छन्द मानते हैं ॥ ८ ॥

अवि अ,—

वज्झम्मि णीअमाणे जणश्श शव्वश्श लोदमाणश्श ।
णअणशलिलेहिं शित्त लच्छादो ण उण्णमइ लेणू ॥ १० ॥

[अरे गोह !

न च रोदित्यन्तरिक्षं नैवानभ्रं पतति वज्रम् ।
महिलासमूहमेघान्निपतति नयनाम्बु धाराभिः ॥

अपि च,—

वध्ये नीयमाने जनस्य सर्वस्य रुदतः ।
नयनसलिलैः सिक्तो रथ्यातो नोन्नमति रेणुः ॥]

न च रोदितीति—

अन्वयः—न, च, अन्तरिक्षम्, रोदिति; नैव, अनभ्रम्, वज्रम्, पतति; (किन्तु) महिलासमूहमेघात्, नयनाम्बु, धाराभि , निपतति ॥ ९ ॥

शब्दार्थः— न च = न तो, अन्तरिक्षम् = आकाश, रोदिति = रो रहा है; नैव = नहीं, अनभ्रम् = बिना बदलों के, वज्रम् वज्र, पतति = गिर रहा है । (किन्तु), महिलासमूहमेघात् = स्त्रियों के समूह रूपी मेघ से, नयनाम्बु = आँखों का पानी (आँसू) धाराभिः = धाराओं से (अर्थात् धाराओं के रूप मे), निपतति = गिर रहा है ॥

अर्थः - दूसरा चाण्डाल—अरे गोह !

न तो आकाश रो रहा है, और न बिना बादलों के वज्र ही गिर रहा है । (किन्तु) स्त्रियों के समूहरूपी मेघ से आँखों का पानी (आँसू) धाराओं के रूप में गिर रहा है ॥ ९ ॥

टीका - न च = नैव; अन्तरिक्षम् = गगनम्; रोदिति = विलपति; नैव = न च; अनभ्रम् = मेघसम्बन्धविरहितम्; (अनभ्रे इति पाठान्तरम् । अ अभ्रम् अनभ्रं तस्मिन्) वज्रम् = अशनिः; पतति = आकाशादागच्छति । किं तर्हीत्याशङ्कायामुच्यते - किन्तु; महिलासमूहः = स्त्रीसमुदायः एव मेघः = जलदः तस्मात्; नयनानाम् = नेत्राणाम् अम्बु = जलम्; अश्रु इत्यर्थः; धाराभिः = प्रवाहैः; निपतति = वर्षति । निष्पापं चारुदत्तं वधाय नीयमानमवलोक्य करुणार्द्रचित्तानां स्त्रीणां अश्रूणि पतन्तीति भावः ॥ ९ ॥

टिप्पणी इस श्लोक में रूपक अलङ्कार तथा उपगीति छन्द है ।

छन्द का लक्षण —

आर्यापरार्धतुल्ये दलद्वये प्राहुरुपगीतिम् ॥ ९ ॥

वध्ये नीयमाने इति—

अन्वयः—वध्ये, नीयमाने, रुदतः, सर्वस्य, जनस्य, नयनसलिलैः, सिक्तः; रेणुः,

चारुदत्तः— (निरूप्य, सकरुणम्)

एताः पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो मां वातायनार्धेन विनिःसृतास्याः ।
हा चारुदत्तेत्यभिभाषमाणा बाष्पं प्रणालीभिरिवोत्सृजन्ति ॥ ११ ॥

रथ्यातः, न, उन्नमति ॥ १० ॥

शब्दार्थः—वध्ये = जिसे प्राणदण्ड की आज्ञा मिल चुकी है ऐसे (चारुदत्त के), नीयमाने = ले जाये जाने पर (अर्थात् ले जाये जाने के समय), रुदतः = रोते हुए, सर्वस्य = सभी, जनस्य = लोगों की, नयनसलिलैः = आँखों के जल से (अर्थात् आँसुओं से), सिक्तः = भीगी हुई, रेणुः = धूलि, रथ्यातः = गली से, न = नहीं, उन्नमति = उड़ रही है ॥

अर्थः—और भी —

वध्य (चारुदत्त) को वध-स्थान पर ले जाये जाने के समय (चारुदत्त को देख कर) रोते हुए सभी लोगों की आँसूओं से भीगी हुई धूलि गली से नहीं उड़ रही है ॥ १० ॥

टीका—वध्ये—वधम् अर्हतीति वध्यः तस्मिन् वध्ये = प्राणदण्डार्हे; चारुदत्ते इत्यर्थः; नीयमाने = प्राप्यमाणे सति; वधभूमिमिति शेषः; तं विलोक्य रुदतः = विलपतः; सर्वस्य = निखिलस्य; जनस्य = लोकस्य; नयनानाम् नेत्राणाम्, सलिलैः = जलैः, अश्रुभिः इत्यर्थः; सिक्तः = आर्द्रः, रेणुः = धूलिः; ('रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांशुर्ना न द्वयो रजः इत्यमरः); रथ्यातः = प्रतोल्याः; न उन्नमति = न उत्तिष्ठति । उज्जयिनीनिवासिनां रुदतां जनानां नयनाम्बुभिः भूमिः तथा आर्द्रा सञ्जाता यथा सत्यपि महति जनसम्मर्दे धूलिः उड्डीय न परितः प्रसरतीति भावः ॥ १० ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में अतिशयोक्ति अलङ्कार तथा आर्या छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ १० ॥

एताः पुनरिति—

अन्वयः—हर्म्यगताः, एताः, स्त्रियः, पुनः वातायनार्धेन, विनिःसृतास्याः, माम् (अभिलक्ष्य) 'हा चारुदत्त !', इति, अभिभाषमाणाः, प्रणालीभिः, इव, बाष्पम्, उत्सृजन्ति ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—हर्म्यगताः = महलों में रहने वाली, एताः = ये, स्त्रियः = स्त्रियाँ,

चाण्डालौ—आअच्छ ले चालदत्ता ! आअच्छ । इमं घोषणटठ्ाणं । आहणेध डिंडिमं, घोशेध घोशणं । [आगच्छ रे चारुदत्त ! आगच्छ । इदं घोषणस्थानम् । आहत डिण्डिमम्, घोषयत घोषणाम् ।]

पुनः = फिर, वातायनार्धेन = खिड़कियों के एक हिस्से से, विनिःसृतास्याः = मुँह निकाले हुए, माम् = मुझको, (उद्दिश्य = लक्ष्य करके), हा चारुदत्त !' = हाय चारुदत्त !, इति = ऐसा; अभिभाषमाणाः = कहती हुई, प्रणालीभिः = परनालों से, इव = मानो, बाष्पम् = आँसू, उत्सृजन्ति = बहा रही हैं ॥

अर्थः—**चारुदत्त**—(देख कर करुणापूर्वक)

महलों में रहने वाली ये स्त्रियाँ फिर खिड़कियों के एक हिस्से से मुँह निकाले हुए मुझको लक्ष्य करके 'हाय चारुदत्त' ऐसा कहती हुई मानों परनालों से ही आँसू बहा रही हैं ॥ ११ ॥

टीका—हर्म्यगताः = प्रासादस्थिताः; वस्तुतः धनिनां वासः 'हर्म्यम्' कथ्यते, देवभूभुजां प्रासादः उच्यते ('हर्म्यादि 'धनिनां वासः प्रासादो देवभूभुजाम्' इत्यमरः ; हरति मनो हर्म्यमिति व्युत्पत्तिः; एतेन तदानीमुज्जयिन्याः समृद्धिः सूच्यते; एताः = परिदृश्यमानाः; स्त्रियः = वनिताः; पुनः = मुहुः; वस्तुत. अत्र पुनरितिपदं व्यर्थ पादपूर्तिमात्रप्रयोजनं वा । तदभावेऽपि न मनागपि भावहानिः । वातायनार्धेन वातस्य = वायो अयनम् = गमनम् येन तत् वातायनम् = गवाक्षः ('वातायनं गवाक्षः' इत्यमरः) तस्य अर्द्धेन = एकांशेनः गवाक्षस्य एकभागेन इत्यर्थः; विनिःसृतानि = विनिर्गतानि आस्यानि = आननानि यासां ताः, तथाभूताः सत्यः; माम् = वधाय नीयमानं चारुदत्त-मित्यर्थः; अभिलक्ष्येति शेषः; 'हा' = खेदेऽव्ययपदम्; चारुदत्त ! इति = इत्थम्; अभिभाषमाणाः = कथयन्त्यः; प्रणालीभिः = जलनिःसरणमार्गैः ('प्रणाली पयसः पदव्याम्' इत्यमरः); इव; बाष्पम् = अश्रु; उत्सृजन्ति = प्रवाहयन्ति । मदीयां एतादृशीं दुर्दशां विलोक्य हर्म्यगवाक्षस्थिताः स्त्रियः शोकेन विलपन्त्यः तथा अश्रु मुञ्चन्ति यथा जलप्रणाल्यः जलं प्रवाहयन्तीति भावः ॥ ११ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार एवं इन्द्रवज्रा छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

जतौ तु वंशस्यमुदीरितं जरौ ।
तच्चेन्द्रवज्रा प्रथमाक्षरे गुरौ ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—नप्ता = पौत्र (लड़के का लड़का) । सलोप्त्रः = चोरी के धन के

उभौ--शुणाध अज्जा ! शुणाध । एशे शत्थवाहविणअदत्तश्श णत्तिके शाअलदत्तश्श पुत्तके अज्जचालुदत्ते णाम । एदिणा किल अकज्जकालिणा गणिआ वशंतशेणा अत्थकल्लवत्तश्श कालणादो शुण्णं पुप्फकलंडअजिण्णुज्जाणं पवेशिअ बाहुपाशबलक्कालेण मालिदे त्ति, एशे शलोत्ते गहिदे, शअं अ पडिवण्णे । तदो लण्णा पालएण अम्हे आणत्ता एदं मालेदुं । जदि अवले ईदिशं उभअलोअविलुद्धं अकज्जं कलेदि तं पि लाआ पालए एव्वं ज्जेव शाशदि । [शृणुतार्याः शृणुत । एष सार्थवाहविनयदत्तस्य नप्ता सागरदत्तस्य पुत्रक आर्यचारुदत्तो नाम । एतेन किलाकार्यकारिणा गणिका वसन्तसेनार्थकल्यवर्तस्य कारणाच्छून्यं पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं प्रवेश्य बाहुपाशबलात्कारेण मारितेति एष सलोप्त्रो गृहीतः; स्वयं च प्रतिपन्नः । ततो राज्ञा पालकेन वयमाज्ञप्तौ एतं मारयितुम् । यद्यपर ईदृशमुभयलोकविरुद्धमकार्यं करोति तमपि राजा पालक एवमेव शास्ति]

सहित, (स = सहित, लोप्त्रम् = चोरी का धन, माल), गृहीतः = पकड़ा गया । प्रतिपन्नः = स्वीकार कर लिया । सनिर्वेदम् = दुःख के साथ ।

अर्थः– **दोनों चाण्डाल**--आओ रे चारुदत्त ! आओ । यह घोषणा करने की जगह है । ढोल पीटो । घोषणा करो ।

दोनों चाण्डाल—सुनिये महानुभावो ! सुनिये, यह व्यापारी विनयदत्त का नाती (पौत्र), सागरदत्त का बेटा आर्य चारुदत्त है ।

कुकृत्य करने वाले इसी (आदमी) ने, कलेवा जैसे तुच्छ धन के लिये, वेश्या वसन्तसेना को पुष्पकरण्डक नामक पुराने बगीचे में ले जाकर अपने हाथ के फन्दे से जबरदस्ती (गला दबाकर) मार डाला । यह चोरी के धन सहित पकड़ा गया और स्वयं भी स्वीकार कर लिया । उसके बाद राजा पालक ने इसे मारने के लिये हम लोगों को आज्ञा दी है । यदि कोई दूसरा भी दोनों लोकों (इस लोक और स्वर्ग लोक) के विरुद्ध इस प्रकार के कार्य को करेगा, तो उसे भी राजा पालक इसी प्रकार दण्ड देंगे ।

टीका—नप्ता = पौत्रः । लोप्त्रेण = अपहृतेन धनेन सहितः सलोप्त्रः = सापहृतधनः, प्रकृते सालङ्कारः इत्यर्थः; ('चौर्यिका स्तैन्यचौर्ये च स्तेयं लोप्त्रं तु तद्धनम् इत्यमरः), गृहीतः = धृतः । प्रतिपन्नः = स्वीकृतवान्, वसन्तसेना मयैव हतेति स्वीकृतवानित्यर्थः । निर्वेदेन = खेदेन सहितं सनिर्वेदम् = सदुःखमिति भावः ॥

टिप्पणी—लोप्त्रम् = चोरी का धन, चुराया गया माल, √लुप् (चुराना) + ष्ट्रन् (त्र) । प्रतिपन्नः = सहमत, स्वीकार किया, प्रति +√ पद् + क्त ॥

चारुदत्तः—(सनिर्वेदं स्वगतम्)

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं मे
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात् ।
मम मरणदशायां वर्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ॥ १२॥

मखशतपरिपूतमिति—

अन्वयः—पुरस्तात्, मखशतपरिपूतम्, (यत्), मे, गोत्रम्, सदसि, निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः, उद्भासितम्, (आसीत्), मरणदशायाम्, वर्तमानस्य, मम, तत्, पापैः, असदृशमनुष्यैः, घोषणायाम्, घुष्यते. ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—पुरस्तात् = पहले, मखशतपरिपूतम् = सैकड़ों यज्ञों से पवित्र, (यत् = जो), मे = मेरा, गोत्रम् = कुल, सदसि = सभा में (अर्थात् यज्ञ-सभा में) निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः = भरे हुए पूजा आदि के स्थानों में वेद-पाठों से, उद्भासितम् = उज्ज्वल, (आसीत् = था); मरणदशायाम् = मरने की हालत में, वर्तमानस्य = विद्यमान, मम = मेरा, तत् = वही कुल, पापैः = पापी, असदृशमनुष्यैः = अयोग्य जनों के द्वारा, घोषणायाम् = घोषणा में अथवा घोषणा के स्थान में, घुष्यते = घोषित किया जा रहा है ॥

अर्थः—**चारुदत्त**—(दुःख के साथ, अपने आप)

पहले, सैकड़ों यज्ञों से पवित्र जो मेरा कुल यज्ञ-सभा में तथा (निमन्त्रित व्यक्तियों से) भरे हुए पूजा आदि के स्थानों में वेद-पाठों से उज्ज्वल (प्रकाशित) रहा करता था। (वही मेरा कुल) मरने की हालत में मेरे विद्यमान होने पर इन पापी तथा अयोग्य जनों (चाण्डालों) के द्वारा घोषणा के स्थान पर (बुरे काम के साथ) घोषित किया जा रहा है ॥ १२ ॥

टीका—पुरस्तात् = पूर्वम्; मम समृद्धिदशायामित्यर्थः; मखानाम् = यज्ञानाम् ('यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः' इत्यमरः) शतैः = समूहैः इत्यर्थः । परिपूतम् = परमपवित्रम्; यत् मे = मम चारुदत्तस्य; गोत्रम् = कुलम्, ('सन्ततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ । वंशोऽन्ववायः सन्तानः' इत्यमरः); सदसि = समितौ, यज्ञमण्डपे इत्यर्थः; निबिडचैत्यब्रह्मघोषैरिति—निबिडानि = जनसङ्कुलानि यानि चैत्यानि = यज्ञस्थानानि तेषु ब्रह्मणाम् = वेदानाम् 'वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म' इत्यमरः घोषैः = उच्चारणैः पाठैः इति यावत्; उद्भासितम् = प्रकाशितम्; आसीदिति शेषः; मरणस्य = मृत्योः दशायाम् = अवस्थायाम् मरणकाले इत्यर्थः; वर्तमानस्य = स्थितस्य; मम = पवित्रान्वयस्य चारुदत्तस्य;

(उद्वीक्ष्य, कर्णौ पिधाय) हा प्रिये वसन्तसेने !

शशिविमलमयूखशुभ्रदन्ति ! सुरुचिरविद्रुमसन्निभाधरोष्ठि ! ।
तव वदनभवामृतं निपीय कथमवशो ह्ययशोविषं पिबामि ? ॥ १३ ॥

तत् = तदेवातिपवित्रं कुलम्; पापैः = पापशीलैः; असदृशैः = अयोग्यैः, नीचैः इति यावत् मनुष्यैः जनैश्चाण्डालादिभिः; घोषणायाम् = घोषणास्थले; घुष्यते = उच्चैः कीर्त्यते। अतिपुनीतकार्येषु कीर्तितं मम कुलमद्य मम विनाशकाले चाण्डालैः गर्हिते कार्ये घुष्यते इत्ययं महाननर्थः इति भावः ॥ १२ ॥

टिप्पणी - चैत्यम्—यज्ञ का स्थान, चित्या = अग्नि, √चि + क्यप्। चित्यायाः इदं चैत्यम् चित्या + अण् ॥

ब्रह्मघोषणा एवं हत्याघोषणा रूप दो विपरीत बातों का एक स्थान पर वर्णन करने के कारण इस श्लोक में विषमालङ्कार है। इसमे प्रयुक्त छन्द का नाम है—मालिनी।

छन्द का लक्षण—

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ॥ १२ ॥

शशिविमलेति—

अन्वय—हे शशिविमलमयूखशुभ्रदन्ति ! हे सुरुचिरविद्रुमसन्निभाधरोष्ठि ! तव, वदनभवामृतम्, निपीय, (अधुना), अवशः, (अहम्), अयशोविषम्, कथम् पिबामि ? ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—हे शशिविमलमयूखशुभ्रदन्ति ! = हे चन्द्रमा की निर्मल किरणों के समान सफेद दाँतों वाली !, हे सुरुचिरविद्रुमसन्निभाधरोष्ठि ! हे अत्यन्त सुन्दर मूँगे के समान अधरोष्ठ वाली !, तव = तुम्हारे, वदनभवामृतम् = मुख से उत्पन्न अमृत को, निपीय = पीकर, (अधुना = अब), अवशः = परवश हुआ, (अहम् = मैं) अयशोविषम् = अपकीर्तिरूपी विष को, कथम् = कैसे, पिबामि = पी रहा हूँ ॥

अर्थः (ऊपर की ओर देख कर तथा कानों को ढँक कर) हाय प्रिये, वसन्तसेने !

हे चन्द्रमा की निर्मल किरणों के समान सफेद दाँतों वाली तथा अत्यन्त सुन्दर मूँगे के समान अधरोष्ठ वाली वसन्तसेना ! तुम्हारे मुख से उत्पन्न अमृत को पीकर (अर्थात् अमृत तुल्य तुम्हारी वाणी सुनकर) अब परवश हुआ मैं अपकीर्ति रूपी विष कैसे पी रहा हूँ ? अर्थात् यह सुन कर मुझे मर जाना चाहिए था) ॥ १३ ॥

टीका—शशिविमलेति - शशिनः = चन्द्रमसः विमलाः = निर्मलाः, उज्ज्वलाः इत्यर्थः, ये मयूखाः = किरणाः, ते इव शुभ्राः = धवलाः दन्ताः = दशनाः यस्याः

उभौ--ओशलध अज्जा ! ओशलध ।

एशे गुणलअणणिही शज्जणदुक्खाण उत्तलणशेदू ।
अशुवण्णं मंडणअं अवणीअदि अज्ज णअलीदो ।। १४ ।।

अण्णं च,--

शव्वे खु होइ लोए लोए शुहशंठिदाण तत्तिल्लः ।
विणिवडिदाणं णलाणं पिअकाली दुल्लहो होदि ।। १५ ।।

[अपसरतार्याः ! अपसरत ।

एष गुणरत्ननिधिः सज्जनदुःखानामुत्तरणसेतुः ।
असुवर्णं मण्डनकमपनीयतेऽद्य नगरीतः ।।

तत्सम्बुद्धौ; अतिनिर्मलदशने ! इत्यर्थः; सुरुचिरेति ।सुरुचिरः = अतिमनोहरः विद्रुमः = प्रवालः ('विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः) तत्सन्निभः = तत्सदृशः अधरोष्ठः--अधरेण सहितः ओष्ठः = उत्तरोष्ठः इति अधरोष्टः शाकपार्थिवादित्वादुत्तर-पदलोपिसमासः) अथवा अधरश्च = निम्नोष्ठश्च ओष्ठश्च = उत्तरोष्ठश्चेति अधरोष्ठम्, अथवा अधरश्चासौ ओष्ठश्च अधरोष्ठः यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ; तव = भवत्याः, वसन्त-सेनायाः; वदनभवामृतम् = मुखोत्पन्नामृतम्, वचनमित्यर्थः; निपीय = नितरां पीत्वा, श्रुत्वा इत्यर्थः; अधुना; अवशः = परवशः अहमिति शेषः; अयशः = अपकीर्तिः एव विषम् = गरलम्, वसन्तसेना अनेन हतेति दुष्कीर्तिरूपं गरलमित्यर्थः; कथम् = केन प्रकारेण; पिबामि = पानं करोमि ! श्रृणोमीत्यर्थः ।। १३ ।।

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा, रूपक एवं विषम अलङ्कार तथा पुष्पिताग्रा छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

अयुजि न युगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ।। १३ ।।

एष गुणरत्ननिधिः इति—

अन्वयः—गुणरत्ननिधिः, सज्जनदुःखानाम्, उत्तरणसेतुः, असुवर्णम्, मण्डनकम्, एषः, (चारुदत्तः), अद्य, नगरीतः, अपनीयते ।। १४ ।।

शब्दार्थः—गुणरत्ननिधिः = गुणरूपी रत्नों का खजाना, सज्जनदुःखानाम् =

अर्थः दोनों चाण्डाल—हटो, आर्यजनों ! हटो -

(दया, क्षमा, आदि) गुण रूपी रत्नों का खजाना, सज्जनों के (समुद्र रूप) दुःख में पार करने के लिये पुल के समान (अर्थात् दुःख में सज्जनों का सहायक), विना सोने का आभूषण यह चारुदत्त आज (इस) नगरी से दूर किया जा रहा है ।। १४ ।।

अन्यच्च—

सर्वः खलु भवति लोके लोकः सुखसंस्थितानां चिन्तायुक्तः ।
विनिपतितानां नराणां प्रियकारी दुर्लभो भवति ॥]

शब्दार्थः—सज्जनों के दुःखों का, उत्तरणसेतुः = पार करने के लिये पुल; असुवर्णम् = विना सोने का, मण्डनकम् = आभूषण, एषः = यह, (चारुत्त=चारुदत्त), अद्य = आज, नगरीतः = नगरी से, अपनीयते = दूर किया जा रहा है ॥

टीका—गुणाः = दयादाक्षिण्यादयः गुणाः एव रत्नानि = मणयः ('रत्नं मणिः' इत्यमरः) तेषां निधिः = आकरः सागरः इत्यर्थः; सज्जनानाम् = साधूनाम् । दुःखानि = कष्टानि तेषाम्; उत्तरणे = पारं गमने, अतिक्रमणे इति यावत्; सेतुः = आलिः ('सेतुरालौ' इत्यमरः) 'पुल' इति भाषायाम्; सज्जनदुःखविमोचक इति समुदितार्थः; यथा सेतुसहायेन जनाः जलमकरादिपूर्णां नदीं सुखेन तरन्ति तथैव विपत्तौ आपतिताः जनाः धनादिनोपकुर्वतः अस्यावलम्बनं प्राप्य ससुखं ततः समुत्तीर्णाः भवन्तीति निर्गलितार्थः । असुवर्णम्—नास्ति सुवर्णं यस्मिन् तत् असुवर्णम् = असुवर्णनिर्मितम्; मण्डनकम्; = आभूषणम्; अस्याः नगर्याः मण्डनभूतः इत्यर्थः; एषः = अस्माभिर्नीयमानः; चारुदत्तः, अद्य = अस्मिन् दिने, सम्प्रति; नगरीतः=उज्जयिनीनगर्य्याः; अपनीयते = अपसार्य्यते । यथा भूषणवती काचित् स्त्री भूषणानामपहरणे विधवेव प्रतिभाति तथैवेयं नगरी अपि भवितुं यातीति तत्त्वार्थः ॥ १४ ॥

टिप्पणी—अपनीयते = दूर किया जा रहा है, हटाया जा रहा है, अप = √नी + (कर्मवाच्य) लट् ॥

इस श्लोक में रूपक अलङ्कार एवं आर्य्या छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽर्य्या ॥ १४ ॥

सर्वः खलु इति—

अन्वयः लोके, सर्वः, लोकः, खलु, सुखसंस्थितानाम्, चिन्तायुक्तः, भवति; (किन्तु), विनिपतितानाम्, नराणाम्, प्रियकारी, दुर्लभः, भवति ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—लोके = संसार में, सर्वः = सब, लोकः = व्यक्ति, खलु = निश्चय ही, सुखसंस्थितानाम् = सुखी व्यक्तियों का, चिन्तायुक्तः = शुभ-चिन्तक, भवति = होता है । (किन्तु = परन्तु), विनिपतितानाम् = आपत्ति में पड़े हुए, नराणाम् = मनुष्यों

चारुदत्तः—(सर्वतोऽवलोक्य)

अमी हि वस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्राः प्रयान्ति मे दूरतरं वयस्याः ।
परोऽपि बन्धुः सुखसंस्थितस्य मित्रं न कश्चिद्विषमस्थितस्य ॥ १६ ॥

का, प्रियकारी = हित करने वाला, दुर्लभः = दुर्लभ, भवति = होता है ॥

अर्थः—और भी—

इस संसार में सभी आदमी सुखी व्यक्तियों के ही शुभ-चिन्तक होते हैं । (किन्तु) आपत्ति में पड़े हुए मनुष्यों का हित करने वाला दुर्लभ होता है ॥ १५ ॥

चारुदत्त—(सभी ओर देख कर)

ये मेरे मित्र कपड़े के आँचल से अपने मुँह को ढँके हुए दूर दूर जा रहे हैं । (सच है कि) सुख की हालत में वर्तमान व्यक्ति का पराया (अपरिचित) भी अपना बन जाता है; किन्तु विपत्ति में पड़े हुए व्यक्ति का कोई मित्र नहीं होता ॥ १६ ॥

टीका—लोके = संसारे; सर्वः = निखिलः; लोकः = जनः; खलु = अवश्यमेव; सुखे = आनन्दे संस्थितानाम् = वर्तमानानाम्; सुखिनां जनानामित्यर्थः; चिन्तायुक्तः = शुभचिन्तकः, प्रियकर्ता इति यावत्; भवति = अस्ति; किन्तु विनिपतितानाम् = विपत्तौ वर्तमानानाम्; नराणाम् = जनानाम्; प्रियकारी = हितसाधक ; दुर्लभः = दुःखेन लब्धुं योग्यः; भवति = जायते, वर्तते इत्यर्थः । सम्पत्तौ सर्वे अनुयायिनः भवन्ति, परञ्चापत्तौ केचन एवेति भावः ॥ १५ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार तथा आर्या छन्द है ।

छन्द का लक्षण पीछे श्लोक १४ की टिप्पणी में दिया जा चुका है ॥ १५ ॥

अमी हीति—

अन्वयः—अमी, मे, वयस्याः, वस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्राः, हि, दूरतरम्, प्रयान्ति; (सत्यम्), सुखसंस्थितस्य, परः, अपि, बन्धुः, (भवति, किन्तु), विषमस्थितस्य, कश्चित्, मित्रम्, न, (भवति) ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—अमी = ये, मे = मेरे, वयस्याः = मित्र, वस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्राः = कपड़े के आँचल से मुँह को ढके हुए, हि = निश्चित ही, दूरतरम् = दूर-दूर, प्रयान्ति = जा रहे हैं । (सत्यम् = सच है), सुखसंस्थितस्य = सुख की हालत में वर्तमान व्यक्ति का, परः = पराया, अपि = भी, बन्धुः = अपना, भाई, (भवति = होता है, किन्तु = परन्तु), विषमस्थितस्य = विपत्ति में पड़े हुए का, कश्चित् = कोई, मित्रम् = मित्र, न = नहीं, भवति = होता है ॥

चाण्डालौ—ओशालणं किदं । विवित्तं लाअमग्गं । ता आणेध एदं दिण्णवज्झचिण्हं । [अपसारणं कृतम्, विविक्तो राजमार्गः; तदानयतैनं दत्तवध्यचिह्नम् ।]

(चारुदत्तो निःश्वस्य, 'मैत्रेय ! भोः किमिदमद्य' [९।२९] इत्यादि पठति ।)

(नेपथ्ये)

अर्थः—दोनों चाण्डाल—(लोगों को) हटा दिया गया । सड़क खाली है । इसलिए शूली पर चढ़ाये जाने वाले के चिह्न को धारण करने वाले इस (चारुदत्त) को ले आओ ।

(चारुदत्त लम्बी साँस लेकर, 'मैत्रेय ! भोः किमिदमद्य' (९ । २९) इत्यादि पढ़ता है)

(पर्दे में)

टीका—अमी = किञ्चिद्दूरे परिदृश्यमानाः; मे = मम, चारुदत्तस्य; वयस्याः = मित्राणि; ('वयस्यः स्निग्धः सवयाऽथ मित्रं सखा सुहृत्' इत्यमरः); वस्त्रान्तेति—वस्त्रान्तेन = पटाञ्चलेन निरुद्धानि = आच्छादितानि, परिचयाभावायेति शेषः, वक्त्राणि= आननानि यैः ते, तादृशाः सन्तः; हि = निश्चितम्; दूरतरम् = अतिदूरम्; प्रयान्ति = गच्छन्ति । सति साक्षात्कारे पूर्वकालस्योपकर्ता चारुदत्तः कदाचित् साहाय्यं प्रार्थयेदित्याशङ्क्य मित्राणि दूरं प्रयान्तीति भावः । सत्यम्; सुखे = आनन्दे, सम्पत्तावित्यर्थः, स्थितस्य = वर्तमानस्य; जनस्येति शेषः; परः = अन्यः, अपरिचितः; अपि; बन्धुः = स्वजनः, उपकर्तेति भावः; भवति; किन्तु विषमे = विपत्तौ, स्थितस्य = गतस्य; कश्चित् = स्वजनः अपीत्यर्थः; मित्रम् = सुहृत्; न = नहि; भवति = सम्पद्यते इदानीं दुःखे गतस्य मम न कश्चित् सहायकः दृश्यते इति भावः ॥ १६ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार तथा उपजाति छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

(स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः । उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ॥)
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥ १६ ॥

शब्दार्थः–विविक्तः = खाली । दत्तवध्यचिह्नम् = पहनाया गया है फाँसी वाले (वध्य) का चिह्न जिस को ऐसे, एनम् = इसको (चारुदत्त को) । स्वजातिमहत्तर ! = अपनी जाति के महतो (मुखिया) ! प्रतिग्रहम् = अनुग्रह को (दान को) । अपरीक्ष्यकारी = विना बिचारे काम करने वाला । परलोकार्थम् = परलोक के लिये । अभ्यर्थये = प्रार्थना कर रहा हूँ ॥

हा ताद ! हा पिअवअस्स ! [हा तात ! हा प्रियवयस्य !]

चारुदत्तः—(आकर्ण्य, सकरुणम्) भोः स्वजातिमहत्तर ! इच्छाम्यहं भवतः सकाशात्प्रतिग्रहं कर्तुम् ।

चाण्डालौ—किं अम्हाणं हत्थादो पडिग्गहं कलेशि ? । [किमस्माकं हस्तात्प्रतिग्रहं करोषि ? ।]

चारुदत्तः—शान्तं पापम्; नापरीक्ष्यकारी दुराचारः पालक इव चाण्डालः । तत्परलोकार्थं पुत्रमुखं द्रष्टुमभ्यर्थये ।

चाण्डालौ—एव्वं कलीअदु । [एवं क्रियताम् ।]

(नेपथ्ये)

हा ताद ! हा आवुक [हा तात ! हा पितः !]

हाय पिता जी ! हाय प्रिय मित्र !

चारुदत्त—(सुनकर, करुणा पूर्वक) हे अपनी जाति के महतो (मुखिया) ! मैं आपसे (कुछ) अनुग्रह (दान) लेना चाहता हूँ ।

दोनों चाण्डाल—क्या हमारे हाथ से दान लोगे ?

चारुदत्त—पाप शान्त हो । (राजा) पालक के समान चाण्डाल (भी) बिना विचारे काम करने वाला तथा दुराचारी नहीं है । तो मैं परलोक (में शान्ति) के लिए पुत्र के मुँह को देखने की प्रार्थना कर रहा हूँ ।

दोनों चाण्डाल—ऐसा कर लीजिये ।

(पर्दे में)

हाय तात ! हाय पिता !

टीका—विविक्तः = विजनः ('विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमरः) । दत्तानि = अर्पितानि, परिधापितानीत्यर्थः, वध्यस्य = दत्तप्राणदण्डस्य, चिह्नानि = लक्ष्माणि, करवीरमाल्यादीनि, यस्य तम्; एनम् = अस्माभिः नीयमानं चारुदत्तम् । स्वजात्याम् = चाण्डालवर्गे महत्तरः = अतिमहान् तत्सम्बोधने, कार्यं साधयितुं प्रशंसति । प्रतिग्रहम् = अनुग्रहं दानं वा । अपरीक्ष्यकारी = अविमृष्यकारी सम्यग् विवेकं न कृत्वैव कस्यचित्कार्यस्य कर्ता इत्यर्थः; परलोकार्थम् = परलोके सुखमनुभवितुं शुभगत्यर्थं वा । उक्तञ्च भगवता मनुना—

पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥ मनु० ९।१३८ ॥

(चारुदत्तः श्रुत्वा, सकरुणम्, 'भोः ! स्वजातिमहत्तर' [पृष्ठे] इत्यादि पठति)

चाण्डालौ—अले पउला ! खणं अंतलं देघ। एशे अज्जचालुदत्ते पुत्तमुहं पेक्खदु। (नेपथ्याभिमुखम्) अज्ज ! इदो इदो। आअच्छ ले दालआ ! आअच्छ। [हे पौराः ! क्षणमन्तरं दत्त। एष आर्यचारुदत्तः पुत्रमुखं पश्यतु। आर्य ! इत इतः। आगच्छ रे दारक ! आगच्छ।]

(ततः प्रविशति दारकमादाय विदूषकः)

विदूषकः—तुवरदु तुवरदु भद्दमुहो। पिदा दे मारिदुं णोअदि। [त्वरतां त्वरतां भद्रमुखः। पिता ते मारयितुं नीयते।]

दारकः—हा ताद ! हा आवुक !। [हा तात ! हा पितः !।]

विदूषकः—हा पिअवअस्स ! कहिं मए तुमं पेक्खिदव्वो ?। [हा प्रियवयस्य ! कुत्र मया त्वं द्रष्टव्यः ?।]

चारुदत्तः—(पुत्रं मित्रं च वीक्ष्य) हा पुत्र ! हा मैत्रेय !। (सकरुणम्) भोः, कष्टम्।

अभ्यर्थये = प्रार्थनां करोमि ॥

शब्दार्थः—हे पौराः = हे नगर के निवासियो !, क्षणम् = एक क्षण के लिए, अन्तरम् = अवकाश को (थोड़े से मार्ग को)। दारकम् = बालक को। भद्रमुखः = भले मुँह वाले ॥

(चारुदत्त सुन कर, करुणा के साथ, 'भोः ! स्वजातिमहत्तर' इत्यादि पढ़ता है)

दोनों चाण्डाल—हे नगर के निवासियो ! एक क्षण के लिए थोड़ा मार्ग (अवकाश) दे दो। यह आर्य चारुदत्त पुत्र का मुँह देख ले। (पर्दे की ओर देख कर) आर्य ! इधर, इधर। आओ रे बालक आओ।

(इसके बाद बच्चे को लेकर विदूषक प्रवेश करता है)

विदूषक—भले मुँह वाले (बच्चे) ! जल्दी करो, जल्दी करो। तुम्हारे पिताजी मारने के लिए ले जाये जा रहे हैं।

दारक (बच्चा)—हाय तात ! हाय पिता जी !

विदूषक—हाय प्रिय मित्र ! अब कहाँ तुम मेरे द्वारा देखे जाओगे ?

चारुदत्त—(पुत्र और मित्र को देख कर) हाय पुत्र ! हाय मैत्रेय ! (करुणा के साथ) अरे कष्ट है

टीका—हे पौराः ! = नगरनिवासिनः !; क्षणम् = स्वल्पकालम्; अन्तरम् = अव-

चिरं खलु भविष्यामि परलोके पिपासितः।
अत्यल्पमिदमस्माकं निवापोदकभोजनम् ॥ १७ ॥

किं पुत्राय प्रयच्छामि ? । (आत्मानमवलोक्य यज्ञोपवीतं दृष्ट्वा) आं, इदं तावदस्ति मम च

काशम्, आगमनमार्गमित्यर्थः । दारकम् = बालकम् ('दारकौ बालभेदकौ' इत्यमरः) । भद्रम् = शुभकरं शोभनं वा मुखम् = आननम् यस्य तादृशः ॥

चिरं खलु इति—

अन्वयः—(अहम्), परलोके, खलु, चिरम्, पिपासितः, भविष्यामि; (यतः), अस्माकम्, निवापोदकभोजनम्, इदम् अत्यल्पम्, (अस्ति) ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—(अहम् = मैं), परलोके = परलोक में, खलु = अवश्य ही, चिरम् = बहुत दिनों तक, पिपासितः = प्यासा, भविष्यामि = होऊँगा, रहूँगा । यतः = क्योंकि), अस्माकम् = हम लोगों के, निवापोदकभोजनम् = पितृतर्पण के जल रूपी भोजन का दाता, इदम् = यह बालक (अपत्य), अत्यल्पम् = बहुत छोटा, (अस्ति = है) ॥

अर्थः—मैं परलोक में बहुत दिनों तक प्यासा ही रहूँगा (क्योंकि) हम लोगों के पितृतर्पण के जल रूपी भोजन का दाता यह बालक (अपत्य) बहुत छोटा है ॥ १७ ॥

टीका—अहम्; परलोके = अन्यस्मिन् स्वर्गादौ लोके; खलु = निश्चितम्; चिरम् = बहुकालपर्यन्तम्; पिपासितः = पिपासाकुलः; भविष्यामि । तर्पणाभावात् चिरमहं परलोके पिपासया पीडितः भविष्यामीत्यर्थः । ननु पुत्रहीनः पिपासितः भवति परलोके, तव तु पुत्रः अस्त्येवेत्याशङ्कायामाह—यतः अस्माकम् = मम मम वंशीयानाम् च; निवापस्य = पितृतर्पणस्य ('पितृदानं निवापः स्यात्' इत्यमरः) उदकम् = सलिलम् तस्य भोजनम् = पानं यस्मात् तत्; मम पितॄणाञ्च जलदातृ इत्यर्थः; इदम् = एतदपत्यम्; अत्यल्पम्; = स्वल्पम्, निवापाञ्जलिदातुमयोग्यम्; अस्ति । यावत्कालमेतदपत्यं जलं दातुं न समर्थः भवति तावत्कालं वयं परत्र पिपासार्दिताः भविष्यामः इति भावः ॥ १७ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में पहले के आधे वाक्य के प्रति बाद का आधा वाक्य कारण के रूप में कहा गया है । अतः इसमें काव्यलिङ्ग अलङ्कार है । इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—पथ्यावक्त्र ।

छन्द का लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ १७ ॥

अमौक्तिकमसौवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम् ।
देवतानां पितॄणां च भागो येन प्रदीयते ॥ १८ ॥

(इति यज्ञोपवीतं ददाति)

चाण्डालः—आअच्छ ले चालुदत्ता ! आअच्छ । [आगच्छ रे चारुदत्त ! आगच्छ ।]

द्वितीयः—अले ! अज्जचालुदत्तं णिलुववदेण णामेण आलवेशि । अले ! पेक्ख

अमौक्तिकमिति—

अन्वयः—(इदम्, यज्ञोपवीतम्), ब्राह्मणानाम्, अमौक्तिकम, असौवर्णम् विभूषणम्, (अस्ति ; येन, देवतानाम्, पितॄणाम्, च, भागः, प्रदीयते ॥ १८ ॥

शब्दार्थः–(इदम् = यह, यज्ञोपवीतम् = जनेऊ), ब्राह्मणानाम् = ब्राह्मणों का, अमौक्तिकम् = मोती का न बना हुआ, असौवर्णम् सोने का न बना हुआ, विभूषणम् = आभूषण, (अस्ति = है) । येन = जिससे (जिस जनेऊ मे), देवातानाम् = देवताओं का, पितॄणाम् = पितरों का, भागः = भाग, प्रदीयते = दिया जाता है ॥

अर्थः पुत्र को क्या दूँ ? (अपने आप को देख कर । जनेऊ देख कर) अच्छा, यह तो मेरे पास है ही ।

(यह जनेऊ) ब्राह्मणों का आभूषण है, जिसमे देवताओं तथा पितरों का भाग दिया जाता है ॥ १८ ॥

(ऐसा कह कर जनेऊ देता है)

चाण्डाल—आओ रे चारुदत्त ! आओ ।

टीका—इदं यज्ञोपवीतम्; गद्यवाक्यादध्याहार्यमेतत् पदद्वयम्; ब्राह्मणानाम् = द्विजोत्तमानाम्; अमौक्तिकम् = मुक्ताभिः न निर्मितम्; असौवर्णम् = न सुवर्णघटितम्; विभूषणम् = आभूषणम्; अस्ति; येन = यज्ञोपवीतेनेत्यर्थ ; देवतानाम् = देवानाम्; पितॄणाम् = अग्निष्वात्तादीनाञ्च; भागः = अंश , देवबलिः पितृपिण्डादिकञ्च; प्रदीयते = समर्प्यते । उपनयनानन्तरमेव द्विजानां दैवे पैत्रे च कार्ये अधिकार विहितः नान्यथेति । अतः विप्रस्य कृते अतोऽधिकं न प्रियतरं किमपि बहुमूल्यं विभूषणमिति भावः ॥ १८ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में रूपक अलङ्कार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—निरुपपदेन = उपाधि या विशेषण से रहित, नाम्ना = नाम से, आलपसि ? = पुकारते हो ? ॥

अब्भुदए अवशाणे तहे अ लत्तिदिवं अहदमग्गा ।
उद्दामे व्व किशोली णिअदी खु पडिच्छिदुं जादि ॥ १९ ॥

अण्णं च,—

शुक्खा वि वदेशा शे किं विणमिअमत्थएण काअव्वं ।
लाहुगहिदे वि चंदे ण वंदणीए जणपदश्श ॥ २० ॥

[अरे, आर्यचारुदत्तं निरुपपदेन नाम्नालपसि ? । अरे, पश्य

अभ्युदयेऽवसाने तथैव रात्रिंदिवमहतमार्गा ।
उद्दामेव किशोरी नियतिः खलु प्रत्येषितुं याति ॥

टीका निरुपपदेन नास्ति उपपदम् आर्येत्यादिविशेषणम् यस्मिन् तादृशेन; विशेषणशून्येनेत्यर्थः; नाम्ना = संज्ञया; आलपसि = वदसि ? आह्वानं करोषि ? इत्यर्थः ॥

अभ्युदये इति –

अन्वयः – अभ्युदये, अवसाने, तथैव, रात्रिन्दिवम्, अहतमार्गा, नियतिः, उद्दामा, किशोरी, इव, खलु, प्रत्येषितुम्, याति ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—अभ्युदये = उन्नति की अवस्था में, अवसाने = गिरी हालत में, तथैव = उसी तरह, रात्रिन्दिवम् = रात-दिन, अहतमार्गा = बेरोक-टोक चलने वाली, नियति = नियति (भाग्य), उद्दामा = स्वच्छन्द, किशोरी = चढ़ती हुई जवानी वाली (के), इव = समान, खलु = निश्चय ही, प्रत्येषितुम् = पुरुष को स्वीकार करने के लिये, याति = जाती है ॥

अर्थः—दूसरा चाण्डाल—अरे आर्य चारुदत्त को ('आर्य' आदि) उपाधि से रहित नाम से पुकारते हो ? । अरे, देखो—

उन्नति की अवस्था में तथा गिरी हालत में एवं रात में और दिन में बेरोकटोक चलने वाली (अप्रतिहत गति वाली) नियति (भाग्य) स्वच्छन्द, चढ़ती हुई जवानी वाली स्त्री के समान पुरुष को स्वीकार करने के लिये जाती है । (अर्थात् नियति कब किसके ऊपर कैसी हालत ला देगी, नहीं कहा जा सकता) ॥ १६ ॥

टीका—अभ्युदये = उन्नतौ, सम्पन्नावस्थायामित्यर्थः; अवसाने = अभ्युदयावसाने इत्यर्थः; तथैव = तेनैव प्रकारेण; रात्रिन्दिवम् = अहोरात्रम्; सर्वदा इत्यर्थः; अहतः = अप्रतिहतः, न केनापि रुद्धः, मार्गः = पन्थाः यस्याः सा, अप्रतिहतगतिरित्यर्थः; नियतिः = विधिः ('दैवं दिष्टं भागधेय भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः); उद्दामा—उद्गतम् = बहिर्भूतम् दाम = बन्धनम्, मर्यादेत्यर्थः, यस्याः सा, स्वच्छन्दगमनेति भावः; किशोरी =

अन्यच्च,—

शुष्का अपि प्रदेशा अस्य किं विनमितमस्तकेन कर्तव्यम् ।
राहुगृहीतोऽपि चन्द्रो न वन्दनीयो जनपदस्य ॥]

सद्यः प्राप्तयौवना स्त्री; इव = यथा; खलु = निश्चितम्; प्रत्येषितुम् = प्रत्येकं पुरुषं स्वीकर्तुं, पक्षे आलिङ्गितुम्; याति = व्रजति । यथा सद्यः प्राप्तयौवना स्त्री गाम्भीर्यादिगुणाभावात् मर्यादामपि विहाय यं कमपीष्टं याति, तथैव नियतिरपि यं कमपि गच्छति । अतः नियतिवशात् विपत्तिनिमग्नः चारुदत्तः नावमाननायोग्यः इति भावः ॥ १९ ॥

टिप्पणी —प्रत्येषितुम् प्रति + √इष् + तुम् ॥

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा आर्या छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ १९ ॥

शुष्का अपीति—

अन्वयः—अस्य, प्रदेशाः, अपि, शुष्काः, (अतः), विनमितमस्तकेन, किम्, कर्तव्यम् ?, (इति, न विचारणीयम्), राहुगृहीतः, अपि, चन्द्रः, जनपदस्य, न वन्दनीयः ? ॥ २० ॥

शब्दार्थः--अस्य = इसके (चारुदत्त के) प्रदेशाः = (धनः यश आदि) अङ्ग, अपि = भी, शुष्काः = सूख गये हैं । (अतः = इसलिये), विनमितमस्तकेन = झुके हुए मस्तक के द्वारा (प्रणाम करने से), किम् = क्या, कर्तव्यम्=करना है ? (इति=ऐसा, न = नहीं, विचारणीयम् = सोचना चाहिये); राहुगृहीतः = राहु के द्वारा ग्रसा गया, अपि भी, चन्द्रः = चन्द्रमा, जनपदस्य = जनपद के लिये (अर्थात् जनपद के निवासियों के लिये) न वन्दनीयः = वन्दनीय नहीं होता ? ॥

अर्थः —और भी —

इस चारुदत्त के (धन-यश आदि) अङ्ग भी सूख गये हैं । (इसलिए इसे) प्रणाम करने से क्या प्रयोजन है ? (ऐसा नहीं सोचना चाहिये) क्या राहु के द्वारा ग्रसा गया चन्द्रमा जनपद के निवासियों (अर्थात् मनुष्यों) के लिए वन्दनीय नहीं होता ? (पाठान्तर में पहली लाइन का अर्थ यह है—इस चारुदत्त के कुल-नाम आदि क्या सूख गये ? क्या इनके प्रति शिर नहीं झुकाना चाहिये ?) ॥ २० ॥

टीका अस्य = आर्यचारुदत्तस्य; प्रदेशाः = अङ्गानि, यशोनामादयः; अपि; शुष्काः =

दारकः—अरे रे चांडाला ! कहिं मे आवुकं णेध ? [अरे रे चाण्डालाः ! कुत्र मम पितरं नयत ?।]

चारुदत्तः—वत्स ! ।

अंसेन बिभ्रत्करवीरमालां स्कन्धेन शूलं हृदयेन शोकम् ।
आघातमद्याहमनुप्रयामि शामित्रमालब्धुमिवाध्वरेऽजः ॥ २१ ॥

शुष्कतां प्राप्ताः; अतः विनिमितमस्तकेन—विनमितम् = अवनतम् मस्तकम् = शिरः तेन; किम् = किं फलम् ? सम्प्रति यशोनामादिविरहितस्य चारुदत्तस्य समक्षं प्रणामेन न किमपि फलमिति भावः । इति न विचारणीयम् । कुत इत्याह राहुणा = सैंहिकेयेन ('राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः' इत्यमरः) गृहीतः = ग्रस्तः; अपि; चन्द्रः = विधुः; जनपदस्य = जनपदनिवासिनः लोकस्य इत्यर्थः; जनानां पदम् = स्थानं जनपदं तस्य । अथवा जनाः पद्यन्ते = गच्छन्ति अत्र इति जनपदः = देशः तस्य, अथवा जनपदस्य = लोकस्य, जनतायाः इत्यर्थ. ('भवेज्जनपदो जानपदोऽपि जनदेशयोः' इति मेदिनी) । न वन्दनीयः= नाभिनन्दनीयः ? अपि तु अभिनन्दनीयः एव । राहुग्रस्तः चन्द्रः यथा लोकस्य वन्दनीयः तथैव विपद्ग्रस्तः चारुदत्तः अपि । अतः अस्य अवमाननं न कर्तव्यमिति भावः । "शुष्का अपि प्रदेशा अङ्गानि । किं विनमितमस्तकेन अवनतशिरसा किं कर्तव्यम् । अस्य स्त्रीहृणस्य लज्जया नतशिरसोऽपि न कुत्सेत्यर्थः ।"—इति पृथ्वीधरः ॥ २० ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में दृष्टान्त अलङ्कार एव आर्या छन्द है ।

छन्द का लक्षण —

यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ २० ॥

अंसेन इति —

अन्वयः—अंसेन, करवीरमालाम्, स्कन्धेन, शूलम्, हृदयेन, शोकम्, बिभ्रत्, अहम्; अध्वरे, आलब्धुम्, शामित्रम्, अजः, इव; अद्य, आघातम्, अनुप्रयामि ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—अंसेन = गले से (में), करवीरमालाम् = कनेर की माला को, स्कन्धेन = कन्धे से (पर), शूलम् = शूली को, हृदयेन = हृदय से (में), शोकम् = शोक को, बिभ्रत् = धारण किये हुए, अहम् = मैं, अध्वरे = यज्ञ में, आलब्धुम् = मारने के लिये, शामित्रम् = बाँधने वाले खम्भे के पास, (ले जाये जाते हुए) अजः = बकरा (को), इव = भाँति, अद्य = आज, आघातम् = फाँसी के स्थान को, अनुप्रयामि = (चाण्डालों के) पीछे-पीछे जा रहा हूँ ।

अर्थः—दारक—अरे रे चाण्डालों ! मेरे पिता को कहाँ ले जा रहे हो ?

चाण्डालः—दालआ !

ण हु अम्हे चांडाला चांडालकुलम्मि जादपुव्वा वि।
जे अहिभवंति शाहुं ते पावा ते अ चांडाला॥२२॥

[दारक !

न खलु वयं चाण्डालाश्चाण्डालकुले जातपूर्वा अपि।
येऽभिभवन्ति साधुं ते पापास्ते च चाण्डालाः॥]

अर्थः—**चारुदत्त**—बेटा ?

गले में कनेर की माला, कन्धे पर शूली तथा हृदय में शोक धारण किये हुए मैं, यज्ञ में मारने के लिए बाँधने वाले खम्भे के पास (ले जाये जाते हुए) बकरे की भाँति, आज फांसी के स्थान पर जा रहा हूँ॥ २१॥

टीका- अंसेन = स्कन्धेन, कण्ठेनेति भावः; करवीरस्य = तदाख्यरक्तवर्णपुष्पविशेषस्य मालाम् = स्रजम्, वध्यमालामित्यर्थः; स्कन्धेन = बाहुमूलेन; शूलम् = प्राणदण्डसाधनं लौहफलकम्; प्राणदण्डार्थं नीयमानः जनः स्वस्कन्धे प्राणापहारकं शूलमपि वहति स्म; हृदयेन = अन्तःकरणेन; शोकम् = वसन्तसेनासम्बन्धिनीं कीर्तिनाशजनितां वा चिन्ताम्; बिभ्रत् = धारयन्; अहम् = चारुदत्तः; अध्वरे = यज्ञे ('यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः' इत्यमरः); आलब्धुम् = व्यापादयितुम्; शामित्रम् शमितरि = यज्ञे भवं शामित्रम् = यज्ञीयपशुबन्धनाय निखातं लघुस्तम्भं पशुघातस्थानं वा; अजः इव = छागः इव ('अजश्छागे हरे विष्णौ रघुजे वेधसि स्मरे' इति हैमः ; अद्य = सम्प्रति; आघातम् = वधस्थानम्; अनुप्रयामि = अनुव्रजामि; चाण्डालयोः अनुगमनं करोमीत्यर्थः। 'आलब्ध इवाध्वरेऽजः' इति पृथ्वीधरटीकायाम्। तत्रैव—'आलब्धोऽभिमन्त्रितः। मारितः इत्येके।' यथा अजः हन्तुं यज्ञे मालादिकं धारयन् नीयते तथैव वधस्थलं वध्यचिह्नं धारयन् अहमपि व्रजामीति भावः॥ २१॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा इन्द्रवज्रा छन्द है।

छन्द का लक्षण—

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः॥ २१॥

न खलु वयमिति—

अन्वयः—चाण्डालकुले, जातपूर्वाः, अपि, वयम्, खलु, चाण्डालाः, न; ये, साधुम्, अभिभवन्ति, ते, पापाः, ते, चाण्डालाः, च॥ २२॥

शब्दार्थः—चाण्डालकुले = चाण्डालकुल में, जातपूर्वाः = पहले पैदा हुए, अपि =

दारकः—ता कीस मारेध आवुकं ? । [तत्किमर्थं मारयत पितरम् ? ।]

चाण्डालः—दीहाओ, अत्त लाअणिओओ खु अवलज्झदि, ण हुअम्हे । [दीर्घायुः ! अत्र राजनियोगः खल्वपराध्यति, न खलु वयम् ।]

दारकः – वावादेध मं, मुंचध आवुकं । [व्यापादयत माम्, मुञ्चत पितरम् ।]

चाण्डालः—दीहाओ ! एवं भणंते चिलं मे जीव । [दीर्घायुः ! एवं भणंश्चिरं

भी, वयम् = हम लोग, खलु = वस्तुतः, चाण्डालाः = चाण्डाल, न = नहीं हैं । ये = जो लोग, साधुम् = सज्जन को, अभिभवन्ति = अपमानित, तिरस्कृत, करते हैं । ते = वे, पापाः – पापी, ते = वे, चाण्डालाः = चाण्डाल (हैं) ।

अर्थः - चाण्डाल – बालक !

चाण्डाल कुल में पैदा होकर भी हमलोग (वस्तुतः) चाण्डाल नहीं हैं । जो लोग सज्जन व्यक्ति का अपमान करते हैं, वे ही पापी और चाण्डाल हैं ॥ २२ ॥

दारक—तो पिता जी को क्यों मार रहे हो ?

चाण्डाल – चिरञ्जीवो ! इस काम में राजा की आज्ञा ही दोषी है, हमलोग नहीं।

दारक - मुझे मार डालो, (किंतु) पिता जी को छोड़ दो ।

टीका—चाण्डालकुले—चाण्डालानाम् = ब्राह्मण्यां वृषलेन जनितानाम् ('स्याच्चाण्डालस्तु जनितो ब्राह्मण्यां वृषलेन यः' इत्यमरः) कुले = वंशे; पूर्वं जाताः इति जातपूर्वाः = प्राप्तजन्मानः, अपि; वयम् = तव पितरं चारुदत्तं नीयमानाः; प्रशंसायां बहुवचनम्; खलु निश्चितम्; चाण्डालाः = वर्णाधमाः; न = न स्मः । जात्या चाण्डालाः भूत्वा अपि हृदयेन वस्तुतः आचरणेन वा वयं चाण्डालाः न; यतः—ये = ये जनाः, पालकशकारादयश्चेति ध्वनिः; साधुम् = सज्जनम्; अभिभवन्ति = तिरस्कुर्वन्ति; वस्तुतः ते = तादृशाः जनाः एवेत्यर्थः; पापाः = पापिनः; ते चाण्डालाः = हृदयेन कर्मणा चापि ते एव वस्तुतः चाण्डालपदवाच्याश्चेति । वस्तुतः साधुजनावमाननमेव चाण्डालपदवाच्यत्वे कारणम्, न च कुलं न च साधारणं कर्मेति भावः ॥ २२ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में आर्या छन्द है । लक्षण—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—तत् = तो, अर्थात् यदि तत्त्वतः चाण्डाल नहीं हो तब । अत्र = इस में, अर्थात् तुम्हारे पिताजी को मारने में, राजनियोगः = राजा की आज्ञा । सास्रम् = आँखों में आँसू भरे हुए ॥

मे जीव ।]

चारुदत्तः—(सास्रं पुत्रं कण्ठे गृहीत्वा)

इदं तत्स्नेहसर्वस्वं सममाढ्यदरिद्रयोः ।
अचन्दनमनौशीरं हृदयस्यानुलेपनम् ॥ २३ ॥

अर्थः—चाण्डाल – मेरे चिरञ्जीवी ! ऐसा कहते हुए बहुत दिन तक जिओ ।

चारुदत्त—(आंखों में आंसू भरे हुए बालक को गले लगा कर) यह (पुत्र) धनी और निर्धन दोनों के लिए एक समान स्नेह का जगत्प्रसिद्ध सर्वस्व है (अर्थात् प्राण है) यह विना चन्दन और खस के भी हृदय का (शान्तिकारक) लेप है (अर्थात् पुत्र को देखकर पिता का कलेजा ठण्डा हो जाता है) ॥ २३ ॥

टीका—तत् = यूयं यदि स्वभावतः वस्तुतः वा न चाण्डालाः तदा इत्यर्थः । अत्र = तव पितुः मारणरूपे कार्ये । राजनियोगः—राज्ञः = शासकस्य पालकस्येत्यर्थः । नियोगः = आदेशः । सास्रम्—अस्रेण = अश्रुणा ('अस्रः कोणे कचे पुंसि क्लीबमश्रुणि शोणिते' इति मेदिनी) सहितं सास्रम् = साश्रुजलं यथा तथा अथवा सास्रम् = सजलनेत्रम्; पुत्रम् = सुतम् ॥

इदं तदिति—

अन्वय—इदम्, आढ्यदरिद्रयोः, समम्, तत्, स्नेहसर्वस्वम्, (तथा), अचन्दनम्, अनौशीरम्, हृदयस्य, अनुलेपनम्, (अस्ति) ॥ २३ ॥

शब्दार्थः—इदम् = यह पुत्र (अपत्य), आढ्यदरिद्रयोः = धनी और निर्धन दोनों के लिये, समम् = एक समान, तत् = जगत्प्रसिद्ध, स्नेहसर्वस्वम् = स्नेह का सर्वस्व (प्राण), (तथा = और) अचन्दनम् = विना चन्दन का, अनौशीरम् = विना खस का, हृदयस्य = हृदय का, अनुलेपनम् = लेप, (अस्ति = है) ॥

टीका—इदम् = पुरो वर्तमानम् अपत्यम्, पुत्ररूपं वस्तु वा; आढ्यः = धनी दरिद्रः = निर्धनश्च तयोः; समम् = तुल्यम्; न तु विषमम्, यतः पुत्रस्नेहसाम्राज्ये न वर्तते कश्चिदधनः सधनो वेति भावः; तत् = जगद्विदितम् अनुपमं वा; स्नेहस्य = प्रेम्णः सर्वस्वम् = निखिलं तत्त्वम्; प्राणभूतमित्यर्थः; तथा अचन्दनम्—न विद्यते चन्दनं यस्मिन् तदचन्दनम् = मलयजसम्पर्कशून्यम्; अनौशीरम् —उशीरस्य = वीरणमूलस्य इदम् औशीरं न औशीरम् अनौशीरम् = उशीरसंयोगरहितम्, ('स्याद्वीरणं वीरतरं मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम्' इत्यमरः); हृदयस्य = वक्षसः; अनुलेपनम् = सुखकरं विलेपनमस्तीति शेषः । अपत्यं सर्वेषां प्राणिनां सममेव हृदयशीतलकारि अस्तीति भावः ॥ २३ ॥

('अंसेन बिभ्रत्–') [१०।२१] इत्यादि पुनः पठति, अवलोक्य स्वगतम् , 'अमी हि वस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्राः' [१०।१६] इत्यादि पुनः पठति)

विदूषकः—भो भद्दमुहा मुंचध पिअवअस्सं चालुदत्तं; मं वावादेध । [भो भद्रमखा.! मुञ्चत प्रियवयस्यं चारुदत्तम्; मां व्यापादयत ।]

चारुदत्तः—शान्तं पापम् (दृष्ट्वा स्वगतम्) अद्यावगच्छामि । ('समसंस्थित–' [१०।१६] इत्यादि पठति, प्रकाशम् 'एताः पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो माम्' [१०।११] इत्या द पुनः पठति)

चाण्डालः—ओशलध अज्जा ! ओशलध ।

किं पेक्खध शप्पुलिशं अजशवशेण प्पणट्टजीवाशं ।
कूवे खंडिदपाशं कंचणकलशं ठव डुब्बंतं ॥ २४ ॥

[अपसरतार्याः ! अपसरत ।

किं पश्यत सत्पुरुषमयशोवशेन प्रनष्टजीवाशम् ? ।
कूपे खण्डितपाशं काञ्चनकलशमिव मज्जन्तम् ॥]

टिप्पणी—इस श्लोक में रूपक अलङ्कार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ २३ ॥

किं पश्यतेति—

अन्वयः—खण्डितपाशम्, कूपे, मज्जन्तम्, काञ्चनकलशम्, इव, अयशोवशेन, प्रनष्टजीवाशम्, सत्पुरुषम्, किम् पश्यत ? ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—खण्डितपाशम् = टूटी हुई रस्सी वाले, कूपे = कुएँ में, मज्जन्तम् = डूबते हुए, काञ्चनकलशम् = सोने के घड़े (के), इव = समान, अयशोवशेन = (झूठे) कलङ्क के कारण, प्रनष्टजीवाशम् = जीने की आशा से रहित, सत्पुरुषम् = सज्जन पुरुष को, किम् = क्यों, पश्यत = देख रहे हो ? ॥

अर्थः—('अंसेन बिभ्रत्'—(१०।२१) इत्यादि फिर पढ़ता है, देखकर अपनेआप, 'अमी हि वस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्राः' (१०।१६) इत्यादि पुनः पढ़ता है)

विदूषक–हे भले मुँहवाले ! प्रिय मित्र चरुदत्त को छोड़ दो । मुझे मारो ।

चारुदत्त—पाप शान्त हो ! (देख कर अपने आप) आज समझ रहा हूँ । ('समसंस्थित'—(१०।१६) इत्यादि पढ़ता है । प्रकट रूप में 'एताः पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो माम्' (१०।११) इत्यादि फिर पढ़ता है)

(चारुदत्तः सकरुणम्, 'शशिविमलमयूख–'(१०।१३) इत्यादि पठति)

अपरः—अले, पुणो वि घोशेहि। [अरे, पुनरपि घोषय।]

(चाण्डालस्तथा करोति)

चारुदत्तः—

प्राप्तोऽहं व्यसनकृशां दशामनार्यां
यत्रेदं फलमपि जीवितावसानम्।
एषा च व्यथयति घोषणा मनो मे
श्रोतव्यं यदिदमसौ मया हतेति ॥ २५ ॥

अर्थः—चाण्डाल--हटो आर्यो! हटो।

रस्सी टूट जाने पर कुएँ में डूबते हुए सोने के घड़ा के समान, झूठे कलङ्क के कारण जीने की आशा से रहित सज्जन पुरुष (चारुदत्त) को क्यों देख रहे हो? ॥ २४ ॥

(चारुदत्त करुणा के साथ,--'शशिविमलमयूख'—(१०।१३) इत्यादि पढ़ता है)

दूसरा चाण्डाल—अरे, फिर घोषणा करो।

(चाण्डाल वैसा ही करता है)

टीका--खण्डितपाशम्--खण्डितः = त्रुटितः पाशः = रज्जुः यस्य तथाभूतम्, अतः कूपे = उदपाने ('पुंस्येवान्धुः प्रहिः कूप उदपानं तु पुंसि वा' इत्यमरः); मज्जन्तम् = ब्रुडन्तम्; काञ्चनस्य = सुवर्णस्य कलशमिव = घटमिव; चारुदत्तमहत्त्वद्योतनार्थमेव सुवर्णपदव्यवहारः; अयशोवशेन = अनेन वसन्तसेना अर्थकल्यवर्तस्य कारणात् मारितेति लाञ्छनेन; प्रनष्टजीवाशम्--प्रनष्टा = दूरीभूता जीवस्य = जीवनस्य आशा = सम्भावनेत्यर्थः यस्य, तादृशम्; सत्पुरुषम् = सज्जनं पुरुषम्; किं पश्यत = किम् अवलोकयत! यूयमिति शेषः ॥ २४ ॥

प्राप्तोऽहमिति--

अन्वयः--अहम् व्यसनकृशाम्, अनार्याम्, दशाम्, प्राप्तः, यत्र, इदम्, जीवितावसानम्, (एव), फलम् अपि, (अस्ति); एषा, च, घोषणा, मे, मनः, व्यथयति, यत्, इदम्, श्रोतव्यम्, 'असौ, मया, हता, इति' ॥ २५ ॥

शब्दार्थः—अहम् = मैं, व्यसनकृशाम् = विपत्ति के कारण कमजोर, अनार्याम् = निन्दनीय, दशाम् = अवस्था को, प्राप्तः = पहुँच गया (हूँ), यत्र = जहाँ पर, इदम् = यह, जीवितावसानम् = मृत्यु, (एव = ही), फलम् = फल, परिणाम, अपि = भी, (अस्ति = है)। एषा = यह, घोषणा = जनता में एलान, मे = मेरे, मनः =

(ततः प्रविशति प्रासादस्थो बद्धः स्थावरकः)

स्थावरकः—(घोषणामाकर्ण्य, सवैक्लव्यम्) कधं अपावे चालुदत्ते वावादीअदि ? । हग्गे णिअलेण शामिणा बंधिदे । भोदु आक्कंदामि । शुणाध अज्जा ! शुणाध । अत्थि दाणिं मए पावेण पवहणपडिवत्तेण पुप्फकलंडअजिण्णुज्जाणं वशंतशेणा णीदा । तदो मम शामिणा मं ण कामेशित्ति कदुअ बाहुपाशबलक्कालेण मालिदा, ण उण एदिणा अज्जेण । कधं विदूलदाए ण को वि शुणादि ? । ता किं कलेमि ? । अत्ताणअं पाडेमि ? । (विचिन्त्य) जइ एव्वं कलेमि, तदा अज्जचालुदत्ते ण वावादीअदि । भोदु, इमादो पाशादबालग्गपदोलिकादो एदिणा जिण्णगवक्खेण अत्ताणअं णिक्खिवामि । वलं हग्गे उवलदे, ण उण एशे कुलपुत्त-

---

मन को, व्यथयति = पीडा देता है, यत् = जो, इदम् = यह, श्रोतव्यम् = सुनना पड़ता है,—'असौ = यह (वसन्तसेना), मया = मेरे द्वारा, हता = मारी गयी, इति = ऐसा ॥

अर्थः—चारुदत्त—मैं विपत्ति के कारण कमजोर एवं निन्दनीय उस दशा में पहुँच गया हूँ, जहां पर कि यह मृत्यु ही फल है । और यह जनता में एलान मेरे मन को पीड़ा देता है; जो मुझे यह सुनना पड़ता है कि—'मैंने इसे (वसन्त सेना को) मारा है' ॥२५॥

(इसके बाद महल पर बैठा, बँधा हुआ स्थावरक प्रवेश करता है)

टीका—अहम् = चारुदत्तः; व्यसनेन = विपत्त्या ('व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे, कामकोपजे' इत्यमरः) कृशाम् = दुर्बलाम्; प्रतिकारासमर्थामित्यर्थः; 'व्यसनकृताम्' इति पाठान्तरम् । विपत्तिजनितामित्यर्थः) अनार्याम् = साधुजनविगर्हिताम्, निन्दनीयाम्; दशाम् = अवस्थाम्; प्राप्तः = गतः, अस्मीति शेषः; यत्र = यस्यां दशायाम्; इदम् = शीघ्रमेव अनुभूयमानम्; जीवितस्य = जीवनस्य अवसानम् = समाप्तिरेव, प्राणहानिरेव; फलम् = परिणामः; अपि अस्तीति शेषः । यदि मरणमेव सुनिश्चितं तर्हि किं शोकेने-त्याह—एषा च = इयं श्रूयमाणा च; घोषणा = उद्घोषः; मे = मम; मनः = चेतः; व्यथयति = भृशं पीडयति; यत्; इदम् = एतत्; श्रोतव्यम् = आकर्णनीयम्; मयेति शेषः; 'असौ = एषा, मम हृदयस्था वसन्तसेना इत्यर्थः । मया = चारुदत्तेन; हता = मारिता; इति = एवं रूपा । 'वसन्तसेना अनेन चारुदत्तेन हता' इति श्रुत्वा भृशं मे हृदि पीडा उत्पद्यते इति भावः ॥ २५ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में प्रहर्षिणी छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम् ॥ २५ ॥

विहगाणं वाशपादवे अज्जचालुदत्ते। एव्वं जइ विवज्जामि लद्धे मए पललोए। (इत्यात्मानं पातयित्वा) ही ही, ण उवलदम्हि। भग्गे मे दंडणिअले। ता चांडालघोशं शमण्णेशामि। (दृष्ट्वोपसृत्य) हंहो चांडाला! अंतलं अंतलं। [कथमपापश्चारुदत्तो व्यापाद्यते?। अहं निगडेन स्वामिना बद्धः। भवतु, आक्रन्दामि। शृणुतार्याः! शृणुत। अस्तीदानीं मया पापेन प्रवहणपरिवर्तेन पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं वसन्तसेना नीता। ततो मम स्वामिना मां न कामयस इति कृत्वा बाहुपाशबलात्कारेण मारिता, न पुनरेतेनार्येण। कथं विदूरतया न कोऽपि शृणोति? तत्किं करोमि?। आत्मानं पातयामि?। यद्येवं करोमि, तदार्यचारुदत्तो न व्यापाद्यते। भवतु, अस्याः प्रासादबालाग्रप्रतोलिकात एतेन जीर्णगवाक्षेणात्मानं निक्षिपामि। वरमहमुपरतः, न पुनरेष कुलपुत्रविहगानां वासपादप आर्यचारुदत्तः। एवं यदि विपद्ये लब्धो मया परलोकः। आश्चर्यम्, नोपरतोऽस्मि। भग्नो मे दण्डनिगडः। तच्चाण्डालघोषं समन्विष्यामि। हंहो चाण्डालाः! अन्तरमन्तरम्।]

शब्दार्थः—सवैक्लव्यम् = विकलता के साथ। व्यापाद्यते = मारा जा रहा है? स्वामिना = मालिक (शकार) के द्वारा, निगडेन = बेड़ी से, बद्धः = बाँध दिया गया। आक्रन्दामि = चिल्लाता हूँ। कामयसे = चाहती हो। प्रासादबालाग्रप्रतोलि–कातः = महल की नयी बनी हुई ऊँची अटारी की गली से। उपरतः = मरा हुआ, मृत। कुलपुत्रविहगानाम् = कुल-पुत्र रूपी पक्षियों के, वासपादपः = निवास-वृक्ष। विपद्ये = मरता हूँ। भग्नः = टूट गया, दण्डनिगडः = बेड़ी-दण्डा।

अर्थः—स्थावरक—(घोषणा सुनकर, विकलता के साथ) क्या पापरहित चारुदत्त मारा जा रहा है? मैं मालिक (शकार) के द्वारा बेड़ी से बाँध दिया गया हूँ। अच्छा, चिल्लाता हूँ। सुनिए आर्यजन! सुनिए। ऐसा है कि मुझ पापी के द्वारा गाड़ी बदल जाने के कारण वसन्तसेना पुष्पकरण्डक नामक पुराने बगीचे में ले जाई गयी। उसके बाद मेरे स्वामी (शकार) ने 'तुम मुझको नहीं चाहती हो' ऐसा कह कर बहुपाश से बलपूर्वक (वसन्तसेना को) मार डाला, न कि इन आर्य चारुदत्त ने (मारा है)। क्या काफी दूर होने के कारण कोई नहीं सुन रहा है? तो क्या करूँ। अपने आप को (यहाँ से) गिराता हूँ। (सोच कर) यदि ऐसा करता हूँ, तो आर्य चारुदत्त मारे नहीं जायेंगे। अच्छा, महल की नयी बनी हुई ऊँची इस अटारी की गली से इस टूटी खिड़की द्वारा अपने आप को गिराता हूँ। मेरा मरना अच्छा है, किन्तु कुल-पुत्र रूपी पक्षियों के निवास वृक्ष आर्य चारुदत्त का नहीं (मरना ठीक है)। इस प्रकार यदि मैं मर भी जाता हूँ तो मुझे परलोक मिलेगा। (अपने आप को गिरा कर)। आश्चर्य!

चाण्डालौ—अले ! के अंतलं मग्गेदि ?। [अरे ! कोऽन्तरं याचते ?।]

(चेटः 'शुणाध' इति पूर्वोक्तं पठति)

चारुदत्तः—अये !

कोऽयमेवंविधे काले कालपाशस्थिते मयि।
अनावृष्टिहते सस्ये द्रोणमेघ इवोदितः ?॥ २६ ॥

मैं मरा नहीं। मेरा बेड़ी-डण्डा टूट गया। अब चाण्डालों की घोषणा (के स्थान) को खोजता हूँ। (देख कर और पास में जाकर) हे, हे चाण्डालों ! हटो. हटो (अवकाश दो अवकाश)।

टीका – विकलस्य = विह्वलस्य ('विक्लवो विह्वलः' इत्यमरः) भावो वैक्लव्यम् = विह्वलता तेन सहितं सवैक्लव्यम् = विह्वलतापूर्वकं यथा स्यात् तथा। व्यापाद्यते = हन्यते ? हन्तुं नीयते ? इति भावः। स्वामिना = प्रभुणा, शकारेणेत्यर्थः; निगडेन = शृंखलया ('शृङ्खला अन्दुको निगडः' इत्यमरः); बद्धः = संयमितः, कदाचिदयं तत्त्वं न प्रकाशयेदिति बुद्ध्या निगडेन पूरितः अस्मीति भावः। आक्रन्दामि = आह्वानं करोमि। कामयसे = अभिलषसि। प्रासादेति—प्रासादस्य = भव्यभवनस्य यः बालः = नवनिर्मितः अग्रः = ऊर्ध्वभागः तस्य प्रतोलिकातः = रथ्यातः, गमनागमनाय निर्मितात् मार्गादित्यर्थः ('रथ्या प्रतोली विशिखा' इत्यमरः)। उपरतः = मृतः। कुलपुत्राः = सद्वंशोत्पन्नाः मनुष्याः एव विहगाः = पक्षिणः तेषाम्; एतेन चारुदत्तस्य प्रशंसनीयः सहवासः सूचितः; वासपादपः = आश्रयवृक्षः; सत्पुरुषाणामाश्रयदातेत्यर्थः। विपद्ये = म्रिये। भग्नः = छिन्नः; दण्डनिगडः—दण्डस्य = बन्धनरूपस्य दण्डस्येत्यर्थः, निगडः = शृङ्खलः॥

अर्थः—दोनों चाण्डाल–अरे कौन हटाता है (अर्थात् अवकाश मांगता है) ?।

(चेट 'शृणुतार्याः' यह पहले कहा हुआ वाक्य पढ़ता है)

कोऽयमिति—

अन्वयः—अये ! (गद्येन अन्वयः), अनावृष्टिहते, सस्ये, द्रोणमेघः, इव, एवंविधे, काले, मयि, कालपाशस्थिते, अयम्, कः, उदितः ? ॥ २६ ॥

शब्दार्थः—अये = अहो ! अनावृष्टिहते = वर्षा के न होने से सूखते हुये, सस्ये = धान पर (कृषि पर), द्रोणमेघः = द्रोण नामक मेघ (के), इव = समान, एवंविधे = इस प्रकार के, काले = समय में, मयि = मेरे, कालपाशस्थिते = मृत्यु के फन्दा में फसने पर, अयम् = यह, कः = कौन, उदितः = आ गया, उदित हो गया॥

भोः ! श्रुतं भवद्भिः,—

न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमो भवेत् ॥ २७ ॥

अर्थः—चारुदत्त—अहो ! वर्षा के न होने से सूखते हुए धान पर द्रोण नामक मेघ (धान बढ़ाने वाले बादल) के समान इस प्रकार की विपत्ति के समय में मेरे मृत्यु के फन्दा में फसने पर यह कौन (मेरी मदद के लिये) आ गया है ? ॥ २६ ॥

टीका—अये ! = विस्मयद्योतकम् अव्ययपदम्; न आवृष्टिः अनावृष्टिः तया अनावृष्टया = अवर्षणेन हते = शुष्कप्राये; सस्ये = धान्यादौ; द्रोणमेघः = शस्यप्रपूरकः मेघविशेषः; इव; एवंविधे = एवम्प्रकारे, विपत्तिबहुले उपस्थितप्राणनाशे वेत्यर्थः; काले = समये; मयि = चारुदत्ते; कालस्य = मृत्योः पाशः = बन्धनम् तस्मिन् स्थिते = गते, वर्तमाने; सति; अयम् = एषः, पुरो दृश्यमानः; कः उदितः = कः आगतः ?। यथा शुष्कप्राये सस्ये सस्यवर्द्धकस्य द्रोणमेघस्य आकस्मिकी जलवृष्टिः जीवनदायिनी वृद्धिकरी च भवति तथैव मम मरणसन्निकृष्टे काले अकस्मादुपस्थितः कोऽयं जनः वचसा मामानन्दयतीति निर्गलितार्थः । अनेन चारुदत्तस्य जीवनरक्षा वृद्धिश्चापि सूचिता ॥ २६ ॥

टिप्पणी—द्रोणमेघः—मेघों की चार जातियाँ मानी गयी हैं—पुष्कर, आवर्त, संवर्त तथा द्रोण । इन में द्रोण नामक मेघ काफी वर्षा करने वाला एवं फसल को बढ़ाने वाला माना गया है । इस बात का निर्देश ज्योतिस्तत्त्व में इस प्रकार किया गया है :—

आवर्तो निर्जलो मेघः संवर्तश्च बहूदकः ।
पुष्करो दुष्करजलो द्रोणः सस्यप्रपूरकः ॥

किन्तु महाकवि कालिदास पुष्कर एवं आवर्त मेघों को ही श्रेष्ठतम मानते हैं—

'जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानाम्' ॥ मेघ० १ । ६ ॥

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ २६ ॥

न भीतः इति—

अन्वयः—(अहम्), मरणात्, भीतः, न, अस्मि; केवलम्, यशः, दूषितम्; विशुद्धस्य, मे, मृत्युः, हि, पुत्रजन्मसमः, भवेत् ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—(अहम् = मैं), मरणात् = मरने से, भीतः = भयभीत, न = नहीं,

अन्यच्च,—

तेनास्म्यकृतवैरेण क्षुद्रेणात्यल्पबुद्धिना।
शरेणेव विषाक्तेन दूषितेनापि दूषितः॥ २८॥

अस्मि = हूँ। केवलम् = केवल, यशः = यश. दूषितम् = दूषित हुआ है, (अतः भयभीत हूँ)। विशुद्धस्य = निर्दोष, मे = मेरी, मृत्युः = मृत्यु, हि = निश्चय ही, पुत्रजन्मसमः = पुत्र के जन्म के समान, भवेत् = होती॥

अर्थः—अरे आप लोगों ने सुना?—

मैं मरने से भयभीत नहीं हूँ। (किन्तु इसलिये भयभीत हूँ कि) मेरे यश में धब्बा लग गया है। (यदि) निर्दोष होकर मेरी मृत्यु होती तो वह पुत्र के जन्म के समान (सुखदायक) होती॥ २७॥

टीका—अहम्; मरणात् = मृत्योः; भीतः = भयाक्रान्तः; न अस्मि = न भवामि। मम मृत्युः भविष्यति, अतः भीतः नास्मीत्यर्थः। तर्हि कस्मान्मलिनः असीत्याशङ्क्याह—केवलं मम यशः = कीर्तिः; ('यशः कीर्तिः समज्ञा च' इत्यमरः); दूषितम् = मलिनं जातम्; चिरसञ्चितं यशः दूषितमेतदेव मम मालिन्यकारणम्, न तु मृत्युः इति भावः। विशुद्धस्य = कलङ्कनिर्मुक्तस्य; वसन्तसेनाऽनेन मारितेति कलङ्कात् विरहितस्येत्यर्थः; मे = मम; मृत्युः = मरणम्; हि = निश्चितम्; पुत्रस्य = सुतस्य जन्मना = उत्पत्त्या समः = तुल्यः; असमप्रीतिजननः इति भावः; भवेत्=स्यात्। यदि कलङ्करहितस्य मे मृत्युः स्यात्तर्हि न मम मनसि स्वल्पमपि दुःखं भवेदिति भावः॥ २७॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।

छन्द के लक्षण के लिये देखिये पीछे के श्लोक की टिप्पणी॥ २७॥

तेनास्मीति—

अन्वयः—अकृतवैरेण, क्षुद्रेण, अल्पबुद्धिना, दूषितेन, अपि, तेन; विषाक्तेन, शरेण, इव; दूषितः, अस्मि॥ २८॥

शब्दार्थः—अकृतवैरेण = जिस के साथ कभी वैर नहीं किया था, ऐसे, क्षुद्रेण = नीच, अल्पबुद्धिना = मन्दबुद्धिवाले, दूषितेन = स्वयं दोषी, अपि = भी, तेन = उसके द्वारा, विषाक्तेन = विषबुझाए, शरेण = तीर (की), इव = भाँति, दूषितः = कलंकित किया गया, अस्मि = हूँ॥

अर्थः—और भी—

जिसके साथ कभी वैर नहीं किया था ऐसे नीच, मन्दबुद्धि वाले, स्वयं (वसन्तसेना

चाण्डालौ—थावलअ ! अवि शच्चं भणाशि ? । [स्थावरक ! अपि सत्यं भणसि ? ।]

चेटः—शच्चं; हग्गे वि मा कश्श वि कधइश्शशि त्ति पाशादबालग्गपदोलिकाए दंडणिअलेण वंधिअ णिक्खित्ते । [सत्यम्; अहमपि मा कस्यापि कथयिष्यसीति प्रासाद-बालाग्रप्रतोलिकायां दण्डनिगडेन बद्ध्वा निक्षिप्तः ।]

(प्रविश्य)

शकारः—(सहर्षम्)

मंशेण तिक्खामिलकेण भत्ते शाकेन शूपेण शमच्छकेण ।
भुत्तं मए अत्तणअश्श गेहे शालिश्श कूलेण गुलोदणेण ॥ २९ ॥

(कर्णं दत्त्वा) भिण्णकंशखंखणाए चांडालवाआए शलशंजोए जधा अ एशे उक्खालिदे वज्झडिंडिमशद्दे पडहाणं अ शुणीअदि, तधा तक्केमि, दलिद्दचालुदत्ताके वज्झट्ठाणं णीआदि त्ति । ता पेक्खिश्शं । शत्तुविणाशे णाम मम महंते हलक्कश्श पलिदोशे होदि ।

के मारने के) दोषी उस (शकार) ने, विषबुझाए तीर की भाँति, मुझे कलङ्कित कर दिया है ॥ २८ ॥

टीका—अकृतवैरेण—न कृतम् = नानुष्ठितम्, न प्रदर्शितमिति यावत्, वैरम् = शत्रुता यस्य तेन; येन सह कदापि मया वैरभावः न मनसि चिन्तितः तादृशेनेत्यर्थः; क्षुद्रेण = नीचेन; अल्पबुद्धिना—अल्पा = क्षीणा बुद्धिः = विवेकशक्तिः यस्य तादृशेन; दूषितेन = दोषयुक्तेन, स्वयं वसन्तसेनाहत्यापराधिनेत्यर्थः, कुलदूषितेन वा; अपि; तेन = शकारेण; तस्य नामग्रहणेऽपि पापसम्भावना, अतः तत्पदेन निर्दिशति; विषेण = गरलेन; अक्त = लिप्तः तेन । विषाक्तेन = विषदग्धेन; शरेण = वाणेन; इव = यथा; दूषितः = कलंकितः, अस्मि = भवामि ॥ २८ ॥

टिप्पणी—विषाक्तेन—वाण के अगले हिस्से को आग में लाल करके उसे विष के पानी में डाला जाता है । यही वाण विष-बुझा वाण या विषाक्त वाण कहा जाता है । इससे घायल हुए प्राणी का बचना मुश्किल होता है । विष + √अञ्ज + क्त ॥

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है ॥ २८ ॥

अर्थः—दोनों चाण्डाल—स्थावरक ! क्या सच कह रहे हो ?

चेट—हाँ, सच । (मालिक शकार ने) 'तुम किसी से कहोगे नहीं' ऐसा कह कर महल के नये बनाये गये ऊपरी हिस्से में डण्डा-बेड़ी से बाँध कर मुझे भी डाल दिया था ।

(प्रवेश करके)

शुदं अ मए, जे वि किल शत्तु वावादअंतं पेक्खदि, तश्श अण्णश्शि जम्मंतले अक्खि-लोगे ण होदि। मए खु विशगंठिगब्भपविट्ठेण विअ कीडएण किं पि अंतलं मग्गमाणेण उप्पाडिदे ताह दलिद्दचारुदत्ताह विणाशे। शंपदं अत्तण केलिकाए पाशादबालग्गपदोलिकाए अहिलुहिअ अत्तणो पलक्कमं पेक्खामि। (तथा कृत्वा, दृष्ट्वा च) ही ही, एदाह दलिद्द-चालुदत्ताह वज्झं णीअमाणाह एवड्ढे जणशंमद्दे, जं वेलं अम्हालिशे पबले वलमणुश्शे वज्झं णीअदि तं वेलं केदिशं भवे। (निरीक्ष्य) कधं ? एशे शे णवबलद्दके विअ मंडिदे दक्खिणं दिशं णीअदि ?। अध किंणिमित्तं मम केलिकाए पाशादबालग्गपदोलिकाए शमीवे घोशणा णिवडिदा, णिवालिदा अ ?। (विलोक्य) कधं थावलके चेडे वि णत्थि इध ?। मा णाम तेण इदो गदुअ मंतभेदे कडे भविश्शदि। ता जाव णं अण्णेशामि।

[मांसेन तिक्ताम्लेन भक्तं शाकेन सूपेन समत्स्यकेन।
भुक्तं मयात्मनो गेहे शालीयकूरेण गुडौदनेन॥

मांसेनेति—

अन्वयः—मया, आत्मनः, गेहे, तिक्ताम्लेन, मांसेन, शाकेन, समत्स्यकेन, सूपेन, शालीयकूरेण, गुडौदनेन, भक्तम्, भुक्तम्॥ २६॥

शब्दार्थः—मया = मेरे द्वारा, आत्मनः = अपने, गेहे = घर में, तिक्ताम्लेन = तीते-खट्टे, मांसेन = मांस से; शाकेन = शाक से, समत्स्यकेन = मछली के सहित, सूपेन = दाल (या रसा) से, शालीयकूरेण = अगहनी धान (शालीय) के चावल के भात से, गुडौदनेन = खीर से, भक्तम् = (साधारण चावल का) भात, भुक्तम् = खाया है॥

अर्थः—**शकार**—(खुशी के साथ) मैंने अपने घर तीते-खट्टे मांस, शाक, मछली के सहित दाल (या रसा), अगहनी चावल के भात तथा गुड़ मिले हुए भात (खीर) के साथ (साधारण चावल का) भात खाया है॥ २६॥

टीका—मया = शकारेण; आत्मनः = स्वस्य; गेहे = गृहे; तिक्ताम्लेन—तिक्तं च तद् अम्लञ्चेति तिक्ताम्लं तेन तिक्ताम्लेन = तिक्तरसान्वितेन अम्लरसान्वितेन च; मांसेन = पिशितेन ('पिशितं तरसं मांसं पललं क्रव्यमामिषम्' इत्यमरः ; शाकेन-शक्यते भोक्तुम्, श्यतीति वा शाकम् तेन शाकेन = संस्कृतपत्रपुष्पादिना; शाकं दशविधं स्मृतम्, यथा—मूलपत्रकरीराग्रफलकाण्डाधिरूढकम्। त्वक्पुष्पं कवकं चैव शाकं दशविधं स्मृतम्॥ समत्स्यकेन = मीनसहितेन; सूपेन = द्विदलेन सिद्धमीनरसेन वा; शालीय-कूरेण = शालेर्भक्तेन; शालितण्डुलप्रभवेण अन्नविशेषेणेति केचन; गुडौदनेन = गुडमिश्रितेन

भिन्नकांस्यवत्खङ्खणायाश्चाण्डालवाचाया: स्वरसंयोग:; यथा चैष उद्गीतो वध्यडिण्डिमशब्दः पटहानां च श्रूयते, तथा तर्कयामि, दरिद्रचारुदत्तको वध्यस्थानं नीयत इति। तत्प्रेक्षिष्ये। शत्रुविनाशो नाम मम महान्हृदयस्य परितोषो भवति। श्रुतं च मया, योऽपि किल शत्रुं व्यापाद्यमानं पश्यति, तस्यान्यस्मिञ्जन्मान्तरेऽक्षिरोगो न भवति। मया खलु विषग्रन्थिगर्भप्रविष्टेनेव कीटकेन किमप्यन्तरं मृगयमाणेनोत्पादितस्तस्य दरिद्रचारुदत्तस्य विनाशः। सांप्रतमात्मीयायां प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायामधिरुह्यात्मनः पराक्रमं पश्यामि। ही ही, एतस्य दरिद्रचारुदत्तस्य वध्यं नीयमानस्यैतावाञ्जनसंमर्दः, यस्यां वेलायामस्मादृशः प्रवरो वरमानुषो वध्यं नीयते तस्यां वेलायां कीदृशो भवेत्। कथं एष स नवबलीवर्द इव मण्डितो दक्षिणां दिशं नीयते?। अथ किंनिमित्तं मदीयायाः प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायाः समीपे घोषणा निपतिता, निवारिता च?। कथं स्थावरकश्चेटोऽपि नास्तीह?। मा नाम तेनेतो गत्वा मन्त्रभेदः कृतो भविष्यति। तद्यावदेनमन्विष्यामि।]

(इत्यवतीर्योपसर्पति)

ओदनेन, पायसेनेत्यर्थः; सह; भक्तम् = पक्वं साधारणं तण्डुलम्; अथवा शकारोक्त्या द्विरुक्तिः; भुक्तम् = भक्षितम्। मया सुभोजनं भक्षितमित्यर्थः॥ २९॥

टिप्पणी—कूरः, रम् = भोजन, भात, √वे + क्विप् = ऊः, कौ भूमौ उवं वयनं लाति—ला + कः, लरयोरभेदः॥

पृथ्वीधर इस श्लोक में उपजाति छन्द बतलाते हैं। कुछ लोगों के अनुसार इसमें इन्द्रवज्रा छन्द है।

उपजाति का लक्षण—

(स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ॥)
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः॥

शब्दार्थः—भिन्नकांस्यवत्खङ्खणाया=फूटे हुए काँसे के समान खन-खनानेवाली, चाण्डालवाचायाः=चाण्डालों की आवाज का, स्वरसंयोगः—आवाज का संसर्ग (अर्थात् आवाज)। उद्गीतः=उठा हुआ, वध्यडिण्डिमशब्दः=वध्य के ढोल का शब्द, च= और, पटहानाम्=नगाड़ों का (शब्द), श्रूयते=सुनायी पड़ रहा है। व्यापाद्यमानम्=मारे जाते हुए। अक्षिरोगः=आँख का रोग। विषग्रन्थिगर्भप्रविष्टेन=विष की गाँठ के भीतर घुसे हुए, कीटकेन=कीड़े के, इव=समान। मृगयमाणेन=खोजते हुए, मया= मेरे द्वारा। ही= विस्मयसूचक अव्यय। जनसंमर्दः=भीड़। अस्मादृशः=हमारे जैसा। नवबलीवर्द=नया साँड। निपतिता=हुई, घोषित की गयी। निवारिता=रोक दी गयी। मन्त्रभेदः=भेद का खोलना, गुप्त बात का प्रकाशन।

अर्थः –(कान देकर) फूटे हुए काँसे (के वर्तन) के समान खन-खनाने वाली चाण्डाल की आवाज सुनाई पड़ रही है। जिस तरह बध्य के ढोल का शब्द तथा नगाड़ों का शब्द सुनाई दे रहा है; इससे मैं अन्दाज करता हूँ कि दरिद्र चारुदत्त फाँसी के स्थान पर ले जाया जा रहा है। तो देखूँगा। वैरी के मरने से मेरे मन में बड़ा सन्तोष होता है और मैंने सुना भी है कि—'जो आदमी मारे जाते हुए शत्रु को देखता है, उसको दूसरे जन्म में आँख का रोग नहीं होता।' विष की गांठ के अन्दर घुसे हुए कीड़े के समान कोई छेद खोजते हुए मैंने उस दरिद्र चारुदत्त का विनाश उपस्थित कर दिया है। अव इस समय अपने महल के नवनिर्मित अग्रभाग पर चढ़ कर अपने पराक्रम को देखूँगा। (वैसा करके और देख कर) अहो! इस दरिद्र चारुदत्त को फांसी (वध) के स्थान पर ले जाते समय आदमियों की इतनी बड़ी भीड़! जिस समय हमारे जैसा प्रधान श्रेष्ठ मनुष्य वध-स्थान को ले जाया जायगा, उस समय कैसी भीड़ होगी। (देख कर) क्या यह वह (चारुदत्त) नये सांड़ की तरह आभूषित करके दक्षिण दिशा की ओर ले जाया जा रहा है? किन्तु किस लिये मेरे महल के नवीन अग्रभाग के समीप घोषणा हुई और फिर रोक भी दी गयी?। (देख कर) क्या यहाँ स्थावरक चेट भी नहीं है? ऐसा न हो कि यहाँ से जाकर उसने (सारा) भेद खोल दिया हो। तो जब तक इसको खोजता हूँ।

(ऐसा कह कर, उतर कर पास जाता है)

टीका—भिन्नकांस्यवत्खङ्खणायाः=स्फुटितकांस्यपात्रवत् खण् खण् इति शब्दं कुर्वत्याः चाण्डालयोः=वधे नियुक्तयोः नीचपुरुषयोः वाचायाः=वाण्याः, वाच्-शब्दात् वैकल्पिकः टाप्; "क्षुधा वाचा दिशा क्रुञ्चा" इत्यादि दर्शनात्। स्वरसंयोगः—स्वराणाम्=ध्वनीनाम् संयोगः=सम्बन्धः। उद्गीतः=उत्थापितः; वध्यस्य=वधार्थं नीयमानस्य डिण्डिमशब्दः= चर्मनद्धवाद्यविशेषध्वनिः; च=तथा; पटहानाम्=आनकानाम् ('आनकः पटहोऽस्त्री' इत्यमरः) शब्दः श्रूयते=आकर्ण्यते। व्यापाद्यमानम्=वध्यमानम्। अक्ष्णोः=नयनयोः रोगः=व्याधिः, नयनविकारः इत्यर्थः। विषस्य=गरलस्य, विषबहुलस्य पादपस्येत्यर्थः, ग्रन्थेः=पर्वणः ('पर्व क्लीबं सहग्रन्थौ प्रस्तावे लक्षणान्तरे। दर्शप्रतिपदोः सन्धौ विषुवत्प्रभृतिष्वपि ॥" इति मेदिनी), गर्भे=अन्तरे प्रविष्टेन=गतेन; कीटकेनेव=क्षुद्रजन्तुनेव। मृगयमाणेन= मार्गयता, मया=शकारेण। 'ही' इति विस्मयबोधकम् अव्ययपदम्। जनानाम्=मानवानाम् संमर्दः=अनियन्त्रितः समवायः। अस्मादृशः=अस्मत्सदृशः। नवः=नूतनः बलीवर्दः=वृषभः ('बलीवर्द ऋषभो वृषभो वृषः' इत्यमरः)। निपतिता=उद्घोषिता। निवारिता=अवरुद्धा कृता। मन्त्रभेदः—मन्त्रस्य=गुप्तवादस्य, भेदस्येत्यर्थः, भेदः=प्रकाशनम्, कथनमिति यावत् ॥

चेटः—(दृष्ट्वा) भश्टालका ! एशे शे आगदे । [भट्टारकाः ! एष स आगतः ।]

चाण्डालौ—

ओशलध देध मग्गं दालं ढक्केध होध तुण्हीआ ।
अविणअतिक्खविशाणे दुट्ठबइल्ले इदो एदि ॥ ३० ॥
[अपसरत दत्त मार्गं द्वारं पिधत्त भवत तूष्णीकाः ।
अविनयतीक्ष्णविषाणो दुष्टबलीवर्द इत एति ॥]

शकारः—अले अले ! अंतलं अंतलं देध । (उपसृत्य) पुश्तका थावलका चेडा !

अर्थः—चेट—(देखकर) मालिक जनों ! यह वह आ रहा है ।

अपसरतेति—

अन्वयः—अपसरत, मार्गम्, दत्त, द्वारम्, पिधत्त, तूष्णीकाः, भवत, अविनयतीक्ष्णविषाणः, दुष्टबलीवर्दः, इतः, एति ॥ ३० ॥

शब्दार्थः—अपसरत = हट जाओ, मार्गम्=रास्ता को, दत्त=दो, छोड़ो, द्वारम्=दरावाजा को, पिधत्त=बन्द कर लो, तूष्णीकाः=मौन, चुप, भवतः=हो जाओ, अविनयतीक्ष्णविषाणः=उद्दण्डतारूपी तेज सींगों वाला, दुष्टबलीवर्दः=दुष्ट साँड़, इतः=इधर, एति=आ रहा है ॥

अर्थः—दोनों चाण्डाल—हट जाओ, रास्ता छोड़ दो, दरवाजा बन्द कर लो, चुप हो जाओ । उद्दण्डतारूपी तेज सींगों वाला दुष्ट साँड़ (शकार) इधर आ रहा है ॥३०॥

टीका—अपसरत=दूरं गच्छत, मार्गम्=पन्थानम्, दत्त=अर्पयत, द्वारम्=गृहप्रवेशमार्गम्, पिधत्त=आवृणुत, तूष्णीकाः=मौनावलम्बिनः, भवत, अविनयः=उद्दण्डता एव तीक्ष्णः=निशितः विषाणः=शृङ्गम् यस्य तादृशः, दुष्टवलीवर्दः=दुष्टः वृषभः, शकारः इत्यर्थः इतः=एतस्यां दिशि, एति=आगच्छति । यथा मदान्धः अज्ञः बलीवर्दः न किञ्चित् विचारयति करोति च यथेच्छं तथैवायं शकारः अपि अधिकारमदान्धः भूत्वा तदेव करोति यदस्मै रोचते । अतः सावधानाः भवतेति भावः ॥ ३० ॥

टिप्पणी—पिधत्त=अपिधत्त=बन्द करो, यहाँ अकार का लोप हो जाता है—'वष्टि, भागुरिवल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' ॥

इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा, रूपक एवं काव्यलिङ्ग अलङ्कार है । इस में प्रयुक्त छन्द का नाम है—आर्या । छन्द का लक्षण—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ ३० ॥

एहि गच्छम्ह। [अरे अरे, अन्तरमन्तरं दत्त। पुत्रक स्थावरक चेटक ! एहि गच्छावः।]

चेटः— ही ही, अणज्ज ! वशंतशेणिअं मालिअ ण पलितुश्टेशि ?। शंपदं पणइजण-कप्पपादवं अज्जचालुदत्तं मालइदुं ववशिदेशि ?। [ही ही, अनार्य ! वसन्तसेनां मारयित्वा न परितुष्टोऽसि ? सांप्रतं प्रणयिजनकल्पपादपमार्यचारुदत्तं मारयितुं व्यवसितोऽसि ?।

शकारः—ण हि लअणकुंभशलिशे हग्गे इश्थिअं वावादेमि। [न हि रत्नकुम्भ-सदृशोऽहं स्त्रियं व्यापादयामि।]

सर्वे—अहो, तुए मारिदा। ण अज्जचारुदत्तेण। [अहो, त्वया मारिता, न आर्यचारुदत्तेन।]

शकारः—के एव्वं भणादि ?। [क एवं भणति ?।]

सर्वे—(चेटमुद्दिश्य) णं एसो साहू। [नन्वेष साधुः।]

शब्दार्थः—ही=यह विषाद को सूचित करने वाला अव्यय है। प्रणयिजनकल्पपादपम्=प्रेमी (याचक) जनों के कल्पवृक्ष, चारुदत्तम्=चारुदत्त को, मारयितुम्=मरवाने के लिये, व्यवसितः तैयार। रत्नकुम्भसदृशः=रत्नों के घड़े के समान॥

अर्थः—**शकार**—अरे, अरे, जगह दो, जगह (अवकाश) दो। (पास जाकर) बेटा स्थावरक चेट आओ चलें।

चेट—अहो ! असभ्य ! वसन्तसेना को मार कर सन्तुष्ट नहीं हुए हो ? अब प्रेमी (याचक) जनों के कल्पवृक्ष आर्य चारुदत्त को मरवाने के लिए उद्यत हो ?

शकार—रत्नों के घड़े के समान (पवित्र) मैं स्त्री को नहीं मारता हूँ।

टीका—'ही' इति विषादद्योतकम् अव्ययम्। विषादाधिक्यं द्योतयितुं द्विरुक्तिः। प्रणयिजनानाम्=याचकजनानाम् कल्पपादपम्=कल्पवृक्षम्, कल्पवृक्षवज्जनानां मनोरथपूरक-मित्यर्थः, चारुदत्तम्=अमुं सज्जनं चारुदत्तमित्यर्थः, मारयितुम्=घातयितुम्, व्यवसितः=तत्परः। रत्नानाम् = मणीनाम् कुम्भेन=कलशेन सदृशः=तुल्यः, बहुजनसम्मतः सुरूपश्चे-त्यर्थः। यथा रत्नकलशः सर्वैः अभिनन्दितः भवति तथाऽहमपि सर्वमान्यः अस्मि। अतः कथं मया सर्वमान्येन स्त्रीहत्या सम्भाव्यते इति भावः॥

अर्थः—**सब**—अहो, तुमने इसे मारा है। आर्य चारुदत्त ने नहीं।

शकार—कौन ऐसा कहता है ?

सब—(चेट को इशारा करके) यही बेचारा।

शकारः—(अपवार्य, सभयम्) अविद मादिके, अविद मादिके, कधं थावलके चेडे शुश्ठु ण मए शंजदे ?। एशे खु मम अकज्जश्श शक्खी। (विचिन्त्य) एव्वं दाव कलइश्शं। (प्रकाशम्) अलीअं भश्टालका ! हंहो, एशे चेडे शुवण्णचोलिआए मए गहिदे पिश्टिदे मालिदे बद्धे अ। ता किदवेले एशे जं भणादि किं शच्चं ?। (अपवारितकेन चेटस्य कटकं प्रयच्छति, स्वैरकम्) पुश्तका थावलका चेडा ! एदं गेण्हिअ अण्णधा भणाहि। [हन्त, कथं स्थावरकश्चेटः सुष्ठु न मया संयतः ?। एष खलु ममाकार्यस्य साक्षी। एवं तावत्करिष्यामि। अलीकं भट्टारकाः ! अहो, एष चेटः सुवर्णचोरिकया मया गृहीतस्ताडितो मारितो बद्धश्च। तत्कृतवैर एव यद्भणति किं सत्यम् ?। पुत्रक स्थावरक चेट ! एतद्गृहीत्वाऽन्यथा भण।]

शब्दार्थः—अपवार्य=पृथक्, एक ओर। हन्त=खेदसूचक अव्यय। संयतः=बाँधा गया। अकार्यस्य=कुकृत्य का, (अर्थात् वसन्तसेना को मारनेरूप बुरे काम का), साक्षी=प्रमाण, गवाह। अलीकम्=असत्य। सुवर्णचोरिकया=सोने की चोरी के कारण। कृतवैरः=वैर करने वाला। अन्यथा=अन्य प्रकार से ॥

अर्थः—शकार—(अलग से, भयपूर्वक) दुःख है; स्थावरक चेट को मैंने भली-भाँति क्यों नहीं बाँधा ? यही मेरे कुकृत्य (वसन्तसेना को मारने) का साक्षी है। तो, ऐसा करता हूँ। (प्रकट रूप में) महानुभावो ! यह झूठ है। सोने की चोरी के कारण यह चेट मेरे द्वारा पकड़ा गया, पीटा गया, मारा गया और बाँध लिया गया। तो, वैर करने वाला यह जो कहता है, क्या वह सत्य है ? (अलग से चेट को कड़ा देता हुआ धीमी आवाज में) बेटा स्थावरक चेट इस (कड़ा) को लेकर अन्य प्रकार से (अर्थात् वसन्तसेना को शकार ने नहीं चारुदत्त ने मारा है) कह दे।

टीका—अपवार्य=मुखं जनविपरीतायां दिशि परावृत्य, पृथगित्यर्थः, तथा च दर्पणे—'तद्भवेदपवारितम्। रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते ॥ त्रिपताककरेणान्यमपवार्यान्तरा कथाम्।' 'हन्त' इति खेदेऽव्ययम्। संयतः=बद्धः, नियमितः। अकार्यस्य=वसन्तसेनायाः मारणरूपस्य कुकृत्यस्य, साक्षी=द्रष्टा, प्रमाणमित्यर्थः। अलीकम्=असत्यम् ('अलीकं त्वप्रियेऽनृते' इत्यमरः)। सुवर्णस्य=स्वर्णस्य चोरिकया=तस्करतया। कृतवैरः—कृतम्=विहितम् स्वीकृतम् वा वैरम्=शत्रुत्वम् येन तादृशः। अन्यथा=विपरीतम्, वसन्तसेना चारुदत्तेन हता न शकारेणेति ॥

टिप्पणी—अपवार्यः—पृथक्, 'एक ओर' अर्थ प्रकट करने वाला अव्यय। यह इस ढंग से बोलने को कहते हैं कि केवल वही सुने जिससे कहा गया है ॥

चेटः—(गृहीत्वा) पेक्खध पेक्खध भट्टालका ! हंहो, शुवण्णेण मं पलोभेदि । [पश्यत पश्यत भट्टारकाः ! अहो, सुवर्णेन मां प्रलोभयति ।]

शकारः—(कटकमाच्छिद्य) एशे शे शुवण्णके, जश्श कालणादो मए बद्धे । (सक्रोधम्) हंहो चांडाला ! मए खु एशे शुवण्णभंडाले णिउत्ते शुवण्णं चोलअंते मालिदे पिश्टिदे; ता जदि ण पत्तिआअध ता पिश्टिं दाव पेक्खध । [एतत्तत्सुवर्णकम्, यस्य कारणान्मया बद्धः । हंहो चाण्डालाः ! मया खल्वेष सुवर्णभाण्डारे नियुक्तः सुवर्णं चोरयन्मारितस्ताडितः; तद्यदि न प्रत्ययध्वं तदा पृष्ठं तावत्पश्यत ।]

चाण्डालौ –(दृष्ट्वा) शोहणं भणादि । वितत्ते चेडे किं ण प्पडवदि ?। [शोभनं भणति । वितप्तश्चेटः किं न प्रलपति ? ।]

चेटः—हीमादिके, ईदिशे दाशभावे, जं शच्चं कंपि ण पत्तिआअदि । (सकरुणम्) अज्जचालुदत्त ! एत्तिके मे विहवे । [हन्त, ईदृशो दासभावः, यत्सत्यं कमपि न प्रत्यापयति । आर्य चारुदत्त ! एतावान्मे विभवः ।] (इति पादयोः पतति)

चारुदत्तः— सकरुणम् ।

चोरिकया=चोरी के कारण, 'चोरों का काम' (चोराणां कर्म) इस अर्थ में 'चोर' शब्द से कर्म में ठन् अथवा ठक् प्रत्यय होकर स्त्रीलिङ्ग में आप् होनेपर चोरिका शब्द बनता है ॥

अर्थः–**चेट** —(लेकर देखिये, देखिये, मालिक ! अहो ! मुझे सोने से लुभा रहा है ।

शकार –(कड़ा छीन कर) यह वह सोना है, जिसके कारण मेरे द्वारा (यह) बाँधा गया था । (क्रोध के साथ) अरे चाण्डालो ! मैंने इसे सुवर्णागार में नियुक्त किया था । सोने की चोरी करता हुआ यह (मेरे द्वारा) मारा गया, पीटा गया । तो यदि (तुम दोनों को) विश्वास न हो तो (इसकी) पीठ देख लो ।

शब्दार्थः - वितप्तः=क्रुद्ध, नाराज । विभवः=वश, सामर्थ्य ॥

अर्थः--**दोनों चाण्डाल** –(देख कर) ठीक कह रहा है । क्रुद्ध चेट क्या नहीं कहेगा ? (अर्थात् सब कुछ कहेगा) ।

चेट –दुख है, दासता ऐसी (बुरी) है कि सत्य का भी किसी को विश्वास नहीं करा पाती । (करुणा के साथ) आर्य चारुदत्त ! इतना ही मेरा वश था । (ऐसा कह कर पैरों पर गिरता है ।)

टीका—वितप्तः=ताडनजन्यक्रोधसन्तप्तः, क्रुद्धः इत्यर्थः । विभवः=सामर्थ्यम् ॥

उत्तिष्ठ भोः ! पतितसाधुजनानुकम्पि-
न्निष्कारणोपगतबान्धव धर्मशील !
यत्नः कृतोऽपि सुमहान्मम मोक्षणाय
दैवं न संवदति, किं न कृतं त्वयाद्य ॥ ३१ ॥

उत्तिष्ठ भोः ! इति—

अन्वयः—भोः पतितसाधुजनानुकम्पिन् ! निष्कारणोपगतबान्धव ! धर्मशील ! उत्तिष्ठ, मम, मोक्षणाय, (त्वया), सुमहान्, यत्नः, अपि, कृतः (किन्तु) दैवम्, न, संवदति, अद्य, त्वया, किम्, न, कृतम् ? ॥ ३१ ॥

शब्दार्थः—भोः पतितसाधुजनानुकम्पिन् ! = हे आपत्ति मे गिरे हुए सज्जनों पर कृपा करने वाले ! निष्कारणोपगतबान्धव ! = अकारण आये हुए बन्धु ! धर्मशील = धार्मिक जन ! उत्तिष्ठ = उठो, मम = मुझे, मोक्षणाय = छुड़ाने के लिये, (त्वया = तुम्हारे द्वारा), सुमहान् = बहुत बड़ा, यत्नः = प्रयत्न, अपि = भी, कृतः = किया गया, (किन्तु), दैवम् = भाग्य, न = नहीं, संवदति = साथ दे रहा है; अद्य = आज त्वया = तुम्हारे द्वारा, किम् = क्या, न = नहीं, कृतम् = किया गया ? ॥

अर्थः—**चारुदत्त**—(करुणा के साथ)

हे आपत्ति में गिरे हुए सज्जनों पर कृपा करने वाले, अकारण आये हुए बन्धु, धार्मिक जन ! उठो । मुझे छुड़ाने के लिए (तुमने) बहुत बड़ा प्रयत्न किया, किन्तु भाग्य साथ नहीं दे रहा है । आज तुमने क्या नहीं किया ? (अर्थात् सब कुछ किया) ॥ ३१ ॥

टीका—भोः पतितः = आपद्गतः यः साधुजनः = सज्जनः तम् अनुकम्पते = दयते इति पतितसाधुजनानुकम्पी तत्सम्बुद्धौ; निष्कारणम् = हेतुरहितम् यथा तथा उपगतः = प्राप्तः यः बान्धवः = सखा, हितकर्ता इत्यर्थः, तत्सम्बोधने; धर्मे = धर्मयुक्ते कार्ये शीलम् = स्वभावः यस्य तत्सम्बुद्धौ; परमधार्मिक इत्यर्थः; उत्तिष्ठ = उत्थितो भव; मम = विपद्गतस्य चारुदत्तस्येत्यर्थः; मोक्षणाय = उद्धाराय; सुमहान् = बलवत्तमः; प्रासादाग्रभागात्पतनरूपः विशिष्टतमः इत्यर्थः; यत्नः = उपायः; अपीति यत्नस्य दुष्करत्वद्योतनार्थम्; कृतः = सम्पादितः; त्वयेति शेषः; किन्तु दैवम् = मम भाग्यम्; न संवदति = अनुकूलतां न दर्शयति; अन्यथा अद्य = अस्मिन्नेव सन्निकृष्टे विगते क्षणे; त्वया = भवता; किं न कृतम् = किं न विहितम् ?; अपि तु सर्वं विहितमित्यर्थः । भाग्यस्य वैपरीत्येन मम मोक्षणाय त्वया कृतः अप्रतिमः प्रयत्नः अपि निष्फलत्वं गच्छति । तथापि त्वं सर्वथा साधुवादार्हः इति भावः ॥ ३१ ॥

चाण्डालौ—भट्टके ! पिट्टिअ एदं चेडं णिक्खालेहि । [भट्टक ! ताडयित्वेतं चेटं निष्कासय ।]

शकारः—णिक्कम ले । (इति निष्क्रामयति) अले चांडाला ! किं विलंबेध ? मालेध एदं । [निष्क्राम रे । अरे अरे चाण्डालाः ! किं विलम्बध्वम् ? मारयतैनम् ।]

चाण्डालौ—जदि तुवलशि ता शअं ज्जेव मालेहि । [यदि त्वरयसे तदा स्वयमेव मारय ।]

रोहसेनः—अले चांडाला ! मं मारेध; मुंचध आवुकं । [अरे चाण्डालाः ! मां मारयत; मुञ्चत पितरम् ।]

शकारः—शपुत्तं ज्जेव एदं मालेध । [सपुत्रमेवैतं मारयत ।]

चारुदत्तः—सर्वमस्य मूर्खस्य संभाव्यते । तद्गच्छ पुत्र ! मातुः समीपम् ।

रोहसेन—किं मए गदेण कादव्वं ? । [किं मया गतेन कर्तव्यम् ? ।]

चारुदत्तः—

आश्रमं वत्स ! गन्तव्यं गृहीत्वाद्येव मातरम् ।
मा पुत्र ! पितृदोषेण त्वमप्येवं गमिष्यसि ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—साधुजनानुकम्पिन्—साधुजनम् अनुकम्पते तच्छीलः इति, साधुजन—अनु + √कम्प् + णिनि ॥

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में विशेषणों द्वारा खास अभिप्राय के साथ कथन किया गया है । अतः परिकर अलङ्कार है—'विशेषणैर्यत् साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः—काव्यप्रकाश ।

श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका ।

छन्द का लक्षण—

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ ३१ ॥

अर्थः—दोनों चाण्डाल—मालिक ! पीट कर इस चेट को निकाल दो ।

शकार—निकल रे । (ऐसा कह कर निकालता है) अरे, अरे, चाण्डालो ! क्यों देर कर रहे हो ? इसको मार दो ।

दोनों चाण्डाल—यदि जल्दबाजी करते हो तो तुम खुद ही मार डालो ।

रोहसेन—अरे, चाण्डालो ! मुझे मार डालो । पिता जी को छोड़ दो ।

शकार—बच्चे के सहित इस (चारुदत्त) को मार दो ।

चारुदत्त—इस मूर्ख के लिये सब कुछ सम्भव है । तो जाओ बेटा ! माता के पास ।

रोहसेन—जाकर मैं क्या करूँगा ?

तद्वयस्य ! गृहीत्वैनं व्रज ।

विदूषकः—भो वअस्स ! एव्वं तुए जाणिदं, तुए विणा अहं पाणाइं धारेमि त्ति ? । [भो वयस्य ! एवं त्वया ज्ञातम्, त्वया विनाहं प्राणान्धारयामीति ? ।]

चारुदत्तः—वयस्य ! स्वाधीनजीवितस्य न युज्यते तव प्राणपरित्यागः ।

आश्रममिति—

अन्वयः—वत्स ! मातरम्, गृहीत्वा, अद्य, एव, आश्रमम्, गन्तव्यम्; पुत्र ! मा, पितृदोषेण, त्वम्, अपि एवम्, गमिष्यसि ॥ ३२ ॥

शब्दार्थः वत्स ! = हे बेटा ! मातरम् = माता को, गृहीत्वा = लेकर, अद्य = आज, एव = ही, आश्रमम् = आश्रम को, गन्तव्यम् = चले जाना चाहिये। पुत्र ! = हे पुत्र ! मा = ऐसा न हो कि, पितृदोषेण = पिता के दोष के कारण, त्वम् = तुम, अपि = भी, एवम् = इसी प्रकार, गमिष्यसि = जाओगे (अर्थात् मारे जाओ) ॥

अर्थः—चारुदत्त—हे बेटा ! माता को लेकर आज ही आश्रम (मुनिजनों की तपस्या के स्थान में चले जाना । हे पुत्र ! ऐसा न हो कि पिता के दोष (वसन्तसेना के बध रूप दोष) के कारण तुम भी इसी प्रकार (निरपराध) चले जाओ (अर्थात् मारे जाओ ॥ ३२ ॥

टीका—वत्स ! = हे पुत्र ! मातरम् = स्वजननीम्; गृहीत्वा = सार्धं नीत्वा; अद्यैव = अस्मिन्नेव दिने; आश्रमम् = मुनिजनवसतिम्; अरण्ये यत्र निर्मलचेतसः करुणार्द्र-चित्ताः मुनिजनाः निवसन्ति तत्रेत्यर्थः; गन्तव्यम् = गन्तुं योग्यम्; 'आश्रमो वत्स ! गन्तव्यः' इति पाठान्तरम् । पुत्र ! = हे सुत । मा = एतादृशं न स्यात् यत्; पितुः = जनकस्य, मम चारुदत्तस्येत्यर्थः, दोषेण = अपराधेन; दृश्यते हि लोके पितुः वैरं पुत्रेण निःसार्यते; त्वमपि = निरपराधः बालकः अपि; एवम् = ईदृशम्; निष्कारणं प्राणदण्ड-मित्यर्थः; गमिष्यसि = यास्यसि । अत्र निवसता त्वया सह 'मम वैरिणः चारुदत्तस्याऽयं पुत्रः' इति विचिन्त्य कदाचित् शकारः त्वामपि घातयेत् । अतः मात्रा सह अद्यैव वनं गच्छेति शुभमतिः ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है । **लक्षण**—युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्या-वक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ३२ ॥

अर्थः—तो मित्र ! इसको लेकर जाओ ।

विदूषक—हे मित्र ! क्या तुमने यह समझ लिया है कि मैं तुम्हारे बिना प्राण धारण करूँगा ?

विदूषकः—(स्वगतम्) जुत्तं ण्णेदं, तधा वि ण सक्कुणोमि पिअवअस्सविरहिदो पाणाइं धारेदुं त्ति। ता बम्हणोए दारअं समप्पिअ पाणपरिच्चाएण अत्तणो पिअवअस्सं अणुगमिस्सं। (प्रकाशम्) भो वअस्स ! पराणेमि एदं लहुं। [युक्तं न्विदम्। तथापि न शक्नोमि प्रियवयस्यविरहितः प्राणान्धर्तुमिति। तद्ब्राह्मण्यै दारकं समर्प्य प्राणपरित्यागेनात्मनः प्रियवयस्यमनुगमिष्यामि। भो वयस्य ! परानयाम्येतं लघु।] (इति सकण्ठग्रहं पादयोः पतति)

(दारकोऽपि रुदन्पतति)

शकारः—अले ! णं भणामि शपुत्तकं चालुदत्तकं बावादेध त्ति। [अरे ! ननु भणामि सपुत्रकं चारुदत्तं व्यापादयतेति।]

(चारुदत्तो भयं नाटयति)

शब्दार्थः—स्वाधीनजीवितस्य = अपने अधीन जीवन वाले, तव = तुम्हारा, प्राणपरित्यागः = प्राण छोड़ना, जान देना, न युज्यते = ठीक नहीं है ॥

अर्थः-चारुदत्त—मित्र ! तुम्हारा जीवन तुम्हारे आधीन है। अतः तुम्हारा प्राण छोड़ना ठीक नहीं है।

टीका—स्वाधीनम् = स्ववशम्, स्वेच्छानिर्भरमित्यर्थः, जीवितम् = जीवनम् यस्य तादृशस्य; तव = भवतः; प्राणानाम् = असूनाम् परित्यागः = मोचनम्; न युज्यते = न समीचीनं प्रतिभाति। अहन्तु परवशः भूत्वा म्रिये। परञ्च त्वयि नेतादृशी काचित् विपत्तिः। अतः तव जीवनपरित्यागः न समीचीनः इत्यर्थः ॥

शब्दार्थः—युक्तम् = ठीक। प्रियवयस्यविरहितः = प्रिय मित्र से रहित (प्रिय मित्र के बिना)। ब्राह्मण्यै = ब्राह्मणी (चारुदत्त की स्त्री) को, दारकम् = बालक को, समर्प्य = सौंपकर। परानयामि = लौटाता हूँ, एतम् = इसको (इस बालक को), लघु, = जल्द ॥

अर्थः—विदूषक—(अपने आप) निश्चय ही यह ठीक है तो भी प्रिय-मित्र के बिना प्राण को धारण नहीं कर सकता। तो ब्राह्मणी (चारुदत्त की स्त्री) को बालक सौंप कर प्राण त्याग कर अपने प्रिय मित्र (चारुदत्त) का अनुसरण करूँगा। (प्रकट रूप में) हे मित्र ! मैं इसे जल्द ही लौटा ले जाता हूँ।

(ऐसा कह कर, गले मिल कर पैरों पर गिरता है)

(रोता हुआ बालक भी (पैरों पर) गिरता है)

शकार—अरे ! कहता तो हूँ कि पुत्र सहित चारुदत्त को मार डालो।

(चारुदत्त भय का अभिनय करता है)

चाण्डालौ--णहि अम्हाणं ईदिशी लाआण्णत्ती, जधा शपुत्तं चालुदत्तं वावादेध त्ति । ता णिक्कम ले दालआ ! णिक्कम । (इति निष्क्रामयतः) इमं तइअं घोशणट्ठाणं । ताडेध डिंडिमं । [न ह्यस्माकमीदृशी राजाज्ञप्तिः, यथा सपुत्रं चारुदत्तं व्यापादयतेति । तन्निष्क्राम रे दारक ! निष्क्राम । इदं तृतीयं घोषणास्थानम् । ताडयत डिण्डिमम् ।] (पुनर्घोषयतः)

शकारः--(स्वगतम्) कधं एशे ण पत्तिआअंति पौला ? । (प्रकाशम्) हंहो चालुदत्ता बडुका ! ण पत्तिआअदि एशे पौलजणे । ता अत्तणकेलिकाए जीहाए भणाहि मए वशंतशेणा मालिदेत्ति । [कथमेते न प्रत्ययन्ते पौराः ? । अरे चारुदत्त बटुक ! न प्रत्ययत एष पौरजनः । तदात्मीयया जिह्वया भण—'मया वसन्तसेना मारिता' इति ।]

(चारुदत्तस्तूष्णीमास्ते)

शकारः--अले चंडालगोहे ! ण भणादि चालुदत्तबडुके । ता भणावेध इमिणा जज्जलवंशखंडेण शंखलेण तालिअ तालिअ । [अरे चाण्डालगोह ! न भणति चारुदत्त-बटुकः । तद्भणयतानेन जर्जरवंशखण्डेन शङ्खलेन ताडयित्वा ताडयित्वा ।]

टीका—युक्तम् = समीचीनम् । प्रियवयस्यविरहितः—प्रियवयस्येन = प्रियमित्रेण विरहितः = वियुक्तः । ब्राह्मण्यै = ब्राह्मणस्य चारुदत्तस्य पत्न्यै; दारकम् = बालकम्; समर्प्य = दत्वा । परानयामि = परावर्तयामि; एतम् = एनम्; लघु = शीघ्रम् ॥

शब्दार्थः ईदृशी = ऐसी, राजाज्ञप्तिः=राजा की आज्ञा । सपुत्रम् = बेटे सहित ॥

अर्थः--दोनों चाण्डाल –हम लोगों को ऐसी राजा की आज्ञा नहीं है कि– 'बेटे सहित चारुदत्त को मारो ।' तो निकल रे बच्चे ! निकल । (ऐसा कह कर निकालते हैं) यह घोषणा का तीसरा स्थान है । ढोल पीटो । (फिर घोषणा करते हैं) ।

टीका—ईदृशी = एतादृशी; राजाज्ञप्तिः- राज्ञः = शासकस्य, पालकस्येत्यर्थः; आज्ञप्तिः = आज्ञा । पुत्रेण = सुतेन सहितं सपुत्रम् = ससुतम् ॥

अर्थः—शकार—(अपने आप) क्या ये नगर-निवासी (चारुदत्त के अपराध पर) विश्वास नहीं करते हैं ?

(प्रकट रूप में) अरे चारुदत्त ब्राह्मण ! ये पुरवासी लोग नहीं विश्वास कर रहे हैं । तो (तुम) अपनी जवान से कहो—'मैंने वसन्तसेना को मारा है ।'

(चारुदत्त मौन रहता है)

शब्दार्थः—जर्जरवंशखण्डेन=जीर्ण बाँस के टुकड़े, शङ्खलेन = नगाड़ा के डण्डे से ॥

अर्थः—शकार—अरे गोह नामक चाण्डाल ! चारुदत्त ब्राह्मण नहीं कह रहा है ।

चाण्डालः—(प्रहारमुद्यम्य) भो चालुदत्त ! भणाहि । [भोश्चारुदत्त ! भण ।]

चारुदत्तः—(सकरुणम्)

प्राप्यैतद्व्यसनमहार्णवप्रपातं
न त्रासो न च मनसोऽस्ति मे विषादः ।
एको मां दहति जनापवादवह्नि-
र्वक्तव्यं यदिह मया हता प्रियेति ॥ ३३ ॥

(शकारः पुनस्तथैव)

अतः जीर्ण बाँस के टुकड़े इस नगाडा के डण्डे से मार-मार कर इससे कहलवाओ ।

टीका—जर्जरः = जीर्णतां गतः यः वंशः = वेणुः ('वंशो वेणौ कुले वर्गे पृष्ठाद्यवयवेऽपि च' इति विश्वमेदिन्यौ), तस्य खण्डेन = शकलेन; शङ्कुलेन = वध्यपटहडिण्डिमवादनदण्डेन ॥

अर्थः—**चाण्डाल**—(बाँस का डण्डा तान कर) हे चारुदत्त ! कहो ।

प्राप्यैतदिति—

अन्वयः—एतद्व्यसनमहार्णवप्रपातम्, प्राप्य, अपि, मे, मनसः, न, त्रासः, न च, विषादः, अस्ति; एकः, जनापवादवह्निः, माम्, दहति, यत्, इह, इति, वक्तव्यम्, 'मया, प्रिया, हता' ॥ ३३ ॥

शब्दार्थः—एतद्व्यसनमहार्णवप्रपातम् = इस विपत्ति के सागर में गिरने को (पतन को), प्राप्य = पाकर, अपि = भी, मे = मेरे, मनसः = मन को, न = नहीं, त्रासः = भय, न च = न तो, विषादः = खेद, अस्ति = है । एकः = केवल, जनापवादवह्निः = लोक-निन्दा की आग (लोक-निन्दा रूप आग), माम् = मुझ को, दहति = जला रही है, यत् = जो, इह = यहाँ, इति = ऐसा, वक्तव्यम् = कहना है, 'मया = मेरे द्वारा प्रिया = प्रेमिका (वसन्तसेना), हता = मारी गयी ॥

अर्थः—**चारुदत्त**—(करुणापूर्वक)

विपत्ति के इस सागर में गिर कर (भी) मेरे मन को न तो भय है और न विषाद ही । एकमात्र लोक-निन्दा की आग ही मुझे जला रही है, जो मुझे यहाँ कहना है कि—'मैंने प्रिया (वसन्तसेना) को मारा है' ॥ ३३ ॥

(शकार फिर वैसा ही कहता है)

टीका—एतत् = अनुभूयमानम् तर्तुमशक्यम् वा व्यसनम् = विपत्तिः ('व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामप्रकोपजे' इत्यमरः) एव महार्णवः = महासागरः तस्मिन् प्रपातम् =

चारुदत्तः—भो भोः पौराः ! ('मया खलु नृशंसेन–' [६।३०, ३८] इत्यादि पुनः पठति)

शकारः – वावादिदा । [व्यापादिता ।]

चारुदत्तः—एवमस्तु ।

प्रथमचाण्डालः –अले, तव अत्त वज्झपालिआ । [अरे, तवात्र वध्यपालिका ।]

द्वितीयचाण्डालः—अले, तव । [अरे, तव ।]

प्रथमः—अले, वज्झपालिआए लेक्खअं कलेम्ह । (इति बहुविधं लेखकं कृत्वा)

अले, जदि मम केलिका वज्झपालिआ, ता चिट्ठदु दाव मुहुत्तअं । [अरे, वध्यपालिकाया लेखं कुर्मः । अरे, यदि मदीया वध्यपालिका, तदा तिष्ठतु तावन्मुहूर्तकम्]

प्रपतनम्; प्राप्य = लब्ध्वा; अपि; मे = मम; मनसः = चेतसः, न त्रासः = भीतिः ('दरत्रासौ भीतिर्भीः साध्वसं भयम्' इत्यमरः); न च विषादः = मानसिकं दुःखम्; अस्ति = वर्तते । तर्हि किन्निमित्तं दुर्मनाः इव लक्ष्यसे ? इत्याशङ्कायामाह–एकः = केवलः; ('एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः); जनापवादः = लोकापवादः, नूनमनेनैव वसन्तसेना हता यतोऽसौ वधकाले स्वयमेव स्वीकरोत्येवंरूपः लोकापवादः, स एव वह्निः = अग्निः; चेतोदाहकत्वाल्लोकापवादे वह्नित्वारोपः; माम् = निरपराधिनं चारुदत्तम्; दहति = दग्धं करोति; यत् इह = अत्र, एकत्रिते महति जनसमवाये इत्यर्थः; इति = इत्थम्, वक्तव्यम् = उच्चारितव्यम्; 'मया = चारुदत्तेन, प्रिया = प्रेमिका, वसन्तसेना इत्यर्थः; हता = मारिता । उपस्थितेऽपि प्राणदण्डे वस्तुतः अस्मान्नाऽहं बिभेमि । किन्तु स्वमुखेन स्त्रीहत्यास्वीकारे भाव्यः जनापवादः मम चेतसि सन्तापं जनयतीति भावः ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में रूपक अलङ्कार एवं प्रहर्षिणी छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम् ॥ ३३ ॥

अर्थः-चारुदत्त—हे, हे नगरनिवासियो ! ('मया खलु नृशंसेन—' (६।३०, ३८) इत्यादि फिर पढ़ता है) ।

शकार—मार दी ।

चारुदत्त—ऐसा ही सही ।

पहला चाण्डाल—अरे, आज तेरी बध करने की पारी है ।

दूसरा चाण्डाल—अरे, तुम्हारी (है) ।

पहला—अरे, बध की पारी की गणना करते हैं । (ऐसा कह कर बहुत तरह से

द्वितीयः—किंणिमित्तं ?। [किंनिमित्तम् ?।]

प्रथमः—अले, भणिदो म्हि पिदुणा शग्गं गच्छंतेण, जधा—पुत्त वीरअ ! जइ तुह वज्झपालिआ होदि, मा शहशा वावादअशि वज्झं। [अरे, भणितोऽस्मि पित्रा स्वर्गं गच्छता, यथा—पुत्र वीरक ! यदि तव वध्यपालिका भवति, मा सहसा व्यापादयसि वध्यम्।]

द्वितीयः—अले, किंणिमित्तं ?। [अरे, किंनिमित्तम् ?।]

प्रथमः—कदा वि कोवि शाहू अत्थं दइअ वज्झं मोआवेदि। कदावि लण्णो पुत्ते भोदि, तेण वद्धावेण शव्ववज्झाणं मोक्खे होदि। कदावि हत्थी बधं खंडेदि, तेण शंभमेण वज्झे मुक्के होदि। कदावि लाअपलिवत्ते होदि, तेण शव्ववज्झाणं मोक्खे होदि। [कदापि कोऽपि साधुरर्थं दत्त्वा वध्यं मोचयति। कदापि राज्ञः पुत्रो भवति, तेन वृद्धि-महोत्सवेन सर्ववध्यानां मोक्षो भवति। कदापि हस्ती बन्धं खण्डयति, तेन संभ्रमेण वध्यो मुक्तो भवति। कदापि राजपरिवर्तो भवति, तेन सर्ववध्यानां मोक्षो भवति।]

गणना करके) अरे, यदि मेरा बध करने की पारी है तो एक क्षण तक ठहरो।

दूसरा—किसलिये ?

पहला—अरे, स्वर्ग जाते हुए मेरे पिता ने मुझसे कहा था कि—'वीर पुत्र ! यदि तेरी बध करने की पारी हो तो मारे जाने वाले व्यक्ति (वध्य) को एकाएक मत मारना।'

दूसरा—अरे, किसलिये ?

शब्दार्थः—साधुः = सज्जन। अर्थम् = धन को। वध्यम् = मारे जाने वाले को। मोचयति = छुड़ा ले। वृद्धिमहोत्सवेन = (कुल) बढ़ने के उत्सव के कारण। संभ्रमेण= घबड़ाहट से। राजपरिवर्तः = राजा का परिवर्तन, राज्य का उलट-फेर॥

अर्थः—**पहला**—शायद कोई सज्जन धन देकर मारे जाने वाले आदमी को छुड़ा ले। शायद राजा को पुत्र पैदा हो जाय, तो उस (कुल) बढ़ने के उत्सव के कारण सब वध्य जनों को छोड़ दिया जाय। कदाचित् हाथी बन्धन को तोड़ दे, तो उस घबड़ाहट से मारा जाने वाला छूट जाय। शायद राजा ही बदल जाय (अर्थात् राज्य का उलट-फेर हो जाय) और उसके कारण सभी मारे जाने वाले छूट जायँ।

टीका—साधुः=सज्जनः। अर्थम्=धनम्। वध्यम्=प्राणदण्डार्हम्। मोचयति=मुक्तं कारयति। वृद्धेः=कुलस्य आधिक्यस्य महोत्सवेन=उद्धर्षेण; ('क्षणः उद्धर्षो मह उद्धव उत्सवः' इत्यमरः)। सम्भ्रमेण=त्वरया, भीतिवशात्पलायनत्वरयेत्यर्थः ('संभ्रमस्त्वरा'

शकारः—किं किं लाअपलिवत्ते होदि ?! [किं किं राजपरिवर्तो भवति ?।]

चाण्डालः—अले, वज्झपालिआए लेक्खअं कलेम्ह। [अरे, वध्यपालिकाया लेखं कुर्मः।]

शकारः—अले, शिग्घं मालेध चालुदत्ताकं। [अरे, शीघ्रं मारयत चारुदत्तम्।] (इत्युक्त्वा चेटं गृहीत्वैकान्ते स्थितः)

चाण्डालः—अज्जचालुदत्त! लाअणिओओ खु अवलज्झदि, ण खु अम्हे चाण्डाला; ता शुमलेहि जं शुमलिव्वं। [आर्यचारुदत्त! राजनियोगः खल्वपराध्यति, न खलु वयं चाण्डालाः; तत्स्मर्तव्यम्।]

चारुदत्तः—

प्रभवति यदि धर्मो दूषितस्यापि मेऽद्य
प्रबलपुरुषवाक्यैर्भाग्यदोषात्कथंचित्।
सुरपतिभवनस्था यत्र तत्र स्थिता वा
व्यपनयतु कलङ्कं स्वस्वभावेन सैव ॥ ३४ ॥

भोः! क्व तावन्मया गन्तव्यम्?।

इत्यमरः)। राजपरिवर्तः—राज्ञः=शासकस्य महीपतेः परिवर्तः=परिवर्तनम्; राज्यपरिवर्तनमिति भावः ॥

अर्थः– **शकार**—क्या, क्या राज्य बदल जाय?

शब्दार्थः—वध्यपालिकायाः=बध की पारी का। राजनियोगः=राजा की आज्ञा। तत्=तो, स्मर्तव्यम्=याद कर लेना चाहिये ॥

अर्थः—**चाण्डाल**—अरे, बध की पारी का हिसाब कर रहे हैं।

शकार—अरे! चारुदत्त को जल्द मारो।

(ऐसा कह कर चेट को पकड़ कर एक ओर खड़ा हो जाता है)

चाण्डाल—आर्य चारुदत्त! (तुम्हारे बध के लिये) राजा की आज्ञा ही दोषी है, न कि हम चाण्डाल। तो याद कर लो (जिसे याद करना हो)।

टीका—वध्यस्य=हन्तव्यस्य पालिकायाः=पर्यायस्य। राजनियोगः–राज्ञः=महीपतेः नियोगः=आदेशः। स्मर्तव्यम्=स्मरणीयम्, पुत्रकलत्रादिकमभीष्टं जनम्, स्मरेति शेषः ॥

प्रभवतीति—

अन्वयः—भाग्यदोषात्, अद्य, प्रबलपुरुषवाक्यैः, दूषितस्य, अपि, मे, धर्मः, यदि, कथञ्चित्, प्रभवति, (तदा), सुरपतिभवनस्था, वा, यत्र तत्र, स्थिता, सा, एव, स्वस्व-

चाण्डालः—(अग्रतो दर्शयित्वा) अले, एद दीशदि दक्खिणमशाणं, जं पेक्खिअ

भावेन, (मे), कलङ्कम्, व्यपनयतु ।। ३४ ।।

शब्दार्थः—भाग्यदोषात्=भाग्य के दोष से, अद्य=आज, प्रबलपुरुषवाक्यैः=शक्तिशाली पुरुष के वचनों के कारण, दूषितस्य=कलङ्कित, अपि=भी, मे=मेरा, धर्मः=धर्म, यदि=यदि, कथञ्चित्=किसी तरह भी (कुछ भी), प्रभवति=प्रभाव रखता है, (तदा=तो), सुरपतिभवनस्था=इन्द्र के भवन में स्थित, वा = अथवा, यत्र-तत्र=जहाँ कहीं, स्थिता=वर्तमान, सा=वह (वसन्तसेना), एव=ही, स्वस्वभावेन=अपने स्वभाव से, (मे=मेरे), कलङ्कम् = कलङ्क को, व्यपनयतु=दूर करे ।।

अर्थः—चारुदत्त—भाग्य के दोष से आज शक्तिशाली पुरुष (शकार) के (झूठा) कहने के कारण कलङ्कित हुए भी मेरा धर्म यदि कुछ भी प्रभाव रखता है तो इन्द्र के भवन (स्वर्ग) में अथवा जहाँ कहीं वर्तमान वह (वसन्तसेना) ही अपने स्वभाव से मेरे कलङ्क को दूर करे ।। ३४ ।।

अरे, अब मुझे कहाँ जाना है ?

टीका—भाग्यस्य=दैवस्य ('दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः) दोषात्=विकारात् प्रतिकूलत्वादित्यर्थः, अद्य=सम्प्रति; प्रबलस्य=राज्ञः पालकस्य कृपया बलवतः शकारस्येत्यर्थः, अधिकरणिकस्य वा, यः पुरुषः=जनः तस्य वाक्यैः=वचनैः, कथनैः दूषितस्यापि=कलङ्कितस्यापि, न तु वस्तुतः दूषितस्येति ध्वनिः; मे=मम, चारुदत्तस्येत्यर्थः, धर्मः=सुकृतम् ('स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः' इत्यमरः ; यदि=चेत्; कथञ्चित्=किञ्चिन्मात्रमपीत्यर्थः, प्रभवति=प्रभावशाली, समर्थः इत्यर्थः, अस्ति=वर्तते; नूनं मे धर्मः क्षीणः कथमन्यथा एषः व्यसनमहार्णवप्रपातः स्यात्, तथापि तस्मिन् धर्मराशौ यदि लेशोऽप्यवशिष्टस्तदा —सुराणाम्=देवानाम् पतिः=प्रभुः, इन्द्रः इत्यर्थः, तस्य भवनम्=गृहम्, स्वर्गः इति यावत्, ('गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्मनिकेतनम् । निशान्तवस्त्यसदनं भवनागारमन्दिरम्' इत्यमरः), तत्र तिष्ठतीति स्था=स्थिता; वा=अथवा; यत्र तत्र=यस्मिन् कस्मिन् स्थाने लोके वा; स्थिता=वर्तमाना; सैव=सा वसन्तसेना एव; स्वस्वभावेन=स्वचारुप्रकृत्या, मे कलङ्कम्=दोषम्; व्यपनयतु = दूरीकरोतु । यदि मम धर्मस्य लेशोऽप्यवशिष्टः तदा आविर्भूय वसन्तसेना दोषापनयनं करोत्विति भावः । अनेन वसन्तसेनायाः शीघ्रमेव प्रकाशः निर्दिष्टः ।। ३४ ।।

टिप्पणी—इस श्लोक में मालिनी छन्द है । लक्षण—

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ।। ३४ ।।

वज्झा झत्ति पाणाइं मुंचंति । पेक्ख पेक्ख

अद्धं कलेवलं पडिवुत्तं कट्टंति दीहगोमाआ ।
अद्धं पि शूललग्गं वेशं विअ अट्टहाशश्श ॥ ३५ ॥

[अरे एतद्दृश्यते दक्षिणश्मशानम्, यत्प्रेक्ष्य वध्या झटिति प्राणान्मुञ्चन्ति । पश्य पश्य

अर्धं कलेवरं प्रतिवृत्तं कर्षन्ति दीर्घगोमायवः ।
अर्धमपि शूललग्नं वेश इवाट्टहासस्य ॥]

अर्धं कलेवरमिति —

अन्वयः—दीर्घगोमायवः, प्रतिवृत्तम्, अर्धम्, कलेवरम्, कर्षन्ति; शूललग्नम्, अर्धम्, अपि, अट्टहासस्य, वेशः इव (प्रतिभाति) ॥ ३५ ॥

शब्दार्थः – दीर्घगोमायवः=ऊपर शरीर उठाये हुए सियार, प्रतिवृत्तम्= (शूल से) लटके हुए, अर्धम् = आधे, कलेवरम् = शरीर को, कर्षन्ति=नोंच रहे हैं, खींच रहे हैं; शूललग्नम् = शूली में लगा हुआ, अर्धम्=आधा, अपि=भी, अट्टहासस्य=विकट हास का, वेशः = रूप, इव=सा, (प्रतिभाति=प्रतीत हो रहा है) ॥

अर्थः––चाण्डाल –(सामने दिखला कर) अरे ! दक्षिण दिशा में यह श्मशान दिखलाई दे रहा है; जिसे देख कर मारे जाने वाले व्यक्ति शीघ्र ही अपने प्राणों को छोड़ देते हैं । देखो, देखो—

ऊपर शरीर उठाये हुए सियार शूली से लटके हुए आधे शरीर को नोंच रहे हैं । शूली में लगा हुआ (ऊपर का) आधा भाग भी विकट हास का रूप-सा प्रतीत हो रहा है ॥ ३५ ॥

टीका—दीर्घाः=उन्नताः, शूलस्थस्य मृतदेहस्य भक्षणार्थं प्रसारितशरीराः इत्यर्थः, गोमायवः=सृगालाः ("भूरिमायगोमायुमृगधूर्तकाः । सृगालवञ्चकक्रोष्टुफेरुफेरवजम्बुकाः" इत्यमरः) प्रतिवृत्तम्=शूलादवलम्बितम्; अर्धं कलेवरम्=शरीरम्; कर्षन्ति=आकर्षन्ति । शूले=प्राणदण्डसाधनभूते लौहफलके लग्नम् = सक्तम्; अर्धमपि=शेषांशमपि, अट्टहासस्य= विकटस्य हासस्य; वेश इव=रूपमिव; प्रतिभातीति शेषः ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में रूपक अलङ्कार तथा आर्या छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ ३५ ॥

चारुदत्तः—हा, हतोऽस्मि मन्दभाग्यः। (इति सावेगमुपविशति)

शकारः—ण दाव गमिश्शं। चालुदत्ताकं वावादअंतं दाव पेक्खामि। (परिक्रम्यऽ दृष्ट्वा) कधं उवविश्टे ?। [न तावद्गमिष्यामि। चारुदत्तकं व्यापाद्यमानं तावत्पश्यामि। कथमुपविष्टः ?।]

चाण्डालः—चारुदत्ता ! किं भीदेशि ?। [चारुदत्त ! किं भीतोऽसि ?।]

चारुदत्तः—(सहसोत्थाय) 'मूर्ख ! ('न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः' [१०।२७] इत्यादि पुनः पठति)

चाण्डालः—अज्जचालुदत्त ! गअणदले पडिवशंता चंदशुज्जा वि विपत्तिं लहंति, किं उण जणा मलणभीलुआ माणवा वा ?। लोए कोवि उट्ठिदो पडदि, कोवि पडिदोवि उट्ठेदि।

उट्ठंतपडंताह वशणपाडिआ शवश्श उण अत्थि।
एदाइं हिअए कदुअ संधालेहि अत्ताणअं॥ ३६॥

(द्वितीयचाण्डालं प्रति) एदं चउट्ठं घोशणट्ठाणं; ता उग्घोशम्ह। [आर्यचारुदत्त ! गगनतले प्रतिवसन्तौ चन्द्रसूर्यावपि विपत्तिं लभेते, किं पुनर्जना मरणभीरुका मानवा वा ?। लोके कोऽप्युत्थितः पतति, कोऽपि पतितोऽप्युत्तिष्ठते।

उत्तिष्ठत्पततो वसनपातिका शवस्य पुनरस्ति।
एतानि हृदये कृत्वा संधारयात्मानम्॥

अर्थः—**चारुदत्त**—हाय ! मन्द भाग्य वाला मैं मर गया। (ऐसा कह कर आवेग के साथ बैठ जाता है।)

शकार—अभी नहीं जाऊँगा। तो, मारे जाते हुए चारुदत्त को देखूँगा। (घूम कर और देख कर) क्या (वह) बैठ गया ?

चाण्डाल—चारुदत्त ! क्या डर गये हो ?

चारुदत्त—(झट से उठकर) मूर्ख ! ('न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः' (१०।२७) इत्यादि फिर पढ़ता है)।

चाण्डाल—आर्य चारुदत्त ! आकाश में रहने वाले चन्द्रमा और सूर्य भी विपत्ति को पाते हैं; फिर तो मनुष्य अथवा (कहना चाहिये कि) मृत्यु से डरने वाले मानव का क्या कहना ? संसार में कोई (ऊपर) उठ कर गिरता है और कोई गिर कर भी उठता है।

उत्तिष्ठत्पतत इति—

अन्वयः—उत्तिष्ठत्पततः, शवस्य, पुनः, वसनपातिका, अस्ति; एतानि, हृदये,

एतच्चतुर्थं घोषणास्थानम्, तदुद्घोषयावः ।]

(पुनस्तथैवोद्घोषयतः)

चारुदत्तः—हा प्रिये वसन्तसेने ! ('शशिविमलमयूख—' [१०।१३] इत्यादि पुनः पठति)

(ततः प्रविशति ससंभ्रमा वसन्तसेना भिक्षुश्च)

भिक्षुः—हीमाणहे, अट्ठाणपलिश्शंतं शमश्शाशिअ वशंतशेणिअं णअंते अणुग्गहिदम्हि पव्वज्जाए । उवाशिके ! कहिं तुमं णइश्शं ? । [आश्चर्यम्, अस्थानपरिश्रान्तां समाश्वास्य

कृत्वा, आत्मानम्, संधारय ॥ ३६ ॥

शब्दार्थः—उत्तिष्ठत्पततः=उठ कर गिरते हुए, शवस्य=मृत शरीर की, पुनः=फिर, वसनपातिका वस्त्र के समान पतनक्रिया, अस्ति=है । एतानि=इनको हृदये = हृदय में, कृत्वा=करके, आत्मानम्=अपने आप को, संधारय=ढाँढस दो ॥

अर्थः—उठकर गिरते हुए मृत शरीर की फिर वस्त्र के समान ही पतन-क्रिया (जीना-मरना) होती है । इन बातों को हृदय में सोच कर अपने आप को ढाँढ़स दो ॥ ३६ ॥

(दूसरे चाण्डाल के प्रति) यह चौथा घोषणा-स्थान है । तो हम दोनों घोषित करें ।

(फिर वे दोनों उसी प्रकार घोषणा करते हैं)

टीका उत्तिष्ठत्पततः—उत्तिष्ठंश्चासौ पतंश्चेति उत्तिष्ठत्पतत् तस्य उत्तिष्ठत्पततः= कदाचित् उत्थानं लभतः कदाचित् पतनं गच्छतः, अथवा पूर्वमुत्तिष्ठतः उद्गच्छतः पश्चात् पततः=नीचैः व्रजतः; शवस्य=मृतशरीरस्यः, नीचकुलोत्पन्नत्वादशिक्षितसमाजे प्रचलितसंस्कारवशाच्च आत्मनः इति वक्तव्ये शवस्येति वदति; पुनः = मुहुः; वसनपातिका—पातः एव पातिका, वसनस्य=वस्त्रस्य इव पातिका=पतनक्रिया; अस्ति=भवति; यथा जीर्णं वस्त्रं त्यज्यते तथैवेदं शरीरमपीत्यर्थः; अथवा वसनञ्च पातिका चेति वसनपातिका-जीवनं पतनञ्च; अस्ति=जायते, एतानि = अमूनि वचनानि; हृदये=चेतसि; कृत्वा=आधाय; आत्मानम्=स्वम्; संधारय=संस्थापय, स्थिरं कुर्वित्यर्थः । शरीरस्य (आत्मनः) जीवनं (शरीरधारणम्) मरणञ्च (शरीरत्यागश्च) स्वाभाविकः धर्मः । अतः त्वं नानुशोचितुमर्हसीति भावः ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में आर्या छन्द है । लक्षण के लिये देखिये पीछे के श्लोक की टिप्पणी ॥ ३६ ॥

शब्दार्थः-ससम्भ्रमा = घबड़ाहट के साथ । भिक्षुः = बौद्ध संन्यासी (पहले का संवाहक) । अस्थानपरिश्रान्ताम् = अनुचित स्थान में थकी हुई (मूर्छित) । प्रव्रज्यया=सन्यास के द्वारा, अनुगृहीतः = कृत्य-कृत्य । उपासिके ! = हे बुद्ध की उपासना

वसन्तसेनिकां नयन्ननुगृहीतोऽस्मि प्रव्रज्यया । उपासिके ! कुत्र त्वां नेष्यामि ? ।]

वसन्तसेना—अज्जचारुदत्तस्स ज्जेव गेहं । तस्स दंसणेण मिअलांछणस्स विअ कुमुदिणिं आणंदेहि मं । [आर्यचारुदत्तस्यैव गेहम् । तस्य दर्शनेन मृगलाञ्छनस्येव कुमुदिनीमानन्दय माम्]

भिक्षुः—(स्वगतम्) कदलेण मग्गेण पविशामि ? । (विचिन्त्य) लाअमग्गेण ज्जेव पविशामि । उवाशिके ! एहि, इमं लाअमग्गं; (आकर्ण्य) किं णु हु एशे लाअमग्गे महंते कलअले शुणीअदि ? । [कतरेण मार्गेण प्रविशामि ? । राजमार्गेणैव प्रविशामि ।

करने वाली ! तस्य = उसके (चारुदत्त के) दर्शनेन = दर्शन से, मृगलाञ्छनस्य = चन्द्रमा के; (दर्शनेन = दिखलायी पड़ने से), कुमुदिनीमिव = कोइनी की भाँति, माम्= मुझ को आनन्दय=आनन्दित करो ॥

अर्थः—**चारुदत्त**—हाय प्रिये वसन्तसेने ! ('शशिविमल मयूख—' (१०।१३) इत्यादि फिर पढ़ता है)।

(इसके बाद घबड़ाहट के साथ वसन्तसेना और भिक्षु प्रवेश करते है)।

भिक्षु—आश्चर्य है ! अनुचित स्थान में परिश्रान्त (मूर्छित) हुई वसन्तसेना को आश्वस्त करके ले जाता हुआ मैं संन्यास के द्वारा कृतकृत्य हुआ हूँ । उपासिके ! तुम्हें कहाँ ले चलूँ ?

वसन्तसेना—आर्य चारुदत्त के ही घर। उनके दर्शन मे मुझे उसी प्रकार आनन्दित करो जैमे चन्द्रमा के दर्शन से कोइनी आनन्दित होती है ।

टीका संभ्रमेण = व्याकुलतया सहिता ससंभ्रमा = व्याकुलेत्यर्थः । भिक्षुः = बौद्धसन्यासी, संवाहकः इति यावत् । अस्थाने = अनुचिते प्रदेशे परिश्रान्ताम् = खिन्नाम्, मूर्च्छितामित्यर्थः । प्रव्रज्यया = संन्यासेन; अनुगृहीतः=अनुकम्पितः, कृतकृत्यः इति यावत् । उपासिके । = बुद्धोपासिके । तस्य = चारुदत्तस्य; दर्शनेन = साक्षात्कारेण; मृगलाञ्छनस्य—मृगस्य = शशस्य; लाञ्छनम् = चिह्नम् ('लाञ्छनं च चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इत्यमरः) यस्मिन् तस्य; चन्द्रस्येत्यर्थः' दर्शनेनेति शेषः; कुमुदिनीमिव = कुमुद्वतीमिव; माम् = वसन्तसेनाम्; आनन्दय=आह्लादय । यथा चन्द्रस्य दर्शनेन कुमुदिनी प्रफुल्ला भवति तथैव चारुदत्तस्यावलोकनेनाऽहं आनन्देन विकसिता भवामि । अतः तस्यैव दर्शनं कारयेति भावः ॥

टिप्पणी—उपासिके !—बौद्ध-सन्यासी प्रत्येक पुरुष को उपासक एवं स्त्री को उपासिका कहते हैं । उनकी बातचीत का यह सामान्य तरीका है ॥

उपासिके ! एहि, अयं राजमार्गः; किं नु खल्वेष राजमार्गे महान्कलकलः श्रूयते ? ।]

वसन्तसेना—(अग्रतो निरूप्य) कधं पुरदो महाजणसमूहो ? । अज्ज ! जाणाहि दाव किं णेदं त्ति । विसमभरक्कंता विअ वसुंधरा एअवासोण्णदा उज्जइणो वट्टदि । [कथं पुरतो महाञ्जनसमूहः ? । आर्य ! जानीहि तावत्किन्विदमिति । विषमभरक्रान्तेव वसुंधरा एकवासोन्नतोज्जयिनी वर्तते ।]

चाण्डालः—इमं अ पच्छिमं घोशणट्ठाणं, ता तालेध डिंडिमं । उग्घोशेध घोशणं । (तथा कृत्वा) भो चालुदत्त ! पडिवालेहि । मा भाआहि, लहुं ज्जेव मालीअशि ! [इदं च पश्चिमं घोपणास्थानम्, तत्ताडयत डिण्डिमम् । उद्घोषयत घोषणाम् । भोश्चारुदत्त ! प्रतिपालय । मा भैः, शीघ्रमेव मार्यसे ।]

चारुदत्तः—भगवत्यो देवताः ! ।

अर्थः—**भिक्षु**--(अपने आप) किस रास्ते से प्रवेश करूँ ? (विचार कर) सड़क से ही प्रवेश करता हूँ । उपासिके ! आइये, यह सड़क है । (सुन कर) क्या ! सड़क पर यह बड़ा कोलाहल सुनाई पड़ रहा है ?

शब्दार्थः—विषमभराक्रान्ता = एक स्थान पर उमड़ी हुई, एक स्थान पर एकत्रित हुई, भीड़ के बोझ से दबी हुई । पश्चिमम् – आखिरी । प्रतिपालय = प्रतीक्षा करो ॥

अर्थः·**वसन्तसेना**--(सामने देखकर) क्यों ! सामने आदमियों की बहुत बड़ी भीड़ है ? आर्य ! मालूम तो करो कि यह क्या है । एकतरफा बोझ से दबी हुई पृथिवी की भाँति उज्जयिनी नगरी एक स्थान पर उमड़ी जा रही है ।

चाण्डाल--यह आखिरी घोषणा का स्थान है । तो ढोल पीटो : घोषणा घोषित करो । (वैसा करके) हे चारुदत्त ! प्रतीक्षा करो (अर्थात् तैयार हो जाओ) । डरो मत शीघ्र ही मारे जाओगे ।

चारुदत्त--भगवती देवताओं !

टीका–विषमभरक्रान्ता--विषमः = असमः यः भरः = भारः, वस्तूनां गुरुत्वमित्यर्थः, तेन क्रान्ता = आक्रान्ताः अभिभूता; अथवा विषमः = दुःसहः, भयङ्करः यः भरः तेन आक्रान्ता = पीडिता एकवासोन्नता—एकवासे = एकस्मिन् स्थाने उन्नता = गद्गता, एकत्रितेति भावः । पश्चिमम् = अन्तिमम् ('चरममन्त्यपाश्चात्यपश्चिमम्, इत्यमरः) । प्रतिपालय = प्रतीक्षस्व, प्रहारं सोढुं तत्परो भवेति भावः ॥

टिप्पणी—'विषमभरक्रान्तेव वसुन्धरा' के स्थान पर 'विषमभरक्रान्तेव नौः' पाठ अधिक अच्छा होता ॥

भिक्षुः—(श्रुत्वा, ससंभ्रमम्) उवाशिके ! तुमं किल चारुदत्तेण मालिदाशि त्ति चालुदत्तो मालिदुं णीअदि। [उपासिके ! त्वं किल चारुदत्तेन मारितासीति चारुदत्तो मारयितुं नीयते।]

वसन्तसेना—(ससंभ्रमम्) हद्धी हद्धी, कधं मम मंदभाइणीए किदे अज्ज-चालुदत्तो वावादीअदि ?। भो ! तुरिदं तुरिदं आदेसेहि मग्गं। [हा धिक् हा धिक्, कथं मम मन्दभागिन्या. कृत आर्यचारुदत्तो व्यापाद्यते ? । भोः ! त्वरितं त्वरित-मादिश मार्गम्।

भिक्षुः—तुवलदु तुवलदु बुद्धोवाशिआ अज्जचालुदत्तं जीअंतं शमश्शाशिदुं। अज्जा ! अंतलं अंतलं देध। [त्वरतां त्वरतां बुद्धोपासिकार्यचारुदत्तं जीवन्तं समाश्वासयितुम्। आर्याः ! अन्तरमन्तरं दत्त।]

वसन्तसेना—अंतरं अंतरं। [अन्तरमन्तरम्।]

चाण्डालः—अज्जचालुदत्त ! शमिणिओओ अवलज्झदि। ता शुमलेहि जं शुमलि-दव्वं। [आर्यचारुदत्त ! स्वामिनियोगोऽपराध्यति। तत्स्मर यत्स्मर्तव्यम्।]

चारुदत्तः—किं बहुना। ('प्रभवति-' [१०।३४] इत्यादि श्लोकं पठति)

चाण्डालः-(खड्गमाकृष्य) अज्जचालुदत्त ! उत्ताणे भविअ समं चिट्ठ। एक्क-प्पहालेण मालिअ तुमं शग्गं णेम्ह। [आर्यचारुदत्त ! उत्तानो भूत्वा समं तिष्ठ। एक-प्रहारेण मारयित्वा त्वां स्वर्गं नयामः।]

(चारुदत्तस्तथा तिष्ठति)

अर्थः--**भिक्षु**--(सुनकर, घबराहट के साथ) उपासिके ! तुम चारुदत्त के द्वारा मारी गयी हो (ऐसा समझकर) चारुदत्त को मारने के लिये ले जाया जा रहा है।

वसन्तसेना-(घबराहट के साथ) हाय धिक्कार है; क्या मुझ अभागिन के लिये आर्य चारुदत्त मारे जा रहे हैं ? अरे। जल्दी-जल्दी रास्ता बतलाओ।

भिक्षु-जिन्दा रहते आर्य चारुदत्त को ढाँडस देने के लिये बुद्ध की उपासिका जल्दी करें, जल्दी करें। आर्यो ! बगल होओ रास्ता (अवकाश) दो।

वसन्तसेना--जगह (दो), जगह (दो)।

चाण्डाल--आर्य चारुदत्त ! स्वामी (राजा) की आज्ञा अपराध कर रही है। तो याद कर लो, जो याद करना हो।

चारुदत्त--अधिक क्या। ('प्रभवति'--(१०।३४) इत्यादि श्लोक पढ़ता है।

शब्दार्थः—उत्तानः = उतान होकर, ऊपर को होकर। समम् = सीधे, तिष्ठ = खड़े होओ॥

चाण्डालः—(प्रहर्तुमीहते, खड्गपतनं हस्तादभिनयन्) ही, कधं

आअड्ढिदे शलोशं मुट्ठीए मुट्ठिणा गहीदे वि ।
धलणीए कीश पडिदे दालुणके अशणिशण्णिहे खग्गे ॥ ३७ ॥

जधा एदं शवुत्तं, तधा तक्केमि ण विवज्जदि अज्जचालुदत्ते त्ति । भअवदि शह्यवाणि ! पशोद पशीद । अवि णाम चालुदत्तश्श मोक्खे भवे, तदो अणुगहीदं तुए चांडालउलं भवे । [ही, कथम्

आकृष्टः सरोषं मुष्टौ मुष्टिना गृहीतोऽपि ।
धरण्यां किमर्थं पतितो दारुणकोऽशनिसन्निभः खड्गः ॥

अर्थः—**चाण्डाल**—(तलवार खींचकर) आर्य चारुदत्त ! ऊपर को होकर सीधे खड़े होओ । एक वार से मार कर तुमको स्वर्ग पहुँचाते हैं ।

(चारुदत्त वैसे ही खड़ा होता है)

टीका—उत्तानः = ऊर्ध्वाननः, उन्नमितवक्षः स्थलःइत्यर्थः । समम् = सरलम्, अवक्रं यथा तथेत्यर्थः; तिष्ठ = स्थितो भव ॥

आकृष्टः सरोषमिति—

अन्वयः—मुष्टौ, मुष्टिना, गृहीतः । अपि, सरोषम्, आकृष्टः, अशनिसन्निभः, दारुणः, खड्गः, धरण्याम्, किमर्थम्, पतितः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थः—मुष्टौ = मूठ पर, मुष्टिना = मुट्ठी से, गृहीतः = पकड़ी गयी, अपि = भी, सरोषम् = रोषपूर्वक, आकृष्टः = खींची गयी, अशनिसन्निभः = वज्र के समान, दारुणः = भयङ्कर, खड्गः = तलवार, धरण्याम् = पृथिवी पर, किमर्थम् = क्यों, पतितः= गिरी ? ॥

अर्थः—**चाण्डाल**—(वार करना चाहता है । हाथ से तलवार गिरने का अभिनय करते हुए) ओह ! यह कैसे ?

मूठ पर (कस कर) मुट्ठी से पकड़ी गयी भी तथा रोषपूर्वक (म्यान से) खींची गई, वज्र के समान भयङ्कर यह तलवार जमीन पर क्यों गिरी ? ॥ ३७ ॥

टीका—मुष्टौ = त्सरौ, ('त्सरुः खड्गादि मुष्टौ स्यात्' इत्यमरः); मुष्टिना = बद्धहस्तेन ('हस्तो मुष्ट्या तु बद्धया' इत्यमरः), दृढहस्तेनेत्यर्थः; गृहीतः = आदत्तः; अपि; सरोषम् = सक्रोधम् आकृष्टः = कोशात् निःसारितः; हन्तुं झटिति उत्तोलितः वा; अशनिसन्निभः = वज्रसदृशः; कठोरप्रहारः इत्यर्थः; दारुणः = कर्मणा आकृत्या च

यथैतत्संवृत्तम्, तथा तर्कयामि न विपद्यत आर्यचारुदत्त इति। भगवति सह्यवासिनि! प्रसीद प्रसीद अपि नाम चारुदत्तस्य मोक्षो भवेत्, तदानुगृहीतं त्वया चाण्डाल-कुलं भवेत्।]

अपरः—जधाणत्तं अणुचिट्ठम्ह। [यथाज्ञप्तमनुतिष्ठावः।]

प्रथमः—भोदु, एव्वं कलेम्ह। [भवतु, एवं कुर्वः।]

(इत्युभौ चारुदत्तं शूले समारोपयितुमिच्छतः)

भयङ्करः; खड्गः = कृपाणः ('खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः); धरण्याम् = पृथिव्याम्; किमर्थम् = केन हेतुना, पतितः = भ्रष्टः; भवतीति शेषः ॥ ३७ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में गीति छन्द है।

छन्द का लक्षण—

आर्याप्रथमदलोक्तं यदि कथमपि लक्षणं भवेदुभयोः।
दलयोः कृतयतिशोभां तां गीतिं गीतवान् भुजङ्गेशः॥

पृथ्वीधर के अनुसार इसमें उद्गीति छन्द है।

छन्द का लक्षण—

आर्याशकलद्वितये विपरीते पुनरिहोद्गीतिः॥ ३७ ॥

शब्दार्थः—यथा = जिस प्रकार, एतत् = यह (अर्थात् तलवार का गिरना), संवृत्तम् = हुआ, तथा = उससे, तर्कयामि = अनुमान करता हूँ। विपद्यते = मरता है (अर्थात् मरेगा)। सह्यवासिनि! = हे सह्य (नामक पर्वत) पर निवास करने वाली (देवी दुर्गा)! ॥

अर्थः-जिस प्रकार यह हुआ है, उसमें मैं अनुमान करता हूँ कि आर्य चारुदत्त मरेगा नहीं। हे सह्य (नामक पर्वत) पर वास करने वाली देवी दुर्गा! प्रसन्न हो जाओ। यदि आर्य चारुदत्त की मुक्ति हो जाये तो तुम्हारे द्वारा यह चाण्डाल कुल अनुगृहीत हो जाये।

टीका—यथा = येन प्रकारेण; एतत् = खड्गपतनम्; संवृत्तम् = सञ्जातम्; तथा = तेन प्रकारेण; तर्कयामि = अनुमिनोमि। विपद्यते = मृतः भवति; मरिष्यतीत्यर्थः। सह्ये = एतन्नामके गोदावरीसमुद्भवस्थले पर्वते वसति = निवसति इति सह्यवासिनी = तत्र स्थिता दुर्गा, तत्सम्बुद्धौ। सा हि देवी चाण्डालकुलस्य प्रधानदेवतेति प्रतीयते॥

अर्थः दूसरा—हम दोनों (राजा की) आज्ञा के अनुसार कार्य करें।

पहला—अच्छा, ऐसा ही करें।

(ऐसा कह कर दोनों चारुदत्त को शूली पर चढ़ाना चाहते हैं)

चारुदत्तः—('प्रभवति—' [१०।३४] इत्यादि पुनः पठति)

भिक्षुर्वसन्तसेना च—(दृष्ट्वा) अज्जा ! मा दाव मा दाव। अज्जा। एसा अहं मंदभाइणी, जाए कारणादो एसो वावादीअदि। [आर्याः ! मा तावन्मा तावत्। आर्याः ! एषाहं मन्दभागिनी यस्याः कारणादेष व्यापाद्यते।]

चाण्डालः (दृष्ट्वा)

का उण तुलिदं एशा अंशपडंतेण चिउलभालेण।
मा मेत्ति वाहलंती उद्विदहत्था इदो एदि ॥ ३८ ॥

[का पुनस्त्वरितमेषांसपतता चिकुरभारेण।
मा मेति व्याहरन्त्युत्थितहस्तेत एति ॥]

अर्थः—-**चारुदत्त**=–('प्रभवति—-' १०।३४) इत्यादि फिर पढ़ता है)

भिक्षु और वसन्तसेना—(देख कर) आर्यो ! ऐसा मत कीजिये, ऐसा मत कीजिये आर्यजनो ! यह मैं अभागिनी हूँ, जिसके कारण यह (चारुदत्त) मारे जा रहे हैं।

का पुनरिति –

अन्वयः—अंसपतता, चिकुरभारेण, (उपलक्षिता), उत्थितहस्ता, मा, मा,' इति, व्याहरन्ती, एषा, का पुनः, त्वरितम्, इतः, एति ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—अंसपतता = कन्धे पर बिखरे हुए, चिकुरभारेण = केश-कलाप से, (उपलक्षिता = युक्त), उत्थितहस्ता = हाथ उठाये हुई, 'मा = मत, मा = मत, इति = ऐसा, व्याहरन्ती = कहती हुई, एषा = यह, का पुनः = कौन सी स्त्री, त्वरिम्= जल्दी से, इतः = इधर, एति = आ रही है ॥

अर्थः—-**चाण्डाल**—-(देखकर)—-

कन्धों पर बिखरे हुये केश-कलाप से युक्त, हाथ उठाये हुई, 'नहीं, नहीं' कहती हुई यह कौन सी स्त्री जल्दी से इधर आ रही है ॥ ३८ ॥

टीका—अंसपतता– अंसयोः = स्कन्धयोः (अंसः स्कन्धे विभागे स्यादिति हैमः) पतता = लुठता, स्रस्तेन; चिकुराणाम् = केशानाम् ('चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुहः' इत्यमरः) भारेण = समूहेन; उपलक्षिता; उत्थितहस्ता– उत्थितः = चारुदत्तवधस्य निषेधाय उद्गतः हस्तः = करः यस्याः सा; 'मा मा' = नहि, नहि; संभ्रमेऽत्र द्विरुक्तिः; इति = इत्थम्; व्याहरन्ती = कथयन्ती; एषा = इयं पुरो दृश्यमाना; का पुनः किन्नामधेया स्त्री; त्वरितम्=वेगेन; इतः=अस्यां दिशि; एति=आगच्छति ॥३८॥

वसन्तसेना—अज्जचारुदत्त ! किं णेदं ?। [आर्यचारुदत्त ! किं न्विदम् ?।] (इत्युरसि पतति)

भिक्षुः—अज्जचालुदत्त ! किं णेदं ?। [आर्यचारुदत्त ! किं न्विदम् ?। (इति पादयोः पतति)

चाण्डालः—(सभयमुपसृत्य) कधं वशंतशेणा ? णं खु अम्हेहिं शाहु ण वावादिदे। [कथं वसन्तसेना ? ननु खल्वस्माभिः साधुर्न व्यापादितः।]

भिक्षुः—(उत्थाय) अले, जीवदि चालुदत्ते। [अरे, जीवति चारुदत्तः ?।]

चाण्डालः—जीवदि वश्शशदं। [जीवति वर्षशतम्।]

वसन्तसेना—(सहर्षम्) पच्चुज्जीविदम्हि। [प्रत्युज्जीवितास्मि।]

चाण्डालः—ता जाव एदं वुत्तं लाइणो जण्णवाडगदश्श णिवेदेम्ह।] तद्यावदेतद्वृत्तं राज्ञो यज्ञवाटगतस्य निवेदयावः।]

टिप्पणी—इस श्लोक में आर्यावृत्त है। पृथ्वीधर इसमें गाथा छन्द मानते हैं ॥ ३८ ॥

शब्दार्थः—उरसि = वक्षः स्थल पर। उपसृत्य = पास आकर ॥

अर्थः—**वसन्त सेना**—आर्य चारुदत्त ! यह क्या ? (ऐसा कह कर (चारुदत्त) की छाती पर गिरती है)

भिक्षु—आर्य चारुदत्त ! यह क्या ? (ऐसा कह कर पैरों पर गिरता है)

चाण्डाल—(भयपूर्वक पास आकर) क्या वसन्तसेना (है) ? ठीक ही है, हम लोगों ने सज्जन (चारुदत्त) को नहीं मारा।

टीका—उरसि = वक्षःस्थले। उपसृत्य = समीपम् आगत्य ॥

शब्दार्थः—प्रत्युज्जीविता = फिर से जी गयी। वृत्तम् = समाचार को। यज्ञवाटगतस्य = यज्ञशाला में गये हुए ॥

अर्थः—**भिक्षु**—(उठकर) अरे ! चारुदत्त जीवित है ?

चाण्डाल—सौ वर्ष तक जीवित रहे।

वसन्तसेना—(प्रसन्नता के साथ) मैं फिर जी गयी हूँ।

चाण्डाल—तो जब तक इस समाचार को यज्ञशाला में गये हुये राजा से कहते हैं।

टीका—प्रत्युज्जीविता = पुनर्जीविता; चारुदत्तस्य प्राणविपत्तिमुपश्रुत्य मृतेवाभवम्; परञ्च जीवन्तं तमवलोक्य पुनरागतप्राणाऽहं सञ्जातेति भावः। यज्ञवाटे=यज्ञशालायाम् गतस्य = कृतगमनस्य, यज्ञशालायां वर्तमानस्येत्यर्थः ॥

(इति निष्क्रामतः)

शकारः—(वसन्तसेनां दृष्ट्वा, सत्रासम्) हामादिके, केण गब्भदाशी जीवाविदा ? । उक्कंताइं मे पाणाइं । भोदु, पलाइश्शं । [आश्चर्यम्, केन गर्भदासी जीवनं प्रापिता ? । उत्क्रान्ता मे प्राणाः । भवतु, पलायिष्ये ।] (इति पलायते)

चाण्डालः—(उपसृत्य) अले णं अम्हाणं ईदिशी लाआणत्ती जेण शा वावादिदा, तं मालेध त्ति । ता लट्ठिअशालअं ज्जेव्व अण्णेशम्ह । [अरे, नन्वस्माकमीदृशी राजाज्ञप्तिः—येन सा व्यापादिता, तं मारयतेति । तद्राष्ट्रियश्यालमेवान्विष्यावः ।]

(इति निष्क्रान्तौ)

चारुदत्तः—(सविस्मयम्)

केयमभ्युद्यते शस्त्रे मृत्युवक्त्रगते मयि ।
अनावृष्टिहते सस्ये द्रोणवृष्टिरिवागता ॥ ३९ ॥

(ऐसा कह कर निकलते हैं)

अर्थः—**शकार**—(वसन्तसेना को देखकर भयपूर्वक) आश्चर्य है ! किसने (इस) गर्भदासी को जिला दिया ? मेरे प्राण निकल रहे हैं । अच्छा, (अब यहां से) भागूँगा । (ऐसा कह कर भागता है)

शब्दार्थः—राजाज्ञप्तिः = राजा की आज्ञा । व्यापादिता = मारी गयी ॥

अर्थः—**चाण्डाल**—(समीप जाकर) अरे, हमको राजा की ऐसी आज्ञा है कि - 'जिसने उसको मारा है, उसको मारो' । तो राजा के साले (शकार) को ही खोजूँगा ।

(इस प्रकार दोनों निकल जाते हैं)

टीका—राजाज्ञप्ति :—राज्ञः = महीपतेः, पालकस्येति यावत्, आज्ञप्तिः=आदेशः । व्यापादिता = मारिता ॥

केयमभ्युद्यते इति—

अन्वय—शस्त्रे, अभ्युद्यते, मयि, मृत्युवक्त्रगते; अनावृष्टिहते, सस्ये, द्रोणवृष्टिः, इव; इयम्, का, आगता ॥ ३९ ॥

शब्दार्थः—शस्त्रे = शस्त्र, अभ्युद्यते = उठ जाने पर, मयि = मेरे, मृत्युवक्त्रगते = मृत्यु के मुँह में चले जाने पर; अनावृष्टिहते = बिना वर्षा के सूखी, सस्ये = खेती पर, द्रोणवृष्टिः = द्रोण (नामक बादल) की वर्षा (के), इव = समान, इयम् = यह का=कौन (स्त्री), आगता = आ गयी है ? ॥

अर्थः—**चारुदत्त**—(आश्चर्य से)

(मुझे मारने के लिये) शस्त्र उठ जाने पर तथा मेरे मृत्यु के मुँह में चले जाने पर

(अवलोक्य च)

वसन्तसेना किमियं द्वितीया समागता सैव दिवः किमित्थम् ।
भ्रान्तं मनः पश्यति वा ममैनां वसन्तसेना न मृताऽथ सैव ॥ ४० ॥

विना वर्षा के सूखी खेती पर द्रोण (नामक बादल) की वर्षा के समान (यह कौन स्त्री) आ गयी है ? ॥ ३९ ॥

टीका—शस्त्रे = खड्गरूपे आयुधे अभ्युद्यते = मम वधार्थमुद्गते सति; तथा मयि = चारुदत्ते; मृत्योः = कालस्य वक्त्रे = मुखे गते=वर्तमाने; अनावृष्टया = अवर्षणेन हते = नष्टप्राये; सस्ये = धान्यादौ; द्रोणस्य = अतिवृष्टिकरस्य मेघविशेषस्य वृष्टिः = वर्षणम्; इव; धारासारप्रबला वृष्टिरिवेत्यर्थः; इयम् = पुरो वर्तमाना अपरिचितेव प्रतीयमाना; विलुलितवेशतयाऽपरिचितत्वं बोध्यम्; का=का स्त्री; आगता=उपस्थिता ? ॥३९ ॥

टिप्पणी इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ३९ ॥

वसन्तसेनेति—

अन्वयः—किम्, इयम्, द्वितीया, वसन्तसेना ? किम्, सा, एव, दिवः, इत्थम्, समागता ? वा, मम, भ्रान्तम्, मनः, एनाम्, पश्यति ? अथवा, वसन्तसेना, न, मृता; (इयम्), सा, एव ॥ ४० ॥

शब्दार्थः—किम् = क्या, इयम् = यह, द्वितीया = दूसरी, वसन्तसेना ? = वसन्तसेना है ? अथवा; किम् = क्या, सा = वह, एव = ही, दिवः = स्वर्ग से, इत्थम्= इस तरह, समागता = आ गयी है ? वा = अथवा, मम = मेरा, भ्रान्तम् = चकराया हुआ (भ्रम में पड़ा हुआ), मनः = मन, एनाम् = इस (स्त्री) को, पश्यति = देख रहा है ? (समझ रहा है ?), अथवा, वसन्तसेना = वसन्तसेना वेश्या, न मृता = मरी नहीं है; (इयम् = यह), सा = वह, एव = ही (है) ? ॥

(फिर देख कर)

अर्थः—क्या यह दूसरी वसन्तसेना है ? अथवा क्या वह ही स्वर्ग से इस तरह (शरीर धारण कर) आ गयी है ? अथवा मेरा चकराया हुआ (भ्रान्त) मन ही इस (स्त्री) को (वसन्तसेना) समझ रहा है ? अथवा वसन्तसेना मरी नहीं है, यह वही है ? ॥ ४० ॥

टीका—किमिति सन्देहे; इयम्=पुरो दृश्यमाना रमणी; द्वितीया=अन्या, वसन्तसेनाभिन्ना; वसन्तसेना अस्ति ? वस्तुतः वसन्तसेनाभिन्नाऽपि सर्वांशेषु साम्यधारिणी अतः वसन्त-

अथवा,—

किं नु स्वर्गात्पुनः प्राप्ता मम जीवातुकाम्यया।
तस्या रूपानुरूपेण किमुतान्येयमागता ॥ ४१ ॥

मेनेत्यभिधातुं योग्या किमियं तस्याः प्रतिकृतिरस्तीति संदेहः। किम् सा = ज्ञाना-स्वादा मम प्रेयसी, एव; दिवः = स्वर्गात्; इत्थम् = अनेन प्रकारेण, मम जीवातुकाम्यया एवं रूपं धृत्वेत्यर्थः; समागता = प्राप्ता ? वा = अथवा; मम = वधस्थले स्थितस्य चारुदत्तस्य; भ्रान्तम् = भ्रान्तिमत्, अतस्मिन् तद्वत्ताबुद्धिः भ्रान्तिरिति; मनः = चेतः; एनाम् = पुरोवर्तिनीम् नारीम्; पश्यति = वसन्तसेनाबुद्धया अवलोकयति ? अथवा वसन्त-सेना = मम प्रेयसी प्रसिद्धा वेश्या; न मृता = मृत्युं न गता; इयम् सा = वस्तुतः वसन्त-सेनैवास्ते इति भावः ॥ ४० ॥

टिप्पणी--इस श्लोक में सन्देह अलंकार तथा उपजाति छन्द है।

छन्द का लक्षण--

(स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ॥)
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥ ४० ॥

किं नु स्वर्गादिति--

अन्वयः—मम, जीवातुकाम्यया, स्वर्गात्, पुनः, प्राप्ता, किं नु ? उत, तस्याः, रूपानुरूपेण, इयम्, अन्या, आगता, किम् ? ॥ ४१ ॥

शब्दार्थः--मम = मुझे, जीवातुकाम्यया = जिलाने की इच्छा से, स्वर्गात् = स्वर्ग से, पुनः = फिर, प्राप्ता = उतर आई है, किं नु = क्या ? उत = अथवा, तस्याः = उस (वसन्तसेना) के, रूपानुरूपेण = रूप के सादृश्य से (अर्थात् रूप के समान रूप-वाली), इयम् = यह, अन्या = दूसरी स्त्री, आगता = आ गयी है, किम् = क्या ? ॥

अथवा--

अर्थः--मुझे जिलाने की इच्छा से (हो) यह स्वर्ग से फिर उतर आयी है क्या ? अथवा उस (वसन्तसेना) के रूप के समान रूपवाली यह दूसरी (ही स्त्री) आ गयी है क्या ? ॥ ४१ ॥

टीका—मम = स्वप्रियस्य चारुदत्तस्येत्यर्थः; जीवातोः = जीवितस्य ('जीवातु-रस्त्रियां भक्ते जीविते जीवनौषधे' इति मेदिनी) काम्या = इच्छा तया, मम जीवनेच्छये-त्यर्थः; स्वर्गात् = दिवः; पुनः = मुहुः, मृत्योरनन्तरं तत्र गत्वाऽपीत्यर्थः; प्राप्ता = आगता; किं नु = इति वितर्के; उत = अथवा; तस्याः = वसन्तसेनायाः; रूपानुरूपेण–

वसन्तसेना—(सास्रमुत्थाय, पादयोर्निपत्य) अज्जचालुदत्त ! सा ज्जेव अहं पावा, जाए कारणादो इअं तुए असरिसो अवत्था पाविदा। [आर्यचारुदत्त ! सैवाहं पापा, यस्याः कारणादियं त्वयासदृश्यवस्था प्राप्ता ।]

(नेपथ्ये)

अच्चरिअं अच्चरिअं, जीवदि वसंतसेना [आश्चर्यमाश्चर्यम्, जीवति वसन्तसेना ।] (इति सर्वे पठन्ति)

चारुदत्तः—(आकर्ण्य सहसोत्थाय स्पर्शसुखमभिनीय निमीलिताक्ष एव हर्ष-

---

रूपस्य = आकृतेः अनुरूपेण = सादृश्येन; वसन्तसेनायाः आकृतेः सदृशेन आकारेण उपलक्षिता सतीत्यर्थः; इयम् = सम्मुखस्था; अन्या = अपरा स्त्री; आगता = प्राप्ता; किमिति प्रश्ने। मया विना मम कारणेन वा चारुदत्तः मृतः हतः वा भविष्यतीति विचार्य स्नेहपरवशा पुनः सैव स्वर्गादागता किम् ; अथवा तत्तुल्यरूपा इयमन्यैवागता किमिति सन्देहः ॥ ४१ ॥

टिप्पणी—जीवातुकाम्यया–जीवातुः = जीवन की काम्यया = इच्छा से, जीवन की इच्छा से, जीव्यते अनेन इति, जीव + आतु (उणादि १,७६) ॥

इस श्लोक में सन्देह अलंकार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है।

छन्द का लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थः—सास्रम् = आँसुओं के साथ (अर्थात् आँखों में आँसू भरे हुई)। निपत्य = गिरकर, पड़कर। पापा = पापिनी। असदृशी = अनुचित, अवस्था = हालत।

अर्थः - **वसन्तसेना**—(आँखों में आँसू भरे हुई उठकर और पैरों पर पड़कर) आर्य चारुदत्त ! वही मैं पापिनी हूँ, जिसके कारण तुमने इस अनुचित हालत को प्राप्त किया है।

टीका—अस्रैः = अश्रुभिः ('अस्रः कोणे कचे पुंसि क्लीबमश्रुणि शोणिते' इति मेदिनी) सहितं यथा तथा। निपत्य = पतित्वा। पापा = पापम् अस्याः अस्ति इति पापा = पापयुक्ता। असदृशी = अयोग्या; अवस्था = दशा ॥

(पर्दे में)

अर्थः–आश्चर्य है ! आश्चर्य है ! वसन्तसेना जीवित है। (इस प्रकार सभी पढ़ते हैं)

शब्दार्थः—आकर्ण्य=सुनकर। निमीलिताक्षः=आँख मूँदे हुए। हर्षगद्गदाक्षरम्=प्रसन्नता के कारण गद्गद अक्षरों में ॥

गद्गदाक्षरम्) प्रिये ! वसन्तसेना त्वम् ? ।

वसन्तसेना—सा ज्जेवाहं मंदभाआ । [सैवाहं मन्दभाग्या ।]

चारुदत्तः -(निरूप्य, सहर्षम्) कथं वसन्तसेनैव ? । (सानन्दम्)

कुतो बाष्पाम्बुधाराभिः स्नपयन्ती पयोधरौ ।
मयि मृत्युवशं प्राप्ते विद्येव समुपागता ॥ ४२ ॥

अर्थः -**चारुदत्त**-(सुन कर, झट से उठ कर, स्पर्श-सुख का अभिनय करके आँख मूँदे हुए ही प्रसन्नता के कारण गद्गद अक्षरों में) प्रिये ! तुम वसन्तसेना हो ?

वसन्तसेना--वही मैं अभागिन हूँ ।

टीका आकर्ण्य=श्रुत्वा । निमीलिते=अनुद्घाटिते अक्षिणी=नेत्रे यस्य तादृशः । हर्षगद्गदाक्षरम् —हर्षेण=स्पर्शजन्यसुखानन्देन गद्गदानि=कम्पायमानस्वरसंयुक्तानि अक्षराणि=वर्णाः यस्मिन् तद्यथा तथेत्यर्थः ॥

कुतः इति

अन्वयः—मयि, मृत्युवशम्, प्राप्ते, बाष्पाम्बुधाराभिः, पयोधरौ, स्नपयन्ती, (त्वम्) विद्या, इव, कुतः, समागता ॥ ४२ ॥

शब्दार्थः—मयि=मेरे, मृत्युवशम्=मृत्यु के वश को, प्राप्ते=प्राप्त होने पर, बाष्पाम्बुधाराभिः=आँसुओं की धाराओं से, पयोधरौ=दोनों स्तनों को, स्नपयन्ती=सींचती हुई, स्नान कराती हुई, (त्वम्=तुम), विद्या=(सञ्जीवनी) विद्या (के), इव=समान, कुतः=कहाँ से, समागता=आ गयी हो ?

अर्थः-**चारुदत्त**--(देख कर, प्रसन्नता के साथ) क्या वसन्तसेना ही हो ?

(आनन्द पूर्वक)--

मेरे मृत्यु के वश में प्राप्त होने पर आँसुओं की धाराओं से (अपने) दोनों स्तनों को सींचती हुई तुम (सञ्जीवनी) विद्या की भाँति कहाँ से आ गयी हो ? ॥ ४२ ॥

टीका--मयि=चारुदत्ते; मृत्युवशम्--मृत्योः=कालस्य वशम्=अधिकारम्; प्राप्ते=गते सति; बाष्पाम्बुधाराभिः=नेत्रजलप्रवाहैः; पयोधरौ=स्तनौ; स्नपयन्ती=सिञ्चन्ती; एतेन स्तनयोः उन्नतत्व सूचितम्; विद्या=सञ्जीवनी विद्या; इव; कुतः=कस्मात् स्थानात्; समागता=सम्प्राप्ता । यथा मृतसञ्जीवनी विद्या मृते जीवनसञ्चारिणी भवति तथैव तवागमनं मह्यं जीवनदायि अस्तीति भावः ॥ ४२ ॥

टिप्पणी--विद्या=सञ्जीवनी विद्या,- पुराणों के अनुसार दैत्य गुरु शुक्राचार्य इस विद्या के मर्मज्ञ थे । उन्होंने देवों के साथ युद्ध में मरे हुए दैत्यों को इसी विद्या से

प्रिये वसन्तसेने !

त्वदर्थमेतद्विनिपात्यमानं देहं त्वयैव प्रतिमोचितं मे ।
अहो प्रभावः प्रियसंगमस्य मृतोऽपि को नाम पुनर्ध्रियेत ? ॥ ४३ ॥

जीवित कर दिया था ॥

बाष्पाम्बुधाराभिः--अश्रुजल की धाराओं से--यहाँ पर अम्बु शब्द निरर्थक है क्योंकि बाष्प शब्द से ही अभीष्ट अर्थ निकल आता है ॥

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है । छन्द का लक्षण--

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ४२ ॥

त्वदर्थमिति--

अन्वयः--त्वदर्थम्, विनिपात्यमानम्, मे, एतत्, देहम्, त्वया, एव प्रतिमोचितम्, प्रियसंगमस्य, अहो ! प्रभावः, (अन्यथा), मृतः, अपि, कः नाम, पुनः, ध्रियेत ? ॥४३॥

शब्दार्थः--त्वदर्थम्=तुम्हारे लिये (तुम्हारे कारण), विनिपात्यमानम्=नष्ट किया जाता हुआ, मे=मेरा, एतत्=यह, देहम्=शरीर, त्वया=तुम्हारे द्वारा, एव=ही, प्रतिमोचितम्=छुड़ाया गया । प्रियसंगमस्य=प्रेमी के मिलन का, अहो=आश्चर्यजनक, प्रभावः=प्रभाव (है) । (अन्यथा=नहीं तो), मृतः=मरा, अपि=भी, कः नाम=कौन सा, पुनः=फिर, ध्रियेत=जिन्दा होता है ? ॥

अर्थः--प्रिये वसन्तसेने !

तुम्हारे कारण नष्ट किया जाता हुआ मेरा यह शरीर तुम्हारे ही द्वारा छुड़ाया गया । प्रेमी के मिलन का आश्चर्यजनक प्रभाव है । नहीं तो, भला, मर कर भी कोई जिन्दा होता है ? ॥ ४३ ॥

टीका--त्वदर्थम्--त्वमेव अर्थः यस्मिन् तत् त्वदर्थम्=त्वन्निमित्तं यथा; विनिपात्यमानम्=वध्यमानम्; मे=मम; एतत्=तव पुरोवर्ति; देहम्=देहः ('कायो देहः क्लीबपुंसोः' इत्यमरः); त्वयैव=वधे कारणभूतया भवत्यैव; प्रतिमोचितम्; = शूलादवतार्य रक्षितम्; प्रियसंगमस्य = प्रेमास्पदजनानां संगतेः; अहो !=आश्चर्यजनकः इत्यर्थः; प्रभावः प्रतापः; अन्यथा मृतः=प्राणवियुक्तः, मृतकल्पः इत्यर्थः; अपि, कः=कः पुरुषः; नाम = संभावनायाम्; पुनः=मुहुः; ध्रियेत;=जीवेत् प्राणैरिति शेषः । मृतप्रायोऽहं प्रेयस्याः तव दर्शनेनैव मुक्तः । अतः वक्तुं शक्यते यत्प्रियसङ्गमस्य महत्वमाश्चर्यकरमिति भावः ॥ ४३ ॥

टिप्पणी--इस श्लोक मे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार तथा उपजाति छन्द है ।

छन्द का लक्षण--

अपि च प्रिये ! पश्य,—

रक्तं तदेव वरवस्त्रमियं च माला
कान्तागमेन हि वरस्य यथा विभाति।
एते च वध्यपटहध्वनयस्तथैव
जाता विवाहपटहध्वनिभिः समानाः ॥ ४४ ॥

(स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ॥)
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥ ४३ ॥

रक्तं तदेवेति -

अन्वयः--कान्तागमेन,तदेव, रक्तम्, वरवस्त्रम्, इयम्, माला, च, वरस्य, यथा, हि, विभाति; च, तथैव, एते, वध्यपटहध्वनयः, विवाहपटहध्वनिभिः, समानाः जाताः ॥४४॥

शब्दार्थः–कान्तागमेन=प्रिया के आ जाने से, तदेव वही, रक्तम्=लाल, वरवस्त्रम्=श्रेष्ठ वस्त्र, इयम् = यह, माला = फूलों को माला, च = भी, वरस्य दुलहे को, यथा = जैसी, हि = निश्चित हो, विभाति = शोभित हो रही है। च = और, तथैव = उसी प्रकार से, एते = ये, वध्यपटहध्वनयः = वध के लिये बजाये जाते हुए बाजों की आवाजें, विवाहपटहध्वनिभिः = विवाह के बाजों की ध्वनियों के, समानाः = समान, जाताः = हो गयी हैं ॥

और भी प्रिये ! देखो—

अर्थः --प्रिया के (अर्थात् तुम्हारे) आ जाने से, वही लाल वस्त्र दुलहे के वस्त्र (के समान) और यह माला दुलहे को पहनायी गयी माला के समान शोभित हो रही है। और उसी प्रकार वध के लिये बजाये जाते हुए बाजों की ये आवाजें विवाह के बाजों की ध्वनियों के समान हो गयी हैं ॥ ४४ ॥

टीका—कान्तागमेन--कान्तायाः = प्रियायाः आगमेन = आपतनेन, प्राप्त्या इत्यर्थः; तदेव=पूर्व वध्यचिह्नभूतमेव; रक्तम्=रक्तवर्णम्, वरवस्त्रम्=श्रेष्ठं वध्यवसनम्; वस्त्रस्य श्रेष्ठत्वमत्र रक्तत्वेन निर्दिश्य अथवा वध्यचिह्नभूतस्य वरस्येव प्रतीयमानत्वमेव तस्य श्रेष्ठत्वम्; इयम्=मम कण्ठे अर्पिता, माला - स्रक्; च = अपि; वरस्य = जामातुः, विवाहोद्युक्तस्य जनस्येत्यर्थः (वरो जामातरि वृतौ देवतादेरभीप्सिते' इति मेदिनी); यथा = इव; हि = निश्चितम्; विभाति = शोभते। च = तथा; तथैव = तेनैव प्रकारेण, यथा वस्त्रं माला च वरस्येव विभाति तथैवेत्यर्थः; एते = श्रूयमाणाः; वध्यपटहस्य = प्राणदण्डितस्य जनस्य वधकाले वाद्यमानस्य आनकस्य 'आनकः पटहोऽस्त्री' इत्यमरः)। ध्वनयः = शब्दाः; विवाहस्य = उद्वाहस्य, उद्वाहे वाद्यमानस्येत्यर्थः, पटहस्य ध्वनिभिः = शब्दैः; समानाः = तुल्याः; जाताः = सम्पन्नाः। सर्वाणि

वसन्तसेना—अदिदक्खिणदाए किं ण्णेदं ववसिदं अज्जेण ?। [अतिदक्षिणतया किं न्विदं व्यवसितमार्येण ?।]

चारुदत्तः—प्रिये ! त्वं किल मया हतेति—

पूर्वानुबद्धवैरेण शत्रुणा प्रभविष्णुना।
नरके पतता तेन मनागस्मि निपातितः ॥ ४५ ॥

वध्यचिह्नानि प्रियायाः वसन्तसेनायाः आगमनेन वरचिह्नानीव प्रतीयन्ते इति निर्गलितार्थः ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में अनुकूल तया उपमा अलङ्कार एवं वसन्ततिलका छन्द है। छन्द का लक्षण -

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थः—अतिदक्षिणतया = अति उदारता अथवा सरलता के कारण। **आर्येण** = मान्य आप के द्वारा। व्यवसितम् = किया गया ? ॥

अर्थः वसन्तसेना—अति उदारता के कारण आपने यह क्या कर डाला ?

टीका -अतिदक्षिणतया—अतिदक्षिणस्य = अत्युदारस्य भावः अतिदक्षिणता = अत्युदारता, अतिसरलता वा तया, ('दक्षिणे सरलोदारौ' इत्यमरः), **आर्येण = मान्येन** भवता; व्यवसितम् = अनुष्ठितम् ? ॥

पूर्वानुबद्धवैरेणेति—

अन्वयः—पूर्वानुबद्धवैरेण, प्रभविष्णुना, नरके, पतता, तेन, शत्रुणा, **मनाक्**, निपातित , **अस्मि** ॥ ४५ ॥

शब्दार्थः—पूर्वानुबद्धवैरेण = पहले से ही वैर बाँधने वाले, प्रभविष्णुना = शक्तिशाली, नरके = नरक में, पतता=गिरते हुए, तेन = उस, शत्रुणा = शत्रु के द्वारा, मनाक् = थोड़ा सा, निपातितः = गिराया गया, कलङ्कित किया गया, अस्मि = हूँ ॥

अर्थः चारुदत्त—प्रिये ! 'मैंने तुम्हे मार डाला' ऐसा कहकर—

पहले से ही वैर बाँधने वाले, शक्तिशाली, नरक में गिरने वाले उस शत्रु (शकार) के द्वारा थोड़ा सा कलङ्कित कर दिया गया हूँ ॥ ४५ ॥

टीका—पूर्वानुबद्धवैरेण—पूर्वम् = पूर्वकालादेवेत्यर्थः, यतः प्रभृति त्वया तिरस्कृतः ततः आरभ्येति भावः, अनुबद्धम् = स्वहृदये संरोपितम् स्थापितम् वा वैरम् = शत्रुत्वम् येन तादृशेन, प्रभविष्णुना = सर्वं कर्तुं समर्थेन, शक्तिशालिनेति यावत्; राजश्यालत्वेन तस्य प्रभविष्णुत्वमत्र निर्दिष्टम्; नरके = निरये (स्यान्नारकस्तु नरको निरयो दुर्गतिः स्त्रियाम्'

वसन्तसेना—(कर्णौ पिधाय) संतं पावं; तेण म्हि राअसालेण वावादिदा। [शान्तं पापम्; तेनास्मि राजश्यालेन व्यापादिता ।]

चारुदत्तः—(भिक्षुं दृष्ट्वा) अयमपि कः ? ।

वसन्तसेना—तेण अणज्जेण वावादिदा; एदिणा अज्जेण जीवाविदम्हि । [तेनानार्येण व्यापादिता, एतेनार्येण जीवं प्रापितास्मि ।]

चारुदत्तः—कस्त्वमकारणबन्धुः ? ।

भिक्षुः—ण पच्चभिजाणादि मं अज्जो ? । अहं शे अज्जश्श चलणशंबाहचितए शंवाहके णाम । जूदिअलेहिं गहिदे एदाए उवाशिकाए अज्जश्श केलके त्ति अलंकालपणणिक्कीदे म्हि । तेण अ जूदणिव्वेदेण शक्कशमणके शंवुत्ते म्हि । एशा वि अज्जा पवहणविपज्जाशेण पुप्फकलंडकजिण्णुज्जाणं गदा । तेण अ अणज्जेण ण मं वहु मण्णेशि

इत्यमरः); पतता = गच्छता, आत्मानं निक्षिपतेति भावः, तेन = आवयोर्मध्ये बहुशः शत्रुरूपेण चर्चितेन शकारेण; तच्छब्देन निर्देशस्तु हार्दिकीं घृणां सूचयति; शत्रुणा = वैरिणा; मनाक् = किञ्चित्; निपातितः = भ्रष्टः कृतः, कलङ्कितः इति यावत्; अस्मि = वर्ते । त्वं मया मारितेति उक्त्वा शत्रुणा शकारेण किञ्चित् कलङ्कितः कृतः अस्मीति भावः ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—प्रभविष्णुना—प्रभावशाली, प्र + √भू + इष्णुच् ॥ इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ४५ ॥

अर्थः—वसन्तसेना—(कानों को ढक कर) पाप शान्त हो। (मैं तो) उस राजश्यालक (शकार) के द्वारा मारी गयी थी।

चारुदत्त—(भिक्षु को देखकर) और यह कौन है ?

शब्दार्थः—अनार्येण = असभ्य के द्वारा, व्यापादिता = मारी गयी। जीवम् = जीवन को। प्रापिता = प्राप्त करायी गयी । अकारणबन्धुः = निःस्वार्थ सहायता करने वाले ॥

अर्थः-वसन्तसेना—उस असभ्य (शकार) के द्वारा मारी गयी थी और इन आर्य के द्वारा जिलायी गयी हूँ ।

चारुदत्त—निःस्वार्थ सहायता करने वाले (अकारण-बन्धु) तुम कौन हो ?

टीका—अनार्येण = असभ्येन; दुष्टेनेति भावः; व्यापादिता = मारिता । जीवम् = जीवनम् । प्रापिता = लम्भिता । अकारणबन्धुः = अहेतुकहितकर्ता ॥

त्ति बाहुपाशबलक्कालेण मालिदा मए दिट्ठा । [न प्रत्यभिजानाति मामार्यः ? । अहं स आर्यस्य चरणसंवाहचिन्तया संवाहको नाम द्यूतकरैर्गृहीत एतयोपासिकयार्यस्यात्मीय इत्यलंकारपणनिष्क्रीतोऽस्मि । तेन च द्यूतनिर्वेदेन शाक्यश्रमणकः संवृत्तोऽस्मि । एषाप्यार्या प्रवहणविपर्यासेन पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं गता । तेन चानार्येण न मां बहु मन्यस इति बाहुपाशबलात्कारेण मारिता मया दृष्टा ।]

(नेपथ्ये कलकलः)

जयति वृषभकेतुर्दक्षयज्ञस्य हन्ता
तदनु जयति भेत्ता षण्मुखः क्रौञ्चशत्रुः ।
तदनु जयति कृत्स्नां शुभ्रकैलासकेतुं
विनिहतवरवैरी चार्यको गां विशालाम् ॥ ४६ ॥

(प्रविश्य, सहसा)

शब्दार्थः—प्रत्यभिजानाति = पहचान रहे हैं । चरणसंवाहचिन्तया = पैर दबाने की चिन्ता के कारण (पैर दबाने की चिन्ता करने के कारण) । आर्यस्य = आपका, आत्मीयः = अपना आदमी । अलङ्कारपणनिष्क्रीतः=आभूषण रूपी मूल्य से खरीदा गया । द्यूतनिर्वेदेन = जुआ के दुःख के कारण । शाक्यश्रमणकः = बौद्धसन्यासी । संवृत्तः = हो गया हूँ । प्रवहणविपर्यासेन = गाड़ी के बदल जाने से ॥

अर्थः-भिक्षु—आप मुझे नहीं पहचान रहे हैं ? मैं आपके पैर दबाने की चिन्ता करने वाला वही संवाहक हूँ । जुआरियों के द्वारा पकड़ा गया मैं इस बुद्धोपासिका के द्वारा "आपका अपना आदमी हूँ" यह जानकर आभूषणरूपी मूल्य से खरीदा गया हूँ और उसी जुआ के दुःख के कारण बौद्ध-संन्यासी हो गया हूँ । यह आर्या (वसन्तसेना) भी गाड़ी के बदल जाने से पुष्पकरण्डक नामक पुराने बगीचे में चली गयी थीं । वहाँ 'मुझे नहीं चाहती हो' ऐसा कहकर उस नीच (शकार) ने भुज-पाश से बलपूर्वक (दबाकर) इनको मार डाला । (इसके बाद) मेरे द्वारा यह देखी गयीं ।

टीका—प्रत्यभिजानाति = स्मृतिविषयं करोति । चरणसंवाहचिन्तया-चरणयोः = पादयोः संवाहस्य = मर्द्दनस्य । चिन्तया=चिन्तनेन, स्वकर्त्तव्यतयाऽवबोधनेन । आर्यस्य = भवतः; आत्मीयः = स्वकीयः । अलङ्कारः = आभूषणम् एव पणः = मूल्यम् ('पणो वराटमाने स्यान्मूल्ये कार्षापणे ग्रहे' इति विश्वमेदिन्यौ) तेन निष्क्रीतः = अवक्रीतः । द्यूतनिर्वेदः-द्यूतेन = कैतवेन ('द्यूतोऽस्त्रियामक्षवतो कैतवं पण इत्यपि' इत्यमरः) कृतः निर्वेदः = सांसारिकेच्छानिवृत्तिः, संसारवैतृष्ण्यमित्यर्थः, तेन । शाक्यश्रमणकः = बौद्ध-भिक्षुः । संवृत्तः = सञ्जातः । प्रवहणविपर्यासेन-प्रवहणस्य = शकटस्य विपर्यासेन = परिवर्तनेन । अनार्येण = दुष्टेन शकारेणेत्यर्थः ॥

जयतीति—

अन्वयः—दक्षयज्ञस्य, हन्ता, वृषभकेतुः, जयति; तदनु, भेत्ता, क्रौञ्चशत्रुः, षण्मुखः, जयति; तदनु, विनिहतवरवैरी, आर्यकः, च, शुभ्रकैलासकेतुम्, कृत्स्नाम्, विशालाम्, गाम्, जयति ॥ ४५ ॥

शब्दार्थः—दक्षयज्ञस्य=दक्ष के यज्ञ को, हन्ता=विनष्ट करने वाले, वृषभकेतुः=शिव, जयति=विजयी हो रहे हैं (अर्थात् शिव की जय हो)। तदनु=उसके बाद, भेत्ता=(शत्रुओं के दल का) भेदन करने वाले, क्रौञ्चशत्रुः=क्रौञ्च (नामक दैत्य) के शत्रु, षण्मुखः=कार्तिकेय, जयति=विजयी हो रहे हैं (अर्थात् कार्तिकेय की जय हो)। तदनु=तदनन्तर विनिहतवरवैरी=प्रधान शत्रु (पालक) का वध करने वाला, आर्यकः=आर्यक, च=भी, शुभ्रकैलासकेतुम् = सफेद कैलास पर्वत ही है पताका जिसकी ऐसी, कृत्स्नाम् = समूची, विशालाम्=विस्तृत, गाम्=पृथ्वी को, जयति=जीत रहा है (अर्थात् जीते) ॥

(पर्दे में कोलाहल)

अर्थः—दक्ष के यज्ञ को विनष्ट करने वाले शिव की जय हो। उसके पश्चात् (शत्रुओं के दल का) भेदन करने वाले, क्रौञ्च (नामक दैत्य अथवा पर्वत) के शत्रु कार्तिकेय की जय हो। और तदनन्तर प्रधान शत्रु (पालक) का वध करने वाला आर्यक सफेद कैलास पर्वत ही है पताका जिसकी ऐसी समूची विस्तृत पृथिवी को जीते ॥ ४६ ॥

टीका—दक्षयज्ञस्य—दक्षस्य=एतन्नामप्रसिद्धस्य प्रजापतेः यज्ञस्य=यागस्य ('यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः' इत्यमरः); हन्ता=विध्वंसकः; वृषभकेतुः—वृषभः वाहनभूतः वृषः केतौ=ध्वजे, चिह्नत्वेनेति शेषः, अस्येति वृषभकेतुः=शिवः, जयति=सर्वोत्कर्षेण वर्तते। एतेन अग्रिमे एकपञ्चाशत्तमे श्लोके कथितः यज्ञवाटस्थस्य पालकस्य वधः समर्थितः सूचितश्च। तदनु=तदनन्तरम्, भेत्ता=शत्रुपक्षविदारकः, क्रौञ्चस्य=तदाख्यस्य पर्वतस्य दैत्यस्य वा; शत्रुः=शातयिता; अथवा क्रौञ्चशत्रुः=तदाख्यपर्वतस्य शातयिता अतः भेत्ता = तस्य विदारकः; षण्मुखः परशुरामस्पर्धया शरसन्धानाभ्यासे क्रौञ्चपर्वतं बहुशः बिभेदेति प्रसिद्धिः; षण्मुखः=कार्तिकेयः जयति=विजयते। तदनु=ततः; विनिहतः=सम्यगुन्मूलितः, ध्वस्तः इति यावत्; वरः=प्रधानः श्रेष्ठो वा वैरी=शत्रुः, पालकः राजा, येन तथाभूतः; आर्यकः=आर्यकनामा गोपालसुतः; च=अपि; शुभ्रः=धवलः, हिमैः इति शेषः, कैलासः=शिवस्य निवासभूतः कैलासपर्वतः; एव केतुः=पताका यस्याः तादृशीम्; अत्युन्नतत्वेन कैलासे पताकात्वारोपः; कृत्स्नाम्=सम्पूर्णाम्; विशालाम्=विस्तृताम्; गाम्=पृथिवीम्; जयति=आयत्तीकरोतु इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में रूपक अलंकार तथा मालिनी छन्द है। छन्द का लक्षण—

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ॥ ४६ ॥

शर्विलकः—

हत्वा तं कुनृपमहं हि पालकं भो-
स्तद्राज्ये द्रुतमभिषिच्य चार्यकं तम् ।
तस्याज्ञां शिरसि निधाय शेषभूतां
मोक्ष्येऽहं व्यसनगतं च चारुदत्तम् ॥ ४७ ॥

हत्वा तमिति—

अन्वयः—भोः !, अहम्, हि, तम्, कुनृपम्, हत्वा, तद्राज्ये, द्रुतम्, तम्, आर्यकम्, अभिषिच्य, च, तस्य, शेषभूताम्, आज्ञाम्, शिरसि, निधाय, अहम्, व्यसनगतम्, चारुदत्तम्, मोक्ष्ये ॥ ४७ ॥

शब्दार्थः—भोः=हे (मनुष्यों) ! अहम्=मैं, हि=अवश्य ही, तम्=उस, कुनृपम्=दुष्ट राजा को, हत्वा=मार कर, तद्राज्ये=उसके राज्य पर, द्रुतम्=शीघ्र ही, तम्=उस, आर्यकम्=आर्यक को, अभिषिच्य=अभिषिक्त करके, तस्य=उसकी, शेषभूताम्=आखिरी, आज्ञाम्=आज्ञा को, शिरसि=शिर पर, निधाय=रख कर, अहम्=मैं, व्यसनगतम्=विपत्ति में पड़े हुए, चारुदत्तम्=चारुदत्त को, मोक्ष्ये=मुक्त करूँगा अर्थात् मुक्त करता हूँ ॥

(एकाएक प्रवेश करके)

अर्थः—शर्विलक—रे मनुष्यों ! मैं उस दुष्ट राजा पालक को मारकर, उसके राज्य पर शीघ्र ही उस आर्यक का अभिषेक कर उसकी (आर्यक की) आखिरी आज्ञा को शिरोधार्य करके विपत्ति में पड़े हुए चारुदत्त को मुक्त करता हूँ ॥ ४७ ॥

टीका—भोः !—इति जनानुद्दिश्य सम्बोधनम्; अहम्=शर्विलकः इत्यर्थः; गर्वोक्तिरियम्; हि=निश्चितम्; तम्=गर्हितकर्मभिः प्रजासु प्रसिद्धम्; कुनृपम्=कुत्सितं राजानम्, पालकमित्यर्थः; हत्वा=विनाश्य; तस्य=पालकस्य राज्ये=सिंहासने राज्याधिकारे वा; द्रुतम्=झटिति; अतिशीघ्रतायामन्योपद्रवाशङ्काकारणमासीदिति; तम्=सिद्धादिष्टराज्यलाभवार्तया प्रसिद्धम्; आर्यकम्=आर्यकनामानं गोपालसुतम्; अभिषिच्य=यथाविधि अभिषिक्तं कृत्वा; तस्य=राज्ञः आर्यकस्य; शेषभूताम्=अन्तिमाम्; एतेन बहूनां कार्याणां सिद्धिः सूच्यते; "शेषभूताम्=पुष्पदामायमानाम्", ('प्रासादान्निजनिर्माल्यदाने शेषेति कीर्तिता' इति विश्वः); इति व्याख्या क्लिष्टत्वादुपेक्षणीयेति; आज्ञाम्=आदेशम्; शिरसि=मस्तके; निधाय=कृत्वा; अहम्=शर्विलकः; व्यसनगतम्—व्यसने=विपत्तौ गतम्=पतितम्; चारुदत्तम्=अनेन नाम्ना प्रसिद्धं ब्राह्मणम्; मोक्ष्ये=मोचयिष्यामि ॥ ४७ ॥

हत्वा रिपुं तं बलमन्त्रिहीनं पौरान्समाश्वास्य पुनः प्रकर्षात् ।
प्राप्तं समग्रं वसुधाधिराज्यं राज्यं बलारेरिव शत्रुराज्यम् ॥ ४८ ॥

टिप्पणी--इस श्लोक में 'अहम्' पद दो बार प्रयुक्त हुआ है। इसके एक बार के प्रयोग से ही अच्छा अर्थ निकल आता है। अतः एक 'अहम्' पद अनावश्यक है।

इस श्लोक में प्रहर्षिणी छन्द है।

छन्द का लक्षण—

त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम् ॥ ४७ ॥

हत्वा रिपुमिति—

अन्वयः—बलमन्त्रिहीनम्, तम्, रिपुम्, हत्वा, पुनः, प्रकर्षात्, पौरान् समाश्वास्य बलारेः, राज्यम्, इव, समग्रम्, वसुधाधिराज्यम्, शत्रुराज्यम्, प्राप्तम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थः—बलमन्त्रिहीनम् = सेना तथा मन्त्रियों से रहित, तम् = उस रिपुम् शत्रु को, हत्वा = मारकर, पुनः = फिर, प्रकर्षात् = अधिक प्रभाव से, पौरान् = पुरवासियों को, समाश्वास्य = ढाँढस बँधा कर, बलारेः = इन्द्र के, राज्यमिव = राज्य के समान, समग्रम्=सम्पूर्ण, वसुधाधिराज्यम् = पृथिवी के शासन से युक्त, शत्रुराज्यम् = शत्रु का राज्य, प्राप्तम् = पा लिया गया (अधिकार में कर लिया गया) ॥

अर्थः-सेना तथा मन्त्रियों से रहित उस शत्रु (पालक) को मारकर और फिर (अपने) अधिक प्रभाव से पुरवासियों को ढाँढस बँधाकर, बल नामक दैत्य के शत्रु इन्द्र के राज्य के समान, समूची पृथिवी के शासन से युक्त, शत्रु के समूचे राज्य को अधिकार में कर लिया ॥ ४८ ॥

टीका—बलमन्त्रिहीनम्--बलानि च = सैन्यानि च ('वरूथिनी बलं सैन्यं चक्रं चानीकमस्त्रियाम्' इत्यमरः) मन्त्रिणश्च = अमात्याश्च तैः हीनम् = रहितम्; मन्त्रिणः सैन्यानि चापि तत्यजुः पालकमित्यनेन सूच्यते; बलमन्त्रहीनमिति पाठान्तरम्; तथात्वे बलैः मन्त्रैश्च = समीचीनाभिः मन्त्रणाभिश्च हीनम्; तम् = सिद्धादेशानन्तरं जनसमवाये विदितम्; रिपुम् = शत्रुम्; पालकमित्यर्थः; हत्वा = विनाश्य; पुनः = मुहुः; प्रकर्षात् = प्रभावबलात्; पौरान् = पुरवासिनः, उज्जयिनीनिवासिनः इत्यर्थः, समाश्वास्य = आश्वस्तान् कृत्वा, राज्यविप्लवकृतोपद्रवं प्रति भीतान् जनान् सान्त्वयित्वेत्यर्थः; बलारेः = इन्द्रस्य ('इन्द्रो मरुत्वान्'·······सुरपतिः बलारातिः शचीपतिः, इत्यमरः); राज्यमिव = साम्राज्यमिव; इन्द्रस्य राज्यमिव महत् सुखकरञ्चेति भावः; समग्रम् = सम्पूर्णम्; वसुधाधिराज्यम्-वसुधायाः = निखिलायाः पृथिव्याः आधिराज्यम् = स्वाम्यम् वा अधिराज्यम् =

(अग्रतो निरूप्य) भवतु; अत्र तेन भवितव्यम्, यत्रायं जनपदसमवायः । अपि नामायमारम्भः क्षितिपतेरार्यकस्यार्यचारुदत्तस्य जीवितेन सफलः स्यात् ? । (त्वरिततरमुपसृत्य) अपयात जाल्माः ! । (दृष्ट्वा, सहर्षम्) अपि ध्रियते चारुदत्तः सह वसन्तसेनया ? संपूर्णाः खल्वस्मत्स्वामिनो मनोरथाः ।

दिष्ट्या भो व्यसनमहार्णवादपारा-
दुत्तीर्णं गुणधृतया सुशीलवत्या ।
नावेव प्रियतमया चिरान्निरीक्ष्ये
ज्योत्स्नाढ्यं शशिनमिवोपरागमुक्तम् ॥ ४९ ॥

साम्राज्यम्, यस्मिन् तत् तथाभूतम्; शत्रुराज्यम्-शत्रोः = रिपोः राज्यम् = 'अखण्डाज्ञाविषयो हि राज्यम्' इति लक्षणलक्षितं राज्यम्; प्राप्तम् = अधिगतम्; मया शर्विलकेन अथवा आर्यकेण इति शेषः । पूर्वोपन्यस्तं श्लोकं दृष्ट्वा शर्विलकेनेति पदमध्याहार्यमिति निश्चीयते ॥ ४८ ॥

टिप्पणी--इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा इन्द्रवज्रा छन्द है ।

छन्द का लक्षण--

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थः--जनपदसमवायः = लोगों की भीड़ । आरम्भः = कार्य (राज्य का पाना) । जाल्माः ! = मूर्खों ! । ध्रियते = जीवित है । अस्मत्स्वामिनः = हमारे स्वामी (आर्यक) के । मनोरथाः = मनोरथ, अभिलाषायें ॥

अर्थः--(सामने देखकर) अच्छा, यहाँ उस चारुदत्त को होना चाहिये, जहाँ पर कि लोगों की यह भीड़ है । क्या पृथिवी-पति आर्यक का यह कार्य (अर्थात् पहले-पहल राज्य पर बैठना) आर्य चारुदत्त के जीवन (की रक्षा) से सफल होगा ? । (बहुत वेग से समीप जाकर) दूर हटो मूर्खों ! (देखकर, प्रसन्नता के साथ) क्या चारुदत्त वसन्तसेना के साथ जीवित है ? (तब तो) हमारे स्वामी (आर्यक) के मनोरथ पूरे हो गये ।

टीका--जनपदानाम् = जनानाम् (भवेज्जनपदो जानपदोऽपि जनदेशयोः इति मेदिनी) समवायः = समूहः । आरभ्यते इति आरम्भः = कार्यम्, राज्यप्राप्तिः इत्यर्थः । जाल्माः ! = मूर्खाः पामराः वा ('जाल्मस्तु पामरे । असमीक्ष्यकारिणि च' इति हैमः); महात्मनः चारुदत्तस्य वधदर्शनमेव मूर्खत्वमिति ज्ञेयम् । ध्रियते = प्राणान् धारयति, जीवति इत्यर्थः । अस्मत्स्वामिनः = नूतनस्य राज्ञः आर्यकस्य इत्यर्थः । मनोरथाः = इच्छाः (इच्छाकांक्षास्पृहेहातृड्वाञ्छा लिप्सा मनोरथः इत्यमरः) ॥

दिष्ट्या इति—

अन्वयः—भोः। दिष्ट्या, गुणधृतया, सुशीलवत्या, नावा, इव, प्रियतमया, अपारात्, व्यसनमहार्णवात्, उत्तीर्णम्, (चारुदत्तम्); उपरागमुक्तम्, ज्योत्स्नाढ्यम्, शशिनम्, इव, चिरात्, निरीक्ष्ये ॥ ४९ ॥

शब्दार्थः—भो. ! = हे (मनुष्यों) ! दिष्ट्या = सौभाग्यवश, गुणधृतया = गुणों (दया, उपकार आदि तथा नौका के पक्ष में—रस्सियों) से आकृष्ट (खींची गयी), सुशीलवत्या = सुन्दर स्वभाववाली (नैया के पक्ष में सुघटित), नावा = नैया के, इव = समान प्रियतमया = प्रियतमा के द्वारा, अपारात् = अपार, व्यसनमहार्णवात् = विपत्ति सागर से, उत्तीर्णम् = पार हुए, (चारुदत्तम् = चारुदत्त को), उपरागमुक्तम् = ग्रहण से छूटे हुए, ज्योत्स्नाढ्यम् = चाँदनी से सम्पन्न, शशिनमिव = चन्द्रमा के समान, चिरात् = बहुत दिनों के बाद, निरीक्ष्ये = देख रहा हूँ ॥

अर्थः—हे मनुष्यों ! सौभाग्यवश गुणों (दया, उपकार आदि तथा नौका के पक्ष में—रस्सियों) से आकृष्ट सुन्दर स्वभाव वाली (पक्ष में सुघटित) नौका के समान प्रियतमा वसन्तसेना के द्वारा अपार विपत्तिसागर से पार हुए चारुदत्त को, ग्रहण से छूटे हुए तथा चाँदनी से युक्त चन्द्रमा के समान, बहुत दिनों के बाद मैं देख रहा हूँ ॥ ४९ ॥

टीका—भोः ! = हे, जनाः इति शेषः; दिष्ट्या = सौभाग्येन आनन्देन वा (दिष्ट्या समुपजोषञ्चेत्यानन्दे' इत्यमरः); गुणधृतया —गुणैः = दयादाक्षिण्यादिभिः नौकापक्षे — गुणैः = रज्जुभिः, धृतया = आकृष्टया, वसन्तसेनापक्षे वशीभूतया इत्यर्थः; सुशीलवत्या = सुन्दरस्वभावसम्पन्नया, नौकापक्षे–सुघटितया; नावेव = नौकयेव; प्रियतमया = प्रेयस्या वसन्तसेनया इत्यर्थः; अपारात् = एकत्र दुर्निवारात्, अन्यत्र पारं गन्तुमशक्यादित्यर्थः; व्यसनमहार्णवात्—व्यसनम् = विपत्तिः एव महार्णवः = अपारः सागरः तस्मात्; उत्तीर्णम् = पारङ्गतम्, उद्धृतमित्यर्थः; चारुदत्तमिति शेषः; उपरागमुक्तम्–उपरागात् = ग्रहात् (उपरागो ग्रहो राहुग्रस्ते त्विन्दौ च पूष्णि च' इत्यमरः) मुक्तम् = त्यक्तम्; निवृत्तग्रहमित्यर्थः; अतः ज्योत्स्नाभिः = चन्द्रिकाभिः आढ्यम् = सम्पन्नम्; शशिनमिव = चन्द्रमसमिव; चिरात् = बहोः कालादनन्तरम्, निरीक्ष्ये = पश्यामि ॥ ४९ ॥

टिप्पणी—उपरागः—उपरज्यते इति उपरागः = ग्रहणम्, उप + √रञ्ज + घञ् ॥

इस श्लोक में रूपक, श्लेष एवं उपमा अलंकार तथा प्रहर्षिणी छन्द है।

छन्द का लक्षण—

त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम् ॥ ४९ ॥

तत्कृतमहापातकः कथमिवैनमुपसर्पामि ?। अथवा सर्वत्रार्जवं शोभते। (प्रकाश-मुपसृत्य बद्धाञ्जलिः) आर्य चारुदत्त !।

चारुदत्तः—ननु को भवान् ?।

शर्विलकः—

येन ते भवनं भित्त्वा न्यासापहरणं कृतम्।
सोऽहं कृतमहापापस्त्वामेव शरणं गतः॥ ५०॥

शब्दार्थः—कृतमहापातकः = (इनके घर चोरी के) महान् पाप का कर्ता। आर्जवम् = सिधाई; सरलता॥

अर्थः—जो (इनके घर चोरी के) महान् पाप का कर्ता मैं इनके पास कैसे जाऊँ ? अथवा सिधाई सब जगह अच्छी होती है। (प्रकट रूप में, समीप जाकर, हाथ जोड़े हुए) आर्य चारुदत्त !

टीका—कृतमहापातकः—कृतम् = सम्पादितम् महत् = विशालम्, स्तेयस्य महापातकेषु गणनेति ज्ञेयम्, पातकम् = पापम् येन सः, ऋजोः भावः आर्जवम् = सारल्यम्, निष्कपटता इत्यर्थः॥

येन ते इति—

अन्वयः—येन, ते, भवनम्, भित्त्वा, न्यासापहरणम्, कृतम्, सः; कृतमहापापः, अहम्, त्वाम्, एव, शरणम्, गतः॥ ५०॥

शब्दार्थः—येन = जिसके द्वारा, ते=तुम्हारे, भवनम् = घर को, भित्त्वा=फोड़कर, न्यासापहरणम् = धरोहर की चोरी, कृतम् = की गयी, सः = वह, कृतमहापापः = महान् पाप करने वाला, अहम् = मैं, त्वामेव = तुम्हारी ही, शरणम् = शरण को, गतः= प्राप्त हुआ हूँ॥

अर्थः—चारुदत्त—अरे ! आप कौन हैं ?

शर्विलक—जिसने तुम्हारे घर की दीवार में सेंध लगाकर धरोहर की चोरी की थी; वही महान् पाप करने वाला मैं तुम्हारी ही शरण में आया हूँ॥ ५०॥

टीका येन = महापापिना; ते = तव; भवनम् = गृहम्, कुड्यमित्यर्थः; भित्त्वा = छित्त्वा; न्यासस्य = निक्षेपस्य, उपनिधेः; इत्यर्थः ('पुमानुपनिधिर्न्यासः' इत्यमरः) अपहरणम् = चौर्यम् कृतम् = सम्पादितम्; सः कृतम् = विहितम् महापापम् = महत्पातकम् येन सः; सुवर्णचौर्यं महापातकमिति स्मृतिवचनात् कृतमहापापः' इत्युक्तम्; अहम् = तव समक्षं स्थितः शर्विलकः; त्वामेव = भवन्तमेव; शरणम् = रक्षकम् ('शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः); गतः = प्राप्तः; अस्मीति शेषः॥ ५०॥

चारुदत्तः—सखे ! मैवम्; त्वयासौ प्रणयः कृतः । (इति कण्ठे गृह्णाति) ।

शर्विलकः—अन्यच्च,—

आर्यकेणार्यवृत्तेन कुलं मानं च रक्षता ।
पशुवद्यज्ञवाटस्थो दुरात्मा पालको हतः ॥ ५१ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ५० ॥

अर्थः–चारुदत्त–मित्र ! ऐसा मत कहो । तुमने तो यह कृपा ही की थी । (ऐसा कह कर गले लगाता है)

आर्यकेणेति--

अन्वयः – आर्यवृत्तेन, कुलम्, मानम्, च, रक्षता, आर्यकेण, यज्ञवाटस्थः, दुरात्मा, पालकः, पशुवत्, हतः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थः--आर्यवृत्तेन = सज्जनों के योग्य व्यवहार करने वाले, कुलम् = (अपने) कुल को, मानम् = मान को, रक्षता = बचाते हुए, आर्यकेण = आर्यक के द्वारा, यज्ञवाटस्थः = यज्ञशाला में स्थित, दुरात्मा = दुष्ट, पालकः = राजा पालक, पशुवत् = पशु के समान, हतः = मार डाला गया ॥

अर्थः-शर्विलक--और भी—

सज्जनों के योग्य व्यवहार करने वाले, अपने कुल तथा मान को बचाते हुए, आर्यक ने यज्ञशाला में स्थित दुष्ट पालक को पशु के समान मार दिया ॥ ५१ ॥

टीका--आर्यवृत्तेन-आर्यम् = साधुजनाभिनन्दितम् वृत्तम् = चरितम् यस्य तेन; कुलम् = वंशम्; मानञ्च = गौरवञ्च; रक्षता = पालयता; क्रुद्धपालकात्कुलं मानञ्च रक्षतेति बोध्यम्; आर्यकेण = तदाख्येन गोपालदारकेण; यज्ञवाटस्थः = यज्ञशालागतः; दुरात्मा = दुष्टप्रकृतिः; पालकः = तदाख्यः भूतपूर्वः राजा; पशुवत् = छागादिवत्; यज्ञे यथा पशुः हन्यते तथैवेत्यर्थः; एतेन यज्ञकार्यव्यापृतस्यापि तस्य हननं शुभावहमित्यपि सूचितम्; हतः = मारितः ॥ ५१ ॥

टिप्पणी--यज्ञवाटस्थः–इससे यह सूचित होता है कि उस समय पालक अकेला और विना अस्त्र-शस्त्र के था ॥

आर्यकेण पालकः हतः = आर्यक के द्वारा पालक मारा गया; अभी पीछे श्लोक ४७ में शर्विलक ने कहा है कि मैंने दुष्ट राजा पालक को मारा है और यहाँ आर्यक

चारुदत्तः—किम् ?

शर्विलकः—

त्वद्यानं यः समारुह्य गतस्त्वां शरणं पुरा।
पशुवद्वितते यज्ञे हतस्तेनाद्य पालकः ॥ ५२ ॥

चारुदत्तः—शर्विलक ! योऽसौ पालकेन घोषादानीय निष्कारणं कूटागारे बद्ध आर्यकनामा त्वया मोचितः ? ।

के द्वारा पालक की हत्या बतला रहा है। इस विरोध का परिहार यह मान कर करना चाहिये कि सेना अथवा सहायकों का कार्य प्रधान व्यक्ति का ही कार्य माना जाता है। अतः शर्विलक का कार्य आर्यक का कार्य बतलाया गया है ॥

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है ॥ ५१ ॥

त्वद्यानमिति--

अन्वयः—यः, पुरा, त्वद्यानम्, समारुह्य, त्वाम्, शरणम्, गतः; तेन, अद्य, वितते, यज्ञे, पालकः, पशुवत्, हतः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थः—यः = जो (आर्यक), पुरा = पहले, त्वद्यानम् = तुम्हारी गाड़ी पर, समारुह्य = चढ़कर, त्वाम् = तुम, शरणम् = रक्षक के पास (अर्थात् तुम्हारी शरण में), गतः = गया था; तेन = उसी के द्वारा, अद्य = आज, वितते = विस्तृत, यज्ञे = यज्ञ में, पालकः = पालक, पशुवत् = पशु के समान, हतः = मारा गया ॥

अर्थः—चारुदत्त—क्या ?

शर्विलक—जो आर्यक पहले तुम्हारी गाड़ी पर चढ़कर तुम्हारी शरण में गया था, उसने ही आज, विस्तृत यज्ञ में पालक को पशु के समान मार दिया ॥ ५२ ॥

टीका--यः = आर्यकः, पुरा = पूर्वम्, त्वद्यानम्—तव = भवतः यानम् = शकटम्; समारुह्य = स्थित्वा; त्वाम् = भवन्तम्, शरणम् = रक्षितारम्; गतः = सम्प्राप्तः; तेन = त्वत्कृपारक्षितेन; अद्य = अस्मिन् दिने; वितते = विस्तृते; यज्ञे = मखे; पालकः; पशुवत् = यथा यज्ञे पशुः हन्यते तथैव; हतः = विनाशितः ॥ ५२ ॥

टिप्पणी--इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।

छन्द का लक्षण --

'युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थः—घोषात् = अहीरों की बस्ती से, आनीय = लाकर, निष्कारणम् = बिना कारण के ही, कूटागारे = कारागार में, मोचितः = छुड़ाया गया ॥

शर्विलकः—यथाह तत्रभवान् ।

चारुदत्तः—प्रियं नः प्रियम् ।

शर्विलकः—प्रतिष्ठितमात्रेण तव सुहृदार्यकेणोज्जयिन्यां वेणातटे कुशावत्यां राज्यमतिसृष्टम् । तत्प्रतिमान्यतां प्रथमः सुहृत्प्रणयः । (परिवृत्य) अरे रे, आनीयतामयं पापो राष्ट्रियशठ ।

अर्थः-**चारुदत्त**—शर्विलक ! जो यह (राजा) पालक के द्वारा अहीरों की बस्ती से लाकर विना कारण के ही कारागार में बाँध दिया गया था और बाद में तुम्हारे द्वारा छुड़ाया गया; वही आर्यक नामक आदमी ?

टीका—घोषात् = आभोरपल्ल्याः ('घोषः आभोरपल्ली स्यात्' इत्यमरः); आनीय = गृहीत्वा, निष्कारणम् = अकारणम्; वस्तुतः यथार्थकारणं विनैव, "निष्कारणं निरपराधम्, अन्यथाऽयमार्यको राजा भविष्यतीतिरूपस्य सिद्धादेशस्य कारागारबन्धनकारणस्य सत्त्वादित्याशयः" इति पृथ्वीधरः । कूटागारे = कारागारे इत्यर्थः । मोचितः = कारागारान्निःसारितः ॥

अर्थः-**शर्विलक**—जैसा आदरणीय आप कहते हैं (वही बात है) ।

चारुदत्त—अच्छा, हमारे लिये बहुत अच्छा ।

टिप्पणी—'तत्रभवान्' के स्थान पर, 'अत्रभवान्' होना चाहिये । उपस्थित को 'अत्रभवान्' तथा अनुपस्थित को 'तत्रभवान्' कहा जाता है ॥

शब्दार्थः—प्रतिष्ठितमात्रेण = (उज्जयिनी के सिंहासन पर) बैठते ही । सुहृदा = मित्र, आर्यकेण=आर्यक के द्वारा । अतिसृष्टम् = दान दे दिया गया है । प्रतिमान्यताम् = स्वीकार किया जाय । सुहृत्प्रणयः = मित्र का प्रेम (अर्थात् प्रेमभरी प्रार्थना) । राष्ट्रियशठः = राजा का साला (शकार) ॥

अर्थः-**शर्विलक**—उज्जयिनी में (सिंहासन पर) बैठते ही तुम्हारे प्रिय मित्र आर्यक ने वेणा नदी के तट पर कुशावती का राज्य (आपको) दान दे दिया है । तो मित्र की पहली प्रेमभरी प्रार्थना को स्वीकार करें । (घूम कर) अरे ! इस पापी धूर्त राजा के साले (शकार) को लाओ ।

टीका—प्रतिष्ठितमात्रेण = उज्जयिन्यां राजसिंहासने अभिषिक्तमात्रेण । सुहृदा = मित्रेण, आर्यकेण = तदाख्येन गोपालपुत्रेण । अतिसृष्टम् = सङ्कल्पादिकं विधाय ब्राह्मणेभ्यो दत्तम् । प्रतिमान्यताम् = आद्रियताम् । सुहृदः = मित्रस्य । प्रणयः=प्रेम, प्रेमपूर्णा प्रार्थना इत्यर्थः । राष्ट्रियशठः-राष्ट्रियेषु = राजश्यालेषु । शठः = धूर्तः ॥

(नेपथ्ये)

यथाज्ञापयति शर्विलकः ।

शर्विलकः—आर्य नन्वयमार्यको राजा विज्ञापयति—'इदं मया युष्मद्गुणोपार्जितं राज्यम्; तदुपयुज्यताम्' ।

चारुदत्तः—अस्मद्गुणोपार्जितं राज्यम् ? ।

(नेपथ्ये)

अरे रे राष्ट्रियश्यालक ! एह्येहि । स्वस्याविनयस्य फलमनुभव ।

(ततः प्रविशति पुरुषैरधिष्ठितः पश्चाद्बाहुबद्धः शकारः)

शकारः—हीमादिके,

एव्वं दूलमदिक्कंते उद्दामे विअ गद्दहे ।
आणीदे खु हगे बद्धे हुडे अण्णे व्व दुक्कले ॥ ५३ ॥

(दिशोऽवलोक्य) शमंतदो उवट्ठिदे एशे लश्टिअबंधे । ता कं दाणि अशलणे शलणं वजामि ? । (विचिन्त्य) भोदु, तं ज्जेव अब्भुववण्णशलणवच्छलं गच्छामि । (इत्युपसृत्य) अज्जचालुदत्त ! पलित्ताआहि पलित्ताआहि । [आश्चर्यम्,

---

शब्दार्थः—युष्मद्गुणोपार्जितम् = तुम्हारे गुणों से प्राप्त किया गया । अस्मद्गुणोपार्जितम् = हमारे गुणों से प्राप्त । अविनयस्य = उद्दण्डता के ॥

(पर्दे में)

अर्थः-शर्विलक की जैसी आज्ञा ।

शर्विलक—आर्य ! निश्चय ही राजा आर्यक सूचित करते हैं कि—'मैंने इस राज्य को तुम्हारे गुणों के बल से प्राप्त किया है, तो (आप ही) इसका उपयोग कीजिये (अर्थात् आप ही इस राज्य को भोगिये) ।'

चारुदत्त—हमारे गुणों के बल से प्राप्त राज्य ?

(पर्दे में)

अरे रे राजा के साले ! आओ, आओ । अपनी उद्दण्डता के फल को भोगो ।

(इसके बाद पुरुषों के द्वारा शासित पीछे की ओर हाथ बँधा हुआ शकार प्रविष्ट होता है)

टीका—युष्मद्गुणोपार्जितम्—युष्माकम् = भवताम्, चारुदत्तशर्विलकादीनामिति केचित्, गुणैः = प्रवहणावतारणरक्षणाद्युपकारैः उपार्जितम् = अधिगतम् । अस्माकम् = ममेत्यर्थः, अस्माकं चारुदत्तादीनां वा, गुणैः उपार्जितम् = प्राप्तम् । **अविनयस्य** = औद्धत्यस्य ॥

एवं दूरमतिक्रान्त उद्दाम इव गर्दभः ।
आनीतः खल्वहं बद्धः कुक्कुरोऽन्य इव दुष्करः ॥

समन्तत उपस्थित एष राष्ट्रियबन्धः । तत्किमिदानीमशरणः शरणं व्रजामि ? भवतु, तमेवाभ्युपपन्नशरणवत्सलं गच्छामि । आर्यचारुदत्त ! परित्रायस्व परित्रायस्व ।]

(इति पादयोः पतति)

(नेपथ्ये)

एवं दूरमिति—

अन्वयः—उद्दामः, गर्दभः, इव, एवम्, दूरम्, अतिक्रान्तः, अहम्, खलु, आनीतः, (तथा), दुष्करः, अन्यः कुक्कुरः, इव, बद्धः ॥५३॥

शब्दार्थः—उद्दामः = बन्धन से छूटे हुए, गर्दभः = गधे (की), इव = भाँति, एवम् = इस प्रकार, दूरम् = दूर तक, अतिक्रान्तः = भागा हुआ, अहम् = मैं, खलु = निश्चित ही, आनीतः = पकड़ लाया गया, (तथा = और), दुष्करः = दुष्ट, अन्यः = दूसरे अर्थात् दूसरे के, कुक्कुरः = कुत्ते (के), इव = समान, बद्धः = बाँध दिया गया हूँ ॥

अर्थः—शकार—आश्चर्य है;

बन्धन से छूटे हुए गधे की भाँति इस प्रकार दूर तक भागा हुआ मैं पकड़ लाया गया और दुष्ट कुत्ते के समान बाँध दिया गया हूँ ॥ ५३ ॥

टीका—उद्दामः—उत् = उद्गतम् दाम = बन्धनम् यस्य तादृशः, बन्धनविनिर्मुक्तः इत्यर्थः; गर्दभः = रासभः; इव; एवम् = इत्थम्; दूरम् = विप्रकृष्टम्; अतिक्रान्तः = पलायितः; अहम् = शकारः; खलु = निश्चितम्; आनीतः = उपस्थापितः; तथा दुष्करः = अतिप्रचण्डः दुष्टः वा; अन्यः = स्वातिरिक्तः; कुक्कुरः = श्वा; इव = यथा; बद्धः = संयमितः; अस्मि ॥५३॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है ॥५३॥

शब्दार्थः—समन्ततः = चारों ओर से । राष्ट्रियबन्धः = राजश्यालक (अर्थात् मेरा) शत्रुवर्ग । अशरणः = आश्रयहीन । अभ्युपपन्नशरणवत्सलम् = समीप में (शरण में) आये हुये लोगों पर स्नेह करने वाले ॥

अर्थः—(चारों ओर देखकर), चारों ओर से राजश्यालक का (अर्थात् मेरा) शत्रुवर्ग उपस्थित है । तो आश्रयहीन मैं अब किसकी शरण में जाऊँ ? (सोच कर) अच्छा, समीप में आये हुए लोगों पर स्नेह करने वाले उसी (चारुदत्त) के समीप जाता हूँ ।

अज्जचालुदत्त ! मुंच मुंच, वावादेम्ह एदं । [आर्यचारुदत्त ! मुञ्च मुञ्च, व्यापादयामैतम्]

शकारः—(चारुदत्तं प्रति) भो अशलणशलणे ! पलित्ताआहि । [भो अशरणशरण ! परित्रायस्व ।]

चारुदत्तः—(सानुकम्पम्) अहह, अभयमभयं शरणागतस्य ।

शर्विलकः (सावेगम्) आः, अपनीयतामयं चारुदत्तपार्श्वात् । (चारुदत्तं प्रति) ननूच्यतां किमस्य पापस्यानुष्ठीयतामिति ।

आकर्षन्तु सुबद्ध्वैनं श्वभिः संखाद्यतामथ ।
शूले वा तिष्ठतामेष पाट्यतां क्रकचेन वा ॥ ५४ ॥

(इस प्रकार पास में जाकर) आर्य चारुदत्त ! बचाओ, बचाओ ।
(ऐसा कह कर पैरों पर गिरता है)
(पर्दे में)

टीका—समन्ततः = सर्वाभ्यः दिग्भ्यः । राष्ट्रियस्य = राजश्यालकस्य, मम शकारस्येत्यर्थः, बध्यतेऽनेन इति बन्धः = शत्रुसमूहः । अशरणः = आश्रयहीनः, रक्षकवरहितः इति यावत् । अभ्युपपन्नानाम् = समीपमागतानाम्, शरणागतानामित्यर्थः, शरणे = रक्षकत्वेन आश्रयदाने वत्सलः = कृपालुः तम्; शरणागतरक्षकमित्यर्थः ॥

अर्थः—आर्य चारुदत्त ! छोड़ो, छोड़ो । हम (दोनों) इसे मार डालें ।

शकार—हे आश्रयहीनों के आश्रयदाता ! रक्षा करो ।

चारुदत्त—(कृपा के साथ) अहह ! शरण में आये हुए के लिए अभय है, अभय है ।

शर्विलक—(घबड़ाहट के साथ) इसे आर्यचारुदत्त के पास से दूर हटा लीजिये । (चारुदत्त के प्रति) बतलाइये इस पापी का क्या किया जाय ?

आकर्षन्त्विति—

अन्वयः—एनम्, सुबद्ध्वा, (जनाः), आकर्षन्तु, अथ, एषः, श्वभिः, संखाद्यताम्, वा, शूले, तिष्ठताम्, वा, क्रकचेन, पाट्यताम्, ॥५४॥

शब्दार्थः—एनम् = इसको, सुबद्ध्वा = भली प्रकार बाँधकर, (जनाः = मनुष्य) आकर्षन्तु = खींचे ? अथ = अथवा, एषः = यह, श्वभिः = कुत्तों के द्वारा, संखाद्यताम् = खाया जाय ? वा = अथवा, शूले = शूली पर, तिष्ठताम् = बैठे ? वा = या, क्रकचेन = आरा से, पाट्यताम् = चीरा जाय ? ॥५४॥

चारुदत्तः—किमहं यद्ब्रवीमि तत्क्रियते ?।

शर्विलकः—कोऽत्र संदेहः ?।

शकारः—भश्टालआ चालुदत्त ! शलणागदे म्हि। ता पलित्ताआहि पलित्ताआहि। जं तुए शलिशं तं कलेहि; पुणो ण ईदिशं कलिश्शं। [भट्टारक चारुदत्त ! शरणागतोऽस्मि। तत्परित्रायस्व परित्रायस्व। यत्तव सदृशं तत्कुरु; पुनर्नेदृशं करिष्यामि।]

(नेपथ्ये)

पौराः ! वावादेध, किंणिमित्तं पादकी जीवावीअदि ? । [पौराः ! व्यापादयत, किंनिमित्तं पातकी जीव्यते ? ।]

(वसन्तसेना वध्यमालां चारुदत्तस्य कण्ठादपनीय शकारस्योपरि क्षिपति)

अर्थः—क्या इस (शकार) को भला प्रकार बाँध कर (मनुष्य) खींचे अथवा इसे कुत्ते खाएँ। क्या इसे शूली पर चढ़ाया जाय अथवा आरा से चीरा जाय ॥ ५४ ॥

टीका—एनम् = तव सम्मुखे उपस्थापित शकारमित्यर्थः; सुबद्ध्वा = सम्यक् संयम्य, रज्ज्वादिभिः हस्तपादं बद्ध्वा इत्यर्थः; 'सुबद्धच' इति पाठान्तरम्; आकर्षन्तु = पृथिव्यामितस्ततः कर्षन्तु ? जनाः इति शेषः। अथ = अथवा; एषः=अपराधी शकारः; श्वभिः = कुक्कुरैः; संखाद्यताम् = आच्छिद्य आच्छिद्य भोज्यताम् ? वा = अथवा; शूले = प्राणापहारके लौहफलके; तिष्ठताम् = वर्तताम् ? वा = अथवा; क्रकचेन = करपत्त्रेण ('क्रकचोऽस्त्री करपत्त्रम्' इत्यमरः), पाटचताम् = विदार्यताम्। सर्वत्र प्रश्ने लोट्। अतिभयङ्करेषु एतेषु दण्डेषु पापी शकारः कस्य भाजनं भूयादिति प्रश्नस्याशयः ॥५४॥

टिप्पणी—इस श्लोक के 'सुबद्ध्वा' तथा 'तिष्ठताम्' ये दोनों प्रयोग ठीक नहीं हैं। इनके स्थान पर 'सुबद्धच' एवं 'स्थीयताम्' होना चाहिये ॥

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है ॥५४॥

अर्थः—**चारुदत्त**—क्या मैं जो कहूँगा, वह किया जायगा ?

शर्विलक—इसमें क्या सन्देह ?

शब्दार्थः—सदृशम् = योग्य। ईदृशम् = ऐसे काम को।

अर्थः—**शकार**—मालिक चारुदत्त ! शरण में आया हूँ। तो रक्षा करो, रक्षा करो। जो तुम्हारे योग्य हो वह करो। फिर ऐसा न करूँगा।

टीका—सदृशम् = अनुरूपम्। ईदृशम् = एतादृशं कार्यम् ॥

(पर्दे में)

अर्थः—हे पुरवासियों ! मार डालो। यह पातकी किसलिये जी रहा है ?

(वसन्तसेना वध्य की माला को चारुदत्त के गले से निकाल कर शकार के ऊपर फेंकती है)

शकारः—गब्भदाशीधीए ! पशीद पशीद । ण उण मालइश्शं । ता पलित्ताआहि । [गर्भदासीपुत्रि ! प्रसीद प्रसीद । न पुनर्मारयिष्यामि । तत्परित्रायस्व ।]

शर्विलकः—अरे रे, अपनयत । आर्यचारुदत्त ! आज्ञाप्यताम्—किमस्य पापस्यानुष्ठीयताम् ? ।

चारुदत्तः—किमहं यद्ब्रवीमि तत्क्रियते ? ।

शर्विलकः—कोऽत्र संदेहः ।

चारुदत्तः—सत्यम् ? ।

शर्विलकः—सत्यम् ।

चारुदत्तः—यद्येवं शीघ्रमयम्—

शर्विलकः—किं हन्यताम् ? ।

चारुदत्तः—नहि नहि, मुच्यताम् ।

शर्विलकः—किमर्थम् ? ।

चारुदत्तः—

शत्रुः कृतापराधः शरणमुपेत्य पादयोः पतितः ।
शस्त्रेण न हन्तव्यः,

शर्विलकः—एवम्, तर्हि श्वभिः खाद्यताम् ।

चारुदत्तः—नहि,

शकार—गर्भदासी की पुत्री ! प्रसन्न होओ, प्रसन्न होओ । फिर न मारूँगा । तो बचालो ।

शर्विलक—अरे रे ! हटाओ । आर्य चारुदत्त ! आज्ञा दीजिये—इस पापी का क्या किया जाय ?

चारुदत्त—क्या मैं जो कह रहा हूँ वह किया जायगा ?

शर्विलक—इसमें क्या सन्देह ?

चारुदत्त—सच ?

शर्विलक—सच ।

चारुदत्त—यदि ऐसी बात है तो शीघ्र ही इसे—

शर्विलक—क्या मार दिया जाय ?

चारुदत्त—नहीं, नहीं, छोड़ दिया जाय ।

शर्विलक—किसलिये ?

उपकारहतस्तु कर्तव्यः ॥ ५५ ॥

शर्विलकः—अहो, आश्चर्य्यम् , किं करोमि ? । वदत्वार्यः ।

चारुदत्तः—तन्मुच्यताम् ।

शर्विलकः— मुक्तो भवतु ।

शत्रुः इति—

अन्वयः—कृतापराधः, शत्रुः, (यदि) शरणम्, उपेत्य, पादयोः, पतितः, (तर्हि, सः), शस्त्रेण, न, हन्तव्यः, तु, उपकारहतः, कर्तव्यः ॥५५॥

शब्दार्थः - कृतापराधः = अपराध को करने वाला, शत्रुः = शत्रु, (यदि), शरणम् = शरण को, उपेत्य = प्राप्त करके (अर्थात् शरण में आकर), पादयोः = पैरों पर पतितः = पड़ा है, (तर्हि = तो, सः = वह), शस्त्रेण = शस्त्र से, न = नहीं, हन्तव्यः = मारने के योग्य है, तु = किन्तु, उपकारहतः=उपकार से मरा हुआ, कर्तव्यः= करने के योग्य है ॥

अर्थः - चारुदत्त—अपराध को करने वाला शत्रु यदि शरण में आकर पैरों पर पड़ा है तो उसे शस्त्र से नहीं मारना चाहिये .....

शर्विलक— अच्छा, तो कुत्तों द्वारा खाया जाये ।

चारुदत्त नहीं,

किन्तु उसे उपकार से मरा हुआ कर देना चाहिये ॥ ५४ ॥

टीका—कृतापराधः—कृतः=सम्पादितः अपराधः=आगः ('आगोऽपराधो मन्तुश्च, इत्यमर') येन तादृशः; शत्रुः = अरिः, अहितकर्ता इत्यर्थः; यदि; शरणम् = आश्रयम्; उपेत्य = प्राप्य; पादयोः = चरणयोः; पतितः = लुठितः; अस्ति तर्हि सः; शस्त्रेण = आयुधेन न हन्तव्यः = न मारणीयः; तु = किन्तु; उपकारहतः—उपकारेण = तस्य हितसम्पादनेन, हतः = विनष्टः; अतिलज्जितः इति भावः । अतिलज्जावस्था मरणतुल्यैवावबुद्ध्यतेति अर्थः । कर्तव्यः = विधेयः । अपकर्ता शत्रुर्यदि शरणे भवेत्प्राप्तस्तर्हि तस्य तथा उपकारः विधेयः यथातिलज्जया सः मुखमपि सम्मुखे कर्तुं न शक्नुयात् । इयं हि अवस्था तस्य मरणादपि गरीयसीति भावः ॥५५॥

टिप्पणी - भारतीय शास्त्रकारों ने शरणागत के बध की घोर निन्दा की है । अतः चारुदत्त शकार का बध नहीं होने देना चाहते हैं ॥

अर्थः—शर्विलक—अहो ! आश्चर्य है । क्या करूँ ? आप बतलावें ।

चारुदत्त—तो छोड़ दिया जाय ।

शर्विलक—मुक्त हो जाये ।

शकारः—हीमादिके, पच्चुज्जीविदे म्हि। [आश्चर्यम्, प्रत्युज्जीवितोऽस्मि।] (इति पुरुषैः सह निष्क्रान्तः)

(नेपथ्ये कलकलः)

(पुनर्नेपथ्ये)

एसा अज्जचालुदत्तस्स वहुआ अज्जा धूदा पदे वसणंचले विलग्गंतं दारअं आक्खिवंती बाप्फभरिदणअणेहिं जणेहिं णिवारिज्जमाणा पज्जलिदे पावए पविसदि। [एषार्यचारुदत्तस्य वधूरार्या धूता पदे वसनाञ्चले विलगन्तं दारकमाक्षिपन्ती बाष्पभरितनयनैर्जनैर्निवार्यमाणा प्रज्वलिते पावके प्रविशति।]

शर्विलकः-(आकर्ण्य, नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) कथं चन्दनकः ?। चन्दनक ! किमेतत् ?।

चन्दनकः—(प्रविश्य) किं ण पेक्खदि अज्जो ?। महाराअप्पासादं दक्खिणेण महंतो जणसंमद्दो वट्टदि। ('एसा' (पृष्ठे) इत्यादि पुनः पठति) कधिदं अ मए तीए, जधा—'अज्जे ! मा साहसं करेहि। जीवदि अज्जचारुदत्तो' त्ति। परंतु दुक्खवावुडदाए को सुणेदि, को पत्तिआएदि ?। [किं न पश्यत्यार्यः ?। महाराजप्रासादं दक्षिणेन महाञ्जनसंमर्दो वर्तते। कथितं च मया तस्यै, यथा—'आर्ये ! मा साहसं कुरुष्व। जीवत्यार्यचारुदत्तः' इति। परंतु दुःखव्यापृततया कः शृणोति, कः प्रत्ययते ?।]

अर्थः—**शकार**—आश्चर्य है। फिर से जीवित हो गया हूँ।

(ऐसा कह कर पुरुषों के साथ निकल जाता है)

(पर्दे में कोलाहल)

(फिर पर्दे में)

शब्दार्थः—पदे = पैर में, वसनाञ्चले = वस्त्र के आंचल में। दारकम् = बालक को। बाष्पभरितनयनैः = आंखों में आँसू भरे हुए॥

अर्थः—यह आर्य चारुदत्त की स्त्री आर्या 'धूता' पैर और वस्त्र के आँचल में लिपटने वाले बालक को दूर हटाती हुई आँखों में आँसू भरे हुए लोगों के द्वारा मना की जाती हुई भी जलती हुई आग में प्रवेश कर रही है।

टीका—पदे = चरणे, पादप्रदेशे इत्यर्थः; वसनस्य = वस्त्रस्य अञ्चले = प्रान्ते। दारकम् = शिशुम्, पुत्रं रोहसेनमित्यर्थः। बाष्पैः = अश्रुभिः भरितानि = पूर्णानि नयनानि = लोचनानि येषां तादृशैः॥

शब्दार्थः—महाराजप्रासादम् = महाराज (आर्यक) के महल के, दक्षिणेन = दक्खिन ओर। जनसम्मर्दः = लोगों की भीड़। दुःखव्यापृततया = दुःख में डूबी होने के कारण। प्रत्ययते = विश्वास करता है॥

अर्थः—**शर्विलक**—(सुनकर, पर्दे की ओर देख कर) क्या चन्दनक ? चन्दनक ! यह क्या है ?

चारुदत्तः—(सोद्वेगम्) हा प्रिये ! जीवत्यपि मयि किमेतद्व्यवसितम् ? । (ऊर्ध्वमवलोक्य दीर्घं निःश्वस्य च)

न महीतलस्थितिसहानि भवच्चरितानि चारुचरिते यदपि ।
उचितं तथापि परलोकसुखं न पतिव्रते ! तव विहाय पतिम् ॥ ५६ ॥

चन्दनक - (प्रवेश करके) क्या आप नहीं देख रहे हैं ? महाराज के महल के दक्षिण ओर लोगों की वहुत बड़ी भीड़ है । ('एषा' इत्यादि फिर पढ़ता है) और मैंने उससे (धूता से) कहा कि—'आर्ये ! साहस मत करो ; आर्य चारुदत्त जीवित हैं ।' किन्तु दुःख में डूबने के कारण कौन सुनता है ? और कौन विश्वास करता है ?

टीका—महाराजस्य = राज्ञः, आर्यकस्येत्यर्थः, प्रासादम् - राजभवनम् । यद्यपि "प्रासादो देवभूभुजाम्' इत्यमरोक्तेः प्रासादशब्देनैव महाराजप्रासादस्यावबोधादयं महाराजशब्दः निरर्थकः प्रतीयते । परञ्च व्यवहारे साहित्ये चापि प्रासादशब्दः धनिनां भव्यस्य गृहस्यार्थेऽपि प्रयुज्यतेऽतः न दोषः । दक्षिणेन = दक्षिणस्यां दिशि इत्यर्थः । 'दक्षिणेन' इति एनप्प्रत्ययान्तम् । तद्योगे 'एनपा द्वितीया' २।३।३१ पा० ॥ इत्यनेन प्रासादमित्यत्र द्वितीया भवति । महाराजभवनस्य दक्षिणस्यां दिशि इति समुदितार्थः ॥ जनसम्मर्दः—जनानाम् = लोकानाम् सम्मर्दः = समवायः । दुःखे = कष्टे व्यापृता = लीना दुःखव्यापृता तस्याः भावः तत्ता तया दुःखव्यापृततया = दुःखलीनतया । प्रत्ययते = विश्वसिति ॥

न महीतलेति—

अन्वयः—हे चारुचरिते ! यदपि, भवच्चरितानि, महीतलस्थितिसहानि, न, (सन्ति); तथापि, हे पतिव्रते ! पतिम्, विहाय, तव, परलोकसुखम् न उचितम् ॥५६॥

शब्दार्थः—हे चारुचरिते ! = हे सुन्दरचरितवाली ! यदपि = यद्यपि, भवच्चरितानि = आप के चरित, महीतलस्थितिसहानि = भूतल पर रहने के योग्य, न = नहीं, (सन्ति=हैं) । तथापि = तो भी, हे पतिव्रते ! = हे पतिव्रता स्त्री ! पतिम् = पति को (अर्थात् मुझको), विहाय = छोड़ कर, तव = तुम्हारा, परलोकसुखम् = परलोक में सुख भोगना, न = नहीं, उचितम् = उचित है ॥

अर्थः—चारुदत्त—(घबड़ाहट के साथ) हाय प्रिये ! मेरे जिन्दा रहने पर ही (तुमने) यह क्या निश्चित कर लिया ? (ऊपर देख कर और लम्बी साँस लेकर)

हे सुन्दर चरितवाली ! यद्यपि आपके सच्चरित्र इस भूतल पर रहने के योग्य नहीं हैं तथापि हे पतिव्रता स्त्री ! पति (मुझ) को छोड़ कर तुम्हारा परलोक में (अकेले) सुख भोगना उचित नहीं है ॥ ५६ ॥

(इति मोहमुपगतः)

शर्विलकः—अहो प्रमादः

त्वरया सर्पणं तत्र मोहमार्योऽत्र चागतः ।
हा धिक्प्रयत्नवैफल्यं दृश्यते सर्वतोमुखम् ॥५७॥

टीका—हे चारुचरिते—चारु = शोभनम् चरितम् = आचरणम् यस्याः तत्सम्बोधने; यदपि = यद्यपि; भवत्याः = श्रीमत्याः तव चरितानि = आचरणानि; महीतले = भूतले स्थितिः = अवस्थानम् तां सहन्ते इति महीतलस्थितिसहानि = भूतले स्थातुं योग्यानि; न सन्ति; तथापि; हे पतिव्रते ! पतिम् = भर्तारम्, मामित्यर्थः; विहाय = त्यक्त्वा; तव = भवत्याः; परलोके = स्वर्गे यत् सुखम् = आनन्दः तद्भोक्तुमिति शेषः; न उचितम् = न योग्यम् । सर्वथा स्वर्गे एव स्थातुं योग्यायाः तव मां विहाय तत्र गमनं नोचितं यतः त्वं पतिव्रताऽसीति भावः ॥ ५६ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा प्रमिताक्षरा छन्द है ।

छन्द का लक्षण—

प्रमिताक्षरा सजससैः कथिता ॥ ५६ ॥

त्वरया सर्पणमिति—

अन्वयः—तत्र, त्वरया, सर्पणम्, (उचितम्, किन्तु), अत्र, आर्यः, मोहम्, उपगतः । हा धिक् ! सर्वतोमुखम्, प्रयत्नवैफल्यम्, दृश्यते ॥ ५७ ॥

शब्दार्थः—तत्र = वहाँ, त्वरया = जल्दी से, सर्पणम् = जाना, (उचितम् = उचित है, किन्तु = परन्तु); अत्र = यहाँ, आर्यः = आदरणीय (चारुदत्त), मोहम् = मूर्च्छा को, उपगतः = प्राप्त हो गये हैं । हा धिक् = हाय धिक्कार है ! सर्वतोमुखम् = चारों ओर से, प्रयत्नवैफल्यम् = प्रयत्न की विफलता, दृश्यते = दिखलायी देती है ॥

(ऐसा कह कर मूर्च्छा को प्राप्त होता है)

अर्थः—शर्विलक—अहो ! असावधानी !

वहाँ (धूता के पास) जल्दी से जाना उचित है, परन्तु यहाँ आर्य (चारुदत्त) मूर्च्छित हो गये हैं । हाय ! धिक्कार है ! चारों ओर से प्रयत्न (चारुदत्त को बचाने के प्रयत्न) की विफलता दिखलाई देती है ॥ ५७ ॥

टीका—तत्र = यत्र धूता अग्नौ प्रविशति तत्रेत्यर्थः; त्वरया = झटिति; सर्पणम् = गमनम्; उचितमिति शेषः; किन्तु अत्र = अस्मिन् स्थाने; आर्यः = आदरणीयः, चारुदत्तः इत्यर्थः, मोहम् = मूर्च्छाम्; उपगतः = प्राप्तः । हा धिक् ! सर्वतोमुखम् = सर्वप्रकारेण

वसन्तसेना--समस्ससिदु अज्जो । तत्त गदुअ जीवावेदु अज्जा; अण्णधा अधीर-त्तणेण अणत्थो संभावीअदि । [समाश्वसित्वार्यः । तत्र गत्वा जीवयत्वार्याम्; अन्यथा-धीरत्वेनानर्थः संभाव्यते ।]

चारुदत्तः-(समाश्वस्य, सहसोत्थाय च) हा प्रिये ! क्वासि ? । देहि मे प्रतिवचनम् ।

चन्दनकः--इदो इदो अज्जो । [इत इत आर्यः ।]

(इति सर्वे परिक्रामन्ति)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा धूता चेलाञ्चलमाकर्षन्विदूषकेणानुगम्यमानो रोहसेनो रदनिका च)

धूता--(सास्रम्) जाद ! मुंचेहि मं । माविग्घं करेहि । भीआमि अज्जउत्तस्स अमंगलाकण्णणदो । [जात ! मुञ्च माम् । मा विघ्नं कुरुष्व । बिभेम्यार्यपुत्रस्यामङ्गला-कर्णनात् ।] (इत्युत्थायाञ्चलमाकृष्य, पावकाभिमुखं परिक्रामति)

इत्यर्थः; प्रयत्नानाम् = उद्योगानाम् वैफल्यम् = विफलता; दृश्यते = अवलोक्यते । चारु-दत्तविमोक्षणायैव झटिति अस्माभिः पालकहननादिकृत्यानि सयत्नं कृतानि । परञ्च कृतेऽपि सर्वविधयत्ने प्रतीयते चारुदत्तस्य प्राणानां रक्षा न भविष्यतीति; अस्य जीवनरक्षा धूतां विना न सम्भविष्यतीति भावः ॥५७॥

टिप्पणी—इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है । लक्षण;—युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्या-वक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥५७॥

शब्दार्थः—अनर्थः = अनर्थ अर्थात् धूता की मृत्यु । प्रतिवचनम् = उत्तर, जवाब ॥

अर्थः-**वसन्तसेना**-आर्य ढाँढस बाँधे । वहाँ चल कर आर्या (धूता) को जीवित करें । नहीं तो अधीरता से अनर्थ की सम्भावना है ।

चारुदत्त—(धीरज धर कर और जल्दी से उठ कर) हाय प्रिये ! कहाँ हो ? मुझे उत्तर दो ।

टीका--अनर्थः = हानिः, धूता अग्नौ भस्मीभूता भविष्यतीति भावः । प्रतिवचनम्= उत्तरम् ॥

अर्थः-**चन्दनक**—आर्य ! इधर से, इधर से (आइये) ।

(इस प्रकार सभी घूमते हैं)

(इसके बाद पहले बतलायी गयी अवस्था वाली धूता, वस्त्र के आँचल को खींचता हुआ एवं विदूषक से अनुसरण किया गया रोहसेन और रदनिका प्रवेश करते हैं)

शब्दार्थः—जात ! = पुत्र ! आर्यपुत्रस्य = पतिदेव के, अमङ्गलाकर्णनात् = अमंगल (अर्थात् मृत्यु) के सुनने से ॥

रोहसेनः—माद अज्जए ! पडिवालेहि मं । तुए विणा ण सक्कुणोमि जीविदं धारेदुं । [मातरार्ये ! प्रतिपालय माम् । त्वया विना न शक्नोमि जीवितं धर्तुम् ।] (इति त्वरितमुपसृत्य, पुनरञ्चलं गृह्णाति)

विदूषकः—भोदीए दाव बह्मणीए भिण्णत्तणेण चिदाधिरोहणं पावं उदाहरंति रिसिओ । [भवत्यास्तावद्ब्राह्मण्या भिन्नत्वेन चिताधिरोहणं पापमुदाहरन्ति ऋषयः ।]

धूता—वरं पावाचरणे । ण उण अज्जउत्तस्स अमंगलाकण्णणं । [वरं पापाचरणम् । न पुनरार्यपुत्रस्यामङ्गलाकर्णनम् ।]

शर्विलकः—(पुरोऽवलोक्य) आसन्नहुतवहार्या । तत्त्वर्यतां त्वर्यताम् ।

अर्थः—**धूता**—(आँखों में आँसू भर कर) बेटे ! छोड़ो मुझे । विघ्न मत करो । आर्यपुत्र (चारुदत्त) के अमङ्गल (अर्थात् मृत्यु) के सुनने से डर रही हूँ । (ऐसा कह कर उठकर, आँचल खींच कर, आग की ओर घूमती है)

टीका—जात ! = पुत्र ! आर्यपुत्रस्य = पत्युः चारुदत्तस्य; अमङ्गलस्य = अशुभस्य अर्थात् मृत्योः आकर्णनात् = श्रवणात् ॥

अर्थः–**रोहसेन**–आर्ये माता ! मेरी प्रतीक्षा करो । तुम्हारे बिना मैं प्राण को नहीं धारण कर सकता । (ऐसा कहकर, जल्दी से पास में जाकर, फिर आँचल पकड़ता है ।)

शब्दार्थः ब्राह्मण्या = ब्राह्मण की पत्नी के द्वारा । भिन्नत्वेन = अलग से, चिताधिरोहणम् = चिता पर चढ़ना अर्थात् चिता में जलना । पापम् = अधर्म ॥

अर्थः **विदूषक**—आप जैसी ब्राह्मणी के लिए अपने पति से अलग होकर चिता पर जाने को ऋषि लोग पाप बतलाते हैं ।

धूता—(यह) पाप करना अच्छा है ! किन्तु आर्यपुत्र के मृत्यु का समाचार सुनना अच्छा नहीं ।

टीका—ब्राह्मण्या = ब्राह्मणपत्न्या । भिन्नत्वेन = पत्युः मृतशरीरं विना इत्यर्थः; चिताधिरोहणम्–चितायाम् = शवदाहार्थम् एकत्रिते काष्ठसमूहे इत्यर्थः, अधिरोहणम् = अवस्थानम् । पापम् = पापजनकमित्यर्थः । क्षत्रियादीनां भिन्नत्वेनापि चिताधिरोहणाधिकारस्मरणाद् ब्राह्मण्या इति भिन्नत्वेनेयमुक्तिः, इति पृथ्वीधरः । पतिशरीरं विना न तव चिताधिरोहणं शुभावहमिति भावः । एतदेवाह उशनाः–पृथक् चितिं समारुह्य न विप्रा गन्तुमर्हति । अन्यासामेव नारीणां स्त्रीधर्मोऽयं परः स्मृतः ॥

शब्दार्थः—आर्या = आदरणीया (धूता), आसन्नहुतवहा = आग के पास पहुँच चुकी हैं ॥

(चारुदत्तस्त्वरितं परिक्रामति)

धूता—रअणिए ! अवलंब दारअं, जाव अहं समीहिदं करेमि । [रदनिके ! अवलम्बस्व दारकम् । यावदहं समोहितं करोमि ।]

चेटी—(सकरुणम्) अहं पि पधोवदेसिणि म्हि भट्टिणीए । [अहमपि पथोपदेशिन्यस्मि भट्टिन्याः ।]

धूता—(विदूषकमवलोक्य) अज्जो दाव अवलंबेदु । [आर्यस्तावदवलम्बताम् ।]

विदूषकः—(सावेगम्) समीहिदसिद्धिए पउत्तेग बम्हणो अग्गदो कादव्वो । अदो भोदीए अहं अग्गणी होमि । [समीहितसिद्ध्यै प्रवृत्तेन ब्राह्मणोऽग्रे कर्तव्यः । अतो भवत्या अहमग्रणीर्भवामि ।]

धूता—कधं पच्चादिट्ठम्हि दुवेहिं ?। (बालकमालिङ्ग्य) जाद ! तुमं ज्जेव

अर्थः-शर्विलक—(सामने देख कर) आर्या (धूता) आग के पास पहुँच चुकी हैं । तो जल्दी कीजिये, जल्दी कोजिये ।

(चारुदत्त जल्दी से घूमता है)

टीका—आर्या = आदरणीया, धूता इत्यर्थः; आसन्नहुतवहा आसन्नः=समोपस्थः हुतवहः = वह्निः यस्याः सा, अग्निसमोपवर्तिनीत्यर्थः ।।

शब्दार्थः—अवलम्बस्व = पकड़ लो । दारकम् = बच्चे को । समीहितम् = अभीष्ट को (अर्थात् आग में प्रवेश को) । भट्टिन्याः = स्वामिनी की (अर्थात् आप की), पथोपदेशिनी = रास्ता बतलाने वाली ।।

अर्थः–धूता–रदनिका ! बच्चे को पकड़ लो । जब तक मैं अपना अभीष्ट (आग में प्रवेश) करती हूँ ।

चेटी - (करुणा के साथ) मैं भी (आगे-आगे चलकर) आपको रास्ता बतलाने वाली हूँ । (अतः आज भी आपसे पहले चिता पर चढ़कर आपको स्वर्ग का रास्ता बतलाऊंगी । मुझे लौटाइये मत) ।

टीका—अवलम्बस्व = गृहाण । दारकम् = बालकम् । समीहितम् = अभिलषितम्, अग्नौ प्रवेशमित्यर्थः । भट्टिन्याः = स्वामिन्याः, भवत्याः; पथोपदेशिनी–पथः = मार्गस्य उपदेशिनी = निर्देशकर्त्री । पथोपदेशिनी सर्वदैवाग्रे प्रसरति; अतः स्वर्गेऽपि मार्गमुपदेष्टुं मम प्रथमं चिताधिरोहणमावश्यकमिति भावः ।।

शब्दार्थः—समीहितसिद्ध्यै = अभीष्टसिद्धि के लिये, प्रवृत्तेन = प्रवृत्त हुए (व्यक्ति)

पज्जवट्ठावेहि अत्ताणं अम्हाणं तिलोदअदाणाअ ।

अदिक्कंते किं मणोरहेहिं ?। (सनिःश्वासम्) ण खु अज्जउत्तो तुमं पज्जवट्ठाविस्सदि । [कथं प्रत्यादिष्टास्मि द्वाभ्याम् ? जात ! त्वमेव पर्यवस्थापयात्मानमस्माकं तिलोदकदानाय । अतिक्रान्ते किं मनोरथैः ? । न खल्वार्यपुत्रस्त्वां पर्यवस्थापयिष्यति ।]

चारुदत्तः—(आकर्ण्य, सहसोपसृत्य) अहमेव पर्यवस्थापयामि बालिशम् । (इति बालकं बाहुभ्यामुत्थाप्य, वक्षसालिङ्गति

धूता—(विलोक्य) अम्महे, अज्जउत्तस्स ज्जेव्व सरसंजोओ । (पुनर्निपुणं निरूप्य, सहर्षम्) दिट्ठिआ अज्जउत्तो ज्जेव एसो । पिअं मे पिअं । [आश्चर्यम्, आर्यपुत्रस्यैव स्वरसंयोगः । दिष्टयार्यपुत्र एवैषः । प्रियं मे प्रियम् ।]

के द्वारा । अग्रणीः = अगुआ । प्रत्यादिष्टा = इन्कार कर दी गयी । पर्यवस्थापय = बचा लो, ढाढस दे लो । तिलोदकदानाय = तिल से मिली हुई जल की अँजुली देने के लिये । अतिक्रान्ते = समय बीत जाने पर । बालिशम् = बालक को ॥

अर्थः धूता—(विदूषक को देख कर) तब आप ही पकड़ लें (बच्चे को) ।

विदूषक—(आवेग पूर्वक) अभीष्ट-सिद्धि के लिये प्रवृत्त हुए (व्यक्ति) को ब्राह्मण आगे करना चाहिये । इसलिये मैं आपका अगुआ (अग्रणी) होता हूँ ।

धूता—क्या दोनों (चेटी और विदूषक) के द्वारा इन्कार कर दी गयी हूँ ? (बालक का आलिङ्गन करके) बेटे ! हम लोगों को तिल से मिली हुई जल की अँजुली देने के लिए तुम्हीं अपने आपको बचा लो ।' समय बीत जाने पर चाहे गये कार्य के करने से क्या लाभ ? (लम्बी साँस लेकर) निश्चय ही आर्यपुत्र (चारुदत्त) भी तुम्हारी देख-भाल नहीं करेंगे ।

चारुदत्त—(सुनकर, एकाएक पास में जाकर) मैं ही बालक की देख-भाल करूँगा ।

टीका—समीहितस्य = अभिलषितस्य, कार्यस्येति यावत्, सिद्धये = पूर्णतायै; प्रवृत्तेन = कृतोद्योगेन; जनेनेति शेषः । अग्रणीः = अग्रेसरः । प्रत्यादिष्टा = प्रत्याख्याता । पर्यवस्थापय = पालय सन्तोषेण धारय वा । तिलोदकदानाय = तिलाञ्जलिं दातुम् । अतिक्रान्ते = समये व्यतीते सतीत्यर्थः । बालिशम् = बालकम् ॥

(ऐसा कह कर, बालक को हाथों से उठा कर, छाती से लगाता है)

अर्थः-धूता—(देखकर) आश्चर्य है ! आर्यपुत्र (चारुदत्त) की सी आवाज है । (फिर सावधानी से देख कर, प्रसन्नता पूर्वक) भाग्य से यह आर्यपुत्र ही हैं । आनन्ददायक है, मेरे लिए आनन्ददायक है ।

बालकः—(विलोक्य सहर्षम्) अम्मो आवुको मं परिस्सजदि । (धूतां प्रति) अज्जए ! वड्ढवीअसि । आवुको ज्जेव मं पज्जवट्ठावेदि । [आश्चर्यम्, पिता मां परिष्वजति । आर्ये ! वर्धसे । तात एव मां पर्यवस्थापयति ।] (इति प्रत्यालिङ्गति)

चारुदत्तः—(धूतां प्रति)

हा प्रेयसि ! प्रेयसि विद्यमाने कोऽयं कठोरो व्यवसाय आसीत् ।
अम्भोजिनीलोचनमुद्रणं किं भानावनस्तंगमिते करोति ?॥ ५८ ॥

अर्थः—**बालक**--(देखकर प्रसन्नतापूर्वक) आश्चर्य है ! पिताजी मेरा आलिङ्गन कर रहे हैं । (धूता से) आर्ये ! बढ़ रहो हो । पिताजी ही मेरी देखभाल कर रहे हैं । (ऐसा कह कर बदले में आलिङ्गन करता है)

हेति—

अन्वयः—हा प्रेयसि ! प्रेयसि, विद्यमाने, (अपि), कः, अयम्, कठोरः, व्यवसायः, आसीत् । किम्, भानौ, अनस्तङ्गमिते (अपि), अम्भोजिनी, लोचनमुद्रणम्, करोति ? ॥५८॥

शब्दार्थः—हा प्रेयसि ! = हाय प्रियतमे ! प्रेयसि = प्रियतम, विद्यमाने = जीवित रहने पर, (अपि = भी), कः = कैसा, अयम् = यह, कठोरः = कठोर, व्यवसाय = निश्चय, आसीत् = था ? किम् = क्या, भानौ = सूर्य, अनस्तङ्गमिते = न डूबने पर, (अपि = भी), अम्भोजिनी = कमल-लता, लोचनमुद्रणम् = नेत्र (रूप फूल) का संकोच, करोति = करती है ? ॥

अर्थः—**चारुदत्त**--(धूता के प्रति)

हाय, प्रियतमे ! प्रियतम के (अर्थात् मेरे) जीवित रहने पर भी तुमने यह क्या कठोर (आग में प्रवेश का) निश्चय कर लिया था ? क्या कभी कमल-लता सूर्य के बिना अस्त हुए भी (कमलरूप) अपनी आंखें मूँद लेती है ? ॥ ५८ ॥

टीका—हा प्रेयसि = हा प्रियतमे ! प्रेयसि - प्रियतमे, मयीत्यर्थः; विद्यमाने = वर्तमाने; अपि; कः = कीदृशः; अयम् = एषः, चिताग्निप्रवेशरूपः; कठोरः = कठिनः, दुःसाध्यः इत्यर्थः; व्यवसायः = निश्चयः; आसीत् = अभूत् ? किम्; भानौ = सूर्ये; अनस्तङ्गमिते = उदिते सतीत्यर्थः; अपि; अम्भोजिनी = कमलिनी, लोचनमुद्रणम् = निमीलनम्; करोति = विदधाति । यथा सति सूर्ये कमलिनी पुष्पमुद्रणं न करोति तथैव सति मयि तवापि प्राणत्यागप्रयत्नः न कर्तव्यः आसीदिति भावः ॥५८॥

टिप्पणी—इस श्लोक में दृष्टान्त अलङ्कार तथा इन्द्रवज्रा छन्द है ।

धूता—अज्जउत्त ! अदो ज्जेव सा अचेतणेत्ति चुंबीअदि । आर्यपुत्र ! अत एव साऽचेतनेति चुम्ब्यते ।]

विदूषकः—(दृष्ट्वा, सहर्षम्) ही ही भो, एदेहिं ज्जेव अच्छीहिं पिअवअस्सो पेक्खीअदि । अहो सदीए पहावो, जदो जलणप्पवेशव्ववसाएण ज्जेव पिअसमागमं पाविदा (चारुदत्तं प्रति) जेदु जेदु पिअवअस्सो । [आश्चर्यं, भोः ! एताभ्यामेवाक्षिभ्यां प्रियवयस्य. प्रेक्ष्यते । अहो सत्या प्रभावः, यतो ज्वलनप्रवेशव्यवसायेनैव प्रियसमागमं प्रापिता । जयतु जयतु प्रियवयस्यः ।]

चारुदत्तः—एहि मैत्रेय ! । (इत्यालिङ्गति)

चेटी—अहो संविधाणअं । अज्ज ! वंदामि । [अहो संविधानकम् । आर्य ! वन्दे ।]
(इति चारुदत्तस्य पादयोः पतति)

चारुदत्तः—(पृष्टे कर दत्वा) रदनिके ! उत्तिष्ठ । (इत्युत्थापयति)

छन्द का लक्षण—

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः ॥५८॥

शब्दार्थः—सा = वह अर्थात् कमलिनी, अचेतना = जड, अचेतन । चुम्ब्यते = कही जाती है । सत्याः = सती का । ज्वलनप्रवेशव्यवसायेन = आग में प्रवेश करने के निश्चय से ॥

अर्थः—धूता—आर्यपुत्र ! इसीलिए वह (कमल-लता) अचेतन कही जाती है ।

विदूषक—(देखकर, प्रसन्नता के साथ) अरे आश्चर्य है ! (मैं) इन्हीं आँखों से प्रिय मित्र को देख रहा हूँ । सती (धूता) का प्रभाव आश्चर्यजनक है, जिससे कि आग में प्रवेश करने के निश्चय मात्र से ही प्रिय-मिलन को प्राप्त हो गई । (चारुदत्त से) प्रिय मित्र की जय हो, जय हो ।

टीका—सा = कमलिनी; अचेतना = जडा, चेतनाशून्येति यावत्; चुम्ब्यते = उच्यते इत्यर्थः । सत्याः = पतिव्रतायाः । ज्वलने = अग्नौ प्रवेशस्य = गमनस्य व्यवसायेन = निश्चयेन ॥

शब्दार्थः—संविधानकम् = संयोग, दैव का विधान । दिष्टया = भाग्य से ॥

अर्थः—चारुदत्त—आओ मैत्रेय । (ऐसा कहकर आलिङ्गन करता है)

चेटी—अहो ! दैव का विधान । आर्य प्रणाम करती हूँ (ऐसा कहकर चारुदत्त के पैरों पर पड़ती है) ।

चारुदत्त-(पीठ पर हाथ फेरकर) रदनिके ! उठो । (ऐसा कहकर उठाता है)

धूता—(वसन्तसेनां दृष्ट्वा) दिट्ठिआ कुसलिणी बहिणिआ। [दिष्ट्या कुशलिनी भगिनी।]

वसन्तसेना—अहुणा कुसलिणी संवुत्तम्हि। [अधुना कुशलिनी संवृत्तास्मि।]

(इत्यन्योन्यमालिङ्गतः)

शर्विलकः—दिष्ट्या जीवितसुहृद्वर्ग आर्यः।

चारुदत्तः—युष्मत्प्रसादेन।

शर्विलकः—आर्ये वसन्तसेने ! परितुष्टो राजा भवतीं वधूशब्देनानुगृह्णाति।

वसन्तसेना—अज्ज ! कदत्थम्हि। [आर्य ! कृतार्थास्मि।]

शर्विलकः—(वसन्तसेनामवगुण्ठ्य चारुदत्तं प्रति) आर्य ! किमस्य भिक्षोः क्रियताम् ?

चारुदत्तः—भिक्षो ! किं तव बहुमतम् ?

भिक्षुः—इमं ईदिशं अणिच्चत्तणं पेक्खिअ दिउणतले मे पव्वज्जाए बहुमाणे संवुत्ते। [इदमीदृशमनित्यत्वं प्रेक्ष्य द्विगुणतरो मम प्रव्रज्यायां बहुमानः संवृत्तः।]

टीका—संविधानकम् = दैवस्य विधानम्। दिष्ट्या = भाग्येन॥

अर्थः धूता—(वसन्तसेना को देखकर) सौभाग्य से बहन कुशलपूर्वक हैं।

वसन्तसेना—अब सकुशल हुई हूँ।

(ऐसा कहकर वे दोनों एक दूसरे का आलिङ्गन करती हैं)

शर्विलक—भाग्य से आर्य (चारुदत्त) का सुहृद्वर्ग जीवित है।

चारुदत्त—आप लोगों की कृपा से।

शर्विलक—आर्ये वसन्तसेने ! प्रसन्न हुए राजा (आर्यक) आपको 'वधू' इस शब्द से अनुगृहीत करते हैं (अर्थात् चारुदत्त की वधू बनाकर अनुगृहीत करना चाहते हैं)।

वसन्तसेना—आर्य ! कृतार्थ हो गयी।

शर्विलक—(वसन्तसेना को दुपट्टे से ढंककर चारुदत्त से) आर्य ! इस भिक्षु का क्या किया जाय ?

चारुदत्त—भिक्षुक ! तुम्हें क्या अधिक प्रिय है ?

शब्दार्थः—अनित्यत्वम् = अनित्यता को, नश्वरता को। प्रव्रज्यायाम् = संन्यास में। बहुमानः = अत्यधिक श्रद्धा। सर्वविहारेषु = सभी बौद्ध विहारों में (का)॥

अर्थः–भिक्षु – इस प्रकार की (जगत् की) इस अनित्यता को देखकर पहले से ही वर्तमान संन्यास में मेरी श्रद्धा दूनी हो गयी है।

चारुदत्तः—सखे ! दृढोऽस्य निश्चयः । तत्पृथिव्यां सर्वविहारेषु कुलपतिरयं क्रियताम् ।

शर्विलकः—यथाहार्यः ।

भिक्षुः—पिअं णो पिअं । [प्रियं नः प्रियम् ।]

वसन्तसेना – संपदं जोवाविदम्हि । [सांप्रतं जोवापितास्मि ।]

शर्विलकः · स्थावरकस्य किं क्रियताम् ? ।

चारुदत्त.—सुवृत्त अदासो भवतु । ते चाण्डालाः सर्वचाण्डालानामधिपतयो भवन्तु । चन्दनकः पृथिवीदण्डपालको भवतु । तस्य राष्ट्रियश्यालस्य यथैव क्रिया पूर्वमासीत्, वर्तमाने तथैवास्यास्तु ।

शर्विलकः – एवं, यथाहार्य.; परमेनं मुञ्च मुञ्च; व्यापादयामि ।

चारुदत्तः—अभय शरणागतस्य । ('शत्रुः कृतापराधः' (१०।५४) इत्यादि पठति)

चारुदत्त- मित्र ! इसका निश्चय दृढ़ है। तो पृथिवी पर जितने सब बौद्ध-बिहार हैं उनका इसे कुलपति बना दिया जाय ।

टीका—अनित्यत्वम्=अनित्यताम्, नश्वरत्वमिति यावत् । प्रव्रज्यायाम् = सन्यासे । बहुमानः = अत्यादरः, महती श्रद्धेति यावत् । सर्वविहारेषु = अखिलसौगतदेवालयेषु; कुलपतिः = धर्माध्यक्षः ॥

अर्थः—शर्विलक—आर्य की जैसी आज्ञा ।

भिक्षु—प्रिय, मेरा बहुत बड़ा प्रिय ।

वसन्तसेना—इस समय मैं जिला दी गयी हूँ ।

शर्विलक—स्थावरक का क्या किया जाय ?

चारुदत्त—सुन्दर आचरणवाला (स्थावरक) दासपन से मुक्त कर दिया जाय । वे चाण्डाल सभी चाण्डालों के स्वामी बना दिये जायँ । चन्दनक समूची पृथिवी की पुलिस का अध्यक्ष बना दिया जाय । उस राजा के साले (शकार) का जैसा काम पहले था वैसा ही इस समय भी रहे ।

शर्विलक—जैसा आपने कहा वैसा ही होगा । परन्तु इस (शकार) को छोड़ो, छोड़ो । इसे मारता हूँ ।

चारुदत्त—शरण में आये हुए को अभय है । ('शत्रुः कृतापराधः' (१०।५४) इत्यादि पढ़ता है ।

शर्विलकः—तदुच्यतां किं ते भूयः प्रियं करोमि ?।

चारुदत्तः—अतः परमपि प्रियमस्ति ?

लब्धा चारित्र्यशुद्धिश्चरणनिपतितः शत्रुरप्येष मुक्तः,
प्रोत्खातारातिमूलः प्रियसुहृदचलामार्यकः शास्ति राजा।
प्राप्ता भूयः प्रियेयं प्रियसुहृदि भवान्संगतो मे वयस्यो,
लभ्यं किं चातिरिक्तं यदपरमधुना प्रार्थयेऽहं भवन्तम् ?॥५९॥

लब्धेति—

अन्वयः—चारित्र्यशुद्धिः, लब्धा; चरणनिपतितः, एषः, शत्रुः, अपि, मुक्तः; प्रोत्खातारातिमूलः, प्रियसुहृद्, आर्यकः, राजा, (भूत्वा), अचलाम् शास्ति; इयम्, प्रिया, भूयः, प्राप्ता; प्रियसुहृदि, सङ्गतः, भवान्, मे, प्रियवयस्यः, (जातः); अतिरिक्तम्, किम्, लभ्यम् ? यत्, अपरम्, अहम्, अधुना, भवन्तम्, प्रार्थये ॥५९॥

शब्दार्थः—चारित्र्यशुद्धिः = चरित्र की निर्दोषता, लब्धा = प्राप्त कर ली गयी। चरणनिपतितः = पैरों पर पड़ा हुआ, एषः = यह, शत्रुः = शत्रु, अपि = भी, मुक्तः = छोड़ दिया गया। प्रोत्खातारातिमूल. = शत्रु की जड़ को उखाड़ फेंकने वाला, प्रियसुहृद् = प्रिय मित्र, आर्यकः = आर्यक, राजा = राजा, (भूत्वा = होकर), अचलाम्= पृथ्वी को, शास्ति = शासन कर रहा है। इयम् = यह, प्रिया = प्रेयसी, भूयः = फिर, प्राप्ता = मिल गयी। प्रियसुहृदि = प्रियमित्र में, सङ्गतः = मिले हुए (अर्थात् प्रियमित्र से मिले हुए), भवान् = आप, मे = मेरे, प्रियवयस्यः = प्रियमित्र, (जातः = हो गये)। अतिरिक्तम् = इसके अलावा, किम् = कौन सी वस्तु, लभ्यम् = पाने के योग्य है ? यत् = जिस, अपरम् = दूसरी वस्तु को, अहम् = मैं, अधुना = इस समय, भवन्तम् = आप से, प्रार्थये = मागूँ ॥

अर्थः – **शर्विलक** तो बतलाइये कि आपका और कौन सा प्रिय कार्य करूँ ?

चारुदत्त —इससे भी अधिक क्या (कोई) प्रिय है ?

(अपने) चरित्र की निर्दोषता प्राप्त कर ली गयी। पैरों पर पड़ा हुआ यह शत्रु भी (बिना दण्ड दिये) छोड़ दिया गया। शत्रु (पालक) की जड़ को उखाड़ फेंकने वाला प्रिय मित्र आर्यक राजा होकर पृथिवी का शासन कर रहा है। यह प्रिया (वसन्तसेना) फिर मिल गयी। प्रिय मित्र (आर्यक) से मिले हुए आप मेरे मित्र हो गये— अथवा मेरे मित्र आप प्रियमित्र (आर्यक अथवा मुझ) से मिल गये। इसके अतिरिक्त और कौन सी वस्तु पाने योग्य है, जिसको मैं इस समय आप से मागूँ ? ॥५९॥

काञ्चित्तुच्छयति प्रपूरयति वा कांश्चिन्नयत्युन्नतिं
कांश्चित्पातविधौ करोति च पुनः कांश्चिन्नयत्याकुलान् ।
अन्योन्यं प्रतिपक्षसंहतिमिमां लोकस्थितिं बोधय-
न्नेष क्रीडति कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तो विधिः ॥६०॥

टीका--चरित्र्यशुद्धिः—चारित्र्यस्य = आचारस्य शुद्धिः = निर्मलता; लब्धा = पुनः प्राप्ता । अन्यथा वसन्तसेना चारुदत्तेन हतेति प्रवादेन मदीयं निर्मलं चरितमपि दूषित-मासीदिति भावः । चरणयोः = पादयोः निपतितः = लुठितः, शरणागतः इति भावः; एषः = सम्प्रत्येव अस्मात् स्थानात् गतः, शत्रुः = रिपुः, शकारः इत्यर्थः; अपि; मुक्तः = अभयं प्रापितः । प्रोत्खातम् = उत्पाटितम् अरातेः = शत्रोः मूलम् = आदिः येन तादृशः; विनिहतशत्रुः इत्यर्थः; प्रियसुहृत् = प्रियसखा; आर्यकः = तदाख्यः गोपालपुत्रः; राजा = भूपतिः; भूत्वेति शेषः; अचलाम् = पृथिवीम्; शास्ति = नियमयति । इयम् = पुरो वधू-भावेन स्थिता एषा; प्रिया = प्रेयसी; वसन्तसेना इत्यर्थः; भूयः = मुहुः; प्राप्ता = लब्धा । प्रियसुहृदि = प्रियमित्रे; सङ्गतः = वयस्यभावेनामिलितः; भवान् = त्वम्; मे = मम; प्रियवयस्यः = प्रियसुहृद्; जातः इति शेषः । अतिरिक्तम् = अतोऽधिकम्; किम्=किं वस्तु; लभ्यम् = प्राप्तव्यम् ? यदपरम् = यदन्यं वस्तुः अहम् = चारुदत्तः; अधुना = सम्प्रति; भवन्तम् = त्वाम्; प्रार्थये = याचे ? । सर्वं ममाभीप्सितं सम्पन्नं न किमप्यवशिष्टमिति भावः ॥ ५९ ॥

टिप्पणी--लब्धा = प्राप्त कर ली गयी, √लभ् + क्त + टाप् । लभ्यम् = प्राप्त करने के योग्य, √ लभ् + क्त (कर्मणि) ।।

इस श्लोक में समुच्चय एवं काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा स्रग्धरा छन्द है ।

छन्द का लक्षण —

म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ॥ ५९ ॥

काञ्चिदिति—

अन्वयः– कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तः, एषः, विधिः अन्योन्यम्, प्रतिपक्षसंहतिम्, इमाम्, लोकस्थितिम्, बोधयन्, क्रीडति; (अयम्), कांश्चित्, तुच्छयति; वा, कांश्चित्, प्रपूरयति; कांश्चित्, उन्नतिम्, नयति, कांश्चित्, पातविधौ, करोति; पुनः, कांश्चित्, च, आकुलान्, नयति ॥ ६० ॥

शब्दार्थः--कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तः = रेहट की छोटी-छोटी बाल्टियों के ढंग को नकल करने में लगा हुआ, एषः = यह, विधिः = दैव, अन्योन्यम् = आपस में, प्रतिपक्ष-

संहितम् = विरोधियों (धनी-निर्धन आदि) की पाँत से युक्त, इमाम् = इस, लोक-स्थितिम् = संसार की अवस्था को, बोधयन् = बतलाता हुआ, क्रीडति = खिलवाड़ करता है। (अयम् = यह), कांश्चित् = किन्हीं को, तुच्छयति = खाली (तुच्छ) करता है; वा = और, कांश्चित् = किन्हीं को, उन्नतिम् = उन्नति को, नयति = प्राप्त कराता है, कांश्चित् = किन्हीं को, पातविधौ = नीचे, पतन के मार्ग में, करोति = करता है; पुनः = और, कांश्चित् = किन्हीं को, च = तो, आकुलान् = व्याकुल, नयति = बना देता है ॥

अर्थः-रहट की छोटी-छोटी बाल्टियों के ढंग एक का खाली होना दूसरे का भरना) को नकल करने में लगा हुआ यह दैव, आपस में विरोधियों (धनी-निर्धन आदि) की पाँत (समूह) से युक्त संसार की इस (सामने वर्तमान) अवस्था का बोध कराता हुआ खिलवाड़ करता है। यह दैव किन्हीं को खाली (तुच्छ) करता है और किन्हीं को भरा-पूरा करता है। किन्ही को उन्नति की ओर ले जाता है तो किन्हीं को नीचे गिरा देता और किन्हीं को तो व्याकुल ही बना देता है ॥६०॥

टीका—कूपयन्त्रस्य = कूपात् जलोद्धारणयन्त्रस्य 'लोके 'रहट' इति ख्यातस्य यन्त्रस्य' घटिकाः = स्वल्पघटाः तासां न्याये = पद्धतौ प्रसक्तः = संलग्नः; एषः = सर्वत्र नियमनकर्ता; विधिः = दैवम्; अन्योन्यम् = परस्परम्; प्रतिपक्षाणाम् = विरुद्धानाम्, धनित्व-निर्धनत्वादीनामित्यर्थः, संहतिम् = समूहः यत्र तादृशीम्; इमाम् = अस्माभिः अनुभूयमानाम्; लोकस्य = संसारस्य स्थितिम् = अवस्थाम्; बोधयन् = ज्ञापयन्; क्रीडति = क्रीडां करोति। यथा घटीयन्त्रे प्रचलति सति घटिकाः मालायां क्रमशः उच्चनीचभाव-प्राप्तौ जलेन पूर्णानि रिक्तानि च भवन्ति तथैव दैवमपि 'कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा, नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥' इति कालिदासोक्ति चरितार्थीं कुर्वत् जनान् धनिनः निर्धनान् च करोतीति भाव। एतदेव विवृण्वन् निर्दिशति—अयं विधिः, कांश्चित् = कियतः, जनानिति शेष; तुच्छयति = लघूकरोति धनरहितान् करोतीति यावत्; महाकविना कालिदासेन मेघे कथितमस्ति-"रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥" वा = तथा; कांश्चित् = कियतः जनान्; प्रपूरयति = धनादिदानेन पूर्णान् करोति। कांश्चित् जनान्; उन्नतिम् = समृद्धिम्, अभ्युदयम् वा; नयति = प्रापयति; कांश्चित् पातविधौ = पतनप्रकारे, पतनमार्गे इत्यर्थः; करोति = विदधाति; पुनः कांश्चित् = कतिपयान् जनान्; आकुलान् = व्याकुलान्; नयति = करोति इत्यर्थः। दैववशात् सर्वेषां जनानां नात्र समाना स्थितिरिति भावः ॥ ६० ॥

तथापीदमस्तु भरतवाक्यम्—

क्षीरिण्यः सन्तु गावो, भवतु वसुमती सर्वसंपन्नसस्या,
पर्जन्यः कालवर्षी, सकलजनमनोनन्दिनो वान्तु वाताः ।
मोदन्तां जन्मभाजः, सततमभिमता ब्राह्मणाः सन्तु सन्तः
श्रीमन्तः पान्तु पृथ्वीं प्रशमितरिपवो धर्मनिष्ठाश्च भूपाः ॥६१॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

संहारो नाम दशमोऽङ्कः ।

टिप्पणी – कूपयन्त्रघटिकान्याय–कुएँ के रहट की बाल्टियों का ढंग । रहट के चलने पर कोई बाल्टी खाली होती है, कोई भरती है, कोई नीचे जाती है तो कोई ऊपर आती है । यही कूपयन्त्रघटिका न्याय है ।

इस श्लोक में निदर्शना अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है । छन्द का लक्षण—

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ६० ॥

क्षीरिण्यः इति—

अन्वयः—गावः, क्षीरिण्यः, सन्तु । वसुमती, सर्वसम्पन्नसस्या, भवतु । पर्जन्यः कालवर्षी (भवतु) । सकलजनमनोनन्दिनः, वाताः, वान्तु । जन्मभाजः, मोदन्ताम् । ब्राह्मणाः, सततम्, अभिमताः, (तथा), सन्तः, सन्तु । श्रीमन्तः, प्रशमितरिपवः च, धर्मनिष्ठाः, भूपाः, पृथिवीम्, पान्तु ॥ ६१ ॥

शब्दार्थः—गावः = गाएँ, क्षीरिण्यः = दूधवाली, सन्तु = हों । वसुमती = पृथिवी, सर्वसम्पन्नसस्या = सब प्रकार के धान्य से भरी-पूरी; भवतु = हो । पर्जन्यः = बादल, कालवर्षी = समय पर वर्षा करने वाला, (भवतु = हो) । सकलजनमनोनन्दिनः = सभी लोगों के मन को प्रसन्न करने वाली, वाताः = हवाएँ, वान्तु = बहें । जन्मभाजः = पैदा होने वाले सभी प्राणी, मोदन्ताम्, = सुखी रहें । ब्राह्मणाः = ब्राह्मण लोग, सततम्, = सर्वदा, अभिमताः = (सबके) प्रिय, (तथा = और) सन्तः = सदाचारी, सन्तु = हों । श्रीमन्तः = सम्पत्तिशाली, प्रशमितरिपवः = शत्रुओं का दमन करने वाले, च = तथा, धर्मनिष्ठाः = धर्म में श्रद्धा रखने वाले, भूपाः = राजा, पृथिवीम् = पृथिवी को, पान्तु = पालें ॥

अर्थः –फिर भी यह होवे—

भरत-वाक्य

गाएँ (काफी) दूधवाली हों । पृथिवी सब प्रकार के धान्य से भरी-पूरी हो ।

बादल समय-समय पर वर्षा करने वाला हो। सभी लोगों के मन को प्रसन्न करनेवाली हवाएँ बहें। (संसार में) पैदा होने वाले सभी प्राणी सुखी रहें। ब्राह्मण लोग सर्वदा सब के प्रिय एवं सदाचारी हों। सम्पत्तिशाली, शत्रुओं का दमन करने वाले तथा धर्म में श्रद्धा रखनेवाले राजा पृथिवी का पालन करें ॥६१॥

(इसके बाद सब निकल जाते हैं)

"संहार नामक दशवाँ अङ्क समाप्त"

टीका—गावः = धेनवः; क्षीरिण्यः = प्रशस्तक्षीरयुक्ताः; सन्तु = भवन्तु। वसुमती= वसुन्धरा, पृथिवीत्यर्थः; सर्वसम्पन्नसस्या = सर्वाणि = सर्वविधानि सम्पन्नानि = समृद्धानि सस्यानि धान्यादीनि यस्यां तादृशी; भवतु = अस्तु। पर्जन्यः = मेघः; ('पर्जन्यो मेघ-शब्देऽपि ध्वनदम्बुदशक्रयोः' इति विश्वः); काले - समये वर्षति = जलं ददाति इति कालवर्षी = यथासमयं जलदाता; भवतु। सकलानाम् = सम्पूर्णानाम् जनानाम् = लोका-नाम् मनांसि = चेतांसि नन्दयन्ति = हर्षनिर्भराणि कुर्वन्ति इति तथोक्ताः; शैत्यमान्द्य-गन्धयुक्ताः इत्यर्थः; वाताः - वायवः; वान्तु = प्रवहन्तु। जन्मभाजः = देहधारिणः, सर्वे प्राणिनः इत्यर्थ; मोदन्ताम् हर्षं प्राप्नुवन्तु। ब्राह्मणाः=विप्राः; सततम् = निरन्तरम्; अभिमताः = सर्वजनैः अभिनन्दिताः; तथा सन्तः = सज्जनाः, स्वकर्मणि रताः इति भावः; सन्तु = भवन्तु। श्रीमन्तः = लक्ष्मीसम्पन्नाः; प्रशमिताः = विनाशिताः नियमिताः वा, रिपवः = शत्रवः यैः तादृशाः, च = तथा; धर्म नष्ठाः = धर्मशीलाः, धार्मिकाः इति यावत्; भूपाः = राजानः; पृथिवीम् = वसुधाम्; पान्तु = रक्षन्तु ॥६१॥

टिप्पणी—भरतवाक्यम्—नाटक का अन्तिम श्लोक, जो प्रशस्ति के रूप में होता है, भरतवाक्य कहा जाता है। 'भरत' शब्द का अर्थ है—नट। भरतवाक्य = नट वाक्य। नाट्यशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य भरत के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिए ही अभिनेता नट अपने वाक्य को भरतवाक्य की संज्ञा देता है। भरतवाक्य में प्राणिमात्र की भलाई की कामना की जाती है॥

क्षीरिण्यः = अधिक दूधवाली; क्षीर + इन् + ई + प्रथमा बहु० ॥

इस श्लोक में परिसंख्या अलंकार तथा स्रग्धरा छन्द है।

छन्द का लक्षण—

म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ॥६१॥

ग्रामोऽस्ति गम्भीरपुरं मीरजापुरमण्डले।
विन्ध्यक्षेत्राङ्किते यत्र त्रिपाठिब्राह्मणान्वये ॥१॥

जातो रामसुमेराह्वो बुधः परमधार्मिकः ।
तस्य भार्याऽञ्जनानाम्नी शङ्करस्य सती यथा ॥२॥

प्रासूत चतुरः पुत्रान् प्राणौपम्येन संस्मृतान् ।
येषां ज्येष्ठो रामरूपो दयाधर्मान्वितः सुधीः ॥३॥

त्रिवेणीशङ्करः ख्यातः पण्डितोऽस्ति द्वितीयकः ।
रमाशङ्करनामाहं टीकाकृत्तु तृतीयकः ॥४॥

वात्सल्यभाङ्नः सततं चतुर्थो हरिशङ्करः ।
सहायभूतः सर्वेषामेषां स्नेहानुवर्द्धितः ॥५॥

सोऽहं सम्प्रार्थये मूलं परमात्मानमीश्वरम् ।
हृदयग्राहिणी भूयात् कृतिः कान्ता विदां मम ॥६॥

॥ इति दशमोऽङ्कः ॥

॥ समाप्तश्चाऽयं ग्रन्थः ॥

परिशिष्ट १

मृच्छकटिक के पद्यों का अनुक्रम



18.3.74